आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी के समयसार कलश पर आचार्य शुभचन्द्रजी की
संस्कृत टीका

परमाध्यात्म तरंगिणी

का

पं० प्रवर जयचन्दजी छाबड़ा की ढूंढारी भाषा की टीका का हिन्दी अनुवाद :

हिन्दी अनुवादक पं० कमलकुमार जी शास्त्री

एवम्

बारस अणुवेक्खा

[आचार्य कुन्दकुन्दकृत]

हिन्दी टीकाकार · नाथूराम प्रेमी

प्रकाशक :
वीर सेवा मन्दिर
२१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

परमाध्यात्म तरङ्गिणी

एवम्

बारस अणुवेक्खा

□

प्रथमावृत्ति—११००

□

मूल्य— स्वाध्याय

□

सौजन्य
दरियागंज शास्त्र स्वाध्याय सभा

□

प्राप्ति स्थान :
वीर सेवा मंदिर
२१, दरियागंज, नई दिल्ली-२

बाबूलाल जैन
२/१०, अन्सारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-११०००२

□

मुद्रक :
गीता प्रिंटिंग एजेन्सी
न्यू सीलमपुर, दिल्ली-५१

प्रकाशकीय

धर्म बन्धुओ,

यह सर्वमान्य सत्य है कि साहित्य मनीषी स्व० प० श्री जुगल किशोर मुख्तार द्वारा सस्थापित वीर सेवा मन्दिर का जन्म, बिसरे हुए गौरवपूर्ण-जैन साहित्य, इतिहास और पुरातत्त्व के अनुसन्धान तथा दुर्लभ ग्रन्थो के प्रकाशनो व प्रचार-प्रसार द्वारा, समाज मे धार्मिक और चारित्रिक जागृति उत्पन्न करने के लिए हुआ। अतीत मे यहाँ से अनेको उपयोगी प्रकाशन हुए हैं। यहाँ से सचालित 'अनेकान्त' पत्रिका अपनी ठोस-शोधपूर्ण सामग्री से विद्वत्समाज मे आज भी सम्मानित स्थान बनाए हुए है।

हमे प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है कि संस्था आचार्य कुन्दकुन्द के द्विसहस्राब्दी वर्ष के पुनीत अवसर पर एक बार पुन· आचार्यवर के पुनीत मन्तव्यो को प्रकाशित कर आचार्यश्री के प्रति सक्रिय श्रद्धा-सुमन अर्पित करने का अवसर प्राप्त कर सकी है।

प्रस्तुत कृति "परमाध्यात्मतरगिणी" श्री अमृतचन्द्र आचार्य के अमृतकलशो की सस्कृत व्याख्या मे निबद्ध है। सस्कृत व्याख्या का श्रेय श्री शुभचन्द्राचार्य को है। उक्त टीका का अक्षरश खडी हिन्दी बोली का अनुवाद आज तक दुर्लभ था। प० श्री कमलकुमार शास्त्री कलकत्ता वालो ने इस कार्य को सम्पन्न किया।

ग्रन्थ का कलेवर कैसा और क्या है ? इसका अवलोकन मनीषी करेंगे। हाँ, आचार्य मूल-वाक्य आगम हैं, उनके भाषा-विस्तार करने मे कही चूक हो तो तत्त्वज्ञ और भाषाविद् हमे सकेत दें, ताकि आगामी सस्करण मे उस चूक का परिमार्जन किया जा सके। ग्रन्थ उपयोगी होगा, इस भावना के साथ—

विनीत
सुभाष जैन
महासचिव,
वीर सेवा मन्दिर

नई दिल्ली-२
दि० १५-१-९०

अपनी बात

राजस्थान का प्रधान नगर जयपुर वर्तमान राजधानी चोटी के जैन धर्म के मर्मज्ञ विद्वानो का जन्म स्थान रहा है। उनमे आचार्य कल्प पूज्य पण्डित प्रवर श्री पं० टोडरमल जी विद्वानो के सरताज रहे हैं। उनकी परम्परा मे श्रद्धेय विद्वद्वर प० जी श्री जयचन्द जी छावडा का नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय है। ये अपने समय के प्रतिभाशाली असाधारण विद्वान रहे है। ये न्याय शास्त्र के ही नही वल्कि जैन सिद्धान्त के पारगामी विद्वान थे। इन्होने न्याय ग्रन्थो के अतिरिक्त सिद्धान्त ग्रन्थो की ढूढारी भाषा मे विस्तृत वचनिकायें लिखी है जिनका समूचे जैन समाज मे वडी श्रद्धा एव भक्ति के साथ स्वाध्याय, मनन, चिन्तन एव शास्त्र सभाओ मे प्रचार होता चला आ रहा है।

उन्होने "परम अध्यात्म तरगिणी" की देशभाषा-ढूढारी मे विस्तार के साथ जनसाधारण के लाभार्थ टीका लिखी। भारतीय ज्ञानपीठ ने उक्त ग्रन्थ का आधुनिक हिन्दी भाषा मे अनुवाद कराने का सुदृढ निश्चय किया। मैं उस समय उक्त सस्था मे प्रमुख रूप से सशोधन आदि के लिए नियुक्त हुआ था। श्री लक्ष्मीचन्द्र जी ने उक्त ग्रन्थ के भाषान्तर का भार मुझे सौंपा। मैंने अपनी बुद्धि के अनुसार उक्त ग्रन्थ का हिन्दी भाषान्तर तैयार किया। श्रीमान मन्त्री जी ने कहा कि इतने विस्तार के साथ लिखे गए ग्रन्थ का प्रकाशन इस समय इस सस्था से सम्भव नही है। हाँ यदि अनुवादक इसको एक-चौथाई कर दे तो प्रकाशन सम्भव हो सकता है। मन्त्री जी ने मुझे बुलाकर कहा कि आप इसे सक्षिप्त रूप दे दें तो सस्था की ओर से छपाना सम्भावित होगा। मैंने एक ही जवाब दिया कि "अगर कोई मनुष्य अपने घर के सामने विष वृक्ष को भी बढा ले तो भी कोई तटस्थ व्यक्ति उसे छोटा करने के लिए तैयार नही होगा।" फिर यह तो अमृतमयी रचना है इसका सक्षेप करना मेरी अपनी बुद्धि मे नही जँचता इत्यादि। नतीजा यह हुआ कि उक्त ग्रन्थ का प्रकाशन उक्त सस्था से नही हो सका अस्तु वह ग्रन्थ मेरे पास ही रह गया।

२५ पच्चीस वर्ष का लम्बा समय बीतने के बाद अचानक भाई बाबूलाल जी जैन ने मुझसे पूछा— क्या आपके पास कोई ऐसा ग्रन्थ है जिसको आपने भारतीय ज्ञानपीठ मे बैठकर सम्पादित, अनुवादित एव सशोधित किया हो। मैंने निश्छल भाव से उन्हे उक्त ग्रन्थ के अनुवादित होने की बात कही। उन्होंने कहा कि आप उक्त ग्रन्थ को देखने के लिए दे सकते हैं क्या ? मैंने कहा हाँ जरूर दूगा यदि आपको ठीक जँचे तो आप उसका भरपूर उपयोग कर सकते हैं। आप चाहे तो अपनी इच्छानुसार उसे घटा-बढा भी सकते हैं।

वे उक्त ग्रन्थ को दिल्ली ले गये। यथा समय उसे देखते रहे। देखने के बाद उनका विचार उसे काट-छाँटकर छपाने का हुआ। उन्होने उक्त काट-छाँट की बात मेरे को लिखित पत्र द्वारा सुझाई। मैंने सहर्ष स्वीकृति दे दी। उन्होने उसे छपवाने का अपना निर्णय बहाल रखा। मेरी स्वीकृति के बाद ही उन्होने उसे छपाना प्रारम्भ कर दिया।

अब वह तत्त्व जिज्ञासुओ के हाथो मे पहुचने वाला है। इन्होने इसकी विस्तृत भूमिका भी लिखी है। इसके लिए मैं उनका हृदय से आभारी हूँ।

ओ शान्ति । ओ शान्ति । ओ शान्ति. विनम्र

कमल कुमार जैन, कलकत्ता

१-१२-८६

दो शब्द

इस ग्रन्थ के कलश श्री अमृतचन्द स्वामी के समयसार कलश के नाम से प्रसिद्ध है। उन पर संस्कृत टीका शुभचन्द्र आचार्य ने "परमाध्यात्मतरगिणी" के नाम से की है। जिसकी हिन्दी टीका अभो तक नही प्रकाशित हुई थी। श्री शुभचन्द्र आचार्य की सस्कृत टीका परमाध्यत्मतरगिणी का प्रकाशन हुआ परन्तु सस्कृत टीका की हिन्दी नही हुई। समयसार कलशो पर जो समयसार ग्रन्थ मे प० श्री जयचन्द जी की ढूढारी भाषा मे टीका थी वही हिन्दो अर्थ की जगह छापी गई। अत श्री शुभचन्द्र आचार्य की सस्कृत टीका का अभी तक हिन्दी अनुवाद हुआ ही नही।

प० जयचन्द जी छाबडा जयपुर निवासी ने इसकी ढूढारी भाषा मे टीका की है इस बारे मे प० कमल कुमारजी शास्त्री ने अपने पत्र मे लिखा है जो "अपनी बात" शीर्षक से छपा है, जिससे जानकारी हुई।

श्री अमृतचन्द स्वामी के कलश तो अमृत से भरे हुए है ही उस पर भी शुभचन्द्र जी ने सस्कृत टीका रचकर और प० श्री जयचन्द जी ने ढूढारी भाषा मे टीका करके उस अमृत को सब लोगो के पान करने के लिए सुलभ कर दिया। यह ग्रथ यथानाम अध्यात्म से ओत-प्रोत है। पढना शुरू करने पर छोडने के भाव ही नही होते। जैसे-जैसे पढते जाते हैं वैसे-वैसे अमृतपान की तृष्णा बढती जाती है लगता है पीते ही जावे। जैसे-जैसे आगे बढते जाते है अहम् मरता जाता है। तालाब की सीढियाँ उतरते जाते है कब सीढियाँ खत्म हो जाती हैं पता ही नही लगता और आत्मानन्द मे डुबकी लग जाती है। बाहर आता है तो पाता है कि मैं ग्रन्थ नही पढ रहा था कही खो गया था।

इस ग्रन्थराज को छपाने के लिए दरियागज शास्त्र सभा मे बैठने वाले भाई-बहनो ने प्रेरणा करी और उनकी प्रेरणा से और आर्थिक सहयोग से यह ग्रथ छप रहा है उनका मैं बहुत आभारी हूँ। खासकर प० पदमचन्द जी शास्त्री का जिन्होने प्रेरणा ही नही करी परन्तु सारे प्रूफो को लगातार छ महीने तक दो बार सशोधन किया—उन्होने इतनी चेष्टा न की होती तो मात्र मेरे द्वारा यह काम सम्पन्न होना असम्भव था। अत उनका बहुत-बहुत धन्यवाद है।

इस ग्रथ का प्रकाशन वीर सेवा मन्दिर से हो रहा है उनका भी बहुत आभार है।

श्री सत्यनारायण शुल्ल, गीता प्रिंटिंग एजेंसी, जिन्होंने इस ग्रथ को छापा है उनका सहयोग प्रशस-नीय रहा अत. उनका भी आभार है।

जब मैं कलकत्ता रहता था तब एक बार प० कमल कुमार जी से मालूम हुआ कि वे "परमाध्यात्म-तरगिणी" की हिन्दी टीका कर रहे हैं यह बात करीब २४–२५ वर्ष पहले की है। इस ग्रथ की हिन्दी टीका हो जाये यह भावना बहुत दिनो से थी। १९८८ मे जब मै कलकत्ता गया तब प० कमल कुमार जी मदिर जी मे मिले। मैने कहा कि "पडित जी क्या वह टीका आप अपने साथ ही ले जायेंगे अगर आप देवें तो छपाने का उपाय करें।" पडित जो ने वह टीका दूसरे दिन जो ४०२ पृष्ठो मे हाथ से लिखी हुई थी मुझे दे दी। मेरी समझ मे यही था कि यह पडित जी का ही भाषानुवाद है। टीका मे कलश पर अन्वयार्थ फिर भावार्थ था फिर सस्कृत टोका का अन्वयार्थ था फिर भावार्थ था याने एक ही कलश पर दो भावार्थ थे। किसी-किसी कलशो पर भावार्थ नही था। अत. मैंने समझा की दो भावार्थ न

देकर जो ज्यादा उपयुक्त हो वह एक ही भावार्थ दिया जावे। दूसरे आजकल जैन समाज मे बहुत से प्रश्न निमित्त उपादान के, आत्मानुभव के बारे में चल रहे हैं उन विषयो को और जोड दें तो ग्रथ ज्यादा उपयोगी हो जायेगा। इसलिए पडित जी से स्वीकृति लेकर यह उपयुक्त कार्य किया गया। मेरे को यह बात पीछे पडित जी के १-१२-८६ के पत्र से मालूम हुई जो पत्र इस ग्रथ मे छपा है कि इस ग्रथ की टीका पडित प्रवर जयचन्द जी की ढूढारी भाषा मे थी जिसका खडी हिन्दी मे पडित कमल कुमार जी ने अनुवाद किया है। १-१२-८६ का पत्र मिला तव तक करीव-करीव यह ग्रंथ छप चुका था। अन्यथा पहले मालूम होता तो प० जयचन्द जी की टीका के भावार्थ मे कुछ भी जोडने का प्रश्न नही होता। उनकी टीका मे कुछ भी रद्दोबदल करने की न तो मेरे मे योग्यता है न अधिकार है।

कही-कही पर भावार्थ नही था वह लिखा गया जैसा ऊपर लिखा है। दो भावार्थो मे जो ज्यादा उपयुक्त जँचा वह लिया गया। कही पर दोनो भावार्थ को मिलाकर रखा गया है। जहाँ पर विषय खोलने का स्थल मिला वहाँ पर अलग से विषय खोला गया। कलश के अन्वयार्थ और सस्कृत टीका का अन्वयार्थ जैसा का तैसा ही है। मेरा सब लोगो से खासकर स्वाध्याय प्रेमियो से अनुरोध है एक बार स्वाध्याय जरूर करें।

गाथा सूची जिनका भावार्थ अलग से लिखा गया है—गाथा न०, पेज।

पृष्ठ	गाथा	पृष्ठ	गाथा	पृष्ठ	गाथा
१६	८	११५	५२	२१६	१७
२०	६	१३२	१२	२३२	६
२१	१०	१३५	१३	२३८	२
२३	११	१४०	४	२४३	६
३२	१६	१३८	३	२४४	७
३४	२०	१५६	७	२५२	१२ आधा भावार्थ
३८	२३	१६४	५	२५४	१३ आधा भावार्थ
५५	३५	१६७	७	२७६	२७
६३	४२	१६८	८	२८४	३१
८६	१३	१७३	१०	२६८	४६
८६	१५	१७५	११	३००	४७
६६	२१	१७७	१३	३०४	४६
१०६	४४-४५	१८२	१८	३०६	५१
१०७	४६ दूसरा पैरा	१६८	३०	३१०	५४
१०८	४७	२०५	४	३४३	७४
१११	४८ दूसरा पैरा	२०८	७	३५५	८१
११३	५०	२१५	१४		

बाबूलाल जैन
सन्मति विहार,
२/१० दरियागज, नई दिल्ली-२

हिन्दी टीकाकार पं० कमल कुमार जी का संक्षिप्त परिचय

पं० कमल कुमार जी जैन गोइल्ल सिद्धान्त शास्त्री, व्याकरण तीर्थ, न्याय तीर्थ, काव्य तीर्थ, साहित्य शास्त्री है। समाज के द्वारा उनको और बहुत सी उपाधियां प्रदत्त की हुई हैं। सन् १६५५ से आप कलकत्ता रह रहे हैं। भारतीय ज्ञानपीठ कार्यालय मे अनेक ग्रथो का सशोधन किया है। स्वतत्र हिन्दी रचनाओ की सख्या १३ है जिनमे जैन धर्मसार सग्रह २४०० दोहे मे प्रमुख है। अन्य रचनाओ की सख्या लगभग १००० छन्द और १००० श्लोको मे है। आप १६६७ से ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हैं शुद्ध सात्विक भोजन करते है। आपका जीवन सादा एव सरल है। हमेशा धर्म कार्यों मे दत्तचित्त होकर लगे रहते है। आपने जो **हिन्दी रूपान्तर परमाध्यात्म तरंगिणी** का किया है जिसको फूलस्केप ४०२ पन्नो को हाथ से लिख कर तैयार किया इसके लिए हम आपके बहुत आभारी हैं। आपके ही प्रयत्न से यह महान ग्रथ छपकर तैयार हुआ है और सबके पढने के लिए सुलभ हुआ है।

विषय-सूची

प्रस्तावना

परमात्मा होना जीव का जन्मसिद्ध अधिकार है

१

जीव : बीजभूत परमात्मा है :

ससार मे दो प्रकार के पदार्थ हैं, एक चेतन और दूसरे अचेतन। चेतन पदार्थ वे हैं जिनमे जानने की शक्ति है अथवा जो अनुभव कर सकते हैं, सुख-दु ख का वेदन कर सकते है। इनके विपरीत, अचेतन या जड पदार्थ वे हैं जिनमे जानने की, अनुभव करने की शक्ति नही है, सुख-दुख का वेदन नही कर सकते। चेतन जाति के अन्तर्गत समस्त जीव आ जाते हैं, शेष सब पदार्थ अचेतन जाति के अन्तर्गत आते है। जीव द्रव्य सब अलग-अलग हैं—प्रत्येक जीव की एक स्वतत्र सत्ता है। उन सबका सुख-दु ख, जीवन-मरण, अनुभव और वेदना अलग-अलग है, जाति की अपेक्षा एक होते हुए भी व्यक्तित्व की अपेक्षा सब अलग-अलग है। पेड-पौधो से लेकर चीटी-मकोडे, मच्छर-मक्खी, पशु-पक्षी, कछुआ-मछली, और मनुष्य—नभ-जल-थल के सभी जीव—चेतना शक्ति को लिए हुए हैं, इन सभी मे जानने की शक्ति है। यहाँ तक कि सूक्ष्म जीवाणु (बैक्टिरिया, वाइरस, इत्यादि), जो सब जगह पाए जाते है, उनमे भी यह चेतना शक्ति मौजूद है। जाति की अपेक्षा यद्यपि ये सभी जीव चेतन जाति के हैं, मूलभूत गुणो की अपेक्षा यद्यपि सबमे समानता है, तथापि उस चेतना शक्ति की अथवा उन गुणो की अभिव्यक्ति सबमे समान नही हैं—बस यही इनमे पारस्परिक अन्तर है। मनुष्य मे उस शक्ति की अभिव्यक्ति ज्यादा है, पशु-पक्षियो में उससे कम है, चीटी, मक्खी आदि मे और भी कम है, पेड-पौधो मे उससे भी कम है, और जोवाणुओ मे तो बहुत ही कम है—इतनी कम है कि वे अपनी चेतना शक्ति को महसूस भी नही कर सकते। एक ओर, जीव की शक्तियाँ कम होते-होते जहाँ इस चरम सीमा तक कम हो सकती है, वही दूसरी ओर, बढते-बढते वे मानव मे—जब वह मानवता के चरम उत्कर्ष को, महामानव अर्थात् परमात्म अवस्था को प्राप्त करता है—परिपूर्णता के शिखर पर पहुच सकती है। इस प्रकार प्रत्येक जीवात्मा मे परमात्मा होने की सम्भावना विद्यमान है और जीवाणु आदि की तरह लगभग जडवत् रह जाने की सम्भावना भी। जीव की परमात्म अवस्था की ओर उन्नति अथवा जीवाणु अवस्था की ओर अवनति दोनो ही इसके स्वय के पुरुषार्थ पर निर्भर करती है, यह उन्नति का मार्ग चुने या अवनति का, यह निर्णय इसकी अपनी स्वतत्रता है। इतना अवश्य जान लेना जरूरी है कि मनुष्य अवस्था ही वह पड़ाव है जहाँ

से इस जीव को आत्मोन्नति की यात्रा पर निकल पडने की सुविधा है। यद्यपि सज्ञी पचेन्द्रिय अवस्था से ही पुरुषार्थ चालू हो सकता है—यह जीव बीजभूत परमात्मा है वट के बीजो की तरह वट वृक्ष बनने की शक्ति की तरह परमात्मा बनने की शक्ति इसमे है जिसको अपने पुरुषार्थ से इसे व्यक्त करना है।

जीव दुःखी है :

वर्तमान मे हम पाते हैं कि जीव दु खी है। यद्यपि विश्व का प्रत्येक प्राणी सुख चाहता है और उसका प्रत्येक प्रयत्न सुख-प्राप्ति के लिए ही होता भी है, परन्तु दु ख के सिवाय उसे कुछ भी प्राप्त नही होता। जीव का दु ख कैसे दूर हो इसके लिए जिस विज्ञान का आविष्कार हुआ, उसी का नाम धर्म है। जीव दु खी है, यह बात तो प्रत्यक्ष-सिद्ध है। वह दु खी क्यो है, और उस दु ख को दूर करने का क्या उपाय है, इन बातो पर विचार करना है।

दुःख का कारण :

प्रत्येक जीव मे क्रोध-मान-माया-लोभ अथवा राग-द्वेष पाये जाते हैं। यह बात प्रत्यक्ष देखने मे आती है कि जिस व्यक्ति मे क्रोध-मान माया-लोभ की अधिकता होती है वह स्वय भी दु खी रहता है और दूसरे लोगो को भी वह अच्छा नही लगता। क्रोधी बाप से तो उसका बेटा भी बचना चाहता है। जिस आदमी मे क्रोध ज्यादा है वह किसी की हत्या तक भी कर सकता है, जिसमे मान ज्यादा है वह अपने सामने किसी दूसरे को कुछ नही समझता, माया की अधिकता मे बेटा अपने माँ-बाप को ही ठग लेता है, लोभ के आधिक्य मे मनुष्य क्या-क्या अनाचार नही करता ? इस सबसे मालूम होता है कि जिनके पास राग-द्वेष ज्यादा मात्रा मे हैं वे दुखी ही हैं और इन राग-द्वेष की मौजूदगी मे उनके जो भी कार्य होते हैं वे सब पाप-रूप ही होते है।

सुख की दिशा · राग-द्वेष का अभाव :

जिस किसी व्यक्ति के राग-द्वेष की कुछ कमी हो जाती है उसे हम भला आदमी कहते हैं, वह गलत कामो मे नही जाता और दूसरो के लिए उपयोगी/कार्यसाधक ही सिद्ध होता है, बाधक नही। यदि किसी व्यक्ति के इनकी कमी कुछ ज्यादा मात्रा मे हुई तो लोग उसे सज्जन कहते हैं। ऐसा व्यक्ति न्यायपूर्वक आचरण करता है, सत्य बोलता है, दूसरो की रक्षा, सहायता, सेवा आदि करता है, और शान्तपरिणामी होता है, उसके जीवन से सुगन्ध आती है। और जिस व्यक्ति मे राग-द्वेष की कमी और भी ज्यादा होती है वह साधु कहलाता है। मात्र साधु के वेश से कोई साधु नही हो जाता—वेश तो बाहर की बात है। अतरग मे राग-द्वेष के आशिक अभाव मे उसकी आत्मा साधु हो जाती है। ऐसी आत्मा की शान्ति का क्या कहना ! उसका जीवन फूल की तरह होता है—न केवल स्वय मे सुगधित होता है अपितु दूसरो को भी सुगधित कर देता है। और जिस आत्मा मे राग-द्वेष का सर्वथा अभाव हो जाता

है उसकी शान्ति, उसका आनन्द, समस्त सीमाएँ तोडकर अपरिसीम-अनन्त हो जाता है, वह आत्मा पूर्णता को प्राप्त कर लेता है, परमात्मा हो जाता है।

राग द्वेष का पूरी तरह अभाव हो जाना कोई असम्भव बात नही है, क्योकि जब ये राग-द्वेष किसी के ज्यादा हैं, किसी के कम है, किसी के और भी कम है तो कोई ऐसा भी हो सकता है जिसके ये बिल्कुल न हो। दूसरे शब्दो मे, जब ये अधिक से न्यून, न्यूनतर हो सकते है तो इनकी न्यूनतमता या इनका सर्वथा अभाव भी अवश्य हो सकता है।

राग-द्वेष की मात्रा और दु.ख, इन दोनो मे सीधा सम्बन्ध है। जिनके राग-द्वेष ज्यादा हैं वे अपने आप मे सदा दु खी है, बाहरी सामग्री अनुकूल होने पर भी वे महादु खी ही हैं। और जिनके इनकी कमी होने लगती है वे बाहरी अनुकूलताओ के बिना भी सुखी रहते है। साधु के पास कुछ भी बाह्य सामग्री न रहते हुए भी वह महासुखी है। क्यो ? इसलिए कि उसमे राग-द्वेष की कमी हुई और उनका स्थान सत्य क्षमा, विनय, सरलता, निर्लोभ, सतोष, ब्रह्मचर्य आदि स्वाभाविक गुणो ने लिया। फलत साधु बाहरी अनुकूलता के बिना भी सुखी हो जाता है। इससे पता चलता है कि जीव अपने राग-द्वेष की वजह से दु खी है, न कि बाहरी स्थितियो की वजह से। **हमने आज तक सुख की प्राप्ति के लिए बाहरी अनुकूलताओ को प्राप्त करने के उपाय तो निरंतर किये, परन्तु राग-द्वेष के त्याग का, नाश का उपाय कभी नही किया।** इसलिए कदाचित् बाहरी अनुकूलताएँ भी हमे मिली, तो भी हम सुखी नही हो सके, क्योकि सुख-प्राप्ति का सच्चा उपाय तो हमने कभी जाना नही। और, जब उपाय ही नही जाना तो सही प्रयत्न करने का तो प्रश्न ही नही उठ सकता था। यदि सच्चा उपाय जानकर तदनुकूल प्रयत्न करते —राग-द्वेष के अभाव का पुरुषार्थ करते—तो जितने-जितने अंशो मे इनका अभाव कर पाते, उतने-उतने अशो मे यह आत्मा सुखी होने लगता।

इस विचारणा से यह निष्कर्ष निकलता है कि राग-द्वेष ही दु ख है, इनका अभाव ही सुख है, और इनका सर्वथा अभाव परम सुख है। अथवा, कहना चाहिए कि —

जीवात्मा— राग-द्वेष=परमात्मा,
या, जीवात्मा—विषयकषाय=परमात्मा

धर्म, अधर्म, पुण्य और पाप :

राग-द्वेष के अभाव का उपाय धर्म-मार्ग है, राग-द्वेष का अभाव जितने अशो मे हो उतना धर्म है और इनका पूर्णतया अभाव हो जाना ही धर्म की पूर्णता है। राग द्वेष का होना अधर्म है, और उसके दो भेद हैं—एक पाप और दूसरा पुण्य। द्वेष तो तीव्र हो या मद, सब तरह से अशुभ या पाप ही है, राग की तीव्रता पाप है और मदता शुभ अथवा पुण्य है। दूसरे शब्दो मे कहे तो राग-द्वेष का अभिप्राय रखकर कुछ भी करना पाप-कार्य है, जबकि राग-द्वेष के अभाव के अभिप्राय से की गई प्रवृत्ति पुण्य-कार्य है।

राग-द्वेष की तीव्रता मे जो भी काम होते है वे सब पाप-रूप होते हैं, जैसे हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, आसक्ति, अन्याय, अभक्ष्य-सेवन आदि। राग-द्वेष की मदता मे जो कार्य होते हैं, वे हैं अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अनासक्ति, न्यायपूर्वक प्रवृत्ति आदि। और राग-द्वेष के अभाव मे तो जीव के दोनो ही प्रकार के कार्य न होकर यह मात्र वीतराग ही रहता है।

राग-द्वेष की उपत्ति का मूल कारण :

यहा यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि राग-द्वेष की उत्पत्ति का मूल कारण क्या है, वे क्यो पैदा होते हैं ? राग-द्वेष की उत्पत्ति का मूल आधार है जीव की अनादिकालीन मिथ्या मान्यता कि 'मैं शरीर हूँ।' यह जीव निजमे चैतन्य होते हुए आप ही जानने वाला होते हुए भी स्वय को चैतन्य-रूप न जान कर शरीर-रूप जान रहा है। शरीर और स्वय मे एकपना देखता है तो शरीर से सम्बन्धित सभी चीजो मे इसके अपनापना आ जाता है। शरीर के अनुकूल सामग्री मे राग होता है और प्रतिकूल सामग्री से द्वेष। शरीर और शरीर-सम्बन्धी पदार्थों मे अपनत्व के अलावा इसके जो शुभ-अशुभ विकारी भाव हो रहे हैं उनको भी अपने-रूप देखता है जिससे उन सबमे अहकार पैदा होता है। अहकार को ठेस लगने पर क्रोध होता है। अहकार की पुष्टि के लिए 'पर' का—दूसरे जड व चेतन पदार्थों का—सग्रह करना चाहता है तो लोभ पैदा होता है, और उपाय न बनने पर मायाचार रूप प्रवृत्ति करता है। इस प्रकार राग-द्वेष का मूल कारण शरीर को अपना मानना है, कर्मजनित अवस्था मे अपनापना मानना है। यह मिथ्या मान्यता तभी मिट सकती है जब यह जीव अपने को पहचाने और जाने कि मैं शरीर नही, शुभ-अशुभ भाव अर्थात् राग-द्वेष भी मै नही, मैं तो इन सबसे भिन्न ज्ञान का मालिक, एक अकेला चैतन्य तत्त्व हूँ।

अपना अपने-रूप अनुभव

जब हम अपने को शरीर-रूप अनुभव करते हैं तो समस्त प्रकार की आकुलताएँ हमे घेर लेती हैं, नाना प्रकार के विकल्प आ खडे होते हैं—इतनी बात तो हम सभी के द्वारा अनुभूत है क्योकि स्वय को शरीर-रूप तो हम सदा से देखते चले आ रहे हैं। इसके विपरीत, जब हम अपने को अपने-रूप, चैतन्य-रूप अनुभव करते है तो कोई आकुलता नही रहती क्योकि जो ज्ञान-स्वभावी चैतन्य है उसका न तो कोई जन्म है और न ही कोई मरण, उसके अनन्त गुणो मे से न तो कोई कम होने वाला है और न ही कही बाहर से आकर कुछ उसमे मिलने वाला है। अत न तो कुछ बिगडने का अथवा चले जाने का भय हो सकता है, और न ही कुछ आने का या मिलने का लोभ। चूकि सभी आत्माएँ इसी प्रकार ज्ञान-स्वभावी हैं इसलिए उनमे न तो पारिस्परिक तुलना का ही कोई प्रश्न उठ सकता है और न ही किसी प्रकार की ईर्ष्या या अभिमान के पैदा होने का प्रसग प्राप्त हो सकता है। इस प्रकार स्वय को चैतन्य-रूप अनुभव करने पर किसी प्रकार की कषाय पैदा होने का, राग-द्वेष होने का, कोई कारण ही नही रह जाता।

दुख के मौलिक कारण राग-द्वेष शरीर मे अर्थात् 'पर' मे अपनापना मानने से पैदा होते हैं और निज आत्मा को निजरूप अनुभव करने से मिटते है। यह नियम गणित के "दो जमा दो बराबर चार" के नियम की तरह सुस्पष्ट है, इसमे सशय अथवा रहस्य की कोई गुजाइश ही नही है।

अब तक की चर्चा का साराश निकलता है कि दो बाते जाननी जरूरी है - एक तो यह कि **दुख राग-द्वेष की वजह से है, पर-पदार्थो की वजह से नहीं। और दूसरी यह कि अपने चैतन्य को पहचाने बिना शरीर मे अपनापन नही मिट सकता, शरीर मे अपनापन मिटे बिना राग-द्वेष नहीं मिट सकता और राग-द्वेष मिटे बिना यह जीव कभी सुखी नही हो सकता।** इस जीव को एक ही रोग "राग और द्वेष" और सभी जीवो के लिए—चाहे वे किसी को भी मानने वाले क्यो न हो—दवा भी एक ही है सरीर और कर्मफल से भिन्न अपने को चैतन्य रूप अनुभव करना जिससे राग-द्वेष का अभाव हो। सही दवा को न पाकर और अन्यथा क्रिया-कलापो को दवा मानकर इस जीव ने अपना रोग बढाया ही है। राग-द्वेष का अभाव ही एक मात्र धर्म है। राग-द्वेष का अभाव कैसे हो ? क्योकि लौकिक मे देखा जाता है कि जिन लोगो को अथवा जिन चीजो को हम अपनी नही देखते हैं—जानते हैं उनके हानि-लाभ और मरण जीवन को जानने पर भी हमे कोई सुख-दु ख नही होता। क्योकि हमे अपनी चीज की पहचान है अत वे पर रूप दिखाई देती है अपनी नही। इसी प्रकार से अगर शरीरादि से भिन्न निज आत्मा का ज्ञान उसी ढग का हो जाता तो शरीरादि भी पररूप दिखाई देने लगते तब उनमे भी सुख-दुख राग-द्वेष नही होता। जब शरीरादि ही पररूप दिखाई देते हैं तव शरीर से सम्बन्धित अन्य स्त्री पुत्रादि अथवा धनादिक तो अपने आपही पर हो जाते है तब उनके सयोग-वियोग मे हर्ष-विषाद न होता यह बात प्रत्यक्ष है। राग-द्वेष का अभाव कैसे हो ? उनके अभाव के हेतु निज चैतन्य को किस प्रकार पहचाना जाये ? अत अब इस बारे मे विस्तार से विचार करना है।

२

आत्म-विज्ञान :

यदि नकारात्मक ढग से कहे तो राग-द्वेष का अभाव और सकारात्मक ढग से कहे तो परम सुख की उपलब्धि, यही साक्षात् धर्म है। साधन की दृष्टि से राग-द्वेष के अभाव के उपाय रूप विज्ञान को भी धर्म कहा जाता है। **भगवान महावीर** ने निजमे राग-द्वेष का समूल नाश करके परम सुख को प्राप्त किया और इस आत्म-विज्ञान को ससार के समस्त जीवो के हितार्थ बतलाया। ससारी जीव अशुद्ध है और राग-द्वेष ही उसकी अशुद्धता है। वह कब से अशुद्ध है ? यदि पहले शुद्ध था तो अशुद्ध क्यो और कैसे हुआ ? इन प्रश्नो का समाधान है कि जैसे खान से निकाला गया सोना कीट-कालिमा से मिला हुआ ही निकलता है, पहले कभी शुद्ध रहा हो और फिर अशुद्ध हो गया हो, ऐसा नही है, बल्कि ऐसा है कि वह सदा से अशुद्ध था,

शुद्ध होने की योग्यता भी उसमे सदा से छिपी थी, और अब धातु-विज्ञान की एक विशिष्ट विधि द्वारा शुद्ध हो जाता है। ठीक इसी प्रकार की स्थिति ससारी जीव की भी है। वह भी अनादिकाल से अशुद्ध है, और शुद्ध होने की योग्यता भी उसमे सदा से अन्तर्हित है। इसके अशुद्धिकरण के लिए भी एक विशिष्ट उपाय है, उसे ही ऊपर आत्म-विज्ञान कहा गया है। परन्तु, दृष्टान्त और दार्ष्टान्त मे जहाँ इतनी समानता है, वही इनमे एक गम्भीर अन्तर भी है क्योकि दृष्टान्त सदा आशिक रूप से ही दार्ष्टान्त मे घटित हुआ करता है, पूर्ण रूप से नही। उस अन्तर को समझ लेना भी आवश्यक है। खनिज स्वर्ण तो एक जड पदार्थ है, उसको शुद्ध करने के लिए तो कोई दूसरा, कोई धातुकर्मी चाहिए। परन्तु जीव तो चेतन है, स्वय सामर्थ्यवान है, अपनी अशुद्धता का सही कारण समझकर और उसके अभाव का सही उपाय करते हुए इसे तो स्वय ही अपने को शुद्ध करना है। न तो उसको शुद्ध करने का दायित्व किसी दूसरे को है और न ही किसी दूसरे मे इसको शुद्ध करने की सामर्थ्य है। जो आत्माएँ अशुद्धता के रोग से स्वय को मुक्त कर सकी वे इस जीव को उस मार्ग की, उस विज्ञानकी केवल जानकारी दे सकती हैं, पुरुषार्थ तो इसे स्वय ही करना पडेगा। भगवान् महावीर ने स्वय को शुद्ध करके जीव मात्र को सम्बोधित करते हुए कहा कि हे जीवो, तुम भी मेरी भाँति स्वय को शुद्धात्मा बना सकते हो।

जीव का कर्म व शरीर से सम्बन्ध, और पुनर्जन्म :

यद्यपि यह जीव ज्ञान-दर्शन स्वभाव वाला है, तथापि अशुद्ध अवस्था मे इसके साथ कर्मो का सबध है। उस कर्म-सम्बन्ध की वजह से इसको बहिरग मे तो शरीर की प्राप्ति है और अतरग मे राग-द्वेष रूप विकारी भावो की प्राप्ति है। यह स्वय को न जानकर—मैं कौन हूँ, मेरा क्या स्वरूप है, इत्यादि की जानकारी से बेखबर—इन शरीर-मन-वचन को ही आत्मा मान रहा है, क्रोधादि भावो को ही अपने भाव मान रहा है। जिस शरीर को प्राप्त करता है, उसी शरीर-रूप अपने को मान लेता है। शरीर की उत्पत्ति से अपनी उत्पत्ति, शरीर के नाश से अपना नाश, शरीर मे रोग होने से स्वय को रोगी, और शरीर के स्वस्थ होने से स्वय को स्वस्थ मानता है, जबकि वस्तुस्वरूप इसके विपरीत है—जीवात्मा का अस्तित्व अलग है,—शरीर का अस्तित्व अलग, शरीर का नाश होने पर भी आत्मा का नाश नही होता।

जीवात्मा का पुनर्जन्म है। प्रत्येक आत्मा जिस-जिस प्रकार के परिणाम या भाव करता है, उन्ही के अनुसार अच्छी-बुरी गति को प्राप्त होता है। जिन जीवो के परिणाम सरल हैं, माया और पाखण्ड से रहित हैं, वे देवगति को प्राप्त करते हैं। जिनके मायायुक्त परिणाम है—सोचते कुछ हैं और करते कुछ और ही हैं—वे पशु-पक्षी आदि हो जाते हैं। जो अल्प-आरभी और अपेक्षाकृत सतोषी जीव हैं, वे मनुष्य होते हैं। और, जिनके बहुत आरम्भ और बहुत परिग्रह की लालसा होती है, वे नारकी होते है। गति के समान ही वातावरण आदि की प्राप्ति भी जीव को पूर्वकृत परिणामो के अनुसार ही होती है। कोई धनिक परिवार मे पैदा होता है तो कोई गरीब के घर। कोई गरीब के घर पैदा होकर भी धनिक परि-

वार मे चला जाता है। किसी को किंचित् परिश्रम मात्र से सब साधन-सामग्री सुलभ हो जाती है और किसी को बहुत चेष्टा करने पर भी प्राप्त नही होती। इन सब बातो से कर्म की विचित्रता मालूम होती है। जीव जिस प्रकार के अच्छे-बुरे परिणाम करता है, उसके अनुसार ही उसके कर्म-सम्बन्ध होता है। और, कर्म के माध्यम से वैसा ही फल कालान्तर मे उसको मिलता है। दोष कर्म का नही, हमारा ही है। कर्म तो मात्र एक माध्यम है। यह जीव जैसा बीज बोता है, वैसा ही फल इसको प्राप्त होता है।

यद्यपि इस जीव की कर्म के सयोग से उपरोक्त प्रकार की विभिन्न व विचित्र अवस्थाएँ हो रही हैं, तथापि इसका मूल स्वभाव, इन सब परिवर्तनो-विकारो से अछूता बना हुआ है। उस चैतन्य को, अपने मौलिक स्वभाव को हम कैसे पहचाने ? इसके लिए हमे वस्तुस्वरूप को तनिक गहराई से समझना होगा।

वस्तु : सामान्य विशेषात्मक :

प्रत्येक वस्तु, चाहे वह चेतन हो या अचेतन, सामान्यविशेषात्मक है। 'सामान्य' और 'विशेष' ये दोनो ही वस्तु के गुणधर्म है, अथवा कह सकते हैं कि —

वस्तु = सामान्य + विशेष।

'सामान्य' वस्तु की वह मौलिकता है जो कभी नही बदलती जबकि वस्तु की जिस समय जो अवस्था है वही उसका 'विशेष' है। वस्तु की अवस्थाएँ बदलती रहती है। मान लीजिए कि सोने का एक मुकुट था, फिर उसको तुडवा कर हार बनवा लिया गया, कालान्तर मे हार को तुडवा कर कगन बनवा लिया गया—अवस्थाएँ तो बदली, परन्तु सोना सोनेरूप से कायम रहा। इस उदाहरण मे मुकुट, हार, कगन आदि तो विशेष हैं जबकि स्वर्णत्व सामान्य है। अवस्थाएँ तो नाशवान हैं परन्तु वस्तु की मौलिकता या वस्तुस्वभाव अविनाशी है, शाश्वत है, ध्रुव है। इसी प्रकार एक बालक किशोर अवस्था को प्राप्त होता है, फिर कालक्रमानुसार किशोर से युवा, युवा से प्रौढ, और प्रौढ से वृद्ध होता है। बालक, किशोर आदि अवस्थाएँ तो बदल रही हैं, परन्तु मनुष्य मनुष्यरूप से कायम है। अवस्थाओ या विशेषो के परिवर्तित होते हुए भी उन सब विशेषो मे मनुष्यत्व सामान्य ज्यो का त्यो है। यही बात पौद्गलिक वस्तुओ के सम्बन्ध मे है—जैसे दूध को जमा कर दही बनाया गया, दही को बिलोकर मक्खन, और मक्खन को गर्म करके घी बनाया गया। यहाँ दूध, दही आदि सब अवस्थाओ मे गोरसपना एक रूप से विद्यमान है। अथवा, जैसे पुद्गल की वृक्ष-स्कध रूप एक अवस्था थी, वह काट डाला गया तो लकडी रूप अवस्था मे परिणत हुआ, फिर वह लकडी जलकर कोयला हो गई और फिर वह कोयला भी धीरे-धीरे राख मे बदल गया, परन्तु पुद्गल पदार्थ पुद्गल रूप से अभी भी कायम है। अब चेतन पदार्थ का एक और उदाहरण देते है। एक मनुष्य मर कर देव हो गया, वह देव सक्लेशभाव से मरा तो पशु हो गया, पशु से पुन मनुष्य पर्याय प्राप्त की। अवस्थाएँ तो बदली परन्तु जीवात्मा वही-की-वही है।

इसी प्रकार किसी आत्मा के द्वेष-रूप भाव हुए, फिर द्वेष का अभाव होकर राग-रूप भाव हो गए, फिर राग का भी अभाव होकर वीतरागता रूप परिणति हुई। इन सब परिवर्तनो-परिणतियो के बावजूद आत्मा अपने आत्म रूप से ही कायम है। वस्तुओ मे ऐसा परिवर्तन लगातार होता रहता है। हरेक पौद्गलिक चीज नई से पुरानी होती रहती है, और यह बदलाव उसमे प्रतिक्षण होता रहता है। एक किताब जिसके पन्ने तीस-चालीस साल मे पीले पड जाते है, कागज कमजोर हो जाता है, तो ऐसा नही है कि वह बदलाव उसमे चालीस बरस बाद आया है। वह कागज तो प्रतिक्षण पीला हुआ है, कमजोर हुआ है। एक बालक अचानक युवा नही हो जाता या एक युवा अचानक वृद्ध नही हो जाता अपितु वह प्रतिक्षण वृद्ध हो रहा होता है। परन्तु सूक्ष्म परिवर्तन, प्रतिसमय होने वाला बदलाव हमारी पकड मे नही आता। जब काफी वक्त गुजर जाता है तब हमारी पकड मे आता है, स्थूल परिवर्तन को ही हमारी बुद्धि पकड पाती है। पुद्गल का पुद्गल रूप ही परिणमन होगा, चेतन का चेतन रूप ही परिणमन होगा। चेतना का परिणमन कभी चेतन-स्वभाव का अतिक्रमण नही रह सकता, और पुद्गल का परिणमन कभी पुद्गलत्व का अतिक्रमण नही कर सकता। दूसरे शब्दो मे, चेतन कभी अचेतन नही हो सकता, और अचेतन कभी चेतन नही हो सकता।

'सामान्य' और 'विशेष' एक ही वस्तु के स्वभाव होते हुए भी परस्पर भिन्न हैं। 'सामान्य' एक है और 'विशेष' अनेकानेक, 'सामान्य' अपरिवर्तनीय-अविनाशी है जबकि 'विशेष' परिवर्तनशील या नाशवान। सामान्य और विशेष मे यद्यपि भेद है फिर भी वे अभिन्न हैं—उनको एक-दूसरे से अलग नही किया जा सकता। अथवा यू कह सकते हैं कि सिर्फ सामान्य या सिर्फ विशेष का होना असम्भव है। वस्तुत एक के बाद एक होने वाले विभिन्न विशेषो मे जो सातत्य, एकता या समानता का भाव है वही सामान्य है। वस्तु का 'सामान्य' मोतियो के हार के डोरे की तरह सर्व विशेषो मे निरतर विद्यमान एक भाव है। मिट्टीपना सामान्य है और मृतिका-पिण्ड, घडा, ठीकरा आदि उसके विशेष हैं—सभी विशेषो मे सामान्य एक रूप से व्याप्त है। विशेष बदल रहे हैं, सामान्य एक रूप से कायम है। इसी प्रकार आत्मा चैतन्य रूप से कायम है, परन्तु उसकी अवस्थाएँ बहिरग और अतरग—दो प्रकार से—बदल रही हैं। बहिरग मे तो यह आत्मा शरीर के सम्बन्ध की अपेक्षा कभी मनुष्य, कभी देव, कभी पशु, कभी नारकी रूप से परिणमन करता है, और मनुष्यादि पर्यायो मे पुन —जैसा कि ऊपर जिक्र कर चुके हैं—बालक, युवा, वृद्ध आदि रूप बदलता रहता है। दूसरी ओर, अन्तरग की अपेक्षा इस आत्मा मे कभी क्रोध होता है तो कभी मान, कभी माया रूप परिणाम होते हैं तो कभी लोभ रूप, और कभी इन कषाय-परिणामो के अभाव रूप वीतराग, शुद्ध परिणाम होते है, परन्तु इन सभी परिणतियो मे चैतन्य तो चैतन्य रूप से सदा कायम है। वह तो अविनाशी है, सदाकाल एक-सा रहने वाला है।

चैतन्य-सामान्य को पहचाने बिना धर्म की शुरुआत सम्भव नही, यह निश्चित है। परन्तु विशेषो मे ही उलझे रहने के कारण, उन्ही मे अपनत्व-बुद्धि होने के कारण हम ससारी जीवो के लिए उस

चैतन्य को पकड पाना मुश्किल लग रहा है। ऊपर दिये गये पुद्गल-सम्बन्धी उदाहरणो मे स्वर्णपना, गोरसपना, मिट्टीपना आदि सामान्यो को पकड पाना तो आसान है, परन्तु देव-मनुष्य आदि बाह्य पर्यायो और क्रोधादिक अतरग परिणामो के परे, उनसे विलक्षण उस चेतना-सामान्य तक पहुँच पाना हमारे लिए कठिन हो रहा है। अपनी वर्तमान स्थिति मे हम 'विशेषो' के तो नजदीक खडे है और 'सामान्य' हमसे दूर, बहुत दूर है। अतः यह अनुचित नही होगा कि हम विशेषों को 'यह' और सामान्य को 'वह' द्वारा अभिव्यक्त करें, और तब इस प्रतीकात्मक शैली मे पूर्ण वस्तु की अभिव्यक्ति होगी 'यह + वह' द्वारा।

सामान्य-विशेष को समझाने की : प्रतीकात्मक शैली :

जो उगली से दिखाया जा सके, जिसकी ओर इशारा किया जा सके, वह तो 'यह' है। और जो देखा तो न जा सके परन्तु जिसकी सत्ता हो, जो जाना न जा सके परन्तु जिसका अस्तित्व हो, जो विद्यमान हो, वह 'वह' है। विज्ञान जिसे जान सकता है वह 'यह' है, जिसे विज्ञान नही जान सकता वह 'वह' है। विज्ञान का सम्बन्ध 'इस' से है और धर्म का सम्बन्ध 'उस' से है। इसी वजह से विज्ञान और धर्म का कोई भी मिलान नही है। 'यह' 'वह' नही हो सकता और 'वह' 'यह' नही हो सकता, फिर भी वे दोनो अलग नही हैं। 'यह' बहुत निकट है, 'वह' बहुत दूर है। 'यह' बुद्धि के द्वारा, मन के द्वारा, इन्द्रियो के द्वारा जाना जा सकता है। 'वह' अनुभव मे आता है, परन्तु व्यक्त करते ही, शब्दो का जामा पहनाये जाते ही 'यह' हो जाता है। यहाँ तक कि उसको कोई नाम देते ही वह 'यह' हो जाता है। ज्ञान की सीमा होती है परन्तु अनुभव निस्सीम होता है। 'वह' निकटतम भी है और सबसे दूर भी है। पूर्ण वस्तु यदि एक वृत्त है, सर्कल है तो 'वह' है केन्द्र और 'यह' है परिधि। केन्द्र एक बिन्दु रूप है और परिधि है एक अन्तहीन चक्कर।

धर्म कहता है कि तुम 'वह' ही हो। कोई यात्रा की दरकार नही है। तुम यही और अभी 'उसे' पा सकते हो। अगर 'इस' का अतिक्रमण करो तो 'उस' मे होगे। केन्द्र पर जाने के लिए परिधि का अतिक्रमण करना होगा। केन्द्र परिधि नही है, यदि परिधि होती तो अब तक पहुच जाते। परन्तु परिधि पर दौडो तो भी केन्द्र पर नही पहुच सकते। उसके लिए तो केन्द्र की ओर मुह करके छलाग लगानी पडेगी।

जिसका कोई नाम है वह 'यह' है। जैसे आप पुरुष हैं, स्त्री है—ये भी नाम हैं। लेबल लगाना मात्र परिधि है। कोई केन्द्र है जो बिना नाम का है। पुरुष-स्त्री होना, युवा-वृद्ध होना, स्वस्थ अस्वस्थ होना, सुदर-कुरूप होना—ये सब 'यह' के हिस्से हैं। इन सबके परे कुछ है, यदि उसको अनुभव किया तो 'वह' का स्पर्श होता है।

हम एक मृत ससार मे रहते हैं। वह मृत ससार ही 'यह' है, जो मरण से रहित है वह 'वह' है। उसको परमात्मा कहना भी उस पर लेबल लगाना है। यदि हम निर्विकल्प अवस्था मे हैं तो 'वह' हैं,

और यदि विचार मे हैं तो 'यह' हैं। जब विचार मे हैं तो अपनी आत्मा मे नही हैं। जितने गहरे विचार मे जाते हैं उतने ही 'वह' से दूर हो जाते हैं।

समाज हमारे 'वह' मे रस नही लेता, ससार तो 'यह' मे रस लेता है। 'यह' हमारे अहकार से मिला हुआ है—अपने नाम से, अपने माँ-बाप और परिवार से, अपनी शिक्षा से, अपने पद से, अपने सम्प्रदाय से, अपनी भाषा से, अपने देश से जुडा हुआ है। ये सब हमारे 'यह' के हिस्से हैं न कि 'वह' के। 'वह' किसी से जुडा हुआ नही है, 'वह' किसी से सम्बन्धित नही है, 'वह' तो एक अकेला है। 'वह' तो अपने आप मे परिपूर्ण है। जब एक बार 'वह' अनुभव मे आ जाएगा तो 'यह' ऊपरी दिखावा मात्र हो जाएगा। फिर सब जगह वह' ही 'वह' दिखाई देगा। तब 'यह' दूर हो जाएगा और 'वह' नजदीक हो जाएगा।

अगर कोई व्यक्ति नाटक मे पार्ट कर रहा है तो वहाँ पर जो पार्ट है, वह 'यह' है। और जो पार्ट करने वाला व्यक्ति है वह 'वह' है। रोल अदा करते हुए भी उसे वह कौन है इसका ज्ञान है। 'यह' की लाभ-हानि, यश-अपयश, जीव-मरण होते हुए भी उसे कोई सुख-दु ख नही, क्योकि उसने 'वह' मे अपने को स्थापित कर रखा है। उसके लिए 'वह' नजदीक है और 'यह' दूर है। इसी प्रकार घडा 'यह' है और माटी 'वह' है। दोनो साथ-साथ हैं, परन्तु घडे के न रहने पर भी माटी का अभाव नही है। घडे के फूटने पर भी माटी 'वही' रूप से कायम है। इसी प्रकार आत्मा की स्थिति है। आत्मा का चेतनपना 'वह' है और क्रोधादि अवस्थाएँ 'यह' हैं। यदि हमने शरीर को और क्रोधादि को ही अपना मान रखा है, चैतन्य को अपना नही माना है, तो हमने 'वह' को न जानकर, 'यह' को ही 'वह' माना है। 'यह' नाशवान है, अत· 'यह' के नाश से 'वह' का नाश मान रहे हैं। सही ज्ञान होने के लिए 'यह+वह' का ज्ञान होना जरूरी है। सिर्फ 'वह' को ही मानें तो सही ज्ञान नही है, सिर्फ 'यह' को ही मानें तो भी सही ज्ञान नही है। 'वह' को यह' मानें, या 'यह' को 'वह' माने, या 'वह' को अलग और 'यह' को अलग माने, तब भी वस्तुस्वरूप का सही ज्ञान नही है। 'यह' और 'वह' एक साथ एक समय मे होते हुए अलग भी हैं और 'वह' के बिना यह नही, 'यह' के बिना 'वह' नही है। परन्तु, 'वह' 'यह' नही है और 'यह' 'वह' नही है। जो 'वह' को नही जानता, उसके 'यह' मे ही 'वह' पना आ जाता है। अत उसको 'यह' मे 'वह' छुडाने के लिए 'वह' का ज्ञान कराने का प्रयत्न किया जाता है। और जो लोग 'यह' को नही मानते, उसे मिथ्या, भ्रम, माया आदि कहते हैं उन्हे 'यह' का ज्ञान कराने का प्रयत्न किया जाता है, जिससे कि दोनो ही प्रकार के लोग 'यह+वह' का ज्ञान कर लें, सही ज्ञान प्राप्त हो जायें।

विशेषो का ससार : नाटकवत् वा स्वप्नवत् :

मान लीजिये कि कोई अभिनेता अभिनय करते हुए अपने असली रूप को भूल जाता है, नाटक या फिल्म मे अपने पार्ट या रोल को ही वास्तविकता मान लेता है, और फलस्वरूप दुखी-सुखी होने लगता

है। तो फिर उसका वह दुख कैसे दूर हो ? उपाय बिल्कुल सीधा है। यदि उसे अपने निजरूप का— जिसे वह अभिनय के दौरान भुला बैठा है—फिर से अहसास करा दिया जाये, तो उसका रोल वास्तविक न रह कर केवल नाटकीय रह जायेगा और अभिनय करते हुए भी उसका भीतर मे दुखी-सुखी होना मिट जायेगा। यही सही उपाय है उसका दुख दूर करने के लिए। रोल को बदलना सही उपाय नही है क्योकि रोल्स तो अमीर का, गरीब का, निर्बल का कर्माधीन मिलते ही रहेगे। परन्तु यदि अपना खुद का अहसास बना रहे तो चाहे जैसा भी रोल हो उसको अदा करते हुए भी दुखी नही होगा।

बिल्कुल इसी प्रकार इस जीव की स्थिति है। **आत्म-विज्ञान के सर्वप्रथम और मौलिकतम सूत्र के रूप मे भगवान् महावीर ने बतलाया कि अपने उस चैतन्य सामान्य का आश्रय लेकर ही यह जीव अन्ततः राग-द्वेष का अभाव कर सकता है।** मनुष्य, पशु आदि शरीरो का सम्बन्ध और क्रोध-मानादि विकारो का होना तो मात्र उस चेतन-वस्तु के विशेष है, आत्मोन्नति का मार्ग तो इन अनित्य-नाशवान अवस्थाओ से भिन्न चैतन्य सामान्य मे तादात्म्य, अपनापना स्थापित करना है। इसने भी स्वय को न पहचान कर, कर्मजनित रोल को ही वास्तविक मान लिया है, इसलिए दुखी-सुखी हो रहा है। दुख से बचने के लिए इसने समय-समय पर उन रोल्स को बदलने की चेष्टा तो की, और कर्म के उदय के अनुसार कदाचित् इसका रोल बदल गया तो इसने स्वय को सुखी मान लिया, परन्तु इन रोल्स से भिन्न जो अपना स्वरूप है उसे जानने की चेष्टा नही की। यदि करता तो रोल मे असलियत का भ्रम मिट कर वह मात्र नाटक रह जाता। फिर इसे चाहे जो भी रोल्स मिलते इसका उनमे दुखी होना असभव था।

जीव की इस विडम्बना को देखकर भगवान् महावीर ने बतलाया कि तू यदि कर्मकृत रोल मे असलियत मानेगा तो नये-नये रोल्स करने के लिए कर्मों का सचय करता रहेगा, उन कर्मों के अनुसार तुझे रोल करने पडेंगे। पुन यदि उनमे अपनापना मानेगा तो फिर नये रोल्स के कारणभूत कर्मों का सचय होगा। तेरी यही दशा अनन्त काल से चली आ रही है। यदि तू स्वय को पहचान कर कर्मजनित रोल को मात्र रोल समझ ले, तो फिर न तो तू ही उस रोल की वजह से दुखी-सुखी होगा और न ही तुझको नये रोल्स करने के लिए कर्म का सचय होगा। और इस प्रकार अन्त मे जब पूर्वसचित कर्मों के द्वारा रचा हुआ तेरा अन्तिम रोल भी समाप्त हो जायेगा तो फिर इन कर्मजनित रोल्स से सर्वथा रहित जैसा तू निज मे है वैसा ही रह जायेगा।

इस बात को तनिक विस्तार से समझना ठीक होगा। यह जीव निरन्तर कर्म के अनुसार मनुष्य-देव-पशु-नारकी का रोल कर रहा है। चूकि अपने को नही जानता कि मैं चैतन्य हूँ, अत उस रोल को ही अपना स्वरूप मानता है और दुखी-सुखी होकर नवीन कर्मों का सचय करता है। इन कर्मों के फल-स्वरूप फिर नया रोल मिलता है। यदि अच्छे कर्मों का सचय किया तो धनवान का, राजा-महाराजा का, नीरोग-स्वस्थ-सुन्दर-बुद्धिमान व्यक्ति का, इन्द्र-देवेन्द्र आदि का रोल मिल जाता है। यदि बुरे कर्मों का सचय किया तो गरीब-दरिद्र का, रोगी-अपग-कुरूप-मूर्ख व्यक्ति का, पशु-पक्षी आदि का रोल

मिल जाता है। जो भी अच्छा-बुरा रोल मिलता है वह इस जीव की इच्छा के आधीन नही मिलता, अपितु इसके पूर्वकृत कर्मों के आधीन ही मिलता है। चूकि यह जीव स्वय को, निजरूप को नही जानता, अत उस कर्मकृत शरीर को मान लेता है कि 'यही मैं हूँ' और उसी के साथ समूचे परिवार मे, समूची बाह्य सामग्री मे भी अपनापना मान लेता है। अपनी इस मान्यता के वशीभूत हुआ यह जीव जव इनके वियोग को प्राप्त होता है तो 'मेरा अमुक मर गया', 'मैं मर गया', 'मेरी अमुक चीज चली गयी', 'मैं लुट गया' इत्यादिक प्रकार से रोता है, दुखी होता है। अथवा किसी व्यक्ति-वस्तु का वियोग इसे न भी हुआ हो तो 'अमुक की प्राप्ति नही हुई' इस प्रकार किसी न किसी पदार्थ का अभाव इसको खटकता रहता है, जैसे कि स्वास्थ्य, धन, पद, प्रतिष्ठा का अभाव या स्त्री, सतान आदि का अभाव। इस प्रकार जव यह दुखी होता है तो वर्तमान अवस्था को दुख का कारण मानकर दूसरी अवस्था प्राप्त करने की चेष्टा करता है। जैसे कि गरीबी को दुख का कारण मानता है तो धनवान वनना चाहता है। परन्तु यह नही समझता कि इन अवस्थाओ मे बदलाव होना भी पूर्वसचित कर्मों के आधीन ही है। अतः यदि सयोगवश कर्मों का अनुकूल उदय हुआ और इसकी कोई एक मनचाही वात कुछ समय के लिये हो गई तो फिर 'मेरे करने से ही यह हुआ' ऐसा मानकर अहकार करता है और यदि इच्छा के अनुकूल उदय का सयोग नही बना और इसका मनचाहा नही हुआ तो फिर यह विषाद करता है। इस प्रकार अपने ही अहकार और विषादयुक्त परिणामो के द्वारा पुन नवीन कर्मों का सचय कर लेता है, जिनके फलस्वरूप पुन शरीर आदि की प्राप्ति होती है और यह चक्कर बराबर चलता रहता है।

इस चक्कार को तोडने का उपाय इस जीव ने न तो कभी समझा और न कभी किया। इसने कभी भी यह चेष्टा नही की कि मैं निजरूप को जानू। यदि यह स्वय को जान ले तो फिर कैसा भी कर्मजनित पार्ट क्यो न करना पडे, उसमे अहकार-ममकार होगा ही नही। चाहे जैसी भी बाह्य अवस्था हो वह इसको दुखी नही बना सकती। जब पार्ट ही करना है तो चाहे जिसका पार्ट करना पडे, क्या फर्क पडता है? फिर भिखारी का पार्ट इसको दुखी नही कर सकता और धनिक का पार्ट इसके अहकार की वजह नही बन सकता। जब यह स्वय को जान लेता है तो पूर्वकृत कर्मों के फल शरीरादिक मे अपनापना न रह कर 'ये स्वाँग मात्र हैं' ऐसा भाव रह जाता है। तब न तो दुख-सुख हैं, न राग द्वेष हैं, और न ही नवीन कर्मों का बध है। पुराना कर्म जितना है, उतना अपना फल देकर चला जायेगा और तब यह कर्म से रहित, राग-द्वेष से रहित, जैसा इसका स्वरूप है वैसा ही रह जायेगा। इसलिए सुखी होने का, राग-द्वेष रहित होने का उपाय अवस्थाओ को बदली करना नही है अपने को जानना है। अपने को जानने के वाद भी ससार अवस्था तव तक चलती है जब तक पूर्व सस्कार यह अपने पुरुषार्थ के बल पर नष्ट नही कर देता।

जीव की कर्मजनित अवस्थाओ की तुलना जिस प्रकार नाटक मे होने वाले विभिन्न रोल्स से की गई है, उसी प्रकार उनकी समानता स्वप्न से भी की जा सकती हैं। ससारी जीव की कर्मजनित, परि-

वर्तनशील और नाशवान अवस्थाएँ स्वप्न की भाँति ही अर्थहीन और क्षणस्थायी हैं। कोई व्यक्ति जब तक स्वप्न देखता रहता है, तभी तक स्वप्न उसके लिए वास्तविक रहता है। परन्तु जैसे ही वह जगता है, वह स्वप्न वास्तविकता से विहीन मात्र एक स्वप्न रह जाता है। स्वप्न मे उसकी जो भी अवस्थाएँ हुई थी वे दुख-सुख का कारण नही रह जाती। इसी प्रकार यह जीव अपने चैतन्य-स्वभाव मे तो सो रहा है और ससार के कार्यो मे जग रहा है। यदि यह अपने चैतन्य-स्वभाव मे जग जाये तो ससार के समस्त कार्य स्वप्नवत् हो जाते हैं, अर्थहीन हो जाते है। इसलिए दुख दूर करने का उपाय सुखद स्वप्न लेना नही वल्कि स्वप्न से जागना है।

३

आत्मा का राग-द्वेष से सम्बन्ध :

अर्थहीन परिवर्तनो से व्याप्त इस मनुष्य जीवन मे यदि कोई सार्थक उपलब्धि सम्भव है तो वह है अपने चैतन्य सामान्य का, अपने स्वभाव का अनुभव। वह अनुभव कैसे हो ? अनुभव कर पाने से पहले उस निज स्वभाव को बुद्धि के स्तर पर ठीक से, विस्तार से समझ लेना आवश्यक है। स्वभाव वह होता है जो वस्तु की अवस्था बदलने पर भी न वदले, हमेशा कायम रहे। जैसे चीनी का स्वभाव है मीठापना, चीनी को मिट्टी मे मिला दे, पानी मे घोल दें, गर्म कर दें, परन्तु उसका मीठापना बराबर कायम रहेगा। इसी प्रकार आत्मा का स्वभाव है जाननपना। यद्यपि ज्ञान कम ज्यादा होता रहता है, तथापि जाननपना हर हालत मे कायम रहता है। यदि ज्ञातापना जीव का स्वभाव है तो राग-द्वेष का उससे क्या सबध है, क्या राग-द्वेष भी जीव के स्वभाव है ? इन प्रश्नो के समाधान के लिए एक उदाहरण लेते हैं। यदि चीनी को गर्म कर दें तो चीनी मे एक साथ दो बातें पाई जाती है, मीठापना और गर्मपना। मीठापना और गर्म-पना एक साथ होते हुए भी मीठापना तो चीनी का है जबकि गर्मपना अग्नि के सम्बन्ध से आया है। यद्यपि गर्म तो चीनी ही हुई है, तथापि गर्मपना चीनी का अपना नही, अग्नि का है। और फिर, गर्मपने के अभाव मे चीनी का अभाव भी नही होता। अत गर्मपना चीनी का स्वभाव नही हो सकता। इस उदाहरण की भाँति ही आत्मा मे भी जाननपना और राग-द्वेष (शुभ-अशुभ भाव) एक साथ होते हुए भी जाननपना स्वय चेतन का है जबकि राग-द्वेष कर्म के सम्बन्ध से आ रहे है। राग-द्वेष के अभाव मे भी आत्मा का अभाव नही होता इसलिए राग-द्वेष आत्मा मे होते हुए भी वे आत्मा के स्वभाव नही हो सकते। आत्मा का स्वभाव तो जाननपना मात्र है जो आत्मा मे सदाकाल विद्यमान रहता है। जाननपना या ज्ञायकपना ही स्वय को तथा पर को जानने वाला है। परन्तु अनादिकाल से वह ज्ञायक स्वय को ज्ञानरूप अनु-भव न करके राग-द्वेषरूप अनुभव कर रहा है। आचार्य करुणावश उसी को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि तू स्वय को चैतन्यरूप अनुभव न करके राग-द्वेषरूप क्यो अनुभव कर रहा है ? ये राग-द्वेष तो परकृत

कार्य हैं, तेरे स्वभाव तो है नही। फिर तू इनसे भिन्न अपने ज्ञायक स्वभाव का अनुभव क्यो नही करता ?

आत्मा का शरीर से सम्बन्ध :

राग-द्वेषरूपी विकारो से भिन्न होने के साथ ही यह आत्मा शरीर से भी भिन्न है। शरीर और आत्मा का एक साथ सयोग होते हुए भी वे दोनो कभी भी एक नही होते। दोनो के लक्षण अलग-अलग हैं। आत्मा का लक्षण जाननपना है जबकि शरीर पौद्गलिक है, स्पर्श-रस-गध-वर्ण गुणो वाला है, अचेतन है। मान लीजिए कि किसी व्यक्ति का दुर्घटनावश एक हाथ कट जाता है और वह उसके सामने पडा है। वह हाथ तो जानने की शक्ति से रहित है परन्तु जानने वाला उसको जान रहा है। हम यह प्रत्यक्ष मे देखते हैं कि मुर्दा पडा रह जाता है जबकि जानने वाला पदार्थ निकल कर चला जाता है। आत्मा के साथ शरीर का सम्बन्ध उसी प्रकार का है जैसा कि शरीर के साथ कपडे का है। जिस प्रकार कपडे के मैला होने से शरीर मैला नही होता, कपडे के फटने से शरीर नही फटता, और कपड़े के नाश से शरीर का नाश नही होता, उसी प्रकार शरीर के मैला होने से आत्मा मैली नही होती, शरीर के कटने-फटने से आत्मा छिन्न-भिन्न नही होती, और शरीर का नाश होने से आत्मा का नाश नही होता। शरीर अचेतन है, उसमे जानने की शक्ति नही होती, परन्तु जानने की शक्ति वाला चैतन्य पदार्थ शरीर के माध्यम से—आँख, नाक, कान, जीभ, त्वचा के माध्यम से—बाह्य पदार्थों को जानता है। जानने वाली आँखें नही, बल्कि जैसे "चश्मे के माध्यम से आँखें देखती हैं" ऐसा लोक मे माना जाता है, वैसे वस्तुत आँखो के माध्यम से आत्मा जानती है। जानने वाला तो वह चैतन्य ही है, शरीर नही। शरीर तो केवल एक माध्यम है और वह माध्यम भी मात्र बाह्य पदार्थों, परपदार्थों के जानने मे ही है। जब यह चैतन्य स्वय को जानने मे प्रयुक्त होता है तो उस माध्यम का भी कोई कार्य नही रह जाता।

ज्ञानशक्ति का ह्रास :

आत्मा मे जानने की अनन्त शक्ति अन्तर्हित है। शुद्धात्मा मे जब वह शक्ति प्रकट होती है, व्यक्त होती है तो वह बिना किसी पदार्थ की सहायता के त्रिलोक व त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थों को प्रत्यक्ष जानना है। परन्तु वर्तमान अवस्था मे, अशुद्ध अवस्था मे उसकी शक्ति इतनी घटी हुई है कि वह आँख-कान आदि इन्द्रियो के माध्यम से तथा प्रकाश आदि बाह्य साधनो की सहायता से किंचित् मात्र पदार्थों को जान पा रहा है। जाननशक्ति मे कमी का कारण यह है कि जीव ने अपनी शक्ति का दुरुपयोग किया है—उसे स्वय मे, निज स्वभाव मे न लगा कर कर्म और कर्मफल (राग-द्वेष, शरीर और शरीर सम्बन्धी पदार्थों) मे लगाया है। इसके विपरीत, यदि यह जीव अपनी जाननशक्ति को अपने ज्ञाता स्वभाव मे लगाये तो वही शक्ति बढते-बढते अपने चरमोत्कर्ष पर पहुचकर केवलज्ञान-रूप हो सकती है। परन्तु, बड़े खेद की बात है कि जितनी शक्ति इसके पास वर्तमान मे है उसको भी यह विषय-कषाय मे ही लगा रहा है, जिसके फलस्वरूप इसकी जाननशक्ति ह्रास की दिशा मे ही अग्रसर है। यदि इसका दुरुपयोग

इसी प्रकार चलता रहा तो यह घटते-घटते एक दिन अपने चरम अपकर्ष पर पहुच जायेगी, अक्षरज्ञान के अनतवें भाग मात्र रह जायेगी। हमारा ज्ञान जो इन्द्रियो के आधीन हुआ है उसका कारण हम स्वय ही हैं—हमने उसको सही जगह नहीं लगाया। सही जगह तो केवल अपना स्वभाव ही है, यदि अनभ्यास के वश उसमें न लगा सकें तो जिन साधनो के द्वारा अपने स्वभाव की पुष्टि होती है उनमे लगाना पडता है। इनके अतिरिक्त अन्य जगह लगाना तो ज्ञान का दुरुपयोग ही है जिसका फल कर्म की बढवारी और ज्ञान का ह्रास है। धर्म या आत्म-विज्ञान का सम्बन्ध तो इतना ही है कि जो शक्ति हमारे पास है, हम उसका स्वरूप जाने और उसका सदुपयोग करें जिससे कि वह वृद्धि की ओर अग्रसर हो। जानन-शक्ति और राग-द्वेषादि विकार, इनका परस्पर मे उल्टा सम्बन्ध है—जब विकार बढते है तो सम्यक ज्ञानशक्ति घटती जाती है, और जब सम्यक ज्ञानशक्ति बढती है तो विकार घटते जाते है। अत ज्ञान-शक्ति को स्वभाव मे लगाने पर उसका विकास और विकारो का ह्रास एक साथ होता है। इस प्रकार जब विकारो का सर्वथा अभाव घटित होता है तब विकसित होती हुई ज्ञानशक्ति पूर्णताके सन्मुख होती है। अत कषाय का अभाव, ज्ञानशक्ति की पूर्णता ही साक्षात् धर्म है।

अभी हमारी ज्ञानशक्ति पर मे लगी हुई है, बाहर की ओर केन्द्रित है, उसको वहाँ से हटाना है। परन्तु यदि इतनी ही बात कही या समझी जाती है तो पूरी बात नही है, क्योकि हटाने से भी ज्यादा महत्त्वपूर्ण यह है कि उसे कहाँ लगाना है। बाहर से हटाकर यदि सही जगह नही लगाया, निजस्वभाव मे नही लगाया तो धर्म की सम्भावना नही हो सकती। अज्ञानी जाननशक्ति को पर से यदि हटाता भी है तो भीतर किस ओर लगाए यह नही जानता। ज्यादा से ज्यादा अशुभ से हटाकर शुभ मे लगा लेता है परन्तु वह भी पर ही है। अन्धकार को दूर करने का जो उपदेश दिया जाता है उसका अभिप्राय अन्धकार को भगाने का नही बल्कि प्रकाश को लाने का होता है। अन्धकार को दूर करने का मतलब ही प्रकाश को लाना है। प्रकाश लाया जायेगा अन्धकार स्वत दूर हो जायेगा। जो व्यक्ति इस प्रकार सही अर्थ को नही समझता उसके सम्भवत उपदेश-ग्रहण की पात्रता नही है। जब इसे रत्नो की पहचान होगी और फलत उनके ग्रहण की रुचि होगी तो फिर यह नही पूछेगा कि जो पत्थर मेरे पास पडे है उनका मैं क्या करूँ। परन्तु, वे पत्थर कहाँ छूट गये इसका इसे पता भी नही चलेगा। यही बात वर्तमान सदर्भ मे है—यदि इस जीव से ससार-शरीर-भोग छुडाने है तो इसको इस अर्थहीन, परिवर्तनशील, नाशवान वस्तुओ से विपरीत लक्षण वाले सार्थक, अपरिवर्तनीय, शाश्वत निज स्वभाव की पहचान करनी होगी, सूचित करना होगा कि यह तुझको मिला हुआ ही है, कि यही वह स्थल है जहाँ पूर्ण शान्ति और आनन्द है। और यदि इसको निज स्वभाव की पहचान हो गयी, श्रद्धा हो गयी तो यह जहाँ खडा है—संसार, शरीर, भोगो के बीच—वहाँ से स्वयमेव हट जायेगा।

अध्यात्म और चरणानुयोग : ग्रहण और त्याग की एकता :

आज तक जो उपदेश हुआ वह त्याग का उपदेश तो हुआ परन्तु साथ मे ग्रहण का नही हुआ।

केवल त्याग का उपदेश देना आधी बात है, जब साथ मे ग्रहण का भी उपदेश दिया जाता है तभी बात पूरी होती है। त्याग और ग्रहण ये दोनो एक-दूसरे के पूरक है—यही चरणानुयोग और अध्यात्म की मित्रता है, एकता है। इन दोनो की एकता मानो एक रस्सी है जिसका एक सिरा यदि चरणानुयोग है तो दूसरा सिरा अध्यात्म है। रस्सी का एक सिरा दूसरे के बिना नही हो सकता—ग्रहण त्याग की अपेक्षा रखता है और त्याग ग्रहण की। 'पर' से हटे बिना 'स्व' मे आना सम्भव नही है, और यदि 'पर' से हटने मात्र पर ही दृष्टि रही – 'स्व' मे पहुचने की बात उसमे गर्भित न हुई - तो वहाँ ज्यादा से ज्यादा इतना ही होगा कि एक पर' से हटकर दूसरे 'पर' मे अटकाव हो जायेगा। यदि हम दोनो अनुयोगो की मैत्रीरूपी इस रस्सी को काटकर दो कर देते है तब न तो अकेला अध्यात्म कार्यकारी है और न ही अकेला चरणानुयोग। रस्सी को काट देने से दोनो ही एकान्तवाद वन जाते है। और यदि एक-दूसरे के सापेक्ष इनके सही स्वरूप को माना जाये तो रस्सी का कोई भी एक सिरा पकड कर यदि चला जायेगा तो दूसरे सिरे पर पहुँचना हो जायेगा। किस सिरे से शुरू करना है यह चलने वाले पर निर्भर करता है।

असल मे सच्चा मार्ग अध्यात्म और बाहरी आचरण की एकता से ही वनता है जैसे-जैसे आत्मस्वभाव के सन्मुख होता है वैसे-वैसे कर्म हल्के होते जाते है वैसे-वैसे आचरण बदली होता जाता है यह मिलान है अगर बाहरी आचरण सही नही है तो कर्म भी हलके नही हुए और स्वभाव की प्राप्ति भी नही हुई ऐसा नियम है। कोई व्यक्ति वाहरी आचरण की तरफ से चलता है और स्वरूप के प्राप्त करने का पुरुषार्थ करता है जब स्वरूप प्राप्त हो जाता है तब वही वाहरी आचरण सच्चा व्यवहार बन जाता है, सच्चाई आ जाती है।

आत्मा-अनुभव जीव का अपना चुनाव :

जैसा कि ऊपर विचार कर आये हैं, इस जीव की जाननशक्ति निरन्तर पर मे लगी हुई है—शरीर और शरीर-सम्बन्धी पदार्थों की ओर केन्द्रित है। यह जीव अपने को शरीर-रूप देखता है, शरीर के स्तर पर खडा होता है तो पाता है कि स्वास्थ्य, सौन्दर्य, बुद्धि, शैक्षिक, उपाधि, धन, पद, प्रतिष्ठा, स्त्री-पुत्रादिक, परिजन, कुटुम्ब, समाज, राष्ट्र आदि ये सब मेरे हैं, ये ही मैं हूँ। इनके अभाव मे अपना अभाव व इनके होने मे अपना होना मानता है। फल यह होता है कि इन पदार्थों से सम्बन्धित हजारो प्रकार के विकल्प और हजारो प्रकार की आकुलताएँ उठ खडी होती हैं, और इन विकल्पो-आकुलताओ मे फँसकर यह जीव दु खी होता रहता है। कदाचित् कोई एक आकुलता कुछ समय के लिए मिटती भी है तो अन्य हजारो उस समय भी मौजूद रहती हैं। और जो मिटी है वह भी कुछ समय बाद फिर आ जाती है। एक-दो आकुलताएँ कम होने से यह जीव स्वयं को सुखी मान लेता है, परन्तु वास्तविक सुख यहाँ नही है। जिसे यह सुख मान लेता है वह सुखाभास के अतिरिक्त कुछ भी नही है। और जब यह शरीर के स्तर पर न होकर चेतना के स्तर पर खडा होता है, स्वयं को चैतन्य-रूप देखता है तो इसे आकुलता पैदा होने का कोई कारण ही नही रह जाता। आत्मा के स्तर पर न कोई रोग है और न किसी

का मरण, न कुछ आना है और न कुछ जाना है, जो अपना है वह हमेशा अपना है, जो पर है वह हमेशा पर है। ऐसा अनुभव आने पर सभी प्रकार की आकुलताएँ और विकल्प करने का कारण समाप्त हो जाता है। इसीलिए आचार्यों ने वतलाया कि हे जीव ! तू स्वय को शरीर-रूप—जैसा तू नही है—न देखकर चेतना-रूप देख जैसा कि तू अनादिकाल से है और सदाकाल बना रहेगा। स्वय को चैतन्यरूप देखना ही तेरी ज्ञानशक्ति को वढाकर पूर्ण कर देगा और राग-द्वेषजनित विकल्पो को हटाकर तुझे शुद्ध कर देगा। ऐसा तू वर्तमान मे कर सकता है, यह तेरा अपना चुनाव है कि चाहे स्वय को तू शरीर-रूप देखे, चाहे चैतन्य-रूप। शरीर-रूप देखने का फल तो चौरासी लाख योनियो मे अनादिकाल से तू निरन्तर भोगता आ रहा है। जिन्होने स्वय को चैतन्यरूप देखा वे परम आनन्द को प्राप्त हो गये। यदि तुझे भी वैसा आनन्द प्राप्त करना है तो तू भी स्वय को चैतन्यरूप देख और उसी रूप ठहर जा। कही वाहर नही जाना है, मात्र स्वय मे ही रह जाना है, वस परमानन्द को प्राप्त हो जायेगा। आचार्य और आगे कहते है कि हम उसी परमानन्द का भोग कर रहे है, एक वार हमारी वात केवल एक घडी के लिए मानकर समस्त पदार्थों से अलग अपने स्वरूप को, चैतन्यरूप को—जैसा कि तू वस्तुत है—देख ले तो तेरा अनन्तकाल का दु ख समाप्त हो जायेगा। जैसा कि तू स्वय को आज तक देखता आ रहा है—शरीररूप और राग-द्वेषरूप—वैसा तू न कभी था, न है और न ही कभी हो सकेगा। यह शरीर तो जड पदार्थ है, इसकी कोई भी, कैसी भी अवस्था तुझ चैतन्य को प्रभावित नही कर सकती, इसके नाश से भी तेरा नाश नही हो सकता। इसका तो महत्त्व भी तभी तक है जव तक तू इसमे ठहरा हुआ है, अन्यथा लोग इसको छुएँगे भी नही, इसे जला देंगे। इसका कोई महत्त्व नही, महत्त्व तो तेरा है, तुझ चैतन्य तत्त्व का है।

४

आत्मा को जानने का उपाय :

प्रत्येक व्यक्ति के प्रतिसमय तीन क्रियाये एक साथ हो रही है—एक तो शरीर की क्रिया, दूसरी शुभ या अशुभ विकारी परिणामरूप मन की क्रिया, तथा तीसरी जानने रूप क्रिया। शरीर की कैसी भी स्थिति हो उसका जानना हो रहा है। यदि शरीर रोगी है तो वहाँ एक तो रोग का होना और दूसरे रोग का जानना दोनो वातें एक साथ हो रही हैं। दो काम एक साथ हो रहे हैं—हाथ का उठना और उसका जानना, रोग का होना और रोगी अवस्था का जानना, नीरोग होना और नीरोगता का जानना। यहाँ पर यह निर्णय करना है कि जिसमे रोगादिक हुए है वह मैं हूँ या उसको जानने वाला ? शरीर की अवस्था वदल रही है, जानने वाला इसे जानता है। शरीर वूढा हो रहा है उसको भी जान रहा है, मर रहा है तो उसको भी जान रहा है, परन्तु जो जानने वाला है वह न तो वूढा हो रहा है और न मर

रहा है। यहा पर यह निर्णय करना है कि मैं तो जानने वाला हूँ जबकि अवस्था बदलने का सम्बन्ध शरीर के साथ है।

जिस प्रकार शरीर की प्रत्येक क्रिया, प्रत्येक अवस्था को जानने वाला उसी समय जानता जा रहा है, उसी प्रकार परिणामो की भी चाहे कोई अवस्था हो उसका जानना भी उसी समय साथ साथ होता जा रहा है, जैसे क्रोध का होना और उसका जानना। क्रोधादिक कम-ज्यादा हो रहे है—क्रोध से मान, मान से माया, माया से लोभ-रूप परिणाम हो जाते हैं—परन्तु जानने वाला सतत, एकरूप से जो कुछ भी परिणमन हो रहा है उस सबको जान रहा है, जानता जा रहा है। वह क्रोध को भी जान रहा है और क्रोध के अभाव को भी जान रहा है, क्रोध के अभाव मे उसका अभाव नही हो रहा है। उसका काम तो मात्र जानना है।

इस प्रकार यह निश्चित हुआ कि तीन काम एक साथ हो रहे हैं—शरीर-आश्रित क्रिया, विकारी परिणाम और जाननक्रिया। इनमे से पहले दो काम तो नाशवान हैं जबकि जाननपना त्रिकाल रहने वाला है। स्वप्न आने पर भी जानने वाला उसी समय जान रहा है, तभी तो सवेरे उठकर वह अपने स्वप्न को कह सकता है। आज बडी अच्छी नीद आई, इसको भी जानने वाले ने जाना, एक नीद ले रहा था और दूसरा उसको भी जान रहा था।

ये तीनो क्रियायें एक साथ हो रही हैं इस बात का आज तक हमे ज्ञान ही नही था। चूकि जानने की क्रिया हमारी पकड मे नही आई, केवल शरीर व मन की क्रियायें ही पकड मे आ रही हैं, इसलिए शरीर की क्रिया और राग-द्वेषरूप परिणामो को ही हमने अपना होना, अपना अस्तित्व समझा। स्वय को इन्ही का कर्त्ता माना। इनके अतिरिक्त कोई जाननक्रिया भी हो रही है और उसका स्तर इनके स्तर से भिन्न है, यह बात कभी समझ मे नही आई। फल यह हुआ कि धर्म के लिए हमने एक ओर तो परिणामो को बदलने की चेष्टा की—अशुभ से शुभरूप बदलने का प्रयत्न किया, और दूसरी ओर शरीराश्रित क्रिया को अशुभ से शुभरूप बदलना चाहा। यदि शरीर और मन की ये क्रियायें बदल गईं तो हमने इस बदलाव को ही धर्म मान लिया और अहकार किया कि मैंने ऐसा कर दिया। इस बात को तनिक भी न समझा कि ये दोनो ही पर—आश्रित क्रियायें हैं, आत्मा की अपनी स्वाभविक क्रिया नही है, अत इन पराश्रित क्रियाओ के बदलने मात्र से धर्म होना कदापि सम्भव नही, धर्म तो आत्मा का स्वभाव है, उसका सम्बन्ध तो उस तीसरी, स्वाभाविक क्रिया से है, जाननक्रिया से है। यह नासमझी, यह गलती उस जाननेवाले की ही है कि उसने अपनी स्वाभाविक क्रिया को न पहचान कर, विकारी परिणामो और शरीराश्रित क्रियाओ मे ही अपनापना मान रखा है, यही अहकार है, यही मिथ्यात्व है, यही ससार है जो तब तक नही मिट सकेगा जब तक यह अपनी स्वाभाविक क्रिया को नही जानेगा।

जाननक्रिया जीव की स्वयं की अपनी :

धर्म के मार्ग पर शुरुआत के लिए जरूरी है कि हम यह निर्णय करें कि जाननक्रिया तो मेरे ज्ञाता

स्वभाव से उठ रही है, वह मेरी स्वय की क्रिया है जबकि दो क्रियाये कर्म के सम्बन्ध से हो रही है —उसी प्रकार जैसे कि पहले दिये गये चीनी के उदाहरण मे चीनी का गर्मपना पर के, अग्नि के, सम्बन्ध से था। अभी तक तो इन कर्मकृत दो प्रकार की क्रियाओ मे ही अपनापना माना था, अपना होना मान रखा था, परन्तु अब हमारा अपनापना उस जानने वाले मे आना चाहिए। जैसा अपनापना, जैसा एकत्व शरीराश्रित क्रिया और विकारी परिणामो मे है वैसा अपनापना वैसा एकत्व उनके बजाय जाननक्रिया मे आना चाहिए। जिस किसी के ऐसा घटित हो जाता है उसे वास्तव मे ऐसा अनुभव होता है कि चलते हुए भी मैं चलने वाला नही, चलने की क्रिया का सिर्फ जानने वाला हूँ, बोलते हुए भी मैं बोलने वाला नही, बल्कि बोलने वाले को मात्र जानने वाला हूँ, मरते हुए भी मैं मरने वाला नही, अपितु मरण को केवल जानने वाला हूँ। इसी प्रकार, क्रोध होते हुए भी मैं क्रोधरूप नही, बल्कि उसका मात्र जानने वाला हूँ, लोभादिक होते हुए भी लोभादि का करने वाला नही, मात्र जानने वाला हूँ, दया-करुणा आदि परिणाम होते हुए भी मैं न तो उन-रूप हूँ, न उनका करने वाला हूँ, अपितु उनका जानने वाला हूँ। मैं तो जानने के सिवाय और कुछ कर ही नही सकता। इस प्रकार इस जीव के 'स्व' और 'पर' के बीच भेद-ज्ञान पैदा होगा तब यह शरीर मे रहते हुए भी शरीर से अलग हो जाएगा, ससार मे रहते हुए भी ससार उसके भीतर नही रहेगा।

जाननक्रिया को कैसे पकड़ें ? :

पहले इन तीनो क्रियाओ को एक-दूसरे से भिन्न जानना और फिर मात्र जाननपने मे अपनापना-एकत्व-तादात्म्य स्थापित करना जरूरी है। जाननपने मे भी जो जानने का कार्य हो रहा है वह कार्य कर्म सापेक्ष क्षयोपशम ज्ञान है जो ज्यादा कम होता है इन्द्रियो की, मन की सहायता की जिसमे जरूरत है वह विशेष ज्ञान है उसको नही पकडकर उसके माध्यम से उसको पकडना है जहाँ से वह उठ रहा है जो सामान्य ज्ञान है जो ज्ञान पिण्ड है जिससे यह जानने की लहर उठी है। उसमे एकत्वपना स्थापित करना है। इन क्रियाओ को अलग-अलग जानना तो अपेक्षाकृत आसान है, परन्तु उस जाननपने मे, ज्ञातापने मे अपनापना स्थापित करना मुश्किल है। फिर भी इसके लिए उपाय है—पाँच-सात मिनट के लिए अलग बैठकर हम यह निश्चित करें कि शरीर की जो भी क्रिया होगी वह मेरी जानकारी मे होगी, आँखो की टिमकार भी मेरी जानकारी मे होगी, बेहोशी मे नही। शरीर की क्रिया का कर्त्ता न बनकर उसका मात्र जानने वाला बने रहना है। और यदि दो मिनट भी जानने वाले पर जोर देते हुए शरीर की क्रिया को मात्र देखने लगेगे तो पायेंगे कि जानने वाला शरीर से अलग है। इसी प्रकार पाँच-सात मिनट के लिए बैठकर मन मे उठने वाले विकल्पो का कर्त्ता न बनकर मात्र जानने वाला, मात्र ज्ञाता बने रहे। मन मे जो कुछ भी भाव चल रहे हो, जो कुछ भी विचार उठ रहे हो, उनको देखते जायें, देखते जायें—चाहे शुभ विचार हो या अशुभ, उनका कोई भी विरोध न करे कि ऐसा क्यो उठा और ऐसा क्यो नही उठा।

हमारा काम है मात्र जानना, उस जानने वाले पर जोर देते जाये। हम उन विचारो के न तो करने वाले है, न रोकने वाले, हम तो उन्हे मात्र जानने वाले हैं, बस अपना काम करते जायें। हम मन नही, हम देह नही, जरा भीतर सरक जाये और देखते रहे। मन को कहे—'जहाँ जाना हो जा, जो विचार-विकल्प उठाने हो उठा, हम तो बैठकर तुझे देखेंगे। लोग कहते है कि मन हमारे वश मे नही है, परन्तु यदि हम केवल दो मिनट के लिए मन को न रोके--जहाँ वह जाये उसे जाने दें बस इतना ध्यान रहे कि उसका कही भी जाना हमारी जानकारी मे हो, बेहोशी मे नही—तो हम पायेंगे कि यह मन कही भी नही जा रहा है, यह तो अब सरकता ही नही।'

यदि हमने धैर्यपूर्वक अभ्यास चालू रखा, देखने-जानने वाले पर जोर देते गये, तो पायेंगे कि कभी-कभी कुछ होने लगता है, मानो बरसात की फुहार का एक झोका-सा आया हो—एक क्षण के लिए सब शून्य हो जाता है, निर्विचार हो जाता है, निर्विकार हो जाता है, एक अभूतपूर्व शान्ति छा जाती है। यदि ऐसा हुआ तो चाभी मिल गई कि विकल्प-रहित हुआ जा सकता है। और, जो एक क्षण के लिए हो सकता है वह एक मिनट के लिए, एक घण्टे के लिए, एक दिन के लिए व हमेशा के लिए क्यो नही ? पहले बूद-बूद बरसेगा, फिर एक दिन तूफान आ जाएगा, बाढ आ जाएगी। तब वह घटित होगा जो आज तक कभी नही हुआ था। मालूम होगा कि भीतर कोई जागा हुआ है, बाहर मे सोये हुए भी वह जागा हुआ मालूम देगा, चलते हुए भी अनचला मालूम देगा, बोलते हुए भी अनबोला प्रतीत होगा। बाहर मे सारी क्रियाये होगी परन्तु 'उसमे' कुछ भी होता न मालूम होगा। जैसे ही हम जगे, सावधान हुए, मात्र जानने वाला बने, वैसे ही पायेंगे कि मन गया और शान्ति आई। हमारा ससार हमारे मन मे है। जब तक मन के विचारो मे हमे रस आ रहा है, उनमे हमने अपनापना मान रखा है, तब तक ही उन्हे बल मिल रहा है। जैसे ही हम विचारो को स्वय से भिन्न देखेंगे, वैसे ही हम उस ज्ञाताके, आत्मा के सम्मुख हो जायेंगे, सारे विचार-विकल्प गायब हो जायेंगे, सब शून्य हो जाएगा और मात्र एक जानने वाला, ज्ञाता रह जाएगा—तभी अपना दर्शन, आत्म-दर्शन होगा, तभी राग-द्वेष और शरीरादि से भिन्न अपने स्वभाव का अनुभव होगा।

स्वानुभव :

निचली भूमिका मे स्थित साधक के आत्म-अनुभव के दौरान स्वभाव का स्पर्श मात्र ही हो पाता है। परन्तु, स्पर्श होते ही जो बात बनती है वह हमारी पकड मे आती है—सब जगत मिट जाता है, शरीर भूल जाता है, मन भूल जाता है, किन्तु फिर भी चैतन्य का दीपक भीतर जगता रहता है। शरीर आपको सामने पडा हुआ अलग दिखाई देगा। अभ्यासी साधक के कभी-कभी ऐसा अनुभव अपने प्रयास के बिना भी घटित हो जाता है, अचानक हम शरीर से अलग हो जाते हैं – शरीर अलग दिखाई देने लगता है। न कोई विकल्प रह जाता है, न कोई चिन्ता। ऐसा लगता है कि अब यह चेतना शरीर से

अलग ही रहेगी। ऐसी घटना समाप्त होने पर भी दिन भर उसका असर बना रहता है। ऐसी विरक्ति बनती है जैसी पहले कभी नही हुई। फिर शरीर का जन्म इसका जन्म नही रहता, और न शरीर की मृत्यु इसकी मृत्यु रह जाती है, मृत्यु का भय समाप्त हो जाता है। इसने मृत्यु को प्रत्यक्ष जो देख लिया है—जो मृत्यु मे घटता है वह आज साक्षात् हो गया है। यह दशा ज्यादा देर नही रहती। यदि जल्दी-जल्दी अनुभव होता रहे तो विरक्ति बनी रहती है, परन्तु यदि बहुत दिनो तक न हो तो पुरानी याद के तुल्य ही रह जाती है।

आगमज्ञान और आत्मज्ञान :

आत्मा के बारे मे आज तक इसने जो जाना था, वह आगम के द्वारा, शास्त्रो के द्वारा जान था—दूसरे से जाना था। परन्तु अब इसने स्वय चख कर जाना है, अपने अनुभव से जाना है। जीवन-धारा मे बदलाव मात्र शास्त्रो के द्वारा जानकारी प्राप्त कर लेने से कभी सम्भव नही है। शास्त्र से जानने वाले तो लाखो होते हैं परन्तु उनके जीवन मे बदलाव नही आता, हाँ वे कोशिश करके बाहरी बदलाव अवश्य ला सकते है। परन्तु प्रयासपूर्वक लाया हुआ बदलाव नकली होता है, वास्तविक नही। वास्तविकता तो तभी आती है जब वह परिवर्तन निज के आस्वादन से उद्‌भूत हो, स्वत आए।

आत्म-अनुभव होने पर ही इसे वस्तुत' समझ मे आता है कि मैं तो जानने वाला हूँ, सिर्फ अपनी जाननक्रिया का मालिक हूँ—शुभ भावो को भी मात्र जानता हूँ, अशुभ भावो को भी मात्र जानता हूँ, इन दोनो का ही मैं करने वाला नही हूँ, ये तो कर्म-जनित है। जैसे कि एक त्रिकोण है जिसमे ऊपरी सिरे पर, शीर्ष पर, ज्ञान है, तथा निचले दो सिरो मे से एक पर शुभ भाव और दूसरे पर अशुभ भाव है। ज्ञान अथवा ज्ञाता शुभ-अशुभ दोनो भावो से भिन्न स्तर पर है, ऊपर का स्तर 'स्व' का है और निचले स्तर 'पर' के हैं। ज्ञान उन शुभ व अशुभ भावो को देखता तो है, परन्तु उनसे भिन्न भी है और उनका कर्त्ता भी नही है। जब यह इस प्रकार देखता है तो शुभ-अशुभ भावो के होते रहने पर भी उनका अहकार नही रह जाता, चाहे दया के या सत्यभाषण के परिणाम हो अथवा असत्यभाषण आदि के, परन्तु उनमे अपनापना, अहम्‌पना नही रहता—अहम् मर जाता है, और जिसका अहम् चला गया उसका ससार ही चला जाता है। ससार मे जो रस है वह अहम्‌पने का और मेरेपने का ही तो है, जिसका अहम्‌पना और मेरापना चला गया उसके लिए ससार मे कोई रस रहा ही नही। इसी प्रकार शरीर मे भी इसके कोई अहम्‌पना नही रहता, यह भलीभाँति समझता है कि शरीर की नाना प्रकार जो अवस्थाये हो रही हैं वे सब कर्मजनित हैं, मैं तो उनका मात्र जानने वाला हूँ, उन रूप नही। जिस प्रकार किसी दूसरे के शरीर को मैं जानता हूँ, उसका कर्त्ता-भोक्ता नही हूँ, उसी प्रकार जिस शरीर मे मैं बैठा हूँ, उसे भी पर-रूप से ही जान रहा हूँ, उसका भी कर्त्ता या भोक्ता मैं नही। इस शरीर और दूसरे शरीर, दोनो के परपने मे कोई अन्तर नही है।

जब आत्मा इस प्रकार शुभ-अशुभ भावो अर्थात् राग-द्वेष तथा शरीर से भिन्न स्वय को ज्ञानरूप देखता है तो इसके जीवन मे सहज-स्वाभाविकरूप से परिवर्तन आना अवश्यम्भावी है। इतना जरूर है कि किसी के जीवन मे वह परिवर्तन अपेक्षाकृत तेजी से आए जबकि किसी दूसरे के जीवन मे धीमे-धीमे आए। परिवर्तन की गति व्यक्ति विशेष पर निर्भर कर सकती है परन्तु परिवर्तन अवश्य आएगा।

आत्मज्ञान होने के बाद राग-द्वेष की स्थिति

आत्म-अनुभव होने पर भी, ज्ञान-स्वभाव मे अपनापना स्थापित होने पर भी, अभी आत्मबल की इतनी कमी है कि उस ज्ञान-स्वभाव मे ठहरना चाह कर भी ठहर नही पाता है। इस स्थिति का कारण क्या है ? यह कैसी विवशता है ? इसे आत्मबल की कमी कह सकते है, राग की तीव्रता कह सकते हैं, अथवा पूर्व सस्कारो का, कर्मों का जोर कह सकते है। यद्यपि श्रद्धा मे सही वस्तु-तत्त्व आ गया है, तथापि कार्यरूप परिणति नही हो पा रही है। शरीर मे अपनापना तो नही रहा परन्तु शरीर मे स्थिति है, राग-द्वेष मे अपनापना तो नही रहा, परन्तु राग-द्वेपरूप भाव अभी भी है। कुम्हार ने चाक से डडा तो हटा लिया परन्तु अभी तक चाक चल रहा है। पेड को काट डाला परन्तु पत्ते अभी हरे हैं।

चूकि पूर्व सस्कार उसे स्वभाव मे नही ठहरने दे रहे हैं इसलिए उन्हे तोडने के लिए वह नये सस्कार पैदा करता है। अभी तक शरीर से प्रति समय एकत्व की भावना भा करके इसने जो सस्कार इकट्ठे किये थे वे शरीर के प्रति अन्यत्व की भावना के बल से ही मिट सकते हैं, अत अब यह उसी का उपाय करता है। अब तक रागादि और शरीरादि का कर्त्ता बनता था, अब उनके रहते हुए भी उनका ज्ञाता हो गया है—कर्तृत्व अथवा अहपना समाप्त हो गया है। कल तक शरीर के स्तर पर रहते हुए मानता था कि —

"मैं सुख-दु खी मैं रक-राव, मेरो धन गृह गोधन प्रभाव।
मेरे सुत तिय मैं सबल दीन, बेरूप सुभग मूरख प्रवीन।
तन उपजत अपनी उपज जान, तन नशत आपनो नाश मान॥"

(छहढाला)

परन्तु आज आत्मा के स्तर पर रहकर वह पाता है कि मैं एक अकेला, अनन्त गुणो का पिण्ड, चैतन्य तत्त्व हूँ, मेरा न तो जन्म है और न मरण, न मैं मनुष्य-तिर्यंच देव-नारकी हूँ और न ही स्त्री-पुरुष-नपुसक, न मैं धनिक-निर्धन, मूर्ख-बुद्धिमान आदि हूँ और न परपदार्थों के सयोग-वियोग मुझे सुखी-दु खी कर सकते हैं।

आत्मदर्शन के साथ होने वाली सम्यक् धारणाएँ :

जब इस प्रकार अपने चैतन्य स्वभाव का अनुभवन करता है तब—

(१) अहकार पैदा होने का तो प्रश्न ही नही उठता क्योकि अहकार का तो आधार ही शरीरादि शुभ-

अशुभ भाव और पुण्य-पाप का फलरूप परपदार्थों मे अपनेपने की मिथ्या मान्यता है। तब 'मैं गृहस्थ हूँ अथवा मुनि हूँ, इस प्रकार की पर्याय मे अहबुद्धि कैसे हो सकती है ?

(२) चेतना के स्तर पर यह ज्ञान-दर्शन के अतिरिक्त कुछ कर ही नही सकता। तब फिर पर को सुखी-दु खी करने के कर्त्ता होने का मिथ्या अहंकार कहाँ से हो सकता है ?

(३) शरीर के स्तर पर तो कोई इष्ट है और कोई अनिष्ट। परन्तु चेतना के स्तर पर न कोई इष्ट है, न अनिष्ट। अत राग-द्वेष करने का कोई कारण ही नही रह जाता क्योकि इष्ट-अनिष्ट वस्तु नही है। इष्ट अनिष्टपना दिखाई देना यह हमारा दृष्टिदोष है।

(४) सुख-दु ख या तो दूसरो के कारण से होता है या पुण्य-पाप से होता है, पहले तो ऐसा मानता था। अब समझ मे आया कि दु ख तो अपनी कषाय से होता है और सुख कषाय के अभाव से, अत सुखी होने के लिए कषाय के अभाव का उपाय करता है।

(५) पहले मानता था कि कषाय दूसरो की वजह से होती है या कर्मोदय के कारण होती है। अब समझ मे आया कि कषाय होने मे समूची जिम्मेदारी मेरी अपनी है। कोई निमित्त कषाय नही कराता, और न ही निमित्त की वजह से कषाय होती है, बल्कि जब पर को निमित्त बना कर मैं स्वय ही कषायरूप परिणमन करता हूँ तो उपचार से ऐसा कह दिया जाता है कि पर ने कषाय कराई। परन्तु ऐसा कथन मात्र उपचार है और वस्तुतः असत्य है। निमित्त न तो कोई कार्य करता है, न कार्य कराता है, अपितु हम ही निमित्त का अवलम्बन लेकर अपना कार्य करते है।

(६) राग से बध होता है अशुभ भावो से पाप का और शुभ भावो से पुण्य का तथा शुद्ध भावो से कर्मों का नाश होता है इस प्रकार की सम्यक् मान्यता रखता है।

(७) ऐसा मानता है कि व्यवहार-धर्म बध-मार्ग है, परन्तु बध-मार्ग होने के साथ-ही-साथ वह आत्मोन्नति के मार्ग मे निचली भूमिका मे प्रयोजनभूत भी है।

(८) नरक के डर से अथवा स्वर्ग के लोभ से होने वाला कार्य धर्म-कार्य नही हो सकता। आत्म-स्वभाव मे लग जाने/ठहर जाने की भावना से प्रेरित कार्य को ही व्यवहार धर्म-कार्य कहा जा ता है।

(९) कषाय के नाश का उपाय अपने ज्ञान-स्वभाव का अनुभवन करना है। जितना कषाय का अभाव होता है उतना परमात्मपने के नजदीक होता जाता है। और जब कषाय का सर्वथा अभाव हो जाता है, तब परमात्मा हो जाता है। यही धर्म है, यही वस्तुस्वभाव है।

(१०) मेरे मे परमात्मा होने की शक्ति है अपने सही पुरुषार्थ से उस शक्ति को व्यक्त किया जा सकता है।

(११) भगवान किसी का कुछ कर्त्ता नही है। वह वीतराग और सर्वज्ञ है—न किसी को सुखी कर सकता है न दु खी कर सकता है। वह तो अपने स्वभाव मे लीन है उनको देखकर हम भी अपने स्वभाव

को याद कर लें और उनके बताये मार्ग पर चलकर निज मे परमात्मा बननें का उपाय कर सकते हैं।

यह सब निर्णय जो ऊपर मे बताया है वह चौथे गुण स्थान मे होता है जिसका वर्णन आगे किया है।

५

जैसा कि ऊपर विचार कर आये हैं, धर्म के लिये—निज ज्ञान-आनन्द-स्वभाव की प्राप्ति के लिये—कषाय का नाश करना जरूरी है। कषाय/राग-द्वेष की उत्पत्ति का कारण अपनी अज्ञानता हैं, शरीर और कर्मफल मे अपनेपने की मिथ्या मान्यता है। अपने स्वरूप को यह जीव जाने तो इसका शरीरादि मे अपनापना छूटे, शरीरादि मे अपनापना छूटे तो कषाय पैदा होने का कारण दूर हो, और कषाय पैदा होने का मूल कारण दूर हो तो उसके बाद, राग-द्वेष के जो पूर्व सस्कार शेष रह गए हैं उनके क्रमश. अभाव का उपाय बने, और इस प्रकार जितना-जितना कषाय-राग-द्वेष घटता जाये उतनी-उतनी शुद्धता आती जाये।

चौदह गुणस्थान ·

कषाय के माप के लिए चौदह गुणस्थानो का निरूपण आगम मे किया गया है। जैसे थर्मा-मीटर के द्वारा बुखार का माप किया जाता है, वैसे ही गुणस्थानो के द्वारा मोहरूपी बुखार का माप होता है। जैसे-जैसे कषाय मे कमी होती है, बाह्य मे परावलम्बन घटता है और अतरग मे स्वरूप से निकटता बढती है—आत्मा उन्नति के मार्ग पर अग्रसर होती है।

पहला गुणस्थान :

जब तक यह जीव कर्म और कर्मफल मे–शरीर तथा राग-द्वेष मे अपनापना स्थापित किये हुए है तब तक यह पहले गुणस्थान मे ही स्थित है। यहाँ से आगे की ओर यात्रा की शुरुआत तभी सम्भव है जब वस्तुस्वरूप का, स्व-पर के भेद का निर्णय करने की दिशा मे उद्यम करता है, यह निश्चय करता है कि कषाय का अभाव करना है, निज स्वभाव को प्राप्त करना है और इनके हेतु खोज करना है कि स्वभाव को प्राप्त करने वाला और कषाय का नाश करने वाला कौन है ? अब उसके लिये वही परमात्मा-देव है जो कषाय से रहित है और स्वभाव को प्राप्त किया है, वही पूजने योग्य है, वही साध्य है। वही शास्त्र है जो कषाय के नाश और स्वभाव की प्राप्ति का उपदेश दे, और वे ही गुरु हैं जो इस कार्य मे लगे हुए है। इनके अतिरिक्त किन्ही ऐसे तथाकथित देव, शास्त्र, गुरु की सगति, पूजा आदि नही करता जिनसे कषाय की पुष्टि होती हो। इस प्रकार सही देव-शास्त्र-गुरु का निर्णय करता है और उनके अवलम्बन

से अपने स्वरूप को जानने का उद्यम करता है यह पुरुषार्थ कोई भी व्यक्ति, स्त्री, पुरुष, वृद्ध, जवान यहाँ तक कि पशु-पक्षी जो मन सहित है, कर सकता है ।

चौथा गुणस्थान :

सच्चे देव-शास्त्र-गुरु के माध्यम से अपने स्वरूप को स्पर्श करने का पुरुषार्थ करते हुए जब यह जीव निर्णय करता है कि मै शरीर से भिन्न एक अकेला चेतन हूँ, और मेरी पर्याय मे होने वाले रागादि भाव, जिनके कारण मैं दुःखी हूँ, मेरे स्वभाव नही अपितु विकारी भाव हैं, अनित्य हैं, नाशवान हैं—जब यह शरीर और रागादि से भिन्न अपने ज्ञाता-स्वरूप को देख पाता है—तो पहले से चौथे, अविरत सम्यग्दृष्टि नामक गुणस्थान मे आता है। रागादि से भिन्न अपनी सत्ता का अब यद्यपि निर्णय हो गया है तथापि राग-द्वेष का नाश नही कर पा रहा है।

अब शरीर है, परन्तु उसमे अपनापना नही है, रागादि भाव है परन्तु उनको कर्मजनित, विकारी भाव जानकर उनके नाश करने का उपाय करता है। पहले समझता था कि इनके होने मे मेरा कोई दोष नही, ये तो कर्म की वजह से हुए हैं अथवा किसी दूसरे ने करवा दिये हैं। परन्तु अब समझता है कि मेरे पुरुषार्थ की कमी से हो रहे हैं, इसलिये मेरी वजह से हुए हैं, और पुरुषार्थ बढाकर ही मैं इनका नाश कर सकता हूँ। बाहरी सामग्री का सयोग-वियोग, पुण्य-पाप के उदय से हो रहा है, उसमे मैं जितना जुड़ूगा उतना ही राग होगा, वे सयोगादिक सुख-दु ख के कारण नही है बल्कि मेरा उनमे जुडना सुख-दुःख का कारण है। बल्कि इस प्रकार स्वय मे विकार होने की जिम्मेदारी अपनी समझता है, और विकार के नाश के लिये बार-बार अपने स्वभाव का अवलम्बन लेता है, स्वय को चैतन्य-रूप अनुभव करने की चेष्टा करता है। जितना स्वय को चैतन्य-रूप देखता है उतना शरीरादि के प्रति राग कम होता जाता है। फलत कपाय बढने के साधनो से हटता है। कषाय-वृद्धि के साधनो जैसे मास, मदिरा, जुआ, चोरी, शिकार, परस्त्री, वेश्या आदि व्यसनो के नजदीक भी नही जाता। इसी प्रकार और भी किसी प्रकार के व्यसन मे नही जाता—कोई और लत भी नही पालता —जैसे कि पान, बीड़ी, सिग-रेट, तम्बाकू, नशीले पदार्थ, चाय आदि की लत, क्योकि व्यसन है ही ऐसी आदत जो आत्मा को पराधीन कर डालती है।

अभी तक कर्म के बहाव के साथ वह रहा था, जैसा कर्म का उदय आया वैसा ही परिणमन कर रहा था। अब समझ मे आया कि यदि मैं अपने स्वभाव की ओर झुकाव करूँ तो कर्म का कार्य मिट सकता है। उदाहरण के लिए मान लीजिए कि कोई आदमी हमारा हाथ पकड कर खीच रहा है। अब यदि हम स्वय भी उधर ही जाने की चेष्टा करते हैं तो खीचने वाले का बल और हमारा बल दोनो मिलकर एक ही दिशा मे कार्य करते है, जिसके फलस्वरूप हम उसी दिशा मे बिना किसी विरोध के, बल्कि स्वेच्छा से, खिंचे चले जाते हैं। परन्तु यदि यह समझ मे आये कि मैं अपना पुरुषार्थ विपरीत दिशा

मे भी लगा सकता हूँ, यह मेरी अपनी स्वतन्त्रता है, तो हमारा बल तो यद्यपि उतना ही है, परन्तु जब उस आदमी ने अपनी तरफ खीचा तो मान लीजिए कि हमने अपनी ताकत उसके विपरीत दिशा मे लगा दी। इस चेष्टा का ननीजा यह हुआ कि इस बार जो थोडा-बहुत खिंचाव आया भी तो वह उस आदमी की ताकत मे से हमारी ताकत को घटाने पर जो थोडी-बहुत ताकत शेष बची उसके फलस्वरूप आया। यही बात कर्मोदय के सम्बन्ध मे है। यदि हम कर्म के बहाव मे स्वेच्छा से बहने के बजाय अपना पुरुषार्थ विपरीत दिशा मे अर्थात् आत्म-स्वभाव मे रत होने मे लगाये तो कर्म का फल उतना न होकर बहुत कम होगा, पहले की अपेक्षा नगण्य होगा।

चूकि समस्त कषाय को मिटाने मे अभी स्वय को असमर्थ पाता है, अत तीव्र कषाय को--और उसके बाह्य आधारो, जैसे कि ऊपर कहे गए सप्त व्यसनादि, और अन्याय, अभक्ष्य आदि को—छोडते हुए मद कषाय मे रहकर उसको भी मिटाने की चेष्टा करता है। वहाँ वीतरागी सर्वज्ञ देव, उनके द्वारा उपदिष्ट शास्त्र और उसी मार्ग पर चल रहे गुरु—जो मानो जीवन्त शास्त्र ही है—इनको माध्यम बनाकर निज स्वभाव की पुष्टि करता रहता है।

सम्यग्दर्शन के साथ पाये जाने वाले गुण :

अब चूकि शरीर के स्तर से चेतना के स्तर पर आ गया है, इसलिए इसे सात प्रकार का भय भी नही होता। मेरा अभाव हो जायेगा ऐसा भय कदापि नही होता, कर्मोदय-जनित (नोकषाय-जनित) भय यदि आत्मबल की कमी से होता भी है तो उसका स्वामी नही वनता। कर्मफल की वाछा भी इसके नही रहती, क्योकि यह निर्णय हो चुका है कि पुण्य और पाप दोनो के फल से भिन्न मैं तो मात्र चेतना हूँ। अत न तो पुण्य-फल की अभिलाषा है और न पाप के फल से ग्लानि है, चाहे अपने पाप का फल हो या दूसरे के। कौन मेरे लिए ध्येय है, मार्गदर्शक है, इस विषय मे कोई मूढता तो अब रह ही नही गई है। ध्येय के स्वरूप को समझकर उनका अवलम्बन ले रहा है, देखा-देखी की बात अब नही रही। निरन्तर आत्मगुणो को बढाने की चेष्टा करता है, और स्वय को पर से हटाकर अपने गुणो मे स्थिर रखने का उपाय करता है। आत्म-उत्थान के प्रति तीव्र रुचि, अत्यन्त प्रेम रखता है। आत्मोत्थान की दिशा मे बढने का उपाय करता है। ससार-शरीर-भोगो से विरक्ती और आत्मस्वरूप मे प्रवृत्ति बढती है। जीव मात्र को अपने समान चैतन्यरूप देखता है अत उनके प्रति अनुकम्पा का भाव पैदा होता है। जीवो की रक्षा के लिए रात्रि-भोजन का त्याग और पानी छानकर पीने आदि की पद्धति अपनाता है।

इस भूमिका मे रहते हुए कम-से-कम छह महीने मे एक बार आत्मानुभव अवश्य होता है, अन्यथा चौथा गुणस्थान नही रहता। यहाँ साधक जब आत्मानुभव को जल्दी-जल्दी प्राप्त करने का पुरुषार्थ करता है तो देश संयमरूप परिणामो की विरोधी जो अप्रत्याख्यानावरण कषाय है वह मद होने लगती

है। जब यह पन्द्रह दिन मे एक बार आत्मानुभव होने की योग्यता बना लेता है तो वह **पांचवें गुणस्थान** मे पहुचता है। वहाँ अन्तरग मे अप्रत्याख्यानावरण कषाय का अभाव होता है, त्याग के भाव होते हैं और बहिरग मे अणुव्रतादिक बारह व्रतो को धारता है, तथा ग्यारह प्रतिमाओ के अनुरूप आचरण क्रम से शुरू होता है। दूसरा-तीसरा गुणस्थान चौथे से गिरने की अवस्था मे होते हैं।

(१) **दर्शन प्रतिमा :** अब सप्त व्यसन का प्रतिज्ञापूर्वक त्याग करता है। जो भी कषाय बढने के साधन हैं उनका त्याग करता है। जीव-रक्षा के हेतु ऐसे कारोबार से हटता है जिसमे जीव हिंसा अधिक होती हो। रात्रि भोजन का त्याग और खाने-पीनेकी चीजो को जीव हिंसा से बचने के लिये देख—शोधकर ग्रहण करता है।

(२) **व्रत प्रतिमा :** पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत, और चार शिक्षाव्रत, इस प्रकार बारह व्रतो का पालन इस प्रतिमा से शुरू होता है। यद्यपि साधक की दृष्टि समस्त कषाय का अभाव करने की है तथापि आत्मबल उतना न होने के कारण जितना आत्मबल है उसी के अनुसार त्याग मार्ग को अपनाता है, और जितनी कपाय शेप रह गई है उसे अपनी गलती समझता है। उसके भी अभाव के लिए अपने आत्मबल को बढाने की चेष्टा करता है, और और आत्मबल की वृद्धि चूकि आत्मानुभव के द्वारा ही सम्भव है, अत उसी की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करता है। जितना-जितना स्वावलम्बन बढता है उतना-उतना परावलम्बन घटता जाता है। बहिरग मे परावलम्बन को घटाने की चेष्टा भी वस्तुत स्वावलम्बन को बढाने के लिये ही की जाती है। जैसे कि चलने के लिये कमजोर आदमी द्वारा पहले लाठी का सहारा लिया जाता है, फिर उसके सहारे से जैसे-जैसे वह चलता है, वैसे-वैसे सहारा छूटता जाता है। आत्मा को यद्यपि किसी सहारे की आवश्यकता नही, वह स्वय मे परिपूर्ण है, तथापि आत्मबल की कमी है। जितना पर का अवलम्बन है उतनी ही पराधीनता है, कमी है। अत आत्मबल को बढाता है तो पराधीनता घटती जाती है।

पहले अन्याय, अनाचार, अभक्ष्य तक की पराधीनता थी, अब घटकर न्यायरूप प्रवृत्ति, हिंसा-रहित भक्ष्य पदार्थों तक सीमित हो जाती है। पहले व्यापार आदि मे झूठ, चोरी आदि की असीमित प्रवृत्ति थी, अब वह प्रवृत्ति झूठ और चोरी से रहित हो जाती है। पहले परिग्रह मे असीम लालसा थी, अब उसको सीमित करता है। इसी प्रकार अपनी अभिलाषा, लालसा और इच्छाओ की सीमा निर्धारित करता है।

जिस प्रकार जब कोई मोटर-गाडी पहाड पर चढती है तो ब्रेक के द्वारा तो गाडी को नीचे की ओर जाने से रोका जाता है और एक्सीलेटर के द्वारा गाडी को आगे बढाया जाता है, उसी प्रकार प्रतिज्ञा-रूप त्याग के द्वारा तो साधक अपनी परिणति को नीचे की ओर जाने से रोकता है, और आत्मानुभव के

द्वारा आगे बढाता है । अथवा यह कहना चाहिए कि त्याग और आत्मानुभव दोनो का कार्य उसी प्रकार भिन्न-भिन्न है जिस प्रकार परहेज और दवाई का, जबकि दवाई तो रोग को मिटाती है, परहेज रोग को बढने नही देता । नीरोगावस्था तभी प्राप्त होती है जब दवाई भी ली जाये और परहेज भी किया जाए—आत्मा का उत्थान भी तभी सम्भव है जब बहिरग मे त्याग और अन्तरग मे आत्मस्वरूप का अनुभव हो । इस बात की चर्चा हम ऊपर कर आए हैं—अध्यात्म और चरणानुयोग की एकता के अन्तर्गत ।

अब बारह व्रतो के स्वरूप पर विचार करते है —

(१) **अहिंसाणुव्रत** . दूसरे जीवो को अपने समान समझता है । जानता है कि जिस सुई के चुभने से मुझे जैसी पीडा होती है तो दूसरे को भी वैसी ही पीडा होती है । अत. मन-वचन-काय से दूसरे के प्रति कोई ऐसा व्यवहार नही करता जैसा यदि दूसरा अपने प्रति करे तो अपने को कष्ट हो । जब सभी जीव अपने समान हैं तो दूसरे को दु खी करना वास्तव मे अपने को ही दु खी करना है । अहिंसा अणुव्रत मे निम्नलिखित बातें गर्भित हैं —

(क) सकल्पपूर्वक किसी जीव को नही मारता ।

(ख) वचन का ऐसा प्रयोग नही करता जिससे दूसरे को कष्ट हो ।

(ग) मन से भी किसी का बुरा नही सोचता ।

(घ) आत्महत्या का भाव नही करता ।

(ङ) किसी के गर्भपातादि कराने को हिंसा समझता है ।

(च) किसी ऐसी सभा-सोसायटी अथवा आदमियो की सगति नही करता जिनका लक्ष्य हिंसा है ।

(छ) किसी के प्रति अमानुषिक व्यवहार नही करता ।

(ज) मजदूर, रिक्शा-चालक आदि पर लोभ के वशीभूत होकर उनकी शक्ति से ज्यादा वजन नही लादता ।

(झ) नौकर, मजदूर आदि को समय पर भोजनादि मिले इसका ध्यान रखता है ।

(ञ) बैल, घोडा आदि जानवरो पर उनको शक्ति से अधिक वजन नही लादता । इन जानवरो को समय पर भोजनादि देता है । मासाहारी पशुओ को नही पालता ।

(ट) रास्ते पर चलते हुए नीचे देखकर चलता है कि किसी जीव की विराधना न हो ।

(ठ) कोई भी चीज रखता-उठाता है तो देख-भालकर ये क्रियायें करता है ।

(ड) खान-पान बनाता है अथवा खाता है तो देख-शोधकर ही बनाता-खाता है । मर्यादा के भीतर की वस्तुएँ ही काम मे लेता है ।

(ढ) अचार, मुरब्बा, बहुत दिनो का पापड आदि वस्तुएँ काम मे नही लेता क्योंकि इन चीजो मे जीवो की उत्पत्ति होती है ।

(ण) रेशमी, ऊनी वस्त्र, और चमडे की बनी वस्तुएँ, कपडे, जूते आदि को काम मे नही लेता क्योकि ये सब जीव हिंसा से उत्पन्न होते है। ऐसे प्रसाधन भी काम मे नही लाता जिनके निर्माण मे जीवो की हिंसा होती है।

(२) **सत्याणुव्रत :** झूठ नही बोलता है यद्यपि अभी पूर्ण सत्य का पालन नही कर पा रहा है, तथापि ऐसा झूठ नही बोलता जिससे दूसरे का नुकसान हो जाये, बुरा हो जाये। सत्य अणुव्रत मे निम्न-लिखित बातें गर्भित है :—

(क) व्यापार मे किसी को नकली चीज या मिलावटी नही देता।

(ख) किसी को ठगता नही है।

(ग) झूठ बोलकर ज्यादा दाम नही लेता।

(घ) नाप-तोल के साधन नकली नही रखता।

(ङ) अन्याय स्वरूप इंसाफ नही करता।

(च) किसी के विरुद्ध झूठा मुकदमा दायर नही करता।

(छ) झूठी गवाही नही देता।

(ज) किसी की गुप्त बात को ईर्ष्या अथवा स्वार्थवश प्रकट नही करता।

(झ) किसी से कोई चीज अथवा धन आदि लेकर बाद मे मुकरता नही।

(ङ) किसी से विश्वासघात नही करता।

(ट) किसी को झूठी अथवा खोटी सलाह नही देता।

(ठ) झूठ विभिन्न कारणो से बोला जाता है—क्रोध मे, लोभ से, डर से, हँसी में और निन्दा मे। अत इन कारणो से बचता है।

(३) **अचौर्याणुव्रत :** इस अणुव्रत द्वारा चोरी का त्याग करता है। इसमे ये बातें गर्भित हैं —

(क) किसी की चीज चोरी के अभिप्राय से नही लेता।

(ख) किसी को चोरी करने मे सहायता नही करता। न किसी को चोरी का उपाय बताता है।

(ग) चोरी का सामान खरीदता-बेचता नही।

(घ) कानून मे जिसकी मनाही हो, वह व्यापार नही करता।

(च) बही-खाता, लेखा-पत्रादिक गलत नही बनाता। टैक्स की चोरी नही करता।

(छ) ज्यादा दाम की चीज मे कम दाम की चीज को मिलाकर नही बेचता।

(ज) घूस न तो लेता और न ही देता है।

(झ) किसी ट्रस्ट अथवा सस्था की सम्पत्ति को न तो अपने काम मे लेता है और न उसे गलत जगह लगाता है।

(४) **ब्रह्मचर्याणुव्रत :** इस अणुव्रत का दूसरा नाम है स्वस्त्री-सतोष। अपनी विवाहिता स्त्री के अति-रिक्त शेष समस्त स्त्रियो के प्रति माँ, बहन अथवा बेटी का व्यवहार रखता है। इस अणुव्रत मे निम्नलिखित बातें गर्भित हैं —

(क) परस्त्री और वेश्या के ससर्ग का त्याग।

(ख) भोगो की तीव्र लालसा नही रखता।

(ग) भोगो के अप्राकृतिक उपाय नही करता।

(घ) दुष्चरित्र स्त्रियो के साथ व्यवहार नही रखता।

(ङ) तलाक नही करता।

(च) स्त्रियो को रागभाव से नही देखता, गान, इत्यादि नही देखता।

(छ) उनके मनोहर अगो को नही देखता। इसके लिए सिनेमा, टेलीविजन आदि पर रागवर्द्धक दृश्यो को नही देखता।

(ज) पहले भोगे गए भोगो को याद नही करता।

(झ) कामोद्दीपक, गरिष्ठ पदार्थों का सेवन नही करता।

(ञ) अपने शरीर का बनाव-श्रृगार नही करता।

(ट) अपने पुत्र-पुत्री के अतिरिक्त अन्य का विवाह कराने के लिए बीच मे नही पडता।

(५) **परिग्रह-परिमाणाणुव्रत** . तीव्र लोभ को मिटाने के लिए इस अणुव्रत के द्वारा परिग्रह की सीमा निर्धारित करता है। इसमे ये बातें भर्भित हैं —

(क) गेहूँ, चावल आदि अन्नादिक पदार्थ आवश्यकता के अनुसार ही रखता है, ज्यादा इकट्ठी नही करता।

(ख) उपहार आदि नही लेता। दहेज नही लेता।

(ग) शादी-विवाह की दलाली का काम नही करता।

(घ) यदि वह डाक्टर या वैद्य है तो किसी बीमार के इलाज को नही बढाता।

(ङ) इसी प्रकार यदि वह वकील है तो अपने मुवक्किल को झूठो सलाह नही देता, उसके केस को लम्बा नही करता।

(च) इस प्रकार वह जिस व्यवसाय मे भी है, उसमे या दैनिक व्यवहार मे तीव्र लोभ के वशीभूत होकर कोई प्रवृत्ति नही करता।

(छ) धन, मकान, वस्त्र-आभूषण, वाहन-गाडी, नौकर-चाकर आदि उपभोग्य पदार्थों और भोजन, पेय, फल-वनस्पिति आदि भोग्य पदार्थों की सीमा निर्धारित करता है और सीमा के भीतर ही भोग-उपभोग करता है, अधिक नही।

इस प्रकार इन पाँच अणुव्रतो के माध्यम से अपनी लालसा, कामना और इच्छाओ की—जिनकी अभी तक कोई सीमा नही थी—अव सीमा बनाता है। पंचाणुव्रतो के अतिरिक्त तीन गुणव्रतो और चार शिक्षाव्रतो का भी पालन करता है।

(१) **दिग्व्रत** · व्यापार-व्यवसाय के लिए मैं यहाँ-यहाँ तक आऊँ-जाऊँगा, इस प्रकार क्षेत्र की सीमा बनाता है और उस सीमा के बाहर के क्षेत्र से कोई प्रयोजन नही रखता।

(२) **देशव्रत :** दिग्व्रत द्वारा निर्धानित किए गए क्षेत्र के भीतर भी स्प्ताह-दो सप्ताह के लिए अथवा प्रति दिन एक अस्थायी सीमा बनाता है। इन दोनो व्रतो के माध्यम से निर्धारित क्षेत्र के वाहर जो जीव-अजीव पदार्थ हैं, उन-सम्बन्धी विकल्पो से बचा जाता है।

(३) **अनर्थदण्ड-व्रत :** बिना प्रयोजन के न तो शरीर की कोई क्रिया करता है, न फालतू बकवास करता है, न फालतू के विचार-विकल्प करता है। दूसरो को जीव हिंसादि के साधनादिक भी नही देता। इस प्रकार सब निरर्थक बातो से बचता है।

इन तीन गुणव्रतो के साथ-ही-साथ चार शिक्षाव्रतो का भी पालन करता है --

(१) **सामायिक व्रत :** अपना समय आत्म-चिंतवन मे लगाने के लिए दिन मे कम-से-कम दो बार, सुबह और शाम को आत्मध्यान करता है।

(२) **प्रोषधोपवास व्रत :** सप्ताह मे एक दिन उपवास करता है और उस दिन अपना सारा समय स्वाध्याय और आत्म-चिंतवन मे लगाता है, जिससे वैराग्य भाव की पुष्टि होती है।

(३) **भोगोपभोग-परिमाण व्रत** · प्रति दिन कुछ-न-कुछ भोग्य और उपभोग्य पदार्थों का त्याग करता है। अपने रोजाना के कार्यों का भी हर रोज परिमाण करता है।

(४) **अतिथिसविभाग व्रत :** निरतर यह भावना करता है कि कोई धार्मिक व्यक्ति आये तो उसे भोजन कराने के पश्चात् ही स्वय भोजन ग्रहण करूँ। इसके अतिरिक्त, करुणाबुद्धि के वश दीन-दु खियो की जरूरतो को पूरी करने की चेष्टा करता है।

इस प्रकार अणुव्रत, गुणव्रत और शिक्षाव्रत मिलाकर कुल बारह (५+३+४=१२) व्रत है जिनका प्रारम्भ दूसरी प्रतिमा से होता है। जैसे-जैसे अन्तरग मे वैराग्य भाव की उत्तरोत्तर वृद्धि होती है, उसी के अनुरूप आगे-आगे की प्रतिमाओ के अनुरूप आचरण होता जाता है। अब तीसरी प्रतिमा से शुरू करके शेष प्रतिमाओ का क्या स्वरूप है यह जानने का प्रयत्न करते है।

(३) **सामायिक प्रतिमा :** यहाँ पराधीनता और कम होती है तथा आत्मचिंतवन की रुचि बढती है। अत अब प्रतिदिन तीन बार—सवेरे, दोपहर और सन्ध्या के समय—आत्मध्यान करता है और ध्यान का समय भी कम-से-कम एक मूहूर्त या ४८ मिनट होता है।

(४) **प्रोषधोपवास प्रतिमा :** अब सप्ताह मे एक दिन नियम से उपवास करता है। उस दिन घर-गृहस्थी

का, व्यापार-व्यवसायादि का समस्त कार्य त्याग कर निरतर आत्म-चिंतवन और स्वाध्याय करता है। यह उपवास सोलह, बारह और आठ प्रहर की अवधि के क्रम से तीन प्रकार का होता है।

(५) **सचित्तत्याग प्रतिमा :** जीवो की रक्षा के लिए गर्म अथवा प्रासुक जल लेता है। भोजन-पान की प्रत्येक वस्तु प्रासुक करके ही काम मे लेता है जिससे कि उस पदार्थ मे कालान्तर मे भी जीवो की उत्पत्ति न हो।

(६) **रात्रि भोजन त्याग प्रतिमा :** रात्रि भोजन का त्याग तो पहले ही कर दिया था, अब मन-वचन-काय तीनो से इस व्रत को निरतिचार पालता है। स्वय तो रात को भोजन करता ही नही, दूसरो को भी न तो रात्रि को भोजन कराता है और न उसकी अनुमोदना करता है।

(७) **ब्रह्मचर्य प्रतिमा :** परस्त्री के ससर्ग का त्याग तो पहले हो कर दिया था, अब स्वस्त्री से भी भोगो का त्याग करता है। स्वावलम्बन की भावना चूंकि बढ रही है अत स्वस्त्री का अवलम्बन भी अब नही रहा।

(८) **आरंभत्याग प्रतिमा :** पहले न्याययुक्त व्यापार, व्यवसाय करता था, अब व्यापारादिक का भी त्याग कर देता है। अपने खाने-पीने का प्रबन्ध पहले स्वय कर लेता था, अब अपना खाना बनाना आदि आरम्भरूप क्रियायें भी छोड देता है। कोई घर का सदस्व अथवा बाहर का कोई व्यक्ति खाने के लिए बुलाने आ जाता है तो जाकर भोजन ग्रहण कर लेता है।

(९) **परिग्रह-त्याग प्रतिमा :** परिग्रह का परिमाण तो पहले कर लिया था, अब उसे घटा कर अत्यन्त कम कर देता है। धन, सम्पत्ति, जायदाद आदि से भी सम्बन्ध नही रखता।

(१०) **अनुमति-त्याग प्रतिमा :** पहले सतान को व्यापारादि सासारिक कार्यों की सलाह दे देता था, अब वह भी नही देता। यह अन्तिम प्रतिमा है यहाँ तक व्रतो का धारक घर मे रह सकता है।

(११) **उद्दिष्ट-त्याग प्रतिमा :** इस प्रतिमा का धारक घर का त्याग कर देता है और साधु-सघ मे रहता है। स्वावलम्बन बढ गया है, अत घर का परावलम्वन भी नही रहा। वस्त्रो मे केवल एक लगोटी और एक खण्ड वस्त्र रखता है। भिक्षा से भोजन करता है। सिर और दाढी-मूछ के वालो का या तो लोच करता है अथवा उस्तरे आदि के द्वारा भी कतरवा लेता है। जीव रक्षा के लिए मयूर-पखो की पीछी और शौचादि के लिए कमण्डलु रखता है। इस प्रकार के साधक को क्षुल्लक कहा जाता है। परिणामो की विशुद्धि और भी वढ जाने पर साधक खण्ड-वस्त्र भी छोड देता है और मात्र एक लगोटी रखता है। यह ऐलक की अवस्था है। यह साधक दिन-भर मन्दिर या किसी सूने स्थान मे अथवा किसी मुनि-सघ मे रहकर आत्म-चिंतवन, स्वाध्याय आदि मे ही अपना समय लगाता है। पाच समितियो का पालन करता है। यातायात के किसी साधन, किसी सवारी

का उपयोग नही करता। इस प्रकार सभी प्रकार की आकुलता-पराधीनता से रहित होता जाता है, और आत्मबल बढ़ता जाता है। यहाँ तक पाँचवाँ गुणस्थान है।

छठा-सातवाँ गुणस्थान :

जब साधक अभ्यास के द्वारा आत्मानुभव का समय बढाता है, अन्तराल कम करता जाता है, और ऊपर किये गये निरूपण के अनुसार परावलम्बन छोडता जाता है, तो आत्मबल की वृद्धि के फलस्वरूप अन्तर्मुहूर्त मे एक बार आत्मानुभवन की सामर्थ्य हो जाती है और सकल सयम की विरोधी जो प्रत्याख्यानावरण कषाय होती है उसका मद होते-होते अन्तत अभाव हो जाता है। मात्र संज्वलन नाम की कषाय ही शेष रहती है। तब साधक समस्त परिग्रह के त्याग-पूर्वक मुनिव्रत धारण करता है। अब तक अहिंसा आदि व्रतों का आशिक पालन अणुव्रतो के रूप मे करता था, अब उन्हे पूर्णरूप से, महाव्रतों के रूप में धारण करता है। पाच महाव्रत, पाच समिति, पचेन्द्रिय-जय, छह आवश्यक आदि अट्ठाईस मूलगुणो का पालन करता है। अब इन्ही के स्वरूप का विचार करते हैं .—

(१) **अहिंसा महाव्रत :** बहिरग मे तो त्रस और स्थावर सभी जीवो की हिंसा का मन-वचन-काय से और कृतकारित-अनुमोदना द्वारा त्याग होता है और अतरग मे कषाय की अनन्तानुबधी, अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण इन तीन जातियो का अभाव होता है। चूकि राग-द्वेष होना ही हिंसा है और उनका अभाव अहिंसा है, अत. मुनि के कषाय की उक्त तीन जातियो के अभावरूप भाव-अहिंसा फलित होती है

(२) **सत्य महाव्रत :** असत्य वचन बोलने का विकल्प ही नही होता है।

(३) **अचौर्य महाव्रत :** बाह्य मे बिना दिया गया कुछ भी ग्रहण न करना, और अतरग मे परपदार्थ के ग्रहण का विकल्प ही नही होता है।

(४) **ब्रह्मचर्य महाव्रत :** स्त्री मात्र की इच्छा का अथवा काम के भाव का मन-वचन-काय से त्याग और निज आत्मा मे रमण।

(५) **अपरिग्रह महाव्रत :** बहिरग में समस्त वस्तुओं का त्याग, और अतरग मे मिथ्यात्व, क्रोध-मान-माया-लोभादि रूप चौदह प्रकार के परिग्रह का त्याग।

(६) **ईर्या समिति :** चार हाथ प्रमाण भूमि देखते हुए सूर्य के प्रकाश मे चलना।

(७) **भाषा समिति :** हित-मित-प्रिय वचन बोलना।

(८) **एषणा समिति :** छियालीस दोषो से रहित शुद्ध आहार ग्रहण करना।

(९) **आदान-निक्षेपण समिति :** पुस्तक, कमण्डलु आदि को देख कर रखना-उठाना।

(१०) **प्रतिष्ठापन समिति :** मल, मूत्र, कफ आदि शरीर के मल को जीव रहित स्थान देखकर त्यागना।

(११-१५) पचेन्द्रियों का जीतना अर्थात् इन्द्रिय-विषयो के तनिक भी आधीन न होना ।

(१६) समता-सामायिक-आत्मध्यान करना ।

(१७) वीतराग-सर्वज्ञदेव की वदना करना ।

(१८) वीतराग-सर्वज्ञदेव की स्तुति करना ।

(१९) स्वाध्याय-आत्मचिंतवन करना ।

(२०) प्रतिक्रमण—लगे हुए दोषो का निषेध करना ।

(२१) कायोत्सर्ग—शरीर के प्रति ममत्व छोडना, शरीर से भिन्नता का अनुभवन करना ।

(२२) अर्धरात्रि के वाद, भूमि पर एक करवट से सोना ।

(२३) दाँतुन, मजन नही करना ।

(२४) स्नान नही करना ।

(२५) नग्न रहना ।

(२६) दिन मे एक वार भोजन करना ।

(२७) खडे रह कर भोजन करना ।

(२८) केशलोच करना ।

इस प्रकार मुनि के अट्ठाईस मूल गुण होते हैं, इनका निरतिचार पालन करना व्यवहार आचरण है । परमार्थ चारित्र तो अपने आत्म-स्वभाव मे लीन रहना ही है । जब साधु आत्म-स्वभाव से हटता है तो उसका आचरण इन २८ मूल गुणो की लक्ष्मण-रेखा के वाहर नही जाता । मुनि-अवस्था मे साधक पूर्ण रूप से स्वावलम्बी होता है, खाने-पीने का अथवा गर्मी-सर्दी आदि का भी कोई विकल्प नही रहता । जब ध्यान-अध्ययन मे शिथिलता महसूस होती है, तव यदि आगमानुकूल विधि से प्रासुक आहार मिल जाता है तो ग्रहण कर लेता है । साधु का मुख्य प्रयोजन तो ध्यान-अध्ययन का है अत आहार लेते हुए न तो स्वाद देखता है, और न इस बात का कोई भेद करता है कि दाता गरीब है या अमीर । आहार ग्रहण करते हुए आधा पेट ही आहार लेता है, भरपेट नही, और आहार-दाता पर किसी प्रकार का बोझ नही बनता ।

अन्य समस्त जीवो को अपने समान समझता है । अब कोई मेरा-पराया नही रहा, अथवा किसी जीव मे भेद नही रहा, इसलिए किसी जीव के प्रति किंचित् भी बुरा करने का भाव ही नही रहा । वस्तुस्वरूप जैसा है वैसा दिखाई देता है, अतः असत्यरूप भाव ही नही होता । अपने निज स्वभाव मे अपनापना आ गया । अत समस्त सयोग पर-रूप दिखाई देते हैं । फलत पर के ग्रहण करने का कोई भाव ही नही होता । ब्रह्म नाम आत्मा का है जिसमे निरन्तर रहता है—निज स्वभाव मे रमण करता है,

अत. पर के भोग की चाह ही नही रही। आत्मनिष्ठ हो गया, अत. परनिष्ठा नही रही। परनिष्ठा तो तभी तक थी जब पर से सुख मानता था। अब अनुभव मे आ रहा है कि जो आनन्द आत्म-रमणता मे है, वह अन्य कही हो ही नही सकता। इसलिए परनिष्ठा खत्म हो गई और पर का ग्रहण अब होता ही नही। इस प्रकार साधु के पच-महाव्रतो का पालन स्वयमेव होता है।

निज स्वभाव का स्वाद आया तो शेष सब स्वाद नीरस हो गये, बेस्वाद हो गये। निज-स्वभाव के समक्ष पर-स्पर्श की इच्छा ही नही रही। स्वभाव को देखा तो अन्य कुछ देखने योग्य ही नही रहा। निज-स्वभाव के अनहद नाद को सुना तो अन्य कुछ सुनने को नही रहा। निज-गध मे रम गया तो कुछ सूघने को नही रहा। इस प्रकार अपने स्वभाव का अवलम्बन लिया तो पाँचो इन्द्रियो का निरोध स्वत ही हो गया।

राग की इतनी कमी हो गई कि किसी कार्य के प्रति आसक्ति ही नही रही। फल यह हुआ कि अब कोई भी कार्य—चलना, उठना, बैठना, आदि—यत्नाचार के बिना नही होता। बिना देखे-शोधे आहार लेने का भाव नही होता, क्योकि न तो शरीर से राग है और न भोजन से। आहार मिल गया तो हर्ष नही, और न मिला तो विषाद नही। अन्तर्मुहूर्त के भीतर एक बार निज-स्वभाव का स्वाद ले ही लेता है—निज-स्वभाव की सम्हाल कर लेता है। स्वभाव से छूटता है तो अध्ययन-चितवन मे लग जाता है, पुन निज-स्वभाव मे लग जाता है। इस प्रकार के पुरुषार्थ द्वारा जब सज्वलन कषाय मद पडने लगती है, तब साधु आत्मानुभवन मे लगने पर पुन विकल्पो मे वापिस नही आता, बल्कि आत्म-स्वभाव के अनुभव की गहराइयो मे उतरता जाता है। उस समय सातवे गुण स्थान से आगे की ओर उन्नति होती है—आठवा, नवा और दसवा आदि गुणस्थान होते हैं।

सातवे गुणस्थान तक धर्मध्यान होता है, उसके चार भेद निरूपित किये गये है—पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत। ये भेद इस बात के सूचक हैं कि साधक ने स्वभाव-सलिल मे किस घाट से डुबकी लगाई, उन घाटो के ही ये चार प्रकार है। किसी घाट पर जल का स्तर छिछला है, डुबकी लगाने के लिए दूर तक जाना पडता है। कोई घाट ऐसा है कि उससे उतरते ही डुबकी लग जाती है। यहाँ डुबकी की समयावधि तो बहुत कम है, जबकि घाट मे उतरने मे ज्यादा समय लग जाता है। वहाँ पहले ससार-शरीर-भोगों से उपयोग हटाने के लिए भेद-विज्ञान की भावना की जाती है, तथा साधक शरीर के स्वरूप के माध्यम से, णमोकार मन्त्र के माध्यम से, अथवा अरहत-सिद्ध के स्वरूप के माध्यम द्वारा बाहर से उपयोग हटा कर निज स्वभाव मे लगाता है। यहाँ माध्यम के अवलम्बन मे समय ज्यादा लग जाता है, स्वभाव मे कम समय लगता है।

परन्तु जब सातवें गुणस्थान से आगे बढता है—शुक्लध्यान मे प्रवेश करता है—तो माध्यम का

अवलम्बन नही रहता। केवल कुछ अबुद्धिपूर्वक विकल्प उठते हैं जिनके होनेसे उपयोगका द्रव्य से द्रव्यांतरण अथवा पर्याय से पर्यायातरण होता है। ये विकल्प रागजन्य हैं, जितना राग शेष है, उतना विकल्प उठता है। यहा कोई ससार-शरीर-भोगो का राग नही है। बल्कि कहना चाहिए कि रागरूपी ईंधन तो लगभग सब जल चुका, केवल मुट्ठी भर राख शेष रही है, सो भी आत्मध्यान की आँधी मे उडकर समाप्तप्राय हो रही है। राग का अभाव हो रहा है और स्वभाव मे स्थिरता वढती जा रही है। उस स्थिरता के फलस्वरूप कर्म-प्रकृतियो के स्थिति-अनुभाग क्षीण होते जा रहे है। स्वभाव मे गहराई वढती जाती है, कर्म मिटते जाते है। इस प्रकार साधक शुक्लध्यान के पहले चरण द्वारा मोहनीय कर्म का सर्वथा नाश करते हुए कषाय रहित बारहवें गुणस्थान मे प्रवेश करता है। वहाँ शुक्लध्यान के दूसरे चरण मे आता है, मन-वचन-काय योग मे से किसी एक का ही अवलम्बन होता है, आत्म-स्वभाव मे गहराई और वढती है। फलस्वरूप, शेष तीन घातिया कर्मो—ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय— का भी नाश हो जाता है तथा तेरहवें गुणस्थान के प्रथम समय मे अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्त आत्मशक्ति आत्मा के ये स्वाभाविक गुण प्राप्त हो जाते हैं। जो शक्तियाँ ससार-अवस्था मे किंचित् मात्र ही व्यक्त हो पा रही थी वे अव पूर्ण रूप से व्यक्त हो जाती हैं। यही अर्हन्त अवस्था है। यहाँ ज्ञान स्वय मे, ज्ञान मे ही प्रतिष्ठित है, स्वरूप के आनन्द मे मग्न है। अनन्त शक्ति के साथ अनन्त आनन्द का भोग हो रहा है। अघातिया कर्म अभी शेष है जिनके सद्भाव मे समवशरण की रचना आदि होती है और बिना किसी प्रयत्न या इच्छा के सहज-स्वाभाविक रूप से वाणी खिरती है— प्राणीमात्र को आत्मकल्याण का, दु.ख से छूटने का और परमात्मा वनने का मार्ग मिलता है। जव आयुकर्म की स्थिति लगभग समाप्त होने वाली होती है तो सूक्ष्म काय-योग मे रहने वाले वे सयोगी-जिन शुक्लध्यान के तीसरे चरण द्वारा योग-निरोध करके चौदहवें गुणस्थान—अयोगी-जिन अवस्था—मे पहुचते हैं। यहाँ शुक्लध्यान के चौथे चरण द्वारा वे अयोगी-जिन चार अघातिया कर्मो—वेदनीय, नाम, गोत्र और आयु— का नाश करके तथा तीन शरीरो—औदारिक, तैजस और कार्माण —से सम्बन्ध-विच्छेद करके सिद्ध अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं। शरीर से रहित, जन्म-मरण से रहित, पूर्ण शुद्ध अवस्था, यही परमात्म अवस्था है जिसका चिंतवन-मनन-ध्यान करके ससारी जीव उन जैसा होने का पुरुषार्थ करता है।

कैसा है इस शुद्धात्मा का, सिद्धात्मा का स्वरूप ? न कोई राग है न द्वेष। ज्ञानादि गुण सब पूर्णता को प्राप्त हो गये हैं। अब कुछ भी करना शेष नही है—आत्मा कृतकृत्य हो गया है। अब कुछ भी होना शेष नही है, स्वभाव की पूर्णता होने के बाद कुछ होना बाकी ही नही रहता। जिसे अभी तक प्राप्त नहीं किया था, ऐसे उस निज-स्वभाव को आज प्राप्त कर लिया है, जिस पर को ग्रहण किया हुआ था वह सब न जाने कहाँ छूट गया। अव न कुछ ग्रहण करने को शेष है, न छोडने को। यह आत्मा परमात्मा,

सच्चिदानन्द, चैतन्य-प्रभु हो गया है। यही मोक्ष है, यही निर्वाण है, यही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकता है : 'इक देखिए, इक जानिए रमि रहिये इक ठौर।'

× × × × ×

यह प्रस्तावना इसी ग्रन्थ की विषयवस्तु के आधार से लिखी गई है। इस ग्रन्थ मे राग-द्वेष के होने का, उनके अभाव का, और उस अभाव मे मूल कारण जो स्व-पर भेद-विज्ञान है, उसका विस्तार से वर्णन किया गया है। उस विस्तृत निरूपण के सार-सक्षेप को इस प्रस्तावना मे शास्त्रीय-शब्दो का यथा-सम्भव कम-से-कम उपयोग करते हुए, सरल भाषा मे इस प्रकार दिया गया है कि जैन तथा जैनेतर सभी पाठक इस अध्यात्म तत्त्व को समझ सकें और इस ग्रथ का अध्ययन सुगमता से कर सकें।

सन्मति विहार
२/१०, असारी रोड,
दरियागज,
नई दिल्ली-११०००२
टेली० ३२६३४५३

—बाबूलाल जैन

शुद्धि पत्र

पृष्ठ	कलश	अशुद्ध	शुद्ध
६	४	रुच्यै	रूच्चै
२६	१४	छवल	छलन
अन्वयार्थ	१४	"	"
३४	२१	विकारा	विकारा
११३	५१	वस्तु	यस्तु
१२५	६	यदेज्तद्	यदेतद्
१४७	१२	विभात्	विगमात्
१५३	४	तास्मिन्	तस्मिन्
१५८	१	वतो	यतो
१६८	६	गाथा न० ६	गाथा न० ८
१९२	२६	सहज	सहज
१९४	२८	ज्ञानिन	ज्ञानिनो
२३०	८	नियतमय	नियतमयम
२५०	१२	तघिया	र्तधया
२७५	२७	सर्पत्य	सर्पत्य
२८२	३०	महमो	महसो

प्रस्तावना

पृ०	पक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१६	११	रह	कर

पृष्ठ	लाइन	अशुद्ध	शुद्ध
१९	५	प्रणाण	प्रमाण
३५	२४	पद पदार्थो	पर पदर्थो
८६	२	ज्ञान	अज्ञान
८८	१४	व्यवहार के	व्यवहार की भी
९५	६	ज्ञानावरणआदि	ज्ञानावरणादि
१०५	अंतिम	ज्ञानर्शन	ज्ञानदर्शन
१०७	६	लगाना	लगना
११७	११	होती है	होता है
१३३	१९	धारणजो- करतेहै	धारण- करतेहैं
१५९	७	सम्यग्दृग्टि	सम्यक्दृष्टि
१६१	११	विराग	विरागता
१७५	१९	अचिन्य	अचिन्त्य
१८२	अंतिम	पर भोगने को	पर भोग भोगने को
२१७	२०	जात्म	आत्म
२१९	१५	भाव	भाषा
२२२	४	गिरता है	गिरती है
२५५	३	नेटने	मेटने
२५८	६	अपिचित	अपरिचित
२६६	१४	वस्तु को	वस्तु की
२७३	१	क्षयोपशन	क्षयोपशम से
२७९	१७	स्हष्ट	स्पष्ट
२९४	२५	हदार्थों	पदार्थों
२९५	२८	करना है	करना
३११	२	जिससे	जिसके
३१२	५	पर्यायदृष्टे	द्रव्यदृप्टि
३३०	२	समह	समुह.
३४३	३	प्रकाशते	प्रकाशने
३४५	२२	वनता	बनाता
३५१	१	मेचाका	मेचका
३५२	२६	व्यपक	व्यापक
३६०	१९	तही	नही
३६१	४	को	का

॥ श्री वीतरागाय नमः ॥

श्रीअमृतचन्द्रसूरि विरचित श्रीसमयसार कलश पर श्रीशुभचन्द्र आचार्यकृत–

परमाध्यात्म तरंगिणी

नामा संस्कृत टीका के भाषाकार का :—

मङ्गलाचरण

कुन्दकुन्दामृतचन्द्रौ, अध्यात्मज्ञानपारगौ,
आर्यवर्गैः सदालोकैः पूज्यपादौ नमामितौ,
आद्यः समयसारस्य कर्ताऽभूत्प्राकृतस्य सः,
द्वितीयस्तत्कलशानां कर्ताभर्ताऽर्थसम्भृते ।
तृतीयः शुभचन्द्रोऽभूद् व्याख्याता संस्कृतस्य सः,
पद्यानां कलशास्थाना भद्रो भट्टारकोबुधः ।
यन्नाटक समयसारं नाम्नाख्यातं पुरातनं शास्त्रम्,
सकले विद्वद्वृन्दे विद्विद्यावेद्यचितेचित्ते ।
टीकानुसारतो यत् परमाध्यात्मतरङ्गिणीजातम्,
ख्यातं नामविशेषे विद्वद्वृन्दारकैर्मौलम् ।
कलशाना तट्टीकाया मूलार्थप्राभिधायिनीं,
हिन्दीटीका प्रकुर्वेऽहं स्वात्मकल्याणकाम्यया ॥

संस्कृत टीकाकार का मंगलाचरण

शुद्धं सच्चिद्रूपं भव्याम्बुजचन्द्रमकलङ्कम् ।
ज्ञानाभूषं वन्दे सर्वविभावस्वभावसम्मुक्तम् ॥१॥
सुधाचन्द्रमुनेर्वाक्य पद्यानुद्धृत्य रम्याणि ।
विवृणोमि भक्तितोऽहं चिद्रूपे रक्तचित्तश्च ॥२॥

अन्वयार्थः—(शुद्धम्) अपने से भिन्न सभी चेतन तथा अचेतन द्रव्यो एव उनके गुण पर्यायो से शून्य (सच्चिद्रूपम्) सत्–उत्पाद व्यय और ध्रौव्य रूप-चित्-चैतन्य स्वरूप (भव्याम्बुजचन्द्रम्) भव्यजीव-रूप कमलो के लिए चन्द्रमा के तुल्य अर्थात् भव्यजीवरूप कमलो को विकसित करने के हेतु चन्द्रमा के

समान **(अकलङ्कम्)** अकलङ्क-रागद्वेष आदि दोषो से रहित **(ज्ञानाभूषम्)** अतएव ज्ञान से अलकृत अर्थात् परिपूर्ण ज्ञानी केवली भगवान श्री अरिहन्त परमेष्ठी तथा ज्ञानशरीरी सर्वकर्ममल रहित श्री सिद्ध परमेष्ठी को **(वन्दे)** वन्दना-नमस्कार करता हूँ जो **(सर्वविभावस्वभाव सम्मुक्तम्)** समस्त विभाव-विकारी परिणामो से पूर्णतया मुक्त है अर्थात् सर्व विधकर्मों की परिस्थितियो से सर्वथा शून्य है। **(चिद्रूपे)** आत्मस्वरूप मे **(रक्तचित्तः)** अनुरक्त मन वाला **(अहम्)** मैं शुभचन्द्र भट्टारक **(सुधाचन्द्रमुने)** अमृतचन्द्र आचार्य के **(रम्याणि)** मनोहर-यथार्थ वस्तुस्वरूप को प्रस्तुत करने के कारण मन को अति प्रिय **(वाक्य-पद्यानि)** वचनात्मक पद्यो को **(उद्धृत्य)** उद्धृत करके **(भक्तितः)** भक्ति से, हार्दिक गुणानुराग से **(विवृणोमि)** विशेषरूप से व्याख्यान करता हूँ।

(अथ) अब **(श्रीमदमृतचन्द्रसूरि)** श्रीमान् अमृतचन्द्र आचार्य **(श्रीकुन्दकुन्दाचार्योक्त समयसार प्राभृत व्याख्यानम्)** श्रीमान् कुन्दकुन्द आचार्य के द्वारा विरचित समयसार प्राभृत के व्याख्यान को **(कुर्वाणः सन्)** करते हुए **(तदनन्तरे)** उनके मध्य मे **(चित्स्वरूपप्रकाशकानि)** चैतन्य के स्वरूप को प्रकाशित करने वाले **(चिन्नाटकरङ्गावनिवितीर्णानि)** चैतन्य के नाटक की रङ्गभूमि मे आये हुए **(पद्यानि)** पद्यो का **(परमाध्यात्मतरङ्गिण्यपरनामधेयानि)** जिनका दूसरा नाम परमाध्यात्म तरङ्गिणी है **(रचयन्)** रचते हुए-निर्माण करते हुए **(प्रथमत·)** सर्वप्रथम **(परमात्मादि नमस्कृतिरूपमङ्गलमाचष्टे)** परमात्मा आदि के प्रति नमस्काररूप मङ्गल को कहते है—

नमः समयसाराय स्वानुभूत्या चकासते।
चित्स्वभावाय भावाय सर्वभावान्तरच्छिदे ॥१॥

अन्वयार्थ :—(चित्स्वभावाय) चित्-चेतना-ज्ञानदर्शनरूप स्वभाव वाले **(स्वानुभूत्या)** स्वानुभूति-आत्मानुभूति से अर्थात् स्वानुभवरूप प्रत्यक्ष प्रमाण से **(चकासते)** प्रकाशमान-देदीप्यमान **(सर्वभावा-न्तरच्छिदे)** सभी चेतन तथा अचेतनरूप पदार्थो को जानने वाले **(भावाय)** सत्तात्मक वस्तुरूप **(समय-साराय)** द्रव्यकर्म-ज्ञानावरणादि—भावकर्म-राग द्वेष आदि तथा नोकर्म-शरीरादि से रहित शुद्धात्मा को **(नमः)** नमस्कार **(अस्ति)** है।

सं० टी०—(समयसाराय भावाय नमः—सं०-सम्यक् त्रिकालावच्छिन्नतयाअयन्ति-गच्छन्ति-प्राप्नुवन्ति स्वगुणपर्यायानिति समया-पदार्था-तेषा मध्ये सार-सरति गच्छति सर्वोत्कृष्टत्वमिति सार.-परमात्मातस्मै। भूयते सत्स्वरूपेणेतिभाव पदार्थस्तस्मै परमात्मरूपपदार्थाय। नम त्रिशुद्धया नम· नमस्कारोऽस्तु) जो सम्यक् प्रकार से भूत भविष्यत् एव वर्तमान इन तीनो कालो मे निरन्तर अपने गुण और पर्यायो को प्राप्त करते रहते है उन्हे पदार्थ कहते है। उन पदार्थो के मध्य मे जो सर्वोत्कृष्टता को प्राप्त हैं वे सार अर्थात् परमात्मा हैं। जो सत्स्वरूप से होते रहते हैं वे भाव—अर्थात् पदार्थ हैं। ऐसे सर्व पदार्थो मे सर्वोपरि विराजमान परमात्म-स्वरूप समयसार को मन शुद्धि-वच शुद्धि तथा कायशुद्धि

पूर्वक हमारा नमस्कार हो। **(किं लक्षणाय)** कैसे लक्षण वाले पदार्थ को **(चकासते-दैदीप्यमानाय)** अतिशयरूप से प्रकाशमान **(कया)** किससे **(स्वानुभूत्या-स्वस्य आत्मन·)** आत्मा की **(अनुभूत्या)** अनुभूति से **(स्वानुभूत्या-स्वस्य आत्मन अनुभूति. अनुभवनं तया)** आत्मा की अनुभूति-स्वरूप सवेदन से **(स्वानुभवप्रत्यक्षेण)** अर्थात् आत्मा के अनुभव-स्वसवेदनरूप प्रत्यक्ष से **(पुनः किम्भूताय)** फिर कैसे **(चित्स्वभावाय-चित् ज्ञान दर्शन रूपा-सैव स्वभावः स्वरूपः यस्य तस्मै)** ज्ञानदर्शनरूप चित्-चेतना स्वभाव वाले **(पुन· किंलक्षणाय)** फिर कैसे स्वरूप वाले **(सर्वभावान्तरच्छिदे-आत्मनो भावात्-अन्येभावा.-स्वभावाः पदार्था वा भावान्तरा. सर्वे च ते भावान्तराश्च सर्वभावान्तरा. तान्छिनत्ति स्वस्वभावात्पृथक् करोतीति सर्वभावान्तरच्छित् तस्मै)** आत्मारूप पदार्थ से भिन्न पदार्थों का नाम भावान्तर है उन सभी भावान्तरो को जो जानता है उसे **(नम·)** नमस्कार **(अस्ति)** है **(सामान्योपेक्षोऽयम्)** यह अर्थ सामान्य की अपेक्षा से किया गया है अर्थात् यह साधारण अर्थ है।

(जिनपक्षे) जिन भगवान के पक्ष मे **(समयसाराय-सं० सम्यक्यथोक्तरूपेण-अयन्ति-जानन्ति-स्याद्वादात्मकं वस्तु निश्चिन्वन्ति ते समया.-सातिशयसम्यग्दृष्टि प्रभृति क्षीणकषायपर्यन्ता जीवाः)** जो यथार्थरूप से स्याद्वाद-कथञ्चिद्वादस्वरूप वस्तु के स्वरूप को निश्चयपूर्वक जानते है ऐसे सातिशय सम्यग्दृष्टि से लेकर क्षीणकषाय पर्यन्त बारहवें गुणस्थान तक के जीव **(तेषा पूज्यत्वेन सारो जिनः तस्मै)** उनके द्वारा पूज्य होने से सार अर्थात् जिन ऐसे जिन के लिए **(नम.)** नमस्कार **(अस्ति)** है।

(अरहतपक्षे) स्वानुभूत्या-स्वस्यानुभूति -विभूति.-समवसरणादिलक्षणा तया) अपनी समवसरण आदि स्वरूप वाली विभूतिसे **(चकासते-प्रकाशमानाय)** प्रकाशमान-दैदीप्यमान **(चित्स्वभावायघातिकर्मक्षयात्-चित्स्वभावाय)** घाती कर्मों के क्षय से चैतन्यस्वरूप **(भावायभान्ति-नक्षत्राणि-उपलक्षणात्-चतुर्णिकाय दैवतानि-अवति-रक्षति-पातीति भावस्तस्मै)** नक्षत्रो तथा उपलक्षण से चारो निकाय वाले देवो का सरक्षण करने वाले **(सर्वभावान्तरच्छिदे-सर्वभावानां अन्तर भेद जीवाजीवादिक भिन्नमित्यादिरूप विचार छिनन्ति जानातीति सर्वभावान्तरच्छित् तस्मै)** सभी पदार्थों के भेद स्वरूप जीव अजीव आदि पदार्थों के विचार विमर्श को जानने वाले ऐसे अरहत परमात्मा को नमस्कार है।

(सिद्धपक्षे) सिद्ध परमेष्ठी के पक्ष मे **(परमात्मवत् प्रक्रिया)** अर्हन्त परमात्मा के समान ही प्रत्येक विशेषण का अर्थ घटित करना चाहिए। **(सम साम्य-यान्ति प्राप्नुवन्तीतिसमया·, योगिनस्तेषां मध्ये-ध्येयतया सारः सिद्धपरमेष्ठी)** जो समता-समानता को प्राप्त करते है ऐसे योगियो के द्वारा जो ध्यान करने योग्य हैं ऐसे सार-सिद्धपरमेष्ठी **(स्वानुभूत्या-सु सुष्ठु जगत्त्रयाऽसम्भाविनी-आ-अतिशयेनानुभूति वृद्धि, अगुरुलघुत्वादिगुणाना षड्वृद्धिः तया)** तीनो लोको मे असम्भव एव अतिशयरूप से होने वाली अगुरु-लघु आदि गुणो की षट्स्थान पतितवृद्धि से, यहाँ भू धातु का अर्थ वृद्धि लिया गया है जैसा कि नीचे के श्लोक से सुस्पष्ट है—

सत्ताया मङ्गलेवृद्धौ निवासे व्याप्तिसम्पदोः ।
अभिप्राये च शक्तौच प्रादुर्भावे गतौ च भूः ॥१॥ इति

अर्थात् भू धातु निम्नलिखित अर्थों मे व्यवहृत-प्रयुक्त होती है—सत्ता-मौजूदगी, मङ्गल-शुभाचार, वृद्धि-उन्नति, निवास, व्याप्ति फैलाव, सम्पत्, अभिप्राय-मनोविचार शक्ति और प्रादुर्भाव-उत्पत्ति। प्रकृत मे उक्त अर्थों मे से वृद्धि अर्थ ग्रहण किया है। (चित्स्वभावाय पूर्ववत्) चैतन्य स्वरूप पूर्व के समान अर्थात् चैतन्यमय (भावाय-भा.-दीप्ति ज्ञानज्योति तया वाति-प्राप्नोति जगदितिभाव.) ज्ञानज्योति से जगत् को जानने वाले (सकलस्य जगत ज्ञानान्तर्गतत्वात्) क्योकि सारा जगत् - विश्व ज्ञान के अन्तर्गत है यानी ज्ञान के द्वारा जाना जाता है। (वागतिगन्धनयोः ये गत्यर्थास्ते प्राप्त्यर्था) वा धातु गति और गन्धन अर्थ मे गृहीत है ओर जो धातु गत्यर्थप्रधान है वे प्राप्त्यर्थ मे भी प्रयुक्त होती है। अत. यहाँ वाति का अर्थ प्राप्नोति जानाति-जानना अर्थ लिया गया है (आतोऽनुपसर्गक इति क प्रत्ययेनसिद्धम्) यहाँ वा धातु से (आतोऽनुपसर्गक) इस सूत्रसे क प्रत्यय द्वारा पद की सिद्धि की गई है। (सर्वेत्यादिः - सर्वभावानां अन्त -अभ्यन्तर तेषा अच्छित्-अविच्छेदोऽविनाशोयस्मात्स तथोक्तस्तस्मै) जिससे सभी पदार्थों की अन्तरङ्गत अविनश्वरता सिद्ध होती है (सिद्धपरमेष्ठिन. केषाञ्चित्पदार्थाना विनाशाभावात्) सिद्धपरमेष्ठी के ज्ञान मे किन्ही पदार्थों का विनाश सम्भव नही है अर्थात् सभी पदार्थ उनके ज्ञान मे अपनी-अपनी पृथक्-पृथक् सत्तारूप से हो सर्वदा प्रतिविम्बित होते रहते हैं ऐसे सिद्ध परमात्मा को नमस्कार है।

(आचार्यपक्षे) अव आचार्य परमेष्ठी के पक्ष मे—(सम्-सम्यक्-अयन—गमनं यत चरेरित्यादि लक्षणं चरण येषान्ते समयो योगिन तेषु सार आचार्य) जीव रक्षा के हेतु देख-भाल कर चलना चाहिए इत्यादि आगमोक्त लक्षणात्मक आचरण वाले योगियो मे श्रेष्ठ आचार्य परमेष्ठी के लिए (स्वानुभूत्या-षट्त्रिंशद् गुणलक्षणया) छत्तीस मूलगुण स्वरूप स्वानुभव से (चकासते-प्रकाशमानाय) शोभायमान (चित्स्वभावायभावाय—चित्सु-चिद्रूपेषुस्वस्य आत्मन. भाव. परिणति· स एव अयभाव शुभावहभाव. यस्य स तथोक्त स्तस्मै) जिसके चैतन्य स्वरूप मे निज की परिणति आत्म कल्याण से भरपूर है उस आचार्य परमेष्ठी को (नमः) नमस्कार (अस्ति) है। (सर्वभावेत्यादि पूर्ववत्) सर्वभावान्तरच्छिदे इत्यादि विशेषण पूर्व के समान ही लगा लेना चाहिए।

(उपाध्यायपक्षे) अव उपाध्याय परमेष्ठी के पक्ष मे—(समयः सिद्धान्त.—स्नियते-प्राप्यते येन सः तथोक्तः तस्मै) जिससे सिद्धान्त-द्वादशाङ्ग श्रुत मे से ग्यारह अङ्ग और चौदह पूर्व का ज्ञान प्राप्त किया जाता है उस समयसार उपाध्याय परमेष्ठी वो (नम·) हमारा नमस्कार है (स्वानुभूत्यापूर्ववत्) स्वानुभूत्या विशेषण का अर्थ पहले के समान जानना चाहिए (चित्स्वभावाय भावाय-चित्सु चेतन पदार्थेषु-उपलक्षणात् अचेतनेष्वपि-अभाव स्यान्नास्तित्व तेन सह आय भणन कथनमितियावत् इङ् अध्ययनेऽस्यधातोर्भावे घञ्प्रत्यय विधानात्, भावस्य स्यादस्तित्वरूपस्य यस्योपाध्यायस्य तथोक्तस्तस्मै पदार्थेष्वस्तित्व नास्तित्वेनोपलक्षितमितिकथकायेत्यर्थ) चेतन तथा उपलक्षण से अचेतन-पदार्थों मे भी जो

अभाव स्यान्नास्तित्व कथञ्चित् किसी अपेक्षा से नास्तित्व का कथन करते है यहाँ अध्ययनार्थक इङ् धातु से भाव मे घञ् प्रत्यय से आय शब्द बनाया है जिसका अर्थ कथन करना है और जो भाव -स्यादस्तित्व-कथञ्चित् किसी विवक्षाविशेष अस्तित्व का कथन करते है ऐसे उपाध्याय परमेष्ठी को नमस्कार है अर्थात् जो पदार्थगत अस्तित्व और नास्तित्व रूप परस्पर बिरोधी दो धर्मो का विवक्षा के वश से युगपत्-एक साथ-निर्विरोध कथन करते हैं वे उपाध्याय परमेष्ठी हैं उन्हे हमारा बार-बार नमस्कार है।

(साधुपक्षे) अब साधु परमेष्ठी के पक्ष मे—**(समयेषु कालावलिषु सारः साधुः)** जो प्रति समय आत्मस्वरूप की साधना मे सार-श्रेष्ठ है, सलग्न है वे साधु परमेष्ठी है **(शेष पूर्ववत्)** बाकी के विशेषण पहले के समान समझना चाहिए। **(मयो-गति.-मय-गतावित्यस्यधातोः प्रयोग. तेषुसारं-रत्नत्रयं तेनसह-वर्तत इति समयसारः साधुरित्यर्थो वा)** अथवा मय शब्द का अर्थ गति है क्योकि गत्यर्थक मय धातु से मय शब्द बनता है उन गतियो मे जो सार श्रेष्ठ रत्नत्रय-सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान एव सम्यक्‌चारित्र ही है उस सार रत्नत्रय के साथ जो रहे सो समयसार अर्थात् साधु है। क्योकि साधु परमेष्ठी रत्नत्रय से सहित होते हैं। उन साधु परमेष्ठी को हमारा नमस्कार है।

(रत्नत्रयपक्षे) अब रत्नत्रय के पक्ष मे—**(सं०-सम्यक्त्वं-अयो ज्ञानं सरणं सारः-चारित्रम्-द्वन्द्वैकत्वं तस्मै)** अर्थात्—सम्-सम्यग्दर्शन अय-सम्यज्ञान-सार-सम्यक्‌चारित्र इन तीनो का द्वन्द्वसमास मे एक वचन होता है अत समयसारम्-रत्नत्रयम् यानी रत्नत्रयरूप समयसार को नमस्कार है **(शेषं पूर्ववत्)** बाकी के विशेषण पहले के समान **(यथासम्भवम्-व्याख्येयम्)** यथासम्भव, जहाँ जैसा योग्य हो वहाँ वैसा व्याख्यान कर लेना चाहिए। **(एवमर्थाष्टक व्याख्यातम्)** इस प्रकार से समयसार के पृथक्-पृथक् भिन्न-भिन्न आठ अर्थो का व्याख्यान किया। **(अत्याक्षिप्यमाणं बहुशोऽर्थेन व्याख्यायते, विस्तारभयान्नेक्षितं पद्यम्)** अतिशयरूप से आक्षेप को प्राप्त विषय का विस्तार के साथ अर्थरूप से व्याख्यान करेंगे अत यहा विस्तार के भय से इस पद्य की ओर अर्थत दृष्टि नही डाली।

भावार्थ—यहाँ समय शब्द का अर्थ आत्मा है उन आत्माओ मे जो सार—द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म से रहित शुद्ध आत्मा है उसे हमारा नमस्कार है। क्योकि वह शुद्ध आत्मा एक सत्तात्मक पदार्थ है उसमे चेतना गुण की प्रधानता है अतएव वह स्वानुभव से प्रकाशमान है। अर्थात् अपने ज्ञान से अपने को जानता है साथ ही अपने से जुदे जड और चेतन सभी पदार्थों को भी जानता है क्योकि ज्ञान का कार्य जानना मात्र ही है, अन्य कुछ नही। इसमे भी निश्चयनय की दृष्टि से अपने को ही जानते हैं। व्यवहार नय की दृष्टि से पर को जानते है यह नयपरक दृष्टि भेद है—जो ज्ञान मे उपलब्ध है यथार्थ है वास्तविक है और मौलिक है। अब प्रत्येक विशेषण की सार्थकता बताते है।

भावाय—यह विशेषण सर्वथा अभाववादी नास्तिक का निराकरण करता है। चित्स्वभावाय विशेषण—गुण और गुणी मे सर्वथा भेदवादी नैयायिक का निरसन करता है। स्वानुभूत्या चकासते—विशेषण आत्मा तथा ज्ञान को सर्वथा परोक्ष स्वीकार करने वाले जैमिनीय भट्ट प्रभाकर मतानुयायी

मीमासक का निषेध करता है साथ ही एक ज्ञान अपने से भिन्न दूसरे ज्ञान से जाना जाता है, ज्ञान स्वय अपने को नही जानता है ऐसा मानने वाले नैयायिको का भी खण्डन करता है। सर्वभावान्तरच्छिदे—यह विशेषण सर्वज्ञ के अभाववादी मीमासक का निरसन करता है इस तरह से हर एक विशेषण अपनी-अपनी खास विशेषता रखता है जो साभिप्राय है। इस प्रकार से पूर्वोक्त विविध विशेषणो से विशिष्ट समयसार-परमात्मा-परम इष्ट देव को नमस्कार है। प्रकृत मे कोई यह प्रश्न करे कि नाटक समयसार कलश के कर्ता श्री अमृतचन्द्र सूरि ने जन-साधारण के बुद्धि-वल का ध्यान रख कर सीधे सादे शब्दो मे ही इष्ट देव का नामोल्लेख करते हुए मङ्गलात्मक नमस्कार क्यो नही किया ? तो उत्तर मे इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि प्रकृत विषय आध्यात्मिक है मात्र शुद्ध आत्मा के असली स्वरूप का निर्देश ही नही, प्रत्युत् सविस्तार वर्णन करने का है। अत आध्यात्मिक दृष्टि से समयसार का शब्दार्थ द्रव्यार्थिक दृष्टि का विषयभूत आत्मतत्व है बही निज परमात्मा है। अरिहन्तादि तो पर परमात्मा है जो व्यवहार दृष्टि का विषय है। परमार्थ से तो निज आत्मा ही आश्रय करने योग्य है इष्टदेव है।

अब सरस्वती का स्तवन करते हैं —

अनन्तधर्मणस्तत्वं पश्यन्ती प्रत्यगात्मनः।
अनेकान्तमयी मूर्तिर्नित्यमेव प्रकाशताम् ॥२॥

अन्वयार्थः—(**अनन्तधर्मणः**) अनन्तधर्मवान् (**आत्मन.**) आत्मा के (**तत्वम्**) असली स्वरूप को (**प्रत्यक्**) पृथक् अर्थात् अपने से भिन्न सभी चेतन तथा अचेतन पदार्थो से उनके समस्त गुण एव पर्यायो से जुदा (**नित्यम्**) हमेशा (**या**) जो (**पश्यन्ती**) देखती है जानती है (**सा**) वह प्रसिद्ध (**अनेकान्तमयी**) अनेक धर्म वाली (**मूर्ति.**) सरस्वती-जिनवाणी (**नित्यम्**) हमेशा (**प्रकाशताम्**) प्रकाशित रहे दैदीप्यमान हो।

स० टी०—(**अनेकान्तमयीमूर्ति. अनेकान्तेन-स्याद्वादेन-**) स्याद्वाद के द्वारा (**निर्वृत्ता**) रचिता-रची हुई (**स्याद्वादात्मिका**) स्याद्वाद स्वरूप (**मूर्ति**) मूर्ति-आकृति (**यस्या.**) जिसकी-अस्ति-है (**सा**) वह (**अनेकान्तमयी मूर्ति.-जिनवाणी। जिनवाण्या अनेकान्तात्मकत्वादनुक्ताऽपि सामर्थ्याज्जिनवाणी लभ्यते-**) जिनवाणी अनेकान्तरूप होने से यद्यपि वह यहाँ साक्षात् जिनवाणी के नाम से ही कही गई है तथापि अनेकान्त शब्द की शक्ति से उसका अर्थ जिनवाणी लिया गया है (**सा-नित्यं-सदैव-त्रिकालं-हमेशा-प्रकाशतां-नित्योद्योत कुरुता**) वह हमेशा उद्योत करे (**किं विशिष्टा सा ?**) वह कैसी है ? (**प्रत्यगात्मनः अथवा आत्मनः चिद्रूपस्य**) चैतन्य स्वरूप आत्मा के (**प्रत्यक् तत्व**) पृथक् असली स्वरूप को (**पश्यन्ती-भिन्न स्वरूपं-अवलोकयन्ती-प्रकाशयन्तीत्यर्थ**) अन्य द्रव्यो से जुदा देखती है—प्रकाशित करती है। (**किंविशिष्टस्यः तस्य ?**) कैसी आत्मा के (**अनन्तधर्मणः अनन्ता द्विकवाराऽनन्तप्रमाणा.—अस्तित्व नास्तित्वनित्यत्वानेकत्वादिरूपाधर्मा. स्वभावायस्य स तथोक्तस्तस्य**) जिसके अस्तित्व, नास्तित्व, नित्यत्व और अनेकत्व आदि स्वभाव है। (**धर्मशब्दोऽत्र स्वभाववाची**) यहाँ आत्मा के विषय मे धर्म शब्द का वाच्यार्थ स्वभाव है (**धर्मा·—पुण्यसमन्यायस्वभावाचार सोमयाः इत्यनेकार्थाः**) पुण्य, सम, न्याय, स्वभाव,

आचार और सोमय इन अनेक अर्थों को धर्म शब्द प्रकाशित करता है अतएव प्रकृत मे धर्मशब्द स्वभाव अर्थ को कहता है ।

भावार्थ—यहाँ टीकाकार ने अनेकान्तमयी मूर्ति का अर्थ जिनवाणी किया है क्योकि जिनवाणी का प्राण अनेकान्त है अर्थात् स्याद्वाद है । तात्पर्य यह है कि दुनिया मे हम जिन चीजो को देखते हैं वे सभी अनेक धर्मों से सहित हैं कोई भी वस्तु ऐपी नही है जो अनेक धर्मो मे समाहित न हो । उन अनेक धर्मो को रखने वाली वस्तु के स्वभावगत अनेक धर्मों का युगपत् विवेचन करना किसी भी वक्ता के वचन का विपय नही है कोई भी वक्ता जव किसी वस्तु के किसी एक धर्म को कहने का उपक्रम करता है तव वह उस धर्म को मुख्य करके और शेष धर्मों को गौण मान करके ही विवेचन करता है इससे वस्तु की वस्तुता वनी रहती है अन्यथा नही । यह वात वस्तुगत विविध गुणो के पृथक्-पृथक् विवेचन की अपेक्षा से कही गई है जो विशेष विवेचन प्रणाली पर आधारित है सामान्य की अपेक्षा से नही । क्योकि सामान्य से वस्तु का विवेचन उसके नाममात्र से भी युगपत् एक साथ एक ही समय मे शक्य है लेकिन यह भी विशेष सापेक्ष होता है कारण कि निर्विशेष सामान्य कोई वस्तु ही नही है । अत निष्कर्ष यह निकला कि सामान्य और विशेष दोनो ही परस्पर मे एक दूसरे से अभिन्न है उनमे से एक का कथन अपने से अभिन्न दूसरे की अपेक्षा को लिए हुए ही होता है यही पदार्थ के स्वरूप के प्रतिपादन की पद्धति है जो वस्तु की वस्तुता को प्रकट करने मे पूर्णतया सहायक सिद्ध होती है । इसके वाद अपने मन की पूर्णशुद्धि के लिए ग्रन्थकार प्रार्थना करते है—

परपरिणतिहेतोर्मोहनाम्नोऽनुभावादविरतमनु भाव्यव्याप्तिकल्माषितायाः ।
मम परमविशुद्धिः शुद्धचिन्मात्रमूर्तेर्भवतु समयसारव्याख्ययैवानुभूतेः ॥३॥

अन्वयार्थ—(परपरिणतिहेतो॰) राग-द्वेष-मोह आदि विकारी परिणामो के कारणरूप (मोहनाम्नाः) मोहनीय कर्म के (अनुभावात्) प्रभाव से (अविरतम्) निरन्तर (अनुभाव्य व्याप्ति कल्माषितायाः) अनुभव मे आने वाले राग रोप आदि विविध विकारी भावो से अतिशय कलुपित (मम) मेरी (अनुभूतेः) अनुभूति की (परम विशुद्धि) परिपूर्ण निर्मलता (समयसार व्याख्यया) समयमार-परमात्मा के गुणो के वर्णन से अथवा इस समयसार नामक ग्रन्थ के व्याख्यान मे (एव) ही (भवतु) हो । (शुद्धचिन्मात्र-मूर्ते) मैं (द्रव्यदृष्टि से) शुद्ध चैतन्यमात्र मूर्ति हू ।

स॰ टी॰—(मम-मे) मेरे (भवतु-अस्तु) हो (का ?) क्या (परमविशुद्धिः परमा-उत्कृष्टा-कर्ममल-कलङ्करहिता-सा चासौविशुद्धिश्च-विशुद्धता) परम-उत्कृष्ट कर्ममल कलङ्क से रहित विशुद्धि-निर्मलता, (कुतः ?) किससे ? (अनुभूते॰ अनुभवनात्) अनुभव मे (कया ?) किसने (समयसारव्याख्ययैव-समयेषु-पदार्थेषु-सार-परमात्मा, तस्य व्याख्याविशेषेणवर्णनम्, एव-निश्चयेन) समय पदार्थों मे सार-परमात्मा के विशेप वर्णन से निश्चित ही (परमात्मव्यावर्णनात्) परमात्मा के गुणो का स्तवन गान और मान करने

से (**अनुभूतिः**) आत्मानुभव हो। (**ततोविशुद्धिर्भवतु**) उससे आत्मा की विशुद्धि हो। (**अथवा-समयसाराख्यमिदं शास्त्रम्**) अथवा समयसार नाम का यह शास्त्र है। (**तद्व्याख्यानं कृत्वा**) उसका व्याख्यान-विशेष वर्णन करने से (**अनुभूतिः**) आत्मा का अनुभव हो, (**ततः शुद्धिश्च**) तत्पश्चात् आत्मा की परिपूर्ण शुद्धि हो। (**कस्याः ?**) किसकी ? (**शुद्धेत्यादि-शुद्धं कर्मकलङ्करहितं,**) कर्म कलङ्क रहित (**चिन्मात्रम्**) चैतन्यमात्र-ज्ञानमात्र (**तदेवमूर्तियस्याः सा तथोक्ता तस्याः**) वह ज्ञानमात्र ही जिसकी मूर्ति है ऐसी आत्मा की (**व्यवहार दशाया तु किंलक्षणा ?**) वह व्यवहारनय से क्या स्वरूप रखती है ? (**अविरतम्-निरंतरम्**) हमेशा (**अनुभाव्येत्यादि-संसारिणा अनुभवितुं योग्याः-अनुभाव्याः-विषयाः, तेषां व्याप्तिः-प्राचुर्यं तया कल्माषिता कश्मलीकृता या सा तथोक्ता तस्याः**) ससारी जीवो के अनुभव करने योग्य विषयो की अधिकता से जो कलुषित है उस शुद्ध चिन्मात्र मूर्ति की (**कुतः ?**) किससे ? (**अनुभावात्-प्रभावात्**) प्रभाव से (**कस्य ?**) किसके (**मोहनाम्न.शत्रोरित्याध्याहार्यम्**) मोहनीय कर्मरूप शत्रु के (**किं लक्षणस्य तस्य ?**) वह मोहनीय कर्म नामक शत्रु कैसा है ? (**परेत्यादि-परेभ्यः-पुत्रमित्रकलत्रशत्रुभ्यः उत्पन्ना परिणतिः परिणामः**) पर-पुत्र मित्रकलत्र शत्रुओ से उत्पन्न परिणाम (**अथवा —परा आत्मस्वरूपाद्भिन्ना विभावरूपा परिणति. सैव हेतुः कारण यस्य स तयोक्त. तस्य**) अथवा परा अर्थात् आत्मा के स्वरूप से भिन्न जो विभावरूप परिणति वही जिसका कारण है उसके।

भावार्थ—द्रव्यदृष्टि मे आत्मा शुद्ध चैतन्यमय तत्त्व है वह अबद्ध है अस्ष्ट है। परन्तु पर्यायदृष्टि मे वह कर्मबद्ध एव पुद्गल से स्पष्ट है अतएव कर्मों मे मोहनीय कर्म ही एक ऐसा कर्म है जिसकी वजह से आत्मा विकारी हो रहा है। यह विकार आत्मा के उपादान मे होने से आत्मा का ही है अन्य का नही, लेकिन अन्य द्रव्य का सयोग उसमे कारण अवश्य है, इसलिए ही ग्रन्थकार ने मोहनीय कर्म का नाम लिया है और कहा है कि मोहनीय कर्म के निमित्त से शुद्ध चैतन्यमय मूर्ति ज्ञाता द्रष्टा स्वभाववान आत्मा रागी, द्वेषी, मोही, कामी, क्रोधी आदि हो रहा है। ग्रन्थकार ने यह चाहा है कि मेरी आत्मा जैसी द्रव्यदृष्टि मे कही गई है वैसी ही पर्याय मे बने अर्थात् वह परिपूर्ण शुद्ध सिद्ध जैसी हो जाय।

समयसार की व्याख्या का मुख्य उद्देश्य आत्मा की परिपूर्ण शुद्धि की अभिव्यक्ति ही उन्होने चाही है सो यथार्थत आत्म मुमुक्षता की द्योतक है। जहाँ तक मुमुक्षता का सम्बन्ध है वहाँ तक सासारिक चक्रवर्ती, इन्द्र, अहमिन्द्र आदि किसी भी वैभवपूर्ण पद की कामना उसमे जरा भी अपना स्थान नही रखती—क्योकि वे ऐश्वर्यपूर्ण पद वस्तुत अपद हैं पराधीन-पुण्य कर्माधीन होने से नश्वर हैं साथ ही अनेको बार भुक्त होने से उच्छिष्ट भी हैं अत मुमुक्षु की दृष्टि मे वे वाञ्छनीय है ही नही, उसकी दृष्टि मे तो एकमात्र आत्मशुद्धि की परम पवित्र भावना निहित है। जो ग्राह्य ही नही प्रत्युत तद्रूप होने का सक्षम प्रतीक है।

समयसार की प्राप्ति मे जिनवचन ही निमित्त कारण है यह बताते हैं—

उभयनयविरोधध्वंसिनि स्यात्पदाङ्के जिनवचसि रमन्ते ये स्वयं वान्तमोहाः ।
सपदि समयसारं ते परंज्योतिरुच्चैरनवमनयपक्षाक्षुण्ण मीक्षन्तएव ॥४॥

अन्वयार्थ—(ये) जो (स्वयम्) स्वत अपने प्रबल पुरुषार्थ से (वान्तमोहाः) मिथ्यादर्शन-मोह का नाश करते हैं (ते) वे (उभयनयविरोधध्वंसिनि) निश्चयनय और व्यवहारनय के आपस के विरोध को नाश-दूर करने वाले (स्यात्पदाङ्के) स्यात्पद से युक्त (जिनवचसि) जिनेन्द्र भगवान के वचनो मे (रमन्ते) क्रीडा करते हैं अर्थात् निरन्तर अनुरक्त रहते है (ते) वे (एव) ही (सपदि) शीघ्र (परज्योतिः) उत्कृष्ट तेज वाले (उच्चैः) सर्वोपरि (अनवम्) अनादि काल से विद्यमान (अनयपक्षाक्षुण्णम्) एकान्त पक्ष से शून्य (समयसारम्) शुद्ध आत्मा को (ईक्षन्ते) देखते-प्रत्यक्ष करते है।

स० टी०—(ते पुरुषाः) वे पुरुष, (सपदि-तत्कालं) तत्काल-उसी समय (एव-निश्चयेन-) निश्चय से (ईक्षन्ते-अवलोकयन्ति, साक्षात्कुर्वन्ति, इत्यर्थः) प्रत्यक्ष करते हैं (किंतत्) किसका (परंज्योति -परं-उत्कृष्टं-अतिक्रान्तसूर्यादि तच्च तज्ज्योतिश्च-ज्ञानतेजपरं ब्रह्मेत्यर्थः) उस उत्कृष्ट ज्ञानतेज रूप परब्रह्म का जो सूर्य आदि तेजस्वी पदार्थों को तिरस्कृत करने वाला है (किं लक्षणं तत् ?) उसका लक्षण क्या है ? (समयसार-सर्वपदार्थेषु सारम्-) जो सभी पदार्थों मे श्रेष्ठ है (पुनः किम्भूतम्) फिर वह कैसा है ? (उच्चैः अतिशयेन,) अतिशय रूप से (अनवं-ननवं अकृत्रिमं पुराणमित्यर्थः अनादिनिधनत्वात्) अनादिनिधन होने के कारण पुराना है (पुनः किम्भूतम्) फिर कैसा है ? (अनयपक्षाक्षुण्णं-नयोनैगमादिः स्याद्वादसापेक्षः, ततोविपरीतः एकान्तरूपोऽनयस्तेषु पक्षोऽभिनिवेशोयेषान्तेऽनयपक्षाः, एकान्तवादिन', तैरक्षुण्णं-अक्षुभित-अध्वस्तमित्यर्थः, 'सूक्ष्मं जिनोदितं तत्वं हेतुभिर्नैव हन्यते' इति वचनात्) जो स्याद्वाद कथञ्चिद्वाद-अपेक्षा वाद की अपेक्षा रखता है वह नय कहा जाता है जिसके नैगम आदि भेद है उससे विपरीत अर्थात् स्याद्वाद की अपेक्षा से रहित जो है वह ही अनय है क्योकि वह एकान्तरूप है उस अनय का पक्ष अर्थात् अभिप्राय जिनके होता है ऐसे एकान्तवादियो से जो बाधा रहित अर्थात् अबाधित है क्योकि भगवान् सर्वज्ञ जिनेन्द्र देव के द्वारा कहा हुआ सूक्ष्म तत्त्व किन्ही भी अन्य हेतुओ से बाधित नही हो सकता ऐसा आगम का वाक्य है। (ते के !) वे पुरुष कौन हैं या कैसे हैं। (ये स्वयं-स्वतएव वान्तमोहा. सन्त.—वान्तो-वमितो मोहो रागद्वेषरूपोयैस्ते तथोक्ताः) जिन्होने स्वयमेव मोह का वमन कर दिया है अर्थात् जो सम्यग्दृष्टि है और (रमन्ते-क्रीडन्ति एकत्वं भजन्त इत्यर्थः) जो रमण-क्रीडन करते हैं अर्थात् एकत्व का सेवन करते है। (क्व) कहाँ ? (जिन वचसि-जिनोक्त सिद्धान्त सिद्धान्तसूत्रे) जिनेन्द्र द्वारा कहे हुए सिद्धान्तसूत्र—अर्थात् द्वादशाङ्ग श्रुत मे (किं लक्षणे) कैसे सूत्र मे (उभयेत्यादि उभयै नया द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिका.—अस्तित्व नास्तित्व, एकत्वानेकत्वं नित्यानित्यमित्येवमादय ?) अस्तित्व ,नास्तित्व, एकत्व, अनेकत्व, नित्यत्व और अनित्यत्व आदि को विषय करने वाले द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दोनो प्रकार के नय (तेषा विरोध.-परस्परं विरोधित्वं, यत्रास्तित्वं तत्र नास्तित्वस्य विरोध., यत्र नास्तित्वं तत्रास्तित्व-स्यविरोध'-इत्याद्येकान्तवादिनां विरोध,, तंध्वंसत इत्येवं शीलं तस्मित्) उनके आपस के विरोध अर्थात्

जहां अस्तित्व है वहां नास्तित्व का विरोध है और जहां नास्तित्व है वहां अस्तित्व का विरोध है इत्यादि एकान्तवादियो का जो विरोध है उसको दूर करने वाले **(तथाचोक्तमष्टसहस्र्याम्)** ऐसा ही अष्ट सहस्री मे कहा गया है। **(विरोधान्नोभयैकात्म्यं स्याद्वादन्यायविद्विषाम्)** अर्थात् स्याद्वाद न्याय के विद्वान अस्तित्व नास्तित्व आदि परस्पर विरोधी दो धर्मो को एक रूप से स्वीकार नही करते। **(पुनः किम्भूते ?)** फिर कैसे ? **(स्यात्पदाङ्के-कथञ्चित्पदेनलक्षिते)** स्यात्पद-कथञ्चित्पद से युक्त **(जिनवचस. स्याद्वादात्मकत्वात्)** क्योंकि जिनेन्द्र का वचन स्याद्वाद-कथञ्चिद्वाद या अपेक्षावाद को लिए हुए ही निकलता है। **(तथाचोक्तं सोमदेव सूरिणा)** ऐसा ही सोमदेव सूरि ने कहा है कि **(स्याच्छब्दमन्तरेण उन्मिषितमात्रमपि न सिद्धिरधि वसतीति)** स्यात् शब्द के बिना तो उन्मेष मात्र भी सिद्धि को प्राप्त नही कर सकता।

भावार्थ—टीकाकार ने अष्टसहस्री का प्रमाण देकर यह बात स्पष्ट कर दी है कि आपस मे विरोध रखने वाले दो धर्म कभी एक नही हो सकते। हा उनका आधार एक धर्मी वस्तु अवश्य हो हो सकती है लेकिन उसकी विवेचना तो एकमात्र स्याद्वाद सिद्धान्त के आधार पर ही सम्भव है अन्यथा नही। कारण कि द्रव्यार्थिकनय द्रव्यसामान्य को ही जानता है और पर्यायार्थिक नय पर्याय विशेष को ही। दोनो नय अपने से भिन्न को ही विषय करते हैं। अतः विषयभेद से दोनो नय बिलकुल ही भिन्न हैं उनके अपने विषय को जानने का नियम अबाधित है। ऐसी स्थिति मे अज्ञानी एकान्तवादी का निरपेक्ष दृष्टि से वस्तु के विवेचन मे हठवादी हो जाना स्वाभाविक ही है उस हठवाद को दूर कर वस्तुस्थिति की यथार्थता का प्रतिपादन एकमात्र स्याद्वाद-अपेक्षावाद से ही हो सकता है। इसकी पुष्टि मे उन्होने सोमदेवसूरि का वचन भी प्रमाण रूप से उपस्थित किया है और बताया है कि बिना स्याद्वाद के निमेषमात्र भी सिद्धि या सचाई को प्राप्त नही कर सकता। वास्तव मे भगवान जिनेन्द्र के द्वारा प्रतिपादित सूक्ष्म तत्त्व का खण्डन किन्ही हेतुओ से सम्भव नही है। यत वे जिनेन्द्र हैं कर्मशत्रुओ को जीतने वाले हैं अतएव सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हैं। जो सर्वज्ञ और सर्वदर्शी होता है वह यथार्थ वक्ता होता है, उसका वचन सर्वथा अखण्डनीय ही होता है यह बात आगम और युक्ति दोनो से सिद्ध ही नही प्रत्युत प्रसिद्ध है।

व्यवहारनय व्यावहारिक दृष्टि से प्रयोजनवान् है निश्चय दृष्टि से नही—

व्यवहरणनयः स्याद्यद्यपि प्राक्पदव्यामिह निहित पदानां हन्त हस्तावलम्बः ।
तदपि परममर्थं चिच्चमत्कारमात्रं परविरहितमन्तः पश्यतां नैष किञ्चित् ॥५॥

अन्वयार्थ—**(इह)** इस ससार में **(प्राक्पदव्याम्)** शुद्धोपयोग की प्राप्ति के प्रारम्भिक मार्ग मे **(निहितपदानाम्)** प्रवेश करने वालो को **(व्यवहरणनय.)** व्यवहार नय **(यद्यपि)** यद्यपि **(हस्तावलम्ब.)** हाथ का सहारा मात्र **(स्यात्)** होता है **(हन्त)** यह खेद की बात है **(तदपि)** तथापि **(परविरहितम्)** पर द्रव्य से शून्य अर्थात् आतमा से भिन्न जडस्वरूप पुद्गल द्रव्य के गुण और पर्यायो से रहित **(चिच्चमत्कारमात्रम्)** चैतन्य चमत्कारमात्र अर्थात् ज्ञानदर्शन रूप चेतना के उज्ज्वल प्रकाश से प्रकाशमान **(परमम्)**

सर्वोत्कृष्ट (**अर्थम्**) आत्मतत्त्व को (**अन्तः**) अन्तरग मे (**पश्यताम्**) देखने वालो को (**एषः**) यह व्यवहार-नय (**किञ्चित्**) कुछ भी कार्यकारी (**न**) नही (**अस्ति**) है।

सं० टी०—(**प्राथमिकाना व्यवहारनयोपयोगित्व प्रदर्श्य निश्चयात्मकानां निश्चयं निश्चिनोति**) शुद्धोपयोग की प्रथम कक्षा मे प्रवेश पाने वालो को व्यवहारनय-परद्रव्याश्रितनय-कथञ्चित उपयोगी है इस बात को बता कर शुद्धोपयोगियो के शुद्धोपयोग का निश्चय करते है। (**हन्त इति वाक्यालङ्कारे**) हन्त यह अव्यय वाक्य के अलङ्कार अर्थ मे प्रयुक्त होता है (**इह जगति**) जगत मे (**यद्यपि व्यवहरण नय.-व्यवहाराख्योनयः**) यद्यपि व्यवहारनय (**हस्तावलम्बः-करावलम्बनम्**) हाथ का सहारा (**स्यात्-भवति**) होता है (**केषाम्**) किन के (**निहितपदानाम्-निहित-आरोपितं, पदं-स्थानं-सन्मार्गे यैस्ते तथोक्ता-स्तेषाम्**) मोक्षमार्ग मे स्थान को प्राप्त हुए मोक्षमार्गियो के (**पदं-व्यवसितत्राणस्थान लक्ष्माङ्घ्रिवस्तुषु इत्यनेकार्थः**) पद शब्द-व्यवसित, त्राण, स्थान, लक्ष्म, अङ्घ्रि और वस्तु इन अनेक अर्थो मे प्रयुक्त होता है अत यहाँ पद शब्द स्थान अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है। (**कदा ?**) कब (**प्राक्पदव्यां-शुद्धचिद्रूपप्राप्तितस्त-त्सम्मुखत्वेसतिपूर्वं तत्प्राथमिकावस्थायाम्**) शुद्ध चैतन्य स्वरूप को पाने के पहले उसको पाने के लिए प्रयत्न करने मे अभिमुख अर्थात् प्रारम्भ अवस्था मे (**तदपि व्यवहारनय पूर्वमुपयोगी ययेषोऽस्ति**) वह व्यवहारनय यद्यपि उपयोगी है (**तथापि— एषः व्यवहारनय -न किञ्चित्कार्यकारी**) तो भी यह व्यवहार नय जरा भी कार्यकारी नही है। (**केषाम् ?**) किनको (**पश्यताम्-अवलोकयताम्**) देखने वालो को (**कम् ?**) किसको (**परममर्थं-शुद्ध चिद्रूप लक्षणं पदार्थम्**) शुद्ध चैतन्य स्वरूप आत्मतत्त्व को (**क्व ?**) कहाँ (**अन्तः-अभ्यन्तरे चेतसि**) अन्तरग मे (**किम्भूतम्**) कैसे (**चिच्चमत्कारमात्रं-चित्दर्शनज्ञानलक्षणा, तस्याश्चमत्कार. आश्चर्योद्रेकः स एव मात्रा प्रमाण यस्य स तथोक्तस्तम्**) दर्शन और ज्ञान रूप चेतना की परिपूर्णता रूप (**भूय· किम्भूतम्**) फिर कैसे (**परविरहितं-परैः पुद्गलादिर्द्रव्यैः विरहित-त्यक्तम्**) पुद्गलादि परद्रव्यो से सर्वथा शून्य (**तथाचोक्त कुन्दकुन्दाचार्यवरैः**) आचार्य-प्रवर-कुन्दकुन्दाचार्य महाराज ने भी ऐसा ही कहा है—"ववहारोऽभूदत्थो भूदत्थो देसिदोदुसुद्धणओ" व्यवहारनय अभूतार्थ असत्यार्थ है और शुद्धनय-निश्चयनय भूतार्थ-सत्यार्थ है। (**इति**) ऐसा।

भावार्थ—टीकाकार ने अपनी टीका मे 'हन्त' अव्यय का अर्थ वाक्य की सुन्दरता मे किया है। लेकिन विचार करने पर उक्त अर्थ की अपेक्षा हन्त का अर्थ खेद करना ग्रन्थकार को इष्ट प्रतीत होता है। कारण कि व्यवहार नय को हेय और निश्चयनय को उपादेय रूप से सभी आध्यात्मिक चिन्तको ने स्वीकार किया है। अतएव जो हेय है उसका ग्रहण करना तो विवशता की दशा मे ही सम्भव हो सकता है सो भी विना इच्छा के। जव व्यवहार के विना काम चलता नही दिखता तव ही उसे काम चलाऊ मान कर अपनाना पडता है काम होने पर तो वह स्वत ही छूट जाता है उसे छोडने की जरूरत नही पडती क्योकि वह वस्तुगत धर्म नही है प्रत्युत पर द्रव्याश्रित होने से पर का धर्म है जो पर है उसे अपना वनाना कदापि सम्भव नही है यह अध्यात्म तत्त्व का मुख्य लक्ष्य है जो अपरिहार्य होने से ग्राह्य है।

निश्चय सम्यग्दर्शन का स्वरूप कहते है—

एकत्वे नियतस्य शुद्धनयतो व्याप्तुर्यदस्यात्मनः ।
पूर्णज्ञानघनस्य दर्शनमिह द्रव्यान्तरेभ्यः पृथक् ।।
सम्यग्दर्शनमेतदेव नियमादात्मा च तावानयम् ।
तन्मुक्त्वा नवतत्त्वसन्ततिमिमामात्मायमेकोऽस्तुनः ।।६।।

अन्वयार्थ—(**शुद्धनयतः**) शुद्ध-निश्चय-नय की दृष्टि से (**एकत्वे**) एकत्व मे (**नियतस्य**) नियत-निश्चित (**व्याप्त**) व्यापक-अपने गुण पर्यायो मे सदा व्यापने वाले (**पूर्णज्ञानघनस्य**) पूर्ण ज्ञान घन स्वरूप (**अस्य**) इस (**आत्मन॰**) आत्मा का (**द्रव्यान्तरेभ्य**) अन्य चेतन तथा अचेतन सभी द्रव्यो से (**पृथक्**) जुदा (**यत्**) जो (**दर्शनम्**) देखना श्रद्धान करना है (**एतद्**) यह (**एव**) ही (**नियमात्**) नियम-निश्चय से (**सम्यग्दर्शनम्**) सम्यग्दर्शन (**अस्ति**) है (**च**) और (**अयम्**) यह (**आत्मा**) आत्मा-जीव (**अपि**) भी (**तावान्**) उतना (**एव**) ही (**अस्ति**) है (**तत्**) इसलिए (**इमाम्**) इस (**नवतत्त्व-सन्ततिम्**) नवतत्त्वो की परिपाटी को (**मुक्त्वा**) छोडकर (**न.**) हमारे (**अयम्**) यह (**एकः**) एक-अद्वितीय (**आत्म**) आत्मा (**अस्तु**) प्राप्त हो ।

सं० टी०—(**इह-जगति**) ससार मे (**नियमात्-निश्चयनयमाश्रित्य**) नियम से निश्चयनय का आश्रय करके (**एव-निश्चयेन**) निश्चित ही (**एतत्सम्यग्दर्शनम्-शुद्ध सम्यक्त्वम्**) शुद्ध सम्यग्दर्शन (**एतत् किम् ?**) यह क्या ? (**यत्**) जो (**अस्य-जगत्प्रसिद्धस्य, आत्मन -चिद्रूपस्य**) इस जगत्प्रसिद्ध चैतन्य स्वरूप आत्मा का (**दर्शनं-अवलोकन, ध्यानेन आत्मन. साक्षात्करणमित्यर्थः**) ध्यान से प्रत्यक्षरूप मे देखना श्रद्धान करना (**कथम्**) कैसे (**द्रव्यान्तरेभ्यः-शुद्धचिद्रूपादन्यद्रव्याणि द्रव्यन्तराणि-पुद्गलादिद्रव्याणितेभ्य.**) शुद्ध चैतन्य स्वरूप आत्मद्रव्य से भिन्न पुद्गलादि द्रव्यो से (**पृथक् भिन्न भवति**) जुदा (**तथा**) और (**किं विशिष्टस्यात्मनः**) कैसी आत्मा का (**शुद्धनयतः-निश्चयनयात्**) निश्चयनय से (**एकत्वे अहमात्मा, आत्माहमित्येतल्लक्षणे-एकत्वे**) मैं आत्मा हूँ इस प्रकार के लक्षण वाले एकत्व मे (**नियतस्य-रतिं प्राप्तस्य**) नियत-स्नेह युक्त (**पुन. किम्भूतस्य**) फिर कैसे (**व्याप्तुः-स्वगुणपर्याय व्यापकस्य**) अपने गुण और पर्यायो मे व्यापने वाले (**व्यवहारनयाद्वा लोकालोक व्यापकस्य-ज्ञानेन ज्ञातत्वात्सर्वस्य**) अथवा व्यवहारनय से लोक और अलोक को व्याप्त करने वाले क्योकि ज्ञानी आत्मा अपने ज्ञान से सारे लोक अलोक को जानता है अतएव सर्व व्यापक है । (**तथाचोक्तमकलङ्कपादै.**) अकलङ्क स्वामी ने भी ऐसा ही कहा है—

स्वदेह प्रमितश्चात्मा ज्ञानमात्रेऽपिसम्मतः ।
तत. सर्वगत. सोऽपि विश्वव्यापी न सर्वथा ।।

अर्थात् आत्मा नामकर्म के उदय से प्राप्त हुए अपने शरीर के प्रमाण हैं । पर स्वरूप की दृष्टि से वह ज्ञानमात्र-ज्ञानप्रमाण ही माना गया है । इसलिए वह ज्ञान के द्वारा लोक के अन्दर रहने वाले

सभी पदार्थों को और अलोक को भी युगपत् एक साथ एक ही काल मे जानता रहता है। अतएव सर्व व्यापक है। सर्वथा सर्व व्यापक नही है। तात्पर्य यह है कि आत्मा एक स्थान पर रहता हुआ भी अपने ज्ञानगुण से सभी चराचर ज्ञेयो को प्रति समय जानता रहता है। वे ज्ञेय भी अपने-अपने स्थान पर रहते हुए ही ज्ञान मे प्रतिबिम्बित होते रहते हैं। ऐसा ही ज्ञान और ज्ञेयो का परस्पर मे ज्ञायक ज्ञेय सम्बन्ध अनादित धाराप्रवाह रूप से चला आ रहा है और इसी रूप से अनन्त काल तक चलता रहेगा। यही वस्तुस्थिति है जो त्रिकाल अबाधित है। सर्वज्ञ प्रणीत आगम से भी ऐसा ही प्रमाणित होता है।

(पुनः किम्भूतस्य) फिर कैसे ! **(पूर्णज्ञानघनस्य-पूर्णः-परिपूर्णः-ज्ञानस्यबोधस्य घनो यत्र स तथोक्तस्य)** परिपूर्ण ज्ञान वाले **(च-पुनः)** और **(अयं प्रत्यक्षीभूतः)** यह प्रत्यक्ष रूप से दिखाई देने वाला **(आत्मा-चिद्रूपः)** चैतन्य स्वरूप आत्मा **(तावान् मात्रः-सम्यग्दर्शन मात्र इत्यर्थः)** सम्यग्दर्शन के प्रमाण ही **(अस्ति)** है **(तत्-तस्मात्कारणात्)** तिस कारण से **(अय-आत्मा चिद्रूपः)** यह चेतना स्वरूप आत्मा **(नः-अस्माकम्)** हमारे **(एकः-अद्वितीय.)** परपदार्थ के ससर्ग से शून्य अत. एक अद्वितीय **(अस्तु)** प्राप्त हो **(किं कृत्वा ?)** क्या करके ? **(इमां-प्रसिद्धाम्)** इस प्रसिद्ध जग-जाहिर **(नवतत्त्वसन्ततिम् जीवादि नवतत्त्वाना समूहम्)** जीवादि नव तत्त्वो के समुदाय को **(मुक्त्वा त्यक्त्वा)** छोडकर **(कर्मकलङ्कित जीवादितत्त्वानि विहाय)** कर्म मल से मलिन जीवादि सात तत्त्वो की परिपाटी को छोडकर **(एकः आत्मा)** एक आत्मा **(नः-शुद्धयेऽस्तु सदेतियावत्)** हमारी शुद्धि के लिए हमेशा वना रहे।

भावार्थ— चैतन्य स्वरूप आत्मा के श्रद्धान का नाम सम्यग्दर्शन है अर्थात् शुद्धनय की अपेक्षा को लिए जो विशेषण आत्मा के लिये दिये गये है उन विशेषणो से विशिष्ट आत्मा के श्रद्धान को ही निश्चय सम्यग्दर्शन जानना चाहिये। उन विशेषणो मे प्रथम विशेषण आत्मा का एकत्व है अर्थात् आत्मा, स्वरूप की दृष्टि से एक है उसमे अन्य पदार्थ का परमाणु के प्रमाण भी अस्तित्व नही है अतएव वह अद्वितीय—एक है। दूसरा विशेषण व्यापकत्व है अर्थात् आत्मा स्वदेह परिमाण होते हुए अपने गुण पर्यायो मे व्यापक है। व्यवहार दृष्टि मे ज्ञानगुण के जरिये वह लोक तथा अलोक को निरन्तर जानता रहता है ससार का कोई भी ऐसा पदार्थ नही है जो आत्मा के ज्ञान से बाहिर हो वह ज्ञेय ही क्या जो आत्मा के ज्ञान गुण का विषय न हो। ज्ञेय का सीधा अर्थ यही है कि जो ज्ञान से जाना जाय। अत सभी पदार्थ ज्ञेय है ज्ञान के अन्दर प्रतिभासित होते रहते है ज्ञान का भी कार्य जानने का है अत वह अपने स्वभाव से सभी पदार्थों को जानता ही रहता है इस दृष्टि से ज्ञान की अपेक्षा आत्मा सर्व व्यापक है। उसकी यह सर्व व्यापकता स्वभावगत होने से अक्षुण्ण है

तीसरा विशेषण पूर्ण ज्ञानघन है अर्थात् प्रत्येक आत्मा स्वभाव से ज्ञान का पिण्ड है लेकिन कर्म-बद्ध होने से उसकी वह स्वाभाविक ज्ञान शक्ति की अभिव्यक्ति आशिक रूप मे ही उपलब्ध होती है जो कर्म के क्षयोपशम पर निर्भर करती है अर्थात् ज्ञान की कर्मोपाधि की अपेक्षा से पाच अवस्थाये प्राप्त

होती हैं जिनमे प्रथम की चार अवस्थाये ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होती हैं शेष पाचवी अवस्था ज्ञाना वरण कर्म के क्षय से प्रगट होती है बस इसी अवस्था का नामान्तर ही केवलज्ञान है जो अविनाशी होने से अनन्त काल तक ज्यो का त्यो बना रहता है उसमे कोई खास स्थूल परिवर्तन नही होता है, हाँ सूक्ष्म परिवर्तन तो होता ही रहता है जिसे शास्त्रीय भाषा मे षड्गुणी हानि वृद्धि कहते हैं बिना इसके द्रव्य का स्वरूप ही नही वन सकता। साधक सम्यग्दृष्टि की दृष्टि मात्र सामान्य ज्ञान पर रहती है उक्त तीनो विशेषणो से विशिष्ट आत्मा का अन्य पुद्गलादि परद्रव्यो से पृथक् श्रद्धान करना ही शुद्ध सम्यग्दर्शन है यह जितना है उतनी ही आत्मा है न्यूनाधिक नही। गुण के बरावर गुणी और गुणी के बरावर गुण होता है यह गुण और गुणी का परिमाण है जो गुण गुणी के तादात्म्य या अभेद सम्वन्ध पर आधारित है ऐसी सम्यग्दर्शन परिमाण अत्मा ही हमे प्राप्त हो।

अब शुद्धनयाधीन आत्मा की उत्कृष्ट ज्योति का वर्णन करते हैं—

अतः शुद्धनयायत्तं प्रत्यग्ज्योतिश्चकास्तितत् ।
नवतत्त्वगतत्वेऽपि-यदेकत्वं न मुञ्चति ॥७॥

अन्वयार्थ— (अत:) इसलिए—इस कारण से (**शुद्धनयायत्तम्**) शुद्ध नय के अधीन शुद्धनिश्चयनय से जानी हुई (**तत्**) वह-शास्त्र प्रसिद्ध (**प्रत्यग्ज्योतिः**) पर द्रव्यो से सर्वथा जुदी आत्मा की ज्योति-ज्ञानमय तेजः कान्ति (चकास्ति) प्रकाशमान होती है (**यत्**) जो (**नवतत्त्वगतत्वेऽपि**) नवतत्त्व-जीव आदि नव पदार्थों मे दूध और पानी की तरह मिली हुई होने पर भी (**एकत्वम्**) अपनी एकता-स्वरूपगत चेतनता को (**न**) नही (**मुञ्चति**) छोडती।

सं० टी०—(**यतो नवतत्त्वेष्वपि, अयमेक आत्माऽस्तु नः,**) जिस कारण से नव तत्त्वो मे रहने पर भी हमारे यह एक आत्मा प्राप्त हो (**अत.-कारणात्**) इस कारण से (**चकास्ति-द्योतते**) प्रकाशित होती है (**तत्-प्रसिद्ध**) वह प्रसिद्ध (**आत्मज्या-प्रत्यग्ज्योतिः पर धाम**) उत्कृष्ट तेज (**शुद्धनयायत्त-यत् शुद्धनयस्य-निश्चयनयस्य-आयत्तं अधीन, शुद्धनिश्चयनयेनेति यावत्**) जो शुद्ध निश्चयनय के अधीन (**अस्ति**) है (**यत्-परंज्योतिः**) जो उत्कृष्ट तेज-चैतन्यमय प्रकाश (**एकत्वम्-अद्वितीयत्वम्**) अद्वितीयता को-अपने खास चैतन्य स्वरूप जो आत्मा का असाधारण परिचायक चिह्न है को (**न**) नही (**मुञ्चति-जहाति**) छोडता (**क्व सति ?**) कहा पर (**नवतत्त्वगतत्वेऽपि-नवसु तत्त्वेषु गतत्व प्राप्तत्वं तस्मिन् सत्यपि**) नव तत्वो मे प्राप्त होने पर भी (**अपिशब्दान्तेषु, अगतत्त्वेऽपिसिद्धात्मनो नवतत्त्वेषु-अगतत्वात्**) अपि शब्द से—नव तत्वो मे प्राप्त नही होने पर भी अर्थात् सिद्ध आत्मा नव तत्वो मे प्राप्त नहीं हैं इससे वे नव तत्वगत नही है ऐसा अपि शब्द का अर्थ है (**संसार्यात्मनः, नवतत्वायतत्वान्नव तत्त्व गतत्वम्**) ससारी आत्मा नव-तत्त्वो के अधीन होने से नवतत्वगत है।

भावार्थ—वस्तु सामान्य विशेषात्मक है जव पर्याय दृष्टि से देखते हैं तव आस्रव बध-सवरनिर्जरा-

पुण्य-पाप-मोक्ष सत्यार्थ है, इन पर्यायरूप अवस्थाओ को तो जाना परन्तु जो आस्रव रूप बधरूप परिणमन करने वाला, सवर-निर्जरा-मोक्षरूप परिणमन करने वाले को नही जाना तब तक आत्मस्वभाव का ज्ञान कैसे हो। एक किसान को खोजना है वह कहा-कहा मिलेगा। जहा-जहा मिलेगा उन जगहो का जानना भी जरूरी है परन्तु वह जानना उस किसान को जानने के लिए ही है। इसी प्रकार यह एक अकेला ज्ञायक भावरूप-चैतन्य नव तत्त्वरूप परिणमन करते हुए भी अपने चैतन्यपने को नही छोडता। आत्म अनुभव करने के लिए नव तत्त्व मे भी उस एक अकेले को देखना जरूरी है जो शुद्ध नय का विषय है।

अब आत्मा ही दर्शनीय है इस बात को प्रेरणापूर्वक कहते है—

चिरमिति नव तत्त्वच्छन्न मुन्नीयमानं कनकमिव निमग्नं वर्णमाला कलापे।
अथ सततविविक्तं दृश्यतामेकरूपं प्रतिपदमिदमात्मज्योतिरुद्योतमानम् ॥८॥

अन्वयार्थ—(**इति**) इस प्रकार (**चिरम्-नव-तत्त्व-च्छन्नम् इदम् आत्मज्योति.**) नव तत्त्वो मे बहुत समय से छिपी हुई यह आत्मज्योति (**उन्नीयमानं**) शुद्धनय से बाहर निकाल कर प्रगट की गई है (**वर्णमाला-कलापे निमग्नं कनकम्-इव**) जैस वर्णो के समूह मे छिपे हुए एकाकार स्वर्ण को तथा उनसे होने वाले नैमित्तिक भावो से भिन्न (**एकरूपम्**) एक रूप (**दृश्यताम्**) देखो (**प्रतिपदम् उद्योतमानम्**) यह (**ज्योति**) पद पद पर अर्थात् प्रत्येक पर्याय मे एकरूप चिच्चमत्कारमात्र उद्योतमान है।

सं० टी०—(**अथ-परंज्योतिषः प्रकाश कथनादनन्तरम्**) उत्कृष्ट ज्योति को प्रकाशित करने के बाद (**इदम्**) यह (**आत्मज्योतिः-परमात्मज्योति.**) परमात्मा का प्रकाश-तेज (**दृश्यताम् अवलोक्यताम्**) देखो—अवलोकन करो। (**इति अमुना-प्रकारेण**) इस प्रकार से (**कोऽसौ प्रकारः**) वह प्रकार कौन-सा (**अस्ति**) है? (**एकस्मिन् ससार्यात्मनि, जीवाजीवादिनवतत्त्वसद्भाव इति**) एक ही ससारी आत्मा मे, जीव अजीव आदि नव तत्त्वो का सद्भाव, ऐसा प्रकार (**चिरम्-आसंसारम्-पूर्वं पश्चाच्च,**) जबसे ससार है तबसे पहले और पीछे (**नवतत्त्वच्छन्न-नवतत्त्वैः-जीवाजीवादिभिः, छन्नं-आच्छादितम्**) जीव, अजीव आदि नव तत्त्वो से आच्छादित-मिले हुए (**किमिव**) किसके समान (**कनकमिव**) सुवर्ण के समान (**यथा स्वर्णम्**) जैसे स्वर्ण (**वर्णमालाकलापे-वर्णस्य सप्ताष्टादिरूप वर्णस्य, माला-पक्ति, तस्याः कलाप.-समूहस्तस्मिन्**) सात आठ आदि वर्णों के समूह (**निमग्नम्-अन्त. पतितम्**) मध्य मे पडे हुए के समान। (**ननु च तत्त्वाच्छादितं परंज्योति·, वर्णमालाच्छादित स्वर्णं च कथमस्तीतिज्ञायते**) शकाकार कहता है कि उत्कृष्ट ज्योति स्वरूप चैतन्यात्मा जीव अजीव आदि नव तत्त्वो से आच्छादित-ढँका हुआ है और स्वर्ण सात आठ रगो से व्याप्त है यह आपने कैसे जाना? (**उन्नीयमानम्-नयप्रमाणादिभिर्निश्चीयमानं, निघर्षणच्छेदनादिभिर्ज्ञाय मानम्**) उत्तर मे कहते हैं कि—नय और प्रमाण आदि से निश्चय किये जाने वाले और निघर्षण-घिसना तथा छेदन-टुकडे करना आदि से जानने मे आने वाले (**सततविविक्तम्-सततं-निरन्तरं, वि-विशेषेण-निश्चयनयेन-विक्तं-द्रव्यभावमलाद्भिन्नम्**) हमेशा द्रव्य और भाव मल से रहित

(**स्वर्णञ्च निजकिट्टकालिकादिमलात् परमार्थतोभिन्नं, एकरूपं**) और स्वर्ण अपनी किट्ट कालिका आदि रूप मल से वस्तुत जुदा (**एक रूपम्—सर्वत्रपर्यायेषुचिद्विवर्तत्वेनैकस्वरूपम्**) सभी पर्यायो मे चैतन्य का ही परिणमन होने से एकरूप (**लब्ध्यपर्याप्तादिषु लब्ध्यसारादिचिद्विवर्तस्याऽपरित्यक्तत्वात्**) लब्ध्यपर्याप्त आदि पर्यायो मे लब्ध्यक्षर आदि चैतन्य पर्यायो के नही छोडने से (**स्वर्णञ्च पीतत्वादिस्वरूपेण-सर्वत्र-वर्णेषु, एकस्वरूपम्**) और स्वर्ण भी अपने पीतत्व-पीलापन आदि निज रूप से सभी वर्णो मे एकरूप होता है। (**प्रतिपदं एकेन्द्रियादिपदेषु ज्ञानादि शक्तितः**) एकेन्द्रिय आदि प्रत्येक पर्यायो मे ज्ञान आदि शक्ति से (**उद्योतमानम्-प्रकाशमानम्**) प्रकाशमान (**एकेन्द्रियेषु-स्पर्शनेन्द्रिय ज्ञानात्**) एकेन्द्रियो मे स्पर्शन इन्द्रिय से होने वाले ज्ञान से (**द्वीन्द्रियादिषु रसनेन्द्रियज्ञानाना वृद्धिस्वभावत्वात्**) दो इन्द्रिय आदि जीवो मे रसना इन्द्रिय आदि से होने वाले ज्ञानो की वृद्धिरूप स्वभाव होने से (**कनकमपि**) स्वर्ण भी (**प्रतिपद-सप्ताष्टकादिवर्णकारस्थानेषु**) सात आठ आदि वर्ण वाले स्थानो मे (**उद्योतमानम्**) प्रकाशमान रहता है (**इतिछायाऽर्थ.**) ऐसा छायार्थ (**कनकेष्वपि ज्ञातव्यः**) सुवर्ण मे भी लगा लेना चाहिए।

भावार्थ—जैसे सराफ मिले हुये सोने मे केवल स्वर्णत्व को सब मलिनताओ से भिन्न अपने ज्ञान मे अलग कर लेता है और देख लेता है। उस मलिनताओ को मेटने मे समय लगेगा परन्तु ज्ञान मे अलग देखने मे कोई मुश्किल नही है वैसे ही यह आत्मा द्रव्यकर्म भावकर्म और नोकर्म से मिला हुआ है परन्तु ज्ञानी के ज्ञान मे ऐसी विशेषता है कि वह समस्त किट्ट कालिमा को अर्थात् द्रव्यकर्म नोकर्म भावकर्म को बाद देकर जो बाकी बचा केवल चैतन्यपना उसको अपने रूप से अनुभव कर लेता है। यह सम्यक अवलोकन अपने ज्ञानादि गुणो से अभिन्न ज्ञानी के ज्ञान की विशेषता है।

परमात्मज्योति के प्रकाशित होने पर नयादि की व्यर्थता दिखाते है—

उदयति न नयश्रीरस्तमेतिप्रमाणं क्वचिदपि च न विद्मो यातिनिक्षेपचक्रं।
किमपरमभिदध्मो धाम्नि सर्वंकषेऽस्मिन्ननुभवमुपयातेभाति न द्वैतमेव ॥९॥

अन्वयार्थ—(**सर्वंकषे**) सभी चराचर पदार्थों को जानने वाले (**अस्मिन्**) इस (**धाम्नि**) परमात्म-रूप ज्योति-प्रकाश के (**अनुभवम्**) अनुभव को (**उपयाते**) प्राप्त होने पर (**नयश्री.**) नयलक्ष्मी (**न**) नही (**उदयति**) उदय को प्राप्त होती। (**प्रमाणम्**) प्रमाण (**अस्तम्**) अस्त को (**एति**) प्राप्त होता है। (**निक्षेप-चक्रम्**) निक्षेपो का समूह (**क्वचित्**) कही (**अपि**) भी अन्यत्र (**याति**) चला जाता है (**च**) ऐसा (**वयम्**) हम (**न**) नही (**विद्म,**) जान पाते। (**वयम्**) हम (**अपरम्**) और तो क्या (**अभिदध्मः**) कहे (**द्वैतम्**) द्वित्व-दोपन (**एव**) ही (**न**) नही (**भाति**) मालूम पडता है।

सं० टी०—(**अस्मिन्-परमात्मलक्षणे**) इस-परमात्माके लक्षण स्वरूप-इस (**धाम्नि-ज्योतिषि**) ज्योति के (**सर्वंकषे-सर्व-लोकालोक, कषति-त्रासमानं करोति जानातीति लक्षण या धातूनामनेकार्यत्वात् सर्वंकष "सर्वकूलाभ्रकरीषेषुकष" इति खश्प्रत्ययविधानात्**) सभी लोक और अलोक को त्रासित करने वाले

अर्थात् लक्षणाशक्ति से जानने वाले यहाँ कष् धातु का अर्थ जानना है क्योकि धातुओ के अनेक अर्थ होते हैं प्रकरण की सगति से अर्थ की सङ्गति होती ही है। अत यहाँ प्रकरण के वश से ज्ञान अर्थ लिया गया है सर्वशब्द पूर्वक कष् धातु से खश् प्रत्यय करने पर 'सर्वंकष' शब्द बना है।

(अनुभवं-स्वानुभवप्रत्यक्षम्) स्वानुभवप्रत्यक्ष को **(उपयाते-प्राप्तेसति)** प्राप्त करने पर **(नयश्री.-नया द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिकाः-नैगमादयः, तेषां श्रीः)** द्रव्यार्थिक-द्रव्य-सामान्य को विषय करने वाले तथा पर्याय-विशेष को विषय करने वाले नयो की लक्ष्मी **(न उदयति-न प्राप्नोति)** उदय को प्राप्त नही होती **(नयानां परमात्मन्यधिकाराऽयोगात्)** क्योकि नय परमात्मा के स्वरूप को जानने के अधिकारी नही है अर्थात् नयो मे परमात्मा के स्वरूप को जानने की स्वत क्षमता नही होती **(बाह्यवस्तुप्रकाश-कत्वाच्च)** दूसरी बात यह भी है कि नय बाह्यवस्तु के प्रकाशक होते हैं।

(पुनस्तस्मिन प्रकाशिते) और उस उत्कृष्ट परमात्मा ज्योति के प्रकाशित होने पर **(प्रमाणम्-प्रमीयते-परिच्छिद्यते वस्तुतत्त्वं येन तत्प्रमाणम्-स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकम्)** जिससे वस्तु के असली स्वरूप का ज्ञान होता है वह प्रमाण कहलाता है ऐसा प्रमाण अपना और अपने से भिन्न अपूर्व पदार्थ का निश्चय करने वाला-जानने वाला होता है। **(तच्च द्वैधं-प्रत्यक्ष परोक्षभेदात्)** और वह प्रमाण प्रत्यक्ष और परोक्ष के भेद से दो प्रकार का है। **(तत्र)** उनमे **(विशदं प्रत्यक्षम्)** जो विशद्-निर्मल ज्ञान है वह प्रत्यक्ष प्रमाण है। **(तच्च द्वेधा)** और वह प्रत्यक्ष प्रमाण दो प्रकार का है। **(साकल्य वैकल्य भेदात्)** साकल्य और वैकल्य के भेद से **(साकल्यं-केवलज्ञानं—सामग्री विशेष विश्लेषिताखिलावरणत्वात्)** साकल्य प्रमाण केवलज्ञान रूप है क्योकि वह सामग्री विशेष-ध्यानादि तपश्चरण विशेष से अपने आवरण करने वाले कर्म-केवलज्ञानावरण के सर्वथा नाश करने से ही प्रकट होता है।

(वैकल्यं-अवधिमन.पर्ययभेदात्-द्वेधा) वैकल्य प्रमाण अवधिज्ञान और मन पर्ययज्ञान के भेद से दो प्रकार का है। **(ऐन्द्रियं प्रत्यक्ष साव्यवहारिकं स्पर्शनादीन्द्रियभेदात् षोढा)** इन्द्रियो से उत्पन्न होने वाले प्रत्यक्षज्ञान को साव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहते हैं वह स्पर्शन आदि पाचो इन्द्रियो और छठवें मन के भेदसे छह प्रकार का होता है। **(तच्च प्रत्येकं-अवग्रहेहावायधारणाभेदाच्चतुर्धा,)** और वह भी अवग्रह, ईहा, अवाय औरधारणा के भेद से चार प्रकार का होता है। **(तच्चबहु बहु विधादि द्वादशविषयभेदात्, षट्त्रिंशदधिक त्रिशत्भेदभिन्नम्)** और वह भी बहु बहुविध आदि बारह विषयोके भेद से तीन सौ छत्तीस प्रकार का होता है। **(परोक्षं-स्मृतिप्रत्यभिज्ञान तर्कानुमानागमभेदाद्बहुधा)** परोक्ष प्रमाण-स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम के भेद से बहुत प्रकार का है। **(एतद्द्विविधलक्षणं प्रमाणमस्तं गतम् इति प्रमाणाना तत्प्राप्तिनिमित्तत्वात् तत्प्राप्ते वैयर्थ्याच्च)** ये दोनो प्रमाण जिनके लक्षण भिन्न-भिन्न है अस्त को प्राप्त होते है इस तरह से प्रमाणो के और उनकी प्राप्ति के निमित्त होने से इन्द्रिय आदि की प्राप्ति की व्यर्थता होने से भो प्रमाणो की अस्तिता प्रमाणित होती है। **(च-पुन.)** और **(निक्षेप-चक्रं-निक्षेपस्तु-नामस्थापनाद्रव्यभावभेदतश्चतुर्धा-)** निक्षेप तो नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव के भेद से

चार प्रकार का है। **(तत्र)** उनमे **(अतद्गुणे वस्तुनि सज्ञाकरण नाम)** जो गुण जिसमे नही है उसको उस नाम से कहना निक्षेप है। **(अन्यत्र सोऽयमिति व्यवस्थापनं स्थापना)** किसी अन्य वस्तु मे यह वह है इस प्रकार के व्यवस्थापन को स्थापना निक्षेप कहते हैं। **(वर्तमानतत्पर्यायादन्यद् द्रव्यम्)** वर्तमान की पर्याय से भिन्न भूत एव भविष्यत् की पर्याय को वर्तमान मे कहना द्रव्यनिक्षेप है। **(तत्कालपर्यायाक्रान्त वस्तुभावोऽभिधीयते)** वर्तमान पर्याय से युक्त वस्तु को वर्तमान पर्यायरूप कहना भाव निक्षेप है **(तस्य चक्रं समह)** उस निक्षेप का समुदाय **(क्वचिदपि-कुत्रचिदपि, आत्मनोऽन्यत्रालक्ष्येस्थाने याति-गच्छति, तद्वयं न विद्मः-न जानीम)** कहा पर अर्थात् आत्मा से भिन्न किसी अन्य जगह चला जाता है इसको हम नही जानते। **(अतिशयालङ्कारकथनमेतत्)** अतिशयालङ्कार की अपेक्षा से यह कहा जाता है। **(प्राथमिकाना-निक्षेपस्योपयोगित्वात्)** क्योकि प्रथम श्रेणी वालो को निक्षेप उपयोगी होता है। **(अत्र)** यहाँ **(अपरम्)** और **('निर्देशस्वामित्वसाधनाधिकरणस्थितिविधानलक्षणम्' 'सत्सख्याक्षेत्रस्पर्शन कालान्तर-भावाल्प बहुत्व लक्षणम्' च किमभिदध्म· किंकथयाम.)** निर्देश, स्वामित्व, साधन, अधिकरण, स्थिति और विधानलक्षण तथा सत्, सख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव और अल्प बहुत्व लक्षण को भी हम क्या कहे **(तत्र)** उस परमात्म लक्षण तेज मे **(तेषामनुपयोगित्वात्)** उन नय, प्रमाण, निक्षेप आदि अनुपयोगी होने से **(एव-निश्चयेन)** निश्चय ही **(द्वैत द्वाभ्या, नय नेय, प्रमाण प्रमेय, निक्षेप निक्षेप्यादि लक्षणाभ्या-इत-प्राप्त-द्वीत, द्वीतमेव द्वैत, स्वार्थिकाऽण्प्रत्ययविधानात्)** नय नेय, प्रमाण प्रमेय, निक्षेप निक्षेप्य आदि दो-दो के लक्षणो से जो लक्षित हो—प्राप्त किया गया हो उसका नाम द्वैत है ऐसे द्वीत को ही द्वैत कहा जाता है क्योकि यहाँ द्वीत शब्द से स्वार्थ-द्वीत अर्थ मे अण् प्रत्यय किया गया है—ऐसा द्वैत **(नभाति नप्रतिभासते)** प्रतिभासित-ज्ञान-मालूम नही होता है, ग्रन्थान्तरमे **(तथाचोक्तम्)** ऐसा ही कहा गया है—

प्रमाणनय निक्षेपा अर्वाचीनपदे स्थिता. ।
केवले च पुनस्तस्मिंस्तदेकं प्रतिभासताम् ॥

अर्थात् अर्वाचीनपद पृथक् पृथक् पद मे स्थित रहने वाले प्रमाण, नय, निक्षेप पृथक्-पृथक् प्रतिभासित हैं किन्तु केवल ज्ञान स्वरूप उस परमात्मज्योति के प्रतिभासित होने पर तो वही एक उत्कृष्ट परमात्मज्योति ही प्रकाशित रहे। अन्य प्रमाण, नय निक्षेप आदि—कोई भी प्रतिभासित न हो।

भावार्थ—यहाँ पर नय, प्रमाण और आदि पद से निक्षेपरूप अर्थ को टीकाकार ने ग्रहण किया है जो प्रकृत अर्थ को प्रकट करने मे पूर्णतया उपयुक्त है उनकी सक्षिप्त परिचयात्मक व्याख्या करना उचित प्रतीत होती है। अत सबसे पहले प्रमाण को लेते है—'प्रमीयते परिच्छिद्यते वस्तु तत्त्वमनेनेतिप्रमाणम्' अर्थात् जिसके द्वारा वस्तु का असली स्वरूप जाना जाय उसे प्रमाण कहते हैं यहाँ प्रमाण पद से वह ज्ञान समझना चाहिए जो वस्तु के सर्वाङ्ग को पूर्णरीति से जाने। वह प्रमाण ज्ञान दो प्रकार का है—प्रत्यक्ष और परोक्ष। प्रत्यक्षप्रमाण वह ज्ञान है जो पदार्थों को जानने मे स्वाधीन हो इन्द्रिय आदि परपदार्थों की सहायता की अपेक्षा न रखता हो ऐसा प्रमाण दो प्रकार का होता है—

पहला सकल प्रत्यक्षप्रमाण और दूसरा विकल प्रत्यक्षप्रमाण। सकल प्रत्यक्ष प्रमाण वह ज्ञान है जो केवल ज्ञानावरण कर्म के क्षय होने पर प्रकट होता है जिसे केवलज्ञान, अनन्तज्ञान, क्षायिकज्ञान, अविनाशीज्ञान, असहायज्ञान आदि अनेक नामो से पुकारते हैं यह ज्ञान त्रिलोक-त्रिकालवर्ती चराचर अनन्तानन्त पदार्थों के अनन्तानन्त गुण और उनकी अनन्तानन्त पर्यायो को युगपत् एक साथ एक ही काल मे जानता है यह ज्ञान सकलप्रत्यक्ष प्रमाण है। विकल प्रत्यक्ष प्रणाण मे दो ज्ञान लिए जाते हैं एक अवधिज्ञान और दूसरा मन पर्ययज्ञान। पहला अवधिज्ञान द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की सहायता से रूपीपदार्थ-पुद्गल तत्त्व को जानता है इसमे इन्द्रिय आदि परपदार्थ की सहायता की अपेक्षा नही रहती यह तो आत्म सापेक्ष ज्ञान है लेकिन है विकल क्योकि यह अवधिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम के अधीन है। दूसरा विकल-प्रत्यक्षप्रमाण मन पर्यय ज्ञान है यह भी इन्द्रिय आदि परपदार्थ की सहायता की अपेक्षा तो नही रखता लेकिन फिर भी अन्य के मन मे स्थित पदार्थों को ही जानता है अन्य को नही, यह भी मन पर्यय ज्ञाना-वरण कर्म के क्षयोपशम के ऊपर अवलम्बित है अतएव विकलप्रत्यक्ष है। दोनो ही ज्ञान सीमित पदार्थ को ही जानते है सब को नही इसलिए भी विकल प्रत्यक्ष है।

परोक्ष प्रमाण वह ज्ञान है जो पर इन्द्रिय, प्रकाश आदि की सहायता से पदार्थ से मिलकर तथा दूर रहकर पदार्थ को जाने। इस परोक्ष प्रमाण मे दो ज्ञान ग्रहण किये जाते हैं—पहला मतिज्ञान और दूसरा श्रुतज्ञान। मतिज्ञान-मतिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से पाचो इन्द्रियो और मन की सहायता से ही पदार्थ को जानता है अतएव पराश्रित होने से परोक्ष प्रमाण है।

दूसरा श्रुतज्ञान है जो श्रुतज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से प्रकट होता है यह भी मतिज्ञान पूर्वक होता है अर्थात् मतिज्ञान से जाने हुए पदार्थ की विशेषता को जानता है अतएव परावलम्बी है इसलिए परोक्ष है। दोनो ज्ञान अपने-अपने आवरण के क्षयोपशम के रहते हुए भी बाह्य इन्द्रिय आदि की निर्मलता, सुष्ठता, सबलता आदि पर निर्भर है यदि ये सब ठीक है तो वे ज्ञान अपना-अपना काम करने मे पूर्णतया सजग, सक्रिय और सफल हो सकते है अन्यथा नही। बस यही इनकी पराश्रिता है जो प्रत्येक ज्ञानी के अपने ही अनुभवगम्य है।

ये दोनो ही प्रमाण जब प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय के भेद को लिये हुए होते है तब सत्यार्थ है भूतार्थ है और जब प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय को गौणकर मात्र आत्मस्वरूप के अनुभव मे ही तन्मय हो जाते हैं तब अभूतार्थ-असत्यार्थ है यह अध्यात्म तत्त्व की एकदृष्टि है।

प्रमाण के द्वारा जाने हुए पदार्थ के किसी एक अश को जानने वाले ज्ञान को नय कहते है वह नय द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक के भेद से दो प्रकार का होता है।

पहला द्रव्यार्थिक नय—द्रव्य-सामान्य को जानने वाले नय ज्ञान को द्रव्यार्थिकनय कहते है। तात्पर्य यह है कि प्रत्येक पदार्थ सामान्य और विशेष रूप होता है। उनमे जो सामान्याश को मुख्यता से जाने वह द्रव्यार्थिक नय है।

दूसरा पर्यायार्थिक नय—जो पर्याय-विशेष को जाने वह पर्यायार्थिक नय है। यह नय द्रव्य सामान्य को गौण रखकर विशेष-पर्याय को ही मुख्यता से जानता है ये दोनो नय जब भेदरूप से अपने-अपने विषय का ग्रहण करते है तब भूतार्थ-सत्यार्थ है। और जब अभेदरूप से एकमात्र आत्मा को ही ग्रहण किया जाता है तब अभूतार्थ असत्यार्थ है। अध्यात्म दृष्टि मे एकमात्र आत्मानुभव की ही प्रधानता होती है उसमे पर की ओर से पूर्ण विमुखता वरती जाती है इतना ही नही प्रत्युत् अखण्ड द्रव्य के खण्डो से भी पराङ्मुख रहकर एकमात्र शुद्ध चैतन्यमय अखण्ड तत्त्व का ही अनुभव होता है जो वस्तुत सत्यार्थ-यथार्थ है।

निक्षेप—लोक व्यवहार मे सामञ्जस्य स्थापित करने के लिये युक्तियोजना के साथ किसी प्रयोजनीभूत कार्य को सुचारु रूप से चलाने के हेतु द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के अनुसार नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव मे पदार्थ के स्थापन को निक्षेप कहते है। वह निक्षेप नामनिक्षेप, स्थापनानिक्षेप, द्रव्य-निक्षेप और भावनिक्षेप के भेद से चार प्रकार का होता है —

नाम निक्षेप—जिसमे जो गुण नही है उसको उस नाम से कहना नामनिक्षेप है।

स्थापना निक्षेप—किसी अन्य पदार्थ मे अन्य पदार्थ की तदाकार या अतदाकाररूप से स्थापना करने को स्थापनानिक्षेप कहते है।

द्रव्य निक्षेप—किसी विवक्षित वस्तु की अतीत-भूत और अनागत-भविष्यत् पर्याय को वर्तमान मे कहना द्रव्यनिक्षेप है।

भावनिक्षेप—किसी विवक्षित वस्तु की वर्तमान-हो रही-पर्याय को कहना भावनिक्षेप है। ये सभी निक्षेप अपने-अपने लक्षण के अनुसार लक्ष्यभूत वस्तु का जब अनुभव करते है तब वे सभी भूतार्थ-सत्यार्थ हैं लेकिन जब मात्र चैतन्यचमत्कारपूर्ण आत्मा की अनुभूति मे ही निमग्न होते है तब वे ही अभूतार्थ-असत्यार्थ हो जाते है।

ये नय-निक्षेपादि वस्तु को समझने मे जरूरी है इसलिए जब वस्तु को समझना होता है तब ये सब अपने-अपने विषय का परिपादन करते हुए सत्मार्ग है परन्तु जब आत्म अनुभव किया जाता है उस समय नयादिक का विकल्प भी आत्म अनुभव मे बाधक हो जाता है, इसलिए आत्म अनुभव के समय ये नयादिक जो तत्त्व को समझने की अवस्था मे प्रयोजनभूत थे वे ही बाधक हो जाते हैं इसलिए स्वभाव की दृष्टि मे सभी प्रकार के विकल्प असत्यार्थ और अभूतार्थ कहे गये है।

अब आत्मा के स्वभाव को प्रकाशित करने वाले शुद्ध नय का विवेचन करते हैं—

आत्मस्वभावं परभावभिन्नमापूर्णमाद्यन्त विमुक्तमेकम्।
विलीन सङ्कल्प विकल्पजालं प्रकाशयन् शुद्धनयोऽभ्युदेति ॥१०॥

अन्वयार्थ—**परभावभिन्नम्)** परभावो से भिन्न-परपदार्थों से उनके गुण एव पर्यायो से सर्वथा जुदे (**आपूर्णम्**) परिपूर्ण-समस्त लोक और अलोक को जानने वाले ज्ञान से भरपूर (**आद्यन्तविमुक्तम्**)

आदि और अन्त से रहित-किसी के द्वारा उत्पत्ति और विनाश को प्राप्त नहीं होने वाले (**एकम्**) अद्वितीय-समस्त भेद भावो से रहित एक रूप रहने वाले (**विलीन सङ्कल्प विकल्प जालम्**) शरीर आदि मे आत्मत्व की बुद्धि स्वरूप सङ्कल्प से तथा बाह्य पदार्थों मे इष्ट अनिष्टरूप विकल्पो से रहित (**आत्मस्वभावम्**) आत्मा के स्वभाव को (**प्रकाशयन्**) प्रकाशित करता हुआ (**शुद्धनयः**) शुद्ध नय (**अभ्युदेति**) सर्व प्रकार से उदय को प्राप्त होता है।

सं० टी०—(**अभ्युदेति-उदयं गच्छति**) उदय को प्राप्त करता है (**कोऽसौ**) कौन (**शुद्धनयः-शुद्धपरात्मग्राहक द्रव्यार्थिकः**) शुद्धनय-शुद्ध परमात्मद्रव्य को ग्रहण करने वाला द्रव्यार्थिक नय (**किं कुर्वन्**) क्या करता हुआ ? (**प्रकाशयन्-व्यक्तीकुर्वन्**) व्यक्त करता हुआ (**किम् ?**) किसे ? (**तम्**) उस (**आत्मस्वभावम्-शुद्धचिद्रूपस्वरूप**) शुद्धचैतन्यस्वरूप को (**कीदृश तम्-**) कैसे ? (**परभावभिन्न-परे चतेभावाश्च परभावाः-स्वात्मान्यपदार्थाः अथवा परेषां-अचेतनादीना भावाः स्वभावाः तैर्भिन्नम्**) आत्मा और आत्मा से भिन्न पदार्थ अर्थात् निज आत्मा से अन्य सभी चेतन अचेतन पदार्थ उनसे जुदे अथवा आत्मा से भिन्न अचेतन आदि पदार्थों के स्वभाव से पृथक् (**भूयः कीदृशम्**) फिर कैसे (**आपूर्णम्-आ-अतिशयेन परिपूर्णम्**) अतिशय रूप से परिपूर्ण (**ज्ञानाद्यनन्तगुणपूर्णत्वात्तस्य**) क्योकि आत्मा ज्ञानादि गुणो से भरपूर है। (**पुनः किम्भूतम्**) फिर कैसे (**आद्यन्तविमुक्तम्-अनादिनिधनमित्यर्थः**) आदि और अन्त से रहित अर्थात् अनादि निधन (**पुनः कीदृशम्**) फिर कैसे (**एकम्-अद्वैतम्**) अद्वैत-अद्वितीय (**अखण्डद्रव्यत्वात्**) क्योकि आत्मा एक अखण्ड द्रव्य है (**पुनः कीदृशम्**) फिर कैसे (**विलीनसङ्कल्प विकल्पजालम्-परद्रव्येममेदमितिमतिः सङ्कल्पः, अहं सुखी दुःखीत्यादिमतिः विकल्पः, सङ्कल्पश्च विकल्पश्च सङ्कल्पविकल्पौ विलीनं सङ्कल्पविकल्पयोर्जालं समूहो यस्यतम्**) शरीरादि परद्रव्य मे 'यह मेरा है' इस प्रकार के विचार का नाम सङ्कल्प और मैं सुखी हूँ, मैं दुखी हूँ इस तरह के चिन्तन का नाम विकल्प है ये दोनो प्रकार के सङ्कल्प और विकल्पो के समूह जिसके नही है, ऐसे।

भावार्थ—यहाँ निश्चयदृष्टिसे आत्मा के स्वरूप को बताया गया है जिस रूप ज्ञानी अपने आपको अनुभव करता है। हरेक वस्तु द्रव्य क्षेत्र काल भाव को लिए हुए है। यहा आत्मा का चारो तरह से वर्णन किया गया है। यह आत्मा द्रव्य की अपेक्षा-परभावो से भिन्न और निज चैतन्यभाव से अभिन्न है। क्षेत्र की अपेक्षा अपने गुण पर्यायो मे व्याप्त है। काल की अपेक्षा जिसका न आदि है न अन्त है। भाव की अपेक्षा सकल्प और विकल्प जाल से रहित ज्ञान मात्र है। सकल्प कहते है पर मे अपनेपन को और विकल्प कहते हैं मै सुखी हूँ, मैं दुखी हूँ आदि को। इस प्रकार शुद्ध नय के द्वारा वस्तु का प्रकाशन होता है। वह आत्मद्रव्य कैसा है एक-अकेला है। यह वस्तुस्वरूप है। हरेक वस्तु अपनी सत्ता को छोडकर पररूप नही हो सकती। अपने गुणो से अभिन्न अपने गुणपर्याय मे व्याप्त और आदि अन्त से रहित चैतन्यमात्र ऐसा आत्मा का स्वभाव है जो शुद्ध नय का विषय है।

अब आत्मानुभव की प्रेरणा करते है।—

नहिविदधतिबद्धस्पृष्टभावाद्योऽमी स्फुटमुपरितरन्तोऽप्येत्य यत्र प्रतिष्ठाम् ।
अनुभवतु तमेव द्योतमानं समन्ताज्जगदपगतमोहीभूय सम्यक्स्वभावम् ॥११॥

अन्वयार्थ—**(यत्र)** जिस शुद्ध आत्मा मे **(अमी)** ये **(बद्धस्पृष्टभावादयः)** बद्धभाव-कर्मबन्धन से युक्त बन्धपर्याय तथा स्पृष्टभाव—कर्म परमाणुओ के स्पर्श से युक्त स्पर्शपर्याय आदि अनेक पर्याये **(उपरि)** ऊपर २ **(स्फुटम्)** प्रकटरूप से **(तरन्तः)** तैरती-चलती हुईं **(अपि)** भी **(एत्य प्रतिष्ठाम्)** प्रतिष्ठा को **(ति)** निश्चय से **(न)** नही **(विदधति)** पाती । **(जगत्)** हे ससारी प्राणियो **(अपगतमोहीभूय)** मोहनीय कर्म से रहित होकर अर्थात् मोहनीय कर्म का मूलोच्छेद करके अर्थात् पर से एकत्व बुद्धि छोड कर **(समन्तात्)** सब तरफ से **(द्योतमानम्)** प्रकाशमान **(तम्)** उस **(सम्यक्)** समीचीन-सत्य-यथार्थ **(स्वभावम्)** टकोत्कीर्ण चैतन्य ज्ञानघन स्वभाव को **(एव)** ही **(अनुभवतु)** अनुभव मे लाओ ।

सं० टीका—**(भो जगत्- भोजगन्निवासीलोक ?)** हे जगत् मे रहने वाले मनुष्यो ? **(आधारे-आधेयस्योपचारः,)** यहा आधार मे आधेय का उपचार-व्यवहार किया गया है अर्थात्—जगत को ही मनुष्य कह दिया गया जब कि जगत् खुद मनुष्य नही है किन्तु मनुष्य के रहने का ठिकाना है यही आधेय-मनुष्य का आधारभूत जगत मे उपचार किया गया है । **(लोकोवितरपीदृशीऽस्ति)** लोकव्यबहार भी ऐसा ही है । जैसे—**(मालवो देश. समागतोऽत्र, इत्युक्ते तत्रत्याभूमिर्नागता किन्तु तत्रत्यो लोकः)** यहाँ मालव देश आया है ऐसा कहने पर मालव देश की जमीन नही आई किन्तु उसमे रहने वाला मनुष्य आया है। **(तथा)** तैसे **(जगदित्युक्ते जगन्निवासिलोक.)** जगत् ऐसा कहने पर उसमे रहने वाला मनुष्य । **(अनभवतु—अनुभवगोचरीकरोतु,)** अनुभव करो या अनुभव का विषय बनाओ । **(कम्)** किसको **(तमेव-स्वभावम्)** उसी आत्मा के स्वभाव को **(शुद्धनिश्चयनयोक्तत्वात्, यथोक्तस्वभावम्)** जो शुद्ध निश्चय-नय से कहा गया है अतएव यथार्थ है । **(अथवा स्वभाव-स्वपदार्थं स्वशुद्धचिद्रूपमित्यर्थः)** आत्म पदार्थ को को जो शुद्ध चैतन्यमय है । **(सम्यक्-यथोक्ततया)** यथोक्तरूप से जिस रूप मे कहा गया है उस रूप से **(किम्भूतम् ?)** कैसे **(समन्तात्-सामस्त्येन)** समस्त रूप से—सब प्रकार से । **(द्योतमानम्-लोकप्रकाशमानम्)** लोक मे प्रकाशमान । **(किं-कृत्वा)** क्या करके **(अपगत मोहीभूय-अपगतमोहोभूत्वा-विनष्टमोहोभूत्वेत्यर्थः)** मोहनीय कर्म से रहित होकर—मोहनीय कर्म का विनाश करके **(यत्र-आत्मनि)** आत्मा मे **(अमी)** ये **(बद्धस्पृष्टभावादयः बद्धः—कर्म नोकर्मभ्या सश्लेषरूपेणबन्धेनबद्धः, स्पृष्टः—विस्रसोपचयादिपरमाणुभि अन्यैश्च सयोगमात्रतया स्पृष्ट., बद्धश्चस्पृष्टश्च-बद्ध स्पृष्टौ तौ च तौ भावौ तावेवादिर्येषामन्ययुतादीनाञ्च ते च ते भावास्यते तथोक्ता.)** कर्म और नोकर्म के साथ सश्लेषरूप बन्ध से बद्ध और विस्रसोपचयादिरूप परमाणुओ से तथा अन्य परमाणुओ से सयोगमात्र होने के कारण स्पृष्ट ऐसे बद्धस्पृष्ट भाव तथा अन्य युत आदि भाव **(एत्य-आगत्य प्राप्येत्यर्थ)** प्राप्त करके **(प्रतिष्ठां-स्थितिं-माहात्म्यं वा)** अवस्थान या महत्व को **(नहिविदधति-नैवदधते)** नही करते **(स्फुट व्यक्तं-यथाभवतितथा)** स्पष्ट-व्यक्तरूप से **(उपरि)** ऊपर

(सर्वतः तरन्तोऽपि-सर्वत. उत्कृष्टाभवन्तोऽपि व्यवहारदृष्ट्या दृश्यमाना अपि व्यवहारिभिः कथ्यमाना अपोत्यर्थः) सबसे उत्कृष्ट हाते हुए भी व्यवहार दृष्टि से दिखाई देने वाले अर्थात् व्यवहारियो के द्वारा कहे जाने वाले । **(उक्तञ्च)** कहा भी है—

अस्पृष्टमबद्धमनन्य-मयुतमवशेषमविभ्रमोपेतः ।
यः पश्यत्यात्मानं स पुमान् खलु शुद्धनयनिष्ठः ॥

अर्थात्—**(यः)** जो **(पुमान्)** पुरुष **(आत्मानम्)** आत्मा को **(अस्पृष्टम्)** अस्पृष्ट—कर्म परमाणुओ से छुआ नहो गया **(अबद्धम्)** कर्म और नोकर्मों से बधा हुआ नही **(अनन्यम्)** अन्य वस्तु से शून्य **(अयुतम्)** अन्य पदार्थ से मिला हुआ नहो **(अवशेषम्)** अवशेष-परिपूर्ण **(अविभ्रमोपेतः)** विपर्यय ज्ञान से रहित **(पश्यति)** देखता है **(स.)** वह मनुष्य **(खलु)** निश्चय से **(शुद्धनयनिष्ठः)** शुद्धनय के स्वरूप मे स्थित है ।

भावार्थ—जो ज्ञानो पुरुष आत्मतत्त्व को अस्पृष्ट-कर्मों से अछूता, अबद्ध-कर्मों से नही बधा हुआ, अनन्य—आत्मा से भिन्न किसी भी चेतन और अचेतन पदार्थ से रहित, अयुत –परपदार्थ के मेल से रहित, और अशेष-परिपूर्ण—इन पाच विशेषणो से विशिष्ट देखता है, जानता है और अनुभव मे लाता है वही निश्चय से ज्ञानी पुरुष कहलाता है ।

शरीरादि मे एकत्व बुद्धि छोडकर एक अकेले चैतन्य स्वभाव का अपने रूप से अनुभव करने की आचार्य प्रेरणा करते है । रागादि भाव होते हुए भो वे आत्मा के स्वभाव मे प्रवेश नही कर सकते । जैसे किसी के घर मे उसके अपने लोग भो रहते हैं और कुछ लोग वाहर के आये हुये भी ठहरे हुए है वहा दो विकल्प उठते है कि घर मे कितने लोग है, उस समय सबको गिनतो हो जाती है परन्तु जव यह कहा जाता है कि इस घर मे घर के लोग कितने हैं तब जो बाहर वाले है उनको बाद देकर मात्र घर वालो को ले लिया जाता है । जब हम बाहर वालो को घर वालो की गिनती मे नही लेते और कहते है ये हमारे घर के नहो हैं तब उनका महत्व खत्म हो जाता है । इसी प्रकार यह देखना है कि घर मे कितने है और घर के कितने हैं । यहा पर आचार्य घर के कितने हैं इसको बताना चाहते है । यही दृष्टि यदि आत्मतत्व पर डाली जाती है तो घर के तो मात्र ज्ञान-दर्शन स्वभाव ही है बाकी रागादि शरीरादि सव वाहर से आये हुए है वे घर के नही हो सकते है । इसलिए बाहर वालो को बाद देकर जो घर के वचे ज्ञान-दर्शन उनको अभेद करके एक अकेली आत्मा का अवलोकन करना है जो सदा प्रकाशमान है ।

अव वन्ध के विच्छेद पूर्वक आत्मस्वरूप का प्रकाश होता है यह बताते है—

भूतं भान्तमभूतमेवरभसान्निर्भिद्यबन्धं सुधी-
र्यद्यन्तः किल कोऽप्यहो कलयति व्याहत्य मोहं हठात् ।
आत्मात्मानुभवैकगम्यमहिमा व्यक्तोऽयमास्तेध्रुवं,
नित्यं कर्मकलङ्कपङ्क विकलो देवः स्वयं शाश्वतः ॥१२॥

अन्वयार्थ— **(यः)** जो **(कः)** कोई **(अपि)** भी **(सुधीः)** ज्ञानी सम्यग्दृष्टि **(भूतम्)** हो चुके **(भान्तम्)** हो रहे और **(अभूतम्)** आगे होने वाले **(बन्धम्)** बन्ध को **(रभसा)** शीघ्र ही, **(निभिद्य)** आत्मा से पृथक् कर देता है वह **(हठात्)** बल पूर्वक-अपने पुरुषार्थ से **(मोहम्)** मोहनीय कर्म को **(व्याहत्य)** नाश करके **(किल)** आगमानुसार **(यदि)** यदि **(अन्तः)** आत्मा को आत्मा मे **(अहो)** निश्चय से **(कलयति)** मिला देता है **(तर्हि)** तो **(अयम्)** यह **(आत्मा)** आत्मा **(आत्मानुभवैक गम्य-महिमा)** अपने अनुभव के द्वारा ही अपनी महिमा को जानता है कि एक **(व्यक्तः)** सर्व से पृथक् **(नित्यम्)** हमेशा **(कर्मकलङ्कपङ्कविकल·)** कर्ममलरूप कर्दम से रहित **(स्वयम्)** खुद-व-खुद **(ध्रुवम्)** निश्चय से **(शाश्वतः)** अविनाशी **(देव.)** देव **(आस्ते)** विराजमान है।

सं० टीका—**(किल-इति-आगमोक्तौ)** किल यह आगम का वाचक अव्यय है **(अहो इति आश्चर्ये)** अहो यह आश्चर्य का वाचक अव्यय है **(यदि)** यदि-अगर **(कोऽपि)** कोई भी **(सुधीः धीमान्)** बुद्धि-मान्-आत्मज्ञानी **(अन्तः-अभ्यन्तरे-शुद्धचिद्रूपम्)** अन्तरङ्ग मे शुद्धचिद्रूप को **(कलयति-अनुभवति-अवलोक-यति-साक्षात्करोतीत्यर्थः)** अनुभव करता है अवलोकन करता है अर्थात् प्रत्यक्ष करता है **(व्याहत्य-निश्शेषमुन्मूल्य)** पूर्णरूप से उन्मूलन—विनाश करके **(कम् ?)** किसका **(मोह—अष्टविंशति प्रकृतिभेद-भिन्नं मोहनीय कर्म)** अट्ठाईस प्रकार के मोहनीय कर्म का **(कथम् ?)** कैसे **(हठात्—बलात्कारेण तपो-ध्यानादिभि.)** हठ से—अनशन आदि बाह्य तपो तथा प्रायश्चित्त आदि ध्यानान्त अन्तरङ्ग तपो के बल से **(पुन· किंकृत्य)** फिर क्या करके **(निर्भिद्य—निश्शेषं भेदयित्वा)** पूर्णरूप से भेदन करके **(कम्)** किसका **(बन्धम्—प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशलक्षण चतुर्धाकर्मबन्धम्)** प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश लक्षण वाले चार प्रकार के कर्म बन्ध का **(कथम्)** कैसे **(रभसा शीघ्र-शुक्लध्यानावाप्त्यनन्तरम्-अन्तर्मुहूर्ततः)** शीघ्र ही शुक्लध्यान की प्राप्ति के अन्तर्मुहूर्तवाद **(कीदृश बन्धम्)** कैसे बन्ध का **(भूत-पूर्वं-संसारावस्थाया समयप्रबद्धस्वरूपेणबद्ध निर्जरावशान्निर्जीर्य)** भूत—पहले ससार अवस्था मे समय प्रवद्ध के रूप से बाधे गये कर्मों को निर्जरा के वश से निजीर्ण करके, झडा करके **(भान्तम् वर्तमानम्—योगादिभिरागमकर्मसमय-प्रबद्धं, अन्तः संवर वशान्निरुद्धय)** वर्तमान मे योग आदि के जरिये आने वाले समयप्रबद्ध के प्रमाण कर्मों को अन्तरङ्ग मे सवर के वश से रोक करके **(अभूत-अनागतं-अग्रेबध्यमान निरुद्धय)** आगे बधने वाले कर्मों को रोक करके **(तत्कारणयोगकषायाणामभावात्)** आने वाले कर्मों के कारणभूत योग और कषायो के अभाव से **(कारणाभावे कार्यस्याप्यभावादितिन्यायात्)** कारण का अभाव होने पर कार्य का भी अभाव होता है ऐसा न्याय होने के कारण **(एव-निश्चयेन)** निश्चय से **(तदिति-अध्याहार्यम्)** तत् शब्द का समा-वेश कर लेना चाहिए।

(अय-प्रत्यक्षीभूतः) यह-प्रत्यक्ष मे आ रहा **(आत्मा-शुद्धचिद्रूप.)** आत्मा शुद्ध चैतन्यमय जीव **(व्यक्तः-साक्षात्-अनन्तचतुष्टयापन्न.)** व्यक्त साक्षात् अनन्तचतुष्टय-अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्त सुख और अनन्तशक्ति को प्राप्त हुआ **(ध्रुवम्-निश्चितम्)** अटल निश्चित **(आस्ते-तिष्ठति)** है **(कीदृशः ?)**

कैसा (आत्मात्मानुभवैकगम्यमहिमा-आत्मनश्चित्स्वरूपस्य, अनुभवः तन एकः अद्वितीयः-गम्यः-ज्ञेयः महिमा माहात्म्यं यस्य सः) चैतन्यस्वरूप आत्मा के अनुभव से जानने योग्य असाधारण महिमा वाला। (नित्यं-सदैव-परमावस्थायाम्) हमेशा—परमात्मदशा मे (कर्मकलंकपंक विकलः कर्म एव कलंकपंकः संसारस्य कालंकृय हेतुत्वात् तेन विकलः रहितः) कर्मरूप कलङ्कपङ्क ही संसाररूप कलङ्क का कारण है अतएव उससे रहित (पुनः किम्भूतः ?) फिर कैसा ? (देवः —दीव्यति-क्रीड़ति-एकलोलीभावमनुगच्छति-परमात्मपदे—द्योतते वा देवः) देव—जो आत्मस्वरूप मे ही क्रीडा करता है अर्थात् तन्मयता को प्राप्त होता है अथवा जो परमात्मपद मे प्रकाशमान है। (स्वयं कर्माद्यनपेक्षत्वेन शाश्वतः नित्यः) जो स्वभावत कर्मादि की अपेक्षा न रखने से शाश्वत-नित्य है।

भावार्थ—वस्तुतत्त्व दो दृष्टियों से देखा जाता है। पहली निश्चयदृष्टि और दूसरी व्यवहारदृष्टि। निश्चयदृष्टि से वस्तु का जो खासरूप होता है वही देखा जाता है उसमे अन्य का लगाव नही रहता। प्रकृत में उसी दृष्टि को मुख्य रखकर आत्मनिरीक्षण किया गया है जिसमे यह बताया गया है कि आत्मा कर्म की तमाम उपाधियो से रहित नित्य अविनाशी चैतन्य का अखण्डपिण्ड है। अपने द्वारा ही अनुभव मे आने वाला साक्षात देव है। मात्र चैतन्य के सिवाय इसमे अन्य किसी भी चेतन या अचेतन का सम्बन्ध नही है। यह अन्तर्मुखी दृष्टि ही निश्चयदृष्टि है इसी का दूसरा नाम शुद्धदृष्टि या द्रव्यदृष्टि है। व्यवहार दृष्टि इससे भिन्न है, बहिर्मुखी है, पराश्रित है। वह वस्तु के यथार्थ रूप को नही देखती। ऐसी बहिर्मुखी दृष्टि से आत्मदर्शन सम्भव नही है यह जानकर बुद्धिमान् का कर्तव्य है कि वह बहिर्मुखी दृष्टि को छोडकर अन्तर्मुखी दृष्टि को अपनावे जिससे वह आत्मदर्शन करने मे समर्थ हो सके।

अब आत्मानुभूति का समर्थन करते है—

आत्मानुभूतिरितिशुद्धनयात्मिका या ज्ञानानुभूतिरियमेव किलेतिबुद्ध्वा।
आत्मानमात्मनि निवेश्य सुनिःप्रकम्प मेकोऽस्तु नित्यमवबोधघनः समन्तात् ॥१३॥

अन्वयार्थ—(इति) पूर्वोक्त प्रकार से (या) जो (शुद्धनयात्मिका) शुद्धनयस्वरूप (आत्मानुभूतिः) आत्मा का अनुभव (अस्ति) है (इयम्) यह (एव) ही (ज्ञानानुभूतिः) ज्ञान का अनुभव है (इति) ऐसा (किल) निश्चय से (बुद्ध्वा) जानकर (आत्मानम्) आत्मा-अपने-को (आत्मनि-) आत्मा-अपने-मे (सुनिः-प्रकम्पम्) पूर्ण निश्चलता के साथ (निवेश्य) स्थापित-लगा-करके (नित्यम्) सदा-हमेशा—(समन्तात्) सब तरफ से (अवबोधघन.) ज्ञानघनस्वरूप (एकः) अद्वितीय (आत्मा) आत्मा (अस्ति) है (एवम्) ऐसा (दृश्येत) देखना चाहिए।

सं० टी०—(किल-इति-निश्चितम्) किल यह निश्चित अर्थ का वाचक अव्यय है। (इति-पूर्वोक्त-प्रकारेण) पूर्व मे कहे अनुसार (शुद्धनयात्मिका-शुद्धनय एव आत्मा-स्वरूपं यस्याः सा) शुद्धनय ही जिसका स्वरूप है ऐसी (या) जो (आत्मानुभतिः-आत्मनः चैतन्यस्य, अनुभूतिः-अनुभवः-उपलब्धिर्वा) शुद्ध आत्मा के

स्वरूप की उपलब्धि (**पारमार्थिकी आत्मोपलब्धिरित्यर्थः**) अर्थात् आत्मा के असली स्वरूप की प्राप्ति (**अस्ति-वर्तते**) है (**इयमेव-आत्मानुभूतिरेव**) यह आत्मा की अनुभूति ही (**ज्ञानानुभूतिः ज्ञानस्य-सम्यगवबोधस्य, अनुभूतिः अनुभवः-उपलब्धिर्वा**) सम्यग्ज्ञान की उपलब्धि-प्राप्ति (**अस्ति**) है (**इति-इत्थम्**) ऐसा (**बुद्ध्वा-मत्वा**) जानकर या मानकर (**एकः-अद्वितीयः**) अद्वितीय (**समन्तात्-सामस्त्येन**) पूर्णरूप से—सब ओर से (**किम्भूत.**) कैसा (**नित्यं-निरन्तरम्**) निरन्तर-सदा-हमेशा (**अववोधघन -केवलज्ञान पिण्ड.**) मात्र ज्ञान का समूहरूप (**किं कृत्वैकोऽस्ति**) क्या करके-एक है ? (**निवेश्य-आरोप्य**) आरोपण स्थापन-करके (**सुनिष्प्रकम्पम्-अविचलं यथाभवति तथा**) अविचल-स्थिर जैसे बने वैसे (**आत्मनि-स्वस्वरूपे**) अपने स्वरुप मे (**आत्मानम्-स्वस्वभावम्**) अपने स्वभाव को देखो ।

भावार्थ – जैसे शरीरादि परद्रव्यो से पृथक् आत्मा के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहते हैं वैसे ही सम्यग्दर्शन के विषयभूत आत्मा के ज्ञान को सम्यग्ज्ञान कहते हैं यह तो मात्र सम्यग्दर्शन एव सम्यग्ज्ञान की परिभाषाए हैं जो अपने-अपने विषय का सक्षिप्त परिचय उपस्थित करती हैं । यहा अध्यात्मदृष्टि को मुख्य मानकर सम्यग्दर्शन एव सम्यग्ज्ञान का विचार किया गया है जिसकी खास विशेषता यह है कि जब सम्यग्दर्शन सर्वात्म व्यापक है तब सम्यग्ज्ञान भी वैसा ही आत्मा के सर्वप्रदेशो मे व्यापकरूप से रहता है वही सम्यग्ज्ञान ही आत्मा है और ऐसी आत्मा की अनुभूति ही ज्ञानानुभूति है जो सम्यग्ज्ञान के लक्षण से लक्षित है यही सम्यग्ज्ञान अध्यात्म ज्ञानियो का सम्यग्ज्ञान है । इसमे और केवलज्ञान मे मात्र पूर्णता तथा अपूर्णता का ही अन्तर है अन्य कुछ नही ।

अब परमात्मा के स्वरूप की प्राप्ति हमारे हो—यह प्रकट करते हैं—

अखण्डितमनाकुलं ज्वलदनन्तमन्तर्बहिर्महः परममस्तु नः सहजमुद्विलासं सदा ।
चिदुच्छ्वलन्निर्भरं सकलकालमालम्बते यदेकरसमुल्लसल्लवणखिल्यलीलायितम् ॥१४॥

अन्वयार्थ—(**यत्**) जो (**अखण्डितम्**) खण्ड रहित ज्ञेयो के द्वारा जिसका **खण्ड** नही किया जा सकता हो (**अनाकुलम्**) आकुलता रहित (**अनन्तम्**) अनन्त-विनाश-रहित (**अन्तर्बहिः**) अन्तरङ्ग और वाहिर मे (**ज्वलत्**) प्रकाशमान (**सहजम्**) स्वाभाविक स्वभाव से उत्पन्न (**सदा**) सर्वदा-हमेशा (**उद्विलासम्**) उदीयमान सुखवाला (**चिदुच्छ्वलन् निर्भरम्**) चैतन्य के परिणमन से भरपूर (**सकलकालम्**) भूत भविष्यत् और वर्तमान काल मे (**उल्लसल्लवण खिल्य लीलायितम्**) शोभमान नमक की डली की लीला के समान विस्तृत या व्याप्त (**परमम्**) सर्वश्रेष्ठ (**मह.**) तेज (**एकरसम्**) शुद्ध परमात्मरूप रस का (**आलम्बते**) आलम्बन करता है (**तत्**) वह—उत्कृष्ट परमात्म तेज (**न.**) हमे (**सदा**) सदा (**अस्तु**) प्राप्त हो ।

स० टी०—(**अस्तु-भवतु**) हो (**कि तत् ?**) वह क्या ? (**परमं महः जगदुत्कृष्टज्योतिः जगत्प्रकाशकत्वात्**) जगत मे वह उत्कृष्ट तेज जो जगत् को प्रकाशित करने मे कारण है (**केषाम् ?**) किनके (**नः-अस्माकम्**) हमारे (**किं भूतम् ?**) कैसा ? (**अखण्डितम्-न खण्डित-अध्वस्तम्-केनापि प्रमाणेन कैश्चिद्विवादि-**

भिस्ततस्वरूपस्य खण्डयितुमशक्यत्वात्) खण्डित नही किया गया अर्थात् किसी भी प्रमाण से किन्ही विवादियो के द्वारा जिसका स्वरूप खण्डित नही किया जा सकता। जिनेन्द्रदेव के द्वारा कहा गया सूक्ष्म वस्तु का स्वरूप हेतुओं के द्वारा खण्डित नही हो सकता ऐसा आगम का वचन है। (**अनाकुलं न केनापि-व्यकुलीकृतं तत्स्वरूपस्यकेनापि पुद्गलादि संयोगेनास्पृष्टत्वात् जलेनविशनीपत्रवत्**) आकुलता रहित अर्थात् तथाकथित तेज का स्वरूप किसी के भी जरिए पीडित नही हुआ है साथ ही किसी पुद्गल आदि सयोग से छुआ भी नही है जल से कमलिनी के पत्र के समान अर्थात् जैसे जल मे रहने वाला कमलिनी का पत्र स्वभाव से जल से स्पर्श नही होता वैसे ही आत्मिक तेज पुद्गलादि के सयोग से सयुक्त नही होता। (**भूय. किम्भूतम् ?**) फिर कैसा ? (**अनन्तं-न विद्यते, अन्तो विनाशो यस्यतत्, तद्गुणाविर्भाविन, विनाश-रहितत्वात्**) अनन्त-विनाश रहित क्योकि वह तेज जो अपने आवरणभूतकर्म के हटने पर प्रकट हुआ है उसका विनाश नही होता। (**अन्तः-अभ्यन्तरे**) भीतर (**बाह्य**) बाहिर (**ज्वलत्-देदीप्यमानम् बहिरन्तः स्वरूप प्रकाशकत्वात्**) देदीप्यमान-प्रकाशमान अर्थात् यह तेज अन्दर और बाहिर के अपने असली रूप का प्रकाश करता है। (**सहजं-स्वाभाविकं-केनापीश्वरादिनाऽकृत्रिमत्वात्**) स्वाभाविक अर्थात् किसी ईश्वर आदि के द्वारा किया हुआ नही है। (**सदा-निरन्तरम्**) हमेशा (**उद्विलासम्-उत्-ऊर्ध्वं तनुवातवलये विलासः-सुखानुभवनं अथवा उदयमानो विलासो यस्यतत्**) ऊपर तनुवातवलय मे सुखानुभव करने वाला अथवा जिसके सुख का अनुभव हो रहा है (**तत्**) वह (**चिदुच्छवलन् निर्भर-चितः चैतन्यस्य-उच्छ्वलनं तेन निर्भरं-प्रवर्धमानचित्स्वभावत्वात्**) चित् चैतन्य के परिणमनो से व्याप्त क्योकि चैतन्यस्वरूप आत्मा का स्वभाव बढ रहा है (**यत्-परंज्योतिः**) जो उत्कृष्ट परमात्मतेज (**सकलकालम्-पूर्वापरवर्तमानकालम्**) भूत भविष्यत् और वर्तमान मे (**एकरसम् शुद्धपरमात्मरसम्**) शुद्ध परमात्मरस का (**आलम्बते-अवलम्बयति**) आलम्बन करता है—स्वाद लेता है (**किंतत्**) किसके समान (**लवण रसवत्**) लवण रस के समान (**यथैव हि व्यञ्जन लुब्धानामबुद्धानां लोकाना विचित्र व्यञ्जन सयोगोपजातस्य सामान्यविशेषाविर्भावतिरोभावाभ्या-मनुभूयमान लवणं स्वदते, न मुनरन्य सयोग शून्यतोपजात सामान्य विशेषाविभार्वतिरोभावाभ्याम्,**) जैसे व्यञ्जन के लोभी अज्ञानी मनुष्य नाना प्रकार के व्यञ्जनो के सयोग से उत्पन्न सामान्य और विशेष के आविर्भाव तथा तिरोभाव के साथ अनुभव मे आने वाले लवण रस का स्वाद लेते हैं किन्तु अन्य पदार्थ के सयोग के अभाव से उत्पन्न सामान्य और विशेष के आविर्भाव तथा तिरोभाव के साथ नही। (**तथैव ज्ञेय लुब्धानामबुद्धाना विचित्र प्रमेयाकार करवितसामान्य-विशेषातिरोभावाविर्भावाभ्यामनुभूपमान ज्ञानस्दते न पुनरस्तद्रव्यसंयोगशून्यतोपजात सामान्यविशेषाविर्भावतिरोभावाभ्यां ज्ञानिनां-केवल लवणरसिकाना तु तदेकं स्वदते**) वैसे ही ज्ञेय के लोभी अज्ञानी विचित्र प्रमेयो के आकार से युक्त सामान्य और विशेष के आविर्भाव तथा तिरोभाव के साथ अनुभव मे आने वाले ज्ञानका स्वाद लेते हैं किन्तु अन्य के सयोग के अभाव से उत्पन्न हुए सामान्य और विशेष के आविर्भाव तथा तिरोभाव के साथ नही। (**भूयः किम्भूतम् ?**) फिर कैसा (**इतिपदं सर्वत्र विशेषणे योज्यम्,**) यह पद सभी विशेषणो के साथ लगाना चाहिए। (उल्लसदित्यादि –

उल्लसन्-उल्लासं गच्छन्, सचासौ लवणखिल्यश्च लवण खण्डं तस्य लीला, तद्वदायतं-विस्तृतम् ।) उल्लासं को प्राप्त होने वाले लवण के खण्ड-टुकडे को लीला के समान विस्तृत । (**यथा-अलुब्धबुद्धानां केवलः सैन्धवखिल्यः परद्रव्य सम्पर्कराहित्येनैवानुभूयमानः सर्वतोऽप्येक लवणरसत्वाल्लवणत्वेन स्वदते तथात्मापि सकलपरद्रव्य वैकल्येन केवल एव कल्पमानः सर्वतोऽप्य द्वितीय विज्ञानघनत्वाद् बोधत्वेन स्वदते ।**) जैसे निर्लोभी ज्ञानी मनुष्य सिर्फ नमक के टुकडे को परद्रव्य के सम्बन्ध से रहित ही अनुभव करता है क्योकि वह सब तरफ से मात्र लवण रस होने से लवणरूप से ही स्वाद मे आता है वैसे ही आत्मा भी सभी परद्रव्यो के अभाव से मात्र आत्मा रूप मे ही अनुभव मे आता है क्योकि वह सब तरफ से अद्वितीय-असाधारण विज्ञानघन होने से विज्ञान रूप से ही अनुभव मे आता है ।

भावार्थ—टीकाकार ने 'उल्लसल्लवण खिल्यलीलायितम्' विशेषण को जिस विस्तार के साथ खुलासा किया है वह वस्तुत' प्रकृत विषय को दर्पण की तरह स्पष्ट झलका देता है। उन्होने अज्ञानी और ज्ञानी की नैसर्गिक प्रवृत्ति को ही प्रकट करने मे लवण की डली को उदाहरण रूप से प्रस्तुत किया है। वे कहते है कि अज्ञानी स्वाद का लोभी नाना व्यञ्जनो के सयोग से बनने वाले स्वाद को जो विविध व्यञ्जनो के सयोग से उत्पन्न हुआ है उन विविध व्यञ्जनो के स्वाद की तरफ दृष्टि न रखते हुए मात्र नमक का ही स्वाद मान बैठता है पर यथार्थत. वह मात्र नमक का न होकर नाना व्यञ्जनो का मिश्रित रूप है जो अज्ञानी की दृष्टि मे आता ही नही है। परन्तु ज्ञानी तो यह जानने मे कोई कोर-कसर नही रखता है कि यह स्वाद तो अमुक व्यञ्जन का है और यह स्वाद मात्र नमक का है। वैसे ही अज्ञानी ज्ञेयो का लोभी नाना ज्ञेयो के आकार से युक्त ज्ञान को नाना ज्ञेयो के आकारो से सहित न मानकर मात्र ज्ञान का रूप ही मानता है जो वस्तुस्थिति के सर्वथा प्रतिकूल है। लेकिन ज्ञानी उन-उन ज्ञेयो के आकारो को जो ज्ञान के अन्दर प्रतिविम्बित हैं उन्हे उन ज्ञेयो के ही मानता है ज्ञान के नही किन्तु उनके रहते हुए भी जो ज्ञान का आकार या स्वाद है वह उसे ज्ञानरूप से ही स्वीकार करता है इसका मात्र कारण स्वपर भेद विज्ञान ही है जो यथार्थ वस्तु स्वरूप को प्रस्तुत करने मे सक्षम है।

अब उसी परमात्म ज्योति स्वरूप की उपासना की प्रेरणा करते हैं—

एष ज्ञानघनो नित्यमात्मा सिद्धिमभीप्सुभिः ।
साध्यसाधक भावेन द्विधैकः समुपास्यताम् ॥१५॥

अन्वयार्थ—(**सिद्धिम्**) सिद्धि-आत्मा के परिपूर्ण स्वरूप को (**अभीप्सुभिः**) प्राप्त करने की इच्छा करने वाले (**नित्यम्**) सदा-हमेशा (**ज्ञानघनः**) ज्ञान से लबालब भरे हुए (**एषः**) इस (**एकः**) एक अभिन्न (**आत्मा**) आत्मा की (**साध्य साधकभावेन**) साध्य साधकरूप से (**द्विधा**) दो प्रकार से (**समुपास्यताम्**) अच्छी तरह से उपासना करें।

स० टी०—(**एष आत्मा-चिद्रूप.**) इस चैतन्य स्वरूप आत्मा की (**नित्यं-सदा**) हमेशा (**समुपास्यतां-सेव्यता-ध्यायतामित्यर्थ**') उपासना की जाय (**कैः ?**) किनके द्वारा (**सिद्धि-स्वात्मोपलब्धिम्**) अपने स्वरूप

की प्राप्ति को (सिद्धिः स्वात्मोपलब्धिरितिवचनात्) क्योकि स्वात्मोपलब्धि का नाम ही सिद्धि है ऐसा आगम का वचन है (अभीप्सुभि.-प्राप्तुमिच्छुभिः) प्राप्त करने की इच्छा करने वालो द्वारा (किम्भूतः ?) कैसा आत्मा (ज्ञानघनः बोधपिण्डः) ज्ञान का पुञ्ज (एकः-योऽद्वितीयः) जो अद्वितीय है (साध्यसाधक-भावेन—साध्यश्च साधकश्च तौ, तयोर्भावेन-स्वभावेन, स एवात्माध्येयरूपतयासाध्यः, स एव ध्यायकरूप-तयासाधकः।) साध्य और साधक रूप से अर्थात् वही आत्मा ध्येय रूप से साध्य है और ध्यायक रूप से साधक भी है (न त्वन्यः साध्यः, न त्वन्यश्चसाधकः, तेन स्वरूपेण) आत्मा से भिन्न जुदा कोई साध्य नही है और न आत्मा से अलहदा कोई साधक ही है, उस साध्य साधक स्वरूप से (द्विधा-द्विप्रकारः) दो प्रकार का।

भावार्थ—यद्यपि आत्मा एक अखण्ड चैतन्य का पिण्ड है तथापि व्यवहारियो के द्वारा वह प्रयोजन के वश व्यवहारनय की प्रधानता से यदा कदा भेदरूप से भी व्यवहृत होता है जो न्यायसङ्गत है। प्रकृत मे सिद्धि-आत्मा के परिपूर्ण स्वरूप की उपलब्धि की हार्दिक भावना रखने वाले मुमुक्षु जनो को यह प्रेरणा की गई है कि वे एक-अद्वितीय अभिन्न आत्मा में भी साध्य और साधक ये दो भेद करके प्रथम भेद को तो लक्ष्य मान लें और द्वितीय भेद को लक्षक मानकर स्वय ही अपने प्रवल पुरुषार्थ से लक्ष्य मे जा पहुचे अर्थात् सिद्ध पद को प्राप्तकर स्वयमेव अभिन्न द्रव्यमय हो जाये।

अब आत्मा तीन भेद रूप भी है और एक भी है यह बताते है—

दर्शनज्ञान चारित्रैस्त्रित्वादेकत्वतः स्वयम्।
मेचकोऽमेचकश्चापि सममात्मा प्रमाणतः ॥१६॥

अन्वयार्थ—(आत्मा) आत्मा (समम) युगपत्-एक ही समय मे एक साथ (प्रमाणतः) प्रमाण दृष्टि से (दर्शनज्ञानचारित्रैः) दर्शन-सम्यग्दर्शन, ज्ञान-सम्यग्ज्ञान और चारित्र-सम्यक्चारित्र रूप से (त्रित्वात्) तीन प्रकार का होने के कारण (मेचकः) अनेक भेद रूप है (च) और (स्वयम्) स्वतः (एकत्वत·) एक रूप होने के कारण (अमेचक.) अभेद रूप एक है।

सं० टी०—(आत्मा-परमात्मा) परमात्मा (समं-युगपत्) एक ही काल मे एक साथ (मेचकः-विचित्र स्वभावः) विचित्र स्वभाव वाला (कुत) कैसे (दर्शनज्ञानचारित्रैः) दर्शन, ज्ञान और चारित्र रूपभेद (कृत्वा) करके (त्रित्वात्-त्रिस्वभावत्वात्) तीन स्वभाव वाला होने से (अपिच) और (अमेचकः-विचित्र स्वभाव रहित·) विचित्र स्वभाव रहित (कुतः) कैसे (स्वय-स्वतः) खुद व खुद (एकत्वतः-एकस्वभाव-त्वात्) एक स्वभाव होने से (ननु यः-एक स्वभाव. सोऽनेकः कथ स्यात्-एकानेकयोः परस्परं विरोधात्) यहाँ शका हो सकती है कि जो एक स्वभाव वाला है वही अनेक स्वभाव वाला कैसे हो सकता है क्योंकि एक और अनेक ये दोनो ही आपस मे विरोध रखते है। (इतिचेत्) यदि ऐसी शका हो तो उत्तर देते हैं कि (न) उक्त विरोध नही आ सकता (कुत) कैसे ? (प्रमाणतः-प्रत्यक्षपरोक्षप्रमाणत., एकानेक स्वभावत्व साधनात्) प्रमाण-प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाणसे एक और अनेक स्वभाव की सिद्धि होने से (तानि पुन त्रीण्यपि

परमार्थेन, आत्मैक एव, वस्त्वन्तराभावात्) वे तीनो परमार्थ दृष्टि से एक आत्मारूप ही है क्योकि वे तीनों आत्मा से भिन्न वस्तु रूप नही हैं। **(देवदत्तस्य यथा श्रद्धानं, ज्ञानं, आचरण, तत्स्वभावानतिक्रमात् तत्स्वभाव एव न वस्त्वन्तरम्)** जैसे देवदत्त का श्रद्धान ज्ञान और आचरण देवदत्त के स्वभाव का उल्लघन करके नही रहते किन्तु देवदत्त के स्वभाव रूप ही हैं दूसरी वस्तु रूप नही **(तथात्मन्यपि तत्रितयं तत्स्वभावानतिक्रमात्, आत्मा एव न वस्त्वन्तरं, मेचकचित्रज्ञानवद्वा एकत्वानेकत्वम्।)** वैसे ही वे तीनो भी आत्मा मे ही रहते है क्योकि वे तीनो आत्मा के स्वभाव को नही लाँघते अतएव आत्मा ही हैं कोई दूसरी वस्तु रूप नही है। अथवा मेचक चित्र ज्ञान की तरह वह एक और अनेक रूप भी है।

भावार्थ—टीकाकार ने देवदत्त के दर्शन, ज्ञान, चारित्र का दृष्टान्त देकर यह सिद्ध कर दिखा है कि जैसे देवदत्त और देवदत्त के दर्शन ज्ञान तथा चारित्र देवदत्त से भिन्न मनुष्य के नही है किन्तु देवदत्त ही हैं क्योकि वे देवदत्त के स्वभाव हैं वैसे ही आत्मा के सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र आत्मा के ही हैं आत्मा से भिन्न किसी भी अन्य पदार्थ के नही है। दूसरा दृष्टान्त चित्र का दिया है जैसे एक ही चित्र मे हरा, पीला, नीला आदि अनेक रग अलग-अलग दिखाई देते हैं जो रगो की दृष्टि से तो भिन्न-भिन्न हैं ही पर वे ही रग चित्र की दृष्टि से भिन्न नही हैं किन्तु एक ही हैं वैसे ही एक ही आत्मा के दर्शन ज्ञान चारित्र तीन होते हुए भी आत्मा की दृष्टि से आत्मारूप ही है आत्मा से भिन्न वस्तु रूप नही हैं। यहा स्वभाव और स्वभाववान मे भेद तथा अभेद की विवक्षा करके ही वस्तु के स्वरूप को प्रस्तुत किया है जो प्रमाण दृष्टि से प्रामाणिकता को लिये हुये है अतएव यथार्थ है अयथार्थ नही। तात्पर्य यह है कि— दर्शन, ज्ञान, चारित्र की दृष्टि से आत्मा-मेचक—अनेक रूप है पर वही आत्मा—दर्शन ज्ञान चारित्रमय होने से स्वय ही एक रूप है।

अब आत्मा की मेचकता तथा अमेचकता को दो पद्यो द्वारा प्रकट करते हैं—

दर्शनज्ञान चारित्रैस्त्रिभिः परिणतत्वतः।
एकोऽपि त्रिस्वभावत्वाद् व्यवहारेणमेचकः ॥१७॥

अन्वयार्थ—**(आत्मा)** आत्मा **(निश्चयेन)** निश्चयनय की दृष्टि से **(एक.)** एक-अद्वितीय **(अस्ति)** है **(अपि)** किन्तु **(सः)** वह आत्मा **(व्यवहारेण)** व्यवहारनय की दृष्टि से **(दर्शनज्ञानचारित्रैः)** दर्शन ज्ञान चारित्र **(त्रिभिः)** इन तीन रूप **(परिणतत्वत·)** परिणत होने से-परिणमन करने के कारण **(त्रिस्वभावत्वात्)** तीन स्वभाव वाला है अतएव **(मेचक·)** नाना स्वभाव वाला **(अस्ति)** है।

स० टी०—**(आत्मा)** आत्मा **(एकोऽपि-चैतन्यस्वभावेनाद्वितीयः)** चैतन्य स्वभाव से अद्वितीय होते हुए भी **(व्यवहारेण-व्यवहारदशायाम्)** व्यवहारनय की दृष्टि मे **(मेचक -नानास्वभाव)** नाना स्वभाव वाला **(त्रिस्वभावत्वात्-त्रयः-दर्शनादिलक्षण., स्वभावायस्य तत्त्य भावस्तत्त्वं तस्मात्)** दर्शन आदि विभिन्न लक्षण वाले तीन स्वभावो को धारण करने के कारण **(त्रिस्वभावत्वात्)** तीन स्वभाव वाला **(किं कृत्वा?)** है क्या करके **(त्रिभिः-त्रिसख्याकैः, दर्शन ज्ञान चारित्रैः-आत्मश्रद्धानावबोधानुचरणैः)** आत्मश्रद्धान, आत्मज्ञान तथा आत्म आचरण से।

भावार्थ—आत्मा चैतन्य का अखण्ड पिण्ड है पर व्यवहारी जनो को जब उसका स्वरूप समझाया जाता है तब व्यवहारनय का सहारा लेना ही पडता है बिना उसके सहारे के आत्म स्वरूप का समझाना सम्भव नही है अत· व्यवहारनय जब प्रवृत्त होता है तब अखण्ड वस्तु को खण्ड-खण्ड करके ही उपस्थित करता है इस दृष्टि से अमेचक-अद्वितीय-अखण्ड-एक आत्मा भी मेचक-द्वितीय-खण्ड-अनेक रूप मालूम पडता है जो व्यवहार नय की अपेक्षा से वास्तविक होते हुए भी निश्चयनय की अपेक्षा से अवास्तविक ही है। जो कुछ भी हो लेकिन दोनो नय वस्तु स्वभाव मे मात्र एकत्व और अनेकत्व की ही व्यवस्था करते है वस्त्वन्तर की नही अत दोनो नय वस्तुव्यवस्थापक ही हैं उत्थापक नही इसलिए समीचीन ही है असमीचीन नही।

अब आत्मा की अमेचकता-एकता-की स्थापना करते है—

परमार्थेन तु व्यक्त ज्ञातृत्व ज्योतिषैकक:।
सर्वभावान्तरध्वंसि स्वभावत्वादमेचक: ॥१८॥

अन्वयार्थ—**(तु-)** किन्तु **(परमार्थेन)** परमार्थ-निश्चयनय-द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा **(व्यक्तज्ञातृत्व-ज्योतिषा)** स्पष्ट ज्ञायक ज्योति-प्रकाशरूप होने से **(आत्मा)** आत्मा **(एकक:)** एक ही है। **(सर्वभावान्तर-ध्वंसि स्वभावत्वात्)** और सभी अन्य पदार्थों के अभावरूप स्वभाव वाला होने से **(अमेचक:)** अखण्ड स्वभाव वाला ही **(अस्ति)** है।

सं० टी०—**(तु-पुन:)** किन्तु **(आत्मा)** आत्मा **(एकक:—एक इति सञ्ज्ञायस्यस: संज्ञायां क प्रत्यय विधानात्)** एक ही सज्ञा वाला है यहा एक शब्द से सज्ञा अर्थ मे क प्रत्यय होने से एकक रूप बना है जिसका अर्थ है एक **(अथवा एक एव, एकक:)** अथवा एक का नाम ही एकक है अर्थात् दोनो एक ही अर्थ को कहते हैं। **(परमार्थेन-द्रव्यादेशतया)** द्रव्यार्थिक नय के आदेश से **(अमेचक:-अखण्डैकस्वभाव:)** अखण्ड एक स्वभाव वाला है **(केन)** किससे **(व्यक्त ज्ञातृत्व ज्योतिषा-व्यक्तं-स्पष्टं, तच्च तज्ज्ञातृत्वं-बोधकत्वं तदेव ज्योति: महस्तेन कृत्वा)** स्पष्ट ज्ञायकता रूप उत्कृष्ट तेज से **(कुत:, ?)** किससे **(सर्वभावान्तरध्वंसि स्वभावत्वात्-सर्वे च ते भावान्तराश्च अन्यपदार्था तान्-ध्वसयति-विनाशयति ततो विविक्तोभवतीत्येवं शील: स्वभावोयस्यस: तस्यभावस्तत्वं तस्मात्)** सभी पदार्थान्तिरो-दूसरे पदार्थो को अपने से दूर करना या स्वय ही उनसे दूर होना ही जिसका स्वभाव है ऐसा होने से

भावार्थ—भेद दृष्टि को गौण रखते हुए अभेद दृष्टि से जब आत्मा को देखा जाता है तब वह अमेचक-अखण्ड एक रूप ही दिखाई देता है उस समय उसमे अनेकता का भान नही होता।

अब रत्नत्रय से ही आत्मसिद्धि होती है यह बताते है—

आत्मनश्चिन्तयैवालं मेचकामेचकत्वयो:।
दर्शनज्ञानचारित्रै: साध्यसिद्धिर्नचान्यथा ॥१९॥

अन्वयार्थ—(**आत्मनः**) आत्मा की (**मेचकामेचकत्वयोः**) एकत्व और अनेकत्व की (**चिन्तया**) चिन्ता से (**एव**) ही (**अलम्**) व्यर्थ है अर्थात् उक्त द्विविध-दुविधा से कुछ भला होने जाने वाला नही है (**साध्यसिद्धिः**) मोक्ष की प्राप्ति (**दर्शनज्ञान चारित्रैः**) सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र से (**एव**) ही (**स्यात्**) हो सकती है (**अन्यथा**) विना रत्नत्रय के (**न**) नही।

सं० टीका—(**आत्मनः-चिद्रूपस्य**) चैतन्य स्वरूप आत्मा के (**मेचकामेचकत्वयोः-शुद्धत्वाशुद्धत्वो-र्वा**) मेचकत्व और अमेचकत्व अथवा शुद्धत्व और अशुद्धत्व के (**चिन्तयैव-चिन्तनेनैव विचारणेनेत्यर्थः**) चिन्तन-विचारमात्र से (**अलं-पूर्णताम्-तद्विचारणेन न किमपीत्यर्थः**) कुछ भी होने वाला नही है (**तर्हि कुतः साध्यसिद्धिः ?**) तो साध्य की सिद्धि कैसे हो सकेगी (**दर्शनज्ञान चारित्रैः-आत्मश्रद्धानावबोधानुचरणैः-साध्यो मोक्षः-भव्यात्मनां मुक्तेरेवसाध्यत्वात् तस्य सिद्धिर्दर्शनज्ञानचारित्रैर्भवतीत्याध्याहार्यम्**) आत्म-श्रद्धान आत्मज्ञान और आत्माचरण से ही मोक्षरूप साध्य की सिद्धि हो सकती है क्योकि प्रत्येक भव्यात्मा का साध्यमोक्ष ही है और उसकी सिद्धि सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की परिपूर्णता से ही होती है, ऐसा वाक्य का अध्याहार करने से अर्थ की सङ्गति ज्ञात होती है।

(**अन्यथा-तत् श्रद्धानादिमन्तरेण साध्यसिद्धिर्नच-नैव**) आत्मश्रद्धानादि के विना साध्य की सिद्धि नही हो सकती ? (**किंवत्**) किसके समान (**रसाङ्गवत्—यथा उपास्यमानो रसाङ्गस्तद्गुण श्रद्धान तत्सेव-नानुचरण विधानतो रोगो वनीवच्यते नान्यथा तथात्मनो दर्शनादिकम्**) जैसे सेवन मे आने वाला रसाङ्ग, रसाङ्ग के श्रद्धान ज्ञान और आचरण से ही रोग को नाश कर सकता है। श्रद्धान आदि के बिना नही। वैसे ही आत्मा के श्रद्धान आदि ही साध्य-मोक्ष-को सिद्ध कर सकते हैं। श्रद्धान आदि के विना नही।

भावार्थ—जो लोग मात्र आत्मा का चिंतवन व विचार ही करते रहते हैं कि मैं शुद्ध हूँ बुद्ध हूँ नित्य हूँ सबसे भिन्न हूँ अथवा मैं कर्मों से बद्ध हूँ रागादि रूप परिणमन कर रहा हूँ इत्यादि विचारो और बिकल्पो मे लगे हुए हैं उनको आचार्य ने प्रेरणा की है कि इससे कार्य की सिद्धी नही होगी। वस्तु तत्व को समझने के समय उसकी दरकार थी परन्तु वस्तु का अनुभव कुछ और बात है। आत्मा के बारे मे जानना और आत्मा को जानना दोनो मे अन्तर है। आत्मा के बारे मे जानकारी शास्त्रो से हो जायेगी परन्तु आत्मा का जानना आत्मा के द्वारा ही होगा। साध्यसिद्धि मे आत्मा का जानना जरूरी है। अगर किसी ने पी-एच डी कर ली उसने आत्मा के बारे मे बहुत कुछ जानकारी कर ली परन्तु अभी तक आत्मा को नही जाना। इसलिए पण्डित होना अलग बात है आत्मज्ञानी होना अलग बात है। मोक्ष की सिद्धि का सम्बन्ध आत्मज्ञान से है जिसको आत्मोपलब्धि कहते हैं। जैसे आम के बारे मे जानना और आम को जानना अलग अलग है। आम के बारे मे जानकारी ग्रन्थो से हो सकती है परन्तु आम का जानना तो स्वाद आने पर ही होगा।

अब आत्मा की त्रिविधता और एकता के साथ अभिन्नता होने से साध्य की सिद्धि हो सकती है यह करते हैं—

कथमपि समुपात्त त्रित्वमप्येकताया अपतितमिदमात्मज्योतिरुद्गच्छदच्छम् ।
सततमनुभवामोऽनन्तचैतन्यचिह्नं–न खलु न खलु यस्मादन्यथा साध्यसिद्धिः ॥२०॥

अन्वयार्थ—(**कथम्**) किसी प्रकार से (**अपि**) भी (**समुपात्तत्रित्वम्**) त्रिविधता को प्राप्त हुए तो (**अपि**) भी (**एकतायाः**) एकत्व से (**अपतितम्**) च्युत नही हुए (**उद्गच्छद्**) उदय को—प्राप्त होने वाले (**अच्छम्**) स्वच्छ-निर्मल (**अनन्तचैतन्यचिह्नम्**) अनन्त चैतन्य—अविनश्वर ज्ञान से परिचय मे आने वाले (**इदम्**) इस (**आत्मज्योति**) आत्मा के तेज को (**वयम्**) हम (**सततम्**) निरन्तर हमेशा (**अनुभवामः**) अनुभव करते हैं (**यस्मात्**) कारण कि (**साध्यसिद्धिः**) मोक्ष की प्राप्ति (**अन्यथा**) अखण्ड स्वरूप आत्मानुभव के विना (**नखलु-नखलु**) निश्चय से नही-नही (**स्यात्**) हो सकती ।

सं० टी०—(**अनुभवामः-अनुभवविषयीकुर्मः**) अनुभव करते है (**किंतत्**) किसका (**इदम्—संवेद्यमानं-सुखादिभिः**) सुख से अनुभव मे आने वाले इस (**आत्मज्योतिः-परं-महः**) आत्मा के उत्कृष्ट तेज का (**कियन्तं-कालम्**) कब तक (**सततं-निरन्तरम्**) हमेशा (**किम्भूतं तत्**) कैसे आत्मा के (**कथमपि-केनचित्प्रकारेण-रत्नत्रयात्मकलक्षणेन**) किसी प्रकार से भी अर्थात् रत्नत्रयस्वरूप लक्षण से (**समुपात्तत्रित्वमपि-सं-सम्यक्-उपात्तं गृहीतं-सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्ररूपेणत्रित्वं-त्रयात्मकत्वं येन तत्**) जिसने सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप से त्रिविधता को प्राप्त किया है (**ईदृक्षमपि**) ऐसे होते हुए भी (**एकतायाः चैतन्यैकस्वभावायाः सकाशात्**) चैतन्य स्वरूप एकता से (**अपतितम्-अभिन्नम्**) अभिन्न है (**आत्मनस्त्रित्वैकत्वसमर्थनात्**) क्योकि आत्मा की त्रिविधता और एकता का पूर्व मे समर्थन किया जा चुका है (**पुन किम्भूतम्**) फिर कैसे (**उद्गच्छत्-ऊर्ध्वगमनस्वभावम्-उद्-ऊर्ध्वं-अग्रे अग्रे गच्छति-जानातीति, उद्गच्छत्—विशुद्धकर्म क्षयादनन्तरं, ऊर्ध्वगमनस्वभावत्वात्, विशुद्धिविशेषादग्रे ज्ञानस्य प्राचुर्याच्च ।**) ऊपर लोक के अग्रभाग तक जाने वाले अर्थात् विशुद्ध-पुण्य कर्म के क्षय हो जाने के पश्चात्—ऊर्ध्वगमन स्वभाव के कारण एवं विशुद्धि की विशेषता से उत्तरोत्तर ज्ञान की प्रचुरता होने के कारण से भी लोक की शिखर पर जाने वाले (**पुनः किम्भूतम् ?**) फिर कैसे (**अच्छं-निर्मलं कर्मकर्दमरहितत्वात्**) कर्म कलङ्क से रहित हो जाने से निर्मल-पूर्ण स्वच्छ । (**अनन्तेत्यादि-अनन्तं-विनाशरहितं, चैतन्यं-चेतनस्वभाव॰, तदेव चिह्नं लक्ष्मयस्य, तत्**) अविनश्वर चेतना स्वभाव रूप चिह्न वाले । (**कुत एतत् अनुभवाम् ?**) क्यो या किस कारण से इसका अनुभव करें ? (**यस्मात्-यतः कारणात्**) जिस कारण से (**अन्यथा-आत्मानुभवमन्तरेण**) आत्मानुभव के विना (**साध्यसिद्धिः-साध्यस्य चिद्रूप लक्षणस्य सिद्धिः प्राप्तिः**) साध्य चैतन्यस्वरूप आत्मा की सिद्धि-परिपूर्ण निर्मलता को प्राप्ति । (**न खलु न खलु नखलु निश्चयेन नैवभवतीत्यर्थः**) निश्चय से नही हो सकती । (**वीप्सार्थोऽयमतिशयेन निषेधक.**) नखलु, नखलु—यह वीप्सार्थ-द्विरुक्त्यर्थ—अव्यय का समुदाय निषेध की अधिकता को सूचित करता है । (**अधिकवचन च किंचिदभीष्टं ज्ञापयत्याचार्य**) आचार्य अधिक वचन से किसी अभीष्ट अर्थ को सूचित करते हैं (**तयोपपत्त्याऽन्यथानुपपत्त्या चात्मन. साध्यसिद्धिर्नान्यथा**) तथोप-

पत्ति-अन्वय तथा अन्यथानुपपत्ति-व्यतिरेक से आत्मा के साध्य की सिद्धि हो सकती है अन्यथा-प्रकारान्तर से नही। अर्थात् आत्मानुभव के विना आत्मा के साध्य की निष्पत्ति सम्भव नही है।

(**आत्मानुभवनेनैव मुक्तिप्राप्तिरिति तथोपपत्तिः**) आत्मा के अनुभव से ही मुक्ति की प्राप्ति होती है इसी का नाम तथोपपत्ति है। (**तदनुभवनमन्तरेण कदाचित् क्वचिदपि कस्यचित् न तत्सिद्धिरित्यन्यथानुपपत्तिः**) आत्मा के अनुभव के विना कभी कही पर किसी के भी मुक्ति की प्राप्ति नही होती। इसी का नाम अन्यथानुपपत्ति है।

भावार्थ—आत्मा मे अनन्त गुण है उनमे दर्शन-ज्ञान-चारित्र मुख्य है परन्तु उनको भी अगर अलग-अलग देखते है तो भेद हो जाता है विकल्प पैदा होते है इसलिए इन गुणो को भी अभेद करके मात्र चैतन्य रूप आत्मा का अनुभव करना है। यहा रागादि शरीरादि जो सयोगी है उनका तो सवाल ही पैदा नही होता है ज्ञान-दर्शन चारित्र के भेद को भी अभेद करके मात्र चैतन्यरूप अनुभव करने पर ही साध्य की सिद्धि होगी अन्यथा नही—जैसे कोई समुद्र के किनारे वैठकर समुद्र के गुणो का गान करता है और कोई दूसरा व्यक्ति उसमे कूद कर गोता लगाता है। गोता लगाने का आनन्द कुछ और ही है जिसको गोता लगाना नही आता है वह किनारे पर वैठ कर गोता लगाने वाले को ललायित नजर से देखता है पर गोता का आनन्द नही ले सकता। यहाँ पर आचार्य कहते हैं कि जो पानी मे उतरता है वही गोता लगाता है उसी के स्वरूपोपलब्धि होती है। मात्र गीत गाने से नही। जैसे चीनी मे सफेदपना-भारीपना-मिट्ठापना आदि कितने ही गुण होते है परन्तु उसकी पहचान तो मात्र मिट्ठेपने से ही होती है उसी प्रकार आत्मा की पहचान तो चैतन्य चिह्न के द्वारा ही होगी जो अनादि अनन्त है।

अव आत्मानुभव की प्राप्ति की स्तुति करते हैं—

कथमपि हि लभन्ते भेदविज्ञानमूलामचलितमनुभूतिं ये स्वतो वान्यतो वा।
प्रतिफलननिमग्नाऽनन्तभावस्वभावैर्मुकुरवदविकारा सन्ततं स्युस्त एव ॥२१॥

अन्वयार्थ—(**ये**) जो भव्य पुरुष (**स्वतः**) स्वयमेव (**वा**) अथवा (**अन्यत**) पर से-परोपदेश से (**कथम्**) किसी प्रकार से (**अपि**) भी (**भेदविज्ञानमूलाम्**) भेद विज्ञानमूलक (**अनुभूतिम्**) आत्मानुभूति को (**अचलितम्**) निश्चलरूप से (**लभन्ते**) प्राप्त करते हैं (**ते**) वे भव्य जीव (**एव**) ही (**प्रतिफलननिमग्नाऽनन्तभाव स्वभावै**) प्रतिविम्बरूप से प्राप्त हुए अनन्त पदार्थों के अनन्त स्वभावो से (**मुकुरवत्**) दर्पण के समान (**सन्ततम्**) निरन्तर (**अविकारा**) विकार रहित) (**स्युः**) होते हैं।

सं० टीका—(**हीतिस्फुटम्**) हि-यह स्फुट-स्पष्ट अर्थ का वाचक अव्यय है। (**लभन्ते प्राप्नुवन्ति**) प्राप्त करते हैं। (**ये-भव्या**) जो भव्य (**काम् ?**) किसे (**अनुभूतिं-आत्मानुभवन-आत्ममाहात्म्य वा,**) आत्मानुभव-या आत्मा के माहात्म्य को (**कथम्**) कैसे (**अचलितम्-निश्चलं यथाभवति तथा**) निश्चलरूप से जैसे हो वैसे ही, (**कथ लभन्ते ?**) कैसे प्राप्त करते हैं ? (**कथमपि महता कष्टेन**) महान कष्ट से

भवाब्धौ स्वरूप प्राप्तेर्दुष्प्राप्यत्वात् ।) क्योकि ससाररूप समुद्र मे आत्मा के स्वरूप का प्राप्त होना बडा ही कठिन है। **(कुतः प्राप्ति.)** कैसे-आत्मा के स्वरूप की उपलब्धि कैसे होती है ? **(स्वतो वा-स्वयमेव)** अपने आप, **(अभ्यन्तरात् कर्मलाघवत्व लक्षणात्कारणात्)** कर्म की शक्ति की हीनतारूप अन्तरङ्ग कारण से, **(जातिस्मरण-देवागम-दर्शन-विद्युदभ्र परशरीरादिविघटन दर्शनाद्वा,)** तथा-पूर्व जन्म का स्मरण,-देवो का आगमन का दर्शन—बिजली का गिरना,—मेघो का विलयन तथा दूसरो के शरीर आदि का विनाश--इन सब के देखने से **(अनित्याद्यनुप्रेक्षाचिन्तन तत आत्मस्वरूपप्राप्तेः)** अनित्य आदि अनुप्रेक्षाओ-भावनाओ के चिन्तन से भी आत्मा के स्वरूप की प्राप्ति होती है। **(णमो सय बुद्धाण, इत्यागमवचनात् ।)** 'णमोसय बुद्धाण' इस आगम वचन से **(वा-अथवा)** अथवा **(अन्यतः-गुरूपदेशादे·)** गुरु के उपदेश आदि से **(किम्भूता-ताम् ?)** फिर वह कैसी ? **(भेदेत्यादि.-आत्मशरीरयोर्भेद.-भिन्नत्वम्-तस्य वि-विशिष्टं यथोक्तं ज्ञानमुपलब्धि , तदेवमूलकारण यस्याः सा ताम्)** आत्मा और शरीर की भिन्नता-जुदाई के विज्ञान की उपलब्धि जिसका मूल-मुख्य कारण है ऐसी आत्मनुभूति को **(त एव)** वे ही **(ये अनुभूतिभावुकास्ते एव भव्या)** जो अनुभूति को सेवन करने वाले है, वे ही भव्यजीव, **(स्यु·-भवन्ति)** होते है **(नान्य.)** अन्य नही। **(कथम् ?)** कैसे **(सतत-निरन्तरम्)** निरन्तर-हमेशा **(अविकारा-मानसभावादि विकृतिरूप विकार-रहिता.)** मानसिक विकारो—इष्टानिष्ट कल्पनाओ से रहित **("विकारो मानसोभाव." इत्यमरः)** मन के विचार का नाम विकार है ऐसा अमरकोश मे उपलब्ध है। **(कै. ?)** किनसे ? **(प्रतीत्यादि·-प्रतिफलन-प्रतिविम्बं, आत्मनि प्रतिभासत्वमित्यर्थ , तेन निमग्ना·-आत्मान्तर्गता , प्रतिभासत्वधर्मेणात्मान्तर्गतत्व न तु तदुत्पत्ति-तादात्म्य तदध्यवसायत्वेन, ते च ते भावाश्च तेषा स्वभावा -जीर्णनूतनागुरुलघुत्वादि लक्षणास्तै.,)** आत्मा मे प्रतिविम्व-प्रतिभास-रूप से प्राप्त, तदुत्पत्ति, तादात्म्य या तदध्यवसायरूप प्राप्त नही होने वाले पदार्थों के पुरातन नवीन गुरुत्व और लघुत्व आदि लक्षण स्वरूप स्वभाव से **(मुकुरवत्-यथामूर्तस्य मुकुररस्य स्वपराकारावच्छेदिका स्वच्छतैव बहिरूष्मणस्तत्र प्रतिभाता ज्वाला, औष्ण्य च तथा नीरूपस्यात्मनः स्व-पराकारावच्छेत्री ज्ञातृतैव पुद्गलाना कर्म नोकर्मेन्द्रियादीना च ॥२१॥** दर्पण के समान—जैसे मूर्त-जड-दर्पण की स्वपर-अपने और परपदार्थ के आकार को प्रकट करने वाली स्वच्छता-निर्मलता ही होती है। जिसके बाह्य तेज मे ज्वाला और उष्णता दोनो ही स्पष्ट रूप से चमकती रहती है। वैसे ही अमूर्त-चैतन्य स्वरूप आत्मा की-स्वपर-अपने तथा पदपदार्थों के आकार को निश्चित करने वाली ज्ञातृता-जानने की शक्ति ही होती है जो पुद्गलो को, कर्म, नोकर्म तथा इन्द्रिय आदि को भी जानती है।

भावार्थ—इस अगाध-अथाह ससाररूपी समुद्र मे गोते लगाने वाले जीवो की अपनी आत्मा के स्वरूप की प्राप्ति वडी ही दुर्लभ है यदि भाग्यवश किसी को उसकी प्राप्ति होती भी है तो वह या तो स्वत.-अपने ही बल बूते से या किसी अन्य सद्गुरु आदि के सदुपदेश से। स्वत स्वरूपोपलब्धि मे जिसका भेद विज्ञान मूल है स्व-आत्मा की मुख्यतया उपादान शक्ति ही कारण होती है। लेकिन परोपदेश मे, मात्र परोपदेश से ही स्वरूपोपलब्धि नही हो सकती। उसमे भी उपादान शक्ति ही अन्तरङ्गत कारण

होती है। यदि अन्तरङ्ग कारण प्रवल न हो तो वहिरङ्ग कारण के रहते हुए आत्मोपलब्धि नही हो सकती। अत यह् निर्विवाद रूप से मानना पडेगा कि वस्तुत आत्मस्वरूपोपलब्धि मे उपादान कारण ही समर्थ कारण है। निमित्त नही। निमित्त तो मात्र सहयोगी होता है। उत्पादक नही।

अव मोह के त्याग की प्रेरणा करते है—

त्यजतु जगदिदानीं मोहमाजन्मलीढं–रसयतु रसिकानां रोचनं ज्ञानमुद्यत्।
इह कथमपि नात्मा नात्मना साकमेकः–किल कलयति काले क्वापि तादात्म्यवृत्तिम् ॥२२॥

अन्वयार्थ—(**जगत्**) जगत-ससारी प्राणी (**इदानीम्**) अव तो (**आजन्मलीढम्**) अनादि काल से लगे हुए (**मोहम्**) मोह को-अपने को पररूप मानना तथा पर को निजरूप मानना रूप बुद्धि की विपरीतता को (**त्यजतु**) छोडे। तथा (**रसिकानाम्**) आत्मरस का पान करने वाले ज्ञानियो को (**रोचनम्**) रुचने वाले (**उद्यत्**) उदय को प्राप्त होने वाले (**ज्ञानम्**) आत्मज्ञान को (**रसयतु**) चखे-पीवे। (**इह**) इस ससार मे (**एकः**) अद्वितीय (**आत्मा**) चैतन्यमय पदार्थ (**किल**) निश्चय से (**क्वापि**) किसी भी (**काले**) समय मे (**कथमपि**) किसी प्रकार से भी (**अनात्मना**) जड-अचेतन-पुद्गल पदार्थ के (**साकम्**) साथ (**तादात्म्यवृत्तिम्**) तादात्म्य सम्वन्ध जडता-अचेतनता को (**न**) नही (**कलयति**) धारण करता है।

सं० टीका—(**इदानीम्-आत्मस्वरूप प्रकाशनध्यानकाले**) इस समय—अर्थात् आत्मा के स्वरूप को प्रकाशित करने वाले ध्यान के अवसर पर (**जगत्-विष्टयम्**) जगत्—हे जगत् मे रहने वाले प्राणी (**मोहम्-ममेदं, अहमस्य, आसीन्मम पूर्वमिदम्, अहमेतस्यासम्, भविष्यति पुनर्ममैतत्, एतस्याहमपि भविष्यामि, इत्यादिरूपम्-मोहम्**) यह मेरा, मैं इसका, यह पूर्व मे मेरा था, मैं इसका था, फिर भी यह मेरा होगा, मैं भी इसका हूगा, इत्यादि रूप मोह को (**त्यजतु-जहातु**) त्यागो-छोडो (**किम्भूतम्? आजन्मलीढ-आससारात्-प्रवृत्तम्**) अनादि ससार से चला आया। (**ज्ञान-भेदविज्ञानम्**) भेद विज्ञान को (**रसयतु-आस्वादयतु-ध्यानविषयीकरोत्वित्यर्थः।**) ध्यान का विषय करो अर्थात् ध्यान मे लाओ। (**किम्भूतम्**) कैसे (**तत्**) ज्ञान-भेदविज्ञान को (**रसिकाना-शुद्धचिद्रूप रसास्वादकानाम्**) शुद्ध चैतन्यरूप रस को पान करने वालो को (**रोचन-रुचिकरम्**) रुचिकर (**उद्यत-उदय गच्छत्**) उदय को प्राप्त होता हुआ (**इह जगति**) जगत् मे (**क्वापिकाले-कस्मिंश्चित्समये**) किसी भी समय मे (**क्षयोपशम विशुद्धयादि लब्धिपञ्चक सामग्री सद्भाव समये**) अर्थात्—क्षयोपशम, विशुद्धि, प्रयोग्य, देशना और काल लब्धिरूप पाच लब्धि स्वरूप सामग्री के सद्भाव के समय मे (**किल इति निश्चितम्**) किल यह निश्चयार्थक अव्यय है (**एक', आत्मा-जीवा अनात्मना-परद्रव्येण-शरीरादिना, साकं सह,**) एक आत्मा-परद्रव्य शरीर आदि के साथ (**तादात्म्य वृत्तिम्-एकत्ववृत्तिम्**) जडतारूप वृत्ति को (**न कलयति नाङ्गीकरोति**) स्वीकार नही करता (**तन्मयो न भवतीत्यर्थ.**) शरीरादि जड पदार्थरूप दशा को धारण नही करता (**कथमपि केनचित् प्रकारेण अपि**) किसी प्रकार से भी ॥२२॥

भावार्थ—यह बात निर्विवाद सिद्ध है कि कोई भी द्रव्य अपने सत्तात्मक गुण का परित्याग नही

करता, और न एक द्रव्य अपने से भिन्न दूसरे द्रव्य रूप भी होता है। इस सिद्धान्त सम्मत फलितार्थ से यह बात सर्वथा स्पष्ट हो जाती है कि आत्मा भी एक स्वतन्त्र सत्तात्मक द्रव्य है, जो अपने अस्तित्व के दायरे से त्रिकाल मे भी बहिर्भूत नही हुआ है— यानी अन्य द्रव्यरूपता को प्राप्त नही हुआ है। आचार्य महाराज प्रेरणा करते हुए कहते हैं कि हे जीवात्मन तुम उपादान को विपरीत करने मे कारणीभूत पर मे एकत्वपने का परित्याग करो, ऐसा करने से तुम्हारा उपादान स्वयमेव निर्मलता को प्राप्त हो जायेगा और तुम स्वय ही सदा के लिए ससार दशा से उन्मुक्त हो जाओगे।

अब मोह का परित्याग करने के हेतु शरीर के व्यामोह के त्याग का उपदेश देते है—

अयि कथमपि मृत्वा तत्त्वकौतूहली सन्ननुभव भवमूर्तेः पार्श्ववर्तीमुहूर्तम्।
पृथगथविलसन्तं स्वं समालोक्य येनत्यजसिझगितिमूर्त्या साकमेकत्वमोहम्॥२३॥

अन्वयार्थ—(अयि) हे भाई (तत्त्वकौतूहली) अपने असली स्वरूप को जानने की उत्सुकता वाले (सन्) होकर (त्वम्) तुम (कथम्) किसी प्रकार से (मृत्वा) मर करके (अपि) भी (मुहूर्तम्) दो घडी (मूर्तेः) शरीर के (पार्श्ववर्ती) पडोसी होकर (अनुभव) अपना अनुभव करो (अथ) इसके पश्चात् (पृथक्) शरीर से सर्वथा और सर्वदा जुदे (विलसन्तम्) शोभायमान रहने वाले (स्वम्) अपने को (समालोक्य) देखकर—अर्थात् शरीर से मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा बिलकुल ही जुदा पदार्थ हूँ ऐसा (येन) जिससे (त्वम्) तुम (झगिति) शीघ्र ही (मूर्त्या) शरीर के (साकम्) साथ (एकत्व व्यामोहम्) एकता रूप विपरीत बुद्धि को (त्यजसि) छोड सको।

सं० टीका—(अयीति कोमलालापेऽव्ययम्) अयि यह कोमल सम्बोधन मे प्रयुक्त होने वाला अव्यय है। (तत्त्व कौतूहली-तत्त्व परात्मलक्षणम्, तस्यावलोकने कौतूहली) परमात्म स्वरूप आत्मा के अवलोकन मे उत्कण्ठित (सन्-भवन्) होते हुए (हे मित्रेत्याध्याहार्यम्) हे मित्र—ऐसा अध्याहार करना चाहिए अर्थात् हे मित्र! (कथमपि-केनचित्-प्रकारेण) किसी प्रकार से भी (मायादि प्रकारेण) कपट आदि से (मृत्वा-च्युत्वा,) मर करके (साक्षात्मरणे तदनन्तरं तत्क्षणे साक्षात्तत्वावलोकनाभावात्) क्योकि साक्षात् मरने पर, मरने के पश्चात ही उसी समय प्रत्यक्ष रूप से आत्मा के स्वरूप का दर्शन सम्भव नही है। मुहूर्तं-द्विनालिकापर्यन्तम्) दो घडी तक (मूर्तेः-शरीरस्य) शरीर के (पार्श्ववर्ती-नैकटचवर्ती) निकट मे रहने वाला (भव-तच्छरीरस्वभावावलोकनार्थम्) हो, उस शरीर के स्वभाव को देखने-परखने के लिए (अथ मृत्वा पार्श्ववर्तिभवनानन्तरम्) मर करके शरीर के सन्निकट मे रहने के बाद (स्व-परमात्मानम्) स्वय परमात्मरूप को (अनुभव-अनुभवगोचरीकुरु-स्वध्यानविषय कुर्वित्यर्थः) अनुभव करो अर्थात् अपने ध्यान मे लाओ। (किं कृत्वा ?) क्या करके, (समालोक्य-दृष्ट्वा) देख करके, (पृथक्-भिन्नं) जुदा (विलसंत्तम्-स्वस्वरूपे विलास कुर्वन्तम्) अपने आत्मस्वरूप मे विलास-क्रीडा करने वाले (आत्म व्यतिरिक्ताचेतनादि-शरीरावस्थाज्ञानादि परिणतावस्थामवलोक्य स्वस्वरूपे स्थिरीभवत्वित्यर्थः) आत्मा से भिन्न जडरूप शरीर आदि की अवस्था से अज्ञान आदि रूप से परिणमन को प्राप्त हुई आत्मा की अवस्था को देखकर

अपने ज्ञान आदि स्वरूप मे स्थिर हो, यह इसका फलितार्थ है। (येन-पृथक् स्वानुभवनेन) जिस-शरीर आदि से भिन्न आत्मा के अनुभवन से (मूर्त्या-शरीरेण) शरीर के (साक-सह) साथ (एकत्वमोहम्-ममेद शरीरम्, शरीरस्याहमित्येकत्व लक्षण मोहम्) यह शरीर मेरा है, या इस शरीररूपी मै हूँ, इस एकत्वरूप मोह को (त्यजसि-जहासि) छोडे उसको (झगिति-तत्काल-विलम्बमन्तरेणेत्यर्थ.) तत्काल-उसी क्षण अर्थात् विना विलम्ब-देरी के। (ननुशरीरमेवात्मा, तद्व्यतिरिक्तस्य कस्य चिदात्मनोऽनुपलभ्यमानत्वात्) कोई शका करता है कि शरीर ही आत्मा है, क्योकि शरीर से भिन्न-जुदी कोई आत्मा उपलब्ध नही है। (अन्यथा महामुनीना तीर्थकर शरीराद्यतिशयवर्णनानुपपत्ति., इति युक्तिमुद्भाव्य भिन्नात्मवादिन योगिनं प्रति कश्चिदप्रतिबुद्धः शिष्य) यदि ऐसा न माना जाये तो महामुनि के तीर्थंकरो के शरीर आदि के अतिशयो का वर्णन नही बन सकेगा, ऐसी युक्ति को उपस्थित करके—शरीर से भिन्न-जुदी रहने वाली आत्मा को मानने वाले योगी-ध्यानी-मुनि के प्रति कोई अज्ञानी-जिसे आत्मा का ज्ञान नही—ऐसा शिष्य कहता है—

भावार्थ—यह आत्मा शरीर के साथ एकत्वपने को प्राप्त हो रहा है अपने को शरीर रूप अनुभव कर रहा है। जागते-सोते हर हालत मे अपने को शरीररूप अनुभव कर रहा है। अनुभव तो कर ही रहा है अपने को परन्तु पररूप अनुभव कर रहा है। जैसा शरीरो को अपने रूप अनुभव कर रहा है वैसा ही उसी प्रकार अपने को चेतनरूप अनुभव करना है। जैसा वह अनादिकाल से है। यह अनुभव, शरीर आत्मा से अलग-अलग है, शरीर नाशवान है पौद्गलिक है इत्यादि गुण गाने का नाम नही है। इससे इस शरीर के प्रति एकत्व बुद्धि नही टूटेगी। इस एकत्व बुद्धि तोडने के लिए शरीर पररूप दिखाई देना जरूरी है और पररूप दिखाई देने के लिए आत्मस्वरूप की पहचान होना जरूरी है। इसके लिए निरन्तर अभ्यास की जरूरत है। शरीर तो स्वाग है। कोई लडका, लडकी का स्वाग धरकर नाच रहा है लोग उसे लडकी समझ रहे हैं परन्तु लडके को यदि कहा जावे कि तू अपने को लडकी रूप अनुभव कर ले तो वह नही कर सकेगा यद्यपि वह अपने को लडकेरूप अनुभव कर रहा है कर सकता है परन्तु लडकी का स्वाग दिखाते हुए भी अपने को लडकी रूप अनुभव नही कर सकता। क्योकि उसको उस बात की श्रद्धा है कि मैं लडका हूँ लडकी नही। यदि हमे भी आत्मतत्व की ऐसी श्रद्धा हो जावे तो फिर शरीर मे अपनापना नही पैदा हो सकता। शरीर नाशवान है चैतन्य निकलकर चला जाता है मुर्दा पडा रहता है यह हम रोज देखते है परन्तु इस अपने मुर्दे को मुर्देरूप नही देखते। हमारे इसमे रहने से इसको चेतन कहा जाता है परन्तु यह तो वस्तुतः तो मुर्दा ही है। दर्पण के सामने खडे होकर देखे कि जो दिखाई दे रहा है वह मुर्दा है और उसका जानने वाला मैं हूँ ऐसा निरन्तर आभास करे तो वस्तुत यह मुर्दा दिखाई देने लगे तब इसके साथ एकत्वपना छूटे। इसलिए जोर देने को कह रहे हैं कि यह काम तेरे को करना जरूरी है चाहे मरना ही क्यो न पडे।

अब वह निम्न पद्य द्वारा अपनी शका पुष्ट करते है—

कान्त्यैव स्नपयन्ति ये दशदिशो धाम्ना निरुन्धन्ति ये,
धामोद्दाम महस्विना जनमनो मुष्णन्ति रूपेण च।

दिव्येन ध्वनिना सुखं श्रवणयोः साक्षात्क्षरन्तोऽमृतं,
वन्द्यास्तेऽष्टसहस्र लक्षणधरास्तीर्थेश्वराः सूरयः ॥२४॥

अन्वयार्थ—(**अष्टसहस्रलक्षणधरा**) एक हजार आठ लक्षणो को धारण करने वाले (**ते**) वे (**तीर्थेश्वराः**) तीर्थंकर (**सूरयः**) आचार्य (**वन्द्याः**) वन्दनीय है (**ये**) जो (**कान्त्या**) शरीर की कान्ति से (**एव**) ही (**दश दिशा**) दशो दिशाओ को (**स्नपयन्ति**) स्नान कराते है-व्याप्त करते है। (**च**) और (**ये**) जो (**धाम्ना**) अपने शारीरिक तेज से (**महस्विनाम्**) महा तेजस्वी-सूर्यादि के (**उद्दाम**) उत्कट-उत्कृष्ट (**धाम**) तेज को (**निरुन्धन्ति**) रोकते-नीचा करते हैं। (**च**) और (**रूपेण**) अपने शरीर के अलौकिक सौन्दर्य से (**जनमनः**) मनुष्यो—यानी जन्मधारियो - देव, मनुष्य और पशुओ के चित्त को (**मुष्णन्ति**) चुराते अपनी ओर आकृष्ट करते हैं। (**श्रवणयोः**) श्रोताओ के कानो मे—(**दिव्येन**) दिव्य-मनोहर (**ध्वनिना**) ध्वनि-आवाज से (**साक्षात्**) साक्षात्-प्रत्यक्ष रूप से (**अमृतम्**) अमृत को (**सुखम्**) सुख पूर्वक (**क्षरन्तः**) वर्षाते है।

सं० टीका—(**ते प्रसिद्धाः, नाभेयादयस्तीर्थेश्वरा.-श्रुतज्ञान लक्षण तीर्थनायकाः**) वे प्रसिद्ध वृषभ आदि तीर्थंकर अर्थात् श्रुतज्ञानात्मक तीर्थ के स्वामी। (**वन्द्या.-नमस्करणीयाः**) वन्दनीय-नमस्करणीय-नमस्कार के योग्य है। (**ये-भगवन्तः**) जो-भगवान् (**कान्त्यैव-द्युत्या एव-केवलम्**) शरीर की कान्ति से ही (**दशदिशः-ककुभः**) दशो दिशाओ को (**स्नपयन्ति-प्रक्षालयन्ति-स्वकान्त्यैव समस्ता दिशः-प्रकटयन्तीत्यर्थः**) धो डालते हैं अर्थात् अपनी कान्ति से हो सभी दिशाओ को प्रकाशित कर देते है। (**ये-जिनाः**) जो जिनेन्द्र-तीर्थंकर (**धाम्ना-घातिकर्म क्षयोत्पन्न कोटि सूर्याधिक शरीर तेजसा**) घातिया-ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय इन चारो-कर्मों के क्षय से उत्पन्न जो करोडो सूर्यो के तेज से भी अधिक तेज रखने वाला है ऐसे शरीर के तेज से (**उद्दाममहस्विना-अमर्यादीभूत तेजस्विना-स्वर्ण-रत्न-मुक्ताफल-नक्षत्र-विमान-सूर्य-चन्द्र-दीपाग्न्यादीनाम्**) अपार तेज वाले स्वर्ण, मणि, मोती, नक्षत्र-विमान, सूर्य, चन्द्र, दीपक और अग्नि आदि के (**धाम-तेजः**) तेज को (**निरुन्धन्ति-निवारयन्ति-स्वल्पीकुवन्तीत्यर्थः**) निवारण करते हैं। (**तथाचोक्तम्**) इसी रूप से—कहा भी है—

आकस्मिकमिव युगपद्दिवसकर सहस्रमपगत व्यवधानम्।
भामण्डलमिव भावित रात्रिन्दिवभेदमतितरामाभाति ॥१॥

(**युगपत्**) एक साथ (**अपगतव्यवधानम्**) रुकावट रहित (**आकस्मिकम्**) अकस्मात्-अचानक उपस्थित हुए (**दिवसकर सहस्रम्**) हजार सूर्यो के (**इव**) समान (**भावितरात्रिन्दिवभेदम्**) रात और दिन के भद से रहित (**भामण्डलम्**) यह भामण्डल—तेज का पुञ्ज (**अतितराम्**) अतिशय रूप से (**आभाति**) शोभित हो रहा है ऐसा (**इव**) मालूम होता है।

(**ये**) जो (**रूपेण कृत्वा**) रूप के द्वारा (**जनमन-त्रिलोक निवासिप्राणिचित्तम्**) तीनो लोको मे

निवास करने वाले प्राणियों के चित्त को (**मुष्णन्ति-हरन्ति**) हरते हैं (**तच्चित्ताकर्षणं कुर्वन्तीत्यर्थः**) अर्थात् उनके मन को अपनी ओर आकर्षित करते-खीच लेते हैं। (**किम्भूतास्ते**) कैसे है वे ? (**सुखम्-उभयोः शर्म यथा भवति तथा**) दोनो को सुख जैसे हो वैसा जो करते हैं। (**श्रवणयोः-कर्णयोः**) कानो मे (**साक्षात्-प्रत्यक्षम्**) प्रत्यक्ष (**अमृतम्-धर्मसुधाम्-संसार दु.खापहारित्वात्**) धर्मरूपी अमृत को क्योकि धर्मरूपी अमृत ही ससार के दु खो का नाश करता है (**क्षरन्त.-स्रवन्तः**) बहाते हैं या वर्षाते है। (**केन**) किसके द्वारा ? (**दिव्येन-अन्यजनातिशायिना, ध्वनिना-तीर्थंकर पुण्यकर्मातिशय विजृम्भमाणध्वनिना**) दिव्य-अन्य मनुष्यो को तिरस्कृत करने वाली अर्थात् अन्य पुरुषो के नही पायी जाने वाली ध्वनि के द्वारा जो नामकर्म की पुण्यप्रकृति रूप तीर्थंकर प्रकृति के अतिशय से वृद्धि को प्राप्त करती है ऐसी वाणी से। (**पुन किम्भूताः**) फिर कैसे ? (**अष्टेत्यादि-अष्टाभिरधिकानिसहस्राणि तानि च तानि लक्षणानि वज्र-कुशेशय तोरण-छत्राकारादीनि तेषां धराः-धारकाः, ते तथोक्ता**) जो वज्र-कुशेशय कमल-तोरण-छत्र आदि एक हजार आठ चिह्नो को धारण करते हैं। (**नवशत व्यञ्जनोपलक्षिताऽष्टशत लक्षण लक्षित्वात्**) क्योकि वे ९०० नव सौ व्यञ्जन तथा १०८ एक सौ आठ लक्षणो-चिह्नो से उपलक्षित-सहित होते हैं। (**तथा च सूरयः-आचार्याः**) और आचार्य (**वन्द्या.**) वन्दनीय है ॥२४॥

इसके बाद शिष्य कहता है कि कान्ति आदि गुणो के द्वारा शरीर के स्तवन से ही शरीर का स्वामी होने से आत्मा का स्तवन निश्चयनय की दृष्टि से योग्य क्यो नही कहा जाता है ? ऐसा कहने पर आचार्य महाराज दो पद्यो द्वारा उत्तर देते हैं।

प्राकार कवलिताम्बर मुपवन राजीनिगीर्ण भूमितलम्।
पिवतीव हि नगरमिदं परिखा वलयेन पातालम् ॥२५॥

अन्वयार्थ—(**प्राकारकवलिताम्बरम्**) परकोट से आकाश को ग्रसने वाला—अर्थात् कोट की ऊँचाई से आकाश को स्पर्श करने वाला। (**उपवनराजी निगीर्णभूमितलम्**) बगीचो की पक्तियो से भूतल को व्याप्त करने वाला (**इदम्**) यह (**नगरम्**) नगर (**परिखा वलयेन**) खाई के मण्डल से (**पातालम्**) अधोलोक को (**पिवति**) पान करता (**इव**) सा अर्थात् पीता हुआ सरीखा (**प्रतिभात**) मालूम होता है।

सं० टीका—(**इदम्-प्रसिद्धम्**) यह प्रसिद्ध (**नगरम्-पत्तनम्**) नगर-शहर (**पिबतीव-पानं करोति-गलतीत्यर्थः**) पान कर रहा है—अर्थात् निगल रहा है (**इव-उपमायाम्**) इव-यह उपमार्थक अव्यय है। (**किम् ?**) किसे ? (**पातालम्-अधोभवनम्**) अधोलोक को (**केन ?**) किसके द्वारा (**परिखावलयेन, अतिमात्रंनिम्नत्वात्**) खातिका मण्डल के द्वारा क्योकि वह बहुत नीचा-गहरा है। (**किम्भूतम् ?**) वह कैसा है ? (**प्राकारेत्यादि-प्राकारेण शालेन, कवलितं-कवलीकृतं, व्याप्तमित्यर्थः, अम्बरं-नभः, येन तत्, अत्युच्चैस्तरत्वात्**) कोट के द्वारा जिसने आकाश को व्याप्त कर रखा है क्योकि वह बहुत ही ऊँचा है। (**उपेत्यादि-उपवनानां-वाटिकानां राजिः-पंक्तिस्तया निगीर्ण-व्याप्तं-भूमितल-पृथ्वीतल, येन तत्**) बगीचो की पक्ति से जिसने भूमण्डल को घेर रखा है। (**इति नगरे वर्णितेऽपि राज्ञस्तदधिष्ठातृत्वेऽपि प्रकारादि स्वरूपाभा-**

वात्, वर्णनं नो भवति) इस प्रकार से नगर का वर्णन होने पर भी नगर के स्वामी राजा का वर्णन नही होता है क्योंकि राजा कोट आदि स्वभाव वाला नही है, वैसे ही।

भावार्थ—जैसे कोट आदि नगर के ही स्वभाव है राजा के नही अत नगर के वर्णन से जैसे राजा का वर्णन सम्भव नही है तैसे ही तीर्थंकर के शरीर के सौन्दर्य के वर्णन से तीर्थंकर की आत्मा का वर्णन कथमपि सम्भव नही है क्योकि वे कान्ति आदि जड शरीर के स्वभाव है तीर्थंकर की आत्मा के नही।

शरीर के स्तवन से तीर्थंकर की आत्मा का स्तवन नही होता यह स्पष्ट करते है—

नित्यमविकार सुस्थित सर्वाङ्गमपूर्व सहज लावण्यम्।
अक्षोभमिव समुद्रं-जिनेन्द्ररूपं परं जयति ॥२६॥

अन्वयार्थ—(**नित्यम्**) नित्य-शरीर की स्थिति पर्यन्त स्थिर रहने वाला, (**अविकार सुस्थित सर्वाङ्गम्**) विकार रहित होने से जिस शरीर के सभी अवयव सुदृढ रहते है, (**अपूर्वसहज लावण्यम्**) अपूर्व स्वाभाविक सौन्दर्य से युक्त (**समुद्रम्**) समुद्र के (**इव**) समान (**अक्षोभम्**) क्षोभ रहित (**परम्**) सर्वोत्कृष्ट (**जिनेन्द्ररूपम्**) जिनेन्द्र तीर्थंकर महाप्रभु का रूप (**जयति**) जयशील है-सर्वोपरि है।

सं० टीका—(**जिनेन्द्ररूपं-सर्वज्ञरूपं**) सर्वज्ञ का रूप (**जयति-सर्वोत्कर्षेण वर्तते**) सबसे उत्कृष्ट है, (**किम्भूतम् ?**) कैसा है ? (**नित्यम्-यावच्छरीरभावित्वात् स्थिरमित्यर्थः**) नित्य-जब तक शरीर रहेगा तव तक रहने वाला है, (**अवीत्यादि-अविकारेण-नेत्र हस्तादिविकृत्यभावेन, सुस्थितानि सर्वशरीराङ्गानि-सर्वावयवा यस्य तत्**) नेत्रहस्त आदि मे विकार का अभाव होने से जिसके शरीर के सभी अवयव पूर्णतया सुरक्षित हैं, (**पुनः किम्भूतम् ?**) फिर कैसा है ? (**अपूर्वेत्यादि-अपूर्वं अन्यजीवासम्भवि, सहजं-अकृत्रिम्-स्वाभाविकमित्यर्थः, लावण्यं-लवणिमा-यस्य तत्**) अन्य जीवो के नही पाया जाने वाला– ऐसा स्वाभाविक सौन्दर्य जिसका है। (**समुद्रमिव**) समुद्र के समान (**अक्षोभम्-न केनापि क्षुभ्यत इत्यक्षोभम्**) किसी के द्वारा भी क्षोभ को नही प्राप्त होने वाला (**इति शरीरेस्तूयमाने तीर्थंकर-केवलिपुरुषस्य तदधिष्ठातृत्वेऽपि सुस्थित सर्वाङ्गादिगुणाभावात् स्तवन न स्यात् ॥२६॥**) इस तरह से शरीर की स्तुति होने पर तीर्थंकर-केवली भगवान जो उस शरीर के अधिष्ठाता-स्वामी है तो भी सुस्थित सर्वाङ्ग आदि गुणो का अभाव होने से उनकी स्तुति नही हो सकती।

भावार्थ—अब शिष्य कहता है कि यदि यह बात है तब तो तीर्थकर की सारी स्तुतियाँ अप्रशस्त-निरर्थक हो जायेंगी, ऐसी स्थिति मे शरीर तथा आत्मा दोनो मे एकत्व होगा ? "नैव नयविभागाभावात्।) आचार्य उत्तर मे कहते हैं कि नही, ऐसा नही है तुम्हे नय के विभाग का ज्ञान नही है इसलिए तुम ऐसा कहते हो।

अब आचार्य यहाँ उसी नय का उल्लेख करते है—

एकत्वं व्यवहारतो न तु पुनः कायात्मनोर्निश्चया-
न्नुः स्तोत्रं व्यवहारतोऽस्ति वपुषः स्तुत्या न तत्तत्त्वतः।

स्तोत्रं निश्चयतश्चितो भवति चित्स्तुत्यैव सैवं भवे-
न्नातस्तीर्थकरस्तवोत्तरबलादेकत्व मात्माङ्गयोः ॥२७॥

अन्वयार्थ—(**व्यवहारत.**) व्यवहार नय से (**कायात्मनोः**) शरीर और आत्मा दोनो मे (**एकत्वम्**) एकता (**अस्ति**) है (**पुन**) किन्तु (**निश्चयात्**) निश्चय नय से (**न तु**) नही (**अस्ति**) है। (**वपुष**) शरीर की (**स्तुत्या**) स्तुति से (**नुः**) आत्मा का (**स्तोत्र**) स्तवन (**व्यवहारत.**) व्यवहार नय से (**अस्ति**) है (**तत्**) वह स्तोत्र (**तत्त्वत.**) निश्चय नय से (**न**) नही (**अस्ति**) है। (**निश्चयत.**) निश्चय नय से (**चित्स्तुत्या**) चैतन्यस्वरूप आत्मा की स्तुति से (**एव**) ही (**चितः**) आत्मा का (**स्तोत्रम्**) स्तोत्र (**भवति**) होता है। (**एवम्**) इस प्रकार निश्चय स्तुति ही आत्मा की स्तुति है ऐसा होने पर ही (**सा**) वह निश्चय स्तुति (**भवेत्**) हो सकती है। (**अतः**) इस लिये अर्थात् आत्मा और शरीर की स्तुति निश्चय और व्यवहार से भिन्न होने के कारण (**तीर्थकरस्तवोत्तर बलात्**) तीर्थंकर के स्तवन के बल से (**आत्माङ्गयोः**) आत्मा और शरीर मे (**एकत्वम्**) एकत्व-अभिन्नता (**न**) नही (**भवेत्**) हो सकती।

स० टीका—(**कायात्मनोः-देह देहिनो**) शरीर और शरीरी-आत्मा का (**एकत्वं-कथञ्चिदेकता**) कथञ्चित्-विवक्षा के वश से एकत्व-अभिन्नत्व है (**व्यवहारनयत.-व्यवहारनयमाश्रित्य, लोकव्यवहार वा आत्मकर्मवशान्नोकर्मरूपेण पुद्गलस्कन्धबन्धो देहः, कनक कलधौतयोरेकस्कन्ध व्यवहारवत् नीरक्षीरवद्वा**) व्यवहार नय का अथवा लोक-व्यवहार का आश्रय करके आत्मा और कर्म के वश से नोकर्म रूप से पुद्गलस्कन्धो का बन्ध ही-देह-शरीर कहलाता है जैसे सुवर्ण और रजत "चाँदी" को एकबन्ध रूप स्कन्ध मे ही सुवर्ण का व्यवहार तथा पानी और दूध के एक बन्ध मे दूध का व्यवहार देखा जाता है।

(**पुन निश्चयात्-निश्चयनयमाश्रित्य नैकत्वं, तयोः परस्परं भिन्नत्वात्**) किन्तु निश्चय नय का आश्रय करने से शरीर और आत्मा मे एकत्व नही है क्योकि वे दोनो आपस मे भिन्न जुदे हैं। (**त्वित्यधिक पद विशेष ज्ञायकम्, निश्चयाद्धि देह देहिनो.-अनुपयोगोपयोगरूपयो., कनक कलधौतयो. पीत पांडुत्वस्व-भावयोरिव, अत्यन्त व्यतिरिक्तत्वेनैकार्थत्वानुपपत्ते र्नानात्वम्, एवं किल नय विभाग**) 'तु' यह अधिक पद विशेषार्थ का ज्ञापक है अर्थात् निश्चयनय से देह और देही 'अनु'उपयोग-ज्ञानदर्शन रहित और उप-योग ज्ञानदर्शन सहित स्वभाव मे होने से, सुवर्ण और चाँदी मे 'पीतत्व' पीलापन और 'पाण्डुत्व' सफेदी स्वभाव मे अत्यन्त भेद होने से एक पदार्थ नही हैं किन्तु स्वभाव भेद से जुदा-जुदा पदार्थ हैं वस्तुत यह नयविभाग है। (**अतः-कारणात्**) इस कारण से—(**वपुष-शरीरस्य**) शरीर के (**स्तुत्यास्तवनेन-शरीरगुण-वर्णनेन**) स्तवन—गुणो के वर्णन से (**नु -आत्मन**) आत्मा का (**स्तोत्र-स्तवनम्**) स्तवन (**अस्ति-भवति**) हो जाना है (**कुत -व्यवहारत -व्यवहारनयात्**) कैसे ? व्यवहारनय से, (**तत्-स्तोत्रं-निश्चयात्-परमार्थत. न हि।**) वह स्तोत्र निश्चयनय से नही। (**ननु आत्मन स्तोत्रम्-कथम् ?**) शकाकार कहता है कि आत्मा का स्तवन कैसे होता है ? उत्तर मे कहते हैं कि (**निश्चयत -परमार्थत , चित चिद्रूपस्यात्मन स्तोत्रं-स्तवनम् गुणवर्णन-मित्यर्थ -भवति-अस्ति,**) निश्चयनयसे चैतन्यस्वरूप आत्मा का स्तवन—अर्थात् आत्माके गुणो का वर्णन करने

से होता है। **(कया ?)** कैसे ? **(चित्स्तुत्यैन-चिद्रूपस्यामूर्ताखण्ड ज्ञानदर्शनाद्यनन्तगुणस्तवनेन,)** चैतन्यस्वरूप अमूर्त आत्मा के अखण्ड ज्ञान, दर्शन आदि अनन्त गुणो के कीर्तन से, **(एवं निश्चयस्तुतिरेव-आत्मस्तुतिः, एवं सति सा निश्चयस्तुतिः स्तुतिर्भवेत्)** इस तरह से निश्चय स्तुति ही आत्मा की स्तुति है ऐसा होने पर वह निश्चय स्तुति ही स्तुति हो सकती है। **(अतः-आत्मशरीरयोर्भिन्नत्व समर्थनात्)** इसलिए आत्मा और शरीर के जुदापन का समर्थन होने से। **(एकत्व-अभिन्नत्वं न भवतीत्यर्थः)** एकता-अर्थात् अभिन्नता नही है। **(कयोः ?)** किनकी **(आत्माङ्गयो.-चिद्रूपदेहयो)** आत्मा और शरीर इन दोनो की **(कुतः ?)** कैसे ? **(तीर्थेत्यादि -तीर्थंकरस्य नाभेयादिजिनस्य स्तवः-अष्ट प्रातिहार्यादिगुणवर्णनं, तीर्थंकर शरीर गुणवर्णनमेव परमार्थ स्तवनमिति-प्रत्युत्तर बलाधानात्-एकत्वं न कदाचन ॥२७॥)** नाभिराज के पुत्र श्री वृषभदेव तथा अजित आदि अन्य तीर्थंकरो के अष्ट प्रातिहार्य आदि गुणो का वर्णन तीर्थंकरो के शरीर के गुणो का वर्णन ही परमार्थ वास्तविक स्तवन है इसके उत्तर मे जो कुछ भी ऊपर कहा गया है उससे आत्मा और शरीर मे कभी एकत्व अभिन्नत्व नही हो सकता यह बात सर्वथा सुस्पष्ट है।

भावार्थ—शरीर तो पौद्गलिक है। उसमे स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण इन गुणो की उपलब्धि होती है जो चैतन्य स्वरूप आत्मा के गुणो से बिलकुल ही विपरीत है। गुणो के वैपरीत्य से गुणवान का विपरीत होना स्वभावसिद्ध है ऐसी स्थिति मे आत्मा और शरीर ये दोनो पृथक्-पृथक् पदार्थ है यह तर्कसिद्ध, निर्बाध, निर्विवाद बात है। अत एक के स्तवन से दूसरे का स्तवन नही हो सकता। शिष्य ने शरीर मे आत्मत्व की भ्रान्ति से उक्त बात कही थी। उसका निवारण आचार्य ने यहा स्वभाव भेद से कर दिखाया है। साथ ही यह भी स्पष्ट कर दिया है कि व्यवहार नय से शरीर और आत्मा का एक क्षेत्रावगाह सम्बन्ध होने से शरीर के स्तवन से आत्मा का स्तवन हो जाता है। यह ज्ञानी-सम्यग्दृष्टि-जिसे आत्मा शरीर मे पूर्णतया भिन्नता का ज्ञान है, की अपेक्षा से ही कहा गया है। व्यवहार की समीचीनता और असमीचीनता का ज्ञान सम्यग्ज्ञानी को ही होता है मिथ्याज्ञानी को नही। क्योकि मिथ्याज्ञानी को उन दोनो की असलियत की खबर ही नही है। फिर निश्चयनय की तो बात ही क्या है वह तो उसका विषय सर्वथा नही है।

अब आत्मा और शरीर के भेद का उपसंहार पूर्वक फलितार्थ कहते हैं—

इति परिचित तत्त्वैरात्मकायैकतायां नयविभजनयुक्त्याऽत्यन्तमुच्छादितायाम्।
अवतरति न बोधो बोधमेवाद्य कस्यस्वरसरभसकृष्टः प्रस्फुटन्नेक एव ॥२८॥

अन्वयार्थ—**(इति)** इस प्रकार से—पूर्व मे कहे अनुसार **(परिचित तत्त्वैः)** वस्तु स्वरूप को सम्यक् प्रकार से जानने वाले मुनीश्वरो द्वारा **(नयविभजनयुक्त्या)** नय-निश्चय और व्यवहार के विभाग की योजना से अर्थात् निश्चय और व्यवहार दोनो नयो के पृथक्-पृथक् स्वरूप के प्रदर्शन द्वारा **(आत्मकायैकतायाम्)** आत्मा और शरीर मे अभिन्नता का **(अत्यन्तम्)** अतिशय रूप से **(उच्छादितायाम्)** उच्छेद-विनाश-खण्डन होने पर **(स्वरस रभसकृष्टः)** अपने आत्मिक आनन्दरूप रस से वेग पूर्वक आकर्षित

हुआ (**प्रस्फुटन्**) विकास को प्राप्त करता हुआ (**एक·**) अद्वितीय (**बोध.**) आत्मज्ञान (**एव**) ही (**अद्य**) इस समय (**कस्य**) किस पुरुष की (**बोधम्**) आत्मा को (**न**) नही (**अवतरति**) प्राप्त करता है (**अपि तु**) किन्तु (**सर्वस्य**) सभी की आत्मा को प्राप्त करता है।

सं० टी०—(**अद्य-इदानीम्**) इस समय (**एव-निश्चयेन**) निश्चय से- (**कस्य-पुरुषस्य**) किस पुरुष के (**बोध.-बोधविज्ञानम्**) भेद विज्ञान— जुदाई का ज्ञान (**बोधम् बुध्यते-जानातीति बोध·-आत्मा, अथवा गुणे गुणिन उपचार तम्**) जो जानता है उसे बोध कहते हैं अर्थात् ज्ञान अथवा ज्ञान गुण मे गुणी-आत्मा का उपचार करने से बोध शब्द का अर्थ आत्मा हो जाता है उस आत्मा को (**न**) नही – (**अवतरति, न प्रादुर्भवति**) प्राप्त करता (**अपितु प्रादुर्भवत्येव**) किन्तु प्राप्त करता ही है। (**किं भूतः सः**) कैसा वह (**स्वेत्यादिः स्वस्य-आत्मन , रसः ज्ञानशक्ति विशेषः, तस्य रभस, वेग·, तेनकृष्ट -आकृष्टः विशदीकृत. इत्यर्थः**) अपनी आत्मा की ज्ञान शक्ति की विशेषता के वेग से विस्तार को या निर्मलता को प्राप्त हुआ (**भूयः किम्भूतः**) फिर कंसा ? (**प्रस्फुटन्-प्रकर्षेण निर्मलीभवन्-प्रकटीभवन्वा**) अतिशय रूप से निर्मलता को धारण करता हुआ अथवा प्रकट होता हुआ (**एक एवनान्यः**) अकेला ही दूसरा नही (**बोधं विना आत्मानं प्रत्यवतरयितु न कश्चित्क्रमः इत्यर्थ.**) अर्थात्—ज्ञान को छोडकर आत्मा मे अवतार लेने वाला दूसरा कोई नही है (**क्व-सत्याम्**) किसके होने पर (**आत्मेत्यादिः-आत्मा च कायश्च-आत्मकायौ तयोरेकता-ऐक्यं— तस्यां, उच्छादितायाम्-निराकृतायाम् सत्याम्**) आत्मा और शरीर दोनो की एकता का निराकरण-निषेध, होने पर (**कया ?**) किससे (**नयेत्यादि-नयस्य-निश्चयव्यवहार लक्षणस्य विभजन विभाग. तस्य युक्तिः दर्शनोपन्यासः तया**) निश्चय और व्यवहार रूप नयो के स्वरूप के विभाग-जुदाई को दिखाने से (**कैः ?**) किनके द्वारा (**इति-पूर्वोक्त प्रकारेण परिचित परिचयीकृत तत्त्व शुद्धचिद्रूप लक्षण यैस्ते इति परिचित तत्त्वास्तैः**) पूर्वोक्त प्रकार से शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा को जानने वाले तत्त्वज्ञ पुरुषो के द्वारा ॥२८॥

भावार्थ—वस्तुत नयो के स्वरूप का जानना वस्तुस्वरूप के जानने मे नितान्त आवश्यक है। उसके न जानने से हो यह आत्मा अनादि से अज्ञानी बना हुआ है, अतएव शरीर को ही आत्मारूप से मानता आ रहा है। शरीर से भिन्न आत्मा नाम का कोई स्वतन्त्र तत्त्व है ऐसा उसे आज तक ज्ञान नही हुआ अतएव अज्ञानी ही बना रहा, लेकिन जब तत्त्वज्ञ महापुरुषो के तात्त्विक उपदेश को सुना और अनुभव मे उसे उतारा तब मालूम हुआ कि अहो, मैं तो जड शरीर से सर्वथा भिन्न विज्ञानघन चैतन्य चमत्कार का पुञ्जरूप आत्मा हूँ। मैं तो स्वभावत अजर-अमर नित्य सच्चिदानन्दमय हूँ। शरीर तो स्वभावत विनश्वर है। जड है। इसके साथ मेरा क्या सम्बन्ध ? इसमे और मेरे मे आकाश पाताल जैसा अन्तर है। क्या कभी पूर्व और पश्चिम एक हो सकते हैं ? नही, कभी नही। वैसे ही आत्मा और पौद्गलिक शरीर भी तीनो कालो मे भी एक नही हो सकते ? यह सब निश्चयनय और व्यवहारनय के स्वरूप के समझने का ही सुफल है जो आत्मा को आत्मा रूप से और शरीर को शरीररूप से स्वीकार कराने मे समर्थ कारण है। नय विवेक से ही बहिर्मुखी दृष्टि का त्याग और अन्तर्मुखी दृष्टि का उत्पाद होता है

अतः नय विवेक आत्मा और शरीर के यथार्थ स्वरूप को जानने मे सक्षम है ऐसा मानकर हमे सर्व प्रकार उसे ही समझने और अनुभव मे लाने का प्रयत्न करना चाहिए, बिना उसे जाने और समझे हमारा अनादि अज्ञान दूर नही हो सकता ॥२८॥

अब जब तक परभावो का अभाव है तब तक ही स्वानुभव होता है यह बताते है –

अवतरति न यावद् वृत्तिमत्यन्तवेगादनवमपरभावत्यागदृष्टान्तदृष्टिः ।
झटिति सकल भावैरन्यदीयैर्विमुक्ता स्वयमियमनुभूतिस्तावदाविर्बभूव ॥२९॥

अन्वयार्थ—(**यावत्**) जब तक (**अनवम्**) यथार्थ रूप से (**अत्यन्तवेगात्**) अति शीघ्रतापूर्वक (**अपरभावत्याग दृष्टान्त दृष्टिः**) परपदार्थों के त्यागरूप दृष्टान्त की दृष्टि (**वृत्तिम्**) प्रवृत्ति को (**न**) नही (**अवतरति**) प्राप्त करती (**तावत्**) तब तक (**अन्यदीयै.**) पर पदार्थों के (**सकलभावै.**) सभी परिणमनो से (**विमुक्ता**) रहित (**इयम्**) यह (**अनुभूति.**) आत्मानुभूति (**झटिति**) शीघ्र ही (**आविर्बभूव**) प्रकट हो जाती है।

सं० टी०—(**यावत्-यावत्पर्यन्तम्**) जब तक (**अनव-सत्य यथाभवति तथा**) सत्य रूप से (**अत्यन्त-वेगात्-अति शीघ्रम्**) जल्द से जल्द (**अपरेत्यादि**.—**अपरे च ते भावाश्च अपरभावाः-अन्यपदार्था, तेषा त्यागः-त्यजनं तदुल्लेखाय यो दृष्टान्तः तत्र दृष्टि**) परपदार्थों के त्याग का उल्लेख करने के लिए जो दृष्टात उस पर जाने वाली दृष्टि (**यथाहि—कश्चिन्नरः, रजकात् परकीयमम्बरमादाय सम्भ्रान्त्यात्मीय प्रतिपत्त्या परिधाय शयानः स्वयमज्ञानी सन् अन्येन तद्वस्त्र स्वामिना तदञ्चलमालम्ब्यबलान्नग्नीक्रियमाणो मक्षु प्रतिबुद्ध्यस्व अर्पय, परिवर्तितमेतद्वस्त्रं मामकमिति-असकृद्वच श्रृण्वन्, अखिलैश्चिन्है. सुपरीक्ष्य परकीय-मिति निश्चित्याचिरात्, ज्ञानी सन् मुञ्चति तथा ज्ञाताऽपि परभावान् सम्भ्रान्त्यास्वप्रतिपत्त्यात्मसात्कुर्वन् शयानः स्वयमज्ञानीसन् गुरुणा परभावे विवेक कृत्वैकीक्रियमाणो मक्षु प्रतिबुध्यस्व, एक. खल्वयमात्मा, इत्य-सकृत् श्रुति श्रौतीं श्रृण्वन् अखिलैश्चिह्नैं सुपरीक्ष्य सर्वान् परभावान्निश्चित्य ज्ञानी सन् मुञ्चति परभावा-निति दृष्टान्त दृष्टि**,) जैसे— कोई मनुष्य धोबी से किसी दूसरे का कपडा लेकर भ्रान्ति से अपना मान-कर पहन कर सो रहा है। उस अज्ञानी को यह खबर नही है कि यह कपडा मेरे से भिन्न किसी दूसरे का है। मेरा खुद का नही है। अकस्मात् उस वस्त्र का मालिक उस कपडे के छोर को पकड कर जबरन उस मनुष्य को नग्न करता हुआ कहता है कि हे भाई तू जल्दी जाग, यह कपडा मेरा है। बदल गया है। इसे तू मुझे दे दे। उक्त प्रकार के वचनो को अनेक बार सुनते हुए उसने समस्त चिह्नो से उस वस्त्र का निरी-क्षण और परीक्षण करके यह वस्त्र वस्तुत दूसरे का है। मेरा नही है, ऐसा निश्चय करके समझदारी के साथ वह उसे छोड देता है। वैसे ही ज्ञानी-स्वपर विवेकी भी परपदार्थों को भ्रम मे अपने मानकर अपने अधीन करके स्वय अज्ञानी होकर सो रहा है, अर्थात् स्वपर के भेद विज्ञान से शून्य है। इतने मे ही तत्त्व-ज्ञानी परम दयालु श्री गुरु ने पर पदार्थों को आत्मा से सर्वथा भिन्न सिद्ध करके तू एक है, अद्वितीय है

जल्दी जाग। यह आत्मा निश्चयत· एक है इस प्रकार की शास्त्रीय चर्चा को बार-बार सुनता है सुनते ही सभी प्रकार के लक्षणो से भली भाति परीक्षा करके सभी परभावो का निश्चय करके स्वय ज्ञानी हो समस्त परपदार्थो का त्याग कर देता है यह है दृष्टान्त दृष्टि। (**वृत्ति-परभावप्रवृत्ति प्रति**) परपदार्थों की ओर प्रवृत्ति को (**न अवतरति-अवतरणं न करोति**) अवतरण-प्रवर्तन को नही करती है (**तावत्पर्यन्त**) तब तक (**इयमनुभूतिः आत्मानुभवज्ञानम्**) यह आत्मानुभव का ज्ञान (**स्वयं-स्वतः**) अपने आप (**आविर्बभूव प्रकटीबभूव**) प्रकट हो जाता है (**झटिति-शीघ्रम्**) शीघ्र-जल्दी (**किम्भूता ?**) कैसा ? (**विमुक्ता-त्यक्ता**) विमुक्त होकर (**कै. ?**) किनसे (**अन्यदीयै.-परकीयैः**) पर (**सकलभावैः-सकलचेतनाचेतनपदार्थैं**) सभी चेतन और अचेतन पदार्थों से ॥२९॥

भावार्थ – मोहजनित अज्ञान के कारण ही यह आत्मा अनात्मा को ही आत्मरूप से मानता रहता है। यह मोह का महान् परदा जब तक आत्मा पर पडा रहेगा तव तक आत्मा, अत्मारूप मे अपने को नही जान सकता, हाँ श्रीगुरु आदि के तत्त्वोपदेश का निमित्त मिल जाय और स्वत के उपादान मे विवेक-स्वपर भेद विज्ञान जागृत होने की वेला-काललब्धि आ मिलें तो उक्त मोह का परदा वायु के सम्पर्क से कपूर की तरह उड जाय और उपादान स्वय ही भेदविज्ञान रूप मे परिणत हो परपदार्थों मे एकत्व और ममत्व का परित्याग कर स्वय आत्मा एक है, अखण्ड है, नित्य है, सच्चिदानन्द का पुञ्ज है ऐसा स्वीकार कर, अभूतपूर्व अननुभूत और अश्रुतपूर्व आनन्द का अनुभव करने लगता है जो इसकी खास निधि है स्वाभाविकी सम्पत्ति है इसी बात को जानने समझने और अनुभव मे लाने के लिए ही परवस्त्र को अपना मानकर बेफिक्री से सोने वाले मनुष्य को वस्त्र का स्वामी जैसे जगाकर और उसे अपने वस्त्र के उन तमाम चिह्नो को समझा-बुझाकर कहता है कि यह वस्त्र मेरा है भूल से तुमने इसे अपना मानकर पहन रखा है अब तुम इसकी परीक्षा करके यह हमे लौटा दो। तव वह मनुष्य भी सावधानी से उसकी उन तमाम बातो को ध्यान से सुनता है और विचार करता है। तदुपरान्त वह इस नतीजे पर पहुचता है कि हाय मैंने बडी गलती की अक्षम्य भूल की, जो मैं दूसरे के कपडे को अपना मानकर पहनता रहा हूँ यह तो मेरा नही है अत मुझे इसे अविलम्ब लौटा देना चाहिए। बस इतना विचार दृढ होते ही वह उसे निर्ममत्व भाव से दे देता है। यही बात अनादि अज्ञानी जीव के विषय मे भी समझ लेनी चाहिए। यह अज्ञानी जीव अज्ञानवश परपदार्थो को अपना मानता है उसकी यह मान्यता वस्तु स्वरूप से सर्वथा विपरीत है जो उसको निरन्तर उत्पीडित खेदखिन्न करती रहती है, यह है अज्ञान का असीमित माहात्म्य। बाह्य मे सद्गुरु आदि के उपदेश आदि का सुअवसर प्राप्त होने से जव स्व-पर-भेदविज्ञान के प्रगट होने पर वह अज्ञान ही सम्यग्ज्ञान रूप मे परिणत हो जाता है तब वह ज्ञानी स्वय ही उन समस्त परपदार्थों से व्यामोह का परित्याग कर स्वरूपरत हो सच्ची आत्मिक अनुभूति के अनुपम आनन्द का पात्र बन जाता है। तात्पर्य यह है कि पर मे अहङ्कार और ममकार की बुद्धि ही अज्ञान है जो मोहजन्य है उस विपरीत बुद्धि का परित्याग ही सज्ज्ञान-आत्मज्ञान है जो परनिरपेक्ष है और है सर्वदा-सर्वथा स्वापेक्ष। इस ज्ञान

के प्रकट होते ही आत्मा मे स्वानुभूति रूप निज परिणति अबाधरूप से प्रवृत्त होती है ।

अब आत्मा स्वय ही स्वरस का आस्वादन करता है यह बताते है—

सर्वतः स्वरस निर्भरभावं चेतये स्वयमहं स्वमिहैकम् ।
नास्ति नास्ति मम कश्चन मोहः शुद्ध चिद्घनमहोनिधिरस्मि ॥३०॥

अन्वयार्थ—(**अहम्**) मैं (**स्वयम्**) अपने आप-परनिरपेक्षरूप से (**इह**) इस ससार मे (**सर्वतः**) सब तरफ से-पूर्णरूप से (**स्वरसनिर्भरभावम्**) चैतन्य रूप निज रस से भरपूर स्वभाव वाले (**एकम्**) एक अद्वितीय (**स्वम्**) आत्मा को (**चेतये**) चिन्तन-अनुभवन करता हूँ। (**मोहः**) मोह (**मम**) मेरा (**कश्चन**) कोई (**नास्ति-नास्ति**) नही है नही है। (**अहम्**) मैं (**तु**) तो (**शुद्धचिद्घनमहोनिधिः**) शुद्ध चैतन्य का समूहरूप तेज का पुञ्ज (**अस्मि**) हूँ।

सं० टी०—(**इह जगति**) इस ससार मे (**अहम्-आत्मा**) आत्मारूप मैं (**स्वयं-आत्मना**) अपने द्वारा (**स्वम्-आत्मानम्**) अपनी आत्मा को (**चेतये-अनुभवामि, उपलभे-जानामीत्यर्थ.**) जानता हूँ। (**किम्भूत-मात्मानम्**) कैसी आत्मा को (**सर्वत.-सामस्त्येन**) समस्त रूप से (**स्वरसनिर्भर-भावम्-स्वस्य-आत्मन., रसः-रुचि-अनुभवनमिति यावत्-तेन निर्भरो भावः स्वभावोयस्य तम्,**) आत्मा के रस-अनुभव से भरपूर स्वभाव वाला (**मम-आत्मन**) मेरा (**कश्चन-कोऽपि**) कोई भी (**शरीरादौ**) शरीर आदि मे (**मोहः ममत्वं**) मोह-ममत्व—यह मेरा है इस प्रकार का भाव- (**नास्ति नास्ति-पुन. पुनर्नविद्यते**) नही है नही है -ऐसा बार-बार विचार करता है। (**अस्मि-भवा-यहम्**) मैं हूँ (**कीदृशः**) कैसा ? (**शुद्धेत्यादि-शुद्धा-निर्मला-कर्मकलङ्कराहित्यात्-सा चासौ चित् चेतना तस्याः, घनो निबिड़ः स चासौ महोदधि. महासमुद्रश्च घनरसानामिव नि.शेषगुणानामाधारत्वात्**) शुद्ध-निर्मलकर्ममल से रहित होने के कारण अति पवित्र चेतना का अगाध महा समुद्र हूँ क्योकि आत्मा समस्त गुणो का आधार है ॥३०॥

भावार्थ—मैं स्वभावतः अनन्त आनन्द का अखण्ड पिण्ड हूँ। उसका अनुभवन मैं ही स्वय अपने आप अपने द्वारा करने का पूर्ण अधिकारी हूँ। अन्य किसी चेतन या अचेतन द्रव्य का मेरे साथ जरा-सा भी सहज सम्बन्ध नही है। परद्रव्य के साथ मेरा अहकार या ममकार मेरे ही अज्ञान के कारण हो रहा था जिसकी वजह से मैं अनन्त ससारी बना रहा, यह मेरी ही मूल मे भूल थी। जो अब तत्त्वोपदेश रूप अमृत के पान करने से सब तरह से निर्मूल हो चुकी है और मैं स्वय ही ज्ञान-चेतना की अवस्था मे रह रहा हूँ अतएव मात्र आत्मा का ही अनुभव करता हूँ ॥३०॥

अव आत्मा और पर द्रव्यो के विवेक-भेद का विस्तार के साथ कथन करते हैं—

इति सति सह सर्वैरन्यभावैर्विवेके स्वयमयमुपयोगो विभ्रदात्मानमेकम् ।
प्रकटित परमार्थैर्दर्शनज्ञानवृत्तैः कृतपरिणतिरात्माराम एव प्रवृत्तः ॥३१॥

अन्वयार्थ—(**इति**) पूर्वोक्त प्रकार से (**सर्वैः**) सभी (**अन्यभावैः**) पर पदार्थों के (**सह**) साथ (**विवेक**)

भेदज्ञान के (सति) होने पर (अयम्) यह (उपयोग·) ज्ञानदर्शन रूप परिणति (स्वयम्) स्वत·-अपने आप (एकम्) एक अद्वितीय (आत्मानम्) आत्मा को-अपने स्वरूप को (बिभ्रत्) धारण करता हुआ (प्रकटित-परमार्थै) जिनका परमार्थ प्रगट हुआ है ऐसे (दर्शनज्ञान-वृत्तैः) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्र के साथ (कृतपरिणतिः) एकता को धारण करने वाला (आत्मारामे) आत्मारूप उपवन मे (एव) ही (प्रवृत्त.) प्रवृत्ति करता है।

स० टीका—(अयम्) यह (उपयोगः-ज्ञानदर्शनोपयोग) ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग (स्वयम्-स्वरूपेण) स्वत -निजरूप से (आत्मा चिद्रूप एव) चैतन्य रूप मे ही (प्रवृत्त -प्रवृत्ति प्राप्त.) प्रवृत्ति करता है। (क्व सति) किसके होने पर ? (इति-पूर्वोक्त प्रकारेण) पूर्व मे कहे अनुसार (सर्वैः-समस्तै.) सभी (अन्यभावै -धर्माधर्मादिलक्षणै. परपदार्थैः) अन्य धर्मद्रव्य, अधर्म द्रव्य आदि विभिन्न लक्षण वाले परपदार्थों के (सह साकम्) साथ (विवेके-पृथग्भावे जातेसति) पृथक्ता-जुदाई का ज्ञान होने पर (किम्भूत.-आत्मा ?) कैसा आत्मा (बिभ्रद्-दधद्) धारण करता हुआ (कम् ?) किसको (एकं-अद्वितीयम्) एक-अद्वितीय (आत्मान-स्वस्वरूपम्) अपने स्वरूप को (भूय -किंभूत कृतपरिणति -कृता परिणति -परिणमनं-एकता यस्य सः) एकता रूप परिणमन को प्राप्त हुआ (कै सह) किनके साथ (दर्शनज्ञानवृत्तै.—तच्छ्रद्धानबोधचारित्रै.-आत्मनस्तन्मयत्वात्) आत्मश्रद्धान, ज्ञान और चारित्र के साथ क्योकि आत्मा स्वभावत सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रस्वरूप है (कीदृशैस्तै ?) कैसे दर्शन ज्ञान चारित्र से। (प्रकटित परमार्थै·-परम.-उत्कृष्ट, सर्वप्रकाशकत्वात्-सचासौ अर्थश्च परमात्मलक्षणोऽर्थ इति यावत्, प्रकटितः-प्रकाश नीतः परमार्थोयेन स तथोक्त) सर्व पदार्थों का प्रकाशक होने से परम-सर्वोत्कृष्ट जो परमात्मपद उसका प्रकाश करने वाले (भूय किम्भूत·) फिर कैसा (राम.-रमणीय -मनोज्ञ.) रमणीय-मनोज्ञ-मन को प्रिय (जगच्छ्रेष्ठत्वात्) ससार मे श्रेष्ठ होने से ॥३१॥

भावार्थ—परमात्मपद का मूल रत्नत्रय का एकत्व है। रत्नत्रय के एकत्व का वीज स्वपर भेद विज्ञान है क्योकि स्व-आत्मा और पर-आत्मा से भिन्न सभी चेतन और अचेतन पदार्थों के भिन्नत्व का ज्ञान हो तो आत्मा को ज्ञानचेतना मे प्रतिष्ठित करता है। ज्ञानचेतना सम्यग्दृष्टि की चेतना ही तो है विना सम्यक्त्व के उसकी प्राप्ति होना नितान्त असम्भव है अत सम्यग्दर्शन या ज्ञानचेतना का मुख्यतम साधन स्वपर भेदविज्ञान ही है उसके होते ही सम्यक्त्व और तदविनाभाविनी ज्ञानचेतना होती ही है और उसके होने पर स्वात्मानुभूति होती है जिसका चरमतम फल परमात्मपद ही है।

अव आत्मा ज्ञान का समुद्र है यह प्रकट करते हैं—

मज्जन्तु निर्भरममी सममेव लोका आलोकमुच्छलति शांतरसे समस्ताः।
आप्लाव्य विभ्रमतिरस्करिणीं भरेण प्रोन्मग्न एष भगवानवबोधसिन्धुः ॥३२॥

अन्वयार्थ—(एषः) यह (भगवान्) भगवान् (अवबोध सिन्धुः) ज्ञानरूप समुद्र (भरेण) अपने भार

से (**विभ्रमतिरस्करिणीम्**) विपर्ययरूप परदे को (**आप्लाव्य**) दूर करके-विनष्ट करके (**प्रोन्मग्नः**) प्रकट हुआ है अत (**अमी**) ये (**समस्ताः**) सभी (**लोकाः**) लोक-भव्य प्राणी (**समम्**) एक साथ (**एव**) ही (**निर्भरम्**) अतिशय रूप से (**आलोकम्**) लोक की शिखर तक (**उच्छलति**) उछलने वाले (**शान्तरसे**) शान्त रस मे (**निमज्जन्तु**) स्नान करें—पूर्ण आत्मशुद्धि को प्राप्त करे।

स० टी०—(**उन्मग्न.-उच्छलितः, प्रकटीभूत इतियावत्,**) उन्मग्न-उछला उठा अर्थात् प्रकट हुआ—(**कोऽसौ?**) यह कौन? (**एषः**) यह (**अवबोधसिन्धुः -अवबोधो ज्ञानं स एव सिन्धुः—अनन्तगुणाधारत्वात्,**) ज्ञानरूप समुद्र क्योकि यह अनन्त गुणो का आधार है। (**किं कृत्वा?**) क्या करके? (**आप्लाव्य-प्लावयित्वा, निराकृत्येत्यर्थः**) डुबो करके-विनष्ट करके (**काम्**) किसको (**विभ्रमेत्यादिः-विभ्रमो-ममेदमितिमोहः, मद्यवद्-भ्रमकारकत्वात् स एव तिरस्करिणी-यवनिका तां कण्टकादिभिर्दुःस्पर्शत्वेन, उभयोरुपमानोपमेययोः सादृश्यात् जलेन सस्य विनाश्यत्वात्**) विभ्रम—यह मेरा है इस प्रकार का मोह—क्योकि यह मदिरा के समान भ्रम-भ्रान्ति को पैदा करता है—वही हुआ तिरस्करिणी-परदा-उसको जैसे परदा कांटे आदि के द्वारा दुष्टता से स्पर्श किया गया विनाश को प्राप्त होता है वैसे ही जल के द्वारा जलमध्य वर्ती धान्य भी विनाश के योग्य होने से विनष्ट की जाती है क्योकि यहा पर दोनो उपमान और उपमेय मे सदृशता है (**कथम्?**) कैसे (**भरेण-अतिशयेन**) अतिशय रूप से-अधिकता के साथ (**मज्जन्तु-मज्जनं कुर्वन्तु, कर्ममलक्षालनहेतुत्वात् तस्य,**) मज्जन करो क्योकि वह कर्म मल के प्रक्षालन मे कारण है, (**के?**) कौन? (**अमी**) ये (**समस्ताः-सर्वेलोकाः-भव्यजना.**) सभी भव्य जन (**कथम्?**) कैसे (**निर्भरं-अत्यर्थम्**) अत्यन्त रूप से (**सममेव-युगपद् एव**) एक साथ ही (**क्व?**) कहा-किसमे? (**शान्तरसे-शान्त.-उपशमत्वं, स एव रसः-पानीयम्, शाम्यस्य पाप प्रक्षालन शीलत्वात्**) उपशमता रूप रस मे क्योकि शम-उपशमतारूप रस पापो के प्रक्षालन-धोने-विनाश करने का स्वभाव वाला होता है (**आलोकम्-त्रिलोक शिखर पर्यन्तम्**) तीन लोक की शिखर तक (**उच्छलति-ऊर्ध्वगमन कुर्वतिसति-आलोकं व्याप्तेसति, इत्यर्थः**) उछलने पर—ऊर्ध्वगमन करने पर अर्थात् लोक की शिखर तक व्याप्त होने पर (**अन्यवारिधि जलस्योच्छलनशीलत्वात्**) क्योकि दूसरे समुद्रो का स्वभाव भी ऊपर की ओर ही उछलने का होता है।

भावार्थ—प्रकृत मे शान्तरस की महत्ता पर प्रकाश डाला गया है। शृगार, हास्य, रौद्र, करुणा, वीर, भयानक, बीभत्स, अद्‌भुत और शान्त ये नव रस नाटक मे उपयोगी होते हैं। इनमे से एक शान्त रस को छोडकर शेष आठ रस तो लौकिक हैं। लेकिन एक शान्त रस अलौकिक है। उसका अधिकार मात्र आत्म स्वरूप की उपलब्धि कराने मे है, क्योकि शान्तरस के होते ही आत्मा पापो का प्रक्षालन करने मे सक्षम होता है। पापो का प्रक्षालन हो चुकने पर शान्त आत्मा पुण्य का भी प्रक्षालन कर सब रसो के उपशम होने से परमशुद्ध बन जाता है। और लोक की शिखर पर—तनुवातवलय मे जहाँ सिद्ध परमेष्ठी विराजमान रहते हैं वहा, यहा से एक समय मे पहुचकर उनही सिद्धो की श्रेणी मे जा बैठता है। यह है भेद विज्ञान की महिमा। जिसके प्रकट होते ही आत्मा मे शान्ति का अपार-पारावार उछल उठता है।

जो वस्तुत आत्मा का स्वरूपगत धर्म है। इसलिए हर एक आत्मार्थी-मोक्षार्थी भव्य पुरुष को चाहिए कि वह सबसे पहले अपने मे स्वपर भेद विज्ञान की महिमा को समझे। तत्पश्चात् उसे अपने मे जागृत करने का निरन्तर प्रयत्न करता रहे। प्रयत्न करने पर सफलता अवश्य ही मिलेगी।

अब ज्ञान विलास का व्याख्यान करते हैं

इसके अनन्तर जीव द्रव्य और अजीवद्रव्य दोनो मिलकर रगभूमि मे प्रवेश करते हैं। उसमे सबसेपहले आचार्य मगल के हेतु ज्ञान की महिमा को प्रकट करते है क्योकि ज्ञान ही एक ऐसा गुण है जो अपने को जानता है और अपने से भिन्न समस्त चेतन और अचेतन पदार्थों को भी जानता है यही ज्ञान का मुख्य विलास है—

जीवाजीव विवेक पुष्कलदृशा प्रत्याय्य यत्पार्षदान्—
आसंसार निबद्ध बन्धनविधिध्वंसाद्विशुद्धं स्फुटत् ।
आत्माराममनन्तधाम महसाध्यक्षेण नित्योदितं
धीरोदात्तमनाकुलं विलसति ज्ञानं मनोह्लादयत् ॥३३॥

अन्वयार्थ—(**जीवाजीव विवेक पुष्कलदृशा**) जीव तथा अजीव के भेद को-जुदाई को प्रकट करने वाली विशाल दृष्टि से (**पार्षदान्**) सभासदो—जीव और अजीव के नाना प्रकार के स्वागो को देखने वाले सम्यग्दृष्टियो को तथा मिथ्यादृष्टियो को (**प्रत्याय्य**) भेद विज्ञान को प्रकट कराके (**आससारनिबद्ध बन्धनविधिध्वंसात्**) अनादि ससार को व्याप्त करके बन्धन को प्राप्त हुए कर्मों के बन्ध के विनाश से (**विशुद्धम्**) अतिशय रूप से निर्मल (**स्फुटत्**) स्फुरायमान (**आत्मारामम्**) आत्मा ही जिसका क्रीडावन-निवासस्थान है (**अनन्तधाम**) अविनश्वर तेजस्वी (**नित्योदित**) निरन्तर उदित रहने वाला (**अध्यक्षेण**) सम्पूर्ण केवल ज्ञान के प्रकाश रूप (**महसा**) तेज से (**धीरोदात्तम्**) निष्कम्प एव विशाल (**अनाकुलम्**) आकुलता-सङ्कल्प विकल्परूप मानसिक चिन्ताओ से शून्य (**यत्**) जो (**ज्ञानम्**) ज्ञान-सम्यग्ज्ञान है वह (**मन.**) चित्त को (**ह्लादयत्**) आनन्दित करता हुआ (**विलसति**) विलास को प्राप्त करता है।

स० टीका (**ज्ञान-शुद्धात्मबोध.**) शुद्ध आत्मज्ञान, (**विलसति-विलास कुरुते**) विलास करता है (**तदित्यध्याहार**) यहा तत्-इस पद का अध्याहार है। (**यत्-ज्ञानम्**) जो ज्ञान (**विशुद्धं-निर्मलम्**) निर्मल, (**कुत. ?**) कैसे (**आससारेत्यादि -आसंसार-पञ्चसंसारमभिव्याप्येत्याससार निबद्धानि बन्धन प्राप्तानि, तानि च तानि बन्धनानिच प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशलक्षणानि तेषा विधि.-विधान तस्यध्वस -विनाश तस्मात्**) द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भावरूप पाच प्रकार के ससार को व्याप्त करके बाँधे गये प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश लक्षण वाले बन्धो के विधान के विनाश से (**पुन. किम्भूतम् ?**) फिर कैसा ? (**स्फुटत्-प्रादुर्भवत्**) विकास को प्राप्त होता हुआ—उत्पन्न होता हुआ (**किंकृत्य ?**) क्या करके ? (**प्रत्याय्य-प्रतीतिगोचरान् कृत्वा**) प्रतीति के विषय—भेदज्ञान के पात्र-करके (**कान् ?**) किनको ? (**पार्षदान्-सभापतीन्**) सदस्यो को—सभा के स्वामियो को (**कया ?**) किससे ? (**जीवाजीवविवेक पुष्कलदृशा जीवश्चा-**

जीवश्च जीवाजीवौ तयोर्विवेक:-पृथक्करण, स एव पुष्कला-विस्तीर्णादृक्-दृष्टिस्तया) जीव और अजीव इन दोनो का जो भेद ज्ञान वही हुई विस्तृत दृष्टि उससे **(किम्भूतम्)** फिर कैसा **(आत्मारामम्-आत्मा-चिद्रूप -स एव आराम.-क्रीडावनम्-निवासस्थानम् यस्य तत्)** चैतन्य स्वरूप आत्मा ही जिसका क्रोडावन-निवास स्थान है **(पुन किम्भूतम् ?)** फिर कैसा ? **(अनन्तधाम-अनन्तं-अन्तातीतं-धाम तेज. यस्य तत्)** अनन्त-विनाश से रहित है तेज जिसका अर्थात् अनन्त तेजस्वी **(नित्योदितं-नित्यं-निरन्तर, उदितं-उदयप्राप्तम्)** हमेशा उदय को प्राप्त **(केन ?)** किससे ? **(अध्यक्षेण-सकल केवलालोक प्रत्यक्षेण)** सम्पूर्ण केवल-ज्ञान के प्रकाशरूप प्रत्यक्ष से **(महसा-तेजसा-लोकातिक्रान्त प्रकाशेन)** लोक को अतिक्रमण करने वाले प्रकाश से–लोक मे सर्वोत्तम प्रकाश से **(धीरोदात्तम-धीरं-निष्कम्पं-धैर्यादिगुणयुक्तत्वात्-तच्च तदुदात्तं च उत्कटं, धीरोदात्तम्)** धीरता आदि गुणो से युक्त होने के कारण निष्कम्प-निश्चल और उत्कट **(अनाकुल-आकुलतारहितम्)** आकुलता से रहित **(मनः भव्यचित्तम्)** भव्य जीवो के मन को **(ह्लादयत्-हर्षोद्रेकं कुर्वत्)** अत्यन्त हर्षित करता हुआ ।

भावार्थ—ज्ञान मे परिपूर्णता का कारण ज्ञानावरण कर्म का सर्वथा विनाश है, और निर्मलता का वीज मोहनीय कर्म का पूर्णरूप से अभाव है क्योकि ज्ञान मे जो इष्ट और अनिष्ट विकल्प उठा करते है वे सब मोह जनित होते है वे भी अल्प ज्ञान या अधूरे ज्ञान मे ही उठा करते हैं क्योकि अल्पज्ञान-क्षायोपशमिक ज्ञान-मोहनीय कर्म के रहते हुए ही होते हैं । हा केवलज्ञान-परिपूर्णज्ञान या असहायज्ञान तो मोहनीय कर्म के विनाश के अन्तर्मुहूर्त के पश्चात् ही केवलज्ञानावरण कर्म के क्षय से उत्पन्न होता है अत उसमे विकल्पो इष्ट और अनिष्ट कल्पनाओ का उत्पन्न होना असम्भव है । इस अक्षय ज्ञान का क्रीडास्थल मात्र आत्मा-रूप उपवन ही है । तात्पर्य यह है कि आत्मा जव परिपूर्ण निरावरण केवल ज्ञान से सम्पन्न होता है तब उसमे लोक त्रयवर्ती अनन्तानन्त पदार्थ अपनी त्रिकाल सम्बन्धी अनन्तनन्त पर्यायो के साथ युगपत् एक ही काल मे प्रतिविम्बित होते है । उनके प्रतिविम्बित होने पर भी आत्मा अपने स्वरूप मे ही निमग्न रहता है । आत्मा का स्वभाव ज्ञायक है और ज्ञेयो का स्वभाव ज्ञेय रूप से ज्ञान मे प्रतिविम्बित-झलकते रहना है । दोनो अपने-अपने स्वभाव मे ही रहते हैं । एक दूसरे मे बाधा नही पहुचाते हैं । सच वात तो यह है कि अपूर्ण ज्ञान की अवस्था मे भी आत्मा की ज्ञायकता मे ज्ञेय बाधक नही होते है वे तो स्वय ही अपने स्वरूप मे निमग्न रहते है पर मोही आत्मा मोहोदय के कारण स्वय ही उन पदार्थों मे इष्ट और अनिष्ट कल्पना करके निरन्तर दुखी होता रहता है अतएव अपने स्वरूप से च्युत रहता है । इसमे अन्य पदार्थ दोषी नही हैं । दोषी तो मात्र मोही-आत्मा ही है । यदि यह आत्मा मोह न करे तो यह इसके पुरुषार्थ की बात है इसमे पर पदार्थ क्या कर सकता है वह तो पर ही है । पर पदार्थ अपने मे ही हेरफेर करने के अधिकारी है । अपने से भिन्न किसी भी पदार्थ मे रञ्चमात्र भी हेरफेर करने वाले वे नही हैं न थे और न होगे यह त्रिकाल अवाधित सिद्धान्त है । मोही अज्ञानी इस सिद्धान्त को समझ ही नही पाता है अतएव हमेशा खेद खिन्न वना रहता है । स्वय की ओर इसकी दृष्टि नही जाती जब जाती है तब पर

की ओर ही जाती है इसलिए ही पर को सुख दुख का कारण मान पर से राग और द्वेष कर सुखी और दुखी होता रहता है।

अब भेद विज्ञान के लिए उत्साहित करते हुए आचार्य कहते हैं—

विरम किमपरेणाकार्यकोलाहलेन स्वयमपि निभृतः सन् पश्यषण्मासमेकम् ।
हृदयसरसि पुंसः पुद्गलाद्भिन्नधाम्नो ननु किमनुपलब्धिर्भाति किञ्चोपलब्धिः ॥३४॥

अन्वयार्थ—(विरम) हे आत्मन् तुम ससार से विरक्त हो (अपरेण) अपने से भिन्न पदार्थों के (अकार्य कोलाहलेन) निष्प्रयोजन कोलाहल तर्क-वितर्क रूप चर्चा से (किम) क्या प्रयोजन अर्थात् उससे इस तेरी आत्मा का कोई इष्ट प्रयोजन सिद्ध होने वाला नही है (त्वम्) तुम (स्वयम्) स्वत-अपने आप (अपि) ही (निभृत) निश्चल-निश्चिन्त रूप से स्थिर (सन्) होते हुए (एकम्) एक (षण्मासम्) छह माह तक (पश्य) देखो-आत्मा के स्वरूप को समझने की ओर ध्यान दो ऐसा करने से (हृदयसरसि) मन रूप तालाव मे(पुद्गलात्) पुद्गल से-शरीरादि से (भिन्नधाम्न) पृथक् तेजस्वी अखण्ड-चैतन्यपुञ्जमय तेज वाले (पुस) आत्मा-जीव की (ननु) निश्चय से (किम्) क्या (अनुपलब्धि) अप्राप्ति (भाति) मालूम पडती है अथवा (किम्) क्या (उपलब्धि) प्राप्ति (भाति) मालूम होती है ?

स० टी०—(ननु शब्दोऽत्र-आमन्त्रणे) यहा ननु शब्द आमन्त्रण बुलाने अर्थ मे है। हे जीवात्मा (विरम-विरक्तोभव ससार दु खादे, परादवचोव्यापाराच्च) ससार के दु खादि से और पर पदार्थ से—जिसके विषय की चर्चा से तुम्हारा कोई सम्बन्ध ही नही है। (अकार्य कोलाहलेन-कार्यादन्योऽकार्य) कार्य से भिन्न का नाम अकार्य है अर्थात् जिससे तुम्हारा जरा भी सरोकार नही है उसके कोलाहल-विचार-विमर्श से, (तत्रभावे निषिद्धे च स्वरूपार्थेऽप्यतिक्रमे। ईषदर्थे च सादृश्यात्तद्विरुद्धतदन्ययो ॥१॥) तत्र भाव, निषिद्ध, स्वरूपार्थ के अतिक्रमण, ईषदर्थ, सादृष्यते तद्विरुद्ध और तदन्य अर्थ मे (इति नञ् शब्दस्य तदन्य-वाचित्वात्,) इस कारिका के आधार से नञ् शब्द प्रयोजन से भिन्न का वाचक होने से (अकार्यश्चासौ कोलाहलश्च सतेन,) निष्प्रयोजन वेमतलव के कोलाहल-शोरगुल-होहल्ला से जैसे (तथाहि-नैसर्गिक राग-द्वेष कर्मकल्माषित अध्यवसानमेवजीव, तथाविधाध्यवसानादगारस्येव कार्त्स्न्यात्तदतिरिक्तत्वेनान्यस्यानुप-लभ्यमानत्वात् इति केचित् ॥१॥) स्वाभाविक राग द्वेष रूप कर्म के मल से मलिन अभिप्राय ही आत्मा या जीव है क्योकि उक्त प्रकार का अध्यवसान-अभिप्राय पूर्णरूप से अगार के समान उपलब्ध है उसके अतिरिक्त सिवा अन्य कोई जोव है ऐसा समझ मे नही आता ऐसा किन्ही का कहना है। (अनाद्यनन्त पूर्वापरीभूतावयवैकससरण क्रियारूपेण क्रीडन् कर्मैव जीव, कर्मणाऽतिरिक्तत्वेनान्यस्यानुपलभ्यमानत्वात्-इति केचित् ॥२॥) अनादि अनन्त जो पूर्वापर अवयव रूप पुद्गल परमाणुओ मे परिभ्रमण स्वरूप क्रिया से क्रीडा करता हुआ कर्म ही जीव है क्योकि कर्म से भिन्न कोई जीव नामक पदार्थ है ऐसी उपलब्धि नही है ऐसा कोई कहते है।।२।। (तीव्रमन्दानुभवभिद्यमानदुरन्त राग रस निर्भराध्यवसानसन्तान एव जीव-स्ततोऽतिरिक्तस्यान्यस्यानुपलभ्यमानत्वादिति केचित् ॥३॥) तीव्र-अत्यधिक तथा मन्द-अत्यल्प अनुभव-

अनुभूति के भेद से भेद को प्राप्त होने वाला अतएव फलकाल मे महा दु खदायक जो राग रूप रस उससे भरपूर ओतप्रोत अध्यवसान-अभिप्राय की सन्तति ही जीव है क्योकि उक्त रागात्मक परिणाम से भिन्न कोई जीव पदार्थ उपलब्ध-अनुभव मे नही आता— ऐसा कोई कहते है ।।३ । **(नव पुराणावस्थादिभावेन वर्तमानं नोकर्मैव जीव., शरीरादतिरिक्तत्वेनान्यस्यानुपलभ्यमानत्वादिति केचित् ।।४।।)** नूतन तथा पुरातन अवस्था आदि के रूप से परिवर्तनशील नोकर्म-शरीरादिरूप से परिणत पुद्गल विशेप ही जीव है उस शरीरादि से पृथक् कोई जीव नाम का पदार्थ है ऐसा देखने या सुनने मे नही आता है ऐसा कोई कहते कहते है ।।४।। **(विश्वमपि पुण्य पापरूपेणाक्रामन् कर्मविपाक एव जीवः शुभाशुभभावादतिरिक्तत्वेनान्यस्यानुपलभ्यमानत्वादिति केचित् ।।५।।)** सारे जगत को पुण्य और पाप से आक्रान्त व्याप्त करने वाला कर्मविपाक—कर्मो का फल-ही जीव है क्योकि शुभ-पुण्य तथा अशुभ-पाप से अतिरिक्त-जुदा कोई अन्य जीव नही है ऐसा ही अनुभव मे आता है ऐसा कोई कहते है ।।५।। **(सातासातरूपेणाभिव्याप्त समस्त तीव्रगुणाभ्यां-भिद्यमानाकर्मानुभव एव जीव. सुखदु.खातिरिक्तत्वेनान्यस्यानुपलभ्यमानत्वात् इति केचित् ।।६।।)** साता-सुख तथा असाता-दु ख के रूप से चारो ओर या सब तरफ से भरपूर तीव्र-कठोर तथा मन्द सरल रूप गुण से भेद को प्राप्त करने वाला कर्मों का अनुभव-सुख दु.ख रूप वेदन ही जीव है इससे पृथक् कोई जीव पदार्थ है ऐसा उपलब्धि के रूप मे दृष्टिगोचर नही होता है ऐसा कोई कहते है ।।६।। **(मज्जितावदुभयात्मकत्वादात्मकर्मोभयमेव जीव. कात्स्न्र्यतः कर्मणोऽतिरिक्तत्वेनान्यस्यानुपलभ्यमानत्वादिति केचित् ।।७।।)** आपस मे एक दूसरे से दूध और पानी की तरह हिलेमिले रहने के कारण आत्मा और कर्म दोनो ही जीव हैं कारण कि पूर्णरूप से कर्म को छोडकर जुदा जीव है ऐसी उपलब्धि नही है ।।७।। **(अर्थक्रियासमर्थः कर्मसयोग एव जीव. कर्मसयोगात् खट्वाया इव काष्ठसयोगादतिरिक्तत्वेनान्यस्यानुपलभ्यमानत्वादिति केचित् ।।८।।)** अर्थ क्रिया मे समर्थ कर्मों का सयोग ही जीव है क्योकि जैसे काठ के सयोग से भिन्न कोई खट्वा-खाट-चारपाई चीज नही है प्रत्युत काठ सयोग का नाम ही खट्वा है वैसे ही अर्थ क्रिया समर्थ कर्म सयोग का नाम ही जीव है उससे भिन्न कोई जीव पदार्थ प्राप्त नही है ।।८।। **(एवमेवं प्रकारेण कोलाहलेन किम् ?)** इस पूर्वोक्त प्रकार के कोलाहल से क्या साध्य सिद्ध हो सकता है ? **(न किमपि)** अर्थात् कोई भी प्रयोजन हल नही हो सकता है । **(तर्हि किं कर्तव्यम् ?)** तो क्या करना चाहिए ? **(एकं षण्मासम्-षण्मासपर्यन्तम्)** छह महीने तक **(पश्य-अवलोकय)** देखो-विचारो **(किम्भूतः सन् ?)** कैसे होते हुए ? **(स्वयमपि स्वतएव-परनिरपेक्षोभूत्वा)** खुद-ब-खुद दूसरे की अपेक्षा न रखते हुए अर्थात् स्वापेक्ष होकर **(निभृत. सन्-निश्चल. सन्)** निश्चल होते हुए **(समस्त व्यापार तन्वादिचिन्ताविहाय)** सभी व्यापार और शरीर आदि की चिन्ता को छोडकर **(क्व ?)** कहा ? **(हृदयसरसि-हृदय चित्त एव सरः सरोवर तस्मिन्)** मनरूप तालाब मे **(पुस. आत्मन)** आत्मा के **(तदा)** उस समय **(अनुपलब्धि -अप्राप्तिः)** अनुपलब्धि-उपलब्ध नही होना **(किम् ?)** क्या ? **(भाति, प्रतिभासते)** मालूम होती हे **(च पुन.-पक्षान्तरे)** और दूसरे पक्ष मे **(उपलब्धि -प्राप्तिः)** प्राप्ति **(किम् ?)** क्या **(भाति)** मालूम होती है । **(निश्चल-स्वात्म-**

स्वरूपेऽवलोकिते सति षण्मासाभ्यन्तरे आत्मन , अनुपलब्धि -उपलब्धिर्वाभवति-इत्यर्थः) अर्थात् स्थिरता के साथ अपनी आत्मा के स्वरूप को अवलोकन करने पर छह महीने के भीतर आत्मा की उपलब्धि या अनुपलब्धि हो सकती है। **(किम्भूतस्य पुंस ?)** कैसी आत्मा के **(पुद्गलात्-परमाण्वादि द्रव्यात्)** पुद्गल द्रव्य से जो परमाणु और आदि शब्द से स्कन्ध रूप है **(भिन्नधाम्न.-भिन्न-अतिरिक्त धाम-तेजोयस्यतत्)** भिन्न तेज वाले ॥३४॥

भावार्थ टीकाकार ने कोलाहल शब्द से आत्मा के विषय मे विभिन्न प्रकार के मतमतान्तरो की मान्यताओ का सक्षेप मे वर्णन करते हुए कहा है कि इन मतमतान्तरो के विवाद को छोडकर तुम स्वय ही अनुभवपूर्ण विचारधारा मे निमग्न होकर शरीरादि से भिन्न चिच्चमत्कार सम्पन्न आत्मा के स्वरूप की प्राप्ति के लिए अधिक से अधिक छह महीने तक तन्मय होकर शरीर से भिन्न अपने को देखो ऐसा करने से तुम्हे अपने आत्मतत्त्व की प्राप्ति अवश्य ही होगी क्योकि आत्मस्वरूप की उपलब्धि मे पर पदार्थ से सर्वथा भिन्न आत्मा के स्वरूप का स्वाद ही मुख्य कारण है। महापुरुषो ने इसी मार्ग पर चलकर ही आत्मस्वरूप की अभिव्यक्ति की थी अत यही मार्ग प्रत्येक आत्मस्वरूप लिप्सु मुमुक्षु पुरुष को उपादेय है प्रशस्त है श्रेयस्कर है।

अब सभी द्रव्यो से सर्वथा भिन्न आत्मा एक स्वतन्त्र द्रव्य है यह निरूपण करते हैं—

सकलमपि विहायाह्नाय चिच्छक्तिरिक्तं, स्फुटतरमवगाह्य स्वं च चिच्छक्तिमात्रम्।
इममुपरिचरन्तं चारु विश्वस्य साक्षात् कलयतु परमात्मात्मानमात्मन्यनन्तम् ॥३५॥

अन्वयार्थ—(आत्मा) आत्मा **(चिच्छक्तिरिक्तम्)** चैतन्य शक्ति से शून्य अर्थात् अचेतन-जड स्वरूप **(सकलम्)** सभी पदार्थ समूह को **(अह्नाय)** शीघ्र ही **(विहाय)** छोड कर **(च)** और **(चिच्छक्तिमात्रम्)** चैतन्य शक्ति स्वरूप **(स्वम्)** अपनी आत्मा का **(स्फुटतरम्)** अत्यन्त स्पष्ट रूप से **(अवगाह्य)** अवगाहन करके **(विश्वस्य)** लोक के **(उपरि)** ऊपर **(चारु)** सुन्दरता से **(चरन्तम्)** प्रवर्तमान **(अनन्तम्)** अन्त रहित-अविनाशी **(परम)** सर्व श्रेष्ठ **(इमम्)** इस **(आत्मानम्)** आत्मा को **(आत्मनि)** आत्मा मे **(साक्षात्-कलयतु)** साक्षात् अनुभव करो।

स० टीका – (कलयतु-ध्यायतु, पश्यतु-जानातु वा कलिवलि कामधेनुरितिवचनात्) ध्यावे-देखे अथवा जाने क्योकि कल् और वल् धातु कामधेनु के समान इष्ट अर्थ को देने वाली हैं। (क ?) कौन ? **(आत्मा-चिद्रूप)** चैतन्य स्वरूप आत्मा **(कम् ?)** किसे **(इमम्-प्रत्यक्षीभूत स्वानुभवादिभि)** अर्थात् स्वानुभव आदि के द्वारा प्रत्यक्ष होने वाली इस **(आत्मानम्—स्वस्वरूप-आत्मा)** अपने स्वरूप को **(क्व)** कहाँ **(आत्मनि-स्वस्वरूपे)** आत्मा मे अपने निज रूप मे **(किम्भूतम् ?)** कैसे ? **(साक्षात्-प्रत्यक्षम्)** प्रत्यक्षरूप से **(विश्वस्य-जगत)** विश्व-जगत् के **(उपरि)** ऊपर **(चरन्तम्-अग्रिमभागे परिस्फुरन्त-लोकातिशायिमाहात्म्य, लोकालोक परिच्छेदक वा चरधातोर्ज्ञानार्थवाचकत्वात)** अग्रिमभाग—शिखर पर लोकोत्तर माहात्म्य वाले अथवा लोक और अलोक को जानने वाले क्योकि चर धातु का अर्थ जानना भी होता है **(परम्-उत्कृष्टम्)**

उत्कृष्ट-उत्तम (**अनन्तम्-अन्तातीतम्**) अनन्त-अन्त से रहित (**किं कृत्वा ?**) क्या करके (**स्वम्-आत्मानम्**) अपनी आत्मा को (**अवगाह्य अनुभूय**) अवगाहन-अनुभव करके (**किम्भूतं-स्वम् ?**) कैसी अपनी आत्मा को ? (**चिच्छक्तिमात्रं-ज्ञान शक्तिमात्रम्**) चैतन्य शक्तिरूप-ज्ञान सामर्थ्यवान् (**स्फुटतरम्-अतिव्यक्तम्**) अति स्पष्ट (**च-पुनः**) और (**किं कृत्वा**) क्या करके (**विहाय-त्यक्त्वा**) छोडकर (**सकलमपि-समस्तमपि**) सभी (**पर द्रव्यम् - न तु-एकदेशेनेत्यपिशब्दार्थ.**) पर द्रव्य को - पर द्रव्य के किसी एक भाग को नही ऐसा अपि शब्द का अर्थ है (**किम्भूतं तत् ?**) वह परद्रव्य कैसा ? (**चिच्छक्तिरिक्तम्-ज्ञानशक्तिमुक्तम्-अचेतनमितियावत्**) चैतन्यशक्ति-ज्ञानशक्ति से रहित अर्थात् जड-अचेतन (**अह्नाय-शीघ्रम्**) जल्दी (**शीघ्र-वाच्यव्ययम्**) अह्नाय यह शीघ्रार्थ का वाचक अव्यय है (**स्रग् झगित्यञ्जसाह्नाय इत्यमर.**) स्रक्, झगिति, अञ्जसा और अह्नाय ये चार शब्द अव्ययसज्ञक शीघ्र अर्थ के वाचक है ऐसा अमरकोश का वचन है।

भावार्थ—आत्मा के साथ द्रव्यकर्म भावकर्म-नोकर्म का सम्बन्ध है उसको इस प्रकार समझना चाहिए जैसे वर्तन मे चीनी रखकर अग्नि पर रखकर गरम करे चासनी बनावे वहा पर मिट्ठापना भी है गर्मपना भी है बर्तन भी है और अग्नि भी है इनमे चीनी का होना अपने मिट्ठेपने के साथ बाकी सब सयोगी अवस्था है चीनी सर्वांग मे गर्म है चीनी ही गर्म हुई है परन्तु गर्मपना चीनी का नही है अग्नि का है अब यह हमारे पर निर्भर है कि हम चीनी को गर्मरूप अनुभव करें या मिट्ठेरूप। हमने गर्मरूप तो अनुभव किया परन्तु मिट्ठेरूप नही किया। इसी प्रकार आत्मा मे एक ज्ञायक भाव है—एक रागादिक परिणमन—शरीर और कर्म का सम्बन्ध है। ज्ञानपना आत्मा के निज सत्व से उठ रहा है, जिसके होने से आत्मा का होना है रागादि भाव चीनी को गर्मपने की तरह पर से होने वाले हैं उनके अभाव मे भी आत्मा का अभाव नही है यही बात शरीरादि कर्मादि के साथ है इसलिए आचार्य प्रेरणा करते है कि समस्त चैतन्य से रहित जो रागादि शरीरादि-कर्मादि है उनको वाद देने के बाद जो बाकी बचा चैतन्य चमत्कार मात्र आत्मा का निज भाव वही अनुभव करने का है यह भाव समस्त पर कृत भावो से अलग अनुभव गोचर है ॥३५॥

अब चेतन और अचेतन मे मौलिक अन्तर है यह बताते हैं—

चिच्छक्तिव्याप्तसर्वस्वसारो जीव इयानयम् ।
अतोऽतिरिक्ताः सर्वेऽपि भावा पौद्गलिका अमी ॥३६॥

अन्वयार्थ – (**चिच्छक्तिव्याप्तसर्वस्वसारः**) चैतन्य शक्ति से व्याप्त सर्वस्व सार वाला (**इयान्**) इतना (**एव**) ही (**अयम्**) यह (**जीव**) जीव (**अस्ति**) है (**अत.**) इस चैतन्यशक्ति से (**अतिरिक्ताः**) शून्य (**सर्वेऽपि**) सभी (**अमी**) ये—(**भावाः**)भाव (**पौद्गलिकाः**) पुद्गल जन्य (**सन्ति**) है।

सं० टी० – (**अयम्**) यह (**जीवः-आत्मा**) जीव-आत्मा (**इयान्-एतावन्मात्रः**) इतना ही (**अस्ति**) है (**चिच्छक्तीत्यादि चिच्छक्त्या-ज्ञानाविभागप्रतिच्छेदेन व्याप्तं सर्वस्वसारं सर्वत-सामस्त्येन, सारं-अन्तर्भागो यस्य स**) चैतन्य शक्ति-ज्ञान के अविभाग प्रतिच्छेद से व्याप्त है सब तरफ से सार भाग

अन्तरङ्ग जिसका अथवा जिसका प्रत्येक प्रदेश सब तरफ से चैतन्य शक्ति से भरपूर है (**अमी-प्रत्यक्षाः शरीरादय**) प्रत्यक्ष रूप से दिखाई देने वाले शरीर आदि (**सर्वेऽपि-समस्ता अपि**) सभी (**भावा.-पदार्था.**) पदार्थ (**पौद्गलिका·-पुद्गलेभवा.-पौद्गलिका·**) पुद्गल से उत्पन्न होते रहते है (**अत.-एतस्मात्-चैतन्यात्**) इस चैतन्य से (**अतिरिक्ता -भिन्ना.-ज्ञान शून्या इत्यर्थः**) भिन्न अर्थात् चैतन्य-ज्ञान से रहित है।

भावार्थ--जीव का जितना भी परिणमन है वह सब ज्ञानदर्शन शक्ति से भरपूर रहता है क्योंकि ज्ञान दर्शन जीव का मुख्य गुण है और जो गुण होता है वह गुणी से अभिन्न ही रहता है। स्वभावत गुण गुणी मे सर्वदा और सर्वथा अभेद ही होता है उसमे भेद की कल्पना मात्र कल्पना ही है क्योकि वह व्यवहार के आश्रय से की जाती है। ज्ञान शक्ति से शून्य जो कुछ भी इन्द्रियो से ग्रहण किया जाता है वह सब मात्र पुद्गल का परिणमन विशेष है जो स्वभावत जडता के साथ अविनाभाव सम्बन्ध रखता है। यही जीव और पुद्गल मे खास फर्क है जो दोनो तत्त्वो की पृथकता को सूचित-प्रदर्शित करने मे दर्पण के समान है।

अब वर्ण आदि मे जुदाई को दिखाते हैं—

वर्णाद्या वा राग मोहादयो वा भिन्नाभावाः सर्व एवास्य पुंसः ।
तेनैवान्तस्तत्त्वतः पश्यतोऽमी नो दृष्टाः स्युर्दृष्टमेकं परं स्यात् ॥३७॥

अन्वयार्थ—(**वर्णाद्या**) वर्ण आदि (**वा**) अथवा (**मोहादय.**) मोह आदि (**सर्वे**) सभी (**भावाः**) भाव-परिणमन (**अस्य**) इस (**पुस·**) आत्मा के (**भिन्ना**) भिन्न-जुदे (**एव**) ही (**सन्ति**) हैं। (**तेन**) भिन्न होने से (**एव**) ही (**तत्त्वत.**) वस्तुत -परमार्थ दृष्टि से (**अन्त·**) अन्तरङ्ग-निज स्वरूप को (**पश्यत**) देखने वाले के (**अमी**) ये वर्ण आदि तथा राग-मोह आदि (**दृष्टा.**) दिखाई (**नो**) नही (**स्युः**) देते (**परम्**) सिर्फ (**एकम्**) एक-अद्वितीय आत्मतत्त्व ही (**दृष्टम्**) दिखाई (**स्यात्**) देता है।

सं० टीका - (**अस्य-प्रत्यक्षस्य**) इस प्रत्यक्षीभूत (**पुंस -आत्मन**) आत्मा के (**वर्णाद्या वा वर्णगन्ध-रसस्पर्शरूप शरीर संस्थान संहननादयो बहिर्भावा, वा पुन रागमोहादय -रागद्वेषमोह प्रत्यय कर्म नोकर्म वर्ग वर्गणा स्पर्धकाध्यात्मस्थानानुभागस्थान योगस्थान बन्धस्थानोदय स्थानमार्गणा स्थानस्थिति बन्धस्थान संक्लेशस्थान विशुद्धिस्थान सयम लब्धिस्थान जीवस्थानादय,**) वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्शरूप शरीर, सस्थान, सहनन आदि बाह्य परिणमन तथा राग, द्वेष, मोह, प्रत्यय, कर्म, नोकर्म, वर्ग, वर्गणा, स्पर्द्धक, अध्यात्म-स्थान, अनुभागस्थान, योगस्थान, बन्धस्थान, उदयस्थान मार्गणास्थान, स्थितिबन्धस्थान, सङ्क्लेशस्थान, विशुद्धिस्थान, सयमलब्धिस्थान और जीवस्थान आदि (**सर्वे-समस्ता**) समस्त (**एव-निश्चयेन**) निश्चय से (**भावा -पदार्थाः**) पदार्थ (**भिन्ना -अतिरिक्ता, आत्मातिरिक्ता इत्यर्थ**) आत्मा से भिन्न है (**तेनैव-वर्णादीना भिन्नत्वकारणेनैव**) वर्ण आदि से भिन्न होने के कारण ही (**तत्त्वत.-परमार्थत**) परमार्थ निश्चय से (**अन्त -अभ्यन्तरे-स्वस्वरूपे**) भीतर अपनी आत्मा के स्वरूप मे (**पश्यत अवलोकयत.-स्वध्यानं कुर्वत इतिर्भाव.**) देखने वाले अर्थात् अपनी आत्मा के ध्यान करने वाले के (**अमी-वर्णरागादयः**) ये वर्ण आदि

और राग आदि (**नोदृष्टा —नावलोकिता**) नही देवे गये (**स्यु -भवेयु**) होते है (**अवलोकनेऽन्त सति किं दृष्टम् ?**) देखने पर भीतर क्या देखा ? (**एकं-अद्वितीयं**) एक-अद्वितीय (**परं-उत्कृष्ट-परमात्मानमित्यर्थ**) उत्कृष्ट अर्थात् परमात्मा (**दृष्टं-अवलोकितम्**) देखा हुआ (**अन्त पश्यत पुंस**) भीतर देखने वाले पुरुष के (**स्यात्-भवेत्**) होता है।

भावार्थ—वर्ण आदि रूप जो कुछ भी भाव-परिणमन होते हैं वे सबके सब पुद्गलद्रव्य के ही अस्तित्व में उपलब्ध होते हैं। पुद्गल द्रव्य से भिन्न किसी भी द्रव्य मे उनकी उपलब्धि नही होती, क्योकि पुद्गल द्रव्य को मूर्तिमान माना है। और मूर्ति शब्दका अर्थ-स्पर्श, रस, गन्ध एव वर्ण माना है। यह स्पर्शादि का चतुष्टय मात्र पुद्गल का धर्म है अतएव पुद्गल धर्मी ही मूर्तिमान् शब्द से व्यवहृत होता है। उससे यह निष्कर्ष सहज ही निकल आता है कि पुद्गल का धर्म पुद्गल मे ही उपलब्ध होगा। उसकी उपलब्धि चैतन्य स्वरूप आत्मा मे त्रिकाल मे भी सम्भावित नही है। अतएव आत्मा वर्णादि से त्रैकालिक भिन्नता रखता है। अब रही बात राग द्वेष मोहादि की, सो यद्यपि रागादि का अस्तित्व आत्मा मे ही प्राप्त होता है क्योकि वे सब ससारी आत्मा के ही विकारी भाव हैं। तथापि उनकी उत्पत्ति कर्मबद्ध रागी आत्मा मे ही सम्भवित है वीतरागी मे नही। अर्थात् घातिकर्म विनाशक अर्हन्त परमेष्ठी जो अनत चतुष्टय से मण्डित हैं वे अघातिकर्म से बद्ध होते हुए भी पूर्ण वीतरागी हैं। जब उनमे रागादि नही हैं तब कर्ममुक्त मुक्तात्माओ मे उनका अस्तित्वकैसे हो सकता है अर्थात् कथमपि नही हो सकता है। इन्ही अर्हन्त एव सिद्ध परमेष्ठी के स्वरूप की ओर जब हमारा ध्यान जाता है तब हमे यह निश्चय हो जाता है कि आत्मा के स्वभाव मे रागादि विभाव नही है। वे तो औपाधिक भाव हैं अतएव विभाव ही हैं। अत वे सबके सब भाव इस आत्मा से भिन्न हैं, ऐसा स्वभाव दृष्टि से देखने पर स्पष्टतया दिखाई देता है। स्वभाव दृष्टि मे तो मात्र चैतन्यमय आत्मा ही दिखाई पडता है अन्य कुछ भी नही। यह स्वभाव दृष्टि का अचिन्त्य माहात्म्य है।

अब पुद्गल से बना हुआ पुद्गल ही होता है यह दिखाते है—

निर्वर्त्यते येन यदत्र किंचित्तदेव तत्स्यान्न कथं च नान्यत् ।
रुक्मेणनिर्वृत्तमिहासिकोशं पश्यन्ति रुक्मं न कथंचनासिम् ॥३८॥

अन्वयार्थ—(**अत्र**) इस जगत् मे (**येन**) जिसके द्वारा (**यत् किञ्चित्**) जो कुछ (**निर्वर्त्यते**) निर्माण किया जाता है रचा जाता या बनाया जाता है (**तत्**) वह (**तत्**) वह (**एव**) ही (**स्यात्**) होता है (**अन्यत्**) उससे भिन्न दूसरा (**कथञ्चन**) किसी प्रकार से (**न**) नही (**स्यात्**) हो सकता। (**इह**) इस लोक मे (**रुक्मेण**) सुवर्ण से (**निर्वृत्तम्**) निर्माण किये हुये (**असिकोशम्**) म्यान-तलवार के रखने के घर को (**जना**) मनुष्य (**रुक्मम्**) सुवर्ण (**पश्यन्ति**) देखते हैं-जानते हैं (**असिम्**) तलवार (**कथञ्चन**) किसी प्रकार से (**न**) नही (**पश्यन्ति**) देखते हैं।

सं० टीका– (**अत्र-जगति**) इस जगत् मे (**यत्-शरीरादि**) जो शरीर आदि (**किञ्चित्-किमपि**) कोई भी (**येन-पुद्गलादिना**) जिस पुद्गल आदि के द्वारा (**निर्वर्त्यते-निष्पाद्यते**) रचा जाता है (**तत्-शरीरादि**) वह शरीर आदि (**तदेव-पौद्गलिकमेव**) पुद्गल रूप ही (**स्यात्-भवेत्**) होता है (**कथञ्चन-केनापि प्रकारेण संस्कारादिना**) सस्कार आदि किसी प्रकार से भी (**अन्यत्-पुद्गलातिरिक्तं**) पुद्गल से भिन्न (**न**) नही (**भवेत्**) हो सकता (**अथवा-अन्यत्-आत्मादि द्रव्यं केनापिप्रकारेण पौद्गलिक न हि**) अथवा वस्तुत. आत्मादि द्रव्य किसी प्रकार से भी पुद्गल द्रव्यरूप नही हो सकता (**इममर्थं दृष्टान्तयति**) इस अर्थ को दृष्टान्त देकर स्पष्ट करते है (**इह-जगति**) इस जगत् मे (**रुक्मेण-कार्तस्वरेण**) सुवर्ण से (**निर्वृत्त-निष्पन्नम्**) रचित (**असिकोशं-कनकपत्रनिष्पन्नं खड्गपेटारकम्**) असिकोश-तलवार को पिटोरा-म्यान को (**रुक्मं-सौवर्णम्**) सुवर्ण रूप से (**पश्यन्ति-अवलोकयन्ति**) देखते है (**सर्वे व्यवहारिण·**) सभी व्यवहारी लोक (**कथञ्चन-केनपि प्रकारेण-आधाराधेयादिना**) आधार आधेय आदि किसी प्रकार से भी (**असि-खड्गम्**) तलवार को (**सौवर्णम्**) सुवर्ण रूप से (**न**) नही (**पश्यन्ति**) देखते हैं।

भावार्थ—पुद्गल से निर्मित शरीर पुद्गल ही है। पुद्गल से पृथक् किसी अन्य द्रव्यरूप नही। पुद्गल का परिणमन पुद्गल रूप ही होगा। आत्मा रूप नही। तथा आत्मा का परिणमन आत्मा रूप ही होगा। पुद्गल रूप नही। एक द्रव्य का परिणमन अपने रूप ही होगा। पररूप नही। ऐसा सिद्धान्त त्रिकाल अबाधित है। अत ज्ञानी जन शरीर को जड पुद्गल तत्त्व से निर्मित होने के कारण जड ही जानते मानते हैं। आत्मा को आत्मारूप से ही जानते है क्योकि आत्मा स्वभावत· चेतन हैं। ज्ञान दर्शन का पिण्ड है। वह त्रिकाल मे जड शरीररूप नही हो सकता है ऐसा निश्शक रूप से जानना मात्र ज्ञानी-वस्तु स्वरूप के मर्म को जानने और पहचानने वाले-के ही हो सकता है।

अब वर्णादि पुद्गल रूप हैं यह स्पष्ट करते हैं—

वर्णादि सामग्र्यमिदं विदन्तु निर्माणमेकस्य हि पुद्गलस्य।
ततोऽस्त्विदं पुद्गल एवनात्मा यतः सविज्ञानघनस्ततोऽन्यः ॥३९॥

अन्वयार्थ—(**इदम्**) इस (**वर्णादिसामग्र्यम्**) वर्णादि से लेकर गुणस्थान तक के भावो को (**हि**) निश्चय से (**एकस्य**) एक (**पुद्गलस्य**) पुद्गल द्रव्य का (**निर्माणम्**) निर्माण-रचना विशेष (**विदन्तु**) जानो। (**तत.**) तिस कारण से (**इदं**) यह वर्णादि का समूह (**पुद्गल.**) पुद्गल (**एव**) ही (**अस्ति**) है (**आत्मा**) आत्मा (**न**) नही है। (**यत.**) क्योकि (**स**) वह आत्मा (**विज्ञानघन**) विज्ञान का पिण्ड (**अस्ति**) है (**ततः**) इसलिये (**अन्य**) इन वर्णादि भावो से पृथक्-जुदा (**अस्ति**) है।

सं० टी०—(**विदन्तु-जानन्तु दक्षा., इत्यध्याहार्यम्**) दक्ष-वस्तु स्वरूप को जानने मे निपुण कुशल-ज्ञानीजन जाने। यहा दक्ष पद का अध्याहार करना चाहिए। **इदं-प्रत्यक्षम्**) इस प्रत्यक्ष-दिखाई देने वाले (**वर्णादिसामग्र्यम्—वर्णादीनि-वर्णगन्ध रस स्पर्शशरीर संस्थान सहननादीनि तेषा सामग्र्यं-समग्रस्य भाव.**

सामग्र्यम्) वर्ण, गन्ध, स्पर्श, शरीर, संस्थान, सहनन आदि के समुदाय की (निर्माणं) रचना (एकस्य-धर्मादिपंचद्रव्यनिरपेक्षस्य) धर्म, अधर्म, आकाश, काल और जीव की अपेक्षा से शून्य एक पुद्गलस्य-परमाणु द्रव्यस्य) परमाणुरूप पुद्गल द्रव्य की (हि-इति निश्चितम्) निश्चित है (नान्यन्निष्पादितम्) दूसरे द्रव्य से नही रचा हुआ है (ततः-तस्मात्कारणात्) तिस कारण से (वर्णादिनिर्माणस्य पुद्गलत्वसाधनात्) अर्थात् वर्णादि की रचना का साधन पुद्गल होने से (इदन्तु-वर्णादि) यह वर्णादि तो (पुद्गल एव वर्णादि-नामप्रकृतिनिष्पादितत्वात्) पुद्गल ही है क्योकि वर्णादि नाम कर्म की प्रकृतियो से ही वर्णादि की रचना होती है (नात्मा-चिद्रूपो नहि) चैतन्य स्वरूप आत्मा से नही (वर्णादिचिद्रूप. कुतो न) वर्ण आदि चैतन्य-स्वरूप क्यो नही है ? (यतः-यस्मात् हेतोः) जिस कारण से (स -आत्मा) वह आत्मा (विज्ञानघन·-विशि-ष्टेन ज्ञानेन बोधेन, घनोनिविड. विज्ञानस्य घनो यत्र स तथोक्तः) ज्ञान से लबालब भरा हुआ अथवा जिसमे विशेष ज्ञान पिण्ड पाया जाता है (ततः-वर्णादीना विज्ञानाभावात्) तिस कारण से अर्थात् वर्णादि मे विज्ञान न होने से (अन्य·-वर्णादिर्भिन्न एव) वर्णादि से जुदा ही है ॥३६॥

भावार्थ–आचार्यश्री ने प्रेरणा की है कि जो ज्ञानी जन आत्म स्वरूप तथा पर के स्वरूप को जानने वाले तत्त्वज्ञ पुरुष हैं। वे पुद्गल जन्य वर्णादिको से तथा कर्म जनित राग द्वेष मोहादि विभाव भावों से रहित ही आत्मा को देखें जानें और श्रद्धान मे लायें। आत्मा का स्वभाव शुद्ध चैतन्यहै। स्वभाव दृष्टि से तो सभी आत्मा शुद्ध हैं। पर्यायदृष्टि मे अशुद्धता है जिसका अभाव क्रम से होते हुए शुद्धत्व की पूर्णोपलब्धि जीवन्मुक्त तथा सर्व कर्म विमुक्त, मुक्तात्माओ मे वर्तमान रहती है। ऐसा ही प्रत्येक ससारी आत्मा का स्वाभाविक द्रव्य है। उसकी सम्प्राप्ति ही प्रत्येक आत्मार्थी का चरम लक्ष्य है। वहा तक पहुचने का एकमात्र मार्ग भेदविज्ञान है। उसे जागृत करने की ओर ही ज्ञानियो का ध्यान जाना चाहिए। विना उसके इष्ट सिद्धि कथमपि सम्भव नही है।

अब जीवो के वर्णादि का प्रतिपादन मिथ्या है यह निरूपण करते हैं—

घृतकुम्माभिधानेऽपि कुम्भो घृतमयो न चेत्।
जीवो वर्णादिमज्जीव जल्पनेऽपि न तन्मयः ॥४०॥

अन्वयार्थ—(चेत्) यदि (घृतकुम्भाभिधाने) घी का घडा कहने पर (अपि) भी (कुम्भ.) कुम्भ-घडा (घृतमयः) घृतमय घी का (न) नही (भवेत्) होता है (तर्हि) तो (वर्णादिमज्जीवजल्पने) वर्णादि-मान् जीव को कहने पर (अपि) भी (जीवः) जीव (तन्मयः) वर्णादिमान-वर्णादिरूप (न) नही (स्यात्) हो सकता है।

सं० टी०– (चेत्-यदि) यदि (कुम्भ -कलश) कलश (घृतमय – घृतेन आज्येन, निर्वृत्त घृतमय.) घी से बना हुआ (न) नही (भवेत्) होता है (घृतकुम्भाभिधाने-घृतस्य कुम्भ इत्यभिधानेऽपि न केवल, अनभिधानेऽपि, इत्यपिशब्दार्थ·) घी का घडा ऐसा कहने पर भी, अपि शब्द से नही कहने पर भी (तर्हि) तो (जीव. आत्मा) जीव (तन्मय·-वर्णादिमयो) वर्णादिमय वर्ण आदि से युक्त या वर्णादि स्वरूप (नहि)

नही है (क्व सति ?) किसके होने पर (वर्णेत्यादि'-मुग्धं प्रति वर्णादिमान् अयं जीवः, इति सूत्रे लोकव्यवहारे च जल्पनेऽपि) अज्ञानी के प्रति यह जीव वर्णादिमान् हैं ऐसा आगम मे तथा लोक व्यवहार मे कहने पर भी (यथैव हि कस्यचिदाजन्मप्रसिद्धैक घृतकुम्भस्य तदन्यमृण्मय कुम्भानभिज्ञस्य प्रबोधनाय योऽयं घृतकुम्भः स मृण्मयो न घृतमय इति तथा कुम्भे घृतकुम्भ इतिव्यवहार.) जसे वस्तुत किसी ऐसे मनुष्य को जो जन्म से ही घी का घडा जानता है। घी से अतिरिक्त मिट्टी आदि के घडे को नही जानता है। उसे समझाने के लिए जो यह घडा घी का है वह मिट्टी का ही है। घी का नही है, ऐसा। घडे मे घी का घडा व्यवहार होता है (तथाऽस्याज्ञानिनो लोकस्यासंसारप्रसिद्धाशुद्धजीवस्य शुद्धजीवानभिज्ञस्य प्रबोधनाय योऽयं वर्णादिमान् जीव. स ज्ञानमयो न वर्णादिमयइति तत्प्रसिद्धया जीवे वर्णादिमद् व्यवहारः) ॥४०॥ वैसे हो अनादि काल से प्रसिद्ध अतएव अशुद्ध इस अज्ञानी जीव को जो शुद्ध जीव से अपरिचित है समझाने के लिए जीव मे वर्णादिमान का व्यवहार होता है ॥७०॥

भावार्थ—व्यवहार तो व्यवहार ही है। अपने मे वह पूर्णतया समीचीन है। लोकव्यवहार मे उसकी प्रधानता है। विना उसके लोक व्यवहार चलना कठिन ही नही प्रत्युत असम्भव है। शास्त्र मे भी अज्ञानी जनो-जो आत्मा के स्वरूप से बिल्कुल ही अप्रतिबुद्ध हैं—को समीचीन रूप से आत्मा के स्वरूप को समझाने के हेतु व्यवहार का आश्रय-सहारा लेना पडता है इसी आशय को हृदयगम कर जीव को जो स्वभावत वर्णादिमान नही है—वर्णादिमान् कहा जाता है पर यह कथन पारमार्थिक-वास्तविक नही है अर्थात् जीव वर्णादिमान् कहने पर भी वर्णादिरूप नही है क्योकि जीव के स्वरूपास्तित्व मे वर्णादि की अस्तिता त्रिकाल वाधित है। जैसे घडे के साथ घी का सम्बन्ध होने पर घडा, घी का घडा कहा जाता है परन्तु घडा घी का नही होता ॥४०॥

अब जीव मे वर्णादि तथा रागादि कुछ भी नही है तो जीव क्या है ऐसा प्रश्न होने पर उत्तर देते हैं—

अनाद्यनन्तमचलं स्वसंवेद्यमिदं स्फुटम् ।
जीवः स्वयं तु चैतन्य मुच्चैश्चकचकायते ॥४१॥

अन्वयार्थ—(तु) निश्चय से (अनादि) आदि-उत्पत्ति से रहित (अनन्तम्) विनाश शून्य (अचलम्) क्षणनश्वरता से रहित (स्वसवेद्यम्) अपने द्वारा ही जानने के योग्य (स्फुटम्) स्पष्ट-ज्ञायक स्वभाव से प्रकाश मान (इदम्) यह (चैतन्यम्) ज्ञानदर्शनरूप चेतना वाला (उच्चैः) सर्वश्रेष्ठ रूप से (यत्) जो चकचकायते) चकचकित हो रहा है (इदम्) यह (स्वयम्) स्वत -स्वभावसिद्ध परनिरपेक्ष (जीव·) जीव (अस्ति) है।

स० टी०—(इदम्-प्रत्यक्षम्) यह प्रत्यक्ष (चैतन्य-चेतनत्वम्) चैतन्य (स्वयम्-स्वतः-पुद्गलाद्यनपेक्षत्वेन) स्वभाव से-पुद्गल आदि की अपेक्षा न रखने से (तु-इतिनिश्चितम्) तु यह अव्यय निश्चित अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है अर्थात् निश्चय से (जीव -आत्मा) आत्मा (चैतन्यमन्तरेण अन्यस्यानुपलभ्यमानत्वात्) चैतन्य के विना अन्य की उपलब्धि न होने से (उच्चै-सकलश्रेष्ठत्वात्) सव मे उत्तम होने से ऊँचा (चकचकायते-चाकचक्यतया शोभते) चकचकित रूप से शोभमान है (किम्भूतम् ?) कैसा (अनादि-कदाचिदपि

तस्योत्पत्तेरभावात्) अनादि अर्थात् कभी भी उसकी उत्पत्ति न होने से (**अनन्तं-अन्तातिक्रान्तम्-विनाश-रहितत्वात्**) विनाश रहित होने से अनन्त (**अनादि-निधनत्वे तर्हि कीदृशम् ?**) तो अनादि निधन होने से फिर कैसा ? (**अचलं-विनाशरहितत्वात्**) विनाश रहित होने से-अचल, (**तर्ह्यस्तीति कथं ज्ञायते**) तो ऐसा कैसे जाना जाय। (**स्वसवेद्यम्-अहं सुखी, दु.ख्यहमित्यादिरूप स्वसवेदनप्रत्यक्षम्**) मै सुखी मैं दु खी इत्यादि रूप स्वआत्मा का प्रत्यक्ष होने से जाना जाता है (**स्फुट-व्यक्तं, धर्माधर्मादि द्रव्याणामचेतनत्वेनास्फुटत्वात्**) व्यक्त अर्थात् धर्म आदि द्रव्य अचेतन-जड होने से अस्फुट हैं।

भावार्थ—जीव स्वभाव सिद्ध पदार्थ है। इसका प्रारम्भ और अन्त नही है क्योकि यह अनादि निधन है। इसका प्रत्यक्षीकरण स्वानुभव से ही होता है। अन्य किसी को सहायता इसमे कार्यकारिणी नही है क्योकि स्वानुभूति सदा स्वापेक्ष ही होती है। यह अपने ज्ञान के प्रकाश से न केवल अपना ही प्रकाश करता है किन्तु त्रिलोकवर्ती अनन्तानन्त चेतन और अचेतन सभी पदार्थों को भी प्रकाशित करने का स्वभाव रखता है। जो इसका खास गुण है। इसी गुण के कारण ही यह सर्वोपरि प्रकाशमान है। इसमे परपदार्थकृत चञ्चलता रञ्चमात्र भी नही है अतएव यह पूर्ण रूप से निश्चित है।

अब जीव तत्त्व का आलम्बन करते हैं—

वर्णाद्यैः सहितस्तथा विरहितो द्वेधास्त्यजीवोयतो
नामूर्तत्वमुपास्यपश्यति जगज्जीवस्य तत्त्वं ततः।
इत्यालोच्य विवेचकैः समुचितं नाव्याप्यतिव्यापि वा
व्यक्तं व्यञ्जितजीवतत्त्वमचलं चैतन्यमालंव्यताम् ॥४२॥

अन्वयार्थ—(**यतः**) जिस कारण से (**अजीवः**) अजीव तत्त्व (**द्वेधा**) दो प्रकार का (**अस्ति**) है उनमे पहला (**वर्णाद्यैः**) वर्ण आदि से (**सहितः**) युक्त (**तथा**) और दूसरा (**विरहितः**) वर्णादि से रहित (**ततः**) तिस कारण से (**जगत्**) जगत् के प्राणो (**अमूर्तत्वं**) अमूर्तता को (**उपास्य**) लेकर-अर्थात् अमूर्तता रूप लक्षण से (**जीवस्य**) जीव के (**तत्त्वम्**) असली स्वरूप को (**न**) नही (**पश्यन्ति**) देख सकता (**इति**) ऐसा (**आलोच्य**) पूर्वापर विचार करके (**विवेचकैः**) जीवतत्त्व के स्वरूप को विवेचन करने वाले तत्त्वज्ञ पुरुष (**अव्यापि**) अव्याप्ति (**वा**) और (**अतिव्यापि**) अतिव्याप्ति से (**न**) रहित (**समुचितम्**) समीचीन-निर्दोष (**व्यक्तम्**) स्पष्ट (**व्यञ्जितजीव-तत्त्वम्**) जीव के असली स्वरूप को प्रकाशित करने वाले (**अचलम्**) सदा विद्यमान (**चैतन्यम्**) चैतन्य का (**आलम्ब्यताम्**) आलम्बन करें।

सं० टीका—(**ततः-तस्मात् कारणात्**) तिस कारण से (**जगत्-गच्छति जानातीतिजगत्**) जगत्-जानने वाला जीव लोक (**द्युतिगमोर्थे च इति क्विप्**) इस सूत्र से क्विप् प्रत्यय गम धातु से ज्ञान अर्थ मे हुआ है (**ज्ञानवत्प्राणिसमूहः**) ज्ञानवान् प्राणियो का समुदाय (**अमूर्तत्वम्-मूर्तत्वरहितम्**) मूर्तता रहित-अमूर्तता का (**उपास्य-आश्रित्य**) आश्रय करके (**जीवस्य, आत्मनः**) जीव-आत्मा के (**तत्त्वम्-स्वरूपम्**) स्वरूप को (**पश्य-**

ति-अवलोकयति) देखता है-अवलोकन करता है परतु **(नहि यद्यदमूर्तं तत्तज्जीवतत्त्वमिति जीवेनामूर्तत्वस्य व्याप्त्यभावात्)** जो जो अमूर्त है वह वह जीव का स्वरूप नही हो सकता क्योकि अमूर्तता के साथ जीव की व्याप्ती नही है। **(कुत ?)** किस कारण से **(यतः यस्मात् कारणात्)** जिस कारण से **(अजीव-अजीव पदार्थ)** अजीव पदार्थ **(द्वेधा-द्विप्रकारः)** दो प्रकार का **(अस्ति-वर्तते)** है। **(एकोभेदः)** एक-पहला भेद **वर्णाद्यैः-रूप, गन्ध, रस, स्पर्शाद्यै. सहितः-युक्तः परमाण्वादि पुद्गलपिण्डाना वर्णात्मकत्वेन मूर्तत्वात्)** रूप, गन्ध, रस और स्पर्श आदि से सहित क्योकि परमाणु आदि के पुद्गलपिण्ड वर्णात्मक होने से मूर्त हैं। **(तथा-तेनैवप्रकारेण द्वितीयोभेद)** उसी प्रकार से दूसरा भेद **(तैर्विरहितः)** उन उक्त वर्णादियो से रहित **(धर्माधर्माकाशकालाना वर्णादिरहितत्वेनामूर्तत्वात्)** धर्म, अधर्म, आकाश और काल वर्णादि से रहित होने के कारण अमूर्त है **(इति-अमुना प्रकारेण)** इस प्रकार से **(अमूर्तत्वं-जीवस्वरूप न)** जीव का स्वरूप अमूर्तता नही है। **(आलोच्य-निश्चित्य)** निश्चय करके **(आलम्ब्यताम्-सेव्यताम्)** आलम्वन करो—सेवन करो **(किम् ?)** क्या ? **(चैतन्यं-चेतनत्वम्)** चैतन्य-चेतनता **(व्यजित-जीवतत्त्वम्—व्यजितम् जीवस्य-स्वरूप येन तत्)** व्यजित-प्रकट कर दिया है जीव के स्वरूप को जिसने **(अचलं-परलक्ष्येऽभावाच्चचलतारहि-तम्)** पर लक्ष्य-पर पदार्थ-मे जीव का अभाव होने से चञ्चलता रहित **(समुचित-सम्यक् प्रकारेण तन्नोचितं युक्तम्)** भलो भाति उससे युक्त **(लक्षणस्य त्रीणि दूषणानि-अव्याप्त्यतिव्याप्त्यसम्भवरूपाणि)** लक्षण के तीन दोष हैं—१ अव्याप्ति २ अतिव्याप्ति ३ असम्भव से रहित। **(तत्राव्यापि नैतल्लक्षणं स्वलक्ष्ये जीवे सर्वत्र विद्यमानत्वात्)** जीव का यह चैतन्य लक्षण अपने लक्ष्यभूत सभी जीवो मे पाया जाता है। **(गोः शावलेयत्ववदव्यापि न च)** अतएव गो के शावलेयत्व की तरह अव्याप्ति दोष से दूषित नही है अर्थात् यदि गो का लक्षण शावलेयत्व-चितकबरापन किया जाय तो वह सिर्फ चितकबरी गायो मे ही घटित होगा अन्य श्वेत काली नीली आदि गायो मे नही पाया जायगा। अत गो का यह शावलेयत्व लक्षण अव्याप्ति दोष से दूषित है किन्तु जीव का चैतन्य लक्षण जीवमात्र मे उपलब्ध होने से सल्लक्षण है। अर्थात् अव्याप्ति दोष से दूषित नही है।

(वा-पुन. अतिव्यापि न च स्वलक्ष्य जीवलक्षणं विहायान्यत्र गोः पशुत्ववद्विद्यमानत्वाभावात्) और जीव का उक्त चैतन्य लक्षण अपने लक्ष्यभूत जीव को छोडकर अन्य किसी भी द्रव्य मे नही पाया जाता है। जैसे गो का 'पशुत्व' लक्षण गो को छोड कर अश्व आदि मे पाया जाने से अतिव्याप्ति दोष से दुष्ट है वैसा जीव का चैतन्य लक्षण अतिव्याप्ति दोष से दूषित नही है क्योकि वह जीव से भिन्न मे विद्यमान है ही नही। **(पुनः-गव्येकशफत्ववदसम्भव च न)** और जीव का उक्त लक्षण गो मे एक शफत्व की तरह असम्भव भी नही हैं **(यत)** क्योकि **(व्यक्त तत्रैव तत्र सर्वत्रैव विद्यमानत्वात्)** श्लोकस्थ व्यक्त पद से उक्त वह चैतन्य लक्षण स्पष्ट रूप से उन सभी जीवो मे उपलब्ध होता है। **(अथवा समुचितपदेनासम्भव परिहार)** अथवा श्लोक मे कहे हुए समुचित पद से असम्भव दोष का परिहार हो जाता है। अर्थात् जैसे गो का लक्षण एक शफ वाला किया जाय तो वह एक शफ किसी भी गाय मे सम्भव नही है अतएव

गो का उक्त लक्षण असम्भव दोष से दूषित है। वैसे ही जीव का चैतन्य लक्षण जीव मात्र मे त्रिकाल अबाधित होने से असम्भव दोष से दूषित नही है अतएव सुलक्षण है। इस प्रकार से जीव का चैतन्य लक्षण अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असम्भव इन तीनो दोषो से शून्य होने के कारण समीचीन लक्षण है। बस इसी लक्षण से लक्षित जीव को पुद्गलादि जड पदार्थों से सर्वथा स्वरूप भेद से भिन्न मानकर श्रद्धान ज्ञान और आचरण मे लाने की समुचित चेष्टा करनी चाहिए।

भावार्थ—किसी भी वस्तु के लक्षण मे तीन दोष नही होना चाहिए अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असम्भव। आत्मा का लक्षण अमूर्तिक करने पर अतिव्याप्ति दोष आयेगा क्योकि धर्म-अधर्म आकाश काल भी अमूर्तिक है। अगर रागादिक आत्मा का लक्षण करे तो अव्याप्ति दोष आयेगा कारण सिद्धो मे अरहनो मे रागादि नही है और मूर्तिक लक्षण करने पर असम्भव दोष आयेगा इसलिए आत्मा की पहचान तो आत्मा के चैतन्य लक्षण द्वारा ही की जाती है जो मात्र आत्मा मे तो है और किसी मे नही मिल सकता। उसी चैतन्य चिह्न के द्वारा आत्मा की पहचान करो।

अब जीव और अजीव की भिन्नता अनुभव मे कैसे आती है यह बताते है—

जीवादजीवमितिलक्षणतो विभिन्नं ज्ञानीजनोऽनुभवति स्वयमुल्लसन्तम्।
अज्ञानिनो निरवधिप्रविजृम्भितोऽयं मोहस्तु तत्कथमहो वत नानटीति ॥४३॥

अन्वयार्थ—(**इति**) पूर्वोक्त प्रकार से (**ज्ञानी**) ज्ञानवान् (**जनः**) मनुष्य (**स्वयं**) स्वत खुद-ब-खुद (**उल्लसन्तम्**) शोभायमान (**जीवात्**) जीव से (**लक्षणत.**) लक्षण के कारण (**अजीवम्**) अजीव-पुद्गलादि जड पदार्थ को (**विभिन्न**) सर्वथा भिन्न (**अनुभवति**) अनुभव करता है, अर्थात् जानता है मानता है। (**तु**) किन्तु- (**वत**) खेद है (**अहो**) और आश्चर्य है कि (**निरवधि**) अमर्यादा रूप से (**प्रविजृम्भितः**) अत्यन्त वृद्धि को प्राप्त हुआ (**अयम्**) यह (**मोहः**) मोह-अज्ञान अर्थात् पर के साथ एकत्वपना (**कथम्**) कैसे-क्यो—(**अज्ञानिनः**) भेद ज्ञान से रहित प्राणियो को (**नानटीति**) बार-बार अथवा अतिशय रूप से नचा रहा है।

सं० टी०—(**इति-चेतनत्वाचेतनत्वयोर्भिन्नत्वकथनेन**) चेतन और अचेतन के भेद का निरूपण करने से (**अनुभवति-निश्चिनोति, अनुभवविषय करोतीत्यर्थः**) निश्चय करता है अर्थात् अनुभव मे लाता है (**क ?**) कौन (**ज्ञानी-भेदविज्ञानयुक्तः**) जीव तथा अजीव के भेद को जानने वाला (**जनः-भव्यलोकः**) भव्य जीव (**लक्षणत-असाधारणधर्मतः**) असाधारण धर्म से (**जीवात्-आत्मनः**) जीव-आत्मा से (**अजीवं-धर्मादि-द्रव्यम्**) धर्म, अधर्म, आकाश और काल (**विभिन्नम्-अतिरिक्तम्**) सर्वथा पृथक् है (**कीदृश-अजीवम् ?**) कैसे अजीव को (**स्वयम्-अचैतन्यस्वरूपेण**) अचेतन रूप से (**उल्लसन्तम्-ऊर्ध्वं विलसन्तम्**) अतिशय प्रकाशमान है (**वतइति खेदे**) वत यह खेद वाचक अव्यय है अर्थात् खेद है (**तत्-तस्मात, जीवाजीवयो, परस्परं भिन्नत्वात्**) जीव और अजीव के आपस मे भिन्नता होने से (**अयम्-मोह.—पुद्गलात्मक मोहनीय राग-द्वेषात्मकं च कर्म**) यह मोह-पुद्गल रूप मोहनीय कर्म अर्थात् द्रव्यकर्म तथा राग द्वेष रूप भाव कर्म (**अहो-इति आश्चर्ये**) अहो यह आश्चर्य अर्थ का वाचक अव्यय है अर्थात् आश्चर्य है (**कथं-केन प्रकारेण-**) किस

प्रकार से ((**नानटीति-अत्यर्थं नाटयति न कथमपि, तयोः परस्पर भिन्नत्वसाधनात्**) अत्यन्त रूप से नचाता है अर्थात् किसी भी प्रकार से नही नचाता है क्योकि जीव और अजीव मे आपस मे भिन्नता सिद्ध है (**किम्भूतोमोह ?**) कैसा मोह ? (**अज्ञानिनः-भेदज्ञान रहितस्य मूढ़प्राणिन**) अज्ञानी-भेद विज्ञान से शून्य—अर्थात् मूर्ख प्राणी के (**निरेत्यादि मर्यादारहितत्वेन व्याप्तः, अज्ञानिनस्तन्मयत्वात्**) अमर्यादित रूप से व्याप्त है अर्थात् अज्ञानी का मोह अनन्त है क्योकि अज्ञानी मोह मय होता है ॥४३॥

भावार्थ जीव के चैतन्य लक्षण से अजीव का लक्षण जडता सर्वथा भिन्न है अर्थात् अजीव जड़ है अचेतन है अतएव वह जीव से त्रिकाल भिन्न है यह ज्ञानी के ज्ञान मे प्रति समय प्रतिभासित होता रहता है। यह बडे आश्चर्य और खेद का विषय है कि अज्ञानी-जीव और अजीव मे पार्थक्य का निर्णय नही कर पाता है उसका मोह प्रति क्षण वृद्धिङ्गत होता है जो उसे अज्ञान के चक्र मे चलाता रहता है।

अब अविवेकपूर्ण नाटक मे पुद्गल की प्रधानता बताते हैं—

अस्मिन्ननादिनि महत्यविवेकनाट्ये वर्णादिमान्नटति पुद्गल एव नान्यः ।
रागादि पुद्गल विकार विरुद्धशुद्ध चैतन्यधातुमय मूर्तिरयं च जीवः ॥४४॥

अन्वयार्थ --(**अस्मिन्**) इस (**अनादिनि**) अनादि काल से प्रचलित (**महति**) महान् (**अविवेकनाट्ये**) अज्ञान रूप नाटक मे (**वर्णादिमान्**) वर्ण, गन्ध, रस तथा स्पर्श वाला (**पुद्गलः**) पुद्गल-परमाणु एव स्कन्धरूप जड पदार्थ (**एव**) ही (**नटति**) नृत्य कर रहा है—नाच रहा है। (**अन्य**) अन्य कोई (**न**) नही (**च**) क्योकि (**अयम्**) यह (**जीवः**) जीव (**रागादि पुद्गल विकार विरुद्ध शुद्ध चैतन्य-धातुमय मूर्तिः**) रागादि पुद्गल के विकारो से विपरीत शुद्ध-निर्मल चैतन्य धातुरूप मूर्ति वाला (**अस्ति**) है।

स० टीका—(**नटति नृत्यं करोति, नारकादिपर्याय सूक्ष्म स्थूलादिरूप भवतीत्यर्थः**) नृत्य करता है अर्थात् नारक आदि सूक्ष्म तथा स्थूल आदि रूप को धारण करता है। (**कः ?**) कौन ? (**पुद्गलः, वर्ग वर्गणास्पर्धक गुणहान्यादिरूपः**) वर्ग, वर्गणा, स्पर्धक, गुण हानि आदि रूप पुद्गल (**एव-निश्चयेन**) निश्चय से (**किम्भूतः ?**) कैसा (**वर्णादिमान्, वर्णोरूपं स एव आदिर्यस्य स्पर्शरस गन्धादेः, स वर्णादिः विद्यते यस्य सः, "स्पर्शरसगन्धवर्णवन्त. पुद्गलाः"-इतिवचनात्**) जिसके आदि मे वर्ण है ऐसे स्पर्श रस गन्ध आदि जिसमे विद्यमान हैं वह वर्णादिमान अर्थात् पुद्गल कहा जाता है। क्योकि स्पर्श रस गन्धवर्ण वाले पुद्गल हैं ऐसा आगम का वचन है। (**क्व ?**) कहा (**अस्मिन् जगत्प्रसिद्धे**) इस लोक मे प्रसिद्ध है (**अविवेक नाट्ये 'ममेदं' अहमस्येति लक्षणोऽविवेक. तथाचोक्तं-'चिदचिदत्त्वेपरतत्त्वे विवेकस्तद्विवेचनमिति' तद्विपरीतोऽविवेक स एव नाट्य लास्यं तस्मिन्**) यह मेरा है मैं इसका हूँ यह अविवेक स्वरूप है इसी प्रकार से कहा भी है कि चेतन और अचेतन इन दोनो तत्त्वो का विवेचन करना विवेक कहलाता है उस विवेक से विपरीत का नाम अविवेक है अर्थात् दोनो तत्त्वो को एक मानना ही अविवेक है उसी अविवेक रूप नृत्य मे (**किम्भूते ?**) कैसे (**अनादिनि-आदिरहिते**) आदि-प्रारम्भ-शुरुआत से शून्य (**पुनः किम्भूते ?**) फिर कैसे (**महति-आससार**

जीव व्याप्तत्वात्) जब से संसार है तब से जीव के साथ व्याप्त होने से महान् (**चेतिभिन्नप्रक्रमे**) यह अव्यय भिन्न क्रम का वाचक है (**अन्य -अजीवाद्भिन्नः**) अजीव से भिन्न (**अयं जीव आत्मा**) यह आत्मा (**न नटति**) नही नृत्य करता है (**कुतः ?**) कैसे (**हेतु गर्भितविशेषणं दर्शयति-रागेत्यादिः-रागो-रतिः, आदि शब्दात्, द्वेषमोहाध्यवसायादयः ते च ते पुद्गलानां विकाराश्च विकृतय· तेभ्योविरुद्धं विपरीतस्वरूपत्वाद्भिन्नं तच्च तत् शुद्धं-द्रव्यभावनोकर्मरहितं चैतन्यं च तदेव धातु-द्रव्यविशेषः अथवा दधातिस्वगुण पर्यायनितिधातुः-ज्ञानशक्ति तेन निर्वृत्तामूर्तिर्लक्षणया स्वरूपं यस्य स**) अब हेतु गर्भित विशेषण को दिखाते है राग इत्यादि राग अर्थात् रति, आदि शब्द से द्वेष मोह अध्यवसाय आदि वे ही हुए पुद्गल के विकार उनसे विरुद्ध अर्थात् जीव से विपरीत स्वरूप होने के कारण, द्रव्यकर्म नोकर्म तथा भावकर्म से रहित जो चैतन्य वही हुआ धातु-द्रव्यविशेष अथवा जो निजगुण और पर्यायो को धारण करता है वह धातु कहा जाता है अर्थात् ज्ञानशक्ति उससे लक्षण शक्ति द्वारा जिसके स्वरूप का निर्माण होता है इसलिये।

भावार्थ—प्रत्येक ससारी आत्मा अनादि काल से अविवेक-स्वपर भेद विज्ञान के अभाव से ही चौरासी लाख योनियो मे परिभ्रमण रूप नाटक करता हुआ ससारी बन रहा है यह एकमात्र अपने स्वभाव को नही जानने का ही दुष्फल है। जब अज्ञान का स्थान ज्ञान-स्वपरविवेक-ग्रहण करता है तब ज्ञानी जीव अपनी स्वाभाविक ज्ञान शक्ति से इस निष्कर्ष पर पहुचता है कि इस ससार मे ससरणकर्त्ता एकमात्र रूपी पुद्गल ही है अज्ञानी जीव स्वस्वरूप से च्युत हो पर वस्तु को ही निजरूप से स्वीकार करने लगता है नतीजा यह होता है कि यह अपने अस्तित्व को पर मे ही विलीन कर अनन्त ससारी हो विविध यातनाओ से उत्पीडित एव त्रस्त रहता है इसकी यह दशा उस मृग के समान है जो मृगमरीचिका मे जल की बुद्धि से इतस्त परिभ्रमण करता हुआ दु ख का ही पात्र बना रहता है। यदि वह मृग-मृगमरीचिका मे जलत्व बुद्धि का त्याग कर दे तो तत्क्षण सुखी हो सकता है। इससे यह निचोड सहज ही मे निकल आता है कि विपर्यय बुद्धि ही दु ख का मूल है। अस्तु ज्ञानी-आत्मस्वरूप एव पर स्वरूप का ज्ञाता जब निज मे निज का निज के द्वारा निरीक्षण करता है तब वह देखता है कि मेरे मे रागादि भाव निमित्तज है सहज नही यदि वे सहज स्वभाव होते तो शुद्ध पर्यायापन्न सिद्धो मे भी उपलब्ध होते जब सिद्धो मे उनकी अनुपलब्धि है तब कहना पडता है कि वे आत्मा के स्वभाव भाव नही है प्रत्युत्त नैमित्तिक विभाव भाव ही है निमित्त के अभाव मे उनका भो अभाव हो ही जाता है अतएव निमित्तभूत पुद्गल ही नाटक करने वाला है जीव नही। जीव तो स्वभावतः शुद्ध है। शुद्ध का नाटक कैसा ?

अब भेद ज्ञान का अन्तिम सुफल बताते हैं—

इत्थं ज्ञानक्रकचकलनापाटनं नाटयित्वा
जीवाजीवौ स्फुटविघटनं नैव यावत्प्रयातः।
विश्वं व्याप्य प्रसभविकसद् व्यक्तचिन्मात्रशक्त्या
ज्ञातृ द्रव्यं स्वयमतिरसात्तावदुच्चैश्चकाशे ॥४५॥

अन्वयार्थ—(**इत्थम्**) इस प्रकार से—अर्थात् पुद्गल ही नाटक करने वाला है जीव नही इस कथन से (**ज्ञानक्रकच कलनापाटनम्**) ज्ञान-भेदज्ञान रूप करोत के ग्रहण की चतुराई से (**जीवाजीवौ**) जीव और अजीव को (**नाटयित्वा**) नचा करके (**यावत्**) जब तक वे दोनो (**स्फुट विघटनम्**) स्पष्ट रूप से पृथकता को (**नैव**) नही (**प्रयातः**) प्राप्त करते। (**तावत्**) तब तक (**ज्ञातृ**) ज्ञाता (**द्रव्यम्**) द्रव्य अर्थात् ज्ञाताद्रष्टा स्वभाववान् आत्मा (**प्रसभ विकसत्**) अतिशय रूप से विकास को प्राप्त होता हुआ (**व्यक्तचिन्मात्र शक्त्या**) प्रकटरूप चैतन्य स्वरूप शक्ति से (**विश्व**) जगत् को (**व्याप्य**) व्याप्त करके (**स्वयम्**) स्वत अपने आप (**अतिरसात्**) रस की अधिकता से (**उच्चै**) सर्वोपरि (**चकाशे**) शोभित हो उठता है।

सं० टीका–(**तावत्-तावत्कालपर्यन्तम्**) तब तक (**ज्ञातृद्रव्यं-ज्ञायकद्रव्यम्**) ज्ञायक आत्मद्रव्य (**स्वयं-स्वभावादेव**) स्वभाव से ही (**अतिरसात्-रसातिशयत**) रस की अधिकता से (**उच्चै-ऊर्ध्वम्**) ऊपर (**चकाशे-शुशुभे**) शोभित रहता है। (**किम्भूतम् ?**) कैसा (**प्रसभ विकसत्-अत्यर्थं विकासं गच्छत्**) अत्यन्त विकास को प्राप्त होता हुआ (**कया ?**) किसके द्वारा (**व्यक्तेत्यादि-चिन्मात्रस्य-ज्ञानमात्रस्यशक्ति अविभागप्रतिच्छेदसमूह, व्यक्ताचासौ चिन्मात्रशक्तिश्च तया**) विकसित ज्ञानमात्र के अविभाग प्रतिच्छेद समूह के द्वारा (**किं कृत्वा**) क्या करके (**विश्वं-जगत्**) जगत् को (**व्याप्य-परिच्छेद्येत्यर्थ**) व्याप्त करके अर्थात् पूर्ण रूप से जान करके (**यावत्-यावत्पर्यन्तम्**) जब तक (**नैवप्रयात -निश्चयेन न प्राप्नुतः**) निश्चय रूप से नही प्राप्त होते (**किम् ?**) क्या (**स्फुट विघटन-स्फुटं-व्यक्तं-विघटन-पृथग्भवनम्**) स्पष्ट रूप से पृथक् होना (**कौ !**) कौन दो (**जीवाजीवौ-जीवः-आत्मा चेतनः, अजीवः-अचेतन -कर्मपुद्गलादिः, द्वन्द्वः तौ**) जीव और अजीव को अर्थात् आत्मा तथा अनात्मा-पुद्गलादि कर्म परमाणुओ को (**किंकृत्वा ?**) क्या करके (**इत्यम् पूर्वोक्त प्रकारेण, पुद्गलस्यैव नर्तनादिकथनलक्षणेन,**) पूर्व मे कहे अनुसार अर्थात् पुद्गल ही नृत्यादि का करने वाला है जीव नही इस कथन से (**नाटयित्वा-नृत्यविषय कृत्वा, इतस्ततश्चालयित्वेति-यावत्**) नृत्य कराके अर्थात् इधर-उधर चला के (**किम् ?**) क्या (**ज्ञानेत्यादि -ज्ञान-शुद्धात्मज्ञान, तदेव क्रकच. करपत्रं "क्रकचोऽस्त्री करपत्रंस्यात्' इत्यमर., तस्य कलना-ग्रहण तस्या. पाटनं पटुत्व-तत्पटुत्व जीवाजीवयोर्मध्ये कृत्वेत्यर्थ**) शुद्धात्मा ज्ञानरूप करोत के ग्रहण की चतुराई को जीव और अजीव के बीच मे करके यहा क्रकच शब्द करपत्र-अर्थात् करोत का वाचक है ऐसा अमर कोष से स्फुट है। (**तावत्**) तब तक (**ज्ञातृ**) ज्ञाता जानने वाला (**द्रव्यम्**) द्रव्य अर्थात् जीव द्रव्य (**समय-समय प्रति अधिकतया अचकात् यावन्निश्शेषबन्धध्वसो न याति तस्मिन् कृते अधिकतया प्रतिभासना भावात्तस्य—स्वस्वरूपेऽवस्थानात् कृतकृत्यत्वादिति तात्पर्यम्**) प्रति समय उत्तरोत्तर अधिकता से तब तक शोभित होता रहता है जब तक पूर्णरूप से बन्ध का विनाश नही हो जाता। बन्ध का पूर्ण विनाश होने पर तो उत्तरोत्तर अधिकता का अभाव हो जाता है क्योकि आत्मा कृतकृत्य होने से अपने निजस्वरूप मे स्थित हो जाता है ऐसा तात्पर्यार्थ समझना चाहिए ॥४५॥

भावार्थ–सम्यग्दृष्टि आत्म ज्ञान रूप करोत से जीव अजीव को पृथक् करने मे उद्यमशील

रहता है लेकिन जब तक वह पूर्णरूपेण अजीव को आत्मा से पृथक् नही कर देता तब तक वह श्रुत ज्ञान से आत्मा के स्वरूप को पर पुद्गलादि से पृथक् जानता हुआ आत्म स्वरूप को पूर्णतया प्राप्त करने के हेतु उद्यमशील बना रहता है और जब वह अपने ही प्रबल पुरुषार्थ से ज्ञानावरणादि घातक कर्मों का विनाश कर केवल ज्ञान प्राप्त कर लेता है तब वह पूर्णरूप से प्रत्यक्ष आत्मा का एव सकल चराचर पदार्थों का ज्ञाता होकर लोक शिरोमणि बन जाता है। अर्थात् कृतकृत्य हो जाता है यही कृतकृत्यतापूर्ण स्थिरता की जननी है और इसका जनक पूर्वोक्त भेद विज्ञान है। भेद विज्ञान के बिना कृतकृत्यता नही आ सकती और कृतकृत्यता आये बिना पूर्ण स्थिरता कथमपि सम्भव नही है ऐसा जान कर प्रत्येक कृत-कृत्येच्छु को भेदविज्ञान की ओर अग्रसर होना चाहिए यह इसका तात्पर्यार्थ है ॥४५॥

व्याख्यानमिदं जयतादात्मविकाशि प्रकृष्ट निजमानम् ।
शुभचन्द्रयतिव्यक्तं शुद्धार्थं समयसारपद्यस्य ॥१॥

अन्वयार्थ – **(शुभचन्द्रयतिव्यक्तम्)** शुभचन्द्र मुनि के द्वारा प्रकट किया हुआ **(आत्मविकाशिप्रकृष्ट निजमानम्)** आत्मा के विकास से उत्कृष्ट परिमाण को प्राप्त **(शुद्धार्थम्)** निर्दोष अर्थ से सहित **(समय-सार पद्यस्य)** समयसार के पद्यो का **(इदम्)** यह **(व्याख्यानम्)** व्याख्यान **(जयतात्)** जयवान्-सर्वश्रेष्ठ हो।

(इति समयसारपद्यस्य परमाध्यात्मतरङ्गिणीनामधेयस्य व्याख्याया प्रथमोऽङ्कः समाप्तः)

इति परमाध्यात्म तरङ्गिणी नामक समयसार के पद्यो की व्याख्या मे यह पहला अङ्क समाप्त हुआ।

द्वितीयोऽङ्कः-प्रारभ्यते

कर्ता कर्म अधिकार

सर्व प्रथम ज्ञान की महिमा का वर्णन करते हैं—

एकः कर्ता चिदहमिहमे कर्म कोपादयोऽमी इत्यज्ञानां शमयदभितः कर्तृ-कर्मप्रवृत्तिम् ।
ज्ञानज्योतिः स्फुरति परमोदात्तमत्यन्तधीरं साक्षात्कुर्वन्निरुपधिपृथग्द्रव्यनिर्भासिविश्वम् ॥१

अन्वयार्थ—**(इह)** इस लोक मे **(चित्)** चैतन्य स्वरूप **(अहम्)** मैं **(एकः)** एक **(कर्ता)** कर्ता-करने वाला **(अस्मि)** हूँ **(अमी)** ये **(कोपादयः)** क्रोध आदि **(मे)** मेरे **(कर्म)** कर्म हैं **(इति)** इस प्रकार की **(अज्ञानाम्)** अज्ञानियो की **(कर्तृकर्म प्रवृत्तिम्)** कर्ता और कर्म की प्रवृत्ति को **(अभित.)** सब तरफ से **(शमयत्)** शान्त करता हुआ, **(परमोदात्तम्)** अत्यन्त विशाल अर्थात् अनन्त, **(अत्यन्त धीरम्)** अतिशय रूप से निश्चल, **(निरुपधि)** सर्व उपाधियो-आकुलताओ से रहित, **(पृथक्)** भिन्न-भिन्न **(द्रव्यनिर्भासि)**

द्रव्यो के स्वरूप को प्रकाशित करने वाला, (**विश्वम्**) लोक और अलोक को (**साक्षात्कुर्वत्**) प्रत्यक्ष करने वाला (**ज्ञानज्योति.**) ज्ञान का प्रकाश-अखण्ड तेज (**स्फुरति**) स्फुरायमान-प्रकाशमान होता है।

सं० टीका - (**स्फुरति-द्योतते**) प्रकाशित होता है (**किम् ?**) क्या ? (**ज्ञानज्योति -बोधतेजः**) ज्ञान का तेज (**पृथक्-समस्त द्रव्येभ्यो भिन्नम्**) सर्व द्रव्यो से भिन्न (**किम्भूतम्**) कैसा (**परमोदात्तम्-परम-उत्कृष्ट सर्वद्रव्य विकाशकत्वात्-अथवा परा-उत्कृष्टा मा लक्ष्मी., अनन्त चतुष्टयलक्षणा यस्य तत्परम तच्च तदुदात्त-उत्कृष्ट च तत्**) सभी द्रव्यो का प्रकाशक होने से उत्कृष्ट अथवा अनन्त चतुष्टयरूप उत्कृष्ट लक्ष्मी से व्याप्त (**पुनः**) और (**अत्यन्तधीरम्-अतिशयेन धीरं निष्कम्पम्, धीर्धारणा तां जगद ग्रहणाय राति आदत्ते इति धीरमिति वा**) अतिशयरूप से निश्चल निष्कप अथवा जगत् को जानने के लिए बुद्धि-केवलज्ञान को ग्रहण करने वाला (**निरुपधि-बाह्याभ्यन्तर द्रव्य भावकर्मण उपाधेर्निष्क्रान्तोनिरुपधि**) ज्ञाना-वरणादि रूप वाह्य कर्म उपाधि तथा रागद्वेषादिरूप आभ्यन्तर कर्मो की उपाधि से रहित (**'निरादयो निर्गमनाद्यर्थे पञ्चम्या , इति पञ्चमी तत्पुरुष. नत्वव्ययीभाव**) निर् आदि अव्यय निर्गमन आदि अर्थ मे अञ्चम्यन्तसुबन्त के साथ समस्त को प्राप्त करते हैं इस सूत्र से यहा पञ्चमी तत्पुरुष समास है अव्ययी भाव समास नही। (**द्रव्यनिर्भासि-समस्तगुणपर्याय नयोपनयप्रकाशक नयोपनयमन्तरेणा यस्य द्रव्यस्या-भावात्**) सभी गुण, पर्याय, नय, उपनयो का प्रकाशक क्योकि नयो और उपनयो के विना कोई द्रव्य उपलब्ध नही होता।

(**तथाचोक्तमष्टसहस्त्र्याम्**—ऐसा ही अष्ट सहस्री मे कहा है—

नयोपनयैकान्ताना त्रिकालाना समुच्चय ।
अविभ्राड् भावसम्बन्धो द्रव्यमेकमनेकधा ॥१॥

(**त्रिकालानाम्**) तीनो कालो के (**नयोपनयै कान्तोनाम्**) नयो तथा उपनयो का (**समुच्चय**) एक पिण्ड, (**अविभ्राड् भावसम्बन्धः**) अन्य पदार्थ के सम्बन्ध से शून्य अर्थात् द्रव्य दृष्टि से जिसमे किसी भी अन्य द्रव्य का सम्बन्ध नही है ऐसा (**द्रव्यम्**) द्रव्य (**एकम्**) एक है (**अनेकधा**) अनेक प्रकार है। (**विश्वम्-षड्द्रव्य समुदाय सप्त रज्जुघनत्रिलोकम्-उपलक्षणादलोकञ्च**) जीवादि छहो द्रव्यो का समूह रूप सात राजु घन प्रमाण तीनो लोक तथा उपलक्षण से अलो।-को (**साक्षात्कुर्वत्-प्रत्यक्षी कुर्वत्**) प्रत्यक्ष करता हुआ (**इ।तपूर्वार्धोक्तप्रकारेण प्रवृत्ति-कर्तृ कर्मप्रवृत्तिम्**) इस तरह पूर्वार्ध मे कहे अनुसार कर्ता कर्म की प्रवृत्ति को (**तदत्र क्रोधादौ योऽयमात्मा स्वयमज्ञानभावेन ज्ञानभवनमात्रसहजोदासीनावस्थात्यागेन व्या-प्रियमाण. प्रतिभाति स कर्ता**) जो यह आत्मा स्वय ही ज्ञानरूप रहना मात्र ऐसी स्वभावभूत उदासीन अवस्था के त्या।गरूप अज्ञानभाव से इन क्रोध आदिको मे प्रवृत्ति करता हुआ मालूम पडता है वही कर्ता है। (**यत्तु-अज्ञानभवन व्याप्रियमाणत्वेनान्तरुत्प्लवमान प्रतिभाति क्रोधादि तन्कर्म**) और जो अज्ञानरूप से व्यापार करने के कारण अन्तरङ्ग मे उत्पन्न होते हुए प्रतिभासित होने वाले क्रोध आदि हैं वे ही कर्म हैं (**एवमियमनादिरज्ञानजा कर्तृकर्मप्रवृत्ति., कर्ता-आत्मा, कर्म ज्ञानावरणादि., द्वन्द्व., तयो प्रवृत्तिः,-प्रवर्तन**

ताम्) इस तरह से यह अनादि अज्ञान से उत्पन्न हुई कर्ता कर्म की प्रवृत्ति, कर्ता-आत्मा, कर्म-ज्ञानावरण आदि इन दोनो की प्रवृत्ति को (**अभित.-साकल्येन**) सब तरफ से-पूर्णरूप से (**शमयत्-उपशमं शान्तता—नयत्**) शान्त करता हुआ (**किम्भूताम् ताम्**) कैसी प्रवृत्ति को (**अज्ञानाम्-न विद्यते ज्ञानं यस्या सा ताम्**) ज्ञानशून्य-जिसमे स्वपर भेदात्मक ज्ञान का सर्वथा अभाव है (**इति क्व**) यह कहा (**इह-जगति**) इस जगत्-ससार मे (**एकः, अह चित्-आत्मा, 'चिच्छब्दोऽत्र पुलिङ्गे**) यहा चित् शब्द पुलिङ्ग मे प्रयुक्त हुआ है अर्थात् एक अद्वितीय मै चैतन्यस्वरूप आत्मा (**कर्ता-करोतीत्येवं शीलः कर्ता**) क्रिया करना ही जिसका स्वभाव है वह कर्ता (**कोपादयः क्रोधादयो द्रव्यभावरूपा.**) द्रव्य तथा भावरूप क्रोध आदि (**मे-ममात्मन, कर्तृतापन्नस्य**) कर्तापने को प्राप्त हुई मेरी आत्मा के (**कर्म-क्रियमाण कार्यम्**) किये जाने वाले-करने योग्य कर्म है (**ऐसी अज्ञानता को शान्त करता हुआ**) ॥१॥

भावार्थ—चैतन्य स्वरूप मैं तो कर्ता हूँ और क्रोध आदि रूप भाव मेरे कर्म है इस प्रकार की अनादिकाल से चली आ रही अज्ञानमय कर्ता कर्म की प्रवृत्ति को जड मूल से उन्मूलन करता हुआ अनन्त महिमा शाली परम निश्चल निर्विकार ज्ञान ज्योतिरूप समस्त पर द्रव्यो से सर्वथा पृथक् अपना अस्तित्व रखता हुआ एव लोकालोक को दर्पण की भाँति प्रत्यक्ष करता हुआ अखण्ड अनन्त ज्ञान प्रकाशमान होता है ॥१॥

(**ननु ज्ञाने कथ न कर्तृकर्मप्रवृत्तिरिति चेत्**) ज्ञान मे कर्ता कर्म की प्रवृत्ति क्यो नही होती ? इस प्रश्न के उत्तर मे कहते है—

परपरिणतिमुज्झत्खण्डयद्भेदवादानिदमुदितमखण्डं ज्ञानमुच्चण्डमुच्चैः ।
ननु कथमवकाशः कर्तृकर्म प्रवृत्तेरिह भवति कथं वा पौद्गलः कर्मबन्धः ॥२॥

अन्वयार्थ—(**परपरिणतिम्**) क्रोध आदि रूप पर भावो को (**उज्झत्**) त्यागता हुआ (**भेदवादान्**) कर्ता कर्म आदि रूप भेदो के कथन को (**खण्डयत्**) तोडता हुआ (**अखण्डम्**) अखण्ड (**उच्चै.**) अतिशय (**चण्डम्**) प्रचण्ड (**इदम्**) यह (**ज्ञानम्**) ज्ञान (**उदितम्**) उदय को प्राप्त हुआ है (**इह**) ऐसे इस ज्ञान स्वरूप आत्मा मे (**कर्तृ कर्मप्रवृत्ते.**) कर्ता कर्म की प्रवृत्ति को (**ननु**) निश्चय से (**अवकाशः**) स्थान (**कथम्**) कसे (**भवेत्**) हो सकता है। (**वा**) और (**पौद्गल**) पुद्गल सम्बन्धी (**कर्मबन्धः**) कर्म बन्ध (**कथम्**) कैसे (**भवति**) हो सकता है ? (**अपितु न कथमपि भवेत्**) किन्तु किसी भी प्रकार से नही हो सकता है।

स० टी०—(**इदम्-प्रत्यक्षम्**) यह प्रत्यक्ष (**ज्ञानम्-बोधः**) ज्ञान (**उच्चै.-अतिशयेन**) अतिशय रूप से (**उदितम्-उदय प्राप्तम्**) उदय को प्राप्त हुआ (**किम्भूतम्**) कैसा ज्ञान (**उज्झत्-त्यजत्**) त्यागता छोडता हुआ (**परेत्यादि-परेषु-क्रोधादिषु परिणति-परिणामम्**) आत्मस्वरूप से भिन्न क्रोध आदि रूप परिणाम को (**पुन. कीदृशम्**) फिर कैसा ? (**खण्डयत्-निराकुर्वत्**) खण्डन-निराकरण करता हुआ (**कान्**) किनको (**भेदवादान्—भेदाना कर्तृ कर्म करणादिरूपणा, वादा.-कथनानि-तान्**) भेदवादो—कर्ता, कर्म, करण आदि

रूप वादो को (**अखण्डम्— न खण्डयते केनापि तदखण्डम्-परिपूर्णम्**) जिसका खण्डन किसी से भी न हो वह अखण्ड-परिपूर्ण (**उच्चण्डम्-उत्कटम्-द्रव्यास्रवनिराकरणहेतुत्वात्**) द्रव्य कर्मो के आस्रव के निरोध का कारण होने से अतिशय रूप से महान् (**नन्विति वितर्के**) ननु यह अव्यय वितर्क मे आया है (**इह-ज्ञानात्मनि**) इस ज्ञान स्वरूप आत्मा मे (**अवकाशः-स्थानम्**) स्थान (**कथम्**) कैसे-किस प्रकार से (**न केनापि प्रकारेण**) अर्थात् किसी भी प्रकार से नही पाता। (**कस्या ?**) किसकी ? (**कर्त्रेत्यादि —कर्ता च कर्म च कर्तृ-कर्मणी तयो. प्रवृत्ति.-प्रवर्तनम्, आत्मा कर्ता क्रोधादि कर्म 'ईदृग्विधविकल्परूपा, तस्या. भावकर्मणा नावकाशइति यावत्**) कर्ता और कर्म इन दोनो की प्रवृत्ति—कर्ता आत्मा और कर्म क्रोध आदि इस प्रकार की विकल्परूप प्रवृत्ति अर्थात् भावकर्मों को जगह नही है ऐसा इसका भावार्थ है। (**वा-अथवा**) अथवा (**भवति-जायते 'प्रादुर्भावे गतौ च भू' इत्यभिधानात्**) उत्पन्न होता है यहा भू धातु का अर्थ उत्पत्ति है क्योकि प्रादुर्भाव और गति अर्थ मे भू धातु का प्रयोग होता है ऐसा कहा गया है। (**कथम्**) किस प्रकार से (**न केनापि प्रकारेण**) किसी भी प्रकार से नही। (**पौद्गलः-पुद्गलेभ्य.-त्रयोविंशति वर्गणानामन्यतमाभ्यो वर्गणाभ्यस्तदुचिताभ्यो भव पौद्गल**) पुद्गलो के तेईस प्रकार की वर्गणाओ मे से कर्मबन्ध के योग्य वर्गणाओ से जो होता है वह पौद्गल (**कर्मबन्ध.-कर्मणा-ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्मणा बन्ध.**) ज्ञानावरणादि कर्मों का बन्ध ॥२॥

भावार्थ—कर्ता और कर्म की प्रवृत्ति का मूल कारण अज्ञान है। उस अज्ञान का स्थान जब ज्ञान पा लेता है, तब कर्ता कर्म की प्रवृत्ति की निवृत्ति सहज ही हो जाती है। उसके होते ही पौद्गलिक कर्म-बन्ध का अभाव स्वत ही सम्पन्न हो जाता है। द्रव्य कर्म के उदय से जब औदयिक-उदयानुसारी-भाव होते हैं वे राग द्वेषादि रूप भाव कर्म द्रव्यकर्म के बन्धक होते हैं। यह सब ज्ञान के ऊपर निर्भर करता है। ज्ञान के होने पर बन्धाभाव अवश्यम्भावी है। यह ज्ञान का चरमफल है। इसके होने पर मोक्ष की प्राप्ति अवश्यम्भाविनी है। अत अज्ञान से ज्ञान की दिशा मे आना ही आत्मा के लिए परमोत्कर्ष की ही नही प्रत्युत चरमोपलब्धि की बात है। उस ओर ही मुमुक्षु की मन प्रवृत्ति होनी चाहिए।

अब ज्ञानी सदा प्रकाशमान रहता है यह कहते हैं—

इत्येवं विरचय्य सम्प्रति परद्रव्यान्निवृत्तिं परां–
स्वं विज्ञानघनस्वभावमभयादास्तिघ्नुवानः परम्।
अज्ञानोत्थितकर्तृकर्मकलनाक्लेशान्निवृत्तः स्वयं–
ज्ञानीभूत इतश्चकास्ति जगतः साक्षी पुराणः पुमान् ॥३॥

अन्वयार्थ—(**इत्येवम्**) इस तरह से-पूर्वोक्त प्रकार से (**परद्रव्यात्**) परद्रव्य-पुद्गल द्रव्य से (**पराम्**) अत्यन्त (**निवृत्तिम्**) निवृत्ति-जुदाई को (**विरचय्य**) रचकर-प्राप्त करके (**सम्प्रति**) तत्काल ही (**स्वम्**) अपने (**परम**) सर्व श्रेष्ठ (**विज्ञानघन स्वभावम्**) विज्ञानघन स्वभाव को (**अभयात्**) निर्भयता के साथ

(आस्तिघ्नुवान.) प्राप्त करता हुआ (अज्ञानोत्थितकर्तृकर्मकलनात्क्लेशात्) अज्ञान से उत्पन्न हुई कर्ता कर्म की प्रवृत्ति के क्लेश से (निवृत्त·) छूटा-रहित हुआ (स्वयम्) स्वय (ज्ञानोभूत.) ज्ञानरूप हुआ (जगतः) जगत का-लोकालोक का (साक्षी) प्रत्यक्षकर्ता-जानने और देखने वाला (पुराण·) अनादि (पुमान्) आत्मा (इत.) अब यहा से (चकास्ति) प्रकाशमान होता है।

सं० टी०—(इतः-ज्ञानस्य माहात्म्य कथनादनन्तरम्) इस ज्ञान के महत्त्व के वर्णन के पश्चात् (चकास्ति-द्योतते) द्योतमान रहता है (क ?) कौन (पुराण-जीर्णः-अनादिरित्यर्थः) अनादि (पुमान्-आत्मा) आत्मा (किम्भूत ?) कैसा (जगतः-त्रिलोकस्य) तीनो लोको का (साक्षी-अक्षति-सङ्घातीकरोति पूर्वोत्तरपर्यायानित्येव शील., अक्षी, अथवा अक्ष्णोति-व्याप्नोति-परिच्छिनत्ति, सर्वगुणपर्यायानित्येव शील., अक्षो-ज्ञायकः तेन सह वर्तते, इति साक्षी, अथवा जगत साक्षी साक्षिक-जगत्स्वभावज्ञायकत्वात्) जिसका स्वभाव अपनी पूर्व ओर उत्तर पर्यायो को इकट्ठा करने का हो उसे अक्षी कहते है अथवा जिसका स्वभाव अपने सभी गुण और पर्यायो को जानने का होता है उसे अक्षी कहते हैं अर्थात् ज्ञायक-जानने वाला उक्त ज्ञायक स्वभाव से सहित को साक्षी कहते हैं। अथवा जगत के स्वभाव का ज्ञाता होने से साक्षी (स्वयम्-परस्वरूपमन्तरेण) पर के स्वरूप के विना -(ज्ञानीभूत. संसारावस्थायामज्ञानं-प्रतिवुद्धावस्थायां ज्ञान भूयतेस्मेति ज्ञानीभूत.) ससारदशा मे अज्ञानरूप से तथा प्रतिवुद्ध अवस्था मे ज्ञानरूप से जो हो चुका हो अर्थात् जो मिथ्यात्व की अवस्था मे अज्ञानी रहा हो और पश्चात् सम्यक्त्व की अवस्था मे ज्ञानी रह चुका हो (निवृत्त.-विनिवृत्ति प्राप्त·) विशेष रूप से निवृत्ति-जुदाई को प्राप्त हुआ (कुतः ?) किससे (अज्ञेत्यादि·-अज्ञाना-स्वय चैतन्याभावलक्षणा, उत्थिता प्रादुर्भूता, कर्तृकर्मणो कलना-प्रवृत्तिविकल्पो या सैव क्लेश·-दु.खदायित्वात्-तस्मात्) स्वय चैतन्य मे शून्य उत्पन्न हुई कर्ता कर्म रूप प्रवृत्ति वही हुआ एक प्रकार का क्लेश-दु ख उससे (पुन. किम्भूत· ?) फिर कैसा (आस्तिघ्नुवान-ष्ठिवु आस्कन्दने, अस्य-धातो. प्रयोगात्) आस्कन्दनार्थक ष्ठिवु धातु का प्रयोग होने से चारो तरफ से घेरता हुआ (परं-केवलम्) सिर्फ (स्वं-स्वरूपम्) अपने रूप को (कुत· ?) किससे (अभयात्-निर्भयत्वमाश्रित्य) निर्भयता का आश्रय करके अर्थात् निर्भयता से (किंभूत स्वम् !) कैसे अपने को (विज्ञानेत्यादिः-विज्ञानस्य विशिष्ट निर्मल ज्ञानस्यघनो-निरन्तर स एव स्वभावो यस्य तत्) परिपूर्ण निर्मल ज्ञान ही जिसका नित्य स्वभाव है (इति-हेतोः-आत्मप्रकाशन स्वभावात्) आत्मा को प्रकाशित करने के स्वभाव से (एवं-पूर्वोक्त प्रकारेणकर्तृ-कर्मावकाशाभावेसति) पूर्वोक्त प्रकार से कर्ता कर्म के अवकाश का अभाव होने पर (विरचय्य-रचयित्वा) रच करके (काम् ?) किसे (पराम्-उत्कृष्टा) सर्वोत्कृष्ट (निवृत्तिम्-परावृत्तिम्) परावृत्ति को—परिवर्तन-अभाव को (सम्प्रति-इदानीम्) इस समय (कुत-परद्रव्यात् –पुद्गलादि परद्रव्यत्वात्) पुद्गल आदि पर द्रव्य से ॥३॥

भावार्थ—यह आत्मा अनन्त ससार के कारणभूत मिथ्यादर्शन के सम्बन्ध मे अनादित अज्ञानी रहता है। पश्चात् सद्गुरु आदि के सदुपदेश रूप बाह्य कारण तथा मिथ्यादर्शनादि के उपशमादि रूप

अन्तरङ्ग कारण की प्रवलता से सम्यग्दर्शन के होते ही ज्ञानी बन जाता है। इस प्रकार से अज्ञान से निकल कर और ज्ञान की परमोत्कृष्ट ज्योति से पुद्गलादि पर द्रव्य से अपनी आत्मा को सर्वथा पृथक् जानकर ज्ञानी आत्मा अज्ञान जनित या स्वय ही अज्ञान स्वरूप कर्ता कर्म की अनादि कालिक प्रवृत्ति को जलाञ्जलि देकर स्वय ही अविचल अनन्त ज्ञान रूप हो निर्मल निराकार निज स्वभाव का अनुभोक्ता हो जाता है। यह मात्र स्वपर भेदज्ञान का ही माहात्म्य है ऐसा समझना चाहिए।

अब आत्मा के कर्तृत्व का अभाव बताते हैं—

व्याप्य व्यापकता तदात्मनिभवेन्नैवातदात्मन्यपि
व्याप्यव्यापकभावसम्भवमृते का कर्तृ कर्मस्थितिः।
इत्युद्दामविवेकघस्मरमहोभारेण भिंदंस्तमो
ज्ञानीभूय तदा स एष लसितः कर्तृत्व शून्यः पुमान् ॥४॥

अन्वयार्थ—(**व्याप्यव्यापकता**) व्याप्य व्यापक भाव (**तदात्मनि**) स्वभाववान् पदार्थ मे (**भवेत्**) होता है (**अपि**) किन्तु (**अतदात्मनि**) अतत्स्वरूप पदार्थ मे (**नैव**) नही (**भवेत्**) होता (**व्याप्यव्यापकभाव सम्भवम्**) व्याप्य व्यापक भाव के सम्भव (**ऋते**) विना (**कर्तृकर्मस्थिति.**) कर्ता कर्म की प्रवृत्ति (**का**) कौन अर्थात् कोई भी नही होती (**इति**) इस प्रकार के (**उद्दाम विवेक घस्मरमहोभारेण**) उत्कट भेद विज्ञान रूप अज्ञानान्धकार को भक्षण करने वाले तेज के समूह से (**तमः**) अज्ञानरूप अन्धकार को (**भिन्दत्**) भेदता हुआ (**ज्ञानीभूय**) ज्ञान स्वरूप हुआ (**तदा**) उस समय (**एष**) यह (**पुमान्**) आत्मा (**कर्तृत्वशून्यः**) कर्तृत्व रहित (**लसितः**) शोभित (**भवति**) होता है।

सं० टीका—(**तदा-कर्तृत्वशून्यत्वसूचनसमये**) उस समय—कर्तापन की शून्यता के समय (**स एषः प्रत्यक्षीभूत॰**) वह यह-प्रत्यक्षरूप (**पुमान्-चिद्रूप.**) चैतन्य स्वरूप आत्मा (**लसित॰-उल्लासं प्राप्तः परम-प्रकर्षत्व प्राप्त इत्यर्थ**) उल्लास को प्राप्त अर्थात् परम प्रकर्षता को प्राप्त हो (**किंकृत्वा**) क्या करके (**ज्ञानी-भूय ? अज्ञानं ज्ञान भूत्वा ससार दशात इति ज्ञानीभूय**) ससार दशा के अज्ञान से ज्ञानवान् बनकर ज्ञानी-भूय यह पद (**"समासेभाविन्यनत्र स्कौ यप्" इति कौमारसूत्रेणयप्**) समासे इत्यादि कौमार सूत्र से यप् प्रत्यय करने पर "डाच्चूर्याद्यनुकरण चेत्, इति चिन्तामणीय सूत्रेण निष्पादनाच्च।" डाच्चूर्यादि चिन्तामणीय सूत्र से सिद्ध होता है (**तदालसितः यदेत्यध्याहार॰,**) उस समय परमोत्कर्षता को प्राप्त हुआ जब यहा यदा शब्द का अध्याहार है (**कर्तृत्वशून्य -यदाहमात्मा कर्ता, कर्म नोकर्मपरिणामरूपकर्मणामिति विकल्पेन-शून्यः-रहित**) जब मैं चैतन्य स्वरूप आत्मा कर्म और नोकर्म रूप परिणामो का कर्ता हूँ इस प्रकार के विकल्प से रहित (**किं-कुर्वन् !**) क्या करता हुआ (**तम॰-अज्ञान-ज्ञानदृष्टिनिवारकत्वात्**) अज्ञान रूप अन्धकार को क्योकि यह ज्ञानरूप नेत्र का अवरोधक है (**भिन्दन्-छिन्दन् निवारयन्निति यावत्**) निवारण करता हुआ (**केन**) किसके द्वारा (**इति-पूर्वार्धोक्तयुक्त्या**) श्लोक के पूर्वार्द्ध मे कही हुई युक्ति से (**उद्दामेत्यादिः—उद्दाम. उत्कृष्ट., स चासौ विवेकश्च, चेतनाचेतनभिन्नत्वकरणलक्षणः, तथा चोक्तं 'चिदचित्त्वे परतत्वे विवेक॰**

स्तद्विवेचनमिति' स एव घस्मरं जगदज्ञानग्रसक, मह·-तेजः अथवा विवेकेनोपलक्षित घस्मरमहः जगदन्त· कारक ज्ञानं तस्य भारस्तेन) चेतन और अचेतन को पृथक् करने वाला महान् विवेक जैसा कि विवेक का लक्षण करते हुए आचार्य ने कहा है कि चेतन और अचेतन रूप श्रेष्ठ दो तत्त्वो को जो पृथक् करे सो विवेक है वह विवेक ही हुआ-घस्मर-जगत् के अज्ञान को ग्रसने—नाश करने वाला—मह -तेज अथवा विवेक से सहित घस्मरमह -जगत् को प्रत्यक्ष करने वाले ज्ञान के भार से **(इतिकिम्)** ऐसा कौन ? **(तदात्मनि-तावेव स्वभावस्वभाविभावावेव आत्मा-स्वरूपं यस्य स तदात्मा तस्मिन्)** स्वभाव और स्वभावी ये दोनो ही भाव जिसके स्वरूप है उसमे **(भवेत्-स्यात्)** होता है (का ?) क्या ? **व्याप्यव्यापकता-व्याप्यतेऽनेनेति व्याप्यं कार्यं, व्याप्नोति स्वकार्यमिति व्यापकः, धूमधूमध्वजयो , घटमृत्तिकयोर्वा व्याप्यव्यापकभाव सद्भावात्, पुद्गलद्रव्येण कर्त्रा-स्वतन्त्रव्यापकेन कर्मत्वेन क्रियमाण कर्म व्याप्य तयोस्तद्भावत्वव्यवस्थानात् कुम्भमृदोरिव)** जिसके द्वारा व्याप्त किया जाय वह व्याप्य-कार्य, और जो अपने कार्य को व्याप्त करता है वह व्यापक, धूम का अग्नि के साथ अथवा घट का मिट्टी के साथ व्याप्यव्यापकभाव विद्यमान है। स्वतन्त्र रूप से व्यापक पुद्गलद्रव्यरूप कर्ता के द्वारा कर्मरूप से किया जाने वाला कर्म व्याप्य इन दोनो मे घट का मिट्टी के समान व्याप्य व्यापकभाव बनता है।

(अपि पुन) और भी **(अतदात्मनि-अतत्स्वरूपे)** अतत्स्वरूप व्याप्यव्यापकता शून्य वस्तु मे **(व्याप्यव्यापकता)** व्याव्यव्यापकता-कार्यकारणभाव **(नैव)** नही **(कुम्भकुम्भकारयोरिव)** कुम्भ-कुम्भकार के समान **(अन्यथा)** अतत्स्वरूप मे भी व्याप्य व्यापकता स्वीकार करने पर **(पर्वतधूमध्वजयोरपि तत्प्रसङ्गात्)** पर्वत और अग्नि मे भी व्याप्य व्यापकता-कार्य कारणस्वभाव का प्रसङ्ग उपस्थित होगा। **(स्वभाव स्वभाविनो· कार्यकारणयोश्च शिंशपावृक्षत्वयोर्धूमधूमध्वजोश्च यथा व्याप्यव्यापकता न चान्यत्र)** स्वभाव स्वभावी मे, कार्य कारण मे, शिंशपा वृक्षत्व मे धूम अग्नि मे जैसी व्याप्य व्यापकता है वैसी अन्य मे नही। **(तथा ज्ञानात्मनो· पुद्गलकर्मणोरेव व्याप्यव्यापकता)** जैसी ज्ञान व आत्मा मे, पुद्गल व कर्ममे व्याप्यव्यापकता है। **(न च पुद्गलपरिणामात्मनो कुम्भतत्कारकयोरिवास्ति,)** वैसी पुद्गलकर्म व आत्मा मे कुम्भ व कुम्भकार मे नही है। **(व्याप्येत्यादि.-व्याप्य च व्यापक च व्याप्यव्यापके तयोर्भावस्तस्य सम्भवस्तम्)** व्याप्य और व्यापक इन दोनो का जो भाव-धर्म उसकी उत्पत्ति के **(ऋते-विना, 'ऋते योगे द्वितीयापिभवति,)** विना ऋते शब्द के योगमे शब्दान्तर से द्वितीया विभक्ति भी होती है **("पचमीचर्ते" द्वितीया च शब्दात्)** च शब्द से द्वितीया भी होती है **(इतिशाकटायनात्)** उस शाकटायन से **(कर्तृकर्मस्थितिः-कर्मात्मनो· कर्तृकर्मावस्थान)** कर्म और आत्मामे कर्ता और कर्म की अवस्था **(कापि)** कोई भी **(न कापि भवतीति)** अर्थात् कोई भी नही होती है ॥४॥

भावार्थ—जिसका अस्तित्व सर्व अवस्थाओ मे उपलब्ध रहता है वह व्यापक कहा जाता है। अवस्थाएँ व्याप्य कही जाती हैं। यह व्याप्य व्यापकता मात्र द्रव्य मे ही होती है। द्रव्यव्यापक होता है और उसकी पर्यायें व्याप्य होती है। यह व्याप्य व्यापक सम्बन्ध तत्स्वरूप मे ही होता है, अतत्स्वरूप मे नही। जैसे घट का मृत्तिका के साथ व्याप्य व्यापक भाव है क्योकि घटरूप पर्याय मृत्तिकारूप द्रव्य की ही

है अन्य की नही। वैसे ही ज्ञानगुण की विविध पर्यायें ज्ञानी आत्मा के साथ ही व्याप्य व्यापकभाव रखती है, अन्य पुद्गलादि के साथ नही। जब पुद्गलादि के साथ आत्मा का व्याप्य व्यापक भाव कथमपि सम्भव नही है तब आत्मा का उक्त पुद्गलादि के साथ कर्तृ कर्म भाव कैसे हो सकता है क्योकि बिना व्याप्य व्यापक सम्बन्ध के कर्तृ कर्म भाव की व्यवस्था हो ही नही सकती। इस प्रकार से जो विवेकी—भेद-विज्ञानी व्याप्य व्यापक भाव को पहिचानता है वही कर्तृ कर्म भाव की पहिचान करने मे दक्ष होता है। अतएव आत्मा पुद्गलादि पर द्रव्यो का ज्ञाता द्रष्टा ही है कर्ता एव भोक्ता नही है।

अब आत्मा का पुद्गल के साथ व्याप्यव्यापक भाव का अभाव सिद्ध करते हैं—

ज्ञानी जानन्नपीमां स्वपरपरिणतिं पुद्गलश्चाप्यजानन्,
व्याप्तृव्याप्यत्वमन्तः कलयितुमसहौ नित्यमत्यन्तभेदात्।
अज्ञानात्कर्तृकर्मभ्रममतिरनयोर्भाति तावन्न यावत्,
विज्ञानार्चिश्चकास्ति क्रकचवददयं भेदमुत्पाद्य सद्यः ॥५॥

अन्वयार्थ—(**ज्ञानी**) स्वपर स्वरूप का ज्ञाता आत्मा (**इमाम्**) इस (**स्वपरपरिणतिम्**) अपनी और परद्रव्य-पुद्गलादि की परिणति-पर्याय को (**जानन्**) जानता है (**अपि**) और (**पुद्गल.**) पुद्गल (**अजानन्**) स्वपर की परिणति को नही जानता है अतएव दोनो द्रव्य (**व्याप्तृ व्याप्यत्वम्**) व्याप्य व्यापकता को (**अन्त**) अन्तरङ्ग मे–निज रूप मे (**कलयितुम्**) धारण करने के लिए (**असहौ**) असह-असमर्थ है क्योकि उक्त दोनो द्रव्यो मे (**नित्यम्**) सदा से (**अत्यन्तभेदात्**) सर्वथा भेद है अर्थात् दोनो द्रव्य स्वरूप से हमेशा ही बिल्कुल ही भिन्न है। (**अनयो**) आत्मा और पुद्गल इन दोनो द्रव्यो मे (**अज्ञानात्**) अज्ञान-स्वपर के स्वरूप का ज्ञान न होने से (**कर्तृकर्मभ्रममति·**) कर्ता और कर्मरूप विपरीत बुद्धि (**तावत्**) तभी तक (**भाति**) भासित होती है (**यावत्**) जब तक (**विज्ञानार्चि·**) भेद विज्ञान की ज्वाला (**क्रकचवत्**) करोत के समान (**अदयम्**) निर्दयता पूर्वक (**सद्य.**) शीघ्र ही अर्थात् तत्काल (**भेदम्**) भेद को-दोनो की पृथकता को (**उत्पाद्य**) उत्पन्न करके (**न**) नही (**चकास्ति**) प्रकाशमान होती है।

स० टीका—(**ज्ञानी-आत्मा**) ज्ञानी-आत्मा (**च-पुन·**) और (**पुद्गल.-परमाण्वादिपुद्गलद्रव्यम्-व्याप्यव्यापकत्व-"प्राप्य विकार्य निर्वर्त्यं च व्याप्यलक्षणम्" तत्र—प्राप्यं-कर्मपर्याय प्राप्तु योग्यम्, यथा स्वभाविनि वह्नौ—उष्णत्वम्, पूर्वावस्थापरित्यागेन चावस्थान्तरप्राप्ति. तद्विकार्यम्-यथा मृत्पिण्डस्य घटः, पर्याय स्वरूपेण निर्वर्तयितु-निष्पादितुं योग्य निर्वर्त्यम्-मृद· स्थासकोश कुशूल घटादिवत्, व्यापकत्वं-उष्णत्वे वह्नित्वम्, घटे मृत्पिण्डत्वम्, स्थासादौ मृत्त्वं, पुद्गलकर्मपरिणामयो. आत्मज्ञानपरिणामयोर्व्याप्य व्यापकत्व, नत्वात्मकर्मणो, अत्यन्त विलक्षणत्वात्**) परमाणु आदि पुद्गलद्रव्य, व्याप्य व्यापकता, प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य यह व्याप्य के लक्षण हैं" उनमे-प्राप्य-जो कर्मरूप पर्याय को प्राप्त करने के योग्य हो, जैसे स्वभाववान् वह्नि मे उष्णता, जो पूर्व अवस्था के त्याग से उत्तर अवस्था को प्राप्त करने योग्य हो

वह विकार्य है, जैसे—मिट्टी के पिण्ड से घडा, जो पर्याय के रूप से निष्पन्न करने योग्य हो वह निर्वर्त्य है, जैसे—मिट्टी के स्थास, कोश, कुशूल और घडा आदि पर्यायो की भाति, व्यापकता—उष्णता मे अग्नि, घडे मे मृत्पिण्ड, स्थासादि मे मिट्टी, पुद्‌गल का अपने कर्मरूप पपिणमन मे, और आत्मा का अपने ज्ञानरूप परिणमन मे व्याप्य व्यापक भाव है किन्तु आत्मा का पुद्‌गल जन्य कर्म के साथ व्याप्य व्यापक भाव नही है क्योकि दोनो मे अत्यन्त विलक्षणता-स्वरूपकृत भेद प्राप्त है। **(अन्तः-अभ्यन्तरे)** अभ्यन्तर अन्दर **(वहिस्तयोर्व्याप्यव्यापकत्वे दृश्यमानेऽपि)** वाहिर मे आत्मा और पुद्‌गलकर्मों मे व्याप्य व्यापकता दिखाई देती है तो भी **(कलयितुं-स्वीकर्तुं)** स्वीकार करने के लिए **(असहौ-असमर्थौ)** असहनशील असमर्थ है **(अत्यन्तविलक्षणत्वमुद्‌घाटयति तयोः)** आत्मा और पुद्‌गल मे अत्यन्त विलक्षणता-स्वरूप कृत भेद को प्रकट करते है **(किम्भूतः सन्नात्मा)** कैसा होता हुआ आत्मा ? **(जानन्नपि-परिच्छिन्दन्नपि)** जानता हुआ भी **(अपिशब्दात् लब्ध्यपर्याप्तादौ साकल्येनाजानन्)** अपि शब्द से लब्ध्यपर्याप्त आदि अवस्थाओ मे पूर्ण-रूप से नही जानता हुआ भी **(काम् ?)**किसे **(इमां-प्रत्यक्षां-स्वपरपरिणतिम्)** इस प्रत्यक्ष स्वपर परिणति को **(स्वपरयोः-आत्मपुद्‌गलयो· परिणतिः परिणामः-पर्यायः-ज्ञानकर्मलक्षणस्ताम्)** आत्मा और पुद्‌गल की ज्ञान तथा कर्मरूप पर्याय को **(पुन. पुद्‌गलस्ताम्-अजानन्-अपरिच्छिदन्-अज्ञानस्वभावत्वात्)** और पुद्‌गल उस पर्याय को नहो जानता हुआ क्योकि उसका जानने का स्वभाव नही है। **(असहौ कुतः ?)** असमर्थ कैसे **(नित्य-सदैव)** सदा-हमेशा-ही **(अत्यन्तभेदात्-चेतनाचेतनस्वभावेनात्यन्त विलक्षणत्वात्)** क्योकि चेतन-आत्मा और अचेतन पुद्‌गल मे स्वभाव से अति ही विलक्षणता-स्वरूप की अपेक्षा महान भेद है **(यावत्)** जब तक **(विज्ञानार्चि.-ज्ञानज्योतिः)** ज्ञान की ज्योति **(न चकास्ति, न द्योतते)** शोभित नही होती **(कि कृत्वा ?)** क्या करके **(सद्यः-तत्कालम्)** तत्क्षण-उसी समय **(उत्पाद्य-निष्पाद्य)** उत्पन्न करके **(कम् ?)** किसे **(भेदम्-आत्मकर्मणोर्भिन्नत्वम्)** भेद को आत्मा और कर्म की जुदाई को **(कथम् ?)** कैसे **(अदयम्-ध्यानादिना निष्ठुरत्वं यथा भवति तथा)** निर्दयता पूर्वक-ध्यान आदि के द्वारा जैसे निष्ठुरता-कठोरता, हो सके वैसे **(क इव)** किसके समान **(क्रकचवत्-यथा क्रकचः करपत्र काष्ठयोर्भेदमुत्पादयति)** क्रकच-करोत के समान अर्थात् जैसे करोत दो काष्ठो मे भेद करता है वैसे **(तावत्कालम्-)** तब तक **(भाति-शोभते)** शोभित होती है **(का ?)** कौन ? **(कर्त्रेत्यादि —कर्तृकर्मणोर्भ्रमस्तेनोपलक्षिता मति.-बुद्धिः)** कर्ता कर्म के भ्रम से सहित बुद्धि **(कयोः ?)** किन दोनो मे **(अनयोः-जीवपुद्‌गलयो.)** इन दोनो जीव और पुद्‌गल मे **(कुतः ?)** किससे **(अज्ञानात्-ज्ञानावरणादिकर्माच्छादित चैतन्यात्)** ज्ञानावरणादि कर्मो से आच्छादित आत्मा से ॥५॥

भावार्थ—कर्तृकर्म भाव की प्रवृत्ति तभी तक है जव तक भेद विज्ञान रूप करोत से जीव और पुद्‌गल के अनादि सम्बन्ध को आत्मा पृथक् नही कर देता है।

भेद विज्ञान का अवरोधक एकमात्र मिथ्यात्व मोह है। इसी के कारण आत्मा का ज्ञान अज्ञान-मिथ्या ज्ञान रूप से परिणमन करता रहता है। इसके होते हुए कर्ता कर्म की प्रवृत्ति होती है, क्योकि इस

प्रवृत्ति का अज्ञान के साथ अविनाभाव सम्बन्ध अनादित प्रवाह रूप से चला आ रहा है। मिथ्यात्व सह कृत अज्ञान मिथ्यात्व के हटते ही दूर हो जाता है और आत्मा स्वय ही अपने को तथा पर पुद्गल को सर्वथा भिन्न-भिन्न स्वीकार करने लगता है। ऐसी स्थिति मे आत्मज्ञानी सयुक्त परद्रव्य को अपने से पृथक् करने मे पूर्णतया उद्यमशील रहता है। वह जानता है कि मेरा मेरे निज शुद्ध भावो के साथ ही कर्तृ कर्म सम्बन्ध है अन्य पुद्गलादि के साथ नही क्योकि मेरा मेरे ही भावो के साथ व्याप्य व्यापक भाव है अन्य जड स्वरूप परपदार्थ पुद्गलादि के साथ नही। सिद्धान्तत प्रत्येक पदार्थ का अपने परिणमनो के साथ ही व्याप्य व्यापक भाव है अन्य के साथ नही। जिस द्रव्य का मेरी आत्मा के साथ अनादित. एक क्षेत्रावगाह सम्बन्ध रहा है वह भी अपने परिणमनो का कर्ता रहा है अपने से भिन्न चैतन्य स्वरूप आत्मा के भावो का नही। क्योकि वह तो स्वय ही जड रूप है उसका व्याप्य व्यापक सम्बन्ध उसके जड परिणामो के साथ ही निश्चित है अन्य चैतन्य स्वरूप आत्मा के साथ नही। इसी प्रकार से आत्मा का भी परपुद्गल के परिणमनो के साथ व्याप्य व्यापक भाव का अभाव है अतएव वह भी पुद्गल के साथ सम्बद्ध होते हुए भी उसके भावो का कर्ता नही था, न है और न रहेगा, और जब यह आत्मा उनका कर्ता ही नही, तब वे भाव इसके कर्म भी नही, इस प्रकार से त्रैकालिक कर्तृ कर्म प्रवृत्ति की निवृत्ति ज्ञानी के सहज ही सिद्ध हो जाती है। ज्ञान का ऐसा ही अनिर्वचनीय अलौकिक माहात्म्य है जो ज्ञानी के ज्ञान का विषय है ॥५॥

अब कर्ता, कर्म, क्रिया ये तीनो एक ही है, यह बताते है—

यः परिणमति स कर्ता यः परिणामो भवेत्तु तत्कर्म ।
या परिणतिः क्रिया सा त्रयमपि भिन्नं न वस्तुतया ॥६॥

अन्वयार्थ—(**य**) जो (**परिणमति**) परिणमन करता है (**स**) वह (**कर्ता**) कर्ता है (**यः**) जो (**परिणाम.**) परिणाम (**भवेत्**) होता है (**तत्**) वह (**कर्म**) कर्म है (**या**) जो (**परिणति.**) परिणमन (**अस्ति**) है (**सा**) वह (**क्रिया**) क्रिया है (**अपि**) किन्तु (**त्रयम्**) तीनो (**वस्तुतया**) परमार्थ दृष्टि से (**भिन्नम्**) भिन्न (**न**) नही (**सन्ति**) हैं।

स० टी०—(**य-आत्मा पुद्गलो वा**) जो आत्मा अथवा पुद्गल (**परिणमति-स्वपर्यायान् प्रति परिणाम प्राप्नोति यथोत्तरङ्ग निस्तरङ्गावस्थयो समीरसञ्चरणासञ्चरणयोरपि समीर समुद्रयोः, कर्तृ-कर्मत्वाभावात् पारावार एवादिमध्यान्तेषूत्तरङ्गनिस्तरङ्गावस्थे व्याप्य उत्तरङ्गनिस्तरङ्गत्वात्मानं कुर्वन् कर्ता, तथा ससारनिस्ससारयो पुद्गलकर्मविपाकसम्भवासम्भवनिमित्तयोरपि कर्तृकर्मत्वाभावात् जीव एवादिमध्यान्तेषु ते अवस्थे व्याप्य, उभयस्वरूपमात्मानं कुर्वन् कर्ता, एवं पुद्गलेऽपि योज्यम्,**) अपनी पर्यायो की ओर परिणमन को प्राप्त करता है। जैसे—उत्तरङ्ग और निस्तरङ्ग अवस्था वाले वायु के सचार और असचार वाले समीर और समुद्र के कर्त्ता और कर्म का अभाव होने से समुद्र ही आदि, मध्य और अन्त मे उत्तरङ्ग और निस्तरङ्ग अवस्थाओ को व्याप्त करके उत्तरङ्ग और निस्तरङ्ग रूप अपने को

करता हुआ कर्ता होता है। वैसे ही ससार और निस्ससाररूप पुद्गल कर्म के फलदान रूप विपाक का होना और नही होना रूप निमित्त वाले जीव पुद्गल मे भी कर्ता कर्म का अभाव होने से जीव ही आदि, मध्य और अन्त मे उन दोनो अवस्थाओ को व्याप्त करके दोनो अवस्थाओ रूप अपने को करता हुआ कर्ता होता है। इसी प्रकार से पुद्गल मे भी कर्ता कर्म के अभावादि की योजना कर लेनी चाहिए। **(तु-पुनः)** और **(य.)** जो **(परिणामो)** परिणाम-परिणमन-पर्याय **(भवेत्)** होती है **(तत्)** वह **(कर्म)** कर्म है **(यथा तस्यैवोत्तरङ्गनिस्तरङ्गत्वात्मानमनुभवत. स एव-परिणामः कर्म तथा तस्य संसारं निस्संसार त्वनुभवतः स एव परिणामः कर्म)** जैसे उत्तरङ्ग और निस्तरङ्ग रूप का स्वय ही अनुभव करने वाले उस समुद्र का वही परिणमन कर्म है। वैसे ही ससार और निस्ससार रूप को स्वय ही अनुभव करने वाले जीव का वही परिणाम कर्म है **(या)** जो **(परिणति-स्वपरिणामे परिणमनम्)** परिणति-अपने परिणाम मे परिणमन **(सा)** वह **(क्रिया)** क्रिया **(वस्तुतया-वस्तुरूपेण ऐक्यात्)** वस्तुरूप से एकता होने के कारण **(त्रयमपि-कर्तृकर्मपरिणतिरूपम्)** कर्ता, कर्म और परिणति रूप तीनो **(भिन्न-अन्यत्)** भिन्न-अन्य-जुदे **(न)** नही **(भवेत्)** हैं **(क्रिया हि तावदखिलापि परिणामलक्षणतया न नाम परिणामतोऽस्ति भिन्ना,)** वस्तुत क्रिया मात्र, परिणाम लक्षण के रूप मे परिणाम से जरा भी भिन्न नही हैं **(परिणामोऽपि परिणामपरिणामिनोरभिन्नवस्तुत्वात्परिणामिनो न भिन्न.)** परिणाम भी परिणाम और परिणामी मे अभिन्न वस्तुता-एक वस्तुपन-होने से परिणामी द्रव्य-से भिन्न-जुदा नही है। **(परिणाम्यपिक्रिया परिणामयोरभिन्नत्वात्परिणामतोऽभिन्न)** परिणामी—द्रव्य-भी क्रिया परिणति और परिणाम-परिणमन से अभिन्न होने के कारण परिणाम-कर्म से अभिन्न ही है ॥६॥

भावार्थ – जैसे समुद्र की उत्तरङ्ग – उठती हुई तरङ्गो वाली अवस्था तथा निस्तरङ्ग नही उठती हुई तरङ्गो वाली अवस्था-मे समीर-वायु-का होना और नही होना मात्र निमित्त ही है, उपादान नही है। उपादान तो स्वय समुद्र ही है क्योकि समुद्र ही उन अवस्थाओ का करता एव अनुभोक्ता है वायु नही। वैसे ही जीव की ससार और अससार अवस्था के होने मे कर्मो-पुद्गलजन्य शुभ और अशुभ कर्मो का विपाक और अविपाक—फल देना और नही देना—मात्र निमित्त है। उपादान नही। उपादान तो स्वय ही जीव है क्योकि जीव ही उन अवस्थाओ का कर्ता एव अनुभोक्ता है। अतएव जैसे समुद्र की उत्तरङ्ग तथा निस्तरङ्ग अवस्थाओ का कर्तृकर्म भाव समुद्र के साथ ही है, वायु के साथ नही। वैसे ही जीव की ससार और अससार अवस्थाओ का कर्तृकर्म भाव जीव के साथ ही है, पुद्गल कर्मो के साथ नही ॥७॥

एकः परिणमति सदा परिणामो जायते सदैकस्य।
एकस्य परिणतिः स्यादनेकमप्येकमेव यतः ॥७॥

अन्वयार्थ—**(एक.)** वस्तु एक **(सदा)** हमेशा **(परिणमति)** परिणमन करती है **(एकस्य)** एक का **(सदा)** हमेशा **(परिणाम)** परिणमन **(जायते)** होता है **(एकस्य)** एक की **(परिणति)** परिणमन रूप क्रिया **(जायते)** होती है **(यतः)** क्योकि **(अनेकम्)** अनेक कर्ता, कर्म एव क्रिया तीनो **(अपि)** भी **(एकम्)**

एक रूप (**एव**) ही (**स्यात्**) हैं (**यतः**) क्योकि उक्त तीनो मे प्रदेश भेद नही है।

सं० टी०—(**अनेकत्वेऽपि एकत्वमिति स्फुटयति**) अनेक होने पर भी एक हैं यह स्पष्ट करते हैं (**एकः-आत्मा**) एक-आत्मा (**सदा-नित्यम्**) सर्वदा-हमेशा-निरन्तर (**परिणमति-परिणामयुक्तोभवति**) परिणाम-परिणमन-से सहित होता है। (**सदा-निरन्तरम्**) हमेशा (**एकस्य आत्मन**) एक आत्मा-का (**परिणाम.-शुभाशुभलक्षण.**) शुभ और अशुभरूप परिणाम (**जायते-उत्पद्यते**) उत्पन्न होता है। (**एकस्य आत्मनः**) एक-आत्मा की (**परिणति -परिणमनलक्षणक्रिया**) परिणमन रूप क्रिया (**स्यात्**) होती है। (**यथा किल कुलाल· कलशसम्भवानुकूलमात्मव्यापारपरिणाममात्मनोऽव्यतिरिक्तमात्मनोऽव्यतिरिक्तया परिणतिमात्रया क्रियया क्रियमाण कुर्वाण. प्रतिभाति न पुनः घटादिरूपं मृत्तिकया क्रियमाण प्रति, अभिन्नता-मनुभवति**) जैसे—वस्तुत कुम्भकार घट की उत्पत्ति के अनुकूल अपने व्यापार रूप परिणाम को जो आत्मा से अभिन्न है तथा आत्मा से अभिन्न जो परिणति रूप क्रिया उससे किये जा रहे कार्य को करता हुआ मालूम पडता है किन्तु वह मिट्टी से किये जा रहे घट आदि के रूप कार्य के प्रति अभिन्नता-एकता का अनुभव नही करता है। (**तथा-आत्माऽपि पुद्गलपरिणामानुकूलमज्ञानादात्मपरिणाममात्मनोऽव्यतिरिक्त मात्मनोऽव्यतिरिक्ततया परिणतिमात्रया क्रियया क्रियमाण कुर्वाण प्रतिभाति न पुन. पुद्गलक्रियया क्रिय-माणं कर्म प्रत्यभिन्नतामनुभवति**) वैसे ही आत्मा भी पुद्गल के परिणमन के अनुकूल-योग्य-अज्ञान से अपने परिणाम को जो आत्मा से अभिन्न है तथा आत्मा से अभिन्न परिणति रूप क्रिया से किये जा रहे कर्मरूप कार्य को करता हुआ मालूम पडता है। किन्तु वह पुद्गल की क्रिया से किये जा रहे कर्म के साथ अभिन्नता-एकता-का अनुभव नही करता है। (**यतः-अभिन्नत्व तेषा त्रयाणाम्**) क्योकि वे कर्ता, कर्म और क्रिया तीनो आत्मा से अभिन्न है अर्थात् आत्मा रूप हैं। (**अनेकमपि-कर्तृ कर्म क्रियारूपेणानेकमपि**) कर्ता, कर्म, क्रियारूप से अनेक होते हुए भी (**एकमेव-वस्तुतस्तेषामभिन्नत्वेनैक्यम्**) एक ही है अर्थात् यथार्थ दृष्टि से वे तीनो आत्मा से अभेद सम्बन्ध रखने के कारण एक ही हैं— आत्मा रूप ही है ।।७।।

भावार्थ—एक द्रव्य ही हमेशा परिणमन शील होता है। एक द्रव्य का एक समय मे हमेशा एक ही परिणाम होता है। एक द्रव्य की एक समय मे हमेशा एक ही क्रिया होती है। ये तीनो विभिन्न कर्ता, कर्म और क्रिया रूप पर्यायें पर्यायी द्रव्य से अभेदरूप है अतएव एकमात्र द्रव्यरूप ही है द्रव्यान्तर-दूसरे द्रव्य-रूप नही हैं ।।७।।

नोभौ परिणमतः खलु परिणामो नोभयोः प्रजायेत।
उभयोर्न परिणतिः स्याद्यदनेकमनेकमेव सदा ।।८।।

अन्वयार्थ—(**खलु**) वस्तुत.-निश्चय से (**उभौ**) दो द्रव्ये (**न**) नही (**परिणमत·**) परिणमन करती है अर्थात् दो द्रव्यें एकरूप परिणमन नही करती हैं। (**उभयो**) दो द्रव्यो का (**परिणाम.**) एक परि-णाम (**न**) नही (**प्रजायेत**) हो सकता है। (**उभयो**) दो द्रव्यो की (**परिणति**) एक परिणति रूप क्रिया

(न) नही **(स्यात्)** हो सकती है। **(यत्)** क्योकि **(अनेकम्)** अनेक वस्तु **(सदा)** हमेशा **(अनेकम्)** अनेक **(एव)** ही **(स्यात्)** होती है।

स० टी०—(उभौ-जीवपुद्गलौ) दोनो-जीव और पुद्गल **(खलु इति निश्चितम्)** निश्चित रूप से **(परिणमतः-परिणामं गच्छतः)** एक परिणाम को प्राप्त करने वाले **(न-नहि)** नही हैं **(एक एव हि परिणमति)** एक ही परिणमन करता है। **(यथा-कुलालः घटनिष्पादनाभिमानपरिणाम प्रति परिणमति नतु घटभवन क्रियायाम्)** जैसे कुम्भकार घट को बनाने के अहकार रूप परिणाम को करता है किन्तु घट की घटरूप होने वाली क्रिया को नही करता। **(तथा जीव कर्म निष्पादनाभिमान परिणाम प्रति परिणमति, न पुद्गलद्रव्यनिष्पादितकर्मक्रिया प्रति)** वैसे ही जीव कर्म को करने के अभिमानरूप परिणाम का कर्ता तो हो सकता है किन्तु पुद्गलद्रव्य से वनने वाली कर्मरूप क्रिया का करता नही हो सकता। **(उभयोः जीव पुद्गलयोः)** दोनो-जीव और पुद्गल का **(परिणामः-परिणतिः)** एक परिणमन **(न)** नही **(जायते-उत्पद्यते)** उत्पन्न होता है। **(परस्परम्-भिन्नस्वभावत्वात्)** क्योकि दोनो द्रर्व्य आपस मे अलग-अलग स्वभाव रखती हैं। **(उभयोः-परात्मनोः)** पुद्गल ओर आत्मा को **(परिणतिः-परिणमनलक्षणा "क्रिया)** एक परिणमन-अवस्थान्तर-रूप-क्रिया **(न स्यात्-नभवेत्)** नही हो सकती **(परस्पर स्वस्वभावे भिन्नपरिणतिसद्भावात्)** क्योकि आपस मे अपने-अपने स्वभाव मे, अलग-अलग परिणतियाँ विद्यमान हैं। **(यत-यस्मात् कारणात्)** जिस कारण से **(अनेक-न एकं अनेकम्-जीवपुद्गलौ)** अनेक-एक नही अर्थात् जीव और पुद्गल ये दोनो **(सदा-नित्यम्)** हमेशा **(अनेकमेव-भिन्नमेव)** अनेक-भिन्न ही है ॥८॥

भावार्थ—जैसे घटकार घट के बनाने के परिणाम का कर्ता है और घट बनाने का परिणाम उसका कर्म है तथा घटोत्पत्ति के अनुकूल क्रिया रूप परिणति भी घटकार मे ही होती है इस प्रकार से ये तीनो घटकार रूप ही है घटरूप नही क्योकि घटनिष्ट व्यापार का कर्ता मिट्टी रूप वस्तु है। घट उस मिट्टी का कर्म है और घटानुकूल क्रिया मृत्तिका निष्ठ है। अतएव ये तीनो मिट्टीरूप हैं घटकार रूप नही। वैसे ही जीव पुद्गल मे कर्मोत्पत्ति के अनुकूल अपने उपयोग रूप परिणाम का कर्ता है परिणाम उसका कर्म है और तदनुरूप क्रिया जीवनिष्ठ है अतएव ये तीनो जीव रूप ही हैं पुद्गलकर्मरूप नही क्योकि कर्मरूप परिणाम का कर्ता पुद्गल है कर्मरूप परिणाम पुद्गल का कर्म है और कर्मानुकूल व्यापारात्मक क्रिया पुद्गलनिष्ठ है अतएव ये तीनो कर्ता, कर्म, क्रिया पुद्गल रूप ही है जीव रूप नही। इस प्रकार से जीव पुद्गल मे आपस मे कर्तृ कर्म भाव का सर्वथा अभाव है क्योकि दोनो द्रव्यें अपने-अपने मे ही परिणमनादि के कर्ता कर्म क्रिया रूप है एक दूसरे के परिणमनादि के कर्ता आदि नही हैं यही वस्तु स्थिति है अन्य नही तथा अन्य रूप नही ॥६॥

नैकस्य हि कर्तारौ द्वौ स्तो द्वे कर्मणी न चैकस्य।
नैकस्य च क्रिये द्वे एकमनेकं यतो न स्यात् ॥६॥

अन्वयार्थ—(**हि**) निश्चय से (**एकस्य**) एक परिणाम के (**द्वौ**) दो (**कर्तारौ**) कर्ता (**न**) नही (**स्त.**) होते हैं। (**च**) और (**एकस्य**) एक कर्ता के (**द्वे**) दो (**कर्मणी**) कर्म (**न**) नही (**स्त.**) होते है। (**च**) और (**एकस्य**) एक की (**द्वे**) दो (**क्रिये**) क्रियायें (**न**) नही (**स्त.**) होती। (**यत.**) क्योकि (**एकम्**) एक वस्तु (**अनेकम्**) अनेक वस्तु रूप (**न**) नही (**स्यात्**) होती है।

स० टीका—(**एकस्य-परिणामस्य चेतनालक्षणस्य कर्मलक्षणस्य वा**) चेतनरूप तथा कर्मरूप एक परिणमन का (**हि-इति निश्चितम्**) निश्चित रूप से (**द्वौ-जीवपुद्गलौ**) दो-जीव और पुद्गल (**कर्तारौ-कारकौ**) कर्ता-करने वाले (**न स्त -न भवत.**) नही होते (**चेतनाया जीव एव कर्ता, कर्मणः पुद्गल एव कर्ता**) चेतना का जीव ही कर्ता है और कर्म का पुद्गल ही कर्ता है। (**चेति भिन्नप्रक्रमे**) च शब्द क्रम की भिन्नता का सूचक है। (**एकस्य जीवस्य पुद्गलस्य वा द्वे कर्मणी चेतनाकर्मलक्षणे न स्त.**) एक जीव अथवा पुद्गल के चेतना और कर्मरूप दो कर्म नही होते। (**च-पुनः**) और (**एकस्य कर्तुः-जीवस्य पुद्गलस्य वा द्वे क्रिये-परिणती न स्त.**) एक जीव अथवा पुद्गल की दो क्रियाये नही होती है। (**जीवस्य चेतनाक्रिया प्रतिपरिणतत्वात्, पुद्गलस्य कर्मक्रियां प्रतिपरिणतत्वात्**) क्योकि जीव का परिणमन चेतनारूप होता है और पुद्गल का परिणमन कर्मरूप होता है।

(**यथा-कुलाल. स्वपरिणतिक्रिया प्रति परिणत**, **मृद्द्रव्यं तु कलशक्रियां प्रतिपरिणतं, अन्यत्-मृद्द्रव्यं वस्त्रक्रिया प्रति हेतुर्नस्यात्**) जैसे कुम्भकार अपनी परिणति क्रिया मे सलग्न रहता है और मृत्तिका अपनी कलश-घट रूप होने की क्रिया मे निमग्न रहती है कोई भी मृत्तिका वस्त्ररूप क्रिया के प्रति कारण नही होती है। (**यत.-पूर्वोक्त कारणात्**) पूर्वोक्त कारण से (**एक-अखण्ड-द्रव्य-जीवादि**) एक अखण्ड जीवादि द्रव्य (**अनेक-परपरिणामकर्तृ क्रियाभावात् अनेकरूपम्**) पर-पुद्गलादिद्रव्य के परिणाम आदि का कर्ता एव तदनुरूप क्रियावान् न होने से अनेक रूप (**न स्यात्-न भवेत्**) नही होता है। (**अथवा-एक-जीवादि, अनेक स्व कर्तृ कर्म क्रियारूप यत. कुतो न भवेत्, अपि तु भवेदेव**) अथवा एक जीवादि द्रव्य अपने मे कर्ता कर्म और क्रियारूप परिणमन करने से अनेक रूप क्यो नही होगा अर्थात् अवश्य ही होगा ॥९॥

भावार्थ—एक द्रव्य, अपने से भिन्न द्रव्य के कर्ता कर्म और क्रिया के रूप को प्राप्त नही करता, इस दृष्टि से अनेक नही हो सकता, किन्तु वही अपने मे होने वाले कर्ता कर्म और क्रियारूप विभिन्न परिणमनो के कारण विभिन्न रूप अनेक रूप हो सकता है यह एक मे होने वाली अनेकता विशेष विवक्षा की अपेक्षा पर निर्भर करती है॥९॥

अब अज्ञान के माहात्म्य का निरूपण करते हैं—

आ संसारत एव धावतिपरं कुर्वेऽहमित्युच्चकैः
दुर्वारं ननु मोहिनामिह महाहंकाररूपं तमः।
तद्भूतार्थ परिग्रहेण विलयं यद्येकवारं व्रजेत्
तत्किं ज्ञानघनस्य बन्धनमहो भूयो भवेदात्मनः ॥१०॥

अन्वयार्थ— (**ननु**) निश्चय से (**अहम्**) मैं (**परम्**) पर द्रव्य को (**कुर्वे**) करता हूँ (**इति**) इस प्रकार का (**उच्चकैः**) महान् अतएव (**दुर्वारम्**) कठिनता से दूर करने योग्य (**महाऽहंकार रूपं**) महान् अहकार स्वरूप (**तमः**) अज्ञानान्धकार (**इह**) इस ससार मे (**आसंसारतः**) अनादि ससार से (**एव**) ही (**मोहिनाम्**) मोही-अज्ञानी जीवो के पीछे-साथ (**धावति**) दौड रहा है (**तत्**) वह अज्ञानान्धकार (**यदि**) यदि (**भूतार्थ-परिग्रहेण**) सत्यार्थ-शुद्ध द्रव्यार्थिक नय के ग्रहण से (**एकवारम्**) एक वार (**विलयम्**) विनाश को (**व्रजेत्**) प्राप्त हो जाये (**तर्हि**) तो (**किम्**) क्या (**ज्ञानघनस्य**) ज्ञान के पिण्ड स्वरूप (**आत्मनः**) आत्मा के (**भूयः**) फिर से (**तत्**) उस अज्ञान का (**बन्धनम्**) वन्ध (**भवेत्**) हो सकता है ? अर्थात् नही। कभी नही।

सं० टीका—(**ननु-इति वितर्कै**) ननु यह अव्यय वितर्क अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है। (**इह जगति**) इस जगत मे (**इति-अमुना प्रकारेण**) इस प्रकार से (**धावति-अत्यर्थं प्रसर्पति व्याप्नोतीतियावत्**) अत्यन्त रूप से फैल रहा या व्याप्त कर रहा है (**किम् ?**) क्या (**महाहङ्काररूपम्**) महान् अहकार रूप (**महान्-सकल प्राण्यतिशायी स चासौ अहङ्कारश्च मयेदं कृतमित्यादिरूपो गर्वः, स एव रूपं स्वरूपं यस्य तत् तम. अज्ञानम्**) सभी प्राणियो मे अतिशय रूप से विद्यमान "यह मेरे द्वारा किया गया है" इस प्रकार का गर्व ही जिसका स्वरूप है ऐसा अज्ञानरूप अन्धकार (**केषाम्-?**) किनके (**मोहिनां-मोहग्राहग्रस्ताना देहिनाम्**) मोहरूप पिशाच से प्रपीडित प्राणधारियो के (**किम्भूतम् ?**) कैसा (**उच्चकैः-अत्यर्थम्**) अत्यन्तरूप से (**दुर्वारं-वार-यितुमशक्यम्**) निवारण करने मे अशक्य (**कियत्पर्यन्तं-धावति**) कहा से-कब से दौडता है (**आसंसारतः-एव**) जब से ससार है तब से (**यावत्पर्यन्तं पञ्चपरिवर्तनरूप संसारस्तावत्पर्यन्तं प्रसर्पत्येव**) जव से यह पचपरिवर्तन – द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव रूप पाच परिवर्तन स्वरूप ससार है तव से फैल रहा-व्याप्त कर रहा है (**इति किम् ?**) ऐसा क्या (**कुर्वे-निष्पादयामि करिष्ये वा 'वर्तमानसामीप्ये वर्तमान-वदिति" सूत्राद्भविष्यदर्थे वर्तमानात्**) करता हूँ अथवा करूँगा यहा "वर्तमान सामीप्येवर्तमानवत्" इस सूत्र से भविष्यत् अर्थ मे वर्तमान का प्रयोग किया गया है। (**कर्तृभूत -अहं**) करतारूप मैं (**किम् ?**) किसे (**परं-परद्रव्यं-गृहपुत्र विवाहशरीरकर्मादिरूपम्**) पर-परद्रव्य अर्थात् घर, पुत्र, विवाह, शरीर, कर्म आदि रूप पर पदार्थ को (**यदि-यदा**) यदि (**व्रजेत्-गच्छेत्**) प्राप्त करें (**विलयं-विनाशम्**) विनाश को (**तत्-तम.-कर्तृ**) वह अज्ञानरूप अन्धकार (**एकवारं-सकृद्वारम्**) एक वार (**केन ?**) किससे (**भूतेत्यादिः-शुद्ध द्रव्या-र्थिकनयेन**) शुद्ध द्रव्यार्थिक नय से (**तावत् किं स्यात्**) तो क्या हो सकता है ? (**अपि तु न स्यादित्यर्थ.**) किन्तु नही हो सकता है (**भूय.-पुन.**) फिर (**अहो**) आश्चर्य है कि (**वन्धन-कर्मश्लेषणम्**) कर्मो का एक क्षेत्रावगाह रूप सम्बन्ध (**कस्य**) किसके (**आत्मन -चिद्रूपस्य**) चैतन्य स्वरूप आत्मा के (**किम्भूतस्य**) कैसी आत्मा के (**ज्ञानघनस्य-बोधनिरतस्य**) ज्ञानमय ज्ञानस्वरूप ॥१०॥

भावार्थ —आत्मा का तथा पौद्गलिक कर्मो का एक क्षेत्रावगाह सम्बन्ध अनादित धाराप्रवाह रूप से चलता आ रहा है। अतएव जीव अनादि से ही अज्ञानी-स्वपर के ज्ञान से शून्य है। यदि इस जीव को किसी भी प्रकार से एक वार भी स्वपर भेद विज्ञान हो जाय तो निस्सन्देह यह आत्मा फिर कभी भी

अज्ञानतस्तु सतृणाभ्यवहारकारी, ज्ञानं स्वयं किल भवन्नपि रज्यते यः।
पीत्वा दधीक्षुमधुराम्लरसातिगृद्धया, गां दोग्धिदुग्धमिव नूनमसौ रसालम् ॥१२॥

अन्वयार्थ—(**यः**) जो पुरुष (**किल**) निश्चय से (**स्वयम्**) स्वतः-स्वभाव से (**ज्ञानम्**) ज्ञान स्वरूप (**भवन्**) होने पर (**अपि**) भी (**अज्ञानत.**) भेदविज्ञान के अभाव से (**सतृणाभ्यवहारकारी**) घास सहित आहार को करने वाले पशु के समान (**रज्यते**) पर वस्तु के साथ राग करता है (**असौ**) वह मनुष्य (**रसालाम्**) शिखरिणी-दही और शक्कर मिली हुई रसीली वस्तु-को (**पीत्वा**) पी करके (**दधीक्षु मधुराम्ल रसाति गृद्धया**) दही और इक्षुरस सम्मिश्रण-मेल से मीठे और खट्टे रस की तीव्र लोलुपता से (**इव**) मानो (**गाम्**) गाय के (**दुग्धम्**) दूध को (**दोग्धि**) दोहन करता है (पीता है, अर्थात् दूध को ही मीठे-खट्टे स्वभाव वाला मानता है।

सं० टीका—(**तु-पुनः**) और (**यः-आजन्माभ्यस्तसुतत्त्वशास्त्रः-पुमान्**) जिसने जीवनपर्यन्त सुतत्त्व-प्रतिपादक शास्त्रो का अभ्यास पठन-पाठन एव चिन्तन किया ऐसा जो मनुष्य (**रज्यते-बाह्यलाभादिकारण-कलापाद्राग गच्छति**) बाहिर मे लाभ आदि कारणो से राग को प्राप्त होता है (**कुत·**) किससे (**अज्ञानत.-भेदविज्ञानविलक्षणबोधाद्धेतोः**) भेदविज्ञान-स्वपर विवेक से विपरीत रूप ज्ञान अज्ञान के कारण से (**किं-कुर्वन्**) क्या करता हुआ (**स्वयं-स्वतः**) अपने-आप खुद-ब खुद (**ज्ञान-शुद्धात्मज्ञान**) शुद्ध पर पदार्थ के गुण पर्यायो से शून्य-आत्मज्ञान स्वरूप (**भवन्नपि-चिन्तयन्नपि**) अपने को विचारता हुआ (**अनुभवन्नपि वा**) अथवा अनुभव करता हुआ भी। (**किल इत्यागमोक्तौ**) किल यह अव्यय "आगम की उक्ति मे" प्रयुक्त हुआ है अर्थात् आगम के अनुसार (**स पुमान्,**) वह मनुष्य (**सेत्यादि-तृणेन सह वर्तमान सतृण., अभ्यवहार - उत्तमाहारः-पायसशर्कराज्यादिरूप., सतृणश्चासावभ्यवहारश्च त करोतीतयेवं शीलः स तथोक्त -तृणसहितो-त्तमाहारभोजीत्यर्थ.**) घास सहित उत्तम खीर शक्कर घी आदि रूप श्रेष्ठ भोजन करने वाला (**यथा-तृणा-दिकमनिष्ट पायसाहारः इष्ट., तयोरेकत्रास्वादेन कस्यचित्पुसः शुभाशुभम्, तथा रागस्य तृणस्थानीयत्वात् अशुभत्व ज्ञानानुभवस्य शुभाहारस्थानीयत्वात् शुभत्वम्।**) जैसे—घास आदि अप्रिय तथा खोर का आहार प्रिय, उन दोनो का एक स्वाद मे शुभ और अशुभ-प्रिय और अप्रियता का ज्ञान किसी पुरुष के नही होता है वैसे ही तृणस्थानीय राग के प्रति अशुभता और उत्तमाहार स्थानीय ज्ञानानुभव के प्रति शुभता का विवेक किसी अज्ञानी पुरुष को नही होता है। (**नूनं-निश्चितम्**) निश्चित रूप से (**असौ-ज्ञानरागयोरेकत्वा-नुभावुक पुमान्**) ज्ञान और राग मे एकता का अनुभव करने वाला यह मनुष्य (**गा-धेनु-दुग्ध-क्षीरम् दोग्धीव प्ररूपयति**) गाय से दूध को दोहन के समान निरूपण करता है। (**कया ?**) किससे (**दधीत्यादि-दधि-दुग्धविकाराम्ल रसोपेतं-इक्षु-मधुररसोपेतः इक्षुदण्ड, द्वन्द्व. तयो. मधुराम्लरसस्तयोरतिगृद्धिः, अत्या-सक्तिः तया**) खट्टा रस वाला दूध का विकार रूप दही और मधुर रस को प्राप्त ईख का दण्डरूप इक्षु इन दोनो के रस मे अति आसक्ति से (**कि कृत्वा ?**) क्या करके (**पीत्वा-पान कृत्वा**) पान करके (**काम् ?**)

किसको (**रसालाम्-रसनाविषयासक्तजनाः वस्त्रगालित दधिशर्करा मृष्ट्वा कमपि रसान्तरं प्राप्यरसाला-मिति भणन्ति शिखरिणीति देशभाषायाम्, यथा कश्चित् रसालामास्वाद्य तद्भेदमजानन् गोर्दोहनक्रियाया मधुराम्लरसातिगृद्धया प्रवर्तते तथा परात्मभेदमजानन् क्रोधादौ कर्तृत्वेन प्रवर्तत इति तात्पर्यम् ॥१२॥**) रसाला अर्थात् रसना इन्द्रिय के विषय मे आसक्त मनुष्य कपडे से छानी हुई दही मिश्रित शक्कर को, साफ करके किसी तीसरी जाति के रस को प्राप्त कराके रसाला बनता है इसी को देशभाषा मे शिखरिणी कहते है। जैसे कोई मनुष्य रसाला-शिखरिणी को आस्वादन करके उस रसाला के भेद को नही जानता हुआ मीठे और खट्टे रस की तीव्र इच्छा से गाय के दोहन मे प्रवृत्त होता है अर्थात् गोरस मे ही ऐसा स्वाद है यह समझ करके गाय से दूध निकालता है। वैसे ही पर-पुद्गल और आत्मा के भेद को नही जानता हुआ अज्ञानी क्रोध आदि के करने मे प्रवृत्ति करता है। अर्थात् अज्ञानी क्रोध आदि को अपना स्वरूप मान उनके करने मे लगा रहता है, उसे यह ज्ञान नही है कि मैं तो ज्ञानस्वरूप हूँ, क्रोधादि तो पुद्गल कर्मजनित आत्मा के विकारी भाव हैं, स्वभाव भाव नही, उनका कर्ता स्वरूप दृष्टि से मैं नही हूँ। मैं तो मात्र शुद्ध ज्ञानादि निजभावो का ही कर्ता हूँ। पौद्गलिक कर्म निमित्तज क्रोधादि का नही ॥१२॥

भावार्थ—आत्मा ज्ञानस्वभावी है परन्तु ज्ञानस्वभाव को न जानकर जो पर्यायरूप शुभ-अशुभ भाव हो रहे है उसी को अपना होना मानता है। ज्ञानस्वभाव का स्वाद तो लेता नही ज्ञान से मिश्रित शुभ-अशुभ भावो का, त्याग ग्रहण के भावो का स्वाद लेकर उसी को ज्ञान का स्वाद मान लेता है। उसी मिश्रित स्वाद की आसक्ति के कारण उन्ही पर्यायरूप भावो का ही सेवन करता रहता है। द्रव्यस्वभाव रूप निजभाव को नही पाता। पर्याय मे भगवान की भक्ति का भाव और भोगो से विरक्ति का भाव भी होता है दया दानादि रूप भी भाव होते हैं। वह निज स्वभाव को नही जानने वाला इन भावो को ही द्रव्य स्वभाव रूप मानकर उसी मे आसक्त रहता है इस प्रकार अपनी अज्ञानता से पर्याय का ही स्वाद लेता रहता है और उसी की चेष्टा करता है रहता।

अब अज्ञान के प्रभाव का वर्णन करते हैं—

अज्ञानान्मृगतृष्णिकां जलधिया धावन्ति पातुं मृगा
अज्ञानात्तमसि द्रवन्ति भुजगाध्यासेन रज्जौ जनाः।
अज्ञानाच्च विकल्पचक्रकरणाद्वातोत्तरङ्गाब्धिवत्
शुद्धज्ञानमया अपिस्वयमी कर्त्रीभवन्त्याकुलाः ॥१३॥

अन्वयार्थ—(**मृगा.**) मृग (**अज्ञानात्**) अज्ञान से (**मृगतृष्णिकाम्**) मृगमरीचिका को (**जलधिया**) जल की बुद्धि से (**पातुम्**) पीने के लिए (**धावन्ति**) दौडते हैं। (**जना.**) मनुष्य (**अज्ञानात्**) अज्ञान से (**तमसि**) अन्धकार मे (**रज्जौ**) रस्सी मे (**भुजगाध्यासेन**) सर्प की बुद्धि से (**द्रवन्ति**) भागते है। (**शुद्ध-ज्ञानमयाः**) इसी तरह शुद्ध ज्ञान स्वरूप होने पर (**अपि**) भी (**अमी**) ये (**जनाः**) मनुष्य (**स्वयम्**) खुद-ब-खुद (**कर्त्रीभवन्ति**)

कर्म के कर्ता हो रहे है (**च**) और (**अज्ञानात्**) अज्ञान-स्वपर भेद विज्ञान के अभाव से (**वातोत्तरङ्गाब्धि-वत्**) वायु के निमित्त से उत्तरङ्गित समुद्र के समान (**विकल्पचक्रकरणात्**) रागद्वेष आदि विकल्पो के समूह के करने से (**आकुलाः**) पीडित (**भवन्ति**) हो रहे है।

स० टीका — (**अमी-एते लोकाः**) ये मनुष्य (**स्वयं-स्वत एव**) अपने आप ही (**कर्त्रीभवन्ति-मया कर्म कृतमिति कर्मणा कर्तारो भवन्ति**) "मेरे द्वारा यह कर्म किया गया है" इस प्रकार से कर्मों के कर्ता बनते हैं। (**कीदृशा अपि**) कैसे होते हुए भी (**शुद्धज्ञानमया अपि-निर्मल भेदबोधप्राचुर्या ; अभेद ज्ञानिन· कथं कर्म कर्तारो न स्युरित्यपि शब्दार्थ**) निर्मल भेद ज्ञान से ओतप्रोत, यहा अपि शब्द से यह अर्थ निकलता है कि अभेद ज्ञानी, कर्म के कर्ता क्यो नही होगे ? (**आकुला सन्त**) आकुल होते हुए (**कुत. ?**) किससे (**अज्ञानात्-भेदज्ञानाभावात्**) अज्ञान से-भेदज्ञान न होने से (**पुन कुत**) फिर किसमे (**विकल्पेत्यादिः-विकल्पानां चक्रं-समूह. तस्य करणाच्च कृतश्च हेतोः**) विकल्पो के समूह के करने से (**अत्रैवार्थान्तरन्यास-माह-वातोदित्यादि -वातेन-वायुना, उत्तरङ्ग-ऊर्ध्वोर्मिमयः स चासावब्धिश्च तद्वत्-यथोत्तरङ्गरहितोऽब्धिर्वा-तेनोत्तरङ्गीयते तथा शुद्धज्ञानोऽपि, अज्ञानात्कर्ता भवतीत्यर्थ.।**) यहा अर्थान्तिरन्यास—दूसरे पदार्थ को दृष्टान्तरूप मे उपस्थित करते हुए कहते हैं कि जैसे-उठती हुई तरङ्गो वाला हो जाता है-वैसे ही शुद्धज्ञान वाला आत्मा भी अज्ञान के निमित्त से कर्मो का कर्ता बन जाता है। (**लौकिकनिदर्शनेनाज्ञानस्य माहा-त्म्यमाह-**) अब लौकिक-लोक मे प्रचलित दृष्टान्त के द्वारा अज्ञान के माहात्म्य-प्रभाव को कहते हैं— (**मृगाःहरिणाः**) हरिण (**धावन्ति-प्रसर्पन्ति**) दौडते हैं। (**किमर्थम् ?**) किस लिए (**पातु-पानार्थम्**) पीने के लिए (**काम्**) किसे (**मृगतृष्णिकाम्-मरीचिकाम्**) मृगमरीचिका को (**कया-**) किससे (**जलधिया-पानी-याभावेऽपि पानीयवुद्ध्या**) पीने योग्य-पानी के न होने पर भी पानी की बुद्धि से (**अज्ञानात्-ज्ञानाभावमा-श्रित्य**) ज्ञान के अभाव को प्राप्त करके (**ज्ञानिनश्चेत्तर्हि तत्र कथ धावन्ति ?**) यदि ज्ञानी-जल और मरी-चिका के भेद को स्वरूप दृष्टि से जानते तो मरीचिका को जल जानकर क्यो दौडते ? (**तथाऽज्ञानिने भोगसुखे शरीरादौ च सुखधिया ममत्वधिया च वर्तन्ते-इति भावार्थ**) वैसे ही अज्ञानी — स्व और पर को नही जानने वाले जीव — भोगजन्य सुख मे और शरीर स्त्री पुत्र आदि मे सुख की कल्पना और ममेद बुद्धि से प्रवृत्ति करते है। (**पुनः द्रवन्ति-पलायनं-कुर्वन्ति**) फिर भागना प्रारम्भ करते है। (**क्व ?**) किसमे (**तमसि-तिमिस्त्रे**) अन्धकार मे (**के ?**) कौन (**जना.-पुरुषा.**) मनुष्य (**केन**) किससे (**रज्जौ-वराटके**) वराटक-रस्सी मे (**शुल्वो वराटक. स्त्री तु रज्जु. स्त्रीषु वटी गुण' इत्यमर**) शुल्व और वराटक पुल्लिङ्ग ये सब शब्द रस्सी के वाचक है ऐसा अमरसिह, कोशकार का वचन है। (**भुजगाध्यासेन-भुजगोयमित्यारोपवुद्ध्या**) यह सर्प है इस प्रकार का आरोप-सकल्प-करने वाली बुद्धि से (**कुत ?**) किससे (**अज्ञानात्-अज्ञानमाश्रित्य**) अज्ञान-मिथ्याबुद्धि-का आश्रय ले करके (**यथा रज्जौ भुजग इति कृत्वा वर्तन्ते तथा स्वे परकीय, परशरी-रादौ स्वमिति कृत्वा वर्तन्ते अज्ञानिनः।**) जैसे रस्सी मे यह सर्प है ऐसा मानकर प्रवृत्ति करते है वैसे ही स्व-आत्मा मे—पर की तथा परशरीरादि मे आत्मा की कल्पना करके प्रवृत्ति करते है अज्ञानी स्वपर-

विवेक शून्य पुरुष ॥१३॥

भावार्थ—यहा पर आचार्य ज्ञान की महिमा बता रहे हैं अज्ञान की वजह से क्या क्या होता है। आत्मा तो ज्ञायकरूप है—वह रागादि का भी—शुभ अशुभ भावो का—शरीर की रोग-निरोग रूप अवस्था का एव कर्म के फल का मात्र जानने वाला है वह अपने को ज्ञानपने मे स्थापित न करके रागादि शरीरादि का कर्त्ता बन जाता है। यद्यपि वह वस्तुत उनको कर नही सकता परन्तु कर्त्तापने की विपरीत श्रद्धा बनाता है अपनी उसी विपरीत श्रद्धा की वजह से वह आकुलित होता रहता है। अगर वह अपनी विपरीत श्रद्धा जिसका नाम अज्ञान है उसको छोड दे तो वह स्वय ज्ञान दर्शनरूप है। जब तक अपने स्वभाव को नही जानता शरीरादि-रागादि मे अपनापना मानकर उनका कर्त्ता बनता है। आत्मा मे तीन काम एक साथ हो रहे हैं—शरीर की शुभ अशुभ क्रिया-जीव का विकारी परिणाम शुभरूप अशुभरूप और ज्ञान का कार्य जाननपनारूप। हरेक व्यक्ति मे तीन काम हो रहे हैं चाहे ज्ञानी हो चाहे अज्ञानी हो। अज्ञानी की पकड मे दो बाते तो आ रही हैं—विकारी परिणाम और शरीर की क्रिया। उसी के होने मे वह अपना होना मान रहा है अत उनका कर्ता बनता है एव अहम् बुद्धि को धारण करता है। उसी समय जो जाननपना हो रहा है- इन विकारी भावो का जानना और शरीर की क्रिया को जानना वह ज्ञान का कार्य है। वह हो तो रहा है परन्तु उसकी पकड नही आ रही है उस जानने रूप क्रिया मे यह अपनापना स्थापित नही करता है जो वास्तविक इसका होना है। अगर इसमे अपना पना आ जावे तो विकारी भावो का और शरीर की क्रिया का कर्त्तापना न रहे। विकारी भाव रहेगे-शरीर की क्रिया रहेगी, उनका जानने वाला भी रहेगा परन्तु उनका करने वाला नही रहेगा यही भेदविज्ञान है और इसका न होना वही अज्ञानता है। दो काम हो रहे हैं विकारी परिणमन और उनका जानना। हमे नक्की करना है कि मैं विकारी परिणाम हूँ या उनका जानने वाला। परिणामो का व्याप्यव्यापक सम्बन्ध मोह कर्म के साथ है और जाननपने का व्याप्य व्यापक सम्बन्ध चेतना के साथ है। विकारी परिणाम समय-समय मे बदली होते जाते है जबकि जानने वाला स्वय एकरूप रहता है। इसलिए मैं जाननपने रूप हूँ विकारी भाव नही हूँ। यही बात शरीर की क्रिया के साथ है उसका व्याप्य व्यापना शरीर के साथ है ज्ञान के साथ नही। शरीर के रोगी होते हुए भी निरोगी होते हुए मैं रोगी निरोगी नही हूँ परन्तु रोग-निरोगपने का जानने वाला हूँ। इसलिए रोग होते हुए भी रोगी नही, निरोग होते हुए निरोगी नही। राग होते हुए रागी नही। ससार होते हुए ससारी नही। मैं तो मात्र जाननरूप हूँ। ऐसा अनुभव करे तो शरीर की क्रिया का और राग का कर्त्तापना खत्म हो जावे। जब कर्त्तापना अपने चैतन्य स्वभाव मे आ जाता है तब पर के करने के अहकार का अभाव हो जाता है। शरीर की क्रिया का और विकारी भावो का अभाव गुणस्थानो के अनुसार होगा परन्तु कर्त्तापने का अभाव अभी हो सकता है।

अब ज्ञान के महत्व को प्रकट करते हैं—

ज्ञानाद्विवेचकतया तु परात्मनोर्यो, जानाति हंस इव वाःपयसोर्विशेषम् ।
चैतन्यधातुमचलं स सदाधिरूढो, जानीत एव हि करोति न किञ्चनापि ॥१४॥

अन्वयार्थ—(**इव**) जैसे (**हंसः**) हस (**वाः-पयसो**) जल और दूध के (**विशेषम्**) भेद को (**जानाति**) जानता है (**तथैव**) वैसे ही (**यः**) जो ज्ञानी पुरुष (**ज्ञानात्**) भेदज्ञान से (**विवेचकतया**) स्व और पर को पृथक्-पृथक् करने की योग्यता से (**परात्मनोः**) पर-पुद्‌गल और आत्मा-जीव इन दोनो के (**विशेषम्**) स्वरूपकृत भेद को (**जानाति**) जानता है (**सः**) वह-ज्ञानी (**सदा**) सदा (**अचलम्**) अचल (**चैतन्यधातुम्**) एक मात्र चैतन्य को धारण करने वाले आत्मा को (**अधिरूढः**) आश्रय लेता हुआ (**जानीत एव**) जानता ही है (**किञ्चन**) किंचित मात्र (**अपि**) भी (**करोति**) कर्ता (**न**) नही होता ।

सं० टी०—(**तु-पुनः, अज्ञानविजृम्भणविकचानन्तरम्**) अज्ञान के विस्तार को रोकने के बाद (**जानाति-वेत्ति**) जानता है (**कम्**) किसको (**विशेषं-भेदम्**) विशेष भेद को (**कयो. ?**) किनके (**परात्मनोः-पुद्‌गलकर्मजीवयोः**) पुद्‌गलजन्य कर्म और जीव के (**ज्ञानात्-भेदबोधमाश्रित्य**) ज्ञान-भेदज्ञान के आश्रय से (**कया ?**) किसके द्वारा ? (**विवेचकतया-ज्ञानात्मनोर्भेदकस्वरूपतया**) विवेचकतया-ज्ञान और आत्मा के भेद-कता-स्वरूप के द्वारा (**इममर्थं निर्दर्शयति**) इसी अर्थ को दृष्टान्त से स्फुट करते है (**हस इव-यथा मरालः**) हस के समान-जैसे हस (**वाः पयसो.-नीरक्षीरयोः**) पानी और दूध के (**भेदम्**) भेद को (**वेत्ति**) जानता है (**तथा ज्ञानी-जीव पुद्‌गलयोः**) वैसे ही ज्ञानी-जीव और पुद्‌गल के भेदको जानता है (**स पुमान् जानीत एव-वेत्त्येव**) वह पुरुष जानता ही है (**कम् ?**) किसको (**चैतन्यधातुं-चेतनास्वरूपधातुम्**) चैतन्यधातु (**आत्मानं वेत्यर्थः**) अर्थात् आत्मा को (**किम्भूतम् ?**) कैसी आत्मा को (**अचलम्-स्वस्वभावान्नचलतीत्यचलम्**) अचल अर्थात् अपने चैतन्य स्वभाव से च्युत नही होने वाली (**सदा नित्यम्**) हमेशा (**अधिरूढ. सन् गुणसमूहमाश्रितः सन्**) गुणो के समूह को प्राप्त होकर (**हीति-निश्चितम्**) हि-यह अव्यय निश्चित अर्थ का वाचक है—अर्थात् निश्चित रूप से (**किञ्चनापि-किमपि**) कुछ भी (**न करोति-कर्तृकर्मक्रिया न विदधाति**) कर्ता कर्मरूप क्रिया को नही करता है ॥१४॥

भावार्थ – स्व-स्वरूप का ज्ञाता, शुद्ध द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से ज्ञाता ही है, पर का कर्ता नही। जब तक पर के कर्तृत्व का जनक अज्ञान रहता है तब तक ही आत्मा अज्ञाता है। अज्ञान के दूर होते ही आत्मा ज्ञाता हो जाता है तो ज्ञाता ही रहता है कर्ता नही होता ॥१४॥

अब ज्ञान से ही भेद की उत्पत्ति होती है यह निरूपण करते है—

ज्ञानादेव ज्वलनपयसोरौष्ण्यशैत्यव्यवस्था, ज्ञानादेवोल्लसति लवणस्वाद भेदव्युदासः ।
ज्ञानादेव स्वरसविकसन्नित्यचैतन्यधातोः क्रोधादेश्च प्रभवति भिदा भिन्दती कर्तृभावम् ॥१५

अन्वयार्थ—(**ज्वलनपयसोः**) अग्नि और जल की (**औष्ण्यशैत्यव्यवस्था**) उष्णता और शीतता की व्यवस्था (**ज्ञानात्**) ज्ञान से (**एव**) ही (**प्रभवति**) प्रगट होता है । (**लवणस्वादभेदव्युदास.**) व्यञ्जन आदि के

स्वाद से नमक के खारेपन रूप स्वाद-रस-का-भेदीकरण **(ज्ञानात्)** ज्ञान से **(एव)** ही **(उल्लसति)** प्रकाश को प्राप्त होता है **(स्वरसविकसन्नित्यचैतन्यधातो.)** अपने अनुभव से विकास को प्राप्त होने वाले नित्य चैतन्य स्वरूप आत्मा के **(च)** और **(क्रोधादे)** क्रोध, मान, माया, लोभ आदि के प्रति **(कर्तृ भावम्)** कर्तृत्व को **(भिन्दती)** भेदन करने वाली **(भिदा)** पृथकता-जुदाई **(ज्ञानात्)** ज्ञान से **(एव)** ही **(प्रभवति)** अतिशय रूप से उत्पन्न होती है।

स० टीका—**(प्रभवति-जायते)** होता है **(भिदा-भेदः)** भेद **(कस्य ?)** किसका **(स्वेत्यादिः-स्वस्य-आत्मन', रस.-अनुभव., तेन-विकसन्-विकासं गच्छन् स चासौ नित्यः शाश्वत चैतन्यधातुश्चचेतनालक्षणो-धातुस्तस्य, क्रोधादेश्च, कोप-मान-माया-लोभ-मोह-राग-द्वेष-कर्म-नोकर्म-मनो-वचन-काय-श्रोत्रचक्षुघ्राण-रसन-स्पर्शनादेश्च परस्परम्)** अपने अनुभव से विकासशील चैतन्य स्वरूप आत्मा का और क्रोध-मान-माया-लोभ-मोह-राग-द्वेष-कर्म-नोकर्म-मन-वचन-काय-कर्णनेत्र-नासिका-रसना और स्पर्शन "त्वचा" आदि का आपस मे **(कुत' ?)** किससे **(ज्ञानादेव-शुद्धात्मपरिज्ञानात्-नान्यत एव)** ज्ञान-शुद्ध आत्मा के परिज्ञान से ही अन्य से नही। **(किम्भूता)** कैसी भिदा-कैसा भेद, **(भिन्दती-विदारयन्ती)** भदन-विदारण-करती हुई **(कम् ?)** किसको **(कर्तृ भावम्-आत्मन कर्मणा कर्तृत्वस्वभावम्)** आत्मा का कर्मों के करने के स्वभाव को **(लौकिक ज्ञानादेव सर्वमिति प्रकाशयति)** लोक व्यवहार के ज्ञान से ही सर्व व्यवस्था होती है यह दिखाते है – **(औष्ण्यशैत्यव्यवस्था-शीतोष्णयोर्व्यवस्थिति. भवति)** उष्ण और शीत की व्यवस्था होती है **(कयोः ?)** किनकी **(ज्वलनपयसो -वह्नितप्तनीरयो)** वह्नि से तपे हुए जल की **(कुत ?)** किससे **(ज्ञानादेव-बोधा-देव)** ज्ञान से ही **(यथाकश्चिल्लौकिकव्यवहारज्ञः-एकत्रीभूतयोः पावकपयसोर्भेद निश्चिनोति,)** जैसे कोई लोकव्यवहार को जानने वाला—एक ही स्थान पर इकट्ठा हुए अग्नि और जल के भेद को निश्चित करता है। **(अभेदज्ञस्तयोरभेदमेव)** अभेद को जानने वाला—तयो -उन दोनो के अभेद को ही निश्चित करता है **(तथा ज्ञानी एकत्रीभूतयोः परात्मनोर्भेद निश्चिनोति, नाज्ञानी)** वैसे ही ज्ञानी-ज्ञानवान्-पुरुष-एकत्र-एक क्षेत्रावगाह रूप से मिले हुए पर-पुद्गल और आत्मा के भेद का निश्चय करता है अज्ञानी-नही। **(तथा उल्लसति-उल्लासं गच्छति)** वैसे ही उल्लास-आनन्द को प्राप्त करता है **(क. ?)** कौन **(लवणेत्यादि-लवणस्वादस्य-क्षार-लवणस्य कटुकाम्लव्यञ्जनस्वादात्-भेद. विशेषः, तस्यव्युदासः ज्ञानम्)** खारे स्वाद वाले लवण-नमक का कड़वे कसायले व्यञ्जन के स्वाद से भेद के ज्ञान को **(कुतः ?)** किससे **(ज्ञानादेव-यथा कश्चिद्भोजनभेदज्ञो व्यञ्जनलवणयोर्भेद व्यक्तं वेत्ति, अभेदज्ञ इद क्षारस्वाद व्यञ्जनमेव तथा ज्ञानी-क्रोधादि ज्ञानयोरेकत्रीभूतयो, पृथक् स्वभाव परिच्छिनत्ति, अज्ञानी तु क्रोध्यायमात्मैवेति वेत्ति-इति तात्पर्यम्)** ज्ञान से ही-जैसे कोई भोजन के भेद को जानने वाला व्यञ्जन और लवण के भेद-विशेष को स्पष्ट रूप से जानता है। अभेद को जानने वाला, यह खारा स्वाद व्यञ्जन का ही है ऐसा जानता है। वैसे ही ज्ञानी, क्रोध आदि और ज्ञान—जो एकमेक हो रहे हैं—को अलग-अलग स्वभाव वाला निश्चित रूप से जानता है किन्तु अज्ञानी—दोनो की अलग-अलग परिणति को नही जानने वाला-पुरुष "यह आत्मा

ही क्रोधी है" ऐसा—दोनों को एक रूप से-जानता है यही इसका तात्पर्यार्थ समझना चाहिए ॥१५॥

इस श्लोक मे प्रतिवस्तूपमा अलङ्कार है जैसा कि वाग्भट्ट ने कहा है—

अनुपात्तविवादानां वस्तुनः प्रतिवस्तुना ।
यत्र प्रतीयते साम्यं प्रतिवस्तूपमा तु सा ॥

(यत्र) जिस रचना मे **(वस्तुनः)** वस्तु के **(अनुपात्तविवादानाम्)** अनुपात विवादो की **(साम्यम्)** समानता **(प्रतिवस्तुना)** प्रति वस्तु के साथ **(प्रतीयते)** मालूम पडती है **(सा)** वह **(प्रतिवस्तूपमा)** प्रति-वस्तूपमा **(कथ्यते)** कही जाती है ॥

भावार्थ—जैसा गाथा १३ के भावार्थ मे बताया है ज्ञान का कार्य जाननेरूप है। अगर कोई तर्क करे कि क्रोध ने ही क्रोध को जाना है जानने वाला कोई अन्य नही है तो आचार्य अकलक स्वामी के शब्दो मे यह कहा जा सकता है कि क्रोध के अभाव को किसने जाना। जब क्रोध ने क्रोध को जाना तब जब क्रोध का अभाव हुआ तब किसने जाना कि अब क्रोध नही है। इससे साबित होता है कि जानने वाला क्रोधादि से भिन्न कोई और है। यदि क्रोधादिक के साथ एकरूप होता तो क्रोधादिक के अभाव मे उसका अभाव हो जाता। परन्तु क्रोधादिक का अभाव होता है और जानने वाला उस समय भी क्रोधादिक के अभाव को जानता है। इसलिए जानने वाला व क्रोधादिभाव या क्षमारूप भाव वैसे ही शरीर की क्रिया ये तीन काम एक साथ हो रहे हैं इनमे जाननपना चैतन्य से उठ रहा है और क्रोधादिक भाव एव उनका अभावरूप परिणमन कर्मसापेक्ष हो रहा है और शरीर की क्रिया हो रही है। जानने वाला तो मात्र ज्ञाताही है वह तो रागादिरूप परिणमन और शरीर की क्रिया से भिन्न है। उसका अपनापना तो अपने जाननपने मे ही है। जैसे चीनी का मीठापना उसके अपने स्वभाव से आ रहा है जिसके अभाव मे चीनी का अभाव है और गर्मपना और ठण्डापना अग्नि के सद्भाव और अभाव की अपेक्षा रखता है गर्मपने के अभाव मे भी मिठ्ठापने का अभाव नही है। मीठापना और गर्मपना दोनो एक साथ एक समय मे रहते हुए भी एक अग्निकृत है और एक चीनी के स्वभावरूप हैं। ऐसे ही एक ही आत्मा मे जाननपना और रागादि एक समय मे एक साथ रहते हुए भी एक आत्मा के स्वभाव से आ रहा है और एक कर्म कृत है कर्म के स्वभाव से आ रहा है। आत्मा अपने जाननपने स्वभाव को भूलकर कर्मकृत भावो का कर्ता बन रहा है यही अज्ञानता है जो निज स्वभाव का ज्ञान होने पर ही मिट सकती है।

अब आत्मा अपने भावो का ही कर्ता है यह बताते हैं—

अज्ञानं ज्ञानमप्येवं कुर्वन्नात्मानमञ्जसा ।
स्यात्कर्तात्मात्मभावस्य परभावस्य न क्वचित् ॥१६॥

अन्वयार्थ—**(आत्मा)** आत्मा **(अञ्जसा)** निश्चय से **(आत्मानम्)** अपने को **(ज्ञानम्)** ज्ञानरूप **(अपि)** या **(अज्ञानम्)** अज्ञान-विपरीत ज्ञान-रूप **(कुर्वन्)** करता हुआ **(आत्मभावस्य)** अपने ही भावो

का (**कर्ता**) करने वाला (**स्यात्**) होता है (**परभावस्य**) पुद्गल द्रव्य के भावों का (**कर्ता**) करता-करने वाला- (**क्वचित्**) कभी भी (**न**) नही (**स्यात्**) होता है।

सं० टी०—(**आत्मा-चिद्रूपः**) चैतन्य स्वरूप आत्मा (**आत्मभावस्य-स्वस्वरूपस्य**) अपने ही स्वरूप का (**कर्ता-स्यात्-भवेत्**) कर्ता होता है। (**किं कुर्वन् ?**) क्या करता हुआ (**अञ्जसा-परमार्थतः**) परमार्थ-निश्चय-रूप से (**आत्मानम्-स्वस्वरूपम्**) अपने स्वरूप (**ज्ञानम्-बोधम्**) ज्ञान को (**अपि-पुनः**) भी (**एव-निश्चयेन**) निश्चय से (**अज्ञानम्-बोधविपर्ययम्**) अज्ञान-बोध की विपरीतता को (**कुर्वन्-निष्पादयन्**) करता हुआ (**यत्किल-क्रोधोऽहमित्यादिवत्, वा मोहोऽहमित्यादिवच्चपरद्रव्याण्यात्मीकरोति**) जो निश्चय से मैं क्रोधरूप हूँ इत्यादि की भाँति अथवा मोहरूप मैं हूँ इत्यादि की तरह परद्रव्यो को आत्मारूप करता है (**आत्मानम्**) आत्मा को (**अपि**) भी (**परद्रव्यम्**) परद्रव्य रूप (**करोति**) करता है (**एवम्**) इस प्रकार से (**आत्मा**) आत्मा (**तदा**) उस समय (**अयम्**) यह (**अज्ञान कर्ता**) अज्ञान का कर्ता है। (**क्वचित्-कदाचित्**) कही पर किसी समय (**परभावस्य-पुद्गलपर्यायस्य**) पुद्गल की पर्याय का (**कर्ता**) करने वाला (**न स्यात्**) नही होता है।

भावार्थ—जैसे ज्ञानी आत्मा अपने ज्ञानमय भावो का कर्ता होता है। वैसे ही अज्ञानी आत्मा भी अपने ही अज्ञानमय भावो का कर्ता होता है। इससे भिन्न जड-अचेतन स्वरूप पुद्गल द्रव्य के भावो-पर्यायो-परिणमनो का नही। इस कथन से यह नतीजा निकाल लेना अनुचित न होगा कि आत्मा निज भावो का ही कर्ता था, है और रहेगा। परद्रव्य-पुद्गल के भावो का कर्ता न था, न है और न होगा। इस तरह परकर्तृत्व निषेध सर्वथा और सर्वदा सिद्धान्तत सिद्ध होता है।

अब व्यवहारियो की कर्तृत्व बुद्धि को दिखाते है—

आत्मा ज्ञानं स्वयंज्ञानं ज्ञानादन्यत् करोतिकिम्।
परभावस्य कर्तात्मा मोहोऽयं व्यवहारिणाम् ॥१७॥

अन्वयार्थ—(**आत्मा**) आत्मा (**ज्ञानम्**) ज्ञान स्वरूप है (**ज्ञानम्**) ज्ञान (**स्वयम्**) आत्मा स्वरूप है (**अतः**) इसलिए (**आत्मा**) आत्मा (**ज्ञानात्**) ज्ञान से (**अन्यत्**) अतिरिक्त (**किम्**) क्या (**करोति**) करे (**आत्मा**) आत्मा (**परभावस्य**) अपने से भिन्न पर भाव का (**कर्ता**) करने वाला (**अस्ति**) है (**अयम्**) यह (**व्यवहारिणाम्**) व्यवहारी-अज्ञानियो का (**मोहः**) मोह-अज्ञान (**अस्ति**) है।

स० टी०—(**आत्मा-चिद्रूप**) चैतन्य स्वरूप-आत्मा (**ज्ञानं-बोधम्**) ज्ञान को (**करोति**) करता है (**स्वयम्-ज्ञानमेवात्मा**) स्वयम-ज्ञान ही आत्मा है (**आत्मज्ञानयोर्द्रव्यादेशादेकत्वात्**) क्योकि आत्मा और ज्ञान मे द्रव्यार्थिकनय से एकत्व है। (**ज्ञानात्-बोधं विहाय, अन्यत्-घट पट मुकुट लकुट शकटादि किं करोति ? अपि तु न विदधात्येव**) ज्ञान को छोडकर अन्य, घट, 'घडा' पट 'वस्त्र-कपडा' मुकुट 'शिरोभूषण-सिरमौर' लकुट लकडी तथा शकट 'गाडी' आदि को क्या करता है ? अर्थात् नही करता है। (**नन्वात्मनोऽकर्तृत्वे गृहमिदमात्मनाकृतमित्यादिव्यवहार. कथमिति चेत्**) कोई शका करता है कि यदि आत्मा को कर्ता

नहीं मानोगे तो 'यह घर मेरे द्वारा बनाया गया है' इत्यादि लोक व्यवहार क्यो होता है या कैसे बनेगा तो आचार्य उत्तर देते है कि (**न, आत्मनः परभावस्याकृतत्वात्**) आत्मा परभावो का कर्ता न होने से उक्त व्यवहार नही बन सकता है। (**आत्मा-जीवः**) जीव (**परभावस्य-परपर्यायस्य घटादे. कर्ता,**) पुद्गल द्रव्य की पर्याय रूप घट का कर्ता है। (**व्यवहारिणा व्यावहारिक पुरुषाणा**) व्यवहारी पुरुषो का (**अयं-आत्मा कर्तेत्यादि लक्षणः मोहः-विभ्रम.**) यह आत्मा कर्ता है इत्यादिरूप मोह-विभ्रम-विपरीतभ्रान्ति ही है। (**ये-खलु परद्रव्याणा परिणामा.-गोरसव्याप्तदधिदुग्धमधुराम्लवत् पुद्गलद्रव्य व्याप्तत्वेन भवन्तो ज्ञानावरणा-दीनि भवन्ति तानि तटस्थगोरसाध्यक्ष इव न नाम करोति ज्ञानी**) गोरस से व्याप्त दूध दधि मे मिठास और खटास के समान पुद्गलद्रव्य से व्याप्त होने के कारण ज्ञानावरण आदि रूप जो पुद्गलद्रव्य के परिणाम पर्याय विशेष होते है उन सबको तटस्थ गोरसाध्यक्ष के समान ज्ञानी निश्चय से नही करता है ॥१७॥

भावार्थ—आत्मा, मात्र अपने ज्ञान भाव का कर्ता है। ज्ञान के अतिरिक्त पर-पुद्गलजन्य-ज्ञाना-वरणादि कर्मों का कर्ता नही। वह तो मात्र उनका ज्ञाता ही है। जैसे गोरस से व्याप्त दुग्ध, दधि आदि का कर्ता गोरस ही है। गोरसाध्यक्ष नही। वह तो मात्र उनका ज्ञाता ही है। अतएव गृह आदि का बनाने वाला मैं हूँ यह व्यवहार भी निश्चय की दृष्टि मे मिथ्या ही है सम्यक् नही है। क्योकि गृह रूप परिणमन पुद्गल का पुद्गल मे पुद्गल से हुआ है अन्य तो मात्र उसके उस रूप परिणमन मे निमित्त ही है ॥१७॥

अब कोई आक्षेप पूर्वक पुद्गल कर्मों का कर्ता जीव है ऐसा कहता है—

जीवः करोति यदि पुद्गलकर्म नैव, कस्तर्हि तत्कुरुत इत्यभिशङ्कयैव।
एतर्हि तीव्ररयमोहनिवर्हणाय, सङ्कीर्त्यते शृणुत पुद्गलकर्मकर्तृ ॥१८॥

अन्वयार्थ—(**यदि**) यदि (**जीव.**) जीव (**पुद्गलकर्म**) पुद्गलकर्म-ज्ञानावरणादि को (**नैव**) नही (**करोति**)करता है (**तर्हि**) तो (**तत्**) उस पुद्गल कर्म को (**कः**) कौन (**करोति**) करता है (**इति**) इस प्रकार की (**अभिशङ्कया**) आशका से (**एव**) निश्चय से (**एतर्हि**) अब (**तीव्रस्यमोहनिवर्हणाय**) तीव्र वेग वाले मोह के विनाश के लिए (**सङ्कीर्त्यते**) कहते है कि (**पुद्गल कर्मकर्तृ**) पुद्गल-कर्म ज्ञानावरणादि का कर्ता कौन है (**यूयम्**) तुम लोग (**शृणुत**) ध्यान पूर्वक सुनो।

स० टी०—(**यदि ननु, जैन प्रत्याक्षिपति कश्चित्-**) जैन के प्रति कोई आक्षेप करता है कि यदि (**जीवः-आत्मा**) जीव-चैतन्य स्वरूप आत्मा (**पुद्गलकर्म-पुद्गलमय ज्ञानावरणादिकर्म**) पुद्गलकर्म-ज्ञानाव-रणादिरूप पुद्गलजन्य कर्मों को (**नैव-करोति-न निर्मापयति**) नही करता है-नही बनाता है (**तर्हि**) तो (**तत्-पुद्गलकर्म**)उस पुद्गल कर्म को (क) कौन(**कर्ता-कुरुते**) करता-बनाता है ? (**पुद्गलाना स्वयमचेतन-त्वात् कर्तृत्वानुपपत्तेः, अतएव आत्मैव कर्ता लक्ष्यते दक्षै.**) क्योकि पुद्गलद्रव्य स्वभाव से अचेतन जड है। अतएव वह कर्ता नही हो सकता। इसलिए आत्मा ही उनका कर्ता है ऐसा चतुर पुरुषो का कहना है। (**इति-अमुना प्रकारेण अभिशंकया-पूर्वपक्षाशङ्कया**) इस प्रकार पूर्वपक्ष की आशङ्का से (**एव-निश्चयेन**) निश्चय से (**एतर्हि-इदानीम्**) इस समय (**सङ्कीर्त्यते-निरूप्यते**) निरूपण करते हैं (**किमर्थम्**) किस लिए

(तीव्रेत्यादि-तीव्ररय.-तीव्र तीव्रतरानुभागः स चासौ मोहश्च विभ्रमः, तस्य निवर्हणं-विनाशनम् तस्मै) अत्यन्त तीव्र उदय वाले मोहनीय कर्म के विनाश के लिए **(शृणुत-आकर्णयत)** सूनो **(पुद्गलकर्म-पुद्गलात्मकं कर्म, द्रव्यभावरूप कर्तृ-पुद्गलपर्यायाणां कर्तृ निष्पादकम्)** पुद्गलमयकर्म जो द्रव्यभावरूप है वह पुद्गलपर्यायो का करता है **(आत्मा तु नैमित्तिको हेतुरस्तु)** आत्मा तो नैमित्तिक हेतु रहे। **(आत्मना कृतमिति तु व्यवहार.)** आत्मा के द्वारा किया गया यह तो मात्र व्यवहार है **(राज्ञा देशे गुणदोषौ कृतावित्यादिवत्)** देश मे होने वाले गुण और दोष जैसे राजा के द्वारा किये गये कहे जाते है **(योधैर्युद्धे कृते राज्ञाकृतमित्यादिवद्वा)** अथवा योधाओ से किया गया युद्ध जैसे राजा के द्वारा किया गया कहा जाता है वैसे ही पुद्गल से किये कर्म आत्मा से किये गये ऐसा व्यवहार मे कहा जाता है।

भावार्थ—परमार्थत पुद्गलकर्म का कर्ता पुद्गल ही होता है। आत्मा नही, क्योकि पुद्गल कर्म स्वभावत अचेतन है, वे पुद्गलरूप अचेतन के ही कर्म हो सकते हैं। जीव के नही। कारण कि जीव अपने चेतन कर्म का ही कर्ता होता है। अचेतन का नही जैसे राज्य मे प्रजा द्वारा किया गया अच्छा और बुरा कर्म राजा के द्वारा किया गया कहा जाता है। वैसे ही यहा कर्म के विषय मे समझना चाहिए कि कर्मों का कर्ता तो वस्तुत पुद्गल ही है, पर आत्मा के साथ उसका सम्वन्ध होने से आत्मा को उसका कर्ता कह दिया जाता है यह सब व्यवहार-उपचार है यथार्थ नही।

अब पुद्गल ही कर्म रूप परिणमन करता है यह सिद्ध करते हैं—

स्थितेत्यविघ्ना खलु पुद्गलस्य, स्वभावभूता परिणाम शक्तिः।
तस्यां स्थितायां स करोतिभावम्, यमात्मनस्तस्य स एव कर्ता ॥१६॥

अन्वयार्थ— **(इति)** पूर्वोक्त प्रकार से **(पुद्गलस्य)** पुद्गल द्रव्य की **(स्वभावभूता)** स्वभावरूप **(परिणाम शक्ति.)** परिणमन शक्ति **(खलु)** निश्चय से **(अविघ्ना)** निर्विघ्न रूप **(स्थिता)** स्थित-सिद्ध हुई। **(तस्याम्)** उस-परिणाम-शक्ति के **(स्थितायाम्)** स्थित-सिद्ध-होने पर **(स.)** वह-पुद्गल **(आत्मन.)** अपने **(यम्)** जिस **(भावम्)** परिणाम को **(करोति)** करता है **(तस्य)** उस-परिणाम-का **(कर्ता)** करनेवाला **(स)** वह-पुद्गल **(एव)** ही है।

स० टीका— **(खलु-इति वितर्के)** खलु यह अव्यय वितर्क अर्थ का वाचक है। यहा कोई वितर्क करता है कि— **(इति-पूर्वपक्ष प्रकारेण)** पूर्व पक्ष के अनुसार **(ननु पुद्गलद्रव्यं स्वयमवद्धं सज्जीवे कर्मभावेन न परिणमते तस्य सर्वथैकस्वभावत्वात् इति चेन्न)** पुद्गलद्रव्य स्वत अबद्ध होता हुआ जीव मे कर्मरूप से परिणमन नही कर सकता क्योकि वह सर्वथा एक स्वभाव वाला अपरिणमशील है। आचार्य उत्तर देते हैं कि तुम्हारा उक्त कथन ठीक नही है **(अपरिणामिनो नित्यस्यार्थ क्रियाकारित्व विरोधात्)** क्योकि अपरिणमनशील नित्य द्रव्य मे अर्थ क्रिया कारिता का विरोध है अर्थात् कूटस्थ नित्य द्रव्य मे अर्थ क्रिया नही हो सकती। **(अर्थक्रिया च क्रमयौगपद्याभ्या व्याप्ता ते च नित्यान्निवर्तमाने स्वव्याप्यामर्थक्रियामादायापि निवर्तेते)** अर्थ क्रिया, क्रम और यौग पद्य के साथ-व्याप्त है और वे क्रम और यौगपद्य जब नित्य से दूर होते हैं तब

अपने द्वारा व्याप्य अर्थक्रिया को लेकर ही दूर होते हैं (**साऽपि स्वव्याप्यं सत्वमादाय निवर्तते**) और वह अर्थक्रिया भी अपने द्वारा व्याप्य सत्वद्रव्य को लेकर हटती है (**जीवस्याबन्धे च संसाराभावात्**) और जीव मे वन्ध न होने पर ससार का अभाव होगा (**इति युक्त्या साख्यादिना कूटस्थ नित्यवादिना विघ्न कर्तु न शक्यते**) इस युक्ति से कूटस्थ नित्यवादी साख्य आदि विघ्न करने मे समर्थ नही हो सकते (**वस्तुस्वभावस्य निषेद्धुमशक्यत्वात्-ज्वलनौष्ण्यवत्**) क्योकि-अग्नि की उष्णता के समान-वस्तु के स्वभाव का निषेध नही किया जा सकता (**नन्वात्मा पुद्गलद्रव्यं कर्मत्वेन परिणमयति ततो न संसाराभाव इतिचेत्**) पूर्वपक्षी कहता है कि आत्मा पुद्गलद्रव्य को कर्मरूप से परिणमाता है इसलिए ससार का अभाव नही हो सकेगा। आचार्य कहते है कि यदि तुम्हारा कहना उक्त प्रकार से है (**तर्हि-**) तो-हम तुमसे ही पूछते है कि (**आत्मा स्वयम-परिणममानं परिणममानं वा तत्परिणामयेत् !**) आत्मा स्वत अपने आप मे परिणमन नही करने वाले को परिणमाता है या परिणमन करने वाले को ? ये दो पक्ष है। इनमे से (**न तावत्प्रावतनः पक्ष कक्षीकर्तव्यः प्रेक्षादक्षैः**) पहला पक्ष बुद्धिमान् विचारको को स्वीकार्य नही होना चाहिए क्योकि (**अपरिणममानस्यतस्य परेण परिणमयितुम-शक्यत्वात्**) जो स्वयमेव अपरिणमनशील हैं उसे दूसरा कोई भी परिणमाने मे समर्थ नही हो सकता। (**न हि स्वतोऽसतीशक्तिः कर्तुमन्येनपार्यते**) स्वत अविद्यमान शक्ति किसी दूसरे के द्वारा उत्पन्न नही की जा सकती। (**अथोत्तर. पक्ष.**) यदि आप दूसरा पक्ष स्वीकार व रे तो (**तद तस्य स्वयमेव परिणमनात् परापेक्षणायोगाच्च**) तव उस द्रव्य के स्वत परिणमन से और पर की अपेक्षा न रखने से ही (**तस्यपरिणामशक्तौ स्थिताया-व्यवस्थितायाम्**) उसकी परिणाम-परिणमन शक्ति के व्यवस्थित होने पर (**सोऽयं पुद्गलः, आत्मन·-स्वस्वरूपस्यय-भाव परिणामं करोति निष्पादयति,**) वह यह पुद्गल अपने जिस परि-णाम को करता-बनाता है (**तस्य भावस्य स एव पुद्गल एव कर्ता-कारक. नान्य ।**) उस परिणाम का वह पुद्गल ही करने वाला है, दूसरा नही ॥११॥

भावार्थ—कूटस्थ नित्यवादी साख्य ने यह आपत्ति उठाई थी कि पुद्गल द्रव्य स्वभावत अपरि-णमनशील है अतएव वह जीव के साथ स्वयमेव कर्मरूप से सम्बन्ध को प्राप्त नही हो सकता। उसका उत्तर देते हुए आचार्य ने कहा कि जो द्रव्य परिणमनशील नही है वह अर्थ क्रियाकारी भी नही हो सकता। और जो अर्थ क्रिया कारी नही होता वह द्रव्य भी नही हो सकता। ऐसी स्थिति मे ससार की व्यवस्था ही नही वन सकेगी। शायद तुम यह कहो कि आत्मा ही पुद्गल को कर्मरूप से परिणमाता है इसलिए ससार की व्यवस्था मे कोई वाधा नही होगी। तव आचार्य ने दो विकल्प उठाये—पहला यह कि क्या आत्मा-अपरिणामी पुद्गल को कर्म रूप से परिणमाता है ? यदि हा ऐसा कहोगे तो तुम्हारा कहना इस-लिए उचित नही होगा कि जो स्वय ही परिणमनशील नही है उसे दूसरा कोई भी परिणमन कराने मे समर्थ नही हो सकता। दूसरा विकल्प यह है कि परिणमनशील पुद्गल को आत्मा कर्मरूप मे परिणमाता है "क्या ?" यदि हा तव तो पुद्गल ही परिणमनशील हुआ ऐसी दशा मे पुद्गल मे परिणामशक्ति आप के द्वारा स्वत· ही स्वीकृत हुई उसके स्वीकृत होने से पुद्गल द्रव्य स्वय ही कर्मरूप से परिणमन करता है यह

बात सिद्ध हुई तब तो पुद्गल द्रव्य स्वय ही कर्म का करता सिद्ध हुआ आत्मा नही। क्योकि अचेतन कर्म का करता अचेतन ही होता है चेतन नही ॥१६॥

अब साख्य सम्मत जीव की नित्यता का निरसन (खण्डन) करते है—

स्थितेति जीवस्य निरन्तराया, स्वभावभूता परिणामशक्तिः।
तस्यां स्थितायां स करोति भावं, यं स्वस्य तस्यैव भवेत्स कर्ता ॥२०॥

अन्वयार्थ– (**इति**) पूर्वोक्त प्रकार से (**जीवस्य**) जीव-आत्मा-की (**निरन्तराया**) अन्तर विघ्नो से निर-रहित—अर्थात् निर्विघ्न (**स्वभावभूता**) स्वभाव स्वरूप (**परिणामशक्ति**) परिणमनशक्ति (**स्थिता**) स्थित-सिद्ध-हुई। (**तस्याम्**) उस परिणमन शक्ति के (**स्थितायाम्**) स्थित-सिद्ध होने पर (**स.**) वह आत्मा (**स्वस्य**) अपने (**यम्**) जिस (**भावम्**) भाव को (**करोति**) करता है (**स.**) वह आत्मा (**तस्य**) उस भाव का (**एव**) ही (**कर्ता**) करने वाला (**भवेत्**) होता है।

स० टी०—(**नन्वपरिणामी जीवस्तदा कूटस्थत्वादकारक· स्यात् यदि सोऽस्त्वकारको विक्रियश्चेति चेन्न, प्रमाणादीनामकर्तृकत्वात्तत्फलाभावप्रसङ्गात्**) यहा शकाकार साख्य कहता है कि जब जीव अपरिणामी है तब कूटस्थ हुआ और जब कूटस्थ हुआ तो अकारक हुआ और जब अकारक हुआ तो क्रिया रहित सिद्ध हुआ? उत्तर मे आचार्य कहते है कि तुम्हारा उक्त प्रकार का कहना युक्तियुक्त नही है क्योकि यदि जीव को अपरिणामी मानोगे तो वह प्रमाणादि का कर्ता न होने से प्रमाण आदि के फलाभाव का प्रसङ्ग उपस्थित होगा। (**न ह्यकारक कश्चित् प्रमाता**) साथ ही कोई अकारक प्रमाता नही होता है (**प्रमातृत्वाभावादात्मनोऽप्यभाव·**) प्रमातापन का अभाव होने पर आत्मा का भी अभाव होगा (**गुणाभावे हि गुणिनोऽप्यभावात्**) क्योकि गुण का अभाव होने पर गुणी का भी अभाव हो जाता है।

(**ननु स्वयमबद्धः सन् क्रोधादिभावेन न परिणमते, इति कश्चित्साख्य**) यहा कोई साख्य शंकाकार कहता है कि—जीव स्वभावत अबद्ध-कर्मों से बधा हुआ नही है अतएव क्रोधादिरूप से परिणमन नही करता है (**सोऽपि न विपश्चिद्दक्ष.**) आचार्यकहते हैं कि वह भी बुद्धिमान्-विचार चतुर नही है। (**तदपरिणामित्वे ससाराभावप्रसङ्गात्**) क्योकि जीव को अपरिणामी मानने पर ससार के अभाव का प्रसङ्ग उपस्थित होगा। (**यदि क्रोधादिसयोगभावेन परिणमत्यसौ जपाजालरक्त संयुक्त स्फटिकवदिति न संसाराभावः इति चेत्तर्हि क्रोधादि. स्वयमपरिणममान परिणममानं वा परिणामयेत्?**) शायद तुम यह कहो कि जैसे स्फटिक मणि स्वभाव से श्वेत होता है पर जपा कुसुम के सयोग से रक्तवर्ण हो जाता है वैसे ही यह जीव स्वभाव से तो निर्बन्ध होने के कारण क्रोधादि से शून्य है पर क्रोधादि के सयोग से क्रोधादिरूप हो जाता है तो हम तुमसे पूछते हैं कि क्रोधादि, अपरिणमनशील जीव को परिणमाते हैं या परिणमनशील जीव को? (**न तावदाद्य पक्षो लक्ष्यो विपक्षै.**) उनमे से पहला पक्ष बुद्धिमान् विपक्षो को नही देखना चाहिए (**स्वयमपरिणममानस्य परै. कारणान्तरसहस्रैर्वज्रावगाहवत् परिणमयितुमशक्यत्वात्**)

क्योकि जो स्वय खुद-ब-खुद परिणमनशील नही है उसे कोई हजारो विभिन्न कारणो से भी परिणमन नही करा सकता वज्रावगाह के समान (**अथोत्तरस्तर्हि सिद्धं न. समीहितम्**) यदि दूसरा पक्ष आपको स्वीकार है तो हमारा अभिमत सिद्ध हुआ। क्योकि हम तो जीव को परिणामी मानते ही हैं उसे आपने भी मान लिया अतएव जीव मे भी परिणमन शक्ति सिद्ध हुई। (**इत्युक्तयुक्त्या जीवस्य-आत्मनः**) इस प्रकार पूर्वोक्त युक्ति से जीव-आत्मा की (**या**) जो (**परिणामशक्ति.-ज्ञानावरणादि परिणमन सामर्थ्यम्**) परिणाम शक्ति ज्ञानावरण आदि रूप परिणमन करने की सामर्थ्य (**सा**) वह (**स्थिता**) स्थित सिद्ध-हुई। (**किम्भूता**) कैसी (**निरन्तरा-निर्विघ्ना-विघ्नवर्जिता**) निर्विघ्न (**पुनः कीदृशा**) फिर कैसी (**स्वभावभूता-पारमार्थिकी परानपेक्षत्वात्**)स्वभावरूप-दूसरेकी अपेक्षा न रखने से-परमार्थरूप(**तथा चोक्तमष्टसहस्रयाम्**) ऐसा ही अष्टसहस्री मे कहा है कि—(**"कारणस्य कार्यात्मनो भवत क्षेपायोगात् स्वभावान्तरानपेक्षणात्"**) क्योकि स्वय ही कार्यरूप मे परिणमन करने वाले कारण को किसी दूसरे स्वभाव की अपेक्षा नही होती है।

(**यस्यां-स्वभावभूताया परिणामशक्तौ स्थितताया सत्याम्**) उस स्वभावरूप परिणाम शक्ति के स्थित सिद्ध होने पर (**स-जीव.**) वह जीव (**य-ज्ञानादिलक्षणं स्वस्य-आत्मनः-भावं-स्वभावम्**) ज्ञानादि लक्षण-रूप आत्मा के जिस भाव परिणाम को (**करोति-सृजति**) करता-रचता है (**स जीवः तस्यैव ज्ञानादि लक्षणस्य भावस्य न पुनरन्यस्य कर्ता-कारक. भवेत्-स्यात्**) वह जीव उस ही ज्ञानादि स्वरूप भाव का कर्ता-करने वाला होता है अन्य का नही ॥२०॥

भावार्थ—जीव भी स्वभावतः परिणमनशील है अतएव उसका जो परिणाम समय प्रतिसमय होता है उसका कर्ता भी वही जीव होता है उससे भिन्न कोई भी द्रव्य उसके उस परिणाम का कर्ता नही होता है कारण कि अन्य द्रव्य के परिणमन का कर्ता अन्य द्रव्य नही होता है यह सिद्धान्त पूर्व मे युक्तियुक्त रूप से सिद्ध किया जा चुका है।

अब ज्ञानी के ज्ञानमय और अज्ञानी के अज्ञानमय भाव क्यो होते है ? यह दो पद्यो द्वारा प्रकट करते हैं—

ज्ञानमय एव भावः कुतोभवेद् ज्ञानिनो न पुनरन्यः।
अज्ञानमयः सर्वः कुतोऽयमज्ञानिनो नान्यः ॥२१॥

अन्वयार्थ—(**ज्ञानिनः**) ज्ञानी के (**ज्ञानमयः**) ज्ञानरूप (**एव**) ही (**भावः**) भाव (**कुत**) किस कारण से (**भवेत्**) होता है (**पुन**) और (**अन्य.**) अज्ञानमय (**भाव**) भाव (**कुतः**) किस कारण से (**न**) नही होता है। (**अज्ञानिन**) अज्ञानी के (**सर्व.**) सभी (**अज्ञानमय.**) अज्ञान रूप (**अयम्**) यह (**भावः**) भाव (**कुत**) किस कारण से (**भवेत्**) होता है (**अन्य**) अज्ञान से भिन्न ज्ञानरूप (**भावः**) भाव (**कुतः**) किस कारण से (**न**) नही (**भवेत्**) होता है ? (यहा यह प्रश्न होता है)

सं० टीका—(**ज्ञानिनः पुंसः**) ज्ञानी पुरुष के (**ज्ञानमय एव बोध निर्वृत्त एव**) ज्ञानमय-ज्ञान से निर्मित-ही (**कुत-कस्माद्धेतो**) किस कारण से (**भवेत्-स्यात्**) होता है ? (**पुनः**) और (**अन्यो-भावः**)

अज्ञानमय भाव (**कुतो**) किस कारण से (**न**) नही (**स्यात्**) होता है ? (**अज्ञानिनः-ज्ञानत्यक्तस्य**) ज्ञान से रहित के (**तु**) तो (**अयं-प्रसिद्धो ममत्वादि लक्षणः**) यह प्रसिद्ध ममत्वरूप (**सर्वः-समस्तः**) समस्त (**अज्ञान-मयः-अज्ञाननिर्वत्तो भावः**) अज्ञान से निर्मित भाव (**कुतो हेतोर्भवेत्**) किस कारण से होता है (**न पुनरन्यः-ज्ञानादिलक्षणः**) अन्य ज्ञानादि स्वरूप भाव (**कुतो न भवेत्**) क्यों नही होता है ?

भावार्थ—यहाँ पर सवाल है ज्ञानमय भाव कौन से है और अज्ञानमय भाव कौन से हैं और अज्ञानी के अज्ञानमय और ज्ञानी के ज्ञानमय भाव ही क्यो होते है। रागादि शुभभाव अथवा अशुभभावो का होना अज्ञानमयी भाव नही है चाहे द्रव्यलिंगी का उच्च कोटी का शुभ भाव होवे अथवा नरक के नारकी का तीव्र कृष्ण लेश्यायुक्त अशुभ भाव हो ये अज्ञानभाव नही है, इसी प्रकार शरीर की अशुभरूप क्रिया हो चाहे शुभरूप क्रिया हो यह अज्ञानरूप नही हैं। अज्ञान भाव तो तव कहलाता है जब उन शुभ अशुभ भावो मे यह अपनापना-एकत्वपना, स्वामित्वपना-अहम्पना मानता है। अपने ज्ञानस्वभाव का मालिक न बनके पर्याय मे होने वाले शुभ-अशुभ भावो से एकत्व बुद्धि करता है अपनापना स्थापित करता है वह विकारी भावो मे एकत्वपना-अपनापना ही अज्ञानभाव है।। विकारी भाव अज्ञान भाव नही है विकारी भावो मे अपनापना अज्ञान भाव है। क्योकि ज्ञानी अपने ज्ञान स्वभाव का मालिक है उसमे अपनापना एकत्वपना है इसलिए कर्मकृत शुभ-अशुभ भावो मे अपनापना-एकत्वपना नही है इसलिए ज्ञानी के अज्ञान-मय भाव नही होते। अज्ञानी क्योकि अपने निजभाव को नही पहचानता है इसलिए विकारी भावो मे अपनापना जरूर है इसलिए अज्ञानी के सभी भाव चाहे वह द्रव्यलिंगी के शुक्ल लेश्यारूप ही क्यो न हो अज्ञानमयी भाव है और ज्ञानी के चाहे नारकी के कृष्ण लेश्या रूप ही क्यो न हो ज्ञानमय भाव है क्योकि उस नारकी सम्यक्दृष्टि के उन भावो मे भी अपनापना नही है अपने निज जाननरूप भाव मे ही अपनापना है। यही कारण है कि छ खण्ड के चक्रवर्ती के भोगो के भाव को भी अज्ञानरूप नही कहा और द्रव्यलिंगी के परिणामो को अज्ञानरूप कहा है यह विचित्रता समझे तो तत्त्व समझ मे आये।

अब उक्त प्रश्न का युक्तिपूर्ण उत्तर देते हैं—

ज्ञानिनो ज्ञान निर्वृत्ताः सर्वे भावा भवन्ति हि।
सर्वेऽप्यज्ञाननिर्वृत्ता भवन्त्यज्ञानिनस्तु ते ॥२२॥

अन्वयार्थ—(**हि**) निश्चय से (**ज्ञानिनः**) ज्ञानी के (**सर्वे**) सभी (**भावाः**) भाव (**ज्ञाननिवृत्ताः**) ज्ञान से रचे हुए (**भवन्ति**) होते हैं। (**तु**) और (**अज्ञानिन.**) अज्ञानी के (**ते**) वे (**सर्वेऽपि**) सभी भाव (**अज्ञान-निवृत्ताः**) अज्ञान से रचे हुए (**भवन्ति**) होते हैं।

सं० टी०—(**हीति-यस्मात् कारणात्**) जिस कारण से (**ज्ञानिन. पुसः**) ज्ञानी पुरुष के (**सर्वे-निखिलाः**) सब-निखिल (**भावाः-परिणामाः**) भाव-परिणाम (**ज्ञाननिर्वृत्ताः-ज्ञाननिष्पन्नाः**) ज्ञान से-निष्पादित-रचित (**भवन्ति-जायन्ते**) होते हैं (**ज्ञानाद्-ज्ञाननिर्वृत्ता एव भावा**) ज्ञान से, ज्ञानरचित भाव ही (**यथा जम्बूनद जातितो जाम्बूनद पात्र कुण्डलादयः**) जैसे जन्बूनद जाति-सुवर्ण की जाति-से जम्बूनद-

सुवर्ण के पात्र-भाजन वर्तन तथा कुण्डल आदि । **(तु-पुनः)** किन्तु **(अज्ञानिनः-पुंसः)** अज्ञानी पुरुष के **(ते-प्रसिद्धाः अहंकारादयः)** वे-प्रसिद्ध अहङ्कार आदि **(सर्वेऽपि-समस्ता अपि)** समस्त **(अज्ञाननिर्वृत्ता ये अज्ञान-मया एव)** अज्ञान रूप ही **(भवन्ति-जायन्ते)** होते है **(यथा कालायसमयाद्भावात् कालायसपात्रवलयादयः)** जैसे लोहमय भाव से लोहमय वर्तन, कडा आदि **(तथाऽज्ञानतस्तु अज्ञाननिर्वृत्ता एव भावाः)** वैसे ही अज्ञान से तो अज्ञानमय ही भाव होते है । **(तथाचोक्तम्)** कहा भी है—

द्वैताद् द्वैतमद्वैतादद्वैतं खलु जायते ।
लोहाल्लोहमयं पात्रं हेम्नोहेममयं तथा ॥

अर्थात् **(यथा)** जैसे **(द्वैतात्)** द्वैत से **(द्वैतम)** द्वैत **(अद्वैताद्)** अद्वैत से **(अद्वैतं)** अद्वैत **(जायते)** उत्पन्न होता है **(लोहात्)** लोह से **(लोहमयम्)** लोह रूप **(पात्रम्)** भाजन-बर्तन **(जायते)** उत्पन्न होता है **(हेम्नः)** सुवर्ण से **(हेममयम्)** हेम-सुवर्ण रूप **(पात्रम्)** पात्र –**(जायते)** होता है ।

अन्वयार्थ –जैसे स्वर्ण जाति से स्वर्णमय, लोह जाति से लोहमय,-ही कुण्डल, कडा आदि बनते है, उनसे भिन्न जाति के नही वैसे ही ज्ञानी के ज्ञान से बने हुए ज्ञानरूप ही भाव होते हैं, अज्ञानरूप नही । और अज्ञानी के अज्ञानरूप ही भाव होते हैं, ज्ञानरूप नही । द्वैत से द्वैत ही बनता है, अद्वैत नही । और अद्वैत से अद्वैत ही बनता है, द्वैत नही । यही तो यथार्थ वस्तु स्थिनि है अन्य नही और अन्य प्रकार नही ।

अब अज्ञान से ही कर्मबन्ध होता है यह दिखाते हैं—

अज्ञानमयभावानामज्ञानी व्याप्य भूमिकाम् ।
द्रव्यकर्मनिमित्तानां भावानामेति हेतुताम् ॥२३॥

अन्वयार्थ—**(अज्ञानी)** अज्ञानी-ज्ञानस्वरूप से विपरीत पुरुष **(अज्ञानमय भावानाम्)** अज्ञानमय भावो की **(भूमिकाम्)** भूमि को **(व्याप्य)** व्याप्त करके **(द्रव्यकर्म निमित्तानाम्)** द्रव्यकर्म-ज्ञानावरणादि के निमित्तरूप **(भावानाम्)** भावो की **(हेतुताम्)** हेतुत्व को **(एति)** प्राप्त करता है ।

सं० टीका – **(अज्ञानी-ज्ञानच्युतः पुमान्)** ज्ञान से पतित पुरुष **(एति-प्राप्नोति)** प्राप्त करता है **(काम् ?)** किसको **(हेतुता-कारणताम्)** कारणता को **(केषाम्)** किनकी **(द्रव्येत्यादि-द्रव्यकर्मणा ज्ञाना-वरणादीना निमित्तानि-कारणानि तेषा भावाना पर्यायाणा-मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगप्रमादादि रूपाणाम्)** द्रव्यकर्म-ज्ञानावरण आदि के निमित्त-कारण-भूत मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, योग और प्रमाद आदि रूप भावो की **(किं कृत्वा)** क्या करके **(व्याप्य-प्राप्य)** प्राप्त करके **(काम् ?)** किसको **(भूमिका-स्थानम्)** भूमि का स्थान-को **(केषाम् ?)** किनके **(अज्ञानमय भावाना-मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगलक्षणानाम्)** मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग स्वरूप अज्ञानरूप भावो की ॥२३॥

भावार्थ –मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये पाच भाव, कर्मबन्ध के हेतु है । इनमे मिथ्यात्व भाव ही अज्ञानमय भाव है क्योकि इसके होते हुए जीव को यथार्थ पदार्थ का यथार्थ ज्ञान नही हो पाता किन्तु विपरीत-अयथार्थ-जो वस्तु जैसी है उसका वैसा ज्ञान नही कर, उससे उल्टा ही ज्ञान होता

है। अतएव वह अनन्त ससार के वन्ध मे कारण होता है। इस मिथ्यात्व के नाश होते ही सम्यक्त्व का प्रादुर्भाव होता है। सम्यक्त्व के होने पर ज्ञान अपने यथार्थ स्वरूप मे प्रकाशमान होने लगता है तव अज्ञान का अर्थ विपरीत ज्ञान न होकर अल्पज्ञान होता है और केवलज्ञान का अभाव भी होता है। सम्यक्त्व सहचर ज्ञान वन्ध का कारण नही होता क्योकि वह आत्मा का स्वभावभूत ज्ञान है और जो स्वभाव होता है वह वन्ध का कारण नही होता। यदि स्वभाव ही वन्ध कारण मान लिया जाय तो मुक्ति की प्राप्ति ही दुर्लभ हो जावेगी, दुर्लभ ही नही प्रत्युत असम्भव हो जावेगी अत मिथ्यात्व के अभाव के पश्चात् अविरति आदि ही वन्ध के कारण होते हैं ऐसा समझना चाहिए ॥२३॥

अव नयो के पक्षपात का निपात सुख का कारण है यह निरूपण करते हैं—

य एव मुक्त्वा नयपक्षपातं स्वरूपगुप्ता निवसन्ति नित्यम्।
विकल्पजालच्युतशान्तचित्तास्त एव साक्षादमृतं पिवन्ति ॥२४॥

अन्वयार्थ—(ये) जो भव्य पुरुष (**नयपक्षपातम्**) नय के पक्षपात को (**मुक्त्वा**) छोड कर (**नित्यम्**) हमेशा (**एव**) ही (**स्वरूपगुप्ता**) अपने चैतन्य स्वरूप मे मग्न (**निवसन्ति**) रहते हैं। (**विकल्पजालच्युत-शान्तचित्ता**) विकल्पो रागद्वेषजनित इष्ट और अनिष्ट कल्पनाओ से रहित अतएव शात चित्त वाले (**ते**) वे भव्य पुरुष (**एव**) ही (**साक्षात्**) प्रत्यक्ष रूप से (**अमृत**) अमृत को (**पिवन्ति**) पीते हैं।

स० टीका (**य एव योगिन.**) जो योगी-साधु महापुरुष (**निवसन्ति-तिष्ठन्ति**) स्थित रहते हैं (**नित्य-निरन्तरम्-आजन्मपर्यन्तम्**) निरन्तर हमेशा जीवनपर्यन्त (**किम्भूता सन्त**) कैसे होते हुए ? (**स्वरूपगुप्ता -स्वरूपे-निजचिद्रूपे गुप्तिर्गोपन येषा ते**) अपने चैतन्य स्वरूप मे जिनका गुप्ति-गोपन-रक्षण है यहा (**'अभ्रादिव्यः इति'**)-इस (**जैनेन्द्र-सूत्रेण**) जैनेन्द्र व्याकरण के सूत्र से (**अस्त्यर्थे अः**) अस्ति के अर्थ मे 'अ' प्रत्यय होता है। (**किं कृत्वा ?**) क्या करके (**मुक्त्वा-हित्वा**) त्याग करके (**कम्-**) किसको (**नयपक्षपातम्-नयाना-अपि कर्म वद्धमवद्ध चेत्यादि रूपाणा, नयेषु वा पक्षपात -ममत्वाभिनिवेशस्तम्**) आत्मा कर्मो से वधा हुआ है और कर्मो से वधा हुआ नही है इत्यादि नानाविध रूप नयो के अथवा नयो मे पक्षपात-ममत्वरूप परिणाम-को (**त एव पुरुषा.**) वे ही पुरुष (**नय मुक्त्वा-**) नय को छोडकर (**पिवन्ति-पानं कुर्वन्ति-आस्वादयन्तीत्यर्थ.**) पान करते आस्वादन करते हैं। (**साक्षात्-प्रत्यक्षम्**) प्रत्यक्षरूप से (**किम् ?**) किसे (**अमृत-न म्रियते येन परमात्मध्यानेन तदमृतम्-परमात्मध्यातुर्मुक्तिनिवासित्वेनमरणानिवर्हकत्वात्**) परमात्मा के जिस ध्यान से मरण नही होता है वह अमृत कहा जाता है अर्थात् क्योकि परमात्मा के ध्याता का मुक्ति मे निवास मरण का निरोधक है (**किम्भूताः सन्त**) कैसे होते हुए ? (**विकल्पेत्यादि.—विकल्पाना जाल समूह. तेन च्युतं-रहितं शान्तं-उपशमं प्राप्तं-चित्त मानस येषान्ते**) जिनका चित्त नाना विकल्पो से रहित होने के कारण अत्यन्त शान्त है ॥२४॥

भावार्थ—आत्मा कर्मो से बँधा हुआ है यह व्यवहार नय का कथन है। आत्मा कर्मो से बँधा हुआ नही है यह निश्चयनय का अपना विवेचन है। ये दोनो नय अपने-अपने विषय मे सम्यक् हैं जब ये सापेक्ष

हो पर जब दोनों मे से किसी एक को ही दूसरे की अपेक्षा न करते हुए मुख्य रूप दे दिया जाता है तब वही नय मुक्ति मे बाधक सिद्ध होता है क्योकि मुक्ति का मार्ग तो एक ही है पर उसके साधन दो हैं एक निश्चयरूप और दूसरा व्यवहार रूप। निश्चयरूप साधन मुख्य है और व्यवहार रूप साधन गौण है इनमे से जब किसी एक को ही निरपेक्ष रूप से अपनाया जाता है और दूसरे की ओर दृष्टि डालकर भी नही देखा जाता है तब आत्मा मुक्ति से अनन्तो कोश दूर रह जाता है अत साधक का कर्तव्य हो जाता है कि वह दोनो के पक्ष को छोडकर आत्मसाधना के मार्ग पर आरूढ हो ।।२४।।

अब नयो का पक्षपात क्या है ? और उसका त्याग क्या है ? इसका वर्णन करते है—

एकस्यबद्धो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ।।२५।।

अन्वयार्थ—(**आत्मा**) आत्मा (**एकस्य**) एक व्यवहार नय की अपेक्षा से (**बद्धा**) कर्मो से बँधा हुआ है (**तथा**) और (**अपरस्य**) दूसरे निश्चय नय की अपेक्षा से (**बद्धः**) कर्मों से बँधा हुआ (**न**) नही है (**इति**) इस प्रकार से (**चिति**) चैतन्य स्वरूप आत्मा के विषय मे (**द्वयोः**) दोनो-व्यवहार और निश्चय-नयो के (**द्वौ**) दो (**पक्षपातौ-पक्षपातः**) पक्षपात है (**यः तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातः**) जो तत्त्ववेत्ता पक्षपात रहित है (**तस्य**) उस तत्त्वज्ञ के (**खलु**) निश्चय से (**नित्यम्**) हमेशा (**चित्**) चित्स्वरूप आत्मा (**चिदेव**) चित्स्वरूप आत्मा ही है।

स० टी०—(**एकस्य-व्यवहारिकनयस्य पर्यायार्थिकसंज्ञकस्य नयस्याभिप्रायेणात्मा बद्धः-कर्मभिर्नि-बद्धः**) एक व्यवहारिक अपर नाम पर्यायार्थिक-नय के अभिप्राय से आत्मा कर्मो से बँधा हुआ है (**तथा-तेनैव प्रकारेण, परस्य-निश्चयनयस्य-द्रव्यार्थिकसंज्ञकस्य नयस्याभिप्रायेणात्मा न बद्ध. कर्मभि.**) वैसे ही दूसरे निश्चय अपर नाम द्रव्यार्थिक नय के अभिप्राय से आत्मा कर्मो से बँधा हुआ नही है। (**इति-अमुना-प्रकारेण**) इस प्रकार से (**चिति-चिद्रूपे**) चैतन्य स्वरूप आत्मा मे (**द्वयोः-उभयोर्नययो.-द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिकयो.**) दोनो-द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयो के (**द्वौ-उभौ**) दो— (**पक्षपातौ-अभिनिवेशौ स्तः**) पक्ष-पात-अभिप्राय हैं (**य.-कश्चित्**) जो कोई (**तत्त्ववेदी-परमार्थवेत्ता सन्**) यथार्थ वस्तु स्वरूप का ज्ञाता होता हुआ (**च्युतपक्षपात.-बद्धेतरयोर्नययो. पक्षपातरहित' भवतीत्यध्याहार्यम्**) बद्ध और अबद्ध नयो के पक्षपात-अभिप्राय-से रहित है "यहाँ भवति इस क्रिया का अध्याहार किया है" (**तस्य**) उस (**तत्त्ववेदिनः**) तत्त्व-वेदी के (**खलु-इति-नियमेन**) नियम से "यहा खलु अव्यय नियम अर्थ मे आया है" (**नित्यं-निरन्तरम्**) निरन्तर-हमेशा (**चित्-चैतन्यम्**) चैतन्य (**चिदेव-ज्ञानस्वरूपमेव**) ज्ञान स्वरूप ही (**अस्ति-भवति**) है (**साक्षात् केवलज्ञानीभवतीति यावत्**) जब तक साक्षात्-प्रत्यक्षरूप से केवलज्ञानी होता है ।।२५।।

भावार्थ—नय सम्बन्धी राग आखिर राग ही तो है जब तक राग है तब तक वीतराग नही कहा जा सकता या हो सकता क्योकि केवली होने के लिए पूर्व वीतराग होना अत्यन्त आवश्यक है इसलिए शुद्ध नय का भी पक्ष-राग नही होना चाहिए। राग का पूर्वरूपेण अभाव ही वीतराग है और वही केवल-ज्ञान के होने मे पूर्णतया सक्षम कारण है बिना उसके हुए केवलज्ञानावरण कर्म का क्षय नही हो सकता

और उसके क्षय के बिना केवलज्ञान का अखण्ड प्रताप और प्रकाश कथमपि सम्भव नही। अत नय का राग भी हेय है ॥२५॥

बद्ध और अबद्ध नय के पक्ष के समान अन्य का पक्ष भी हेय है यह बताते है—

एकस्य मूढ़ो न तथापरस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥२६॥

अन्वयार्थ—(आत्मा) आत्मा (**एकस्य**) एक नय का (**मूढ**) मोह करने वाला (**अस्ति**) है (**तथा**) वैसे ही (**अपरस्य**) दूसरे नय का (**मूढ.**) मोह करने वाला (**न**) नही (**अस्ति**) है (**इति**) इस तरह से (**द्वयो**) दोनो नयो का (**चिति**) चैतन्य स्वरूप आत्मा के विषय मे (**द्वौ**) दो (**पक्षपातौ**) पक्षपात-अभिप्राय (**स्त.**) है (**य**) जो (**तत्त्ववेदी**) यथार्थ पदार्थ का ज्ञाता (**च्युतपक्षपात**) दोनो नयो के पक्ष व्यामोह-से रहित (**अस्ति**) है (**तस्य**) उसके (**खलु**) नियम से (**नित्यम्**) हमेशा (**चित्**) चित स्वरूप जीव (**चिदेव**) चित्स्वरूप ही (**अस्ति**) है (मोही और अमोही दोनो से रहित जैसा है वैसा मात्र अनुभव मे आता है) ॥२६॥

पुनश्च—

एकस्य रक्तो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥२७॥

अन्वयार्थ—(**जीव**) जीव (**एकस्य**) एक नय के विषय (**रक्त**) रागी (**अस्ति**) है। (**तथा**) और (**परस्य**) दूसरे नय के विषय मे (**रक्त.**) रागी (**नास्ति**) नही है। (**इति**) इस तरह से (**द्वयो**) दोनो नयो का (**चिति**) चैतन्य स्वरूप जीव के विषयें (**द्वौ**) दो (**पक्षपातौ**) पक्षपात (**स्त**·) है, किन्तु (**यः**) जो (**तत्त्ववेदी**) तत्त्व को जानने वाला (**च्युतपक्षपात.**) उक्त प्रकार के पक्षपात से रहित है (**तस्य**) उसके (**नित्य**) निरन्तर (**खलु**) निश्चय से (**चित्**) चित्स्वरूप जीव (**चित्**) चित्स्वरूप (**एव**) ही (**अस्ति**) है ॥२७॥

पुनश्च —

एकस्य दुष्टो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥२८॥

अन्वयार्थ- (**आत्मा**) जीव (**एकस्य**) एक नय से (**दुष्ट.**) द्वेषी (**अस्ति**) है (**तथा**) और (**परस्य**) दूसरे नय से (**दुष्ट**) द्वेषी (**नास्ति**) नही है (**इति**) इस प्रकार से (**चिति**) चैतन्य स्वरूप आत्मा के विषय मे (**द्वयो**) दोनो नयो के (**द्वौ**) दो (**पक्षपातौ**) पक्षपात (**स्त**) हैं किन्तु (**य**) जो (**तत्त्ववेदी**) तत्त्वज्ञ (**च्युतपक्षपात**) पक्षपात से शून्य (**अस्ति**) है (**तस्य**) उसके (**नित्यम्**) सदा— (**खलु**) नियम से (**चित्**) चैतन्य स्वरूप आत्मा (**चित्**) चैतन्य रूप (**एव**) ही (**अस्ति**) है ॥२८॥

पुनश्च—

एकस्य कर्ता न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥२९॥

अन्वयार्थ—(जीवः) जीव (एकस्त) एक नय से (कर्ता) कर्ता (अस्ति) है (तथा) और (परस्य) दूसरे नय से (कर्ता) कर्ता (नास्ति) नही है (इति) इस प्रकार से (चिति) चैतन्य के विषय मे (द्वयो) दोनो नयो के (द्वौ) दो (पक्षपातौ) पक्षपात (स्तः) है परन्तु (यः) जो (तत्त्ववेदी) तत्त्वज्ञ (च्युतपक्षपातः) दोनो के पक्षपात से रहित है (तस्य) उसके (नित्यम्) हमेशा (खलु) नियम से (चित्) चैतन्य स्वरूप आत्मा (चित्) चैतन्य स्वरूप (एव) ही (अस्ति) है ॥२९॥

पुनश्च—

एकस्य भोक्ता न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥३०॥

अन्वयार्थ—(एकस्य) एक नय का पक्ष है (भोक्ता) जीव भोगने वाला (अस्ति) है (तथा) और (परस्य) दूसरे नय का पक्ष है जीव (भोक्ता) भोगने वाला (नास्ति) नही है (इति) इस प्रकार (चिति) चित्स्वरूप जीव के सम्बन्ध मे (द्वयोः) दो नयो के (द्वौ पक्षपातौ) दो पक्षपात है (यः) जो पुरुष (तत्त्ववेदी) तत्त्व को जानने वाला (च्युतपक्षपात·) पक्षपात से रहित है (तस्य) उस तत्त्वज्ञ के (खलु) निश्चय से (नित्यम्) सदा (चित्) चैतन्यस्वरूप आत्मा (चिदेव) चैतन्यरूप ही (अस्ति) है ॥३०॥

पुनश्च—

एकस्य जीवो न तथा परस्य चितिद्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यतस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥३१॥

अन्वयार्थ—(एकस्य) एक नय के (जीव) जीव जीव (अस्ति) है (तथा) और (परस्य) दूसरे नय के (जीवः) जीव जीव (नास्ति) नही है (इति) इस प्रकार से (चिति) चैतन्यरूप आत्मा के विषय मे (द्वयोः) दोनो नयो के (द्वौ) दो (पक्षपातौ) पक्षपात (स्त) है। किन्तु (यः) जो (तत्त्ववेदी) तत्त्व को जानने वाला (च्युतपक्षपातः) पक्षपात से रहित (अस्ति) है (तस्य) उसके (खलु) नियम से (नित्यम्) हमेशा (चित्) चैतन्य स्वरूप आत्मा (चिदेव) चैतन्य रूप ही (अस्ति) है ॥३१॥

पुनश्च—

एकस्य सूक्ष्मो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥३२॥

अन्वयार्थ—(एकस्य) एक नय के (सूक्ष्मः) जीव सूक्ष्म (अस्ति) है (तथा) और (परस्य) दूसरे नय के (नास्ति) सूक्ष्म नही है (इति) ये (द्वयो·) दोनो नयो के (द्वौ) दो (पक्षपातौ) पक्षपात (स्त.) है किन्तु (य·) जो (तत्त्ववेदी) तत्त्वज्ञ (च्युतपक्षपातः) पक्षपात से रहित (अस्ति) है (तस्य) उसके (खलु) नियम से (नित्यम्) हमेशा (चित्) चैतन्यस्वरूप आत्मा (चिदेव) चेतन्यस्वरूप आत्मा ही (अस्ति) है ॥३२॥

पुनश्च—

एकस्य हेतुर्न तथा परस्य चितिद्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ।।३३।।

अन्वयार्थ--(**एकस्य**) एक नय के (**हेतुः**) जीव हेतु (**अस्ति**) है (**तथा**) और (**परस्य**) दूसरे नय के (**हेतु**) हेतु (**नास्ति**) नही है (**इति**) इस तरह से (**चिति**) आत्मा के विषय मे (**द्वयोः**) दोनो नयो के (**द्वौ**) दो (**पक्षपातौ**) पक्षपात (**स्तः**) है किन्तु (**यः**) जो (**तत्त्ववेदी**) तत्त्व को जानने वाला (**च्युतपक्षपात·**) पक्षपात से शून्य है (**तस्य**) उसके (**खलु**) नियम से (**नित्यम्**) सदा (**चित्**) आत्मा (**चित्**) आत्मा (**एव**) ही (**अस्ति**) है ।।३३।।

पुनश्च—

एकस्य कार्यं न तथा परस्य चितिद्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ।।३४।।

अन्वयार्थ—(**एकस्य**) एक नय के (**कार्यम्**) जीव कार्य (**अस्ति**) है (**तथा**) और (**परस्य**) दूसरे नय के (**कार्यम्**) कार्य (**न**) नही (**अस्ति**) है । (**इति**) इस तरह से (**चिति**) आत्मा के विषय मे (**द्वयो.**) दोनो नयो के (**द्वौ**) दो (**पक्षपातौ**) पक्षपात है किन्तु (**य·**) जो (**तत्त्ववेदी**) तत्त्व को जानने वाला (**च्युतपक्षपातः**) पक्षपात से शून्य है (**तस्य**) उसके (**खलु**) निश्चय से (**नित्यम्**) हमेशा (**चित्**) आत्मा (**चित्**) आत्मा (**एव**) ही (**अस्ति**) है ।।३४।।

पुनश्च—

एकस्य भावो न तथा परस्य चितिद्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ।।३५।।

अन्वयार्थ—(**एकस्य**) एक नय के (**भाव**) जीव भाव (**अस्ति**) है (**तथा**) और (**परस्य**) दूसरे नय के (**भाव.**) भाव (**नास्ति**) नही है (**इति**) इस तरह से (**चिति**) आत्मा के विषय मे (**द्वयो**) दोनो नयो के (**द्वौ**) दो (**पक्षपातौ**) पक्षपात (**स्त.**) है । किन्तु (**य**) जो (**तत्त्ववेदी**) तत्त्व को जानने वाला (**च्युतपक्षपातः**) पक्षपात से रहित (**अस्ति**) है (**तस्य**) उसके (**खलु**) नियम से (**नित्यम्**) सदा (**चित्**) आत्मा (**चित्**) चित्-स्वरूप (**एव**) ही (**अस्ति**) है ।।३५।।

पुनश्च—

एकस्य चैको न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ।।३६।।

अन्वयार्थ—(**आत्मा**)- (**एकस्य**) एक नय के (**एकः**) एक (**अस्ति**) है (**तथा**) और (**परस्य**) दूसरे नय के (**एक.**) एक (**न**) नही (**अस्ति**) है अर्थात् अनेक है (**इति**) इस प्रकार से (**चिति**) चैतन्य के विषय मे (**द्वयोः**) दोनो नयो का (**द्वौ**) दो (**पक्षपातौ**) पक्षपात (**स्त**) है । किन्तु (**यः**) जो (**तत्त्ववेदी**) तत्त्वज्ञ पुरुष

(च्युतपक्षपातः) दोनो नयो के पक्षपात से रहित (अस्ति) है (तस्य) उसके (खलु) नियम से (नित्यम्) सदा (चित्) आत्मा (चित्) चित्स्वरूप (एव) ही (अस्ति) है ॥३६॥

पुनश्च—

एकस्य सान्तो न तथा परस्य चितिद्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥३७॥

अन्वयार्थ—(एकस्य) एक नय के (सान्त) आत्मा अन्तसहित (अस्ति) है (तथा) और (परस्य) दूसरे नय के (सान्तः) सान्त-अन्तसहित (न) नही (अस्ति) है (इति) इस प्रकार से (चिति) चैतन्य के विषय मे (द्वयो) दोनो नयो को (द्वौ) दो (पक्षपातौ) पक्षपात (स्तः) है, किन्तु (य) जो (तत्त्ववेदी) वस्तुस्वरूप का वेत्ता (च्युतपक्षपात) पक्षपात से रहित (अस्ति) है (तस्य) उसके (खलु) नियम से (नित्यम्) हमेशा (चित्) चैतन्य-आत्मा (चित्) चित्-आत्मा (एव) ही (अस्ति) है ॥३७॥

पुनश्च—

एकस्य नित्यो न तथा परस्य चितिद्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥३८॥

अन्वयार्थ—(एकस्य) एक नय के (नित्य.) जीव नित्य (अस्ति) है। (तथा) और (परस्य) दूसरे नय के (नित्यः) नित्य (न) नही (अस्ति) है अर्थात् अनित्य है। (इति) इस प्रकार से (चिति) चैतन्य आत्मा के विषय मे (द्वयोः) दोनो नयो के (द्वौ) दो (पक्षपातौ) पक्षपात (स्त) है। किन्तु (य.) जो (तत्त्ववेदी) तत्त्वज्ञ (च्युतपक्षपात) पक्षपात से रहित (अस्ति) है (तस्य) उसके (खलु) नियम से (नित्यम्) हमेशा (चित्) चैतन्य आत्मा (चित्) चैतन्य आत्मा (एव) ही (अस्ति) है ॥३८॥

पुनश्च—

एकस्य वाच्यो न तथा परस्य चितिद्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥३९॥

अन्वयार्थ—(आत्मा) आत्मा (एकस्य) एक नय के (वाच्यः) वाच्य-कहने योग्य (अस्ति) है (तथा) (परस्य दूसरे नय के (वाच्यः) वाच्य-कथनीय (न) नही (अस्ति) है (इति) इस प्रकार मे (चिति) आत्मा के विषय मे (द्वयो.) दोनो नयो के (द्वौ) दो (पक्षपातौ) पक्षपात (स्त.) है किन्तु (य) जो (तत्त्ववेदी) तत्त्ववेदी—वस्तु स्वरूप का जानने वाला (च्युतपक्षपात.) पक्षपात से रहित (अस्ति) है (तस्य) उसके (खलु) नियम से (नित्यम्) सदा (चित्) चित्-आत्मा (चित्) आत्मा (एव) ही (अस्ति) है ॥३९॥

पुनश्च—

एकस्य नाना न तथा परस्य चितिद्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥४०॥

अन्वयार्थ—(**आत्मा**) जीव (**एकस्य**) एकनय के (**नाना**) नानारूप (**अस्ति**) है (**तथा**) और (**परस्य**) दूसरे नयके (**नाना**) नानारूप (**न**) नही (**अस्ति**) है। (**इति**) इस प्रकार से (**चिति**) चैतन्य के विषय मे (**द्वयोः**) दोनो नयो के (**द्वौ**) दो (**पक्षपातो**) पक्षपात (स्तः) हैं। किन्तु (**यः**) जो (**तत्त्ववेदी**) तत्त्वज्ञ (**च्युतपक्षपात**) पक्षपात से रहित (**अस्ति**) है (**तस्य**) उसके (**खलु**) नियम से (**नित्यम्**) सदा (**चित्**) चैतन्य स्वरूप आत्मा **चित्**) चैतन्य स्वरूप आत्मा (**एव**) ही (**अस्ति**) है ॥४०॥

पुनश्च—

एकस्य चेत्यो न तथा परस्य चितिद्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥४१॥

अन्वयार्थ—(**आत्मा**) जीव (**एकस्य**) एक नयके (**चेत्य**·) चेत्य-जानने योग्य (**अस्ति**) है (**तथा**) और (**परस्य**) दूसरे नय के (**चेत्यः**) चेत्य-जानने योग्य (**न**) नही (**अस्ति**) है (**इति**) इस प्रकार से (**चिति**) चैतन्यमय जीव के विषय मे (**द्वयोः**) दोनो नयो के (**द्वौ**) दो (**पक्षपाती**) पक्षपात (**स्तः**) है किंतु (**यः**) जो (**तत्त्ववेदी**) तत्त्वज्ञाता है, (**च्युतपक्षयात.**) पक्षपात से रहित (**अस्ति**) है (**तस्य**) उसके (**खलु**) निश्चय से (**नित्यम्**) हमेशा (**चित्**) चैतन्यस्वरूप आत्मा (**चित्**) चैतन्यस्वरूप आत्मा (**एव**) ही (**अस्ति**) है ॥४१॥

पुनश्च—

एकस्य दृश्यो न तथा परस्य चितिद्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥४२॥

अन्वयार्थ—(**आत्मा**) जीव (**एकस्य**) एक नयके (**दृश्यः**) दृश्य—देखने योग्य (**अस्ति**) है (**तथा**) और (**परस्य**) दूसरे नय के (**दृश्य**) देखने योग्य (**न**) नही अशित) है। (**इति**) इस प्रकार से (**चिति**) आत्मा के विषय मे (**द्वयौ.**) दोनो नयो का (**द्वौ**) दो (**पक्षपाती**) पक्षपात (**स्त.**) हैं किन्तु (**यः**) जो (**तत्त्ववेदी**) तत्त्वज्ञ (**च्युतपक्षपात.**) पक्षपातरहित (**अस्ति**) है (**तस्य**) उसके (**खलु**) नियम से (**नित्यम्**) हमेशा (**चित्**) चैतन्य (**चित्**) चितन्य (**एव**) ही (**अस्ति**) है ॥४२॥

पुनश्च—

एकस्य वेद्यो न तथा परस्य चितिद्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥४३॥

अन्वयार्थ—(**आत्मा**) आत्मा (**एकस्य**) एकनय के (**वेद्य**·) वेदन करने—जानने योग्य (**अस्ति**) है (**तथा**) और (**परस्य**) दूसरे नय के (**वेद्य**) जानने योग्य (**न**) नही (**अस्ति**) है (**इति**) इस प्रकार से (**चिति**) आत्मा के विषय मे (**द्वयोः**) दोनो नयो के (**द्वौ**) दो (**पक्षपातौ**) पक्षपात (**स्त.**। हैं किन्तु (**यः**) जो (**तत्त्ववेदी**। तत्त्वज्ञ (**च्युतपक्षपात**) पक्षपात से रहित (**अस्ति**) है (**तस्य**) उसके (**खलु**) नियम से (**नित्यम्**) हमेशा (**चत्**) चैतन्य-आत्ता (**चित्**) चैतन्य आत्मा (**एव**) ही (**अस्ति**) है ॥४३॥

पुनश्च—

एकस्य भातो न तथा परस्य चितिद्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥४४॥

अन्वयार्थ—(**आत्मा**) जीव (**एकस्य**) एकनय के (**भातः**) प्रकाशमान (**अस्ति**) है (**तथा**) और (**परस्य**) दूसरे नय के (**भातः**) प्रकाशमान (**न**) नही (**अस्ति**) है (**इति**) इस प्रकार से (**चिति**) आत्मा के विषय मे (**द्वयोः**) दोनो नयो के (**द्वौ**) दो (**पक्षपातौ**) पक्षपात (**स्तः**) हैं किन्तु (**यः**) जो (**तत्त्ववेदी च्युत-पक्षपातः**) तत्त्ववेत्ता पक्षपात से रहित (**अस्ति**) है (**तस्य**) उसके (**खलु**) नियम से (**नित्यम्**) हमेशा (**चित्**) चित्स्वरूप आत्मा (**चित्**) चित्वरूप (**एव**) ही (**अस्ति**) है ॥४४॥

सं० टी०—(**पूर्ववद व्याख्येयानि मूढ़रक्तेतरादि पदपरिवर्तनेन** "२६-४४") अर्थात्—२६वें पद्य से लेकर ४४वे पद्य तक मूढ रक्तो आदि पदो के परिवर्तन के साथ पहले के समान व्याख्यान करना चाहिए ।

भावार्थ—यहाँ पर नयो के पक्षपात को छुडाकर निज स्वभाव मे गुप्त होने का उपदेश है। वस्तु द्रव्यार्थिक+पर्यायार्थिक=वस्तु है। पूरी वस्तु का ज्ञान करने के लिए द्रव्यार्थिक दृष्टि के विषयभूत वस्तु का और पर्यायार्थिक दृष्टि के विषयभूत वस्तु का ज्ञान करना जरूरी है। एक, वस्तु के एक अकेले पर से भिन्न निज स्वभाव को वताता है तो दूसरा उस वस्तु के साथ सयोगादिक एव विकारी अथवा विकार-रहित अवस्था का परिपादन करता है। द्रव्यदृष्टि से पर्यायदृष्टि का स्वरूप सर्वथा विपरीत है। द्रव्य-दृष्टि जब कि ध्रौव्य स्वरूप को वताती है तव पर्यायदृष्टि उत्पाद व्यय को वताती है। द्रव्यदृष्टि जव गुणो को जो ध्रौव्य है उन्हे वताती है तव पर्यायदृष्टि जो नाशवान और उत्पन्न होने वाली अवस्था को वताती है क्योकि वस्तु को उत्पाद व्यय ध्रौव्य रूप बताया है एव गुणपर्ययवद्द्रव्यम् कहा है। पर्यायदृष्टि जब आत्मा को कर्म से वधा—अज्ञानी, रागी, द्वेषी, कर्त्ता, भोक्ता, जीव, सूक्ष्म, हेतु आदि रूप वताती है वहाँ द्रव्यदृष्टि इनका निषेध करती है कि आत्मा कर्मों से वधा नही है—ज्ञानरूप है, राग-द्वेष से रहित, कर्त्ता-भोक्ता से रहित, दश प्राणो से जीने वाला नही, सूक्ष्म और हेतुरूप नही है वह तो मात्र ज्ञाता-दृष्टा रूप है। जब एक दृष्टि वताती है कि आत्मा किसी का कार्यरूप नही है, भावरूप नही है, अनेक नही है अर्थात् नित्य है शब्दो से नही कहा जा सकता अर्थात् शव्दातीत है, नाना रूप नही है अर्थात् एक-रूप है, चैत्य नही है अर्थात् अचेत्य है, दष्यरूप नही है अर्थात् अदृश्य है, वेदने योग्य नही है अर्थात् अवेद्य है। जवकि उससे विरोधी दूसरी नय उसका निषेध करती है। इस प्रकार से द्रव्यदृष्टि के विषयभूत वस्तु को और पर्यायदृष्टि के विषयभूत वस्तु को जानकर किसी भी दृष्टि का पक्षपात नही करता है। दृष्टि तो वस्तु को समझने के लिए जरूरी है। नय वस्तु को वदली नही कर सकती। जव पर्यायदृष्टि से अपने आपको देखा तो रागादिरूप परिणमन करता हुआ शरीरादि से युक्त कर्म से वंधा भेदरूप दिखाई देता है उसी समय अपने आपको जव द्रव्यदृष्टि से देखते हैं तो एक अकेला ज्ञानर्शन से अभेद, अखण्ड

दिखाई देता है इस दृष्टि मे न रागादि है, न शरीरादि है, न कर्म का बध है। एक दृष्टि जब विकार और सयोगो को बताती है तब दूसरी दृष्टि अनादि अनन्त निज स्वभाव को दिखाती है दोनो दृष्टि अपनी-२ जगह पूर्ण सत्य हैं परतु जैसे रूपये की दो साइड होती है और हरेक साइड दूसरी साइड की अपेक्षा लिए हुए है दूसरी साइड का निषेध नही करती ऐसेही सामान्य विशेषात्मक वस्तु है। सामान्य मे विशेष नही, विशेषमे सामान्य नही, सामान्य के बिना विशेष नही, विशेष के बिना सामान्य नही ऐसा वस्तु के स्वरूप का श्रद्धान करना है। वस्तु में जो विकार है उसका जानना भी उसको छोडने के लिए जरूरी है और स्वभाव को जानना भी जरूरी है क्योकि उस रूप रहना है। इसलिए वस्तु के पूर्ण स्वरूप को समझ कर ज्ञानी द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक किसी भी दृष्टि का पक्षपात नही करता। नयो के द्वारा वस्तु को जान कर निज स्वभाव मे रमण करता है जो सब नयो से अतिक्रात है।

अब नयो के पक्ष से निरपेक्ष हो आत्मानुभूति का उपदेश देते है—

स्वेच्छा समुच्छलदनल्पविकल्पजालामेवं व्यतीत्य महतीं नयपक्षकक्षाम्।
अन्तर्बहिः समरसैकरसस्वभावं-स्वं भावमेकमुपयात्यनुभूतिमात्रम् ॥४५॥

अन्वयार्थ—(**एवम्**) पूर्वोक्त प्रकार से (**स्वेच्छा समुच्छलदनल्पविकल्पजालाम्**) अपने आप उठते हुए महान विकल्पो के समूह वाली (**महतीम्**) विशाल-बडी भारी (**नयपक्षकक्षाम्**) नयो के पक्षो की श्रेणी को (**व्यतीत्य**) दूर करके (**अन्तर्बहिः समरसैक रसस्वभावम्**) भीतर और बाहर समता रस रूप अद्वितीय रस जिसका स्वभाव-स्वरूप है ऐसे (**अनुभूतिमात्रम्**) अनुभव स्वरूप (**एकम्**) एक-अद्वितीय (**स्वम्**) अपने (**भावम्**) स्वभाव को (**उपयाति**) प्राप्त करता है ॥४५॥

स० टी०—(**एकम्**) एक (**स्वम्-आत्मीयम्**) आत्मीय-अपने (**भावम्-स्वभावम्**) स्वभाव का (**अनुभूतिमात्रम्-अनुभवमेव**) अनुभव को ही (**उपयाति-प्राप्नोति**) प्राप्त करता है। (**किम्भूतम्-स्वम्**) कैसे अपने स्वभाव को (**अन्तरित्यादि.-अन्त -अभ्यन्तरे, बहि-बाह्ये, यः समरस -साम्यरस', स एव एक -अद्वितीय. आस्वाद्यमानरस स्वभाव'-स्वरूपंयस्य तत्**) भीतर और बाहर अद्वितीय समतारस ही जिसका स्वरूप है (**किं कृत्वा**) क्या करके (**एवम्-उक्त विंशतिपद्योक्त नयप्रकारेण**) पूर्वोक्त वीस पद्यो मे कहे गये नयो के अनुसार (**नयपक्षकक्षा-नयपक्षाङ्गीकारम्**) नयो के पक्षो की मान्यता को (**व्यतीत्य-हित्वा**) त्याग करके (**किम्भूताम्**) कैसी को (**स्वेच्छेत्यादि -स्वेच्छया समुच्छलन्तश्च तेऽनन्तविकल्पाश्च तेषा जाल-समूहो यस्या सा ताम्**) अपनी इच्छा से उत्पन्न होने वाले अनन्त विकल्पो के समूह जिसमे विद्यमान हैं ऐसी (**महतीम्-महाप्रसर प्राप्ताम्**) अत्यन्त विस्तृत—अर्थात् विस्तार वाली ॥४५॥

भावार्थ—आत्मा कर्मों मे बधा है रागादि रूप परिणमन कर रहा है शरीर मे सयोग को प्राप्त है ये सब भी विकल्प है और आत्मा एक है, अकेला है ज्ञानदर्शन-मयि है अखण्ड है अविनाशी है यह भी विकल्प है। जब तक दोनो मे से किसी भी प्रकार के विकल्प मे लगा हुआ है तब तक वस्तु के स्वाद से वचित है इसलिए आत्म अनुभव के लिए समस्त विकल्पो को छोडकर परिधि को लाघ कर

केन्द्र के सन्मुख होने पर ही आत्म अनुभव होता है। परिधि तो पर्याय है केन्द्र स्वभाव है। परिधि पर खडा होकर चाहे परिधि का विकल्प करे चाहे केन्द्र का विकल्प करे विकल्प ही है। परन्तु केन्द्र पर आकर केन्द्ररूप अपने को अनुभव करना है। परिधि का अतिक्रम किए विना केन्द्र पर नही पहुच सकता। परिधि पर जन्म-जन्मातर तक दौडता रहे तो भी केन्द्र पर नही पहुच सकता। आचार्यो ने ससार शरीर भोगो से हटाकर आत्मविकल्प मे लगवाया और वहाँ से भी हटाकर आत्मा मे लगाना है ॥४५॥

अब विकल्पो के समूह को तिरस्कृत करते हुए निज स्वरूप को दिखाते हैं—

इन्द्रजालमिदमेवमुच्छलत्, पुष्कलोच्चलविकल्पवीचिभिः ।
यस्य विस्फुरणमेव तत्क्षणम् कृत्स्नमस्यति तदस्मिचिन्महः ॥४६॥

अन्वयार्थ—(**एवम्**) पूर्वोक्त प्रकार से (**पुष्कलोच्चलविकल्पवीचिभिः**) अतिशय रूप से उठने वाले विकल्प रूप तरङ्गो के समूह से (**उच्छलत्**) उछलते हुए (**इदम्**) इस (**कृत्स्नम्**) सारे (**इन्द्रजालम्**) इन्द्र-जाल को (**तत्क्षणम्**) उसी समय-उत्पन्न होने के समय (**एव**) ही (**यस्य**) जिस आत्मिक तेज का (**स्फुर-णम्**) प्रकाश (**अस्यति**) दूर कर देता है—रोक देता है (**तत्**) वह (**चिन्मह**) चैतन्यमय तेज (**अहम्**) मैं (**अस्मि**) हूँ ॥४६॥

सं० टी०—(**यस्य-चिन्महस.**) जिस चैतन्यमय तेज का (**विस्फुरणमेव-प्रकाशनमेव**) प्रकाशन ही (**इदम्-प्रसिद्धम्**) इस-प्रसिद्ध (**ममैतदस्यहमित्यादिरूपम्**) यह मेरा और मैं इसका इत्यादि रूप (**कृत्स्नम्-समस्तम्**) सव (**इन्द्रजाल-महेन्द्रादिशास्त्रप्रणीतविद्यासादृश्यत्वादसद्रूपत्वाच्चेद सर्वमिन्द्रजालम्**) इन्द्रजाल-महेन्द्र आदि के द्वारा रचित शास्त्रस्थ विद्या की समानता से असद् रूप इस सारे जजाल को (**तत्क्षणम् उदयकालम्**) तत्काल-उदय-उत्पत्ति के समय (**अस्यति-निराकरोति**) निराकरण-दूर कर देता है। (**किम्भूतम् ?**) कैसे (**उच्छलत्-अधिक-प्राप्यत्**) उछलते हुए-अधिकता को प्राप्त होते हुए (**काभिः ?**) किन्हो से (**पुष्कलेत्यादि-विकल्पममत्वादिरूपा सङ्कल्पास्त एव वीचय. कल्लोलाः वहुलास्ताश्च ता. उच्चलन्त्यः-ऊर्ध्व प्राप्नुवन्त्यश्च ता विकल्पवीचयस्ताभिः**) विकल्प ममत्वादि रूप सङ्कल्प तद्रूप अत्यधिक ऊपर को उछलने वाली तरङ्गो मे (**तत्-प्रसिद्धम्**) वह प्रसिद्ध (**चिन्मह-चित्स्वरूपधाम**) चैतन्य स्वरूप तेज (**अस्मि-भवामि**) मैं हूँ ॥४६॥

भावार्थ—शरीरादि पर पदार्थ को अपना मानना सङ्कल्प है। और मैं सुखी हूँ, मै दुखी हूँ, मै क्रोधी हूँ मैं मानी हूँ इत्यादि विकल्प हैं। ये सङ्कल्प और विकल्प निरन्तर आत्मा को आकुलित करते रहते हैं। तत्त्वज्ञानी स्वपर विवेकी उक्त समस्त सङ्कल्प और विकल्पो से अपने को भिन्न करके जब आत्मिक अखण्ड तेजपुञ्ज का अनुभव करता है तब वे सभी सङ्कल्प और विकल्प स्वभावत विलय को प्राप्त हो जाते हैं यह है आत्मानुभव का साक्षात् सुफल।

विकल्पो के आधीन वस्तु का परिणमन नही है वस्तु तो जैसी है वैसी ही है यह विकल्पो के द्वारा

बदली नही जा सकती। अज्ञानी परवस्तु का आश्रय लेकर विकल्प के द्वारा उस वस्तु को अपनी बनाता है। वस्तु तो भिन्न ही है। उस विकल्प का कर्ता बनके उस विकल्प को अपने रूप करके वह उस वस्तु का कर्ता बन जाता है ये विकल्प पर वस्तु का आश्रय लेने से बनते है। विनाशिक हैं। एक विकल्प करके यह अपने को दु खी बना लेता है और एक विकल्प करके अपने को सुखी मान लेता है। इन विकल्पो के नाश का उपाय है कि विकल्पो का कर्त्ता न बनके विकल्पो का ज्ञाता बने। मैं विकल्प करने वाला नही मैं तो जो विकल्प कर्म के सम्बन्ध से हो रहे है उनका जानने वाला हूँ ऐसा अपने स्वभाव का अवलम्बन लेने से विकल्प पैदा ही नही होते ॥४६॥

अब समयसार का चिन्तन करते हैं—

चित्स्वभावभरभावितभावाभावभावपरमार्थतयैकम् ।
बन्धपद्धतिमपास्य समस्ता चेतये समयसारमपारम् ॥४७॥

अन्वयार्थ—(**अहम्**) मैं (**समस्ताम्**) सम्पूर्ण (**बन्धपद्धतिम्**) बन्ध की परिपाटी को (**अपास्य**) दूर करके (**चित्स्वभावभरभावितभावाभावभावपरमार्थतया**) चैतन्य स्वरूप के समूह रूप से प्राप्त उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप को यथार्थता से (**एकम्**) अद्वितीय - एक है ऐसे (**अपारम्**) अपार (**समयसारम्**) समय-शुद्ध आत्मा को (**चेतये**) अनुभव करता हूँ।

सं० टीका—(**चेतये-चिन्तयामि-ध्यानविषयोकरोमीत्यर्थ.**) मैं चिन्तन-ध्यान का विषय-करता हूँ (**कम्-**) किसको (**समयसारम् सम्यक्-अयन्ति-गच्छन्ति-निजगुणपर्यायानिति समया. पदार्था:, अथवा समयन्ति जानन्ति स्वरूपमिति आत्मन, तेषां मध्येसार. श्रेष्ठस्तम्**) जो अपने गुण और पर्यायो को भली भाँति प्राप्त करते हैं वे समय-पदार्थ कहे जाते हैं अथवा जो अपने खास स्वरूप को भली भाँति जानते हैं उन्हे आत्मा कहते हैं उनमे जो सारभूत है उसको (**किम्भूतम् ?**) कैसे समयसार को (**अपारम्-गुणपाररहितम्**) गुणो के पार-अन्त-से रहित अर्थात् अनन्त (**पुन·**) फिर कैसे ? (**एकम्-अद्वितीयम्**) अद्वितीय-असहाय (**कया-?**) किससे (**चिदित्यादि-चिदेव स्वभावो यस्य स चित्स्वभाव:-आत्मा,-तस्यभर -अतिशय.-प्रतिक्षण-त्रिलक्षणोपादानलक्षण तेन भाविता -निष्पादिता, भावाभावभावा·, भूयते इति भाव:-उत्पाद., अभाव. पूर्व पर्यय·, भवनं-भाव: द्रव्यरूपेण ध्रौव्यता, द्वन्द्व., तेषा परमार्थता-सत्यता-एकार्थता तया**) जिसका स्वभाव चैतन्य है वह आत्मा, उसका प्रति समय होने वाला उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप जो भर-अतिशय, उससे निष्पन्न हुई उत्पाद व्यय और ध्रौव्य की सत्यता रूप एकार्थता से (**किं कृत्वा**) क्या करके (**अपास्य छित्वा**) छेदन करके- (**काम्-बन्धपद्धतिम्-कर्मबन्धश्रेणीम्**) कर्म बन्ध की श्रेणी को (**समस्ताम्-निखिलाम्**) सारी (**प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशरूपाम्**) प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशबन्ध स्वरूप ॥४७॥

भावार्थ—कर्म के सम्बन्ध से विकल्प उठते है यह कर्म का कार्य है। कर्म के कार्य को कर्म के खाते मे डालें उसमे अपनापना छोडें। विकल्प का व्याप्य व्यापक सम्बन्ध कर्म के साथ है चेतना के साथ नही

है विकल्प से यह सिद्ध होता है कि अभी राग भाव विद्यमान है। कर्म के कार्य को अपने से भिन्न जानकर शुद्ध चेतन का अनुभव करना ही कार्य की सिद्धि है। वह चेतन मात्र ज्ञान गुण के द्वारा पकड मे आता है। जब तक स्वरूप का अनुभव नही है तब तक नयो के विकल्प उठते हैं जहा वस्तु का अनुभव हुआ सभी विकल्प का अभाव है। उदाहरण के लिए एक व्यक्ति को हम नही जानते उसको लेने को स्टेशन पर जाते हैं बताने वाले ने उसका सब प्रकार का हुलिया बताया है उसको विचार करते जाते हैं। स्टेशन पर एक तरफ खड़े होकर सबके साथ उस हुलिया को मिलाते है जिसके साथ मिलान बैठ जाता है उसको ग्रहण कर लेते हैं कि "यही है" ऐसा ग्रहण होते ही सभी विकल्प खत्म हो जाते है। यही बात आत्मतत्त्व के प्रति भी है इस नय से ऐसा है उस नय से ऐसा है इस प्रकार के विकल्पो को उठाते रहते हैं, परन्तु जब वस्तु स्वरूप सामने होता है समूचे विकल्प खत्म हो जाते है।

आत्म अनुभव करने के लिए पहले आगम से द्रव्यार्थिक+पर्यायार्थिक रूप जैसी वस्तु है उसका उस प्रकार निर्णय करें। फिर कर्म और कर्म के फल मे व नैमित्तिक भावो को पर जानकर अपने को ज्ञानस्वभाव द्वारा उनसे भिन्न करे, ज्ञान मे भी जो ज्ञान के विशेष है उनको गोण करके अनन्त गुणो को द्रव्य मे अभेद करके मात्र एक अकेले सामान्य ज्ञान के पिण्ड को आपही अभिन्नरूप अनुभव करे। जब ऐसा अपने को अपनेरूप अनुभव होता है तब रागादि-कर्मादि का तो पता ही नही चलता कोई विकल्प वहा पर नही रहते। "मैं हूँ" इस विकल्प को भी जगह नही है। शरीर से सर्वथा भिन्न रह जाता है यह अलग दिखाई देने लगता है यह आत्म अनुभव का फल है। जो मृत्यु मे घटता है वह प्रत्यक्ष आप ही देख लेता है फल यह होता है कि मृत्यु भय विलय हो जाता है फिर भूल कर भी नही कहता कि शरीर मे हूँ यह मेरा है। मतिश्रुत ज्ञान की पर्याय अपने अखण्ड चैतन्य स्वभाव को अपने मे ज्ञेय बनाती है और अपने रूप आपही अनुभव करती है यह आत्मदर्शन दर्शनोपयोग का विषय है। अत निर्विकल्प है। जब तक ऐसा अनुभव नही होता तब तक आत्मा सम्बन्धी विकल्पो को ही अनुभव न मान ले नही तो द्रव्य स्वभाव से वञ्चित रह जायेगे। विकल्प भी बहुत गहरे होते हैं। विकल्पो मे एक रूप होकर यह अपने को उसी रूप मानता आया है कही आत्मा के विकल्पो मे एकरूप अपने को आत्म अनुभवी न मान बैठे। यही गलती कही द्रव्यलिंगी के बनती है वह पकडे हुए तो आत्म विकल्प है परन्तु मान रहा है आत्म अनुभव ॥४७॥

अब समयसार का शब्दत: पाठ करते हैं—

> आक्रामन्नविकल्पभावमचलं पक्षैर्नयानां विना
> सारो यः समयस्य भाति निभृतैरास्वाद्यमानः स्वयम्।
> विज्ञानैकरसः स एष भगवान् पुण्यः पुराणः पुमान्—
> ज्ञानं दर्शनमप्ययं किमथवा यत्किञ्चनैकोऽप्ययम् ॥४८॥

अन्वयार्थ—(नयानाम्) नयों के (पक्षै.) पक्षों के (विना) बिना। (अचलम्) निश्चल (अविकल्प-

भावम्) निर्विकल्प भाव को (आक्रामन्) प्राप्त करता हुआ (निभृतै.) निश्चल-एकाग्रचित्तवान् पुरुषो के द्वारा (स्वयम्) स्वत स्वभावत (आस्वाद्यमान.) आस्वादन अनुभवन-किया जाने वाला (विज्ञानैकरस) विज्ञान रूप अद्वितीय रसवान् (समयस्य) समग्र-आत्मा-का (य) जो (सार.) सार (भाति) शोभित होता है। (स) वह (एष) यह आत्मा (भगवान्) भगवान् (पुण्य) पवित्र (पुराणः) पुराण (पुमान्) पुरुष है (अयम्) यही (ज्ञानम्) ज्ञान (अस्ति) है (अयम्) यही (दर्शनम्) दर्शन (अपि) भी (अस्ति) है (अथवा) अथवा (किम्) बहुत कहने से क्या (यत्) जो (किञ्चनपि) कुछ भी (अस्ति) है (अयम्) यह (एक) एक ही (अस्ति) है।

स० टीका – (य) जो (समयस्य-पदार्थस्य मध्ये सार -उत्कृष्ट आत्मेत्यर्थ) पदार्थों मे उत्कृष्ट— अर्थात् आत्मा (स्वय-परप्रकाशाद्यभावेन) स्वत.-पर-प्रकाश आदि पर पदार्थ की सहायता के बिना (भाति-शोभते) शोभित होता है। (नयानाम्-बद्धमूढादीनाम्) बद्ध मूढ आदि विविध भेदो मे विभक्त-नयो के (पक्षै·-अङ्गीकारै·) पक्षो के अङ्गीकार के (विना-अन्तरेण) विना (निभृतै:-निश्चलै -एकाग्रता-गतैर्योगिभि.) निभृत-निश्चल अर्थात् एकाग्रता को प्राप्त योगियो के द्वारा (आस्वाद्यमान -ध्यानविषयीक्रियमाण) आस्वादन-अनुभवन-ध्यान का विषय किया जा रहा। (अचलम्-निश्चलं यथा भवतितया) निश्चल जैसे हो वैसे (अयवा अविकल्पभावस्य विशेष) अथवा निश्चल यह अविकल्प भाव का विशेषण है (अविकल्प-भावम्-विकल्परहितभावम्) विकल्पो से शून्य आत्मा के परिणाम को (आक्रामन्-स्वीकुर्वन्) स्वीकार करता हुआ (पुन -किम्भूत ?) फिर कैसा (विज्ञानैकरस -विज्ञानस्य-विशिष्टबोधस्य, एकरस य: स) जो विशेष ज्ञान का-अद्वितीय रस है वह (पुमान्-आत्मा) आत्मा (भगवान्-ज्ञानी) ज्ञानवान् (पुण्य -प्रशस्त) पुण्य-प्रशस्त (पवित्रो वा) अर्थात् अति स्वच्छ पवित्र (पुराण -चिरन्तनकालीन -पुरातन इत्यर्थ) चिरकाल का अर्थात् बहुत पुराना (अय-आत्मा) यह आत्मा (ज्ञान-बोध.) ज्ञान-बोधरूप है क्योकि (ज्ञानव्यतिरेकेण तस्यानुपलभ्य मानत्वात्) ज्ञान से अतिरिक्त-भिन्न रूप से उसकी उपलब्धि सम्प्राप्ति नही होती है। (अपि-पुनः) और (अयम्) यह-आत्मा (दर्शन-सत्तालोचनमात्रम् सम्यक्त्व वा आत्मैव) दर्शन-सामान्य अवलोकन रूप अथवा सम्यग्दर्शन स्वरूप आत्मा ही है। (अथवा किं बहुना) अथवा अधिक कहने से क्या ? (विकल्पेन किं साध्य ? न किमपि) विविध विकल्पो-विचारो से क्या सिद्ध हो सकता है अर्थात् कुछ भी नही (यत्कि-ञ्चनचारित्र सौख्यम्) जो कुछ भी चारित्र या सुख है सो (किञ्चित् एकोप्यय अद्वितीय आत्मैव-आत्मव्य-तिरेकेण तेषा अनुपलभ्यमानत्वात्-आत्मस्वरूपत्वाच्च स्वरूपस्वरूपिणोरेकत्वात्) एकमात्र आत्मा ही है क्योकि आत्मा से पृथक् रूप मे ज्ञान आदि की उपलब्धि नही होती हे अथवा ज्ञान आदि स्वभावत आत्म-स्वरूप ही है क्योकि स्वरूप और स्वरूपवान् मे एकत्व होता है ।।४८।।

भावार्थ—आत्मा स्वय ही सम्यग्दर्शन है, स्वय ही सम्यग्ज्ञान है और स्वय ही सम्यक्चारित्र है। आत्मा से जुदा न तो सम्यक्त्व है न सम्यग्ज्ञान है और न सम्यक्चारित्र ही है क्योकि आत्मा मे और उक्त सम्यग्दर्शनादि मे कोई भी प्रदेश भेद नही है मात्र विवक्षा भेद कहा जाता है स्वरूप भेद से नही

क्योकि गुण और गुणी मे आगमिक दृष्टि से ही नही प्रत्युत् द्रव्यदृष्टि से भी अभेद ही है ।

पर्याय को गौण करके द्रव्य स्वभाव को मुख्य करके ज्ञान के विशेषो को पाचइन्द्रिय और मन से हटाकर ज्ञान स्वभाव के सन्मुख करके एक अभेद अखण्ड वस्तु को अपने रूप अनुभव करना है । अपने को चैतन्यरूप अनुभवन ही सम्यक्दर्शन है वही सम्यग्ज्ञान है और उसी रूप एक हो जाना लीन हो जाता ठहर जाना वही सम्यक्चारित्र है इसलिए आत्मा ही दर्शनज्ञान चारित्र स्वरूप है । समुद्र से लहर उठी वह उसी मे समा गयी । पानी का बुदबुदा जहाँ से उठा था वही समा गया । नदी अलग थी तब तक नदी थी जब समुद्र मे गिर गयी तब नदी नही रही समुद्र ही रहा ॥४८॥

अब आत्मा की गमनागमनता को सिद्ध करते हैं—

दुरं भूरि विकल्पजालगहने भ्राम्यन्निजौघाच्च्युतो
दूरादेव विवेकनिम्नगमनान्नीतो निजौघं बलात् ।
विज्ञानैकरसस्तदेकरसिनामात्मानमात्माहरन्
आत्मन्येव सदा गतानुगततामायात्ययं तोयवत् ॥४९॥

अन्वयार्थ—(**तोयवत्**) जल के समान (**निजौघात्**) अपने विज्ञानघन समूह से (**च्युत**) स्खलित-परिभ्रष्ट हुआ अतएव (**भूरिविकल्पजालगहने**) अत्यधिक विकल्पो के जाल रूप जगल मे (**दूरम्**) दूर तक (**भ्राम्यन्**) परिभ्रमण करता हुआ (**दूरादेव**) दूर से ही (**विवेकनिम्नगमनात्**) स्वपर भेद विज्ञानरूप ढालने वाले मार्ग मे गमन करने से (**निजौघम्**) अपने विज्ञान घन समूह मे (**बलात्**) बल पूर्वक (**नीत**) लाया गया इसलिए (**तदेकरसिनाम्**) अद्वितीय आत्म रसास्वादियो को (**विज्ञानैकरस.**) एक विज्ञान रस वाला ही अनुभव मे आने वाला ऐसा वह (**अयम्**) यह (**आत्मा**) आत्मा (**आत्मानम्**) आत्मा को (**आत्मनि**) आत्मा-अपने-मे (**एव**) ही (**आहरन्**) स्थिरता करता हुआ (**सदा**) हमेशा-सर्वदा (**गतानुगतताम्**) विज्ञान-घन स्वभाव मे (**आयाति**) आ मिलता है ।

स० टी०—(**तदेकरसिनाम्-तस्मिन्,-आत्मनि एक.-अद्वितीय. रस येषां तेषा योगिनाम्**) जिन योगियो की आत्मा मे एक-अद्वितीय रस विद्धमान है उनका (**अयम्-प्रसिद्धः**) यह प्रसिद्ध (**आत्मा-चिद्रूपः**) आत्मा-चैतन्य स्वरूप जीव (**आत्मनि-एव-स्वस्वरूप एव**) अपने स्वरूप मे ही (**गतानुगतताम्-गमनागमन-ताम्**) गमन आगमन पने को (**आयाति-प्राप्नोति**) प्राप्त करता है । (**सदा-निरन्तरम्**) निरन्तर-हमेशा (**आत्मान-स्वस्वरूपम्**) अपने स्वरूप को (**आहरन्-स्वीकुर्वन्**) स्वीकार करता हुआ (**किम्भूत. ?**) कैसा-आत्मा (**विज्ञानैकरस·-विशिष्टबोधैक रसास्वादक.**) विशेषज्ञान आत्मज्ञान रूप-रस का आस्वादन करने वाला (**निजौघात्-विज्ञानैकरस समूहात्**) आत्मज्ञान रूप रस के समूह से (**च्युतः-परिच्युतः सन्**) अति भ्रष्ट होता हुआ (**भूरीत्यादि.—भूरि विकल्पानां जालं समहस्तदेवगहन वन-अवगाहयितुमशक्यत्वात् तस्मिन्**) अत्यधिक विकल्पो-मनोविचार धाराओ—के जालरूप जगल मे अर्थात् उन विकल्पो को जगल की उपमा इसलिए दो गई है कि वे सहसा अवगाहन करने मे नही आ सकते है । (**दूरं-आत्मस्वरूपादनिकट**

यथाभवति तथा भ्राम्यन् भ्रमणं कुर्वन्) आत्मस्वरूप से बहुत दूर जैसे हो वैसे भ्रमण करता हुआ (**दूरादेव-स्वस्वरूपादसमीपत एव**) अपने स्वरूप की दूराई से ही (**बलात्-हठात् वहिर्द्रव्य-ममत्वादि परित्यागरूपात्**) बाह्य द्रव्यो मे होने वाले "यह मेरा है और मैं इसका हूँ" इस प्रकार के अभिप्राय के परित्याग रूप हठ से (**निजौघं-विज्ञानैक रस समूहम्**) विज्ञान-स्वपर भेद ज्ञानरूप-अद्वितीय रस के समूह को (**नीतः-प्राप्तः**) प्राप्त हुआ (**कुतः**) कैसे (**विवेक निम्नगमनात्-विवेकः-परात्मनोर्भेदेन विवेचकत्वम्, स एव निम्न-गभीरं-गमनं-गतिः-तस्मात्**) पर-पुद्गल तथा आत्मा-जीव-द्रव्य का भेद रूप से जाननेरूप गहराई से (**बहिर्भ्रमन् विकल्पे विवेक वशात् स्वस्वरूपे**) वाहिर घूमता हुआ विकल्प मे, भेदज्ञान के वश से अपने आत्मा के खास स्वरूप मे (**आयाति**) आ जाता है (**किमिव**) किसके समान (**तोयवत्-यथा पानीय स्वस्थाने गतानुगतता करोति निजौघाच्च्युत वने भ्राम्यन्-निम्नगमनविशेष निजस्थान प्राप्नोतीति, उक्ति लेश.**) जैसे पानी अपने उत्पत्ति स्थान मे गमनागमन करता है किन्तु वही पानी अपने ही स्थान से वाहिर निकल कर जगल मे वहता हुआ नीची भूमि को प्राप्त कर अपने उत्पत्ति स्थान मे आ मिलता है वैसे आत्मा के विषय मे लगा लेना चाहिए यह इस वचन का अभिप्राय है ॥४९॥

भावार्थ—अज्ञान अवस्था मे आत्मा अनात्मा को ही आत्मा मान बैठता है अतएव पर के साथ इसका ममत्व हो जाना स्वाभाविक ही है वही परनिष्ठ ममत्व इस आत्मा मे अतिशय रूप से आकुलतोत्पादक विकल्पो को उत्पन्न करता रहता है वे विकल्प तब तक दूर नही हो सकते जब तक आत्मा, आत्मा को आत्मा रूप से नही जान लेता पर मे आत्मत्व बुद्धि का होना ही अज्ञान है जो आत्मा मे आत्मत्व बुद्धि के प्रकट होते ही सुज्ञान रूप मे परिणत हो जाता है इसके होते ही तमाम विकल्प आत्मा से कपूर की भाँति उड जाते हैं और आत्मा निर्विकल्प हो परम निराकुलता रूप आनन्द का अनुभोक्ता हो जाता है ॥४९॥

अव विकल्प का स्वरूप बताते हैं—

विकल्पकः परं कर्ता विकल्पः कर्म केवलम् ।
न जातु कर्तृकर्मत्वं सविकल्पस्य नश्यति ॥५०॥

अन्वयार्थ—(**परम्**) केवल-सिर्फ (**विकल्पकः**) विकल्प करने वाला (**कर्ता**) कर्ता (**भवति**) होता है (**केवलम्**) सिर्फ (**विकल्पः**) विकल्प ही (**कर्म**) कर्म (**भवति**) होता है अतएव (**सविकल्पस्य**) विकल्प सहित आत्मा के (**जातु**) कभी (**कर्तृकर्मत्वम्**) कर्ता कर्मपना (**नश्यति**) नष्ट (**न**) नही होता है ।

सं० टी०—(**परं-केवलम्**) सिर्फ (**विकल्पकः-परद्रव्ये ममेदमिति, अभिनिवेशो विकल्पः स्वार्थे क प्रत्ययविधानात्**) आत्मा से भिन्न पुद्गलरूप पर द्रव्य मे यह मेरा है इस प्रकार के अभिप्राय का नाम ही विकल्प है यहाँ विकल्प शब्द से विकल्परूप अर्थ मे क प्रत्यय किया गया है जिससे विकल्प क रूप बनाया गया है । (**कर्ता-कर्मणां कर्तृत्वेन प्रतिभवति**) जो कर्मों का कर्तारूप से मालूम पडता है वह कर्ता है। (**केवलम्-परम्**) केवल-सिर्फ (**विकल्पः कर्म, भावकर्मणा विकल्पस्वरूपत्वात् कर्महेतुत्वाद्वा, विकल्पस्य**

कर्मत्वं, कारणे कार्योपचारात्) विकल्प कर्म है क्योंकि भावकर्म विकल्प स्वरूप-विकल्पमय होते हैं अथवा ज्ञानावरण आदि द्रव्य कर्मों के कारण-उत्पादक होते है। यहा कारण मे कार्य का उपचार करके विकल्प को कर्म सज्ञा दी गई है (**जातु-कदाचित्**) कभी (**सविकल्पस्य-देहिनः,**) विकल्पवान् आत्मा के (**कर्तृकर्म-त्वम्**) कर्ता कर्मपना (**न नश्यति, न निरस्यति**) नष्ट-दूर-नही होता है ॥५०॥

भावार्थ—मिथ्यादृष्टि विकल्पो का कर्त्ता बनता है और वे विकल्प उसके कर्म बन जाते है इसलिए उसका कर्त्ता कर्मपना कभी भी नही मिटता। जब तक रागादि भावो को अपने रूप मानता है तब तक कर्ता कर्म की पद्धति चलती रहती है। अज्ञानी विकल्प उठाकर ही परवस्तु को अपनी कर्त्ता है। विकल्प तो चला जाता है परन्तु वह आत्मा पर अपना सस्कार छोड जाता है वही सस्कार मजबूत होकर कर्मरूप परणित हो जाता है। विकल्प की मौजूदगी कर्म के सद्भाव को साबित कर रही है। ज्ञानी विकल्प का ज्ञाता है—वह उन विकल्पो का जानने वाला है परन्तु विकल्परूप नही है इसलिए वह ज्ञान का कर्त्ता है विकल्पो का कर्ता नही बनता। जब विकल्पो का कर्त्ता नही है तब जिसका आश्रय लेकर विकल्प हुआ उस वस्तु का भी कर्ता नही रहा। अपने ज्ञान स्वभाव को न जानने के कारण अज्ञानी अपने को विकल्प स्वरूप मानता है। अत विकल्पो का कर्ता हो जाता है तब जिनका आश्रय लेकर विकल्प होता है उनका भी कर्त्ता हो जाता है ॥५०॥

अब कर्तुत्व तथा वेत्तृत्व का मौलिक भेद बताते है—

यः करोति स करोति केवलं यस्तु वेत्ति स तु वेत्ति केवलम्।
यः करोति नहि वेत्ति स क्वचित्, यस्तु वेत्ति न करोति स क्वचित् ॥५१॥

अन्वयार्थ—(**यः**) जो (**करोति**) करता है (**सः**) वह (**केवलम्**) सिर्फ (**करोति**) करता है (**तु**) और (**य·**) जो (**वेत्ति**) जानता है (**सः**) वह (**तु**) तो (**केवलम्**) सिर्फ (**वेत्ति**) जानता है (**यः**) जो (**करोति**) करता है (**सः**) वह (**क्वचित्**) कभी (**हि**) निश्चय से (**न**) नही (**वेत्ति**) जानता है (**तु**) और (**य**) जो (**वेत्ति**) जानता है (**स**) वह (**क्वचित्**) कभी (**न**) नही (**करोति**) करता है।

सं० टीका—(**य·-पुद्गल.**) जो पुद्गल (**करोति-द्रव्यभावनोकर्म विदधाति**) द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म को बनाता है (**स-पुद्गलः**) वह पुद्गल (**केवलं-परम्**) केवल-सिर्फ (**करोति-कर्मादि सृजत्येव**) कर्म आदि को बनाता ही है (**तु-पुनः**) और (**यः-आत्मा**) जो आत्मा (**वेत्ति-स्वपर स्वरूपं परिच्छिनत्ति**) अपने और पर के स्वरूप को जानता है (**सः-आत्मा**) वह आत्मा (**कवलं-परम्**) सिर्फ (**वेत्त्येव-जानात्येव तु शब्द. एवार्थे**) जानता ही है यहा तु शब्द एव अर्थ मे आया है जिसका तात्पर्यार्थ निश्चय करना है (**ननु यत्प्रधान महदादि करोति तदेव वेत्ति नत्वात्मा-**) यहा कोई साख्य मतानुयायी शकाकार शका करता है कि जो प्रधान महद् आदि को करता है वही जानता है आत्मा नही—

प्रकृतेर्महाँस्ततोऽहङ्कारस्ततश्च गणः षोडशकः।
तस्मादपि षोडशकात्पञ्चभ्यः पञ्च भूतानि ॥

अन्वयार्थ—(**प्रकृतेः**) प्रधान से (**महान्**) महान (**ततः**) महान् से (**अहङ्कार**) अहङ्कार (**च**) और (**तत**) अहङ्कार से (**षोडशक**) सोलह (**गण.**) गण (**अपि**) और (**तस्मात्**) उस (**षोडशकात्**) सोलह से (**पञ्चभ्य**) पाच से (**पञ्च**) पाच (**भूतानि**) भूत (**जायन्ते**) उत्पन्न होते है ।

(**इति वचनात्**) इस वचन से (**एकस्यैव कर्तृत्व वेत्तृत्वोपपत्तेः**) एक ही के कर्तापन और वेत्तापन की सिद्धि होती है (**नत्वात्मन. किञ्चिदुपपन्नं तस्य सकल जगत्साक्षिकत्वात्**) किन्तु आत्मा के इनमे से कुछ भी सम्पन्न-सिद्ध नही होता क्योकि वह तो मात्र जगत् का साक्षात्कार करने वाला ही है ।

(**इति चेत् तन्न तस्याचेतनत्वान्मृदादिवत्**) यदि ऐसी तुम्हारी शका है तो वह ठीक नही है क्योकि उस आत्मा मे मिट्टी आदि की तरह अचेतनता का प्रसङ्ग उपस्थित होगा । (**अन्यथा पुमान्निष्फलः स्यात्**) यदि आत्मा को अचेतन मान लिया जाय तो पुमान् निश्फल सिद्ध होगा । (**चेतनेतरस्वभावत्वे तस्य चेतने-तरत्व विभागानुपपत्ति**) और आत्मा को चेतन स्वभाव से भिन्न अचेतन स्वभाव वाला मान लेने पर चेतन और अचेतन रूप विभाग नही बन सकेगा (**अत आत्मनश्चेतनत्व तस्याचेतनत्वम्**) इसलिए आत्मा को चेतन और पुद्गल को अचेतन मानना युक्तिसङ्गत है । (**होति यस्मात्कारणात्**) जिस कारण से (**य -पुद्गल**) जो पुद्गल (**करोति-कर्मादिकम्**) कर्मादि को करता है (**स.-पुद्गलः**) वह पुद्गल (**क्वचित्-कदाचित्**) कही पर और किसी समय (**न वेत्ति-न जानाति**) नही जानता है (**तस्यसर्वथाऽचेतनत्वात्**) क्योकि वह पुद्गल सर्व प्रकार से अचेतन है (**तु-पुन.**) और (**य.-आत्मा वेत्ति**) जो आत्मा जानता है (**स-आत्मा**) वह आत्मा (**क्वचिद्देशे कस्मिंश्चित्काले**) किसी देश मे एव किसी काल मे (**न करोति कर्मादि**) कर्म आदि को नही करता है । (**तस्यकर्माकर्तृकत्वात्**) क्योकि—उस आत्मा के कर्मादि का कर्त्तापन नही है ॥५१॥

भावार्थ—पुद्गल जड होने से जानता नही है परन्तु करता अवश्य ही है । आत्मा जानता ही है पर कर्ता नही है क्योकि आत्मा स्वभावत ज्ञाता ही है कर्ता नही है । जो कर्ता है वह कर्ता ही है ज्ञाता नही । और जो ज्ञाता है वह ज्ञाता ही है कर्ता नही है । इस तरह दोनो द्रव्यें अपने अपने विषय मे पूर्णतया पृथक् एव स्वाधीन हैं अपने-अपने कार्य मे एक दूसरे की अपेक्षा नही रखते हैं ।

अब जानना और करना ये दोनो क्रियायें सर्वथा भिन्न है यह दिखाते है—

ज्ञप्तिः करोतौ न हि भासतेऽन्तः ज्ञप्तौ करोतिश्च न भासतेऽन्तः ।
ज्ञप्तिः करोतिश्च ततो विभिन्ने ज्ञाता न कर्तेति ततः स्थितं च ॥५२॥

अन्वयार्थ—(**करोतौ**) करोति क्रिया के होने पर (**अन्तः**) अन्तरङ्ग मे (**ज्ञप्ति.**) ज्ञप्ति—जाननारूप क्रिया (**हि**) निश्चय से (**न**) नही (**भासते**) मालूम होती (**च**) और (**ज्ञप्तौ**) जाननेरूप क्रिया के होने पर (**करोतिः**) करने रूप क्रिया (**अन्त**) अन्तरङ्ग मे (**न**) नही (**भासते**) प्रतीत होती (**तत**) इसलिए (**ज्ञप्ति**) जानना (**च**) और (**करोति**) करना ये दोनो क्रियाये (**विभिन्ने**) सर्वथा पृथक् ही (**स्त**) हैं ।

(ततः) इससे **(ज्ञाता)** जो ज्ञाता है **(कर्ता)** वह कर्ता **(न)** नही **(अस्ति)** है **(इति)** यह **(स्थितम्)** सिद्ध हुआ ॥५२॥

सं० टीका—(हीति स्फटम्) हि यह अव्यय स्पष्ट अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है अर्थात् यह स्पष्ट है कि **(करोतौ-कर्तृक्रियायाम्-सत्याम्)** कर्ता की करने रूप क्रिया के होने पर **(अन्त.-मध्ये)** अन्तरङ्ग मे **(ज्ञप्तिः-ज्ञातृता)** जानने वाले को जाननेरूप क्रिया **(न भासते-न प्रतिभासते)** नही प्रतिभासित होती **(च-पुन.)** और **(ज्ञप्तौ-ज्ञातृताया प्रतिभासमानायाम्)** ज्ञप्ति—जो जाननेरूप क्रिया के प्रतिभासित होने पर **(अन्तः-अभ्यन्तरे)** अभ्यन्तर-भीतर-मे **(करोतिः-आत्मनः कर्तृत्वभाव·)** करोति-आत्मा का कर्तृत्व स्वभाव **(न भासते-न चकास्ति)** नही प्रकाशमान होता । **(ततः-कारणात्-परस्पर परिहारेण व्यवस्थानात्)** तिस कारण से अर्थात् परस्पर-आपस मे एक दूसरे के परिहार जुदाई-की व्यवस्था होने से **(ज्ञप्तिः-ज्ञातृता)** जाननापन **(च-पुन)** और **(करोति.-कर्तृता)** करनापन **(विभिन्ने-पृथक्स्वभावे)** दोनो अलग-अलग स्वभाव है **(ततः परस्परं भिन्नस्वभावत्वात्)** अत आपस मे स्वभाव भेद होने से **(इति च स्थितम्-इति सुप्रतिष्ठितम्)** यह सिद्धान्त निर्बाध रूप से सिद्ध हुआ कि **(यो ज्ञाता चिद्रूपः स कर्ता न भवेदिति)** जो जानने वाला चैतन्यमय आत्मा है वह कर्ता नही हो सकता ॥५२॥

भावार्थ--जो ज्ञान का मालिक है वह कर्म के कार्य का मालिक नही है जो कर्म का मालिक है वह ज्ञान का मालिक नहो है। जिसने ज्ञान स्वभाव मे अपना सर्वस्व स्थापित किया है वह कर्म का कार्य रागादि शुभ अशुभ भाव, विकल्प, शरीर की क्रिया, आठ कर्मों का सम्बन्ध और बाहर की कर्मकृत सामग्री का जानने वाला तो है परन्तु उनका कर्त्ता नही है। कर्त्ता उसे कहते हैं जो उनके साथ एकपने का प्राप्त हो। ज्ञानी ज्ञान के साथ एकपने को प्राप्त है इसलिए ज्ञानरूप ही है ज्ञाता ही है वह कर्म कर्मफल के साथ एकपने को प्राप्त नही है इसलिए वह कर्म और कर्मफल का कर्त्ता नही है। अगर वह कर्म और कर्मफल मे अपनी श्रद्धा मे एकत्व स्थापित करता है तब वह जडरूप हो जाता है और ज्ञान के साथ एकत्वपना नही रहता इसलिए ज्ञाता न होकर कर्म का कर्त्ता हो जाता है। ज्ञानी ज्ञान का मालिक है इसलिए ज्ञानी तो जो कुछ कर्मकृत हो रहा है उसका ज्ञाता ही है किसी भी प्रकार से कर्ता नही है। ज्ञानी कभी कर्त्ता होता नही अज्ञानी का कर्त्तापना कभी मिटता नही। पर्याय मे जो कुछ हो रहा है वह निमित्त नैमैत्तिक सम्बन्ध से हो रहा है उसको निमित्त नैमैत्तिक सम्बन्ध रूप मानता है इसलिए वह उसका कर्त्ता नही है। अज्ञानी पर्याय मे जो कुछ हो रहा है उसके साथ उसका वैसा ही एकपना है जैसा द्रव्यदृष्टि मे आत्मा का ज्ञान से एकपना है। अत ज्ञानी उसका ज्ञाता है कर्त्ता नही है। याने उसका कर्म के साथ एकपना नही है ॥५२॥

अव कर्ता और कर्म मे आपस मे एकता का निरसन-खण्डन करते हैं—

कर्ता कर्मणि नास्ति नास्ति नियतं कर्मापि तत्कर्तरि
द्वन्द्वं विप्रतिषिध्यते यदि तदा का कर्तृ-कर्मस्थितिः ।

ज्ञाता ज्ञातरि कर्म कर्मणि सदा व्यक्तेति वस्तुस्थिति-
नैंष्पथ्ये वत नानटीति रभसान्मोहस्तथाप्येषकिम् ॥५३॥

अन्वयार्थ—(**कर्ता**) करने वाला आत्मा (**कर्मणि**) किये जाने वाले ज्ञानावरण आदि कर्मो मे (**न**) नही (**अस्ति**) है (**तत्**) तिस कारण से (**कर्म**) ज्ञानावरणादि कर्म (**अपि**) भी (**कर्तरि**) करने वाले आत्मा मे (**नियतम्**) निश्चित रूप से (**न**) नही (**अस्ति**) है (**यदि**) यदि (**द्वन्द्वं**) दोनो कर्ता और कर्म (**विप्रतिषिध्यते**) विशेष रूप से निषेध-निवारण-किये जाते है (**तदा**) तो (**कर्तृकर्मस्थिति**·) कर्ता और कर्म की व्यवस्था (**का**) क्या (**स्यात्**) होगी (**नकापीत्यर्थः**) अर्थात् कुछ भी नही। (**सदा**) सर्वदा-हमेशा (**ज्ञाता**) ज्ञाता—जानने वाला-आत्मा (**ज्ञातरि**) ज्ञाता-जानने वाले आत्मा मे तथा (**कर्म**) कर्म (**कर्मणि**) कर्म ज्ञानावरण आदि मे (**अवतिष्ठते**) रहता है (**इति**) यह (**वस्तुस्थिति.**) वस्तु-पदार्थ की-स्थिति-मर्यादा (**व्यक्ता**) व्यक्त-स्पष्ट (**अस्ति**) है। (**तथापि**) कर्ता और कर्म मे परस्पर मे भेद सिद्ध होने पर भी (**वत**) खेद है कि— (**एषः**) यह अनादिकालीन (**मोह.**) मोह (**रभसा**) वेग पूर्वक-शीघ्रता से (**नैष्पथ्ये**) नेपथ्य मे (**कथम्**) क्यो (**नानटीति**) नृत्य कर रहा है।

सं० टीका—(**कर्मणि-ज्ञानावरणादिकर्मरूपपरिणत पुद्गल पर्यायि**) कर्म-ज्ञानावरण आदि कर्म रूप अवस्था को प्राप्त पुद्गल की पर्याय मे (**कर्ता-आत्मनः कर्तृत्वम्**) आत्मा का कर्तापन (**नास्ति-नविद्यते**) नही है (**तत्-तस्मात्-कर्मणिकर्तृत्वाव्यवस्थानात्**) तिस कारण से—अर्थात् कर्म मे आत्मा के कर्तापन का अभाव होने से (**नियतं-निश्चितम्**) निश्चित रूप से (**यदि कर्मणि कर्ता न तर्हि कर्तरि कर्म भविष्यति ?**) यदि कर्म मे कर्ता नही है तो कर्ता मे तो कर्म होगा ऐसी आशका होने पर (**तन्निषेधार्थमाह**) उस आशका का निराकरण करने के हेतु कहते है (**कर्मापि-ज्ञानावरणादिपरिणतपुद्गलपर्याय**) कर्म-ज्ञानावरण आदि रूप मे परिणत पुद्गल द्रव्य की पर्याय (**कर्तरि-आत्मनि**) कर्ता-आत्मा मे (**नास्ति-न विद्यते**) नही है। (**यदि-चेत्**) यदि (**विप्रतिषिध्यते-निराक्रियते**) निषेध-निराकरण करते ही (**किम्**) किसका (**द्वन्द्वम्-युग्मम्-कर्ताकर्मरूपम्**) दोनो कर्ता कर्म रूप जोडे का (**तदा-तर्हि**) तो (**कर्तृकर्मस्थिति.-कर्तृकर्मणोः-आत्मा कर्ता पुद्गलपर्यायः कर्म इति व्यवस्था**) आत्मा कर्ता और पुद्गलपर्याय कर्म इस प्रकार की व्यवस्था क्या होगी (**न कापि**) अर्थात् कुछ भी नही। (**इति-अमुना प्रकारेण**) इस प्रकार से (**वस्तुस्थिति.-वस्तु-व्यवस्था**) वस्तु की व्यवस्था-मर्यादा (**व्यक्ता-स्पष्टा**) स्पष्ट हुई (**इतिकिम्**) यह कैसी ? (**ज्ञातरि-आत्मनि**) ज्ञाता आत्मा मे (**ज्ञाता-ज्ञातृस्वभावः**) ज्ञाता स्वभाव है (**नान्यत्र न पुन कर्तृस्वभावः**) कर्ता स्वभाव नही है (**सदा-निरन्तरम्**) निरन्तर-हमेशा (**कर्मणि-कर्मपर्याय परिणत पुद्गले**) कर्म अवस्था रूप मे परिणमन को प्राप्त पुद्गल मे (**कर्म-कर्मेति व्यपदेश**·) कर्म इस प्रकार का व्यवहार (**नान्यत्र ज्ञातरि**) ज्ञाता आत्मा मे नही है (**वत इति खेदे**) वत-यह अव्यय खेद का वाचक है (**परस्पर तयोर्भिन्नत्वे वेदयत्याचार्य**) आचार्य उन दोनो की भिन्नता-जुदाई को प्रकाशित करते हैं (**एष मोह -ममत्वकारक मोहनीय कर्म**) ममता का उत्पादक यह मोहनीय कर्म (**तथापि-परस्परमात्मकर्मणोर्भिन्नत्वेऽपि**) तो भी अर्थात्—आत्मा और कर्म इन

दोनो मे आपस मे भिन्नता-जुदाई होने पर भी **(रभसात्-शीघ्रम्)** शीघ्र ही **(नैष्पथ्ये-निर्गतः पन्था मार्गो यत्र स्थाने तत् निष्पथम्-तस्य भावो नैष्पथ्यं तस्मिन्-अमार्गस्थाने इत्यर्थः)** जो स्थान मार्ग से निकल चुका है उसमे अर्थात् अयोग्य स्थान मे **(किम्-कथम्)** क्यो **(नानटीति-अतिशयेन नाटयति-कर्मकर्तृ विकल्पानवकाशे मोहः कथ कर्तृकर्म विकल्पान् कारयतीति यावत्)** अतिशय रूप से नाच नचाता है अर्थात् जहाँ कर्म और कर्ता का विकल्प ही नही हो सकता वहा यह मोह कर्ता और कर्म के विकल्पो को क्यो कराता है यह इसका तात्पर्य है ॥५३॥

भावार्थ—जीव और पुद्गल ये दोनो स्वभावत भिन्न-भिन्न दो द्रव्ये हैं। उनमे पहला जीव ज्ञान प्रधान चेतन द्रव्य है, और दूसरा पुद्गल पूरण गलन स्वभाव प्रमुख अचेतन-जड-द्रव्य है। चेतन जीव अपने ज्ञानभाव का कर्ता है क्योकि वह उसका खास स्वभाव है। उससे भिन्न जड पौद्गलिक ज्ञानावरणादि कर्मों का कर्ता पुद्गल ही है क्योकि वह सहज ही जड-अचेतन है। चेतन का कर्ता और कर्म चेतन ही होती है अचेतन नही। तथा अचेतन का कर्ता और कर्म अचेतन ही होता है चेतन नही। यह त्रिकाल अबाधित सहज सिद्ध सिद्धान्त है। इसके होते हुए भी मोह अपने प्रबल प्रभाव से तमाम ससारी प्राणियो को उक्त सिद्धान्त के विरुद्ध प्रवृत्ति क्यो करा रहा है वही एक महान् खेद का विषय है जिससे मोही अज्ञानी जीव मोह के प्रभाव से अपने स्वरूप से च्युत हो आत्मा को ही पौद्गलिक कर्मों का करता मान बैठा है जो सिद्धान्त से सर्वथा प्रतिकूल ही नही प्रत्युत द्रव्य व्यवस्था का उत्थापक भी है ॥५३॥

अब ज्ञान ज्योति का उज्ज्वल प्रकाश प्रकट होता है—

कर्ता कर्ता भवति न यथा कर्म कर्मापि नैव
ज्ञानं ज्ञानं भवति च यथा पुद्गलः पुद्गलोऽपि ।
ज्ञानज्योतिर्ज्वलितमचलं व्यक्तमन्तस्तथोच्चै
श्चिच्छक्तीनां निकरभरतोऽत्यन्तगम्भीरमेतत् ॥५४॥

अन्वयार्थ—(चिच्छक्तीनाम्) चैतन्य शक्तियो के **(निकरभरतः)** समुदाय के भार से **(अत्यन्त गम्भीरम्)** अत्यधिक गहरा **(उच्चैः)** उन्नत रूप से **(व्यक्तम्)** स्पष्ट **(अन्तः)** अन्तरङ्ग मे **(अचलम्)** निश्चल **(एतत्)** यह **(ज्ञानज्योतिः)** ज्ञान का तेज-प्रकाश **(तथा)** उस तरह से **(ज्वलितम्)** जाज्वल्यमान हुआ कि **(कर्ता)** अज्ञान मे आत्मा कर्ता होता था **(कर्ता)** अब वह कर्ता **(न)** नही **(भवति)** होता है **(अपि)** और **(कर्म)** अज्ञान के निमित्त से पुद्गल कर्मरूप होना था **(कर्म)** वह पुद्गलो का कर्मरूप होना **(न)** नही **(भवति)** होता है। किन्तु **(ज्ञानम्)** ज्ञान **(ज्ञानम्)** ज्ञानरूप ही **(भवति)** रहता है **(च)** और **(पुद्गल.)** पुद्गल **(अपि)** भी **(पुद्गलः)** पुद्गल **(एव)** ही **(भवति)** रहता है।

सं० टीका - **(एतत्-प्रत्यक्षम्)** यह प्रत्यक्ष **(ज्ञानज्योतिः-बोधमहः)** ज्ञान का तेज **(तथा-तेनैव प्रकारेण)** उसी प्रकार से **(उच्चैः-अतिशयेन)** अतिशय रूप से **(अन्त. अभ्यन्तरे-उपलक्षणा-द्बाह्येऽपि)** अन्तङ्ग भीतर तथा उपलक्षण से बाह्य-वहिरङ्ग बाहिर मे भी **(ज्वलित-देदीप्यमानं-जातम्)** देदीप्यमान-प्रकाशमान

(तत्प्रसिद्धंकर्म) वह प्रसिद्ध कर्म **(ऐक्यं-एकताम्)** अभेदता को, एकरूपता को **(उपानयन्-कुर्वन्)** करता हुआ **(किम्भूतम्-तत्)** वह कैसा **(शुभाशुभ भेदतः पुण्यप्रकृति-शुभायुर्नामगोत्ररूपा, पापप्रकृतिः—घातिचतुष्काशुभायुर्नामगोत्ररूपा, तयोर्भेदतः-प्रभेदात्)** शुभ और अशुभ के भेद से अर्थात् शुभ आयु, शुभ नाम, और शुभ गोत्र रूप पुण्य प्रकृति तथा घातिकर्मचतुष्क अर्थात ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय रूप चार घातियाकर्म—अशुभ आयु, अशुभ नाम और अशुभ गोत्र रूप पाप प्रकृति रूप दोनो के भेद-प्रभेद से **(द्वितीयताम्-द्विरूपताम्)** दो-रूपता को **(गतं-प्राप्त-शुभाशुभभेदेन द्विधापि ज्ञाने भवतः, संसारदायकत्वात् सर्वं कर्मसदृशमित्येकमितिभावः)** प्राप्त हुआ अर्थात शुभ कर्म और अशुभ कर्म के भेद से द्विकारता ज्ञान मे भी होती है, तो भी ससार का बढाने वाला होने से सभी समूह समान हैं अतएव कर्म एक ही है, यह इसका भावार्थ है ।।१।।

भावार्थ—आत्मिक भावो के भेद से कर्मो मे भी भेद होना स्वाभाविक ही है क्योकि कार्मण वर्गणाएँ जो समस्त लोकाकाश मे व्याप्त है, वे कर्मरूप होने की स्वाभाविकी शक्ति तो रखती हैं या जब तक आत्मा के राग-द्वेषादि रूप परिणामो का निमित्त उन्हे नही मिलता तब तक वे स्वभाव रूप मे ही स्थिर रहती हैं कर्मरूप मे नही । उन्हे कर्मरूपता तो आत्मा के विकारी भावो के निमित्त से ही स्वयमेव अपने ही उपादान से प्राप्त हो जाती है । निमित्त के भेद से नैमित्तिक मे भी भेद पड जाता है, यद्यपि आत्मा के भाव शुभ हैं तो उनके निमित्त से बँधने वाले कर्मो मे भी शुभरूपता आये बिना नही रह सकती इसी प्रकार से यदि आत्मा के भाव अशुभ हैं, तो आने वाले कर्मो मे भी अशुभता होगी ही, इस तरह से कर्मभी शुभ-पुण्य तथा अशुभ-पापरूप होते ही हैं । इनकी इस द्विविधता को कोई भी कर्मसिद्धान्त निषेध नहीकरता यह विवेचना एकमात्र व्यवहारनय सापेक्ष हैं । जो व्यवहार-पर्याय विशेष को प्रमुखता प्रदान करता हुआ प्रवृत्त होता है वह व्यवहारनय या पर्यायार्थिक नय कहा जाता है । परन्तु शुभ भी कर्म है और अशुभ भी कर्म है इस प्रकार कर्म सामान्य मे दोनो एक हैं । जब सामान्य दृष्टि की कसौटी पर कसा जाता है तब वह निर्दोष प्रतीत होता है क्योकि सामान्य दृष्टि तो मात्र अभेद को ही विषय करती है उसकी दृष्टि तो वस्तु पर ही जाती है वस्तुगत भेद प्रभेदो पर नही । ऐसी स्थिति मे कर्म सामान्य मे पुण्य और पाप का पार्थक्य प्रतीत नही होता । अत आध्यात्मिकता का सच्चा उपासक सम्यग्ज्ञानी कर्म सामान्य को हेय मानता है, चाहे वह कर्म शुभ-पुण्य-रूप हो और चाहे अशुभ-पाप-रूप हो । उसकी बुद्धि मे तो दोनो ही परिहार्य या विनाश्य है अतएव एक हैं दो नही ।।१।।

(अथ शुभाशुभकर्मणोर्दृष्टान्तेनैक्यमुररीकरोति पद्यद्वयेन) इसके बाद शुभ-पुण्य तथा अशुभ-पाप-कर्म की एकता को दृष्टान्त द्वारा सिद्ध करते है दो पद्यो से —

एको दूरात्त्यजति मदिरां ब्राह्मणत्वाभिमाना,
अन्यः शूद्रः स्वयमहमिति स्नाति नित्यं तयैव ।

द्वावप्येतौ युगपदुदरान्निर्गतौ शूद्रिकायाः,
शूद्रौ साक्षादपि च चरतो जातिभेदभ्रमेण ॥२॥

अन्वयार्थ—(**शूद्रिकायाः**) शूद्रिका के (**उदरात्**) उदर से (**युगपत्**) एक साथ, एक ही समय मे (**निर्गतौ**) निकले हुए अर्थात् जन्मे हुए (**एतौ**) ये (**द्वौ**) दोनो (**अपि**) हो (**साक्षात्**) साक्षात् प्रत्यक्ष रूप मे (**शूद्रौ**) शूद्र (**स्तः**) है (**अपि च**) किन्तु (**जातिभेदभ्रमेण**) जाति के भेद के भ्रम से अर्थात् जो ब्राह्मण के यहाँ पला-पुषा वह अपने को ब्राह्मण मानने लगा और जो उसी शूद्रिका के यहाँ पला-पुषा वह अपने को शूद्र मानने लगा" इस भ्रम से (**चरत**) दोनो अपने-अपने कुल का आचरण करने लगे उनमे (**एकः**) एक जो अपने को ब्राह्मण मान रहा है वह (**ब्राह्मणत्वाभिमानात्**) ब्राह्मणत्व के अभिमान-अहकार मे (**मदिराम्**) मदिरा को (**दूरात्**) दूर से (**त्यजति**) छोडता है (**अन्यः**) दूसरा (**अहम्**) मैं (**स्वयम्**) स्वय (**शूद्र**) शूद्र (**अस्मि**) हूँ (**इति**) ऐसा (**मत्वा**) मानकर (**नित्यम्**) हमेशा (**तया**) उस मदिरा से (**एव**) ही (**स्नाति**) स्नान करता है अर्थात् पवित्र मानता है।

सं० टी० —(**दृष्टान्तं तावद्वक्ति**) सर्वप्रथम दृष्टान्त कहते है (**यथा**) जैसे (**एकः कश्चित् सदाचरण**) एक कोई सदाचारी पुरुप (**मदिरा-सुराम्**) मदिरा—शराव को (**दूरात्-आरात्**) दूर से (**त्यजति-परिहरति**) छोडता है (**कुतः**) कैसे (**ब्राह्मणत्वाभिमानात्-एवं 'वयं ब्राह्मणा', ब्राह्मणैस्तु सुरा न पेया' ईदृग्विधाभिप्रायस्तस्मात्**) ब्राह्मणपन के अहकार से अर्थात् हम ब्राह्मण हैं जो ब्राह्मण हो उन्हे मदिरा नही पीना चाहिए इस तरह के अभिप्राय मे (**अन्यःकश्चिदसदाचरणः**) दूसरा कोई दुराचारी (**अहम्**) मैं (**स्वयम्**) स्वतः खुद-ब-खुद (**शूद्रः**) शूद्र (**अस्मि**) हूँ (**इति कृत्वा**) ऐसा करके अर्थात् ऐसा मान करके (**तयामदिरया**) उस मदिरा से (**एव-निश्चयेन**) निश्चय से (**नित्यं-निरन्तरम्**) निरन्तर, हमेशा (**स्नाति स्नान करोति**) स्नान करता है (**पानस्य का वार्ताः**) पीने की तो बात ही क्या ? (**अतिशयालङ्कारोऽयम्**) यह अतिशयालङ्कार (**अस्ति**) है (**द्वावपिएतौ-सदसच्चारिणौ ब्राह्मण-शूद्रौ**) सदाचारी और असदाचारी ये दोनो ब्राह्मण और शूद्र (**साक्षात्-प्रत्यक्षम्**) प्रत्यक्ष रूप मे (**शूद्रौ-अवरवर्णौ**) शूद्र है अर्थात् नीच वर्ण हैं (**शूद्रत्वमेतयो', कथम्**) इन दोनो में शूद्रपन कैसे (**अस्ति**) है (**यतः-यस्मात्**) जिस कारण से (**युगपत्-सकृत्**) एक साथ (**शूद्रिकाया-शूद्रभार्यायाः**) शूद्र की भार्या—स्त्री के (**उदरात्-जठरात्**) उदर से (**निर्गतौ-निष्क्रांतौ**) निकले-जन्मे है (**अथ च-अनु च पश्चादित्यर्थ**) पश्चात् (**जातिभेदभ्रमेण-जातेः सन्तानस्य भेद' तस्य भ्रमः भ्रान्ति'तेन**) जाति-सन्तान के भेद की भ्रान्ति से (**एको वेत्त्यहंद्विज.**) एक जानता है कि मैं द्विज-ब्राह्मण (**अस्मि**) हूँ (**एको वेत्यह शूद्र.**) दूसरा जानता है मैं शूद्र हूँ (**इत्यभिप्रायात.**) इस अभिप्राय से (**चरन्तौ भिन्नाचारमाचरत.**) भिन्न आचार जुदे-जुदे आचरण को पालन करते हुए (**तथा**) वैसे ही (**एक-पुद्गलनिष्पन्ने शुभाशुभकर्मणी**) एक पुद्गल मे निष्पन्न-बने हुए शुभ और अशुभ कर्म एक (**स्त**) है (**एकशुभ-स्वर्गादिदायि**) एक शुभ-पुण्य-कर्म स्वर्ग को देने वाला है (**अशुभमपर नरकगत्यादिदायि**)

हुआ (**कुतः**) किससे (**चिच्छक्तीना-ज्ञानाविभागप्रतिच्छेदाना, निकरमात्रः निकरोद्विकवारानन्तभावः, तस्यभरः-अतिशयः तस्मात्**) ज्ञान के अविभाग प्रतिच्छेदो के अनन्तानन्त समूह से (**किम्भूतम**) कैसा (**अचल न चाल्यते यच्छक्तिः परैः-पुद्गलादिभि , इत्यचलम्**) जिसकी शक्ति पर-पुद्गलादि पर द्रव्यो के द्वारा चलायमान नही की जा सकती (**पुन·-कीदृशम्**) फिर कैसा (**व्यक्तं-स्पष्ट-समस्तवस्तुप्रकाशकत्वात्**) समस्त पदार्थों का प्रकाशक होने से व्यक्त-स्पष्ट (**पुन·-अत्यन्तगम्भीरम्-अत्यर्थं-अतलस्पर्शं-ज्ञानशक्तेर-नन्तत्वात्**) फिर ज्ञानगुण के अनन्त होने के कारण जिसकी गहराई अथाह है (**तथेति कथम्**) तथा यह कैसे (**यथा कर्ता पुद्गल , कर्ता, कर्मणा निष्पादक.**) जैसे पुद्गल कर्ता— कर्मो का बनाने वाला (**न**) नही (**भवति-जायते**) होता है (**अशुद्धं ज्ञानं निमित्तीकृत्य पुद्गल कर्मणा कर्ता**) अशुद्ध ज्ञान को निमित्त बना-कर पुद्गल कर्मों का कर्ता होता है (**अधुना ज्ञानज्वलनात् तच्छुद्धं जातम्**) इस समय ज्ञान के प्रकाश से वह अज्ञान शुद्ध हो चुका है अर्थात् समीचीन अवस्था को प्राप्त कर चुका है (**तथा**) वैसे ही (**यथा**) जैसे (**पुद्गलस्य कर्मकर्तृत्वेन निमित्तत्वं**) पुद्गल कर्म के करने मे मात्र निमित्तरूप मे कर्ता है (**निमित्ताभावे-नैमित्तिकस्याप्यभावात्**) क्योकि निमित्त-कारण-का अभाव होने पर नैमित्तिक-कार्य का भी अभाव हो जाता है (**अपि-पुनः**) फिर (**कर्म-ज्ञानावरणादि कर्मस्वरूपेण नैव निश्चयेन न व्यवतिष्ठते समर्थे विनाशके विनाश्यस्याव्यवस्थानात् प्रकाशे सति तमोवत्**) ज्ञानावरणादि कर्म, कर्मरूप मे निश्चय से नही स्थिर रहते क्योकि समर्थ विनाशक के होने पर विनाश होने योग्य पदार्थ स्थिर नही रह सकता अर्थात् वह अवश्य ही नष्ट हो जाता है जैसे प्रकाश के रहते हुए अन्धकार नही टिक सकता है (**च-पुन**) और (**यथा-येन प्रकारेण ज्ञानम्, कर्म कलक कलङ्कितं ज्ञानम्-ज्ञानम्-निर्मल ज्ञानम्**) जैसे कर्म मल से मलिन ज्ञान, निर्मल ज्ञान (**भवति-जायते**) हो जाता है (**अपि-पुनः**) फिर (**पुद्गल.-पुद्गलपरमाणु.**) पुद्गल परमाणु (**पुद्गल एव भवति न कर्मरूपेण परिणमति**) पुद्गल रूप मे ही रहता है कर्मरूप से नही परिणमन करता है।

अन्वयार्थ—कारण का अभाव होने पर कार्य का भी अभाव हो जाता है यह न्याय सिद्ध नियम है। इस नियम के आधार पर से यह निर्णय करना युक्तिसङ्गत ही होगा कि मोह के सद्भाव मे आत्मा का ज्ञान अज्ञान-मिथ्याज्ञान रूप से परिणत होता है। उस अवस्था मे कर्ता कर्म की सन्तति चल पडती है। इसका अस्तित्व अज्ञान के साथ अविनाभाव रूप से सम्बद्ध है अत जब तक अज्ञान रहता है तब तक वह कर्ता कर्म की सन्तति अविच्छिन्न रूप से सतत विद्यमान रहती है। लेकिन जब अज्ञान का मूल कारणमोह अर्थात् पर मे एकत्वपना विलीन हो जाता है तब वह अज्ञान भी ज्ञानरूप मे परिणत हो उक्त सन्तति का निरोधक बन जाता है। ऐसी स्थिति मे कर्ता कर्म का वेष धारण करने वाले जीव और पुद्गल अपने विकृत वेष को छोड कर स्वभाव मे स्थित होकर मात्र ज्ञाता और ज्ञेय रूप मे प्रतिभासित होने लगते हैं जो वास्तविकता की चरम सीमा है और है वस्तुतलस्पर्शी यथार्थता ॥५४॥

इति श्री समयसार पद्यास्याध्यात्मतरङ्गिण्यपरनामधेयस्य व्याख्यायां द्वितीयोऽङ्कः।

इस प्रकार से इस समयसार पद्य की जिसका दूसरा नाम अध्यात्मतरङ्गिणी भी है—व्याख्या मे दूसरा अङ्क समाप्त हुआ ॥

तृतीयाऽङ्कः प्रारभ्यते

पुण्य पापाधिकारः

जीयादमृतहिमांशु प्रणीतमध्यात्मविशदपद्यमिदम् ।
शुभचन्द्रदेवविवृतं सुकृतचयं कुन्दकुन्दपरम् ॥१॥

अन्वयार्थः—(**कुन्दकुन्दपरम्**) जिसके मूल कर्ता भगवान् कुन्दकुन्दाचार्य हैं (**सुकृतचयम्**) और जो शुद्धोपयोग का समूह है (**शुभचन्द्रदेवविवृत्तम्**) और शुभचन्द्र भट्टारक ने जिसकी व्याख्या की है (**इदम्**) ऐसा (**अमृतहिमाशुप्रणीतम्**) श्री अमृतचन्द्राचार्य प्रणीत-विरचित (**इदम्**) यह (**अध्यात्मविशदपद्यम्**) अध्यातम तत्त्व को विस्तृत करने नाला पद्यग्रन्थ अर्थात् अध्यात्मतरङ्गिणी नामक ग्रथ (**जीयात्**) जयवान् हो ।

(**अथैकमेवद्विपात्रीभूय पुण्यपापरुपेण प्रविशति**) अथ—कर्ताकर्म का खण्डन करने के पश्चात् एक ही कर्म दो पात्र बनकरके पुण्य और पाप के रूप मे प्रवेश करता है—

तदथ कर्म शुभाशुभभेदतो द्वितयतां गतमैक्यमुपानयन् ।
ग्लपितनिर्भर मोहरजा अयं स्वयमुदेत्यवबोधसुधाप्लवः ॥१॥

अन्वयार्थः—(**अथ**) कर्ताकर्म अधिकार के बाद (**सत्**) जो (**कर्म**) कर्म (**शुभाशुभभेदतः**) शुभ और अशुभ के भेद से (**द्वितयताम्**) दो भेदता को अर्थात् शुभ-पुण्य तथा अशुभ पापरूप को (**गतम्**) प्राप्त हुआ (**तत्**) उसी प्रसिद्ध कर्म को (**ऐक्यम्**) एकरूप (**उपानयन्**) करता हुआ (**ग्लपित-निर्भरमोहरजा**) जिसने महामोहरूप रज को विनष्ट कर दिया है ऐसा (**अयम्**) यह (**अवबोधसुधाप्लवः**) सम्यग्ज्ञानरूप चन्द्रमा (**स्वयम्**) स्वतः अपने आप (**उदेति**) उदय को प्राप्त होता है ।

स० टीका—(**अथ-जीवाजीवयोः कर्तृकर्मत्वनिराकरणादनन्तरम्**) जीव और अजीव मे कर्ता और कर्म का निराकरण करने के पश्चात् (**अयम्**) यह (**बोधसुधाप्लवः ज्ञानामृतपूरः**) ज्ञानरूप अमृत का प्रवाह (**स्वय-स्वत एव कर्मनिरपेक्षत्वेन**) स्वय ही कर्म की अपेक्षा न रखते हुए (**उदयति-उदयं प्राप्नोति**) उदय को प्राप्त करता है **किंभूतः**) कैसा होता हुआ (**ग्लपितेत्यादि. -ग्लपित-विनाशित निर्भरं-निर्विशेषभुवनं-विर्भात धारयतीति निर्भरं समस्तमोहाक्रान्तत्वात् मोह एवरजो धूलिर्येन सः, अन्योऽपि सुधाप्लवः रेणुं ग्लपयति इत्युप मोयमेपयो. साम्यम्**) जिसने लोकमात्र को आक्रान्त करने, आच्छादित करने वाली मोहरूप धूलि का विनष्ट कर दिया है, अन्य अमृत का प्रवाह भी धूलि को नष्ट कर देता है इसलिए यहा उपमान उपनेय मे समानता है ।

और दूसरा अशुभ-पाप-कर्म नरक गति आदि को देने वाला है ऐसा भेद किया जाता है।
बन्धनहेतुकें) दोनो ही बन्ध के कारण हैं ॥२॥

भावार्थ—कर्मत्व-कर्म सामान्य की ओर लक्ष्य देने से कर्म में कोई भेद नजर नहीं आ।
वास्तविकता है। कर्म की उत्पत्ति का मूल कारण तो आत्मा का विभाव परिणाम ही है, जो
होने से पापरूप ही है कारण कि मोहनीय कर्म आत्मा के अनुजीवी गुण का घातक है,
ही है पुण्यरूप नहीं। व्यवहार से थोडे समय के लिए कर्म के पुण्य और पाप ये दो भेद
तो भी कर्म के कार्य की ओर दृष्टि डालने मे कर्म एक ही है क्योकि कर्म का एकमात्र कार्य
चतुर्गतिपरिभ्रमणरूप ससार मे रोक रखने का ही है अन्य कुछ भी नही अत कर्म एक ही है।

हेतुस्वभावानुभवाश्रयाणां सदाप्यभेदान्न हि कर्मभेदः।
तद्बन्धमार्गाश्रितमेकमिष्टं स्वयं समस्तं खलुबन्ध हेतुः ॥३॥

अन्वयार्थ—(हि) निश्चय से (हेतुस्वभावावानुभवाश्रयाणाम्) हेतु, स्वभाव, अनुभव और
(सदा) हमेशा (अभेदात्) अभेद—भेद न होने से (कर्मभेदः) कर्म मे भेद (न) नही (अस्ति) है।
इस कारण से—अर्थात् कर्म मे भेद न होने से (बन्धमार्गाश्रितम्) बन्ध के मार्ग के आश्रित है
बन्ध का कारण (अस्ति) है। (कर्म) अतः कर्म (एकम्) एक (इष्टम्) इष्ट (अस्ति) है।

सं० टीका—(हीतिस्फुटम्) हि यह अव्यय स्फुट अर्थ मे आया है अर्थात् यह बात स्पष्ट
(कर्मभेदः -शुभाशुभप्रकृत्योर्भेदो) शुभ और अशुभ प्रकृति रूप कर्म मे भेद (न) नही (अस्ति) है।
किस (हेतित्यादि-हेतुः—कारणम्, स्वभावः—स्वरूपम्, अनुभव. अनुभूति., आश्रय., द्वन्द्व, तेषाम्
कारण, स्वभाव-स्वरूप, अनुभव-अनुभूति और आश्रय इन चारो का द्वन्द्व समास हुआ है अर्थात्
से (सदाप्यभेदात्) हमेशा ही अभेद होने से (शुभाशुभयोः केवलाज्ञानमयहेतुत्वादेकत्वम्) शुभ और
दोनो एक ही है क्योंकि दोनो का कारण एकमात्र अज्ञानमयभाव है। यह हेतु-कारण की अपेक्षा
से एकत्व है।

(केवलपुद्गलमयहेतुत्वात् तयो. स्वभावाभेदः) शुभ और अशुभ इन दोनो मे स्वभाव
है कारण कि दोनो पुद्गल-स्वरूप है अत स्वभाव की अपेक्षा से भी कर्म मे एकत्व है।

(शुभोऽशुभो वा फलपाकः केवल पुद्गलमयः, इत्यनुभवाभेदः) शुभ और अशुभ रूप फल
अनुभव भी पुद्गलमय है इसलिए अनुभव की अपेक्षा से भी कर्म एक ही है।

(केवलपुद्गलमयबन्धमार्गाश्रितत्वात् तयोरभेद.) शुभ और अशुभ दोनो मे कोई भेद
क्योंकि दोनो ही एकमात्र पुद्गलरूप बन्धमार्ग के आश्रित हैं, यह आश्रय की अपेक्षा से
एकत्व है। (इतिचतुर्विधस्वभावाभेदादेवयम्) इस प्रकार से चारो प्रकार के स्वभाव मे कोई

से कर्म एक ही है (तत्—तस्मात् चतुर्भिः प्रकारैरेकत्वसम्भवात्) तिस कारण से अर्थात् पूर्वोक्त चारो प्रकार से कर्म मे एकत्व की सिद्धि होने से (कर्म) कर्म (एकम्) एक (इष्टम्-पूर्वाचार्यैर्मत कथितमित्यर्थः) है अर्थात् पूर्वाचार्यो के द्वारा ऐसा माना या कहा गया है (स्वयं-स्वत.) स्वभाव से-अपने-आप (खलु इति-निश्चितम्) खलु यह निश्चित अर्थ मे प्रयुक्त अव्यय है अर्थात् निश्चय से (समस्तं—शुभाशुभ कर्म) शुभ और अशुभ रूप समस्त कर्म (बन्धहेतुः—चतुर्विधबन्धाना कारणम्) चारो प्रकार के बन्धो का कारण है (हेतुर्गभितविशेषणमिदम्) यह हेतुर्गभित विशेषण है। (पुन.किम्भूतम्) फिर कैसा (बन्धमार्गाश्रितं—मोक्षबन्धमार्गौ-द्वौ तत्र बन्धनदशासमाश्रितम्) मोक्षमार्ग और बन्धमार्ग ये दो मार्ग हैं, इनमे बन्धन दशा कर्म के आश्रित है ।।३।।

भावार्थ—हेतु, स्वभाव, अनुभव और आश्रय इन चारो से भी कर्म मे भेद नही आता है। कारण कि एक हेतु को छोडकर शेष तीनो ही पुद्गल स्वरूप हैं और कर्म भी स्वय पुद्गलमय है। अत कर्म मे भेद न होने से कर्म एक ही है। रही हेतु की बात, सो हेतु आत्मा का विकारी अज्ञानमय भाव है। आत्मा के अज्ञानमय विकारीभाव के निमित्त से ही पुद्गलकर्म वर्गणाएँ कर्मत्व दशा को प्राप्त होती है। अतः कारण के एक होने से कर्म रूप कार्य भीएक ही होगा दो नही। इस भाति कर्म मे एकता ही सिद्ध होती है अनेकता नही।

(अथ सर्वस्यापि कर्मणोबन्ध हेतुत्वमुशन्ति) अब सभीकर्म बन्ध के हेतु हैं, यह कहते हैं—

कर्म सर्वमपि सर्वविदो यद् बन्धसाधनमुशन्त्यविशेषात् ।
तेन सर्वमपि तत्प्रतिषिद्धं ज्ञानमेव विहितं शिवहेतुः ॥४॥

अन्वयार्थ—(सर्वविद.) सर्वज्ञ देव (यत्) जिस कारण से (सर्वम्) सभी (कर्म) कर्मो को (अविशेषात्) सामान्य रूप से (बन्धकारणम्) बन्ध का हेतु (उशन्ति) कहते हैं (तेन) तिस कारण से (सर्वम्) समस्त कर्म समूह का (प्रतिषिद्धम्) निषेध किया है (ज्ञानम्) और ज्ञान को (एव) ही (शिवहेतु) मोक्ष का कारण (विहितम्) कहा है।

सं० टी०—(यत्—यस्माद्धेतो) जिस कारण से (उशन्ति-वदन्ति, प्रतिपादयन्तीत्यर्थ) कहते-प्रतिपादन करते हैं (के) कौन ? (सर्वविदः-सर्वज्ञभट्टारकाः जिनेन्द्र इत्यर्थः) सर्वज्ञभट्टारक अर्थात् जिनेन्द्र देव (किम्) किसको (सर्वमपि-समस्तमपि) समस्त—सभी (कर्म-शुभाशुभ-कर्म) शुभ-पुण्य तथा अशुभ-पाप-कर्म को (बन्धसाधनम्—चतुर्विध कर्मबन्धकारणम्) चार प्रकार के कर्म बन्ध का कारण (कुत.) कैसे (अविशेषात्—शुभाशुभयो कर्मबन्धनकारणत्वाभेदात्) सामान्य रूप से अर्थात् शुभ और अशुभ दोनो प्रकार के कर्म, कर्मबन्धन के प्रति कोई भेद नही रखते क्योकि दोनो ही आत्मा को संसार-बंधन मे डाल रखते हैं (तेन-कारणेन) तिस कारण से (तत्-कर्म) वह कर्म (सर्वमपि-समस्तमपि शुभाशुभम्) सारा का सारा चाहे वह शुभ हो अथवा अशुभ (प्रतिषिद्धं-निराकृतम्) निराकरण को प्राप्त हुआ (तर्हिकिमादृतम्)

तो कौन आदर को प्राप्त हुआ ? (**ज्ञानमेव-भेदबोधएव**) ज्ञान ही-स्वपर भेद विज्ञानरूप सम्यग्ज्ञान ही (**शिवहेतुः शिवस्य—मोक्षस्य हेतुः कारणम्**) जिसे मोक्ष का कारण (**विहितं-कथितम्**) कहा (**कै.**) किन्होने (**परमागमकोविदै.**) परमागमज्ञ-गणधरादि आचार्यों ने ।

भावार्थ—सर्वज्ञ प्रभु की दिव्य वाणी ने कर्ममात्र को वन्ध का कारण कहा है, और जो वन्ध का ससार मे आत्मा को रोक रखने का कारण है वह सर्वथा त्याज्य है। मोक्ष का कारण तो एकमात्र आत्मज्ञान ही है, अतएव वही उपादेय—है।

(**अथ कर्ममार्गनिराकरणेमोक्षावाप्ति विचकयति**) अव कर्ममार्ग के निराकरण से मोक्ष की प्राप्ति को प्रकट करते है—

निषिद्धेसर्वस्मिन् सुकृतदुरिते कर्मणिकिल ।
प्रवृत्ते नैष्कर्म्ये न खलु मुनयः सन्त्यशरणाः ।
तदा ज्ञाने (ते) ज्ञानं प्रतिचरितमेषां हि शरणं,
स्वयं विन्दन्त्येते परममृतं तत्र निरताः ॥५॥

अन्वयार्थ—(**किल**) निश्चय से (**सर्वस्मिन्**) सभी (**सुकृतदुरिते**) पुण्य और पापरूप (**कर्मणि**) कर्म के (**निषिद्धे**) निषेध करने पर (**नैष्कर्म्ये**) निष्कर्म अवस्था मे (**प्रवृत्ते**) प्रवृत्त मान (**खलु**) निश्चय से (**मुनय.**) मुनिजन (**अशरणा**) शरणरहित (**न**) नही (**सन्ति**) हैं। (**तदा**) निष्कर्म अवस्था मे (**एषाम्**) इन मुनि महात्माओ को (**ज्ञानम्**) ज्ञान (**ज्ञाने**) ज्ञान मे (**प्रतिचरितम्**) प्रवृत्ति को प्राप्त हुआ (**शरणम्**) शरण-सहारा (**अस्ति**) है (**तत्र**) उस ज्ञान मे (**निरता.**) निमग्न हुए (**एते**) ये मुनि महात्मा (**स्वयम्**) स्वत —अपने-आप (**परमम्**) सर्वोपरि श्रेष्ठ (**अमृतम्**) आत्मिक अमृत का (**विदन्ति**) स्वाद लेते हैं।

स० टी०—(**किल-इति अगमोक्तौ**) किल—यह अव्यय आगम की उक्ति मे प्रयुक्त हुआ है अर्थात् आगम मे कहा है (**खलु-इति निश्चितम्**) खलु यह अव्यय निश्चित अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है अर्थात् निश्चित रूप से (**मुनयः मननमात्र, भावमात्र, तया मुनयः—यतीश्वरा.**) एकमात्र आत्मा के स्वरूप का मनन-चिंतन करने से मुनि अर्थात् यतीश्वर (**अशरणा—शरण्यपथ वर्जिता.**) रक्षण मार्ग से रहित (**न सन्ति—न जायन्ते**) नही होते हैं (**क्व सति**) किसके होने पर (**सर्वस्मिन्—समस्ते**) समस्त (**सुकृत दुरिते—शुभाशुभे**) शुभ-पुण्य और अशुभ-पापरूप (**कर्मणि-प्रकृतौ**) कर्म-प्रकृति के (**निषिद्धे-निवृत्ते सति**) निषेध करने पर (**पुनः नैष्कर्म्ये-कर्मण निष्क्रान्त निष्कर्म, तस्य भावः नैष्कर्म्य तस्मिन्**) कर्मशून्यता के (**प्रवृत्ते-कर्मातीतेपथि विज्रम्भिते सति**) कर्म से रहित मार्ग के वृद्धिगत होने पर (**हीति-व्यवतम्**) हि यह अव्यय व्यक्त अर्थ मे आया है अर्थात् यह बात व्यक्त-स्पष्ट है कि (**तदा कर्मरोधादिसमये**) कर्म का निषेध करने के समय (**एषा योगिनाम्**) इन योगियो का (**ज्ञान—भेदबोध एव**) भेदज्ञान ही (**शरण-आश्रय**) शरण-आश्रय (**अस्ति**) है (**किम्भूतम्-ज्ञानम्**) कैसा ज्ञान (**ज्ञाने-चेतनास्वभावे**) चेतना-स्वरूप ज्ञान मे (**प्रतिचरितं-प्रवृत्तं व्यापृत्तमित्यर्थ.**) प्रवृत्त हुआ विशेष रूप से निमग्न हुआ (**एते-योगिमः**) ये योगी-

मुनिजन (**स्वयम्-प्रयासमन्तरेण**) बाह्यक्रियाकाण्ड रूप प्रयास—प्रयत्न के बिना ही (**विन्दन्ति—लभन्ते**) प्राप्त करते है (**किम्**) क्या (**परमम्—उत्कृष्टम्, परा-उत्कृष्टा-मा-ज्ञानाद्यतिशयलक्षणा लक्ष्मीर्यत्र तत्पर-ममितिवा**) जिसमे ज्ञानादि अतिशय लक्षण वाली लक्ष्मी विद्यमान है ऐसे (**अमृतम्-अपवर्गम्**) अमृत-अपवर्गमोक्ष को (**किम्भूताः सन्तः**) कैसे होते हुए (**तत्र-तस्मिन्**) उस (**ज्ञाने**) ज्ञान के (**ज्ञाते**) जानने पर (**ज्ञाने इति पदमत्रग्राह्यं वा**) अथवा ज्ञान इस पद को यहाँ ग्रहण कर लेना चाहिये अर्थात् उक्त भेदविज्ञान के जानने मे (**निरताः निश्शेषमासक्ताः सन्त**) पूर्णरूप से निमग्न होते हुए ॥५॥

भावार्थ—जब कर्ममात्र का निषेध होने से शुभ प्रवृत्ति का भी निषेध हो जाता है। तब शुभाचरण मे प्रवृत्त साधुजन क्या करे ? किस रूप मे प्रवृत्त करें ? यह एक समस्या साधुजनो के सामने उपस्थित होती है। जिसका समाधानात्मक निराकरण अध्यात्म योगी आचार्य ने अध्यात्मतर से समन्वित सुयुक्ति-पूर्ण ढग से यही किया है कि शुभ प्रवृत्ति से मुक्ति सम्भव नही है। प्रत्युत् मुक्ति का विरोधी बन्ध ही पूर्ण रूपेण सम्भावित है। अत उस शुभ प्रवृत्ति की निवृत्ति करते हुए आत्मत्व बोध मे ही साधु को निरत रहना चाहिए। उससे ही बन्ध का विरोधी मोक्ष तत्त्व सिद्ध होगा। अत साधु पुरुषो की स्थिरता का आधार एकमात्र ज्ञान ही है। बस, उसी मे ही साधु पुरुषो को सलग्न रहने की नितान्त आवश्यकता है, शुभ प्रवृत्ति मे नही। शुभ प्रवृत्ति तो वन्ध का ही मार्ग है। मोक्ष का मार्ग नही है। मोक्ष का मार्ग तो स्वानुभूति अर्थात् ज्ञानानुभूति मे स्थिरता है। बिना ज्ञानानुभूति की लीनता के कथमपि मुक्ति सम्भव नही है।

(**अथ ज्ञानस्यशिवहेतुत्व बिध्यापयति**) अव ज्ञान मोक्ष का कारण है यह विधान करते है—

यदेज्तद ज्ञानात्मा ध्रुवमचलमाभाति भवनं,
शिवस्यायं हेतुः स्वयमपि यतस्तच्छिव इति।
अतोऽन्यद्बन्धस्य स्वयमपि यतो बन्ध इतितत्,
ततो ज्ञानात्मत्वं भवनमनुभूतिर्हि विहितम् ॥६॥

अन्वयार्थ—(**यत् एतद् ध्रुवम् अचलम् ज्ञानात्मा भवनम् आभाति**) जो यह ज्ञानस्वरूप आत्मा ध्रुवरूप से और अचल रूप से ज्ञानस्वरूप परिणमता हुआ भासित होता है (**अय शिवस्य हेतु.**) वही मोक्ष का हेतु है (**यतः**) क्योकि (**तत् स्वयम् अपि शिव इति**) वह स्वयमेव मोक्ष स्वरूप है (**अत. अन्यत्**) उसके अतिरिक्त अन्य जो कुछ है (**बन्धस्य**) वह बन्ध का हेतु है (**यत.**) क्योकि (**तत् स्वयम् अपि बन्धः इति**) वह स्वयमेव बन्ध-स्वरूप है (**तत.**) इसलिए आगम मे (**ज्ञानात्मत्व भवनम्**) ज्ञानस्वरूप होने का अर्थात्त (**अनुभूतिः हि**) अनुभूति करने का ही (**विहितम्**) विधान है।

सं० टी०—(**ध्रुवं-निश्चितम्**) निश्चित (**यत्-यस्मात्कारणात्**) जिस कारण से (**एतत्-प्रसिद्धम्**) यह प्रसिद्ध (**शिवस्य सर्व कल्याणरूपस्य मोक्षस्य**) सर्व कल्याणरूप मोक्ष का (**भवन-गृहम्-स्थानमितियावत्**)

भवन-गृह अर्थात्—स्थान (**किम्भूतम्**) कैसा (**अचलं-निश्चल-अनन्तकालस्थायित्वात्**) अचल अर्थात् अनन्तकाल पर्यन्त स्थिर रहने से निश्चल (**स इत्यध्याहार**) स इस पद का अध्याहार है अर्थात् वह (**ज्ञानात्मा-ज्ञानमयात्मा**) ज्ञान स्वरूप आत्मा (**आभाति-चकास्ति-शोभते**) शोभा पाता है (**अपि-पुनः**) फिर (**यत -यस्माद्धेतो.**) जिस कारण से (**अय-ज्ञानात्मा**) यह ज्ञानी आत्मा (**स्वयं-स्वभावत.**) स्वय-स्वभाव से (**हेतु.-शिवस्य कारणम्**) मोक्ष का कारण है (**तत् तस्मात्-स्वयं शिवात्मकत्वात्-शिवहेतुत्वाच्च शिव इति कीर्तितः**) तिस कारण से अर्थात् स्वय शिवरूप होने से तथा शिव का कारण होने से शिव इस नाम से कहा गया है (**तथाऽज्ञानमभिधत्ते**) वैसे ही अज्ञान को कहते है (**यतः-यस्माद्धेतोः**) जिस कारण से (**अतः-ज्ञानात्मन.**) इस ज्ञान स्वरूप आत्मा से (**अन्यत्-भिन्नम्-अज्ञानात्मा**) भिन्न-अज्ञानमय आत्मा (**बन्धस्य-कर्मबन्धस्य**) कर्मबन्ध का (**भवनम्**) भवन (**आभाति**) मालूम होता है (**अपि-पुन.**) फिर (**स्वय-स्वतः**) स्वभाव से (**बन्धस्य हेतुरपि भवतादम्**) बन्ध का हेतु भी होता है यह (**तत् तस्मात् बन्धात्मकत्वात् बन्धहेतुत्वाच्च बन्ध इति**) तिस कारण से अर्थात् बन्धस्वरूप होने से तथा बन्ध का कारण होने से बन्ध ऐसा (**कथ्यते**) कहा जाता है (**अज्ञानात्मा बन्ध इति कीर्तितः**) यह अज्ञानी आत्मा बन्ध कहा गया है (**हीति-स्फुटम् हि**) यह अव्यय स्फुट का वाचक है (**ततः-तस्मात् कारणात्**) तिस कारण से (**स्व-स्वकीय**) स्वरूप रूप (**भवन-प्रवर्तनम्**) होना-प्रवृत्त करना (**ज्ञानात्मज्ञानस्वरूपम्**) ज्ञान स्वरूप आत्मा को ज्ञान स्वरूप (**विहित-प्रतिपादित**) प्रतिपादन किया गया है (**परमार्थपण्डितै.**) सम्यग्ज्ञानी पण्डितो के द्वारा (**किम्भूतम्**) फिर कैसा (**अनुभूति -स्वस्यानुभवनम्-अनुभूतिः**) अपने स्वरूप का अनुभव करना ही अनुभूति है। (**अजहल्लिङ्गवृत्तित्वात्पुल्लिङ्गे**) अजहल्लिङ्ग वृत्ति अर्थात् लिङ्ग को नही छोडने रूप वृत्ति होने के कारण पुल्लिङ्ग मे प्रयोग हुआ है ॥६॥

भावार्थ —मिथ्यादर्शन मोह सहचर ज्ञान अज्ञान कहा जाता है। उस अज्ञान से युक्त आत्मा भी अज्ञानमय ही कहा जाता है। अत अज्ञानी आत्मा स्वय ही बन्ध का कारण एव स्वय ही बन्धस्वरूप है ऐसा निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध से कहना युक्तियुक्त ही है। पर वही आत्मा जब मिथ्यादर्शन मोह का क्षय, उपशम, या क्षयोपशम कर सम्यग्दृष्टि हो जाता है, तब उसे ज्ञानी या ज्ञानमय आत्मा कहते है। ऐसा सम्यग्ज्ञान सम्पन्न आत्मा स्वय ही मोक्ष का कारण या स्वय ही मोक्ष स्वरूप है। उक्त प्रकार के सम्यग्ज्ञानी आत्मा को ही आत्मानुभूति या ज्ञानानुभूति होती है क्योकि वह यथार्थतया ज्ञानरूपता या आत्मस्वरूपता को प्राप्त हुआ है अतएव तन्मयता ही उसका खास स्वरूप है वही उसकी साक्षात् आत्मानुभूति या ज्ञानानुभूति है।

(**अथ ज्ञानस्य वृत्तत्वमनुवर्ण्यते**) अब ज्ञान स्वय ही चारित्र स्वरूप है यह वर्णन करते हैं—

वृत्तं ज्ञानस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं सदा।
एकद्रव्यस्वभावत्वान्मोक्षहेतुस्तदेव तत् ॥७॥

अन्वयार्थ—(**ज्ञानस्य**) ज्ञान का (**सदा**) हमेशा (**ज्ञानस्वभावेन**) ज्ञान स्वरूप से (**भवनम्**) होना-

रहना (**वृत्तम्**) चारित्र (**अस्ति**) है क्योंकि वह (**एक द्रव्यस्वभावत्वात्**) एक द्रव्य का स्वभाव है (**तत्**) तिस कारण से (**तदेव**) वह ही (**मोक्षहेतुः**) मोक्ष का कारण (**अस्ति**) है।

सं० टी०—(**सदा-निरन्तरम्**) सदा-निरन्तर-हमेशा (**वृत्तं-चारित्रम्**) चारित्र (**ज्ञानस्वभावेन-रागादिपरिहरण लक्षण बोधस्वरूपेण**) रागादि से रहित ज्ञान स्वभाव से (**ज्ञानस्य-भेदबोधस्य**) भेदज्ञान का (**आत्मनो वा**) अथवा आत्मा का (**भवनं-प्रवर्तनम् अवस्थानं वा**) होना अर्थात् तद्रूप प्रवर्तना या अवस्थित रहना है (**स्वात्मनि स्थिति.-आत्मनिचारित्रमितिवचनात्**) क्योकि आत्मा का अपने स्वरूप मे स्थित होना ही चारित्र है, ऐसा आगम का वचन है। (**ननु ज्ञानचारित्रयोरेकत्वं कथं तयोः परस्परं भिन्नत्वात्**) यहाँ शङ्का होती है कि ज्ञान और चारित्र ये दोनो एक कैसे हो सकते हैं क्योकि दोनो आपस मे भिन्न है (**इतिचेत्सत्यम्**) यदि ऐसी शङ्का है तो वह ठीक है, उसका उत्तर है कि (**एकद्रव्य स्वभावत्वात् —**) एक द्रव्य के स्वभाव होने से वे दोनो एक है (**एकद्रव्यम्—आत्मद्रव्यम्**) एकद्रव्य—अर्थात् आत्मद्रव्य (**ज्ञानचारित्रयोस्तस्यस्वभावत्वात्**) ज्ञान और चारित्र—ये दोनो उसी आत्मा के स्वभाव है, इसलिए एक है। (**ज्ञान-भवन तत्स्वभावेन भवनात्, ज्ञानपूर्वकत्वातस्य,**) क्योकि ज्ञान का होना ज्ञानस्वभाव से सम्भव है और वह—चारित्र ज्ञानपूर्वक होता है, (**तत्—तस्माद्धेतो.**) तिस कारण से (**तदेव—निश्चय-चारित्रमेव**) निश्चय चारित्र ही (**नान्यत्**) दूसरा नही (**मोक्षहेतु –मोक्षकारणम्**) मोक्ष का कारण है ॥७॥

भावार्थ—आत्मा का आत्मस्वरूप मे स्थित हो जाना ही चारित्र है। ऐसा चारित्र ज्ञान पूर्वक ही हो सकता है। अतएव सम्यक् ज्ञानपूर्वक होने वाला चारित्र ही निश्चय चारित्र है और वही मोक्ष का साक्षात् मार्ग है ॥७॥

(**अथान्याभिमत क्रियाकाण्डस्य वृत्तत्वं निरूणद्धि**) अब अन्य मतावलम्बियो द्वारा अभिमत-स्वीकृत क्रियाकाण्ड को-चारित्रता का निषेध करते हैं—

वृत्तं कर्मस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं नहि।
द्रव्यान्तरस्वभावत्वान्मोक्षहेतुर्न कर्म तत् ॥८॥

अन्वयार्थ—(**कर्मस्वभावेन**) कर्म-व्रताचरण रूप क्रिया से (**यत्**) जो (**वृत्तम्**) चारित्र (**भवति**) होता है (**तस्मिन्**) उसमे (**ज्ञानस्य**) ज्ञान का (**भवनम्**) होना (**हि**) निश्चय से (**न**) नही (**अस्ति**) है क्योकि (**तत्**) वह कर्म-व्रताचरण रूप क्रियाकाण्ड (**द्रव्यान्तरस्वभावत्वात्**) आत्मा से भिन्न पुद्गल दव्य का स्वभाव है अतएव (**तत्**) वह (**कर्म**) कर्म (**मोक्षहेतुः**) मोक्ष का हेतु-कारण (**न**) नही (**अस्ति**) है।

सं० टीका—(**कर्मस्वभावेन-व्रततपः प्रभृतिकर्म-क्रियाकाण्डं तत्स्वभावेन**) व्रत तप आदि क्रियाकाण्ड रूप कर्म से (**वृत्तं-चारित्रं**) चारित्र (**न**) नही होता है (**ज्ञानस्य-बोधस्य**) ज्ञान का (**भवनम्-प्रवर्तनम्**) होना (**अनुचरणम्**) ज्ञानरूप आचरणसे (**भवेत्**) हो सकता क्योकि (**ज्ञानभवनस्याभवनात्**) उसमे-क्रियाकाण्ड मे ज्ञान का होना सम्भव नही है। (**कुतः**) किस कारण से ? (**द्रव्यान्तर-स्वभावत्वात् द्रव्यान्तरस्य-आत्म-**

द्रव्यादन्यद्रव्यस्य स्वभावः स्वरूपं तस्य भावस्तत्वं तस्मात्) आत्मा से भिन्न द्रव्य का स्वभाव होने से (**तत्-क्रियाकाण्डम्**) वह क्रियाकाण्ड (**कर्म-आचरणम्**) आचरण (**मोक्षहेतुः-मोक्षस्य हेतुः कारणम्**) मोक्ष का कारण (**न**) नही (**भवेत्**) हो सकता है।

भावार्थ—आत्मा का मोक्ष आत्मा की ज्ञानाचरणरूप क्रिया पर ही निर्भर है वह जड की क्रिया से कथमपि सम्भव नही है अत पौद्गलिक शरीर की क्रिया भले ही वह महाव्रतादि के अनुरूप ही क्यो न हो मोक्ष का हेतु नही हो सकती।

(**अथ क्रियाकाण्डस्य मोक्षहेतुत्वं कुतो नेति जंजल्प्यते**) अब क्रियाकाण्ड मोक्ष का हेतु-कारण क्यो-कैसे नही है यह बताते हैं—

मोक्षहेतुतिरोधानाद्बन्धत्वात् स्वयमेव च।
मोक्षहेतुतिरोधायिभावत्वात्तन्निषिध्यते ॥६॥

अन्वयार्थ—(**मोक्षहेतुतिरोधानात्**) कर्म मोक्ष के हेतु का बाधक होने से (**च**) और (**स्वयम्**) स्वभाव से (**बन्धत्वात्**) बन्धरूप होने से (**मोक्षहेतुतिरोधायिभावत्वात्**) मोक्ष के कारणो का तिरोधायी बाधक-होने से वह शुभाश्रव का साक्षात् कारण होने से मोक्ष का निवारक है अतएव (**तत्**) वह क्रिया-काण्ड (**निषिध्यते**) निषेध किया जाता है।

सं० टीका—(**तत्-क्रियाकाण्डम्**) वह क्रियाकाण्ड (**निषिध्यते-निवार्यते**) निषेध-निवारण-किया जाता है (**कुतः**) कैसे? (**मोक्षेत्यादि-मोक्षस्य-मुक्तेः हेतु-कारण-स्वात्मध्यानादि-तस्य तिरोधानं-अपवार-णं-तस्मात्-क्रियाकाण्डपरिणतस्य ध्यानानवकाशात्**) मोक्ष का कारण जो आत्मध्यान आदि उसका निवा-रक होने से क्योकि क्रियाकाण्ड-व्रताचरण मे सग्लग्न साधु के उस समय ध्यान का होना सम्भव नही है। (**स्वयमेव-स्वत एव**) स्वभाव से ही (**बन्धत्वात्-कर्मबन्धस्वभावत्वात्**) बन्धरूप होने से अर्थात् कर्मो को बाधने का ही स्वभाव होने से (**च-पुनः**) और (**मोक्षेत्यादि-मोक्षस्य हेतु कारण-शुद्धध्यानादिः तस्य तिरो-भावं दधातीत्येवं शीलोभाव स्वभावो यस्य तस्य भावस्तत्त्व तस्मात्-शुभकर्मकारक परिणामाविर्भावात्**) मोक्ष के कारणरूप शुद्धध्यानादि के आवरण करने का स्वभाव होने से अर्थात् शुभकर्म को उत्पन्न करने मे कारणभूत परिणामो का उत्पादक होने से ॥६॥

भावार्थ—व्रताचरणरूप क्रियाकाण्ड मोक्ष का निरोधक है। स्वभाव से बन्धस्वरूप है। मोक्ष के कारणो का विरोधक है। अतएव निषेध का पात्र है। उपर्युल्लिखित कारणो से शुभाचरणरूप क्रियाकाण्ड का मोक्ष के प्रति कारणता का निषेध किया गया है। यही निश्चयदृष्टि या आत्मदृष्टि है। वस्तुस्थिति भी यही है ॥६॥

(**अथ समस्तापि कर्मतितिक्षां सलक्ष्यति**) अब सभी कर्मो को त्यागने का उपदेश देते हैं—

संन्यस्तव्यमिदं समस्तमपि तत्कर्मैव मोक्षार्थिनां
सन्न्यस्ते सति तत्र का किल कथा पुण्यस्य पापस्य वा।

सम्यक्त्वादि निजस्वभावभवनान्मोक्षस्य हेतुर्भवन्-
नैष्कर्म्यं प्रतिबद्धमुद्धतरसं ज्ञानं स्वयं धावति ॥१०॥

अन्वयार्थ—(**मोक्षार्थिना**) मोक्ष के इच्छुक को (**इदम्**) यह (**तत्**) वह (**समस्तम् अपि**) सभी (**कर्म**) कर्म (**एव**) ही (**सन्न्यस्तव्यम्**) छोड देना चाहिए। (**किल**) निश्चय से (**तत्र**) उस कर्म के (**सन्न्यस्ते सति**) त्यागने पर (**पुण्यस्य**) पुण्य की (**वा**) अथवा (**पापस्य**) पाप की (**का**) क्या (**कथा**) कथा (**सम्यक्त्वादि निजस्वभावभवनात्**) सम्यक्त्व आदि आत्मा के स्वभावरूप हो जाने से (**मोक्षस्य**) मोक्ष का (**हेतुः**) कारण (**भवत्**) होता हुआ (**नैष्कर्म्यप्रतिबद्धम्**) निष्कर्मता-कर्ममात्र के अभाव से-सम्बन्धित (**उद्धतरसम्**) परिपूर्णरस-स्वभाव-वाला (**ज्ञानम्**) ज्ञान (**स्वयम्**) अपने आप-स्वभावत (**धावति**) आगे आता है—प्रकाशमान होता है।

सं० टीका—(**तदिदं-प्रसिद्धम्**) वह यह प्रसिद्ध (**समस्तमपि-निखिलमपि**) समस्त सारा-का-सारा (**कर्म-ज्ञानावरणादि प्रकृतिः**) कर्म-ज्ञानावरणादि प्रकृतिरूप कर्म (**सन्न्यस्तव्यं-त्याज्यम्**) त्याग देना चाहिए (**एव-निश्चयेन**) निश्चय से (**केन**) किसके द्वारा (**मोक्षार्थिना-कर्मणां मोचनं-मोक्षः स एवार्थः प्रयोजनं पदार्थो वा यस्य स तेन**) कर्मों को छोडने का नाम मोक्ष है वह मोक्ष ही जिसका प्रयोजन है ऐसे मोक्षार्थी के द्वारा (**किलेत्यागमोक्तौ**) किल—यह अव्यय आगम के अर्थ मे आया है अर्थात् आगम मे कहा है कि—(**पुण्यस्य शुभकर्मणः**) पुण्य-शुभ-कर्म की (**का**) क्या-कौन-सी (**कथा-वार्ता**) कथा या बात (**न कापि**) कोई भी नही (**वा**) अथवा (**पापस्य-अशुभकर्मणः का वार्ता**) पाप-अशुभ-कर्म की क्या बात (**क्व सति**) किसके होने पर (**तत्र-कर्मणि**) उस कर्म के (**सन्न्यस्ते-त्यक्तेसति**) छोडने पर (**पुनस्तथासति**) फिर वैसा होने पर (**ज्ञानं-बोधः**) ज्ञान-भेदविज्ञान (**स्वयं-स्वत.**) स्वयमेव-अपने आप-स्वभाव से (**धावति-शुद्ध्यति शुद्धं-भवति**) शुद्ध होता है (**उल्लसति वा**) अथवा विकास को प्राप्त होता है। (**धावु गतिशुद्धचोरेतस्यधातोः प्रयोगः**) गति और शुद्धि मे प्रयुक्त होने वाली धावु धातु का यह प्रयोग है। (**किम्भूतम् ?**) कैसा (**उद्धत-रसम्-उत्कट स्वभावम्**) उत्कट स्वभाव वाला (**पुनः**) फिर (**नैष्कर्म्य प्रतिबद्धम्-नैष्कर्म्येण कर्मातीत्वेन-प्रतिबद्धम्-सम्बद्धम्**) कर्मों के अभाव से युक्त—अर्थात् कर्मशून्य (**पुनः**) फिर (**मोक्षस्य-मुक्ते.**) मुक्ति का (**हेतुः-कारणम्**) हेतु-कारण (**भवत्-जायमानम्**) होता हुआ (**कुतः**) किससे (**सम्यक्त्वेत्यादि निजस्वभाव-भवनात्-सम्यक्त्वं तत्त्वश्रद्धानं आदिशब्दात्-ज्ञानचारित्रादि स एव निजस्वभाव.-आत्मस्वरूपम् तेन भवनम् आत्मस्वरूपेण जायमानमित्यर्थः तस्मात्**) तत्त्वार्थ श्रद्धानरूप सम्यक्त्व तथा आदिशब्द से ज्ञानचारित्र आदि रूप निज आत्मिक स्वभाव के उत्पन्न होने से।

भावार्थ—समस्त कर्मपटल को छिन्न भिन्न करके ही ज्ञान उदय को प्राप्त होता है। जो साक्षात् मोक्ष का मार्ग है। नि प्रतिबन्ध मोक्ष का कारण है। अत उसके उदित होने के पूर्व ही पुण्य और पाप प्रकृतियाँ सर्वथा विलुप्त हो जाती है अर्थात् वे अपने उदयकाल मे भी ज्ञान पर अपना जरा-सा भी प्रभाव

नहीं डाल पाती किन्तु अपना फल प्रदान कर निर्जीर्ण हो जाती है। उनके फल का आत्मज्ञानी पर कोई असर नही पडता अतएव ज्ञान मोक्ष का कारण बन जाता है। यह निर्विवाद है।

(अथ कर्मणामभावे ज्ञानभाव इति प्ररूपयति) अब कर्म का अभाव होने पर ज्ञान होता है यह निरूपण करते हैं—

यावत्पाकमुपैति कर्मविरतिर्ज्ञानस्य सम्यङ् न सा
कर्मज्ञानसमुच्चयोऽपि विहितस्तावन्न काचित्क्षतिः।
किन्त्वत्रापि समुल्लसत्यवशतो यत्कर्म बन्धाय तन्
मोक्षाय स्थितमेकमेव परमं ज्ञानं विमुक्तं स्वतः ॥११॥

अन्वयार्थ—**(यावत्)** जब तक **(ज्ञानस्य)** ज्ञान की **(कर्म)** कर्म **(विरतिः)** विरति **(सा)** वह **(पाकम्)** भलीभाँति **(सम्यङ्)** परिपूर्णता को **(न)** नही **(उपैति)** प्राप्त होती है **(तावत्)** तब तक **(कर्म ज्ञानसमुच्चयः)** कर्म और ज्ञान का एकत्रीकरण **(विहितः)** कहा गया है **(अपि)** तो भी **(काचित्)** कोई **(क्षतिः)** हानि **(न)** नही **(अस्ति)** है **(किन्तु)** परन्तु **(अत्र)** इस विषय मे **(अपि)** भी **(यत्)** जो **(कर्म)** कर्म **(अस्ति)** है **(तत्)** वह **(अवशत)** अवशपने से **(बन्धाय)** बन्ध के लिए **(समुल्लसति)** प्रगट होता है **(किन्तु)** परन्तु **(स्वत)** स्वभाव से **(विमुक्तम्)** कर्मों से शून्य—छूटा हुआ **(यत्)** जो **(परमम्)** श्रेष्ठ-सम्यक् **(ज्ञानम्)** ज्ञान **(अस्ति)** है **(तत्)** वह सम्यग्ज्ञान **(एकम्)** एक **(एव)** ही **(मोक्षाय)** मोक्ष के लिए **(स्थितम्)** स्थित **(अस्ति)** है।

स० टी०—**(यावत्-पर्यन्तम्)** जब तक **(सा-प्रसिद्धा)** वह प्रसिद्ध **(कर्मविरतिः-कर्मणा विरतिः-विरमणम्)** कर्मों से विरत होना **(सम्यक्-यथोक्तम्)** समीचीन रूप से **(पाक-परिपूर्णताम्)** परिपूर्णता को **(न)** नही **(उपैति-याति)** प्राप्त करता है **(तावत्पर्यन्तम्)** तब तक **(कर्मेत्यादि-कर्म च ज्ञानं च कर्मज्ञाने तयो समुच्चय.-समुदायः)** कर्म और ज्ञान इन दोनो का समुदाय **(विहित.-कथित)** कहा गया है। **(अपि-पुन·)** फिर **(तावत् ज्ञानकर्ममेलापकपर्यन्तम्)** तब तक - अर्थात् ज्ञान और कर्म के सम्मेलन तक **(काचित्)** कोई **(क्षति.-कर्मणा क्षयो न भवेत्)** कर्मों का क्षय नहीं हो सकता। **(अपि पुन)** फिर **(किमु विशेषोऽस्ति)** क्या विशेषता है ? **(अत्र-कर्मज्ञानसमुच्चयोर्मध्ये)** कर्म और ज्ञान के समुदाय के मध्य मे **(यत्)** जो **(कर्म)** कर्म **(अस्ति)** है **(तत्)** वह कर्म **(अवशतः-अवश्यम्भावात्)** अवशता से-परवशता से **(बन्धाय-कर्मबन्धन-कृते)** कर्म बन्धनरूप कार्य के लिए **(समुल्लसति-समुल्लास गच्छति विजृम्भत इति यावत्)** वृद्धि को प्राप्त होता है **(पुनरत्रापि)** फिर भी इस विषय मे **(यदा)** जब **(एकमेव-कर्मनिरपेक्षम्)** एक ही अर्थात् कर्म से निरपेक्ष अतएव एक **(केवलम्)** सिर्फ **(यत्)** जो **(ज्ञानं-बोध.)** ज्ञान **(अस्ति)** है **(तत्)** वह ज्ञान **(मोक्षाय-मुक्तये)** मोक्ष के लिए **(स्थितम्-प्रतिष्ठितम्)** स्थित **(अस्ति)** है **(किम्भूतम्)** कैसा **(परमम्-उत्कृष्टम्)** उत्कृष्ट **(स्वत -स्वभावेन)** स्वभाव से **(कर्मभि.-विमुक्त)** कर्मों से छूटा हुआ।

भावार्थ—जब तक कर्म पूर्णरूप से आत्मा से पृथक् नही हो जाते है तब तक वे सम्यग्ज्ञान के साथ एक ही आत्मा मे रह कर अपना कार्य करते रहते है। और ज्ञान अपना कार्य करता रहता है। कर्म का कार्य मात्र बन्ध है। और ज्ञान का कार्य एकमात्र मोक्ष है। बन्धक और मोक्षक दोनो का आधार आत्मा है यह बात मात्र सयोजक और वियोजक दृष्टि से कही गई है पर सयोजक दृष्टि परिहार्य होने से कादाचित्क है और वियोजक दृष्टि अपरिहार्य होने से शाश्वतिक है। एक जड को विषय करती है तो दूसरी चेतन आत्मा को विषय करती है। एक पतन का बीज है तो दूसरी उत्थान का अपूर्व कारण है। अतः जो मुमुक्षु है ससार बन्धन से विमुक्त होने की हार्दिक कामना करते हैं उन्हे चाहिए कि वे बन्धकता से मुँह मोडे और मोचकता की ओर द्रुततम गति से आगे बढें तभी वास्तविक मुक्ति की उपलब्धि उन्हे हो सकेगी अन्यथा नही क्योकि विभाव से बन्ध और स्वभाव से मोक्ष होता है यह निर्विवाद सिद्धान्त सम्मत तर्कारूढ, परम निश्चल, अखण्डित, तात्त्विक चरम निष्कर्ष है।

(**अथ नयावलम्बितत्वमुपशाम्यति**) अब नय के अवलम्बनपन का उपसहार करते है—

मग्नाः कर्म नयावलम्बनपरा ज्ञानं न जानन्ति ये,
मग्नाः ज्ञाननयैषिणोऽपि सततं स्वच्छन्दमन्दोद्यमाः।
विश्वस्योपरि ते तरन्ति सततं ज्ञानं भवन्तः स्वयम्,
ये कुर्वन्ति न कर्म जातु न वशं यान्ति प्रमादस्य च ॥१२॥

अन्वयार्थ—(**कर्मनयावलम्बनपराः**) कर्म-व्रताचरणादिरूप क्रियाकाण्ड के आलम्वन मे ही तत्पर रहते है (**ते**) वे (**ज्ञानम्**) ज्ञान-भेद ज्ञान को (**न**) नही (**जानन्ति**) जानते हैं। अतएव (**मग्नाः**) ससाररूप समुद्र मे निमग्न रहते है—(**अपि**) और (**ये**) जो (**ज्ञाननयेषिणः**) ज्ञान नय के पक्षपाती हैं (**ते**) वे (**सततम्**) निरन्तर (**स्वच्छन्दमन्दोद्यमाः**) स्वच्छन्दता से निरुद्यमी रहते है—अतएव (**मग्ना**) ससार-सागर मे डूबे रहते है। (**ये**) जो (**जातु**) कभी (**कर्म**) कर्म को (**न**) नही (**कुर्वन्ति**) करते है (**च**) और (**जातु**) कभी (**प्रमादस्य**) प्रमाद के (**वशम्**) वश-अधीन (**न**) नही (**यान्ति**) होते हैं (**ते**) वे (**सततम्**) निरन्तर (**स्वयम्**) स्वय (**ज्ञानम्**) ज्ञानस्वरूप (**भवन्तः**) होते हुए—(**विश्वस्य**) विश्व-लोक के (**उपरि**) ऊपर (**तरन्ति**) तरते हैं—निवास करते है।

सं० टीका—(**मग्नाः-भवार्णवे निमग्नाः**) ससार रूप समुद्र मे डूबे हुए रहते हैं (**के ?**) कौन (**कर्मेत्यादिः—कर्म-वत् तपश्चरणादि क्रियाकाण्डम्-तदेव नय.-पक्षः कर्मणैव मोक्ष साध्यत्वात्-इतिपक्ष तस्य अवलम्बनं-अङ्गीकारः तत्र परास्तत्पराः सावधानाः क्रियावादिन इत्यर्थ**) व्रत तपश्चरण आदिरूप क्रियाकाण्ड तद्रूप नय-पक्षविशेष अर्थात् कर्म क्रिया काण्ड से ही मोक्ष साध्य है अतएव उसी के आलम्वन मे सावधान रहने वाले क्रियावादी एकान्ती जैसा कि कहा भी है—

क्रियाश्च शतधाशीतिश्चतस्रोऽशीतिरक्रियाः।
अज्ञाना सप्तषष्टिश्च द्वात्रिंशद्विनयाश्रिताः॥

अन्वयार्थ—(**क्रियाः**) क्रियावादी (**शतधाऽशीतिः**) एक सौ अस्सी (**अक्रिया.**) अक्रियावादी (**चतस्र.**) चार अधिक (**अशीतिः**) अस्सी अर्थात् चौरासी (**अज्ञानाः**) अज्ञानवादी (**सप्तषष्टि**) सडसठ (**च**) और (**विनयाश्रिता**) विनयवादी (**द्वात्रिंशत्**) वत्तीस। सव मिलकर ३६३ तीन सौ तिरेसठ एकान्ती मिथ्यात्वी कहे गये हैं उनमे उपर्युक्त १८० एक सौ अस्सी क्रियावादी हैं। ऐसा जानना चाहिए।

(कुतः) किससे (**यत्-यस्माद्धेतोः**) जिस कारण से (**ते**) वे (**ज्ञानं-भेद-बोधम्**) भेदज्ञान को (**न**) नही (**जानन्ति-विदन्ति**) जानते हैं (**अपि-पुनः**) फिर (**ज्ञानेत्यादि-ज्ञान-बोधस्तदेव नय, ज्ञानव्यतिरिक्तं न किञ्चदस्ति यथा इष्ट चरेत् तिष्ठेदित्यादि ज्ञानाद्वैतवादिपक्ष, ज्ञाने सति साध्यसिद्धिर्नतु तत्र ध्यानमिति वा पक्ष तमिच्छतीत्येव शीला ज्ञाननयैषिण**) ज्ञाननय अर्थात् ज्ञान से भिन्न कुछ भी नही है जिसका यथेष्ट रूप से आचरण किया जाय या जिस पर स्थिति की जाय इत्यादि ज्ञानाद्वैतवादी का पक्ष है अर्थात् ज्ञान के द्वारा हो साध्य-मोक्ष-की सिद्धि हो सकती है ध्यान आदि से नही इस पक्ष को आश्रय करने वाले (**मग्ना.-भवार्णवे**) ससार रूप सागर मे निमग्न रहते हैं। (**कुत ?**) किससे (**यत्-यस्माद्धेतो**) जिस कारण से (**अतीत्यादि -य अति-स्वचछन्देन-स्वेच्छाचारेण प्रमादमान्द्यकरणे मन्दः उद्यम उद्योगो येषा ते, स्व ज्ञात्वा-ध्यानेमन्दा इत्यर्थ.**) अपनी इच्छानुसार प्रमाद को कम-दूर करने मे स्वल्प प्रयत्न करने वाले अर्थात् अपने स्वरूप को हमने जान लिया है अतएव अव हमे अपने को जानने के लिए ध्यान की आवश्यकता नही है ऐसा जानकर ध्यान मे उद्यम नही करने वाले (**तर्हि**) तो (**के उन्मग्नाः**) कौन ऊपर उठता है ? (**ते-पुरुषा**) वे पुरुष (**विश्वस्य-जगत**) जगत के (**उपरि**) ऊपर (**तरन्ति-जगदतिशायिनो भवन्तीति तात्पर्यम्**) लोक को अतिक्रमण करने वाले होते हैं यह इसका भावार्थ है (**ते के**) वे कौन हैं ? (**ये-पुरुषा.**) जो पुरुष (**जातु-कदाचित्**) कभी (**कर्मक्रियाकाण्डम्**)व्रताचरणादि रूप क्रियाकाण्ड को (**न**) नही (**कुर्वन्ति-विदधति**) पालते (**किम्भूता. सन्त. ?**) कैसे होते हुए ? (**स्वयं-कालक्षेत्रादिनिरपेक्षत्वेन**) स्वत —काल क्षेत्र आदि की अपेक्षा विना-अपने आप (**सततम्-प्रतिक्षणम्**) निरन्तर (**ज्ञानं-भेदविज्ञानम्**) भेद विज्ञान को (**भवन्त-अनुभवन्त बोधमयाः जायमाना व**) अनुभव मे लाते हुए अथवा ज्ञानरूप होते हुए (**च-पुन.**) और (**वशं-अधीनत्वम्**) अधीनता को (**न यान्ति-न प्राप्नुवन्ति**) नहीं प्राप्त होते हैं (**कस्य**) किसकी ? (**प्रमा-दस्य**) प्रमाद की (**सदा ज्ञानानुभवनं कर्मप्रमादपरिहरणं मोक्षार्थिन उक्तम्**) निरन्तर स्वपर भेदविज्ञान का अनुभव करना और प्रमाद को दूर करना मोक्षार्थी का कर्तव्य है।

भावार्थ—यहाँ पर दो प्रकार के मिथ्यादृष्टियो का वर्णन है और दोनो ही ससार समुद्र मे डूबते हैं। एक व्यवहार पक्ष को पकडने वाला क्रिया नय का पक्षपाती है व्रतादि का अच्छी तरह पालन करता है उनमे कोई दोष नही लगने देते। उनको मोक्षमार्ग मानकर करते है। व्रतो मे दो कार्य होता है—एक निवृत्ति और एक प्रवृत्ति। जितनी कषाय जाती है उतनी निवृत्ति होती है जितनी कषाय रहती है उतनी प्रवृति होती है। इस प्रकार प्रवृति कर्म कृत अथवा कषाय का कार्य है। क्रिया का पक्षपाती उस प्रवृति को कर्म का कार्य नही मानकर मोक्षमार्ग मानता है। जो बध का कारण है उसको सवर निर्जरा का कारण

माना इसलिए सात तत्त्वों मे भी विपरीत श्रद्धान हो गया। वह क्रियाकाण्डी की यह मान्यता है कि मैं मोक्षमार्गी हो गया इसलिए अपने स्वभाव को जानने की खोज नही करता। यहाँ तक कि आत्म-अनुभव प्रत्यक्ष हो सकता है यह भी मजूर नही करता। मात्र सात तत्त्वो की शास्त्र के आधार जो श्रद्धा बताई है उसी को सम्यक्त्व मान लेता है। ऐसी श्रद्धा तो द्रव्यलिंगी के भी होती है। सम्यक्दृष्टि के आत्म-अनुभव होता है यह मजूर नही करता। सातवाँ गुणस्थान भी क्रिया मे घटा लेता है पैर उठाना छठा गुणस्थान पैर को रख देना सातवां ऐसा मानकर अपने को सातवें गुणस्थान वाला मानता है। परन्तु प्रवृति मार्ग मे लगे रहते हैं शुद्ध चेतन वस्तु का प्रत्यक्षरूप से आस्वादन करने मे असमर्थ है। अगर कोई कहे मेरे आत्म-अनुभव नही है परन्तु आत्म-अनुभव हो सकता है वह तो खोज करेगा जो अपने को मोक्षमार्गी मान लिया उसकी तो खोज भी बन्ध हो जाती है।

दूसरा वह है जो निश्चयावलम्बी है। आत्मस्वरूप का अनुभव तो हुआ नही और आगम का, समयसारादि अध्यात्म ग्रन्थो का अध्ययन करके बोलने की चतुरता पाकर आत्मा का अनेक प्रकार से कथन करता है और अपने को सम्यक्दृष्टि मानता है। अनन्तानुबन्धी कषाय गयी नही, पर का कर्त्तापना मिटा नही ज्ञानस्वभाव पकड मे आया नही। चाह कर विषय मे लगा हुआ है और मुह से कहता है मैं तो कर्त्ता नही यह सब तो कर्म के उदय का कार्य है। समस्त क्रियाओ को उखाड कर स्वच्छन्दी हो रहा है। ज्ञान-वैराग्य जो ज्ञानी का लक्षण है वह है नही। विषय भोगने की चाह मिटी नही। भगवान की भक्ति करूँगा तो कर्त्ता बन जाऊँगा, त्याग करूँगा तो कर्त्ता बन जाऊँगा इस प्रकार त्याग से उन्मुख हो रहा है। पहले पाप से भयभीत था अब समझता है यह तो कर्म उदय का कार्य है मैं तो इसका कर्त्ता नही हूँ ऐसा समझ कर पाप का भय भी नही रहा। जितनी क्रिया थी उनको बध का कारण मानकर स्वच्छदी हो रहा है यहाँ तक कि जो व्रतादि धारण जा करते हैं उनका मजाक उडाता है उनको मिथ्यादृष्टि मानता है। पर्याय मे रागादि हो रहे है उनकी जुम्मेवारी अपनी नही समझता है वे तो कर्मकृत है मैं तो उनका ज्ञाता हूँ ऐसा मानकर कषाय करने का डर नही रहा। ऐसे लोग भी डूबते है। जिनके सम्यक्त्व तो हुआ नही अपने को सम्यक्दृष्टि मान लेते हैं ऐसे लोग स्वच्छन्दी होते है।

तीसरा वह व्यक्ति है जो वास्तव मे सम्यक्दृष्टि है। आत्म अनुभव को मोक्षमार्ग मानता है आत्म अनुभव करता है जब नही कर पाता है तब तीव्र कषाय से बचने के लिए देव शास्त्र या गुरु का अवलम्बन लेता है। उनका अवलम्बन लेकर फिर स्वभाव का अनुभव करने की चेष्ट करता रहता है। प्रमादी नही होता शुभोपयोग और व्रतादि को बन्ध का कारण मानता है परन्तु सच्चे देव शास्त्र गुरु के आश्रित शुभोपयोग को अपने आत्मदर्शन और आत्मस्थिरता के लिए बाहरी साधन भी समझता है। जो पर्याय मे कषाय हो रही है उसकी जुम्मेवारी अपनी समझता है, उसको मेटने के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहता है। निरन्तर स्वभावरूप रहने की चेष्टा करता है। वही ससार समुद्र से पार होता है। जिसके अपने ज्ञानस्वभाव मे ही अहमपना है पर्याय रूप कार्य मे अहम्बुद्धि नही है।

(अथ ज्ञानज्योतिषो विजृम्भणं बम्भणीति) अब ज्ञान रूप ज्योति-प्रकाश के महत्त्व का वर्णन करते हैं—

भेदोन्मादं भ्रमरसभरान्नाटयत्पीतमोहं–
मूलोन्मूलं सकलमपि तत्कर्म कृत्वा बलेन ।
हेलोन्मीलत्परमकलया सार्धमारब्धकेलि–
ज्ञानज्योतिः कवलिततमः प्रोज्जजृम्भे भरेण ॥१३॥

अन्वयार्थ—(**पीतमोहम्**) मोहरूप मदिरा के पीने से अतएव (**भेदोन्मादम्**) पुण्य-पाप अर्थात् शुभ और अशुभ रूप भेद वाले (**भ्रमरसभरात्**) भ्रान्तिरूप रस के भार से (**नाटयत्**) प्राणीमात्र को ससार मे नचाने वाले (**तत्**) उस प्रसिद्ध (**सकलम्**) समस्त (**कर्म**) कर्म को (**अपि**) भी (**बलेन**) बल पूर्वक (**मूलोन्मूलन्**) जड से उखाड (**कृत्वा**) कर के (**कवलिततमः**) अज्ञानान्धकार को नाश करने वाला अतएव **हेलोन्मीलत्परमकलया**) क्रीडामात्र से प्रकट होने वाली उत्कृष्ट सर्वोपरि कला के (**सार्धम्**) साथ (**आरब्ध केलि**) प्रारम्भ हो गई है क्रीडा जिसकी ऐसा (**ज्ञानज्योतिः**) ज्ञानरूप महान् प्रकाश-तेज (**भरेण**) अतिशय रूप से (**प्रोज्जजृम्भे**) विकास को प्राप्त हुआ—निर्बाधरूप से उदय को प्राप्त हुआ।

सं० टी०—(**भरेण-अतिशयेन**) अतिशय रूप से (**ज्ञानज्योतिः-समस्ताखण्डज्ञानज्योतिः**) सम्पूर्ण अखण्ड ज्ञान का तेज (**प्रोज्जजृम्भे**) उदय को प्राप्त हुआ (**रूपकालङ्कारोऽयम्**) यह रूप का अलङ्कार है। (**पुन.**) फिर (**हेलोन्मीलत्-हेलया-लीलया, उन्मीलत्-उत्प्रकटयत्**) लीला मात्र से प्रकट होने वाला (**पुन.**) फिर (**आरब्धकेलि-आरब्धा-प्रारम्भविषयीकृत केलि. क्रीडा येन तत्**) प्रारम्भ कर दी है क्रीडा जिसने (**सार्धं-समम्**) साथ (**कया**) किसके (**परमकलया-परमा उत्कृष्टा चासौ कला च दर्शनाद्यश., मुक्तिकला वा तया**) सर्वोत्कृष्ट दर्शनादि रूप अथवा मुक्तिरूप कला के (**किं कृत्वा**) क्या करके (**बलेन-हठात्कारेण ध्यानलक्षणेन**) बल-ध्यानरूप हठ से (**सकलमपि-समस्तमपि-प्रकृत्यादिचतुः स्वभावमपि**) प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशरूप चार प्रकार के स्वभाव को धारण वाले सभी (**तत्-प्रसिद्धम्**) प्रसिद्ध (**कर्म-ज्ञानावरणादि प्रकृति.**) ज्ञानावरणादि प्रकृतिरूप अष्ट कर्म को (**मूलोन्मूलं-मूलेन बुध्नेन, उन्मूलं-मूलतल-नाशम्**) मूलतल से नष्ट (**कृत्वा**) करके (**किम्भूतम्**) किसे (**भेदोन्मादम्-भेदेन पुण्यपापविशेषेण, उन्माद-उन्मत्तम्**) भेद-पुण्य और पापरूप विशेप भेद से उन्मत्त (**पुन.**) फिर (**पीतमोहम्-पीत पानविषयीकृत मोह-मोहनीयकर्म येन पुरुषेण**) मोहनीय कर्म का पान करने वाले को (**तम् प्राणिनम्**) उस प्राणी को-पुरुष विशेष को (**नाटयत्-भवरंगावनौ-मनुष्यतिर्यगादि विशेषेषु नृत्यं कारयत्**) ससार रूपी रगस्थलो मे अर्थात् मनुष्य और पशु आदि गति विशेषो मे नचाता हुआ (**कुत**) कैसे (**भ्रमरसभरात्-ममेदं, अहमस्ये-त्यादि भ्रान्तिरसवेगात्**) यह मेरा है और मैं इसका हूँ इत्यादि प्रकार के भ्रान्तिरूप रस के वेग से (**अन्यो-**

ऽपिनटः-भ्रमणादिरसादपरं नाटयति इत्युक्तिलेश) दूसरा नट भी भ्रमण आदि रस से दूसरे को नचाता है ऐसा कहा जाता है।

भावार्थ--अध्यात्म में दो भेद किये जाते हैं जैसे धर्म-अधर्म, वहा पर अधर्म के दो भेद है, एक पाप और एक पुण्य। इसी प्रकार धर्म तो वीतरागता रूप है और जो तीव्र राग है वह पापरूप है और मन्द-राग पुण्यरूप है। इसी प्रकार परिणाम भी दो प्रकार के है--एक शुद्ध और एक अशुद्ध भाव, अशुद्ध भाव के दो भेद हैं सक्लेश और विशुद्ध। अज्ञानी पुण्य को धर्म मानता है और शुभ क्रिया को मोक्षमार्ग मानता है। पुण्य के उदय को सुख का कारण मानता है जबकि कषाय का अभाव अथवा वीतरागता सुखरूप है। राग दु खरूप है, राग का फल भी दु खरूप है शुद्ध ज्ञान ही मोक्षमार्ग है। जितनी क्रिया हैं वे मोक्षमार्ग नही हैं। ज्ञानी की समस्त क्रिया बरजोरी से होती है, ज्ञानी उसका कर्त्ता नही है, अज्ञानी शुभ क्रिया को मोक्षमार्ग मानकर उनमे मग्न हो रहा है।

इति श्री समयसारपद्यस्याध्यात्मतरगिणी नामधेयस्य व्याख्यायापुण्यपापैकत्वनिरूपकस्तृतीयोऽङ्कः।

इस प्रकार श्री समयसार के पद्यो की, जिसका अपरनाम अध्यात्म-तरगिणी है, व्याख्या मे पुण्य पाप की एकता का निरूपण करने वाला यह तीसरा अङ्क समाप्त हुआ।
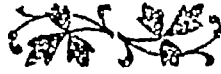
: चतुर्थोऽङ्कः प्रारभ्यते :

आस्रव का अधिकार

शुभचन्द्रामृतचन्द्रो भिनत्ति यत्तामसं सुतत्त्वेषु।
पुण्येतरेषुच तद्धि न भिद्यते दीपचन्द्रार्कैः॥

अन्वयार्थ--(**शुभचन्द्रामृतचन्द्र.**) शुभ कार्य के लिए चन्द्रमा के समान श्री अमृतचन्द्र आचार्य (**पुण्येतरेषु**) पुण्य और पापरूप (**सुतत्त्वेषु**) तत्त्वो के विषय मे (**यत्**) जिस (**तामसम्**) अज्ञानान्धकार को (**भिनत्ति**) भेदन --विनष्ट-करते हैं (**तत्**) वह (**तामसम्**) अज्ञानान्धकार (**हि**) निश्चय से (**चन्द्रार्कैः**) चन्द्रमा और सूर्य से (**न**) नहीं (**भिद्यते**) भेदा जाता है अर्थात् चन्द्रमा और सूर्य दोनो जड अन्धकार को ही विनष्ट करते हैं आत्मिक अज्ञानान्धकार को नही। अत श्री अमृतचन्द्र आचार्य चन्द्रमा और सूर्य से भी बढकर हैं यह इस पद्य का सारांश है। (**शुभं प्रशस्तं पुण्यादि चन्द्रयति-आह्लादयति इति शुभचन्द्रः स चासौ अमृतचन्द्रश्च इति व्याख्यातं विधेयम्**) अर्थात् शुभ यानी प्रशस्त श्रेष्ठ पुण्य आदि प्रकृतियो को

ज आह्लादित करता है वह शुभचन्द्र है, वह शुभचन्द्र ही अमृतचन्द्र आचार्य है, ऐसा व्याख्यान करना चाहिए।

(अथास्रवमाश्रयति) अब आस्रवतत्त्व का आश्रय करते हैं अर्थात् आस्रवतत्त्व का वर्णन करते हैं·

अथ महामद निर्भर मन्थरं, समररंगपरागतमास्रवम्।
अयमुदारगभीरमहोदयो जयति दुर्जयबोधधनुर्धरः ॥१॥

अन्वयार्थ—(उदारगभीरमहोदयः) विशाल गम्भीर और महान उदय वाला (अयम्) यत (दुर्जय-बोधधनुर्धर) अति कष्ट से जीतने योग्य सम्यग्ज्ञानरूपी धनुर्धारी योधा (अथ) पुण्य और पापरूप तत्त्व के वर्णन के पश्चात् (महामद निर्जरमन्थरम्) महान् अहङ्कार के आधिक्य से मनोहर अर्थात् उन्मत्त (समर रंग परागतम्) युद्धरूपी आगन मे प्राप्त हुए (आस्रवम्) आस्रव तत्त्व को (जयति) जीतता है अर्थात् आस्रव तत्त्व का निराकरण करता है।

सं० टी०—(अथ · पुण्यपापतत्त्वकथनादनन्तरम्) पुण्य तत्त्व और पाप तत्त्व के कथन करने के पश्चात् (अयं-प्रसिद्धः) यह प्रसिद्ध (दुर्जयबोध धनुर्धरः दुखेन जायते इति दुर्जयः सचासौ बोधश्च ज्ञानं स एव धनुर्धरः धानुष्क.) दुख से जीतने योग्य सम्यग्ज्ञानरूपी धनुर्धारी (जयति) जीतता है (कम्) किसे (आस्रवम्–आस्रवति कर्म येन स आस्रवस्तं निराकरोतीत्यर्थ.) जिससे कर्म आते हैं वह आस्रव कहलाता है। उस आस्रव को दूर करता है (किम्भूतः) कैसा (उदारेत्यादि·--उदार —उत्कटः सचासौ गभीरश्च—अलंध्यमध्य·, महानुदयो यस्य स) उदार–उत्कट गभीर—जिसकी गहराई का पता नहीं और जिसका उदय महान है (किम्भूत तम्) कैसे आस्रव को (महेत्यादिः—महांश्चासौ मदश्च अहङ्कारस्तस्य निर्झर —अतिशय. तेन मन्थरः, मेदुरः तम्) महान् अन्धकार के अतिशय से परिपूर्ण (पुनः कीदृशम्) फिर कैसे (समरेत्यादि. समर· सङ्ग्रामस्तस्य रंग.—अङ्गणम् तत्र आगत समुपस्थितः तम्) समराङ्गण मे उपस्थित(ज्ञानपराभवार्थ मुपयुक्तमित्यर्थः) अर्थात् ज्ञान—सम्यग्ज्ञान का तिरस्कार करने के लिए उद्यमयुक्त।

भावार्थ—पुण्य तथा पाप तत्त्व का विजेता सम्यग्ज्ञानरूपी योद्धा ही आस्रव तत्त्व पर विजय प्राप्त करने का परिपूर्ण अधिकारी है क्योकि यह उदार—विशाल है। गम्भीर—अथाह है। तथा निरन्तर उदयशील है। और है अन्य के द्वारा अजेय। इस सम्यग्ज्ञानी परमयोद्धा को आज तक किसी ने भी नही जीत पाया है यह सर्वथा सुस्पष्ट है। वह अन्तर्मुहूर्त मे कर्मों का नाश करके केवल ज्ञान उत्पन्न करता है।

(अथ ज्ञान निर्वृत्त भाव समुत्साहयति) अब ज्ञान से रचे हुए भाव को प्रोत्साहन देते।

भावो राग-द्वेषमोहैर्विना यो, जीवस्य स्याद् ज्ञाननिर्वृत्त एव।
रुन्धन् सर्वान्द्रव्यकर्मास्रवौघान् ऐषोऽभावः सर्वभावास्रवाणाम् ॥२॥

अन्वयार्थ—(जीवस्य) जीव का (राग-द्वेषमोहैः) राग-द्वेष और मोह से (विना) रहित (यः) जो

(भावः) भाव, परिणाम **(सः)** वह **(भाव)** भाव **(ज्ञाननिर्वृत्त)** ज्ञान से निर्मित—रचा हुआ **(एव)** ही **(स्यात्)** होता है **(एष)** यह ज्ञान से रचा हुआ भाव **(सर्वान्)** सभी **(द्रव्यास्रवौघान्)** द्रव्यास्रवो के समूह को **(रुन्धन्)** रोकता हुआ **(सर्वभावास्रवाणाम्)** सभी भावास्रवो के **(अभावः)** अभाव-रूप **(भवति)** होता है।

सं० टी०—(एष—कथ्यमान) यह-कहा जाने वाला **(अभावः)** अभाव **(स्याद्-भवेत्)** होता है **(केषाम् ?)** किनका **(सर्वेत्यादि—सर्वे च ते भावास्रवाश्च राग-द्वेष मोहाद्या· तेषाम्)** सभी भावास्रव जो राग-द्वेष मोहादि स्वरूप हैं उनका **(एष क)** यह कौन **(य)** जो **(एव निश्चयेन,)** निश्चय से **(जीवस्य—प्राणिन)** जीव—प्राणधारी का **(ज्ञान-निर्वृत्त—ज्ञान मय)** ज्ञान स्वरूप **(भाव—परिणाम)** भव-परिणाम विचारधारा **(राग-द्वेषमोहै—राग-रति, द्वेष, अरति, मोह-ममत्वं द्वन्द्व तैर्विना-अन्तरेण)** राग रतिरूप परिणाम, द्वेष-अरतिरूप परिणाम तथा मोह ममत्त्व-ममेदबुद्धि के बिना—अभाव से **(किं कुर्वन्)** क्या करता हुआ **(रुन्धन्—निवारयन्)** निवारण करता हुआ **(कान्)** किनको **(सर्वान्-समस्तान्)** सभी **(द्रव्येत्यादि—द्रव्यकर्मणां ज्ञानावरणादिप्रकृतीनां आस्रवौघान्—मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगसमूहान्)** द्रव्यकर्म स्वरूप ज्ञानावरणादि प्रकृतियो के आस्रव के कारणभूत मिथ्यात्व अविरति कषाय तथा योगो के समूह को **(रागद्वेषमोहानामिह स्वपरिणामनिमित्तत्वात्, अजड़त्वे सति चिदाभासत्वात् भावास्रवत्वम्, मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगानांपुद्गल परिणामानां ज्ञानावरणादिपुद्गलकर्मास्रवणनिमित्तत्वात्, द्रव्यास्रवत्वम्)** यहाँ भावास्रव के प्रकरण मे आत्मा के राग-द्वेष-मोहरूप विभाव भाव निमित्त होने के कारण वे स्वय ही भावास्रव रूप है क्योकि वे स्वभावत जड-अचेतन नही है किन्तु चेतन के विकार स्वरूप होने से चैतन्य सदृश प्रतीत होते हैं अतएव भावास्रव है। यहा कारण मे कार्य का उपचार किया गया है।

भावार्थ—प्रकृत मे रागद्वेष-मोह के अभाव मे आत्मा के जो भी भाव होते हैं वे स्वभाव भाव हैं। उनमे ज्ञानरूपता की उपलब्धि होती है क्योकि अज्ञान का कारण मिथ्यादर्शन का अभाव उनमे विद्यमान हैं अत मिथ्यादर्शन सम्बन्धी अनन्त ससार के कारणभूत आस्रवो का अभाव ही मुख्यता से यहा समझना चाहिए। आस्रव मात्र का अभाव नही। यहा सर्वभावास्रवो के अभाव का निर्देश भावप्रज्ञापन नय की अपेक्षा से किया गया प्रतीत होता है क्योकि अनन्त ससार के समुत्पादक मिथ्यात्व के नाश होने पर शेष कर्म जनित आस्रवो का अभाव अति सन्निकट हैं अत सर्वभावास्रवो का अभाव कहा गया है यह उसका फलितार्थ है, जो युक्ति-युक्त और आगमोक्त है।

(अथ ज्ञानिनो निरास्रवत्वं श्रद्दधोति) अब ज्ञानी के निरास्रवपने का श्रद्धान् होता, यह व्यक्त करते है।

भावास्रवाभावमयंप्रपन्नो द्रव्यास्रवेभ्यः स्वत एव भिन्नः।
ज्ञानी सदा ज्ञानमयैक भावो निरास्रवो ज्ञायक एक एव ॥३॥

अन्वयार्थ—(**भावास्रवाभावम्**) भावास्रव के अभाव को (**प्रपन्न**) प्राप्त हुआ (**अयम्**) यह (**ज्ञानी**) भेद-विज्ञानी (**द्रव्यास्रवेभ्य**) द्रव्यास्रवो से (**स्वत**) स्वयम् (**एव**) ही (**भिन्न**) भिन्न—जुदा (**अस्ति**) है (**ज्ञानी**) स्वपर विवेकी (**सदा**) सर्वदा—हमेशा (**ज्ञानमयैकभाव**) ज्ञानस्वरूप अद्वितीय भाव वाला (**निरास्रव**) आस्रव से शून्य (**भवति**) ही है (**एक**) एकमात्र—सिर्फ (**ज्ञायक**) ज्ञाता—जानने वाला (**एव**) ही है।

सं० टी०—(**अय ज्ञानी-भेदज्ञः**) यह ज्ञानी-स्वपर के भेद को जानने वाला (**निरास्रव एव-द्रव्यभावास्रवेभ्यौनिवृत्त एव**) निरास्रव द्रव्यास्रवो से पृथक ही (**भवति**) रहता है (**एक-अद्वितीय.**) एक अद्वितीय (**ज्ञायक.**) ज्ञायक-ज्ञाता (**किम्भूत. ?**) कैसा (**सदा-नित्यम्**) हमेशा (**ज्ञानमयैक भावः-ज्ञानेननिर्वृत्ति· ज्ञानमय स एव एको भावः स्वभावो यस्य स**) ज्ञान से निर्मित, अतएव ज्ञानस्वरूप अद्वितीत स्वभाव वाला (**किम्भूत·**) कैसा (**भावास्रवाभावम्-भावास्रवाणा-रागद्वेषादीना अभावम्**) भावास्रव स्वरूप रागद्वेषादि विभावो के अभाव को (**प्रपन्नः-प्राप्तः**) प्राप्त हुआ (**यावत्पर्यन्त रागद्वेषास्तावन्त न ज्ञायकत्व अत. ज्ञायकत्वे सति रागद्वेषलक्षण भावास्रवाभावः**) जब तक राग-द्वेष होते है तब तक ज्ञायकता नही होती इसलिए ज्ञायकता होने पर राग-द्वेष स्वरूप भावास्रव का अभाव होता ही है (**पुनस्तत एव स्वभात एव**) फिर स्वभाव से ही (**द्रव्यास्रवेभ्यः-मिथ्यात्वादिभ्यो**) मिथ्यात्व आदि स्वरूप द्रव्यास्रवो से (**भिन्नः पृथग्भूतः**) पृथक् रूप (**ये पूर्वमज्ञानेन मिथ्यात्वादयो द्रव्यास्रवा बद्धास्ते ज्ञानिनो द्रव्यान्तरभूता अचेतन पुद्गलपरिणामत्वात् पृथ्वीसमा अचेतनास्ते तु स्वतः कार्माण शरीरेणैव सम्बद्धा नत्वात्मना, अत· सिद्ध स्वभावतो ज्ञानिनो-द्रव्यास्रवाभाव·**) अज्ञानी ने अज्ञान के बल से जिन मिथ्यात्वादि द्रव्यास्रवो को बाधा था, वे द्रव्यास्रव ज्ञानी के आत्मद्रव्य से पृथक् रूप अचेतन पुद्गल द्रव्य के परिणाम होने से पृथिवी के समान अचेतन हैं। अतएव वे स्वयमेव कार्मण शरीर से ही बधे हुए हैं आत्मा से नही। इसलिए ज्ञानी के द्रव्यास्रवो का अभाव स्वभाव से सिद्ध हुआ। (**बुद्धिपूर्वक राग-द्वेष-मोहरूपास्रवभावाभावान्निरास्रव एव**) बुद्धिपूर्वक राग-द्वेष-मोह स्वरूप आस्रव भावो का अभाव होने से आत्मज्ञानी निरास्रव-आस्रव से रहित होता है ॥३॥

भावार्थ—स्वपर भेदविज्ञानी स्वभाव से दोनो प्रकार के आस्रव से रहित होता है क्योकि बुद्धि-पूर्वक राग-द्वेष एव मोह का उसके अभाव है। वह तो मात्र निज शुद्ध स्वभाव मे ही स्थिर रहता है, विभाव भाव की तरफ उसकी जरा भी प्रवृत्ति नही होती, अत उसके मिथ्यात्व सम्बन्धी अनन्त ससार का कारणभूत आस्रव नही होता है। अथवा यो कहिए कि वह अपने को आस्रव के कारणभूत राग-द्वेषादि का स्वामी नही मानता, वह जानता है कि ये रागादि भाव मेरे स्वभाव भाव नही है, प्रत्युत कर्मजनित औपाधिक भाव हैं।

मोह के उदय मे राग-द्वेषादि भाव होते हैं यह ज्ञानी-अज्ञानी दोनो के होते हैं। अज्ञानी अपने स्व-भाव को न जानकर इन भावो रूप अपने को मानता है, इनको निमित्त नैमित्तिक भाव न समझकर जैसे ज्ञानी के ज्ञान के साथ एकत्व है वैसा एकत्व इनके साथ मानता है तब वह ज्ञानी जैसे ज्ञान का कर्त्ता है

वैसे अज्ञानी राग का कर्त्ता बन जाता है। यह जीवकृत राग कहलाता है। यही अनत ससार का कारण होता है। ज्ञानी के कर्मकृत राग तो है परन्तु जीवकृत राग नही है क्योकि वह निज ज्ञानस्वभाव के साथ एकत्व को प्राप्त है इसलिए ज्ञान का कर्त्ता है राग का नही। जो राग पर्याय मे है वह कर्मकृत है उसका वह स्वामी नही है अत रागादिक से रहित कहा गया है। जीवकृत राग और कर्मकृत राग के भेद को समझना जरूरी है। ज्ञानी के जीवकृत राग नही है कर्मकृत है जबकि अज्ञानी के जीवकृत ही राग है, जो अनन्त ससार का कारण है। कर्मकृत राग असमर्थता का सूचक है, जो आत्मबल बढाने पर खत्म हो जाता है।

(**अथ ज्ञानिनो निरास्रवत्वं नियम्यते**) अब ज्ञानी आस्रव रहित ही होता है ऐसा नियम दिखाते हैं

सन्न्यस्यन्निजबुद्धिपूर्वमनिशं रागं समग्रं स्वयम्,
बारंबारमबुद्धिपूर्वमपि तं जेतुं स्वशक्तिं स्पृशत्।
उच्छिंदन्परवृत्तमेव सकलां ज्ञानस्य पूर्णोभव-
न्नात्मा नित्यनिरास्रवो भवति हि ज्ञानी यदा स्यात्तदा ॥४॥

अन्वयार्थ—(**आत्मा**) आत्मा (**यदा**) जब (**ज्ञानी**) ज्ञानी-स्वपर-विवेकी (**स्यात्**) होता है (**तदा**) तब (**अनिशम्**) हमेशा (**स्वयम्**) स्वभाव से (**निज-बुद्धिपूर्वम्**) अपनी बुद्धिपूर्वक होने वाले (**समग्रम्**) समस्त (**रागम्**) राग को (**सन्यस्यन्**) दूर करता हुआ तथा (**अबुद्धिपूर्वम्**) बिना जाने होने वाले (**तम्**) उस राग को (**अपि**) भी (**वारवारम्**) बारबार-निरन्तर (**जेतुम्**) जीतने-दूर करने के लिये (**स्व-शक्तिम्**) अपनी शक्ति को (**स्पृशन्**) स्पर्श करता हुआ अर्थात् आत्मानुभव करता हुआ (**सकलाम्**) समस्त (**पर-वृत्तिम्**) पर वस्तु मे होने वाली ममत्वबुद्धिरूप प्रवृत्ति को (**उच्छिन्दन्**) उच्छेद-विनाश करता हुआ (**एव**) ही (**ज्ञानस्य**) ज्ञान के (**पूर्णः**) पूर्ण (**भवन्**) भावरूप होता हुआ (**हि**) निश्चय से (**नित्यनिरास्रवः**) हमेशा आस्रव से रहित (**भवति**) है।

सं० टीका—(**हीति व्यक्तम्**) हि यत अव्यय व्यक्त-स्पष्ट अर्थ मे प्रयुक्त होता है अर्थात् स्पष्ट रूप से (**अत्मा चिद्रूपः**) चैतन्य स्वरूप आत्मा (**यदा-यस्मिन् काले**) जिस समय (**नित्यं निरास्रवः मास्रवा-तीत**) निरन्तर-हमेशा आस्रव से रहित (**भवति जायते**) होता है (**तदा-तस्मिन् समये**) उस समय (**ज्ञानी सकलवस्तुपरिच्छेदक ज्ञानयुक्तः**) समस्त पदार्थों के स्वरूप को जानने वाले ज्ञान से सहित (**स्यात्) भवेत्**) होता है (**ननु संसारदशाया कथ निरास्रवत्वम् इति चेत् ?**) यहा यदि कोई यह शका करे कि ससार अवस्था मे आस्रव से रहितपना कैसे बन सकता है ? तो उत्तर मे कहते हैं कि—(**अनिशम्-नित्यम्**) निरन्तर-हमेशा (**स्वयम्-कर्तृत्वेन्**) स्वयम् कर्ता रूप से (**समग्रं-समस्तम्**) समस्त (**राग-द्वेष-मोहग्राम भावा-स्रवम्**) राग-द्वेष-मोह के समूहरूप भावास्रव को (**सन्यस्यन्-त्यजन्-परिहरन्**) त्यागते-परिहार करते हुए (**निजबुद्धिपूर्वक-स्वबुद्धिपूर्वक-स्वाभिप्रायपूर्वकम्**) अपनी बुद्धि के अनुसार अर्थात् मनोगत विचार अनु-

कूल (रागम्) राग को (त्यजन्नित्यर्थः) त्यागता हुआ अर्थात् छोडता हुआ (अपि-पुनः) फिर (तम्-द्रव्य-मिथ्यात्वाद्यास्रवम्) उस द्रव्यरूप पुद्‌गल स्वरूप-मिथ्यात्व आदि आस्रव को (अबुद्धिपूर्वं-पूर्वनिबद्धाऽचेतनास्रव-स्वाभिप्रायातिरिक्तं, सूक्ष्मं-अज्ञानस्वरूपम, अकषायिणामास्रव सदृक्षं वा अबुद्धिपूर्वम्)अबुद्धिपूर्वक अर्थात् पूर्व मे बाधे हुए अचेतन-जडस्वरूप आस्रव को जो आत्मा के अभिप्राय से सर्वथा शून्य है सूक्ष्म अज्ञान स्वरूप है, अथवा कषाय रहित-वीतराग आत्माओ के आस्रव के समान है (वारं-वारं-पुनः-पुन.) वार-वार—लगातार (जेतुम्-जयार्थम्—नाशार्थमित्यर्थः) जीतने-नाश करने के लिए (स्वशक्ति स्वस्य आत्मनः-शक्ति सामर्थ्यम्) अपनी शक्ति को (स्पृशन्-स्वसात्कुर्वन्) स्वाधीन करते हुए अर्थात् कार्यरूप मे परिणत करते हुए (पुनः किंकुर्वन् ?) फिर क्या करते हुए (उच्छिन्दन्-उद्भिन्दन) उच्छेद-विनाश करते हुए (समूल कर्षन्नित्यर्थ) अर्थात् जड से उखाडते हुए (काम् ?) किसको (सकला-समस्ताम्) सारी (एव-निश्चयेन) निश्चय से (पर-वृत्तिम्-परेषु-आत्मव्यतिरिक्तपदार्थेषु वृत्ति.-प्रवर्तना ताम्) आत्मा से भिन्न पदार्थों मे होने वाली प्रवृत्ति को (तत्रानुचरणमितिभावः) अर्थात् परपदार्थों मे होने वाली ममत्व बुद्धि को यह तात्पर्यार्थ है (पुत.) फिर (पूर्ण-परिपूर्ण.-समग्र इत्यर्थ) परिपूर्ण अर्थात् समग्र-भरपूर (भवन्-जायमानो भावः) पर्यायरूप होता हुआ (कस्य) किसके (ज्ञानस्य-वस्तु-विशेष ग्राहकस्य) वस्तु-पदार्थ के विशेष अश को ग्रहण-जानने वाले ज्ञान की।

भावार्थ—राग दो प्रकार का होता है, एक बुद्धिपूर्वक जो हमारे अथवा दूसरे के पकड मे आता है, दूसरा अबुद्धिपूर्वक, जो आत्मा के आसख्यात प्रदेशो मे उदयरूप रहता है। सम्यक्‌दृष्टि ज्ञानी के ज्ञान-वैराग्य की अपूर्व शक्ति होती है। बुद्धिपूर्वक राग को वह अपनी ज्ञान-वैराग्य की शक्ति के द्वारा तोड देता है। जैसे किसी ने खोटे शब्द कहे तब ज्ञानी विचारता है, यह तो उसका परिणाम है, वह अपने परिणमन करने मे स्वाधीन है उसका परिणाम का अवलम्बन मैं क्यो लू ? अथवा विचारता है कि देखो कषाय की कितनी तीव्रता है, वह अपनी कषाय से आप ही दुखी है इत्यादि रूप से। कर्म के उदय से बाहर मे अनुकूल अथवा विपरीत सयोग मिलते हैं उनको कर्म के उदय का कार्य जानकर हर्ष विषाद नही करता। अबुद्धिपूर्वक राग मेटने को वह बार-बार अपना निज स्वभाव का अनुभव करने की चेष्टा करता है और आत्म अनुभव के द्वारा अबुद्धिपूर्वक राग को तोड देता है। इसलिए ज्ञानी आस्रवरहित हैं।

(अथ ज्ञानिनो द्रव्य प्रत्यये सति न निरास्रवत्वमिति पूर्वपक्षपूर्वकं पद्यद्वयेन प्रत्युत्तरयति) अब ज्ञानी के द्रव्यास्रव के रहते हुए निरास्रवता आस्रवशून्यता नही बन सकती, इस तरह से पूर्ण पक्ष को प्रस्तुत करते हुए दो पद्यो द्वारा उत्तर पक्ष को प्रकट करते हैं—

सर्वस्यामेव जीवन्त्यां द्रव्यप्रत्ययसन्ततौ ।
कुतो निरास्रवो ज्ञानी नित्यमेवेति चेन्मतिः ॥५॥

अन्वयार्थ—(**सर्वस्याम्**) सब (**एव**) ही (**द्रव्यप्रत्यय सन्ततौ**) द्रव्यास्रव की सन्तति-परिपाटी के

(**जीवन्त्याम्**) जीते हुए-विद्यमान रहते हुए (**ज्ञानी**) स्वपर भेद विज्ञानी (**नित्यम्**) हमेशा (**एव**) ही (**निरास्रवः**) आस्रव से रहित (**कुतः**) कैसे (**स्यात्**) हो सकता है (**इति**) ऐसी (**ते**) तुम्हारी (**चेत्**) यदि (**मतिः**) बुद्धि-मान्यता (**स्यात्**) हो (**तर्हि**) तो ('उसको' उत्तर कहा जाता है)

स० टी०—(**ननु**) यह शङ्का सूचक अव्यय है अर्थात् शङ्काकार शङ्का करता है कि (**ज्ञानी-भेदज्ञः**) आत्मा और परपदार्थों के भेद को जानने वाला अर्थात् स्वपर स्वरूप का ज्ञाता आत्मा (**नित्यम्**) सदा हमेशा (**निरास्रव-आस्रवरहित**) आस्रव से रहित (**कुत**) कैसे (**स्यात्**) हो सकता है अर्थात् (**न कुतोऽपि**) किसी भी प्रकार से नही हो सकता (**क्व-सत्याम्**) किसके होते हुए (**सर्वस्या-समस्तायाम् अपि**) सभी (**द्रव्य प्रत्यय सन्ततौ-द्रव्यप्रत्ययाना-पुद्गलरूप निबद्ध मिथ्यात्वादीना सन्तति सन्तानं तस्याम्**) पुद्गल रूप होकर आत्मा के साथ बँधे हुए मिथ्यात्वादि प्रकृतियो की परिपाटी के विद्यमान होते हुए (**जीवन्त्या—विद्यमानाया सत्यामेव**) जीते हुए अर्थात् मौजूद रहते हुए ही (**अथ तदा तदुदयाभावान्निरास्रव इति भण्यते**) शायद तुम यह कहो कि उस समय उन मिथ्यात्वादि द्रव्य प्रकृतियो का उदय न होने से ज्ञानी निरास्रव ही है (**तदप्यसत्**) उक्त कथन भी उचित नही है (**यत सदवस्थाया पूर्वमनुपभोग्यत्वेऽपि तदात्व-परिणीतबालस्त्रीवत्**) क्योकि सदवस्था-सत्तारूप मे विद्यमान तत्काल विवाही हुई बाल्यावस्था सम्पन्न स्त्री के समान—प्रारम्भ मे उपभोग योग्य न होने पर भी (**विपाकावस्थायामुपभोग्यत्वात्**) फलदान की अवस्था मे अर्थात् उदयकाल मे उपभोग योग्य होने से (**उपभोगप्रायोग्य पुद्गलकर्म प्राप्तयौवनपूर्व-परिणीतस्त्रीवत्**) उपभोग मे लाने योग्य पुद्गल कर्म युवावस्था को प्राप्त पूर्व मे विवाही हुई स्त्री के समान (**इति न निरास्रवत्वमिति चेत् ते मति मनीषा**) इस तरह से आस्रवशून्यता न बन सकेगी यदि ऐसी तुम्हारी बुद्धि हो (**तर्हि**) तो।

भावार्थ—जो कार्मण पुद्गल परमाणु मिथ्यात्वादि रूप से आत्मा के साथ सम्बन्धित हैं। उनके रहते हुए ज्ञानी को निरास्रव कैसे कहा जा सकता है ? अगर यह कहो कि वे मिथ्यात्वादि जब तक अपना फल प्रदान नही करते तब तक तो ज्ञानी निरास्रव ही है। उक्त कहना भी मिथ्या ही है, क्योकि वे ही सदवस्थापन्न मिथ्यात्वादि कुछ काल के पश्चात् उदय मे आकर अपना फल देने लगेंगे। तब तो ज्ञानी के आस्रव होगा ही। जैसे तत्काल विवाही हुई बाल्यावस्था युक्त स्त्री भोगने के योग्य नही होती, पर वही स्त्री जब युवावस्था मे आ जाती है, तब भोगी ही जाती है। प्रारम्भ मे वह भले ही उपभोग मे न लाई जा सके पर आगे जाकर वह भोगने योग्य होने से भोगी जाती है। वैसे ही यहाँ समझना चाहिए कि सत्ता मे विद्यमान मिथ्यात्वादि भले ही आस्रव मे कारण न हो, पर वे उदय काल मे तो आस्रव के हेतु बन जाते हैं अतः ज्ञानी को हमेशा निरास्रव कहना समुचित नही है ? ऐसा प्रश्न—

(**तत्रोत्तरयति**) उक्त शङ्का का परिहारात्मक उत्तर देते है—

विजहति न हि सत्तां प्रत्ययाः पूर्वबद्धाः।
समयमनुसरन्तो यद्यपि द्रव्यरूपाः॥

तदपि सकल राग-द्वेष-मोह व्युदासा-
दवतरति न जातु ज्ञानिनः कर्मबन्धः ॥६॥

भावार्थ—(**यद्यपि**) यद्यपि (**पूर्वबद्धाः**) अज्ञानावस्था मे रागादि के द्वारा बाधे हुए। (**द्रव्यरूपाः**) पुद्गलरूप (**प्रत्ययाः**) प्रत्यय-आस्रव के कारण (**हि**) निश्चय से (**समयम्**) समय का (**अनुसरन्त.**) अनुसरण करते हुए (**सत्ताम्**) सत्ता को-मौजूदगी को (**न**) नही (**विजहति**) छोडते हैं (**तदपि**) तो भी (**ज्ञानिनः**) स्वपर भेदविज्ञानी के (**सकल राग-द्वेष-मोह व्युदासात्**) समस्त राग-द्वेष-मोह का त्याग होने से (**कर्मबन्ध.**) नवीन कर्म का बन्ध (**न**) नही (**अवतरति**) होता है।

स० टीका- (**हि-स्फुटम्**) स्फुट रूप से अर्थात् निश्चय से (**यद्यपि ज्ञानिनः पुंस**) यद्यपि ज्ञानी आत्मा के (**द्रव्यरूपा.-पुद्गलकर्मरूपमिथ्यात्वादय**) पुद्गलकर्ममय मिथ्यात्वादि (**पूर्वबद्धा -पूर्वं रागद्वेषादिभिः बद्धा· निबद्धा—आत्मसात्कृता इत्यर्थ.**) पूर्व काल मे रागद्वेपादि विभाव भावो से बाधे हुए अर्थात् आत्मा के साथ एक क्षेत्रावगाहता को प्राप्त हुए (**प्रत्यया·—उत्तरकर्मबन्ध कारणानि**) भविष्य मे कर्मबन्ध के हेतु (**सत्ताम्-अस्तित्वम्**) सत्ता-अस्तित्व-विद्यमानता को (**न विजहति न त्यजन्ति**) नही छोडते (**समयम्-उदयकालं**) उदय काल को (**अनुसरन्त.-आश्रयन्त., उदयमागच्छन्त इत्यर्थः**) अनुशरण-आश्रयण करने वाले अर्थात् उदय को प्राप्त होने वाले (**तदपि-तथापि**) तथापि-तो भी (**जातु-कदाचित्**) कभी (**कर्मबन्धः-कर्मणा बन्ध·**) कर्मों का बन्ध (**न-अवतरति-अवतारं न प्राप्नोति न भवतीत्यर्थः**) अवतार को नही प्राप्त होता अर्थात् कर्मबन्ध नही होता है। (**कस्य ?**) किसके (**ज्ञानिन.**) ज्ञानी के (**कुत.**) किससे- (**सकलेत्यादि.-सकला. समस्तास्ते च ते रागद्वेषमोहाश्च तेषा व्युदास· परित्यागस्तस्मात्**) समस्त राग-द्वेष मोह आदि के परित्याग से (**रागद्वेषमोहानाम्-आस्रवभावानामभावे द्रव्यप्रत्ययानामबन्ध हेतुत्वात्**) द्रव्यास्रव के हेतुभूत राग-द्वेष-मोह के अभाव मे मिथ्यात्वादि पौद्गलिक कारण बन्ध के हेतु नही होते क्योकि (**कारणाभावे कार्यस्याप्यभावात्**) कारण के अभाव मे कार्य का भी अभाव होता है ऐसा नियम है।

भावार्थ—पूर्व समय मे अज्ञानदशा मे रागादि के निमित्त से बाँधे हुए मिथ्यात्वादि द्रव्यकर्म उदय-काल मे भी ज्ञानी के नवीन कर्म बन्ध के हेतु नही होते हैं क्योकि ज्ञानी रागादि भावो का मात्र ज्ञाता होता है कर्ता नही। कर्ता तो वह अपने ज्ञानादि भावो का ही होता है और वे ज्ञानादि आत्मा के भाव बन्ध के हेतु नही होते प्रत्युत सवर निर्जरा और मोक्ष के हेतु होते है। ज्ञानी के जीवकृत रागादि भाव का अभाव है कर्मकृत रागादि का मात्र ज्ञाता है इसलिए बन्ध के कारण नही है।

नवीन कर्म बन्ध के कारणीभूत रागादि के अभाव से द्रव्यबन्धरूप कार्य का अभाव स्वत सिद्ध होता है अत ज्ञानी निर्बन्ध होता है यह इसका फलितार्थ है ॥६॥

(**अथ पुनर्बन्धाभावोविभाव्यते**) अब फिर से बन्ध के अभाव का प्रतिपादन करते हैं—

रागद्वेषविमोहानां ज्ञानिनो यदसम्भवः।
ततएव न बन्धोऽस्य ते हि बन्धस्य कारणम् ॥७॥

अन्वयार्थ—(**यत्**) जिस कारण से (**ज्ञानिनः**) ज्ञानी के (**रागद्वेषविमोहानाम्**) राग द्वेष मोह का (**असम्भवः**) अभाव (**अस्ति**) है (**ततः**) तिस कारण से (**एव**) ही (**अस्य**) इस आत्मज्ञानी के (**बन्धः**) नवीन कर्मों का बन्ध (**न**) नही (**भवति**) होता है (**हि**) क्योकि (**ते**) वे राग द्वेष मोह ही (**बन्धस्य**) बन्ध के (**कारणम्**) कारण होते है।

स० टीका—(**ततएव-तस्माद्धेतोः**) तिस कारण से ही (**निश्चयेन**) नियम से (**अस्य-ज्ञानिनः मुनेः**) इस ज्ञानी-स्वरूपज्ञ साधु के (**बन्धः कर्मणां बन्धः**) कर्मों का बन्ध (**न**) नही (**स्यात्**) होता है (**कुतः**) किससे (**यत्-यस्मात्कारणात्**) जिस कारण से (**ज्ञानिनः-ज्ञानम्-आत्मज्ञानम्-विद्यते यस्यासौ तस्य**) जिसके आत्माका ज्ञान विद्यमान है उसके (**असम्भव -न सम्भवः**) सम्भवनही है (**केषाम्**) किनका (**रागद्वेषविमोहानाम्-रागश्च द्वेषश्च विमोहश्च रागद्वेषविमोहास्तेषाम्**) राग-द्वेष और मोह का (**ननु तेषामभावे कथं बन्धाभावः**) शङ्काकार पूछता है राग आदि के अभाव मे बन्ध का अभाव कैसे सिद्ध होता है ? उत्तर मे कहते हैं (**हीति यस्मात्**) जिस कारण से (**ते-रागद्वेषादयः**) वे राग-द्वेष आदि (**बन्धस्य-कर्मबन्धस्य कारणं हेतुः**) कर्मबन्ध के हेतु होते है (**हेतुत्वाभावे हेतुमदभावस्य सुप्रसिद्धत्वात्**) क्योकि हेतु-कारण-के अभाव मे हेतुमान् कार्य-का अभाव सुप्रसिद्ध है।

भावार्थ—बन्धमात्र कार्य के प्रति कारणता, राग द्वेष मोह को है। यदि राग द्वेष मोह रूप कारण नही है तो वन्धरूप कार्य भी नही होगा। ज्ञानी के बुद्धि पूर्वक रागादि नही होते। अत उसके बन्ध भी नही होता है क्योकि कारण के अभाव मे कार्य का अभाव स्वभाव सिद्ध ही है। ज्ञानी के रागादि भाव मे अपनत्वपना स्वामित्वपना नही है अत वे कर्मकृत है इसलिए बन्ध का कारण नही है।

(**अथ बन्ध विधुरत्वं विधीयते**) अब बन्ध की विधुरता-शून्यता का विधान प्रतिपादन-करते हैं—

अध्यास्य शुद्धनयमुद्धतबोधचिह्न मैकाग्रयमेव कलयन्ति सदैव ये ते।
रागादिमुक्तमनसः सततं भवन्तः पश्यन्ति बन्धविधुरं समयस्य सारम् ॥८॥

अन्वयार्थ—(**उद्धतबोधचिह्नम्**) उत्कट ज्ञान स्वरूप (**शुद्धनयम्**) शुद्ध द्रव्यार्थिक नय के विषयभूत वस्तु का (**अध्यास्य**) आश्रय करके (**ये**) जो ज्ञानी जन (**सदा**) हमेशा (**ऐकाग्रयम्**) एकाग्रता का (**एव**) ही (**कलयन्ति**) अभ्यास करते हैं (**ते**) वे ज्ञानी पुरुष (**रागादि मुक्तमनस**) रागादि से रहित चित्त वाले (**भवन्त**) होते हुए (**सततम्**) निरन्त-हमेशा (**बन्धविधुरम्**) बन्ध तत्त्व से रहित (**समयस्य**) आत्मा के (**सारम्**) वास्तविक स्वरूप को (**पश्यन्ति**) देखते हैं-अनुभव करते हैं।

सं० टी०—(**ते योगिन**) वे योगी-मुनि-जन (**समयस्य-पदार्थस्य-सिद्धान्तस्य वा**) समय-पदार्थ अथवा सिद्धान्त-स्याद्वाद रूप आगम के (**सारम्-आत्मानम्**) स्वरूप को-असलियत को (**पश्यन्ति-ईक्षन्ते**) देखते या जानते हैं (**किम्भूतम्**) कैसे सार को (**बन्धविधुरम्-बन्धै-प्रकृतिस्थित्यादिकर्मबन्धैविधुरम्-रहितम्-बन्धशून्यमित्यर्थ**) प्रकृति स्थिति, अनुभाग और प्रदेश-बन्ध से शून्य (**किम्भूता ?**) कैसे (**रागादिमुक्तमनस-रागद्वेषमोहैर्मुक्तानि-रहितानि-मनासि चेतासि येषां ते**) राग द्वेष मोह से रहित चित्त वाले (**भवन्तः-जाय-**

माना. सन्तः) होते हुए (सततम्-निरन्तरम्) निरन्तर-हमेशा (ते के ?) वे कौन (ये पुरुषा) जो पुरुष (सदा-नित्यम्) हमेशा (एव-निश्चयेन) निश्चय से (कलयन्ति-कलना कुर्वन्ति-धारयन्तीत्यर्थ.) कलना करते धारण करते है (किम्) किसे (ऐकाग्रचम्-एकाग्रताम्-आत्मनासह एकता ताम्) आत्मा के साथ एकता-अभिन्नता को (किं कृत्वा) क्या करके ? (अध्यास्य-आश्रित्य-अङ्गीकृत्य-ध्यात्वेत्यर्थ) आश्रय अङ्गीकार—करके अर्थात् ध्यान करके (कम्) किसका (शुद्धनयम्-शुद्धकर्ममलकलङ्क रहितं स्वरूपं नयति-प्राप्नोति (इति) शुद्धनय -आत्मा तम् अथवा शुद्धद्रव्यार्थिक नयमाश्रित्य) शुद्धनय का—अर्थात् कर्ममलरूप कलङ्क से रहित स्वरूपवान् आत्मा का अथवा शुद्ध द्रव्यार्थिक नय का आश्रय करके (किम्भूतम्) कैसे उद्धतेत्यादि-उद्धतः उत्कट.-कर्मविनाशकत्वात् स चासौ बोधः ज्ञानं च स एव चिह्नं लक्षणं यस्य स तम्) कर्म का विनाशक होने से उत्कट ज्ञान ही जिसका लक्षण परिचायक लक्ष्य है उसका।

भावार्थ—जो आत्मस्वरूप के ज्ञाता पुरुषविशेष है वे नियम से अनन्त ज्ञान स्वरूप आत्मा के साथ स्वरूपता अभिन्नता स्थापित करके अन्तर्दृष्टि से आत्मा को सर्वविध वन्ध से शून्य ज्ञान स्वरूप ही देखते और जानते हैं। यह जानना यद्यपि शुद्धनयाश्रित होने से आशिक है क्योकि शुद्धनयश्रुत ज्ञान का ही एक अश है तथापि प्रमाण का एकदेश होने से प्रमाणोभूत है सत्यार्थ है और यथार्थ है ॥८॥

(अथ बन्धत्व मनुबध्नाति) अब बन्ध की अनुकूलता का निर्देश करते हैं—

प्रच्युत्य शुद्धनयतः पुनरेव ये तु रागादियोगमुपयान्ति विमुक्तबोधाः ।
ते कर्मबन्धमिह बिभ्रति पूर्वबद्ध-द्रव्यास्रवैः कृतविचित्र विकल्पजालम् ॥९॥

अन्वयार्थ—(तु) पुनः (ये) जो ज्ञानी पुरुष (शुद्धनयतः) शुद्ध नय से (प्रच्युत्य) गिर कर अर्थात् शुद्ध द्रव्यार्थिक नय के विषयभूत आत्मतत्त्व को त्याग कर (पुनः) फिर से (एव) ही (रागादियोगम्) रागद्वेष आदि के सम्बन्ध को (उपयान्ति) प्राप्त होते हैं (ते) वे पुरुष (विमुक्तबोधाः) ज्ञान रहित (सन्तः) होते हुए (इह) इस ससार मे (पूर्वबद्धद्रव्यास्रवैः) पूर्व काल मे बधे हुए द्रव्यास्रवो के द्वारा (कृतविचित्र-विकल्पजालम्) किये गये नाना तरह के विकल्पो के समूह वाले (कर्म बन्धम्) कर्मबन्ध को (बिभ्रति) धारण करते है।

सं० टी०—(इह-जगति) इस जगत मे (ते-प्राणिनः) वे प्राणी (कर्मबन्धम्) कर्मों के बन्ध को (बिभ्रति-दधते) धारण करते हैं (किम्भूत.) कैसे होते हुए (विमुक्तबोधा·-विमुक्तो बोधो ज्ञान यैस्ते) जिन्होने ज्ञान को छोड दिया है अर्थात् अज्ञान दशा को अङ्गीकार किया है (बोधाद्विमुक्ताः, इति वा कृति समासे क्वचित्पूर्ण निपातः) अथवा बोध सम्यग्ज्ञान से विमुक्त रहित क्योकि कृदन्त समास मे कही कृदन्त का पूर्णनिपात होता है।

(किम्भूतम्-तम्) कैसे बन्ध को (कृतेत्यादि.-विचित्रा. शुभाशुभरूपास्ते च ते विकल्पाश्च तेषा जाल समहः कृतं निष्पादितं, विचित्रविकल्प जालं येन तम्) शुभ और अशुभरूप नाना प्रकार के विकल्पो के

समूह का निष्पादक (**कैः**) किनसे (**पूर्वबद्ध द्रव्यास्रवैः-अनादिनिबद्ध पूर्वमिथ्यात्वादि द्रव्यास्रवैः**) अनादि से बधे हुए पूर्व मिथ्यात्वादि द्रव्यास्रवो से (**ते के**) वे कौन (**ये तु इति विशेषः**) किन्तु (**ये पुरुषाः**) जो पुरुष (**रागादि योगं-रागद्वेषादीनां योगं संयोगम्**) राग-द्वेष आदि के सयोग को (**उपयान्ति-प्राप्नुवन्ति**) प्राप्त करते हैं (**पुनरेव-पूर्वज्ञानावस्थानात् पश्चादेव,**) पूर्व ज्ञान की अवस्थिति के पीछे हो (**शुद्धनयतः-शुद्धस्वरूपात्मनः**) शुद्धस्वरूपवान् आत्मा से (**प्रच्युत्य-च्युत्वा**) च्युत होकर-गिर कर ।।९।।

भावार्थ—शुद्धनय से भ्रष्ट हुआ ज्ञानी भी अज्ञान की दशा मे आकर पुन राग-द्वेष मोह के वशीभूत हो विविध प्रकार के विकल्प जाल मे फसकर नवीन कर्मों का बन्ध का पात्र हो जाता है। यह शुद्धनय से च्युत हुआ अर्थात् मिथ्यात्व के उदय से अनन्त ससार के कारणीभूत कर्मों का बन्ध करने वाला जीव ही मुख्य रूप से ग्रहण किया गया है, क्योकि मिथ्यात्व के साथ होने वाला बन्ध ही यहाँ बन्ध रूप से विवक्षित है। चारित्र मोह सम्बन्धी बन्ध की चर्चा यहा किसी भी प्रकार से विवक्षित नही है, क्योकि वह बन्ध अनन्त ससार का सवर्धक नही होता है साथ ही वह ज्ञानी के रुचि पूर्वक नही होता है। ज्ञानी के ज्ञान मे रागादि ज्ञेय रूप से ही प्रतिभासित होते रहते है उपादेय रूप से नही। क्योकि वे रागादि हेय कोटि मे ही सम्यग्दृष्टि के ज्ञान मे विद्यमान है अत सम्यग्दृष्टि अन्तरङ्ग से बन्ध रहित ही होता है। उसकी दृष्टि मे बन्धमात्र हेय ही है ऐसा समझना चाहिए ।।९।।

(**अथ बन्धाबन्धयोस्तात्पर्यं परफुल्यते**) अब बन्ध और अबन्ध के तात्पर्य को स्फुट करते हैं—

इदमेवात्र तात्पर्यं हेयः शुद्ध नयो न हि।
नास्ति बन्धस्तदत्यागात्तत्यागाद्बन्ध एव हि ।।१०।।

अन्वयार्थ—(**हि**) निश्चय से (**अत्र**) यहाँ (**शुद्धनय**) शुद्ध नय अर्थात् शुद्ध द्रव्यार्थिक नय (**हेयः**) हेय-त्यागने-छोडने योग्य (**न**) नही (**अस्ति**) है (**इदम्**) यह (**एव**) ही (**तात्पर्यम्**) तात्पर्य अर्थ (**अस्ति**) है (**तदत्यागात्**) उस शुद्ध नय के अत्याग से (**बन्धः**) बन्ध (**न**) नही (**अस्ति**) होता है (**तत्त्यागात्**) और उस शुद्धनय के त्यागने से (**हि**) निश्चय से (**बन्धः**) बन्ध (**एव**) ही (**भवति**) होता है।

सं० टीका—(**अत्र-बन्धाबन्ध विचारणे**) इस बन्ध और अबन्ध के विचार विषय मे (**इदमेव-वक्ष्यमाण लक्षणमेव**) कही-कहा जाने वाला लक्षण ही (**तात्पर्यम्-रहस्यम्**) तात्पर्य-रहस्य है (**इदम्-किम् ?**) यह क्या ? (**हीति-यस्मात्**) जिस कारण से (**शुद्धनयः-शुद्धात्मा-शुद्धद्रव्यार्थिको वा**) शुद्धनय-शुद्ध आत्म-स्वभाव अथवा शुद्धद्रव्यार्थिकनय (**न हेयः न त्याज्यो**) त्यागने योग्य नही है (**हितार्थिभि.**) हितेच्छुओ द्वारा (**बन्धः-कर्मबन्धः**) कर्मो का बन्ध (**नास्ति न जायते**) नही होता है (**कुत**) किससे (**तदत्यागात्-तस्य शुद्ध-नयस्य अत्यागः-अत्यजनम्-तस्मात्**) उस शुद्ध नय के नही छोडने से (**हि-पुन**) फिर (**बन्धः-कर्मबन्ध.**) कर्म का बन्ध (**भवत्येव**) होता ही है (**कुत**) कैसे (**तत्त्यागात्-तस्य-शुद्धनयस्य त्यागः त्यजनं तस्मात्**) उस शुद्धनय के त्याग से।

भावार्थ—शुद्धद्रव्यार्थिक नय के विषयभूत आत्मा का आश्रयमुक्ति का कारण है तथा शुद्धनय का परिहार बन्ध का कारण है ॥१०॥

अथ शुद्धनयस्यात्यागमामनुते) अब शुद्ध नय की उपादेयता का प्रतिपादन करते है--

धीरोदार महिम्न्यनादिनिधने बोधे निबध्नन् धृतिम्
त्याज्यः शुद्धनयो न जातु कृतिभिः सर्वंकषः कर्मणाम् ।
तत्रस्थाः स्वमरीचिचक्रमचिरात्संहृत्य निर्यद्बहिः
पूर्णं ज्ञानघनौघमेकमचलं पश्यन्ति शान्तं महः ॥११॥

अन्वयार्थ.—(**अनादिनिधने**) आदि अन्त रहित (**धीरोदारमहिम्नि**) धीर-निश्चल और उदार-विशाल उत्कट महत्त्वशाली (**बोधे**) ज्ञान मे (**धृतिम्**) धैर्य निश्चलता-सन्तोष को (**निबध्नन्**) धारण करता हुआ (**कर्मणाम्**) ज्ञानावरण आदि कर्मो का (**सर्वंकष.**) मूलोच्छेद करने वाला (**शुद्धनय.**) शुद्धद्रव्यार्थिकनय (**कृतिभिः**) धर्मात्मा पुरुषो के द्वारा (**जातु**) कभी (**न**) नही (**त्याज्यः**) त्यागा जाना चाहिए (**यतः**) क्योकि (**तत्रस्था.**) उस शुद्धनय मे आरूढ महापुरुष (**ब**ि **:**) बाहिर (**निर्यत्**) निकलने वाले (**स्वमरीचिचक्रम्**) अपने अल्पज्ञान-क्षयोपशमिक ज्ञान की किरणो के समूह की परिपाटी को (**अचिरात्**) शीघ्र ही (**सहृत्य**) समेट करके (**पूर्णम्**) परिपूर्ण-सब तरफ से भरपूर (**ज्ञानघनौघम्**) ज्ञान-घन के समूह से युक्त (**एकम्**) अद्वितीय (**अचलम्**) निश्चल (**शान्तम्**) क्षोभ रहित अतएव प्रशान्त (**महः**) तेज को (**पश्यन्ति**) देखते हैं--अनुभव करते हैं ।

सं० टीका—(**जातु-कदाचित्**) कभी (**न त्याज्यः-न हेय.**) नही त्यागा जाना चाहिए (**ध्यानतः क्षणान्न मोक्तव्यः**) ध्यान से क्षण भर भी नही छोडा जाना चाहिए (**क. ?**) कौन (**शुद्धनयः-शुद्धपरमात्मा, शुद्ध द्रव्यार्थिक नयो वा**) शुद्धनय शुद्धपरमात्मा अथवा शुद्ध द्रव्यार्थिक नय (**कै.**) किनके द्वारा (**कृतिभि.-ससार दशा चक्र परिपूर्णं कृत विद्यते येषा तैः अथवा कृतं सुकृत विद्यते येषा तै योगिभि**) जिन्होने ससार के दशा चक्र को समाप्त कर लिया है अथवा जिन्होने धर्म का उपार्जन किया है—ऐसे योगियो के द्वारा (**किम्भूतः स**) वह शुद्धनय कैसा है (**सर्वंकष -सर्वं समस्त कषति निहन्तीति सर्वंकष.**) सब का नाश करने वाला यहाँ सर्व शब्दोपपद पूर्वक कष धातु से (**सर्वकूलाभ्रकरीषेषु कष इत्यनेनसूत्रेण सिद्ध**) सर्व, शब्द कूल, अभ्र और करीष शब्दोपपदकष धातु से खच् प्रत्यय होता है एतदर्थक "सर्वकूलाभ्रकरीषेषु कष" इस सूत्र से खच् प्रत्यय करके रूप सिद्ध किया गया है (**केषां**) किनके (**कर्मणा-ज्ञानावरणादि प्रकृतीनाम्**) ज्ञानावरण आदि प्रकृतियो के (**किं कुर्वन् ?**) क्या करता हुआ (**निबध्नन्-कुर्वन्**) धारण करते हुए (**काम् ?**) किसको (**धृतिं-सन्तोषम्**) धृति-सन्तोष-को (**क्व**) किसमे (**बोधे-ज्ञाने**) ज्ञान मे (**किम्भूते**) कैसे (**धीरोदारमहिम्नि-धीर -अक्षोभ्यत्वात्, उदार उत्कट -कर्मविनाशेबद्धकक्षत्वात् धोरश्चासावुदारश्च वा द्वन्द्व महिमा, महिमानौ वा यस्य तस्मिन्**) क्षुब्ध करने योग्य न होने से धीर, कर्मो के विनाश करने मे समर्थ होने से उदार-उत्कट,

महिमा वाले (पुन -किम्भूते) फिर कैसे (अनादिनिधने-आद्यन्तरहिते द्रव्यरूपेण नित्यत्वात्) द्रव्यरूप से नित्य अतएव आदि अन्त रहित (तत्रस्था -तत्र शुद्धनये, तिष्ठन्तीति तत्रस्था योगिन) उस शुद्ध नय मे स्थित योगीजन (मह -धाम) मह -धाम—तेज को (पश्यन्ति-ईक्षन्ते) देखते हैं (किंकृत्य) क्या करके (अचिरात्-शीघ्रं) जल्दी (संहृत्य-हृत्वा-विनाश्येत्यर्थ) नष्ट करके (किम्) किसे (स्वेत्यादि -स्वस्य-आत्मन स्वस्मिन् वा मरीचिचक्र-मृगतृष्णासमूहम्) अपनी मृग तृष्णा की परिपाटी को (किम्भूत मह) कैसे तेज को (बहि बाह्यं) बाहर (निर्यत्-प्रकटीभवत्) प्रकट होता हुआ (पूर्णं-परिपूर्णं-निरावरणत्वात्) आवरण रहित होने से अतिशय पूर्ण (ज्ञानेत्यादि-ज्ञानेनघनोनिरन्तरः ओघः समूह. यत्र तत्) ज्ञान से बेरुकावट समूह वाले उस (एक-अद्वितीय-ज्ञानसदृक्षस्यापरस्याभावात्) ज्ञान के समान अन्य के न होने से अद्वितीय (अचलं-अक्षोभ्यं) निश्चल-क्षोभ रहित (शान्तं-क्रोधादेरभावात्) क्रोध आदि के न होने से शान्त।

भावार्थ—जो योगी शुद्धनय का आश्रय करते है वे शुद्धनय निरूपित-आत्मा के ध्यान से अन्तर्मुहूर्त मे ज्ञानावरणादि घाती कर्मो का सहार करके उस निरावरण, असहाय, अनन्त ज्ञान को प्राप्त करते हैं जो आत्मा का असली स्वरूपात्मक तेज है। जिसके होते ही आत्मा समस्त चराचर पदार्थों का ज्ञाता द्रष्टा वन सर्वदर्शी कहा जाता है। यह है शुद्धनय के समाराधन का सुफल।

(अथ रागादीनामभावे किं स्यादित्यध्येति) अब रागादि के अभाव मे क्या होता है, यह विचार प्रस्तुत करते हैं—

रागादीनां झगिति विभात्सर्वतोऽप्यास्रवाणां
नित्योद्योतं किमपिपरमं वस्तु सम्पश्यतोऽन्तः।
स्फारस्फारैः स्वरसविसरैः प्लावयत्सर्वभावा
नालोकांतादचलमतुलं ज्ञानमुन्मग्नमेतत् ॥१२॥

अन्वयार्थ—(सर्वतः अपि) सभी (रागादीनाम्) राग-द्वेष आदि (आस्रवाणाम्) आस्रवो के (झगिति) शीघ्र (विगभात्) विनाश होने से (नित्योद्योतम्) निरन्तर प्रकाशमान (अन्तः) अन्तरङ्ग मे (किमपि) किसी अनिवर्चनीय (परमम्) अतिश्रेष्ठ (वस्तु) गुण पर्यायात्मक पदार्थ को (सम्पश्यत·) भले प्रकार से देखने-जानने वाले महापुरुष के (स्फारस्फारैः) अतिशय विस्तार वाले (स्वरस विसरै.) आत्मिक रस के विस्तार से (सर्वभावान्) सभी पदार्थो को (प्लावयत्) अपने मे निमग्न करता हुआ (आलोकान्तात्) समस्त लोक पर्यन्त (अचलम्) निश्चल (अतुलम्) अनुपम (एतत्) यह (ज्ञानम्) ज्ञान—केवलज्ञान (उन्मग्नम्) प्रकट होता है।

सं० टीका—(एतत्) यह (ज्ञानं-बोधः) ज्ञान-परिपूर्ण केवलज्ञान (उन्मग्न-प्रकटितम्) प्रकट हुआ है (किमपि-अतिशायि अनिर्वाच्यम्) कोइ अतिशय अनिवर्चनीय (वस्तु वसति गुण पर्यायानितिवस्तु) वस्तु जिसमे गुण ओर पर्यायो का निवास होता है उस पदार्थ को (कस्य) किसके (अन्तः ... म
अर्थात् अन्तरङ्ग मे (सम्पश्यतः—अवलोकयतोमुने) देखने वाले मुनि के (किम्भूतम्) (...

द्योतम्—नित्यं प्रकाशमानम्) हमेशा प्रकाशमान (**यद्यपि लब्ध्यपर्याप्तकस्य निगोदस्य महानुभागज्ञाना-वरणावृतस्य नित्योद्योतत्वं न**) यद्यपि ज्ञानावरण कर्म से आवृत लब्ध्य पर्याप्तक निगोद जीव के नित्योद्योती—निरन्तर प्रकाशमान ज्ञान नही होता (**तथापि पर्यायाख्यस्य लब्ध्यक्षरापरनामधेयस्याक्षरा-नन्तभागशक्ते. निरावरणत्वं नित्योद्योतत्व आत्मनोऽस्त्येव**) तथापि अक्षर के अनन्तवें भागरूप शक्तिशाली लब्ध्यक्षर अपर नाम वाला पर्याय सज्ञक ज्ञान निरावरण होने से नित्य ही प्रकाशमान रहता है निगोद-जीव के (**पुनः—परमं-परा-उत्कृष्टा इन्द्राद्यतिशायिनी मा ज्ञानादि लक्ष्मीर्यस्य तत्**) फिर कैसा ? उत्कृष्ट अर्थात् इन्द्र आदि को नीचा कर देने वाली ज्ञानरूप लक्ष्मी वाला (**कुतोऽन्तरवलोकनम्**) कैसे अन्तरवलोकन को (**झिगिति-शीघ्रम्**) शीघ्र-जल्दी तत्काल (**सर्वतोऽपि-सर्वरूपेणापि**) सर्वस्वरूप से (**रागादीना-राग-द्वेष-मोह लक्षणभावास्रवाणा प्रत्ययानाम्**) राग-द्वेष-मोह स्वरूप भावास्रवरूप कारणो के (**विगमात-अभावात्**) अभाव से (**किम्भूत ज्ञानम्**) कैसा ज्ञान ? (**आलोकान्तात्— श्रेणिघनमात्र त्रिलोकमभिव्याप्य**) श्रेणिघन प्रमाण तीन लोक को सब तरफ से घेर करके (**सर्वभावान्-समस्तपदार्थान्**) सभी पदार्थों को (**प्लावयत्—सिन्चयत् परिच्छिन्ददित्यर्थ**) जानता हुआ (**कै.**) किनसे ? (**स्वरस विसरैः—स्वस्य-आत्मनः, रसः, तस्य विसराः सन्दोहाः तै.**) आत्मा के रस के समूह से (**किम्भूतै·**) कैसे ? (**स्फारस्फारैः—स्फारात्-विस्तीर्णात्-आकाशात् स्फारै-विस्तीर्णै-ज्ञानशक्त्यर्णवे व्योमादीना विन्दुवदल्पत्वात्**) विस्तीर्ण आकाश से विस्तीर्ण—अर्थात् अनन्त आकाश से भी अधिक विस्तार वाले, क्योकि—ज्ञानशक्ति रूप समुद्र मे आकाश आदि सभी द्रव्यें जल की बूद के समान अल्प मालूम पडती है (**पुन.**) फिर कैसा (**अचलम्-अक्षोभ्यम्**) क्षोभ-रहित, चञ्चल नही होने वाला (**अतुल—न विद्यते तुला-मान यस्यतत्**) तुलना-रहित—अनुपम (**तुला-मतिक्रान्तमिति वा**) अथवा तुला—तुलना-समानता को अतिक्रमण करने वाला (**एकस्मिन्पार्श्वे—धर्मा-धर्माकाशकालानुभागयोगकषायाध्यवसायादीना शक्तिस्तथापि ज्ञानशक्तेरनन्तैकभाग.**) एक तरफ के हिस्से मे धर्म, अधर्म, आकाश, काल, अनुभागयोग, कषायाध्यवसाय आदि की शक्ति है, तो भी वह शक्ति ज्ञान-शक्ति के अनन्त भागो मे से एक भाग के बराबर है।

भावार्थ—शुद्ध नयानुसारी आत्मदृष्टी महात्मा के रागादि भावो का मूलोच्छेद होने पर ऐसा अविकल निरावरण अचिन्त्य महात्म्य युक्त अनन्त ज्ञानरूपी अलौकिक समुद्र उद्वेलित हो उठता है, जिसके अन्दर तीन लोक के अनन्तानन्त पदार्थ एक बूद के समान प्रतिभासित होते हैं। उक्त प्रकार के सर्वोपरि ज्ञान को प्राप्त करने के इच्छुक महापुरुषो को सर्वप्रथम राग-द्वेष-मोह रूप आस्रवो का निरोध करने के हेतु शुद्धनय का आश्रय ग्रहण करना चाहिए, जो समस्त परपदार्थों से शून्य एकमात्र शुद्ध चैतन्य का ही अवबोध कराता है और जिसका अन्तिम प्रतिफल केवल ज्ञान की प्राप्ति है।

इति श्री समयसार पद्यस्याध्यात्मतरङ्गिण्यपरनामधेयस्य व्याख्याया चतुर्थोऽङ्कः।

इस प्रकार श्री समयसार पद्य, जिसका दूसरा नाम अध्यात्मतरङ्गिणी है, की व्याख्या मे चौथा अङ्क समाप्त हुआ ॥

पञ्चमोऽङ्कः प्रारभ्यते

अथ संवराधिकारः ॥५॥

स जयतु जनघनसिन्धुं ज्ञानामृतचन्द्र एव सम्पुष्यत् ।
शुभचन्द्रचन्द्रिकाप्तः सुकुन्दकुन्दोज्ज्वलः श्रीमान् ॥

अन्वयार्थ—जिनका (ज्ञानामृतचन्द्र.) ज्ञानरूपी अमृतचन्द्र (शुभचन्द्रचन्द्रिकाप्त.) शुभचन्द्र जैसी चाँदनी को प्राप्त होकर (एव) ही (जनघनसिन्धुं) जन-समूहरूपी समुद्र को (सपुष्यत्) सपुष्ट करता है (स) वे (सुकुन्दकुन्दोज्ज्वलः श्रीमान्) उत्तम कुन्द पुष्प के समान उज्ज्वल श्रीमान् कुन्दकुन्दाचार्य (जयतु) जयवन्त हो।

(अथ संवरं सूचयति) अब सवर को सूचित करते है—

आसंसारविरोधि संवर जयैकान्तावलिप्तास्रव-
न्यक्कारात्प्रतिलब्ध नित्यविजयं सम्पादयत्संवरम् ।
व्यावृत्तं पररूपतो नियमितं सम्यक्स्वरूपेस्फुर-
ज्ज्योतिश्चिन्मयमुज्ज्वलं निजरसप्राग्भारमुज्जृम्भते ॥भ॥

अन्वयार्थ—(आसंसारविरोधि सवर जयैकान्तावलिप्तास्रवन्यक्कारात्) अनादि ससार के विरोधी संवर को जीतने से एकान्त रूप से अहकार युक्त आस्रव के तिरस्कार से (प्रतिलब्ध नित्य विजयम्) नित्य विजय को प्राप्त किया है ऐसे (सवरम्) सवर तत्त्व को (सम्पादयत्) सम्पादन करता हुआ (पररूपत) पर रूप से (व्यावृत्तम्) पृथक्-जुदा (सम्यक्स्वरूपे) समीचीन निज रूप मे (नियमितम्) निश्चित अत-एव (उज्ज्वलम्) उज्ज्वल देदीप्यमान (निजरस प्राग्भारम्) आत्मिक रस से भरपूर (चिन्मयम्) चैतन्य स्वरूप (ज्योतिः) तेज (उज्जृम्भते) उदय को प्राप्त हो रहा है।

सं० टी०—(उज्जृम्भते-विलसते-प्रकाशत इत्यर्थः) उदय को प्राप्त हो रहा है, विशेष रूप से सुशोभित हो रहा है अर्थात् प्रकाशमान है (किम्) क्या (चिन्मय-ज्ञानमयम्) चतन्य स्वरूप अर्थात् ज्ञानरूप (ज्योतिः-तेजः) तेज (किम्भूतम्) कैसा (सवरम्-कर्मणामागन्तुकाना निरोधम्) आगे आने वाले कर्मों के निरोध को (सम्पादयत्-कुर्वत्) करता हुआ (किम्भूतं-सवरम्) कैसे सँवर को (प्रतीत्यादिः-प्रतिलब्धः-सम्प्राप्त.-नित्य-निरन्तर विजयो येन तम्) जिसने निरन्तर-हमेशा के लिए विजय प्राप्त की है (कुत.) कैसे (आसंसारेत्यादि—ससरण-ससार-द्रव्यक्षेत्रकालभवभावरूप., संसारमभिव्याप्य आससारं कर्म-विरोधयति विनाशयति इत्येवं शील.-आसंसारविरोधी स चासौ संवरश्च कर्मनिरोधस्तस्य जय एवैकः

अद्वितीयः, अन्तः स्वभावः तेनावलिप्त संयुक्त. स चासौ आस्रवश्चतस्यन्यक्कार. तिरस्कारः धिक्कार इत्यर्थः तस्मात्) द्रव्यक्षेत्र कालभव और भावरूप ससार को व्याप्त करके कर्म का नाश करना ही जिसका स्वभाव है ऐसे सवर की विजय रूप अद्वितीय स्वभाव से गर्वित आस्रव के तिरस्कार, धिक्कार के द्वारा **(पुन किम्भूतं सवरम्)** फिर कैसे सवर को **(पररूपत· परः-द्रव्यादि, रागादिर्वा तस्यरूप स्वरूप तत्)** आत्मा से भिन्न पुद्गलादि परद्रव्यो से अथवा रागादि परनिमित्तज भावो से **(व्यावृत-निवृत्तम्)** पृथक् ।

(तथोक्त माप्तपरीक्षायाम्) ऐसा ही आप्त परीक्षा मे कहा है—

तेषामागमिना तावद् विपक्ष· सवरोमत. ॥१११॥ इति ।

अन्वयार्थ – **(आगमिनाम्)** आगे आने वाले **(तेषाम्)** उन कर्म रूपी पर्वतो का **(तावद्)** सबसे प्रथम **(विपक्षः)** विरोधी-विनाशक **(सवरः)** सवर **(मत.)** माना गया है ।

(पुन) फिर **(नियमितम्-कर्मनिरोधे-नियमोजातोयस्यतम्)** जिसके कर्मों के निरोध करने का ही नियम है **(किम्भूतं ज्योतिः)** कैसी ज्योति **(सम्यक्स्वरूपे-आत्मस्वरूप इत्यर्थः)** समीचीन स्वरूप मे अर्थात् आत्मा के निज रूप मे **(स्फुरत्-देदीप्यमानम्)** स्फुरायमान-देदीप्यमान अर्थात् प्रकाशमान **(पूर्वोक्तौ व्यावृत्तमित्यादि विशेषणौ द्वौ ज्योतिषो वा)** पूर्व मे कहे हुए व्यावृत्तम् इत्यादि दो विशेषण ज्योतिष के भी हैं। **(पुन·)** फिर **(उज्ज्वलम्-सदावदातम्)** निरन्तर देदीप्यमान-स्वच्छ-निर्मल **(पुनः कीदृक्षं)** फिर कैसा **(निजरस प्राग्भारम्-स्वात्मानुभवरसेन प्राक्-पूर्वभार -भरण यस्यतत्)** जो पहले से ही आत्मानुभूति रूपरस से भरपूर है ।

भावार्थ—ससार का मूल आस्रव तत्त्व है और उसका बाधक एकमात्र सवर तत्त्व है । "आस्रवः निरोध सवर" आस्रव का निरोधी सवर है, यह तत्त्वार्थ सूत्र से सुप्रमाणित है । लेकिन प्रत्येक जीव अनादित आस्रव तत्त्व से उपलक्षित हैं सवर से नही । कारण कि सँवर तत्त्व एकमात्र सम्यग्दृष्टि के ही होता है और आत्मा अनादित अगृहीत मिथ्यात्व से युक्त होता है, इसलिये उसके सँवर का सर्वथा अभाव ही रहता है । अत आस्रव सवर का विजेता होने से सदा ही विजय के मद से उन्मत्त रहता है । उसके उक्त उन्माद को सम्यग्दृष्टि का सँवर तत्त्व जड से ही उखाड फेंकता है । यह सँवर शुद्ध सम्यग्दृष्टि के शुद्ध नय के आश्रय से ही उत्पन्न होता है, जिसके परम साहाय्य से आत्मदृष्टि जीव अन्ततोगत्वा परमोत्कृष्ट आत्मिक ज्ञान ज्योति से प्रकाशमान हो उठता है, जिसमे लोकत्रय के समस्त चराचर पदार्थ जल की एक बूद के समान चमकते रहते हैं । यह ज्ञान अनन्त ज्ञेयो से भी अनन्तगुणीत निर्बाध है, परनिरपेक्ष है और है परपदार्थों के परिणमनो से सर्वथा शून्य ॥१॥

(अथ ज्ञान राग योः स्वरूप वेभिद्यते) अब ज्ञान और राग मे स्वरूप से भेद का प्रतिपादन करते हैं—

चैद्रूप्यं जड़रूपतां च दधतोः कृत्वा विभागं द्वयो
रन्तर्दारुणदारुणेन परितो ज्ञानस्य रागस्य च ।

भेदज्ञानमुदेति निर्मलमिदं मोदध्वमध्यासिताः
शुद्धज्ञानघनौघमेकमधुना सन्तो द्वितीय च्युताः ॥२॥

अन्वयार्थः—(**चैद्रूप्यम्**) चेतनतात्मक स्वरूप को (**च**) और (**जडरूपताम्**) जडतात्मक स्वरूप को (**दधतोः**) धारने करने वाले (**द्वयो. ज्ञानस्य रागस्य च**)दोनो ज्ञान और राग के (**विभागम्**) विभाग मे अर्थात् दोनो मे स्वरूपकृत भेद को (**कृत्वा**) करके (**अन्तःदारुणदारुणेन**) अन्तरङ्ग मे भेद को उत्पन्न करने वाले ज्ञान के द्वारा (**परितः**) सब तरफ से (**इदम्**) यह (**निर्मलम्**) निर्मल कर्म कालिमा से रहित (**भेद-ज्ञानम्**) स्वपर भेदज्ञान (**उदेति**) उदय को प्राप्त कर रहा है अतएव (**अधुना**) अब (**सन्त.**) हे सन्त पुरुषो (**युगम्**) तुम सब (**द्वितीयच्युताः**) पर पदार्थ पुद्गलादि परद्रव्य से रहित (**एकम्**) एक अद्वितीय (**शुद्धज्ञान घनौघम्**) शुद्ध ज्ञानघन समूह मे (**अध्यासिताः**) स्थित (**मोदध्वम्**) आनन्दित होओ।

सं० टी०—(**उदेति-उदयं-गच्छति-चकास्तीत्यर्थ**) उदय को प्राप्त होता अर्थात् देदीप्यमान रहता है (**किम्**) कौन (**भेदविज्ञानम्-क्रकचवद्द्विधाकारक-ज्ञानम्**) करोत के समान जीव और पुद्गल को पृथक-पृथक् बताने वाला ज्ञान (**कस्य**) किसके (**ज्ञानस्य-रागस्य च, ज्ञानरागयो· परस्परमत्यन्तविलक्षणत्वादि-भिन्नत्वम्**) ज्ञान और रागके (भेद को जानने वाले) ज्ञान के और राग के परस्पर—आपसमे-एक दूसरे मे लक्षणकृत भेद होने से अत्यन्त भिन्नता है (**किम्भूतम्**) कैसा (**निर्मल—मिथ्यात्वादि कर्मकालुष्यराहित्यात्**) निर्मल अर्थात् मिथ्यादर्शन आदि कर्म की कलुषता-गन्दलापन से रहित होने से अति पवित्र (**किंभूतस्य**) कैसे ज्ञान के (**चैद्रूप्य-चिदेव-ज्ञानमेव रूपं यस्य स तस्य भावश्चैद्रूप्यं चेतनत्वमित्यर्थः**) ज्ञान ही जिसका स्वरूप है अर्थात् चैतन्य रूप को (**दधत.-धारयत**) धारण करने वाले (**च-पुन**) और (**रागस्य**) राग के (**किम्भूतस्य**) कैसे राग के (**जड़रूपता-अचेतनताम्**) जडता-अचेतनता को (**दधत**) धारण करने वाले (**किंकृत्वा**) क्या करके (**द्वयो - जीवक्रोधयो**) जीव और क्रोध इन दोनो के (**अविभागम्-अभेदम्**) अवि-भाग–अभेद को (**अकृत्वा-अविधाय**) नही करके (**भेद कृत्वेत्यर्थ**) अर्थात् भेद करके (**केन**) किससे ? (**अन्त रित्यादि.-दारयति कर्म-शत्रूनिति दारुण ज्ञान, अन्त अभ्यन्तरे, दारुण–द्विधाकारक तच्च तद्दारुणं च तेन कारणभूतेन**) जो कर्म शत्रुओ का विदारण करे—वह दारुण अर्थात् ज्ञान अन्तरङ्ग मे दारुण-भेद कारक होने से (**सन्त ?–अहोसत्पुरुषा ?**) हे सज्जनो (**मोदध्वं–यूयप्रमोदकुरुध्वम्**) तुम आनन्द करो (**अधुना–इदानीं–भेदज्ञानोदयेसति**) इस समय अर्थात् भेद-ज्ञान के (समुदय के समय) होने पर (**किम्भूता सन्त**) कैसे होते हुए (**इद–एक–अद्वितीयं भेदज्ञान**) इस अद्वितीय असाधारण भेद-ज्ञान को (**अध्याश्रिता आरुढा प्राप्ता· सन्त इत्यर्थ**) आरुढ—अर्थात् प्राप्त होते हुए (**पुन किम्भूता**) फिर कैसे (**द्वितीयच्युता.-ज्ञान-रागयोमध्ये द्वितीयेन रागेण च्युता रहिता**) ज्ञान और राग इन दोनो मे से द्वितीय राग से रहित होते हुए (**किम्भूतमिदम्**) यह कैसा (**शुद्धेत्यादि —शुद्ध-निर्मल तच्च तज्ज्ञान बोधश्च तस्य घन निरन्तर अस्य ओघ समूह यत्र तत्**) जिसमे निर्मल ज्ञान की निरन्तरता का समूह विद्यमान है।

भावार्थ—चेतन आत्मा के सभी गुण चेतन होते हैं। तथा अचेतन पदार्थ के समस्त गुण अचेतन ही होते हैं। यह सर्वविदित नियमित सिद्धान्त है। अत आत्मा का ज्ञान गुण चैतन्यमय है। तथा राग पुद्गल जन्य होने से, पुद्गल के अचेतन होने से, अचेतन रूप है। परन्तु अज्ञानी मिथ्यादृष्टि अज्ञान के बल से इन दोनो को एक रूप ही जानता है, क्योकि अनादिकाल से जड को ही अपना स्वरूप मानता चला आ रहा है। जड से भिन्न चेतन आत्मा का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व है, इस प्रकार का भेदपरक ज्ञान आज तक इस अज्ञानी को नही हुआ है। अब आत्मा मे भेदज्ञान का उदय हुआ है। अतएव यह भेदज्ञानी आत्मा के ज्ञान को चेतन रूप तथा पुद्गल निमित्तज राग को अचेतन रूप मानकर एव जानकर रागादि से सर्वथा भिन्न शुद्ध ज्ञानस्वरूप आत्मा का अनुभव करता हुआ रागादि भावास्रव के विरोधी सवर तत्त्व को प्राप्त हुआ है, जिसके प्रभाव से अविनाशी अनन्त शक्तिशाली, समस्त लोकालोक प्रकाशी, निरावरणी—केवलज्ञान को प्राप्त करने का अधिकारी हुआ है ।।२।।

(**अथ शुद्धात्मोपलम्भात् सवरं विवृणोति**) अब शुद्ध आत्मा की उपलब्धि से सवर का विस्तार से वर्णन करते हैं—

यदि कथमपि धारावाहिना बोधनेन, ध्रुवमुपलभमानः शुद्धमात्मानमास्ते ।
तदयमुदयदात्मारामसात्मानमात्मा, परपरिणतिरोधाच्छुद्धमेवाभ्युपैति ।।३।।

अन्वयार्थ—(**यदि**) यदि (**अयम्**) यह (**आत्मा**) आत्मा (**कथमपि**) किसी भी प्रकार से अर्थात् महान् कष्ट सह करके भी (**धारावाहिना**) धारावाही (**बोधनेन**) ज्ञान से (**ध्रुवम्**) निश्चित रूप से (**शुद्धम्**) शुद्ध-द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म से रहित (**आत्मानम्**) आत्मा को (**उपलभमानः**) अनुभव किया करे (**तद्**) तो (**पर-परिणतिरोधात्**) पर-पुद्गलादि पर-द्रव्यो मे ममत्व रूप परिणति के अभाव से (**उदयदात्मारामम्**) उदय को प्राप्त हो रही है, रमणीयता जिसमे ऐसे (**शुद्धम्**) शुद्ध-अतिशय पवित्र (**आत्मानम्**) आत्मा को (**एव**) ही (**अभ्युपैति**) प्राप्त करता है।

सं० टीका—(**यदि-यदा**) जब (**अयं-प्रसिद्धः**) यह प्रसिद्ध (**आत्मा-चिद्रूप.**) चैतन्य स्वरूप आत्मा (**आस्ते-अवतिष्ठते**) अवस्थित होता है (**किम्भूत.**) कैसा (**ध्रुवं-निश्चित**) निश्चय से (**कथमपि-महताकष्टेन**) किसी प्रकार से भी अर्थात् महान कष्ट से (**शुद्धम्-द्रव्यभाव नोकर्म कलङ्कविकलम्**) शुद्ध अर्थात् द्रव्यकर्म भावकर्म तथा नोकर्म से रहित (**आत्मान-स्व-स्वरूपम्**) अपने स्वरूप को (**उपलभयानः-आसादयन्**) प्राप्त करता हुआ (**स्वध्यानविषयीकुर्वाण इत्यर्थ.**) अर्थात् अपने ध्यान का विषय करता हुआ (**केन ?**) किससे (**बोधनेन-बोध्यते-ज्ञायते-अनेनेति बोधन ज्ञानं तेन**) जिसके द्वारा वस्तु-स्वरूप जाना जाय वह बोध अर्थात् ज्ञान उससे (**किम्भूतेन**) कैसे (**धारावाहिना—अनवच्छिन्नरूपत्वेन-स्वर्धुनीधारेव वहतीत्येव शीलस्तेन**) स्वर्गगङ्गा की धाराके समान निरन्तर रूप से वहन स्वरूप ज्ञान से (**तत्-तदा**) तब (**आत्मान-चिद्रूपम्-शुद्ध-मेव निष्कलङ्कमेव**) शुद्ध, निष्कलङ्क आत्मा को ही (**अभ्युपेति-प्राप्नोति**) प्राप्त करता है (**कुतः**) किससे

(पर-परिणतिरोधात्-परेषु-अचेतनादि पदार्थेषु परिणतिः ममत्वादि लक्षण परिणामः तस्य विरोधः तस्मात्) अचेतन आदि पदार्थों मे ममेद बुद्धि रूप परिणाम का निरोध – अभाव होने से **(किम्भूतं-तम्)** कैसे आत्म-स्वरूप को **(उदेत्यादिः—आत्मनः आराम-रमणीय-ज्ञानस्वरूपवनं वा उदयत्-उदयं गच्छत्—आत्मारामं-यत्रासौ तम्)** जिसमे आत्मा का सौन्दर्य अथवा ज्ञानरूप वन उदय को प्राप्त हो रहा है **(इत्येवं सँवर प्रकारः)** इस प्रकार यह सँवर तत्त्व का स्वरूप निर्देश है ।

भावार्थ—शुद्धनय आत्मा को द्रव्यकर्म, भावकर्म एव नोकर्म से शून्य मात्र चैतन्य का अखण्ड पिण्ड-देखता और जानता है। उक्त नय के विषयभूत आत्मा का धारावाहिक ज्ञान से जब मनन किया जाता है, तब ज्ञानी को तद्रूप आत्मा की उपलब्धि होती है । उस उपलब्ध आत्मा मे वस्तुत पर-पदार्थों के प्रति जरा भी ममत्त्व परिणाम नही होता है। जो आस्रव के अभावस्वरूप सँवर का सस्थापक है। इस प्रकार आत्म-दृष्टि का धारावाही आत्मस्वरूप मे निरन्तर-बेरुकावट-उपयुक्त-ज्ञान जैसे आत्मा की शुद्धोपलब्धि मे कारण हैं वैसे ही वह रागादि के निरोधक सँवर-तत्त्व के समुपलम्भ मे भी कारण है । इससे यह फलित हुआ कि आत्मा का शुद्धस्वरूप आत्मस्वरूपोपलब्धि के समान सँवर के स्वरूप की प्राप्ति मे भी परिपूर्ण सहायक-कारण होता है ॥३॥

(अथ कर्म मोक्षं कक्षी करोति) अब कर्मों के मोक्ष का वर्णन करते है—

निजमहिमरतानां भेदविज्ञानशक्त्या भवति नियतमेषां शुद्धतत्त्वोपलम्भः ।
अचलितमखिलान्यद्रव्यदूरेस्थितानां भवति सति च तास्मिन्नक्षयः कर्ममोक्षः ॥४॥

अन्वयार्थ—**(भेदविज्ञानशक्त्या)** स्वपर भेदविज्ञान के बल से **(निजमहिमरतानाम्)** अपनी आत्मा की महिमा मे अनुरक्त **(एषाम्)** इन आत्मदृष्टि महापुरुषो को **(शुद्धतत्त्वोपलम्भः)** शुद्ध-निर्मल आत्मा के स्वरूप की उपलब्धि **(नियतम्)** निश्चित रूप से **(भवति)** होती है **(तस्मिन्)** उस शुद्ध आत्मोपलब्धि के **(सति)** रहते हुए **(अचलितम्)** निश्चल रूप से **(अखिलान्यद्रव्यदूरे)** समस्त पदार्थों से दूर **(स्थितानाम्)** स्थित रहने वाले पुरुषो के **(अक्षयः)** अविनाशी **(कर्ममोक्ष·)** कर्मों का मोक्ष **(भवति)** होता है ।

स० टीका—**(नियतम्-निश्चितम्)** नियम-निश्चय-से **(शुद्धेत्यादिः-शुद्धतत्त्वं-परमात्मतत्त्वं, तस्योप-लम्भः-प्राप्तिः)** उत्कृष्ट-अतिशय पवित्र आत्मतत्त्व की उपलब्धि **(भवति-जायते)** होती है **(केषाम्)** किन को **(येषा निजमहिमरतानाम्-निज -स्वात्मा तस्य महिमा-माहात्म्यं-दर्शनज्ञानादिलक्षणम्-तत्ररक्ताना-आसक्तानाम्)** ज्ञान दर्शन आदि लक्षणस्वरूप अपनी-आत्मा मे आसक्त-स्थिर-रहने वालो को **(अचलम्-निश्चलम्-यथा भवति तथा)** निश्चल रूप से जैसे बने वैसे **(स्थितानाम्-प्रविष्टानाम्)** स्थित-प्रविष्ट **(क्व)** कहाँ **(अखिलेत्यादि.—अखिलानि समस्तानि, तानि च तानि अन्यद्रव्याणि च आत्मव्यतिरिक्तधर्मादिपञ्च-द्रव्याणि तेभ्यः दूरात् दविष्ठे)** आत्मद्रव्य से भिन्न धर्मादि पञ्च द्रव्यो से दूर **(कया-)** किससे **(भेदेत्यादि.-भेदकारक विज्ञानस्य शक्ति सामर्थ्यं तया)** पर पदार्थो से भेद को उत्पन्न करने वाले विज्ञान की सामर्थ्य

से (**चेति भिन्नप्रक्रमे**) च शब्द क्रम की भिन्नता मे प्रयुक्त हुआ है (**सति-विद्यमाने**) विद्यमान होने पर (**तस्मिन्-शुद्धतत्त्वोपलम्भे**) उस शुद्ध आत्मतत्त्व के प्राप्त होने पर (**अक्षय-क्षयातीतः अनन्तकालस्थायीत्यर्थः**) क्षय से रहित वर्थात् अनन्तकाल पर्यन्त रहने वाला (**कर्म मोक्ष कर्मणा-प्रकृतिस्थिति, आदिरूपतया विश्लेषणं मोक्ष**) प्रकृति स्थिति आदि रूप से कर्मों का आत्मा से सर्वथा पृथक् हो जाना रूप मोक्ष (**भवति-जायते**) होता है।

भावार्थ—भेदविज्ञान के बल से जो आत्मा के अचिन्त्य माहात्म्य को जान कर उसमे स्थिर रहते हैं उन्हे शुद्ध आत्मा की परिपूर्णरूप से प्राप्ति होती ही है। उसके प्राप्त होते ही आत्मा समस्त परद्रव्यो से सर्वथा और सर्वदा पृथक् हो अक्षय मोक्ष पद का स्वामी होता है ॥४॥

(**अथ संवर विवृणोति**) अब सवर का विवरण करते हैं—

सम्पद्यते संवर एष साक्षाच्छुद्धात्मतत्त्वस्य किलोपलम्भात्।
स भेदविज्ञानत एव तस्मात्तद्भेदविज्ञानमतीव भाव्यम् ॥५॥

अन्वयार्थ—(**शुद्धात्मतत्त्वस्य**) शुद्ध आत्मतत्त्व की (**उपलम्भात्**) प्राप्ति से (**किल**) आगम के अनुसार (**साक्षात्**) प्रत्यक्ष रूप से (**एष**) यह (**संवरः**) सवर तत्त्व (**सम्पद्यते**) सम्पन्न होता है (**सः**) वह शुद्धात्मोपलम्भ-निर्मल आत्मा के स्वरूप की प्राप्ति (**भेदविज्ञानतः**) भेद विज्ञान से (**एव**) ही (**सम्पद्यते**) सम्पन्न होती है (**तस्मात्**) इसलिए (**भेदविज्ञानम्**) भेद विज्ञान (**अतीव**) अतिशय रूप से (**भाव्यम्**) भावनीय-चिन्तनीय-मननीय है।

सं० टीका—(**तस्मात्-आत्मकर्मणोर्भेदविज्ञानात्**) आत्मा और कर्मों मे स्वरूप से भेद है ऐसा विशिष्ट ज्ञान होने से (**आस्रवभाव हेतूनामध्यवसानानां-मिथ्यात्वादीनामभाव., तदभावे च रागद्वेषमोहरूपास्रवभावस्याभावः, तदभावे च कर्माभावः तदभावे च नोकर्माभावः तदभावे च ससाराभाव इति कारणात्**) सर्वप्रथम आस्रवभाव के कारणीभूत मिथ्यात्वादि अध्यवसान भावो का अभाव होता है और उनका अभाव होने पर द्रव्यकर्मों का अभाव होता है, और उनका अभाव होने पर ससार का अभाव होता है इस कारण से (**तत्-प्रसिद्धम्-आत्मकर्मणोर्भेदविज्ञानम्**) वह प्रसिद्ध आत्मा और कर्मों की भिन्नता-जुदाई का ज्ञान (**अतीवभाव्यम्-अत्यन्तम्भावनीयम्**) अतिशय भावनीय भावना करने योग्य-है। (**तत् कुतः**) वह कैसे (**यत**) जिस कारण से (**स आत्मोपलम्भः**) वह आत्मा की प्राप्ति (**भेदविज्ञानत एव नान्यतः**) भेद विज्ञान से ही होती है अन्य से नही (**किलेत्यागमे श्रूयते**) किल—ऐसा आगम मे सुनते हैं (**शुद्धात्मतत्त्वस्य-अमलपरमात्मस्वरूपस्य**) निर्मल परमात्मा के स्वरूप की (**उपलम्भात्-प्राप्तेः**) उपलम्भ-प्राप्ति से (**एष-प्रसिद्ध**) यह प्रसिद्ध (**साक्षात्-प्रत्यक्षम्**) साक्षात्-प्रत्यक्ष (**संवर—आगन्तुक कर्म निरोधः**) आने वाले कर्मों का निरोध-अभाव (**सम्पद्यते-जायते**) होता है -

भावार्थ—सवर तत्त्व की प्राप्ति मे कारण, शुद्धात्म तत्त्व की प्राप्ति है और शुद्धात्म तत्त्व की

प्राप्ति में कारण स्वपर भेद विज्ञान है अत सर्वप्रथम भेद विज्ञान की भावना करनी चाहिए। सब का मूल कारण भेद विज्ञान ही है यह इसका तात्पर्यार्थ है। मूलत यही वाञ्छनीय है ॥५॥

(**अथ भेदविज्ञानमाज्ञापयति**) अब भेद विज्ञान को प्राप्त करने की आज्ञा करते है—

भावयेद्भेदविज्ञानमिदमच्छिन्नधारया ।
तावद्यावत्पराच्च्युत्वा ज्ञानं ज्ञाने प्रतिष्ठते ॥६॥

अन्वयार्थ—(**इदम्**) इस (**भेदविज्ञानम्**) भेद विज्ञान को (**अच्छिन्नधारया**) अच्छिन्नधारा-बेरुकावटरूप से (**तावत्**) तब तक (**भावयेत्**) भावना चाहिए (**यावत्**) जब तक (**ज्ञानम्**) ज्ञान-आत्मज्ञान (**परात्**) पर-पुद्गलादि परद्रव्यो से एव परभावो से (**च्युत्वा**) च्युत-पृथक्-होकर (**ज्ञाने**) ज्ञान मे-आत्मज्ञान मे (**प्रतिष्ठते**) स्थित हो जाये।

सं० टी०—(**यावत्पर्यन्त**) जब तक (**ज्ञानं-परमात्मबोध**) परमात्मा का परिज्ञान (**ज्ञाने-स्वस्वरूपप्रतिभासके बोधे**) अपनी आत्मा के खास स्वरूप के प्रकाशक ज्ञान मे (**प्रतिष्ठते-स्थिर्तिकरोति**) स्थिरता को कर ले (**स्वस्वरूपे-स्वस्वरूपावस्थाने, इत्यर्थः**) अपने स्वरूप मे अर्थात् अपने खास स्वरूप मे अवस्थित होने पर (**किं कृत्वा ?**) क्या करके (**च्युत्वा-त्यक्त्वा**) त्याग कर (**कान्**) किनको (**परान्-अचेतनादिपरपदार्थान्**) जडस्वरूप पुद्गलादि आत्मेतर पदार्थो को (**तावत्काल पर्यन्तम्**) तब तक (**इद-भेदविज्ञानम्—आत्मकर्मणोर्भेदकारक भावनाज्ञानम्**) आत्मा और कर्म के भेद को करने वाले भावनात्मक ज्ञान को (**अच्छिन्नधारया-अनवच्छिन्नरूपेण**) अनवच्छिन्न-निरन्तर-बेरुकावट-रूप से (**भावयेत्-ध्यायेत्**) भावना करे—ध्यान करे (**लब्धे स्वरूपे स्वरूप प्राप्ति निमित्तकस्य भेदज्ञानस्यानुपयोगात्**) अर्थात् आत्मा के शुद्धस्वरूप के प्राप्त होने पर आत्मस्वरूप की उपलब्धि मे निमित्तभूत भेदज्ञान का फिर कोई खास उपयोग नही होता (**निष्पन्नेपटे तत्साधनस्य तुरीवेमाकुविन्दादेरनुपयोगित्वात्**) पट-वस्त्र-के निर्मित होने पर उसके साधनीभूत तुरी, वेम, कुविन्द-जुलाहे आदि के पुन उसी वस्त्र के निर्माण मे उपयोगी न होने के समान।

भावार्थ—भेदज्ञान की भावना तब तक करते रहना चाहिए जब तक कि आत्मस्वरूप की प्राप्ति न हो जाय। आत्मा के सच्चे स्वरूप के प्राप्त होने पर फिर भेद ज्ञान का कोई उपयोग नही होता है। जैसे वस्त्र के निर्माण मे तुरी, वेम, जुलाहा आदि तभी तक उपयोग मे आते हैं जब तक कि वस्त्र निष्पन्न नही हो जाता। वस्त्र के निष्पन्न होने के बाद उनका फिर उस वस्त्र के विषय मे कोई उपयोग नही होता है। वैसे ही यहाँ भेदज्ञान के विषय मे लगा लेना चाहिए।

(**भेदज्ञानाज्ञानयो. सिद्धि प्रति हेतुकत्वाहेतुकत्वे निर्णयति**) अब सिद्ध अवस्था की प्राप्ति मे भेदज्ञान की हेतुता तथा उसकी अप्राप्ति मे अहेतुता का निर्णय करते हैं—

भेदविज्ञावतः सिद्धाः सिद्धा ये किल केचन ।
तस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन ॥७॥

अन्वयार्थ—(**किल**) आगम के अनुसार-निश्चय से (**ये**) जो (**केचन**) कोई (**सिद्धाः**) सिद्ध-मुक्त कर्मबन्धन से रहित-हुए हैं (**ते**) वे (**भेदविज्ञानत**) भेद विज्ञान से (**सिद्धाः**) सिद्ध हुए हैं और (**किल**) आगम के अनुसार-निश्चय से (**ये**) जो (**केचन**) कोई (**बद्धाः**) कर्मों से बंधे हैं (**ते**) वे (**तस्य**) उस भेद-विज्ञान के (**अभावत·**) अभाव से (**एव**) ही (**बद्धा**) बधे है।

सं० टी०—(**किलेत्यागमोक्ते-निश्चये**) किल – यह अव्यय आगमोक्त अर्थ मे एव निश्चय अर्थ मे—आया है अर्थात् आगम के कहे अनुसार – निश्चय से (**ये केचन पुरुषसिहाः**) जो कोई पुरुष सिंह (**सिद्धा.-सिद्धि स्वात्मोपलब्धिलक्षणां प्राप्ताः उपलक्षणात् सिद्धचन्ति-सेत्स्यन्ते**) स्वात्मोपलब्धिरूप सिद्धि को प्राप्त हुए हैं उपलक्षण से सिद्ध होने वाले हैं और जो सिद्ध होगे (**ते सर्वे भेदविज्ञानतः आत्मकर्मणोर्भेदज्ञानात्—नान्यतस्तपश्चरणादे सिद्धपद प्राप्ता प्राप्नुवन्ति प्रापयिष्यन्ति,**) वे सब आत्मा और कर्म के भेदज्ञान से सिद्ध-पद को प्राप्त हुए हैं, प्राप्त हो रहे हैं और प्राप्त होगे इसके विना अन्य तपश्चरण आदि से नही (**किलेति-निश्चितम्**) यह निश्चित है (**ये केचन संसारिण पुरुषाः**) जो कोई ससारी पुरुष (**बद्धाः-कर्मबन्धनबद्धाः**) कर्मों के वन्धन से बधे हुए हैं (**त एव अस्य भेदविज्ञानस्य**) वे ही इस भेद विज्ञान के (**अभावतः**) अभाव से (**बद्धाः-बन्धन प्राप्ताः**) बन्धन को प्राप्त है (**नात्र विचारणा**) इस विषय मे अन्य कोई विचार नही है।

भावार्थ—प्रत्येक आत्मा अनादित संसारी है। कर्मबन्धन से बद्ध है। इसका एक मात्र कारण अज्ञान है अर्थात् आत्मा और कर्म मे एकत्व बुद्धि है। दोनो स्वभाव से भिन्न हैं ऐसा अज्ञान के कारण प्रतिभासित नही होता। यही अज्ञान ससार बन्ध का मूल हेतु है। इससे विपरीत जीव और कर्म की पृथकता का ज्ञान ही मुक्ति का कारण है क्योकि आज तक जितने भी सिद्ध-कर्मबन्धन से मुक्त हुए हैं, वे सभी इसी भेद विज्ञान के बल से ही हुए हैं। और जो हो रहे हैं एव भविष्य मे होगे वे सभी इस ही भेद-विज्ञान के बल से होगे इसके विना अन्य तपश्चरणादि से नही। तात्पर्य यही है कि आत्मा और कर्म एव कर्मफल की जुदाई का स्वरूपत ज्ञान न होना ही भेद विज्ञान का अभाव है। जो ससार बन्धन का समर्थ कारण है। अत इसे ही प्राप्त करने का सतत उद्योग करते रहना प्रत्येक मुमुक्षु का परम लक्ष्य होना चाहिए।

(**अथ ज्ञाने ज्ञानव्यवस्थाकारण कलयति**) अब ज्ञान मे ज्ञानरूप से स्थित रहने के कारण को दिखाते है—

भेदज्ञानोच्छलनकलनाच्छुद्धतत्त्वोपलम्भा-
द्रागग्रामप्रलयकरणात्कर्मणां संवरेण।
विभ्रत्तोषं परमममलालोकमम्लानमेकं-
ज्ञानं ज्ञाने नियतमुदितं शाश्वतोद्योतमेतत् ॥८॥

अन्वयार्थ—(**भेदज्ञानोच्छलनकलनात्**) भेदज्ञान-आत्मा और पुद्गलादि परद्रव्यो की पृथकता

जुदाई के ज्ञान की प्रकटता के अभ्यास से (**शुद्धतत्त्वोपलम्भात्**) निर्मल आत्मतत्त्व की उपलब्धि हुई उस से (**रागग्रामप्रलयकरणात्**) राग के समूह के विनाश होने से (**कर्मणाम्**) कर्मों का (**संवरेण**) सवर-निरोध-हुआ जिससे (**परमम्**) परम-सर्वोपरि (**तोषम्**) सन्तोष को (**बिभ्रत्**) धारण करता हुआ (**अमलालोकम्**) निर्मल प्रकाशयुक्त (**अम्लानम्**) म्लानता रहित-तेजोमय (**शाश्वतोद्योतम्**) निरन्तर उद्योतमय (**उदितम्**) उदय को प्राप्त हुआ (**एतत्**) यह (**एकम्**) अद्वितीय असहाय अक्षय (**ज्ञानम्**) ज्ञान अर्थात् केवलज्ञान (**ज्ञाने**) ज्ञान मे (**नियतम्**) निश्चित हुआ अर्थात् प्रतिष्ठित हुआ।

सं० टी०—(**नियत-निश्चित**) नियत-निश्चित (**एतत्-ज्ञानम्-परमात्मज्ञानम्**) यह परमात्म-ज्ञान (**ज्ञाने-स्वरूपप्रतिभासे**) निज स्वरूप के प्रकाश मे (**उदित-उदय-प्राप्तम्**) उदय को प्राप्त हुआ है (**किम्भूतम्**) कैसा होता हुआ (**तोषम्-परमानन्दम्**) उत्कृष्ट-सर्वोपरि आत्मिक आनन्द को (**बिभ्रत्-धारयत्**) धारण करता हुआ (**पुन -किम्भूतम्**) फिर कैसा (**परम-परा-उत्कृष्टा-मा-सर्ववस्तु परिच्छेदिका ज्ञानशक्तिरूपा लक्ष्मीर्विद्यते यस्य तत्**) समस्त वस्तुसमूह को जानने वाली ज्ञानरूप शक्तिरूप लक्ष्मी से युक्त (**कुत**) किससे (**भेदेत्यादिः-भेदज्ञानस्य उच्छलनं प्राकट्यं-प्रकाशनमित्यर्थ. तस्य कलन-अभ्यसनं तस्मात्**) भेद ज्ञान की प्रकटता के अभ्यास से (**पुन -अमलालोकम्—अमलः-निर्मलः-आलोकः जगतप्रकाशक-प्रकाशो यस्य तत्**) जिसका निर्मल प्रकाश सारे जगत को प्रकाशित करने वाला है (**कुतः**) किससे (**शुद्धे-त्यादि -शुद्धतत्त्वस्य-परमात्मन., उपलम्भ.-प्राप्तिः तस्मात्**) शुद्धतत्त्व अर्थात् परमात्मस्वरूप-की प्राप्ति से (**अम्लानं-कश्मलताच्युतम्**) कर्मो की मलिनता से रहित (**कुत**) किससे (**रागेत्यादिः-रागस्य-रतेः ग्रामः समूहः तस्य प्रलयकरण-विनाशकरण-तस्मात्**) राग के समूह का विनाश करने से (**पुन.**) फिर कैसा ज्ञान (**एकं-कर्मादिव्यतिरिक्तत्वेनाद्वितीयम्**) कर्म आदि से सर्वथा भिन्न होने के कारण एक-अद्वितीय (**केन**) किससे (**कर्मणा सवरेण-आगन्तुक कर्म निरोधेन**) आने वाले कर्मो के निरोध से (**अत एव-शाश्वतोद्योतं-नित्यप्रकाशम्**) इसलिए ही नित्यप्रकाशयुक्त होता है।

भावार्थ - भेदज्ञान के प्रभाव से—ऐसा परमात्मज्ञान उदित हुआ है। जो परमात्मानन्द से युक्त है। भेदज्ञान से परिभावित है। शुद्ध आत्मस्वरूप की परिप्राप्ति से अति विशुद्ध है। समस्त लोकालोक का प्रकाशक है। रागादि की कलुषता से शून्य है। अतएव परम सवर रूप है। आशय यह है कि सम्य-क्त्व के काल मे ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से जो ज्ञान जागरुकता को प्राप्त करता है। उसी से स्वरूप तथा पररूप की यथार्थता अवगत होती है। बस इसी का नाम भेदविज्ञान है। यही भेदविज्ञान जब तक रागादि से सहकृत रहता है, तब तक क्षयोपशम रूप मे ही वर्तमान रहता है। रागादि का समूलोच्छेद होते ही वही भेदज्ञान परिपूर्णता को प्राप्त कर, मात्र ज्ञानरूप मे ही अनन्तकाल स्थिर रहता है। यही ज्ञान का ज्ञानरूप मे प्रतिष्ठित होना कहा जाता है।

(इति श्री समयसारपद्यस्याध्यात्मतरंगिण्यपरनामधेयस्य व्याख्याया पञ्चमोऽङ्कः।)

इस प्रकार से श्री समयसार पद्य की, जिसका अपरनाम अध्यात्म-तरगिणी है—की व्याख्या मे
यह पाचवा अङ्क समाप्त हुआ।

षष्ठोऽङ्कः प्रारभ्यते

अथ निर्जराधिकार

संवर निकरविचारोऽमृतचन्द्रोभानुभुवनद्युवः ।
श्री कुन्दकुन्दशाली शुभचन्द्रकरः प्रशस्तेद्धः(?) ॥

(अथ निर्जरानिरूपणमुज्जृम्भते) अब निर्जरा का निरूपण प्रारम्भ करते हैं—

रागाद्यास्रवरोधतो निजधुरां धृत्वा परः संवरः
कर्मागामि समस्तमेव भरतो दूरान्निरुन्धन् स्थितः ।
प्राग्बद्धं तु तदेव दग्धुमधुना व्याजृम्भते निर्जरा
ज्ञानज्योतिरपावृतं न हि यतो रागादिभिर्मूर्च्छति ॥१॥

अन्वयार्थ- (रागाद्यास्रवरोधत) राग-द्वेषादि भावास्रव के रोध से (निजधुरा) अपने भार को (धृत्वा) धारण करके (आगामि) भविष्य मे आने वाले (समस्तम्) सब (एव) ही (कर्म) कर्म को (भरतः) अतिशय रूप से (दूरात्) दूर से (निरुन्धन्) निरोध करता हुआ (पर) श्रेष्ठ (संवरः) सवर तत्त्व (स्थित.) स्थित है । (तु) और (अधुना) इस समय (प्राग्बद्धम्) पूर्व समय मे बँधे हुए (तदेव) उस ही कर्म समूह को (दग्धुम्) जलाने के लिए अर्थात् आत्मा से पृथक् करने के लिए (निर्जरा) निर्जरा तत्त्व (व्याजृम्भते) उद्यत हो रहा है (यत) जिससे (अपावृतम्) सवर और निर्जरा से आवरण रहित होती हुई (ज्ञानज्योतिः) ज्ञान ज्योति (हि) निश्चय से (रागादिभिः) राग द्वेष आदि से (न) नही (मूर्च्छति) मूछित होती है ।

सं० टीका - (सवर.-संवरनामतत्त्वम्) सवर नामक तत्त्व (स्थितः-व्यवस्थित·) विशेषरूप से मौजूद है (किं कृत्वा) क्या करके (धृत्वा-उद्धृत्य) अपने ऊपर धारण करके (निजधुराम्-स्वयोग्यधुर्यम्) अपने योग्य भार को (किम्भूतः) कैसा (पर.-उत्कृष्ट. कर्मागमनिरोधकत्वात्) आने वाले कर्मों का निरोधक होने से उत्कृष्ट (किंकुर्वन्) क्या करता हुआ (दूरात्-आरात्) दूर से (निरुन्धन्) निरोध करता हुआ (भरतः अतिशयेन) अतिशय रूप से (किम्) क्या (समस्तमेव-निखिलमेव) सभी (आगामि-आगन्तुकम्) आगन्तुक (कर्म-ज्ञानावरणादि प्रकृतिम्) ज्ञानावरण आदि प्रकृतिरूप कर्म को (कुत.) किससे (रागेत्यादिः-रागाद्याः-रागद्वेषमोहाः ते च ते आस्रवा , तु-पुनर्भिन्नप्रक्रमे, प्रत्यया तेषा रोधः निरोध. तस्मात्) राग-द्वेष मोह रूप भावास्रव के कारणो के निरोध से यहां तु शब्द पुनर-फिर रूप भिन्नक्रम मे प्रयुक्त हुआ है अर्थात् भावास्रव के निरोध से (अधुना-सवरानन्तरम्) सवर तत्त्व के पश्चात् (निर्जरा-निर्जीर्यते पूर्वनिबद्धं यया सा

भाव निर्जरा, पूर्वनिबद्ध कर्मणा निर्जरणं निर्जरा इति द्रव्य निर्जरा सूचिता) जिन भावो से पूर्व मे बधे हुए कर्म निर्जीर्ण हो वह भाव निर्जरा तथा पूर्व निबद्ध कर्मों का आत्मा से निर्जर जाना अर्थात् दूर हो जाना यह द्रव्य निर्जरा है ऐसा निर्जरातत्त्व सूचित हुआ है (**विजृम्भते-विलसति**) विलास को प्राप्त हो रहा है। (**किं कर्तम्**) क्या करने के लिए (**दग्धुम्-भस्मीकर्तुम्**) जलाने-भस्म करने के लिए (**विनाशयितु-मित्यर्थः**) अर्थात् विनाश करने के लिए (**किम्**) किसे (**प्राग्बद्ध-पूर्वमास्रवाद्यैर्निबद्धम्**) पूर्व मे रागादि भावास्रवादि से बधे हुए कर्म (**तदेव-द्रव्यभावकर्मैव सम्यग्दृष्ट्यादि एकादशनिर्जरया कर्मणो निर्जीर्यमाण-त्वात्**) वे ही अर्थात्—द्रव्य और भाव कर्म सम्यग्दृष्टि आदि ग्यारह निर्जरा स्थानो से निर्जीर्ण किये जाते हैं।

(**तथाचोक्तं गोम्मटसारे**) ऐसा ही गोम्मटसार मे कहा गया है—

सम्मत्तुप्पत्तीये सावय विरदे अणंत कम्मंसे।
दंसणमोहक्खवगे कषाय उवसामगे य उवसंते॥
खवगे य खीणमोहे जिणेसु दव्वा असंखगुणिदकमा।
तव्विवरीया काला संखेज्ज गुणक्कमा होंति॥२६॥ (इति जीवकाण्डे)

अन्वयार्थ—(**सम्मत्तुप्पत्तीये**) सम्यक्त्व की उत्पत्ति मे, (**श्रावक विरदे**) श्रावक मे, विरत मे, (**अणंत कम्मसे**) अनन्त कर्मांश मे, (**दसण मोहक्खवगे**) दर्शनमोह क्षपक मे, (**कषाय उवसामगे**) कषाय उपशम के (**च**) और (**उवसते**) उपशान्त कषाय मे (**खवगे**) कषायो का क्षपण करने मे (**च**) और (**खीण-मोहे**) क्षीणमोह मे (**जिणेसु**) जिनेन्द्रो मे (**दव्वा**) द्रव्यो की-द्रव्यकर्म (**असंखगुणिदकमा**) क्रम से असख्यात गुणित निर्जीर्ण होते हैं। (**काला**) काल (**तव्विवरीया**) उससे विपरीत (**सखेज्जगुणक्कमा**) सख्यात गुणित क्रम वाले (**होंति**) होते हैं।

भावार्थ—सादि तथा अनादि दोनो प्रकार के मिथ्यादृष्टि जीव जब करणलब्धि को प्राप्त करके उसके अधःकरण परिणामो को भी बिताकर अपूर्वकरण परिणामो को प्राप्त करते है। तब से गुणश्रेणि निर्जरा शुरू हो जाती है। इस सातिशय मिथ्यादृष्टि जीव के जो कर्मों की निर्जरा होती है वह पूर्व की अपेक्षा असख्यात गुणी अधिक होती है। श्रावक अवस्था मे जो कर्म की निर्जरा होती है वह सातिशय मिथ्यादृष्टि की निर्जरा से असख्यात गुणी अधिक होती है। यही क्रम विरत आदि आगे के स्थानो मे उत्तरोत्तर असख्यात गुणी अधिक निर्जरा का लगा लेना चाहिए। यह क्रम द्रव्य की अपेक्षा से जानना चाहिए, काल की अपेक्षा से नही। काल की अपेक्षा से तो उक्त क्रम उत्तरोत्तर सख्यात गुणा हीन है ऐसा समझना चाहिए। अर्थात् सातिशय मिथ्यादृष्टि की निर्जरा मे जितना काल लगता है श्रावक की निर्जरा मे उसकी अपेक्षा उससे सख्यात गुणा काल कम लगता है। यही कालक्रम आगे स्थानो मे लगा लेना चाहिए। ऐसा जीवकाण्ड मे कहा है—(**यतः निर्जरादिभि, कर्मविनाश करणात्**) जिस कारण से निर्जरा

आदि के द्वारा कर्मो का विनाश किया जाता है तिस कारण से (**हि-इति**) हि-यह अव्यय (**स्फुटं**) स्फुट अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है अर्थात् यह स्फुट-स्पष्ट है कि जीव (**न मूर्च्छति-न मोहं प्राप्नोति**) मूर्च्छा-मोह-को नही प्राप्त होता है। (**कैः**) किनसे (**रागादिभिः-रागद्वेष मोहैः**) राग-द्वेष मोह से (**किम्**) क्या (**ज्ञानज्योति.-बोधतेजः**) ज्ञान की ज्योति-बोध का तेज (**किम्भूतम्**) कैसा (**अपावृतम्-निर्जरा सवरैर्निरावरणम्**) सवर और निर्जरा के कारण आवरण रहित अर्थात् सवर से तो नवीन कर्मो का आना रुक गया और निर्जरा से पूर्व सञ्चित कर्मो का आत्मा से जुदा होना शुरू हो गया। अतएव ज्ञानात्मक अलौकिक आत्मिक तेज अब कर्मो के आवरण से रहित हो गया है।

भावार्थ—सवृत आत्मा जब कर्मो से निर्जरित होता है तब आगामी कर्मो का अभाव तथा पूर्व सञ्चित कर्मो के निर्जीर्ण होने से आत्मा का ज्ञानप्रकाश पूर्णरूप से निरावरण हो जाने के कारण सदा ही प्रदोप्त रहता है जो भेदज्ञान की पराकाष्ठा को प्राप्त होने से अविनाशी और अनन्त है। और है निश्चय की दृष्टि से स्वप्रकाशक तथा व्यवस्था की दृष्टि से परप्रकाशक।

(**अथ ज्ञान सामर्थ्यं समुत्थापयति**) अब ज्ञान की सामर्थ्य का समर्थन करते हैं—

तज्ज्ञानस्यैव सामर्थ्यं विरागस्यैव वा किल।
यत्कोऽपि कर्मभिः कर्म भुञ्जानोऽपि न बध्यते ॥२॥

अन्वयार्थ—(**किल**) निश्चय से (**तत्**) वह (**ज्ञानस्य**) ज्ञान की (**एव**) ही (**वा**) अथवा (**विरागस्य**) विराग की (**अपि**) ही (**सामर्थ्यम्**) सामर्थ्य-शक्ति (**अस्ति**) है (**यत्**) जो (**क**) कोई (**कर्म**) कर्म (**भुञ्जानः**) भोगता हुआ (**अपि**) भी (**कर्मभिः**) कर्मो से (**न**) नही (**बध्यते**) बधता है।

सं० टीका—(**कलेत्यागमोक्तौ**) किल यह अव्यय आगमोक्ति अर्थ मे आया है अत आगम के कथनानुसार (**यत्कोऽपि ज्ञानी, न बध्यते-बन्धनं न प्राप्नोति**) जो कोई भी ज्ञानी स्वपर स्वरूप का ज्ञाता बन्धन को नही प्राप्त करता है (**कैः-**) किनसे (**कर्मभिः**) कर्मो से (**किम्भूतोऽपि**) कैसा होता हुआ भी (**भुञ्जनोऽपि-वेदयमानोऽपि**) भोगता हुआ भी अर्थात् वेदन करता हुआ भी (**किम्**) किसको (**कर्म-पूर्वोपात्तं कर्म-सुखदु खरूपेण उदीर्णं वेदयन्नपि**) सुख दु.ख रूप से उदीर्णा को प्राप्त हुए पूर्वोपार्जित पुण्य-पाप रूप कर्म को वेदन करते हुए भी (**तत्सामर्थ्यं-समर्थता**) वह सामर्थ्य-समर्थता बलवत्ता (**कस्य**) किसकी (**ज्ञानस्यैव**) ज्ञान की ही (**वा-अथवा**) अथवा (**विरागस्यैव**) विराग की ही है (**यथा विषं भुञ्जनोऽपि विषवैद्यो न याति मरणं तथा कर्मोदीर्यमाणमपि भुञ्जानो न बध्यते ज्ञानी**) जैसे विष को भक्षण करते हुए भी विष वैद्य मरण को नही प्राप्त होता है वैसे ही उदीर्ण को प्राप्त हुए कर्म को भोगते हुए भी ज्ञानी कर्मो से बन्ध को नही प्राप्त करता है।

भावार्थ—ज्ञानी स्वपर विवेकी-सम्यग्दृष्टि पुण्य और पाप कर्म के अच्छे-सुखदायी तथा बुरे दु ख-दायी— फल को भोगते हुए भी ज्ञान एव वैराग्य की प्रबल शक्ति के कारण बन्ध को नही प्राप्त होता है। अर्थात् नवीन कर्मो का बन्ध नही करता है। जैसे विष-वैद्य विष का भक्षण करते हुए भी मृत्यु को प्राप्त

नही होता है। कारण कि वह विषमारक औषध का पूर्णरूपेण ज्ञाता ही नही प्रत्युत् उसका प्रयोक्ता होता है। वैसे ही ज्ञानी विरागी पुरुष कर्मों के फल का अनुभोक्ता होते हुए भी ज्ञान याने आत्मज्ञान एव वैराग्यपने पर मे अपनेपने का अभाव के प्रयोग से नवीन कर्मों को नही बधने देता है अतएव अबन्धक ही है।

(**अथ ज्ञानिनो विषयसेवकत्वेऽप्यसेवकत्वं सूचयति**) अब ज्ञानी विषयो का सेवन करते हुए भी उनको सेवन नही करता है यह सूचित करते हैं—

नाश्नुते विषयसेवनेऽपि यत् स्वं फलं विषयसेवनस्य ना।
ज्ञानवैभवविरागताबलात्सेवकोऽपि तदसावसेवकः ॥३॥

अन्वयार्थ—(**यत्**) जिस कारण से (**ना**) पुरुष-सम्यक्त्वी महात्मा (**विषय सेवने**) विषयो का सेवन करने पर (**अपि**) भी (**विषयसेवनस्य**) विषयो के सेवन का (**स्वम्**) निजी-कर्म बन्धरूप (**फलम्**) फल को (**ज्ञानवैभवविरागबलात्**) ज्ञान के ऐश्वर्य तथा वैराग्य बल से (**न**) नही (**अश्नुते**) प्राप्त करता है (**तत्**) तिस कारण से (**सेवकः**) विषयो का सेवक (**सन्नपि**) होते हुए भी (**असौ**) यह ज्ञानी महापुरुष (**असेवकः**) विषयो का सेवक नही है।

सं० टीका—(**तत्-तस्माद्धेतो**) तिस कारण से (**असौ-ज्ञानी**) यह ज्ञानी-स्वपर विवेकी सम्यक्त्वी जीव (**सेवकोऽपि विषयं सेवयन्नपि**) विषय सेवन करते हुए भी (**असेवकः-विषयसेवको न भवेत् कश्चित् केनचित् प्रकारेण व्याप्रियमाणोऽपि तत्स्वामित्वाभावादप्राकरणिवत्**) विषय का सेवक नही होता किसी प्रकार से विषयो मे प्रवृत्ति करते हुए भी विषयो मे स्वामीपन के न होने से अप्रकारणिक की तरह असेवक ही रहता है। (**यत्-यस्माद्धेतो**) जिस कारण से (**नाश्नुते-न-भुञ्जते**) नही भोगते हैं (**किं**) किसको (**स्व-स्वकीय-फलं-कर्मबन्धरूपं**) अपने कर्मबन्ध रूप को (**कः**) कौन (**ना-आत्मा**) आत्मा सम्यग्दृष्टि जीव (**कस्य**) किसके (**विषय सेवनस्य-सुखदुःखाद्यनुभवस्य**) सुख-दु खादि के अनुभवरूप-विषय सेवने के फल को (**क्व-सति**) किसके रहते हुए (**विषयसेवनेऽपि**) विषय सेवन के होते हुए भी (**कुत**) किससे (**ज्ञानेत्यादिः-ज्ञानस्य-वैभव-सामर्थ्यं तेन-उपलक्षितं विरागताया बल शक्तिस्तस्मात्**) ज्ञान की सामर्थ्य से युक्त वैराग्य की शक्ति से युक्त।

भावार्थ—ज्ञान और वैराग्य से ओतप्रोत आत्मदृष्टि जीव चारित्रमोह के उदयानुसार पञ्चेन्द्रियो के अनुकूल इष्ट-प्रिय तथा प्रतिकूल अनिष्ट-अप्रिय विषयो मे प्रवृत्ति होती है लेकिन अन्तरङ्गत उनसे उदासीन ही रहता है। अपने आत्मबल की कमी की वजह से राग की तीव्रता मे प्रवृति करनी पडती है। अतएव उन्हे सदा हेय ही समझता है उपादेय नही। उसकी दशा तो उस चोर के समान होती है जो अज्ञान अवस्था मे गलती करी थी अब उसकी वजह-कारण से जेल मे रहते हुए जेलर की आज्ञा के अनुसार नही करने योग्य कार्यों को भी अनिच्छा पूर्वक करना पडता है अन्तरङ्गत तो उन्हे करने योग्य नही मानता। यहा से किसी भी तरह से छूटना चाहता है। अत शान्ति के साथ सजा को भोगने मे हो मेरी

भलाई है ऐसा दृढ निश्चय करके सजा को भोगते हुए भी नही भोगता है। क्योकि सजा को भोगने मे और चोरी मे उसके जरा भी राग नही है। यही बात सम्यग्दृष्टि के विषय मे भी समझ लेनी चाहिए।

(**अथ सम्यग्दृष्टे. शक्ति. सयुज्यते**) अब सम्यग्दृष्टि के शक्ति की सयोजना का वर्णन करते हैं—

सम्यग्दृष्टेर्भवति नियतं ज्ञान वैराग्य शक्तिः
स्वं वस्तुत्वं कलयितुमयं स्वान्यरूपाप्ति मुक्त्या।
यस्माज्ज्ञात्वा व्यतिकरमिदं तत्त्वतः स्वं परञ्च
स्वस्मिन्नास्ते विरमति परात्सर्वतोरागयोगात् ॥४॥

अन्वयार्थ—(**सम्यग्दृष्टेः**) सम्यग्दृष्टि-आत्मदृष्टि-के (**ज्ञानवैराग्य शक्ति**) स्वपर भेदविज्ञान और वैराग्य-परपदार्थों से पूर्ण उदासीनता रूप शक्ति (**नियतम्**) नियम से (**भवति**) होती है (**यस्मात्**) जिस कारण से (**अयम्**) यह सम्यग्दृष्टि (**स्वम्**) अपने (**वस्तुत्वम्**) वस्तुत्व—आत्मगतधर्म-अपने खास स्वरूप को (**कलयितुम्**) अनुभव करने के लिए (**स्वान्यरूपाप्तिमुक्त्या**) स्वरूपप्राप्ति—अपने आत्मा के स्वरूप की प्राप्ति तथा अन्यरूप मुक्ति-पर-पुद्गलादि द्रव्यो से मुक्ति के द्वारा (**तत्त्वत.**) यथार्थ रूप से (**इदम्**) यह (**स्वम्**) आत्मा (**च**) और (**इदम्**) यह (**परम्**) पुद्गलादिद्रव्य (**अस्ति**) है (**इति**) ऐसे (**व्यतिकरम्**) भेद को-दोनो की स्वरूपकृत भिन्नता को (**ज्ञात्वा**) जान करके (**स्वस्मिन्**) अपने आत्म स्वरूप मे (**आस्ते**) स्थिर होता है और (**परात्**) पर-आत्मा से भिन्न (**सर्वतः**) सभी (**राग-योगात्**) राग के योग से-रागादि परपरिणति के सम्बन्ध से (**विरमति**) विरक्त होता है।

सं० टीका—(**नियतं-निश्चितम्**) नियम-निश्चय से (**ज्ञानवैराग्यशक्ति-ज्ञानवैराग्ययो सामर्थ्यम्**) ज्ञान और वैराग्य का बल (**भवति-अस्ति**) होता है (**कस्य**) किसके (**सम्यग्दृष्टे·-स्वतत्त्वश्रद्धायकस्य**) आत्मतत्त्व के श्रद्धानी के (**किं कर्तुम्**) क्या करने के लिए (**स्व-आत्मानम्**) अपने (**वस्तुत्व-वस्तुस्वरूपम्**) वस्तु स्वरूप को (**कलयितु-अनुभवितुम्-ध्यातुमित्यर्थ.**) अनुभव मे लाने के लिए अर्थात् ध्यान के लिए (**तत्कुत.**) वह कैसे या कहाँ से (**यस्माद्धेतो·**) जिस कारण से (**अय-सम्यग्दृष्टि·**) यह सम्यग्दृष्टि (**स्वस्मिन्-आत्मनि**) अपने मे—अर्थात् आत्मस्वरूप मे (**आस्ते-अवतिष्ठते**) स्थिर होता है (**विरमते च विरक्ति भजति**) और विरक्ति को धारण करता है (**कुत.**) किससे (**सर्वतः-समस्तात्**) समस्त (**परात्-आत्मनः परस्वरूपात्**) आत्मा से भिन्न स्वरूप से (**रागयोगात्-रागद्वेषमोह सयोगात्**) राग-द्वेष मोह के सयोग से (**कया-**) किससे (**स्वेत्यादि.-स्व.-आत्मा, अन्य -परद्रव्यादि.-तयो· रूपे स्वरूपे तयोर्यथाक्रम, आप्ति·-प्राप्तिः-मुक्ति मोचनं-स्वरूपप्राप्ति.-परस्वरूपमुक्तिरित्यर्थ· तया**) आत्मस्वरूप की प्राप्ति और परस्वरूप की मुक्ति से (**किं कृत्वा**) क्या करके (**ज्ञात्वा-अवबुध्य**) जान करके (**तत्त्वत परमार्थत.**) परमार्थरूप से (**किं-**) किसे (**इदम्-स्वं-आत्मीय-स्वात्मलक्षणम्**) इस अपनी आत्मा के स्वरूप को (**च-पुनः**) और

(परम्-परद्रव्यम्) परद्रव्य-पुद्गलादि-को **(व्यतिकरम्-अन्योऽन्यस्य भिन्नम्)** जो एक दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं।

भावार्थ—सम्यग्दृष्टि के दो शक्तियाँ युगपत् प्रकट होती है। पहली ज्ञान शक्ति और दूसरी वैराग्य शक्ति। ज्ञानशक्ति का कार्य अपने और पर के स्वरूप को निश्चित करना है। वैराग्य शक्ति का काम पर से आत्मा को पृथक् करना है। यहाँ पर से तात्पर्य मात्र पुद्गलादि परद्रव्यो से ही नही है किन्तु पर पुद्गलादि के निमित्त से आत्मा मे उत्पन्न होने वाले समस्त राग-द्वेष मोहादि रूप परभावो से भी है। क्योकि ये परभाव आत्मा मे होते हुए भी आत्मा के स्वभाव भाव नही है प्रत्युत पर निमित्तज होने से नष्ट हो जाते है। अत पर है—विभाव हैं। स्वभाव नही है। अगर ये स्वभाव होते तो शुद्ध परमात्मा मे अवश्य ही होते, किन्तु उनमे नही होते है। अत· पर भाव हैं ऐसा जानकर ही उन्हे यहाँ छोडने के हेतु जोर दिया गया है जो यथार्थ ही है।

(अथ रागिणः सम्यक्त्व राहित्यमुच्यते) अब रागी के सम्यग्दर्शन नही होता है यह कहते है—

> **सम्यग्दृष्टिः स्वमयमहं जातुबन्धो न मे स्या–**
> **दित्युत्तानोत्पुलकवदना रागिणोऽप्याचरन्तु।**
> **आलम्बन्तां समितिपरतां ते यतोऽद्यापि पापाः–**
> **आत्माऽनात्मावगमविरहात्सन्ति सम्यक्त्वरिक्ताः ॥५॥**

अन्वयार्थ—**(अयम्)** यह **(अहम्)** मैं **(स्वयम्)** स्वय **(सम्यग्दृष्टिः)** सम्यग्दृष्टि **(अस्मि)** हूँ **(मे)** मेरे **(जातु)** कदाचित्-कभी **(बन्ध)** कर्मों का बन्ध **(न)** नही **(स्यात्)** हो सकता है **(इति)** इस प्रकार से **(उत्तानोत्पुलकवदनाः)** ऊपर को उठाये हुए और हर्षित मुख वाले **(रागिण·)** पर मे आत्मत्व का राग रखने वाले मिथ्यादृष्टि जीव **(अपि)** भी **(आचरन्तु)** महाव्रतादि का आचरण-परिपालन करो **(समिति-परताम्)** ईर्या आदि पञ्च समितियो की तत्परता का **(आलम्बन्ताम्)** आलम्बन करो **(तथापि)** तो भी **(ते)** वे **(यत·)** जिस कारण से **(आत्माऽनात्मावगमविरहात्)** आत्मा-चेतन तथा अनात्मा-अचेतन-पुद्गलादि के स्वरूप का ज्ञान न होने से **(सम्यक्त्वरिक्ता)** सम्यग्दर्शन से शून्य **(अद्यापि)** अभी भी **(पापा)** पापी मिथ्यादृष्टि ही **(सन्ति)** हैं।

स० टी०—**(रागिणोऽपि पुरुषा न केवल तत्त्वविदः, इत्यपि शब्दार्थः)** केवल तत्त्वज्ञ-आत्मज्ञ-ही नही किन्तु रागी पुरुष भी **(आचरन्तु-पञ्चमहाव्रतशास्त्राध्ययनादौ प्रवर्तन्ताम्)** पाच महाव्रत और शास्त्र अध्ययन आदि मे प्रवृत्ति करें **(पुनः समितिपरताम्-समितय-ईर्याभाषैणादयः समितिस्वभावा., तत्र-परता तत्परता उत्कृष्टता वा)** और ईर्या, भाषा, एषणा आदि समिति के स्वभाव मे तल्लीनता अथवा उत्कृष्टता को- **(आलम्बन्ता-आलम्बनं कुर्वताम्)** आलम्बन करे **(किम्भूतास्ते)** कैसे होते हुए वे **(इति-उक्तप्रकारेण)** पुर्व मे कहे अनुसार **(उत्तानोत्पुलकवदनाः—उत्तानं-ऊर्ध्वावलोकित्व महाहंकारत्वात्, उत् ऊर्ध्वा. पुलकाः रोमाञ्चा. यस्य तत्, उत्तानं-उत्पुलकं वदन वक्त्रं येषान्ते इति)** महान अहकार के कारण

ऊपर की ओर देखने वाले हर्षित मुख से उपलक्षित **(किम्)** कैसे **(स्वयं-स्वतएव)** स्वयमेव–अपने आप ही **(अयम्-प्रत्यक्षोऽहम् सम्यग्दृष्टि· तत्त्वदर्शी)** यह-साक्षात्-मैं तत्त्वदर्शी-सम्यग्दृष्टि **(मे-मम)** मेरे **(जातु-कदाचित्)** कभी **(बन्धः-कर्मणा बन्ध)** कर्मों का बन्ध **(न स्यात्-न भवेत्)** नही होता—नही हो सकता **(इत्यहकाररूपं वाक्यम्, इति ये दधति ते)** इस प्रकार के अभिमान रूप वाक्य को जो-धारण करते-वोलते-हैं वे **(अद्यापि-इदानीमपि न तु पूर्वमित्यपि शब्दार्थ·)** आज भी अर्थात् पूर्व मे ही नही किन्तु अभी भी **(सम्यक्त्वरिक्ताः तत्त्वश्रद्धानमुक्ता)** तत्त्वश्रद्धान से रहित **(सन्ति-वर्तन्ते)** है **(कुत)** किस से **(आत्मेत्यादिः-आत्मा च अनात्मा च आत्मानात्मानौ स्वपरद्रव्ये तयोः अवगम -परिज्ञानं तस्य विरह.-अभाव तस्मात्)** आत्मा-चेतन और अनात्मा अचेतन-जड रूप–दो द्रव्यो के समीचीन ज्ञान के न -होने से **(सम्यक्त्वरिक्तत्वं कुत.)** सम्यग्दर्शन से रहित कैसे **(यत कारणात्)** जिस कारण से **(ते-पापा -पापकर्मयुक्ता -अहङ्कारादि अशुभकर्ममयत्वात्)** अहङ्कार आदि अशुभ कर्ममय होने के कारण वे पापी हैं।

भावार्थ—सिद्धान्त मे मिथ्यात्व को सवसे वडा पाप कहा गया है। क्योकि मिथ्यात्व के रहते कितना भी क्रियारूप आचरण, व्रतादि क्यो न किया जावे परन्तु पहला ही गुणस्थान रहता है और चारो चोकडी का बन्ध होता रहता है। अत अध्यात्म मे व्रतादि का पालन करते हुए भी उसे पापो कहा है। पहले अशुभ भाव और अशुभ क्रियाओ मे अहमपना अपनापना, एकत्वपना मानता था अव शुभभाव और क्रिया मे वैसा ही अपनापना एकत्वपना मानकर इनका कर्त्ता वन रहा है। हर हालत मे कर्त्तापने का अहकार तो बना ही रहा। अपने स्वभाव मे तो अपनापना आया नही। अपने स्वभाव मे एकत्वपना आता तब तो शुभभाव शुभक्रिया तो रहती परन्तु अहम्पना-एकत्वपना कर्त्तापना विकारी भावो मे नही रहता। तब यह भाव ही पैदा नही हो सकता कि मैं मुनि हूँ, व्रतो का पालन करने वाला हूँ—मेरे कर्मो का बध नही हो सकता। ज्ञानी तो पर्याय मे अपने को तुच्छ समझता है कारण उसको पर्यायि की हीनता दिखाई दे रही है और उसको अपनी कमी मानता है। आचार्यों ने बताया है कि राग-द्वेष की उत्पत्ति का कारण मिथ्यात्व है जब तक मिथ्यात्व रहेगा तब तक अभिप्राय मे अनन्त जीव पुद्गलादि के प्रति इष्ट अनिष्ट बुद्धि बनी ही रहेगी। अज्ञानी वस्तु को इष्ट अनिष्ट मानता है अर्थात् इष्टपना वस्तु से आ रहा है और अनिष्टपना भी वस्तु से आ रहा है। जबकि ज्ञानी जानता है कि वस्तु मे इष्ट अनिष्टपना नही है। यह तो मेरे भीतर से आने वाला राग भाव है वही बध का कारण है जो वस्तु को इष्ट अनिष्ट दिखा रहा है इसलिए वह राग नष्ट हो जावे तो वस्तु जैसी है वैसो दिखने लग जावे—न इष्ट न अनिष्ट। अत उसका पुरुषार्थ अपने राग के अभाव करने का है जवकि अज्ञानी को परवस्तु को ठीक करने का है जो सम्भव नही है। अत जब तक राग रहता है तब तक सम्यक्दृष्टि तो अपनी निंदागर्हा ही करता रहता है। वह जानता है कि राग का अभाव तो शुद्धोपयोग रूप चारित्र से होगा। अत स्वच्छन्द प्रवृत्ति नही होती।

(अथ रागिणो भ्रान्ति बीभास्यते) अब रागी की भ्रान्ति को प्रकट करते है—

आसंसारात्प्रतिपदममी रागिणो नित्यमत्ताः
सुप्ता यस्मिन्नपदमपदं तद्विबुध्यध्वमन्धाः ।
एतैतेतः पदमिदमिदं यत्र चैतन्यधातुः
शुद्धः शुद्धः स्वरसभरतः स्थायिभावत्वमेति ॥६॥

अन्वयार्थ—(हे अन्धा) हे अन्ध-अज्ञानी-पुरुषो (**अमी**) ये (**रागिणः**) रागी जन (**आसंसारात्**) जब से ससार मे है तब से अर्थात् अनादिकाल से (**प्रतिपदम्**) प्रत्येक पर्याय रूप-पद मे (**नित्यमत्ता**) निरन्तर उन्मत्त होते हुए (**यस्मिन्**) जिस पुद्गलादि परद्रव्यो मे (**सुप्ताः**) अज्ञान के कारण सो रहे है अर्थात् अपने और पर के भेद को नही जान रहे हैं (**यूयम्**) तुम लोग (**तत्**) उसे (**अपदम्-अपदम्**) अपद-अपद अस्थान-अस्थान (**विबुध्यध्वम्**) जानो समझो अर्थात् वह आत्मा के रहने योग्य स्थान नही है ऐसा जानो । (**इतः**) उस अपद से इधर (**एत-एत**) आवो-आवो (**पदम्**) तुम्हारा पद (**इदम्-इदम्**) यह है-यह है (**यत्र**) यहाँ (**शुद्धः-शुद्ध**) शुद्ध-शुद्ध अर्थात् द्रव्य से शुद्ध और पर्याय से शुद्ध (**चैतन्य-धातु.**) चैतन्यात्मक द्रव्य (**स्वरसभरत**) अपने आत्मिक रस के समूह से (**स्थायिभावत्वम्**) स्थायीभाव-स्थिरता को (**एति**) प्राप्त होता है ।

स० टीका—(**भो अन्धाः ?**) हे अन्ध पुरुषो (**हे रागिणः**) हे रागी प्राणियो (**ज्ञानदृष्टिपराङ्मुखत्वात्**) ज्ञान दृष्टि से विमुख होने के कारण (**विबुध्यध्वम्–यूयं जानीध्वम्**) तुम लोग जानो (**अमी-रागिणः-परद्रव्येषुरागो रतिर्विद्यते येषां ते**) परपदार्थों मे राग रखने वाले ये रागी जीव (**यस्मिन्-चिद्रूपे-परद्रव्ये वा**) चैतन्य स्वरूप आत्मा मे अथवा आत्मा से भिन्न पुद्गलादि परद्रव्य मे (**सुप्ताः-निद्रायमाणा , तत्स्वरूपानभिज्ञत्वान्निद्रात्व स्थिताः वा**) निद्रायुक्त अथवा उक्त दोनो प्रकार की द्रव्यो के यथार्थ स्वरूप से अपरिचित होने के कारण सुसुप्त दशा मे स्थित है (**तत् अपदम्-चिद्रूपे शयनमयुक्तम्**) चैतन्य स्वरूप आत्मा मे बेखबर होना अयोग्य है यही अपद है (**परद्रव्ये स्थितिः स्थानम्**) आत्मा से भिन्न पुद्गलादि मे स्थिति करना (**किम्भूतम्**) कैसा है (**अपदम्-न विद्यते पद-रक्षणं स्थान-लक्षण वा–यतः-यत्र यस्य वा तदपदम्**) जिसमे आत्मा का न तो रक्षण है, न स्थान है और न स्वरूप परिचायक कोई चिह्न ही है ऐसा अपद है वह (**किम्भूतास्ते**) वे प्राणी कैसे हैं ? (**आसंसारात्-पञ्चप्रकार संसारमभिव्याप्य**) द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भावरूप पाच प्रकार के ससार को व्याप्त करके (**प्रतिपदम् पद पद प्रतीति प्रतिपदम् एकेन्द्रियद्वीन्द्रियादिस्थाने परद्रव्यलक्षणेपदे वा**) एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय आदि स्थान मे अथवा परद्रव्यरूप स्थान मे (**नित्य-मत्ताः—नित्य-दृप्ता·-हर्षं गताः वा स्वस्वरूपानभिज्ञत्वात्**) हमेशा उन्मत्त अथवा निज आत्मा के स्वरूप का परिज्ञान न होने से हर्ष को प्राप्त है (**इत -परस्थानात्**) परपद से (**एत-एत पुन पुनरागच्छत यूयम्**) तुम लोग बार-बार इधर आओ (**इद शुद्धचिद्रूप लक्षणम्**) शुद्ध चैतन्यमय आत्मा का लक्षण (**इदमेव नान्यत् इति निर्धारणार्थं वीप्सा**) यही है दूसरा नही ऐसा निश्चय करने के लिए वीप्साद्विरुक्ति का प्रयोग हुआ है (**पद-स्थानम् ज्ञानिना स्थितियोग्यत्वात्**) क्योकि यही स्थान ज्ञानियो की स्थिति-स्थिरता के योग्य है

(अथवा-इदमिदं एकपदं अस्य चिद्रूपस्य इदं इदमिदं पदं, इत आगच्छत,) अथवा इस चैतन्यमय आत्मा का यही एक-पद स्थान है इधर आओ **(यत्र-पदे चैतन्यधातुः, चेतनालक्षणोधातु)** जिस पद मे चेतनास्वरूप धातु-द्रव्य **(स्थायिभावत्वम्-स्थैर्यम्)** स्थिरता को **(एति-प्राप्नोति)** प्राप्त करता है **(कुत)** किससे **(स्व-रसभरतः, स्वानुभवातिशयात्)** अपने अनुभव के अतिशय से **(किम्भूत.)** कैसा चैतन्यात्मा **(शुद्धः-निर्मल)** निर्मल-द्रव्यकर्म भावकर्म और नोकर्म से शून्य होने के कारण शुद्ध मलरहित **(पुनः किम्भूत.)** फिर कैसा **(शुद्ध -परद्रव्यादतीव निर्मलः)** पर पदार्थों से अत्यन्त निर्मल **(प्रथम शुद्धपदेन इतरद्रव्येभ्यः शुद्धत्वमावेदितम्)** पहले शुद्ध पद से परद्रव्यो से भिन्नता रूप शुद्धता दिखाई और **(द्वितीयशुद्पदेन-स्वससारिद्रव्याच्छुद्धत्वं चावेदितम्)** दूसरे शुद्धपद से अपनी आत्मा को पञ्चप्रकार ससार के कारणीभूत पुद्गल-कार्माण वर्गणारूप अचेतन मूर्तिक पुद्गल द्रव्य से रहितता रूप शुद्धता बताई है।

भावार्थ—सस्कृत टीकाकार ने अपद, इदम्, और शुद्ध इन तीन पदो का दो दो बार प्रयोग कर यह सिद्ध कर दिखाया है कि आत्मा के स्वरूप को न जानना-अथवा-आत्मा से भिन्न शरीरादि मे आत्मत्व की कल्पना करके उसी मे स्थिर होना ज्ञानी के लिए अपद—अयोग्य स्थान है।

दूसरा—इदम् पद का दो बार प्रयोग करके यह निर्धारण किया है कि जो आत्मा पूर्ण स्थिरता को प्राप्त कर चुका है वही आत्मा का खास स्वरूप है उसी मे स्थिर होना हो आत्मा का मुख्य स्थान है।

तीसरा—शुद्ध पद का दो बार प्रयोग किया गया है – प्रथम शुद्ध पद से आत्मा से भिन्न सभी चेतन तथा अचेतन द्रव्यो से भिन्नता रूप शुद्धता वतलाई गई है। दूसरे शुद्धपद से अशुद्ध अवस्था के कारणीभूत द्रव्यकर्म, भावकर्म तथा नोकर्म से शून्यता रूप शुद्धता प्रकट की गई है ऐसी शुद्ध अवस्थापन्न आत्मा की ओर ही अग्रसर होने के हेतु यहाँ प्रेरणा की गई है।

अज्ञानी तो परद्रव्य को सुख-दु ख का कारण मानता है अथवा पुण्य-पाप को सुख-दु ख का कारण मानता है इसलिए उन्ही परपदार्थों मे मतवाला हो रहा है। जबकि ज्ञानी समझता है कि सुख तो कषाय के अभाव से होता है और दु ख कषाय से। कषाय का अभाव आत्मस्वभाव का अवलम्बन लेने से होता है। अत आत्मस्वभाव को ही अपने ठहरने का स्थान समझता है और स्थिरता को बढाने की चेष्टा करता है।

(अथ तत्पदास्वादनं स्वदते) अब उक्त पद की आस्वादनीयता का समर्थन करते हैं—

एकमेव हि तत्स्वाद्यं विपदामपदम्पदम्।
अपदान्येव भासन्ते पदान्यन्यानि यत्पुरः ॥७॥

अन्वयार्थ—**(हि)** निश्चय से **(एकम्)** एक-अद्वितीय **(तत्)** वह **(एव)** ही **(पदम्)** पद-स्थान **(आस्वाद्यम्)** आस्वादन करने योग्य—अनुभव मे लाने योग्य-है **(यत्)** जो **(विपदाम्)** विपत्तियो-आकुलताओ-का **(अपदम्)** अपद-स्थान नही **(अस्ति)** है **(यत्पुर)** जिस पद के सामने **(अन्यानि)** दूसरे **(पदानि)** पद **(अपदानि)** अपद **(एव)** ही **(भासन्ते)** प्रतीत-मालूम-होते हैं।

सं० टीका - (**होति व्यक्तम्**) हि यह अव्यय व्यक्त अर्थ मे प्रयुक्त है अर्थात् व्यक्त स्पष्ट-रूप से (**एकमेवतत्-प्रसिद्धम्**) वही एक प्रसिद्ध (**पदम-चैतन्यस्थानम्**) चैतन्य का स्थान (**पद्यते-गम्यते-ज्ञायतेऽनेनेति पदं-ज्ञान वा**) अथवा जिसके द्वारा वस्तु का स्वरूप जाना जाय वह ज्ञान (**स्वाद्यं-आस्वाद्यं-ध्यान-विषयी कर्तव्यमिति भाव**) आस्वादन के योग्य अर्थात् ध्यान-चिन्तन के विषय करने योग्य है (**विपदां-संसाराशर्मणा**) ससार के दु खो का (**अपदम् अस्थानम्**) स्थान नही (**दुःखरहितत्वात्**) दु खो से रहित होने के कारण (**यत्पुर-चैतन्यधातुलक्षणस्थानाग्रे**) चैतन्य धातुरूप स्थान के आगे (**अन्यानि-पराणि-अनात्मस्वभावानि**) जड स्वरूप भिन्न (**पदानि-व्रतादीनि**) व्रत आदि-पद (**अपदान्येव-अस्थानानि-अज्ञान-स्वरूपाणि**) अपद-अज्ञानरूप ही (**निश्चयेन**) निश्चय से (**भासन्ते-चकासति**) प्रतीत होते है ।

भावार्थ—जब अपने को शरीररूप अनुभव करता है तब शरीराश्रित सभी दु ख-सुखो की आकुलता आ करके खडी हो जाती हे । जहाँ शरीर मे अपनापना है वहाँ उससे सम्वन्धित सभी विषय-सामग्री मे अपनापना हो जाता है । शरीर के लिए अनुकूल मे राग प्रतिकूल मे द्वेष चालू हो जाता है अत ससार की कोई आकुलता नही है जो वहाँ लब्धिरूप मे न रहे । परन्तु जब यह अपने को चेतनारूप-ज्ञायक भावरूप अनुभव करता है तब किसी प्रकार की आकुलता नही रहती । चेतना का मरण नही, जन्म नही, उसका कोई सम्वन्धी नही, कुछ नया आने का नही कुछ जाने का नही । किसी से ईर्षा नही क्योकि सभी आत्मा अपने आप मे उन्नत गुणात्म परिपूर्ण है अत अहकार नही । कुछ बाहर से आने का नही अत लोभ नही । कोई अपने स्वभाव को रोकने वाला नही अत क्रोध नही, माया नही । इसका लोक नही-परलोक नही तब कौन-सा दु ख रहा जिसकी वहा सम्भावना भी हो सकती हो । अत किसी प्रकार के दु ख की सम्भावना का नही रहना यही परम आनन्द है वह इसी आत्मपद मे ही प्राप्त होता है यही अनुभव मे लाने योग्य है ।

(**अथात्मज्ञानयोरेकत्व नेनीयते**) अब आत्मा और ज्ञान मे एकत्व-अभिन्नता का ज्ञान कराते है—

एक ज्ञायकभाव निर्भरमहास्वादं समासादयन्
स्वादं द्वंद्वमयं विधातुमसहः स्वाऽवस्तुवृत्ति विदन् ।
आत्मात्मानुभवानुभावविवशो भ्रश्यद्विशेषोदयं
सामान्यं कलयन् किलैष सकलं ज्ञानं नयत्येकताम् ॥६॥

अन्वयार्थ—(**एकज्ञायक भावनिर्भर महास्वादम्**) असाधारण ज्ञायकभाव से भरपूर महान् आस्वाद को (**समासादयन्**) प्राप्त करता हुआ (**द्वन्द्वमयम्**) द्वन्द्वमय अर्थात् आत्मा और क्रोधादिरूप जोडे से सहित (**स्वादम्**) स्वा-अनुभवरूप रस के-स्वाद को (**विधातुम्**) विधान करने के लिए अर्थात् अनुभव मे लाने के लिए (**असहः**) असह-असमर्थ (**स्वांवस्तुवृत्तिम्**) अपने स्वरूप मे पर-निमित्तज भावो की विद्यमानता के अभाव को (**विदन्**) जानने वाला (**आत्मानुभवानुभावविवश·**) आत्म-

स्वरूप के अनुभव के प्रभाव से प्रभावित-सहित **(भ्रश्यद्विशेषोदयम्)** ज्ञान के विशेषो के उदय को गौण करता हुआ **(सामान्यम्)** सामान्य ज्ञान का **(कलयन्)** अभ्यास करता हुआ **(एषः)** यह **(आत्मा)** आत्मा **(किल)** निश्चय से-आगम के कहे अनुसार **(सकलम्)** सभी **(ज्ञानम्)** ज्ञान को **(एकताम्)** एक रूप मे **(नयति)** प्राप्त करता है ।

सं० टी०—**(किल इत्यागमोक्तौ)** किल यह अव्यय यहा आगम की उक्ति मे प्रयुक्त हुआ है अर्थात् आगम के कथनानुसार (एषः) यह**(आत्मेत्यादिः-आत्मनश्चिद्रूपस्य-आत्मना-स्वरूपेण सहानुभव अनुभवनम्-तस्य अनुभावः-प्रभाव', तेन उपलक्षितोविशिष्टोवश ज्ञातृता "वशा स्त्री करिणी च स्याद् दृग्ज्ञाने ज्ञातरि-त्रिषु" इत्यनेकार्थ.)** चैतन्यमय आत्मा के निज स्वरूप के अनुभव के प्रभाव से सहित ज्ञाता यहा वश शब्द हथिनी अर्थ मे स्त्रीलिङ्ग, दृग्-दर्शन, ज्ञान और ज्ञाता अर्थ मे तीनो लिङ्ग हैं" ऐसा अनेकार्थ कोश है । **(सकलं-ज्ञानम्-आभिनिबोधिकश्रुतावधिमन पर्ययकेवलं ज्ञान)** मति, श्रुत, अवधि, मन पर्यय और केवल-ज्ञान रूप समस्त ज्ञान की **(एकता-एकत्वम्)** एकता को **(नयति-प्राप्नोति)** प्राप्त करता है **(ज्ञानमात्मा चैक एव पदार्थ इत्येकता प्राप्नोति)** ज्ञान और आत्मा एक ही वस्तु है इस प्रकार की एकता को प्राप्त करता है **(किम्भूतः)** कैसा **(समासादयन्-प्राप्नुवन्)** प्राप्त करता हुआ **(कम् ?)** किसको **(एकेत्यादि-एक अद्वितीय ज्ञायकभाव ज्ञातृस्वभाव. तस्य-निर्भर.-अतिशय. स एव महास्वाद तम्)** असाधारण ज्ञातृ-स्वभाव के अतिशयरूप महान् स्वाद को **(पुन किम्भूत.)** फिर कैसा **(असह.-अक्षमः)** असमर्थ **(किं कर्तुम्)** क्या करने के लिए **(द्वन्द्वमय-आत्मक्रोधयोर्युग्मनिर्वृत्तम्)** आत्मा और क्रोध के जोडे से बने हुए **(स्वादम्)** स्वाद-रस-को **(विधातु-आस्वादयितु)** आस्वाद-अनुभवन-करने के लिए **(किं कुर्वन्)** क्या करते हुए **(स्वा-वस्तुवृत्ति—स्वे-आत्मनि,-अवस्तुन क्रोधादेः वृत्ति-वर्तनाम्)** आत्मा मे क्रोधादि के व्यापार को **(विदन्-जानन्)** जानता हुआ **(स्वां वस्तुवृत्तिमिति च क्वचित्पाठ.-स्वकीयां वस्तुवृत्ति यथाख्यात चारित्रवृत्ति)** अपनी यथाख्यात चारित्र की वृत्ति को **(जानन्)** जानता हुआ **(पुनः कि कुर्वन्)** फिर क्या करता हुआ **(सामान्य-पूर्वोत्तर विवर्तवार्येकत्वलक्षण ज्ञानत्वरूपमूर्ध्वता सामान्यम्)** पूर्वपर्याय और उत्तरपर्याय मे एकता स्वरूप ज्ञानरूप ऊर्ध्वता सामान्य को **(कलयन्-कलना कुर्वन्)** जोडता हुआ सम्पादन करता हुआ **(किम्भूत तत्)** कैसा (होता हुआ) वह **(भ्रश्यद्विशेषोदयम्—भ्रश्यन्-गलन्-विशेषाणा मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवल-रूपाणा-उदयः—प्राकट्यं यत्र तत्)** जिस मे मति, श्रुति, अवधि, मन पर्यय केवल रूप विशेषो की उत्कटता नही है **(सामान्ये-विवक्षिते विशेषाणा विवक्षाभाव.)** क्योकि सामान्य के विवक्षित (मुख्य) होने पर विशेषो की विवक्षा (कहने की इच्छ) नही होती है ।

भावार्थ—आत्मा प्रत्यक्षरूप से अपने स्वरूप को ध्यान के द्वारा प्राप्त करता है द्रव्यकर्म भावकर्म नोकर्म से रहित भाव श्रुतज्ञान के द्वारा अपने निजस्वरूप का आस्वादन करता है, यह निश्चय बात है । ऐसा अनुभव चौथे गुणस्थान वाले गृहस्थ के होता है । वह अपनी श्रद्धा को मजबूत करता जाता है—करता जाता है । जैसे मुर्गी अण्डे को सेती रहती है वह जब पूर्ण पक जाता है तो फट जाता है ऐसे ही

आत्मतत्व की श्रद्धा को सेते सेते वह जब पूर्ण मजबूत हो जाती है तब आत्म अनुभूति प्रगट होती है। आत्म अनुभूति यद्यपि ज्ञान की पर्याय है परन्तु उसका सम्यक् श्रद्धा की पर्याय के साथ अविनाभाव सम्बन्ध है जहा श्रद्धा की पर्याय ने सम्यक् रूप परिणमन किया वहाँ आत्म अनुभूति प्रगट हुई।

पहले स्वपर का भेदविज्ञान करे—द्रव्यकर्म भावकर्म नोकर्म रहित अपने स्वरूप को जाने। पीछे पर का विचार छूट जाता है केवल आत्मविचार ही रहता है। वहा अनेक प्रकार निज स्वरूप मे अहबुद्धि धारता है यह जानने वाला मैं हूँ जाननपना मेरे से उठ रहा है, ऐसा विचार करते हुए सहज ही सब विकल्प छूट जाते है केवल चेतनामात्र स्वरूप भासने लगता है। जैसा आगम से श्रुतज्ञान के द्वारा सविकल्पता से स्वरूप का निर्णय किया था तैसा ही अनुभव मे आया उसी मे व्यापक रूप होकर प्रवर्ते। वहा नयप्रमाण का विचार भी नही रहा आप ही आपको वेदे उसी का नाम निर्विकल्प अनुभव है। जो ज्ञान पाच इन्द्रिय और मन के द्वारा पर मे जा रहा था या विकल्पो मे लग रहा था उस ज्ञान को निज स्वरूप सन्मुख करे। श्रुतज्ञान को भी नयादि के विकल्प से हटाकर स्वरूप सन्मुख किया तब अन्य विकल्प से रहित होकर ज्ञान ज्ञान मे ही अपनापना स्थापित करके ज्ञानरूप रहा। जब आत्म अनुभव होता है तब यह शरीर को भूल जाता है यही शरीर से बाहर होने का उपाय है। शरीर अपने से अलग सामने पडा दिखायी पडता है। कभी-कभी यह अपने आप अपने ख्याल के बिना ही हो जाता है। अचानक पाते हैं कि शरीर से अलग हो गये। शरीर को अलग पडा देखते हैं। पहली दफा इस शरीर को अलग देखते है। एक बार जो शरीर को अलग देख लिया वह शरीर के भीतर होकर भी कभी भीतर नही हो पाता। वह फिर सदा बाहर ही हो जाता है फिर उसका शरीर होने का कोई उपाय नही है पृथक् ही बना रहता है फिर शरीर का मरण उसका मरण नही, जन्म उसका जन्म नही। शरीर के दु ख-सुख उसका दुःख-सुख नही। ऐसा वह आत्म अनुभव है इसी लिए उसकी ऐसी महिमा आचार्यो ने बताई है। ऐसा अनुभव आज भी हो सकता है। यह दर्शनोपयोग का विषय है दर्शनोपयोग निर्विकल्प होता है। अत आत्म अनुभव निर्विकल्प है आचार्यो ने ज्ञान की मुख्यता से कथन किया है।

विशेष ज्ञान तो सभी के पकड मे आ सकता है पर सामान्य ज्ञान का पकडना कठिन है। कभी-कभी विशेषज्ञान को ही पकड कर यह अपने को अनुभवी मान लेता है वह तो पर्यायज्ञान है जो कर्म सापेक्ष है। अत द्रव्यस्वभाव पकड मे नही आया। सामान्य का आविर्भाव करना है और विशेष का तिरोभाव तब ज्ञान सामान्य पकड मे आता है। उदाहरण के लिए पाच दीपक हैं एक बहुत बडा एक छोटा और छोटा इस प्रकार—कितनी रोशनी है और कितने पदार्थों को प्रकाशित करती है और कैसे प्रकाशित करता है यह दृष्टि तो विशेष को विषय करती है परन्तु मात्र प्रकाशत्वपना ही देखना जहाँ पाचो मे कोई भेद नही है वह सामान्य दृष्टि है। अत आत्मदर्शन के लिए भी मतिश्रुतादि भेदो को गौण करके सामान्य स्वभाव मे एकत्वपना स्थापित करना है।

ज्ञान और आत्मा मे गुण और गुणी का भेद व्यवहार नय से किया जाता है। निश्चय नय की

दृष्टि मे तो दोनो एक ही हैं। जो ज्ञान है वही आत्मा है और जो आत्मा है वही ज्ञान है। ज्ञान से भिन्न आत्मा नही है और आत्मा से भिन्न ज्ञान नही है। यह निश्चय की दृष्टि है। इसी दृष्टि को लक्ष्य मे लेकर यहा आत्मानुभव का आस्वादन एकमात्र ज्ञान के रूप मे प्रस्तुत किया गया है जिसमे मतिश्रुत अवधिमन पर्यय और केवल रूप, ज्ञान के विशेषो-पर्यायो की विवक्षा नही है। मात्र ज्ञान सामान्य ही विवक्षित है जो ज्ञायक भी है और ज्ञेय भी है। पर ये दोनो भी यहा ज्ञानरूप मे ही प्रतिष्ठित हैं क्योकि सामान्य अभेद रूप ही होता है भेदरूप नही। इस प्रकार से ज्ञानी आत्मा ज्ञान के साथ एकत्व स्थापित करके आत्मानुभवन मे प्रवृत्त होता है इसे ही आत्मानुभूति, ज्ञानानुभूति, स्वानुभूति आदि विभिन्न पदो से व्यक्त किया जाता है ॥८॥

(अथ सवेदनव्यक्तिमवलीस्वद्यते) अब ज्ञान के विशेषो का आस्वादन करते हैं—

अच्छाच्छाः स्वयमुच्छलन्ति यदिमाः संवेदनव्यक्तयो
निष्पीताखिलभावमण्डलरसप्राग्भारमत्ता इव ।
यस्याभिन्नरसः स एष भगवानेकोऽप्यनेकीभवन्
वल्गत्युत्कलिकाभिरद्भुतनिधिश्चैतन्य रत्नाकरः ॥९॥

अन्वयार्थ—**(यस्य)** जिस आत्मा की **(अच्छाच्छाः)** अति निर्मल **(निष्पीताखिलभाव मण्डल रस प्राग्भारमत्ता·)** निश्शेष रूप से प्रतिविम्बित हुए समस्त ज्ञेयो के समूह के रस के भार से उन्मत्त हुए के **(इव)** समान **(इमा)** ये **(संवेदनव्यक्तय.)** ज्ञान की विशिष्ट दशाएँ **(स्वयम्)** स्वभाव से **(उच्छलन्ति)** उछल रही हैं **(अद्भुतनिधि)** ज्ञानादि गुण रूप विचित्र निधियो वाला **(चैतन्य रत्नाकर)** चैतन्य रूप रत्नो का–खान स्वरूप-समुद्र **(अभिन्नरस)** एक रस वाला **(सः)** वह **(एषः)** यह **(भगवान्)** आत्मारूप-भगवान **(एक)** एक अद्वितीय **(अपि)** होता हुआ भी **(उत्कलिकाभि.)** ज्ञानरूप विभिन्न पर्यायो से **(अनेकीभवन्)** अनेक होता हुआ **(वल्गति)** सुशोभित हो रहा है।

सं० टीका—**(वल्गति-उल्लसति)** शोभित होता है **(क ?)** कौन **(स एष·)** वह यह **(चैतन्यरत्नाकर-चैतन्यमेव रत्नं मणि तस्य आकर स्थान आत्मा)** चैतन्यरूप रत्न का आकर-स्थान स्वरूप आत्मा **(पक्षे समुद्र)** पक्ष मे समुद्र **(काभि)** किनसे **(उत्कलिकाभि -ऊर्ध्वांशै ज्ञानलक्षणै·)** ज्ञानस्वरूप ऊर्ध्वांशो मे **(पानीयलक्षणैर्वा)** अथवा जलरूप **(सवेदनशक्तिभिः)** ज्ञान की शक्तियो से **(अन्यत्र)** आत्मा से भिन्न-समुद्र पक्ष मे **(ऊर्मिभिरित्यर्थ)** लहरियो-तरङ्गो-से **(किम्भूत. ?)** कैसा **(अद्भुतनिधि·-अद्भुताः, आश्चर्यदा, निधय ज्ञानादिरूपायत्र स)** जिसमे - आश्चर्य-विस्मय-को पैदा करने वाली ज्ञानरूप निधियाँ हैं **(पुन)** फिर **(अभिन्नरस -अभिन्न -भेत्तुमशक्य, रसो यत्नोभयत्र)** जिस आत्मा मे आनन्दरूप रस का भेद नही किया जा सकता तथा जिस समुद्र मे जल का विनाश नही किया जा सकता **(स भगवान-भगं ज्ञानं पक्षे लक्ष्मीर्विद्यते यस्य स भगवान्)** जिस आत्मा मे ज्ञान और समुद्र मे लक्ष्मी विद्यमान है वह भगवान्

आत्मा अथवा समुद्र (**"भगं-श्री ज्ञानमाहात्म्यवीर्य प्रयत्न कीर्तिषु" इत्यनेकार्थं**) अनेकार्थ कोश मे भग शब्द का श्री-लक्ष्मी, ज्ञान, माहात्म्य-प्रभाव, वीर्य-शक्ति, प्रयत्न और कीर्ति अर्थ मे प्रयोग किया जाता है अतएव यहाँ आत्मा मे भग शब्द ज्ञान अर्थ मे तथा समुद्र मे लक्ष्मी अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है। (**एकोऽपि-आत्मत्व सामान्येन समुद्रत्वेन चाद्वितीयोऽपि**) आत्मा आत्मत्व सामान्य की अपेक्षा से और समुद्र-समुद्रत्व सामान्य की अपेक्षा से एक अद्वितीय है तो भी (**अनेकीभवन्-मतिश्रुतादि ज्ञानेन मतिज्ञानी श्रुतज्ञानी**) मतिज्ञान और श्रुतज्ञान से मतिज्ञानी और श्रुतज्ञानी रूप से अनेक होता हुआ (**पक्षे-पूर्वापरादिभागेन पूर्वसमुद्र पश्चिम समुद्र इत्यादि रूपेणानेकतां भजन्**) समुद्र के पक्ष मे पूर्व अपर आदि भाग से पूर्व समुद्र पश्चिम समुद्र इत्यादि रूप से अनेकता को धारण करता हुआ (**कुत**) कैसे (**यत्-यस्मात्कारणात्**) जिस कारण से (**यस्य-आत्मन सम्बन्धिन्यः**) आत्मा सम्बन्धी (**इमाः**) ये (**संवेदन व्यक्तयः-ज्ञान विशेषाः-मतिज्ञानादय**) मतिज्ञानादि रूप ज्ञान के विशेष परिणमन (**स्वयं-स्वतः**) अपने आप-स्वभाव से (**उच्छलन्ति-उत्कर्षं गच्छन्ति**) उत्कर्ष को प्राप्त होते हैं (**अन्या अपि जलव्यक्तय**) दूसरे जल के विशेष भी (**उच्छलन्ति**) समुद्र मे तरङ्गो के रूप मे उछलते रहते है (**किम्भूताः ?**) कैसे (**अच्छाच्छाः-निर्मलपदार्थ नैर्मल्यान्निर्मला.**) अति स्वच्छ अर्थात् निर्मल पदार्थ की निर्मलता से निर्मल (**उत्प्रेक्षा दर्शयति**) उत्प्रेक्षा को दिखाते हैं—(**अत उत्प्रेक्षते**) इसलिए उत्प्रेक्षा करते है (**निष्पीतेत्यादि.-निष्पीतं-क्रोडीकृतं-ज्ञायकस्वभावेन अखिलभावाना समस्तज्ञानज्ञेयपदार्थाना मण्डलं-समूह स एव रस. अनुभवस्वभावः, पानीयं वा सचासौ रसश्चेति वा-मदिरारूपो रस मदहेतुत्वात् तस्य प्राग्भारः पूर्वातिशयः तेन मत्ता मदं नीताः**) ज्ञायक स्वभाव से जाने हुए समस्त ज्ञान और ज्ञेय पदार्थों के अनुभव रूप रस के आधिक्य से उन्मत्त, समुद्रपक्ष मे जलरूप रस के, अतिशय से उन्मत्त के(**इव**) समान (**यथा-केचित् मैरेयमत्ताः उच्छलन्ति तथा एता अपि**) जैसे मदिरापान से उन्मत्त कोई मदिरापायी उछलते हैं वैसे ही ये ज्ञान के विशेष और समुद्र के विशेष भी आत्मा मे और समुद्र मे अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार उत्पन्न होते रहते हैं। वे विशेष आत्मस्थ ज्ञान से तथा समुद्रस्थ जल से अभिन्न ही होते हैं।

भावार्थ—जैसे समुद्र रत्नो के सद्भाव से रत्नाकर कहलाता है परन्तु उसमे मुख्यता जल की ही होती है और उस जल मे विभिन्न प्रकार की लहरे उठती रहती है, वे सब जल की विशेषताएँ हैं। अतएव जल से अभिन्न ही होती हैं वैसे ही आत्मा चैतन्यरूप रत्न का आकर है। पर उसमे प्रधानता ज्ञान की ही है। ज्ञान से ही आत्मा ज्ञायक व्यवहार को प्राप्त करता है। इतना ही नही प्रत्युत् ज्ञान ही आत्मा का खास परिचायक चिह्न है। उस ज्ञान की मति आदि जितनी भी विशेषताएँ हैं वे सब ज्ञानरूप ही हैं। अन्य रूप नही। अत वे सब ज्ञान सामान्य मे अन्तर्हित-छिपकर रहती है। उनका ज्ञानरूप से ही अनुभव करना। मति आदि रूप से नही। यही ज्ञान सामान्य है।

(**अथ ज्ञानान्येषा कर्मणा क्लेशत्वमाकर्षति**) अब ज्ञान के बिना अन्य जितना भी क्रिया काण्ड है वह सब क्लेश कारक है यह दिखाते हैं—

क्लिश्यन्तां स्वयमेव दुष्करतरैर्मोक्षोन्मुखैः कर्मभिः
क्लिश्यन्तां च परे महाव्रततपोभारेण भग्नाश्चिरम् ।
साक्षान्मोक्ष इदं निरामयपदं संवेद्यमानं स्वयं-
ज्ञानं ज्ञानगुणं विना कथमपि प्राप्तुं क्षमन्ते न हि ॥१०॥

अन्वयार्थ—(**केचित्**) कोई (**मोक्षोन्मुखैः**) मोक्ष से पराङ्मुख (**दुष्करतरैः**) अति दु साध्य (**कर्मभिः**) तपश्चरणादि क्रियाओ से (**स्वयमेव**) अपने आप ही (**क्लिश्यन्ताम्**) क्लेशित-दु खी होओ (**च**) और (**परे**) अन्य-दूसरे-मोक्ष को चाहने वाले पुरुष (**महाव्रततपोभारेण**) अहिंसा महाव्रत आदि पाच महाव्रतो के तथा बाह्य और आभ्यन्तर तपो के भार से (**भग्नाः**) दु खित (**सन्ताः**) होते हुए (**चिरम्**) दीर्घ काल तक (**क्लिश्यन्ताम्**) क्लेशित होओ-दुखी रहो-(**स्वयम्**) अपने द्वारा (**संवेद्यमानम्**) सम्यक् प्रकार से जाना जा रहा (**निरामय-पदम्**) निरुपद्रव (**ज्ञानम्**) आत्मज्ञान (**हि**) निश्चय से (**साक्षात्**) प्रत्यक्षरूप से–जाहिर तौर पर (**मोक्ष**) मोक्ष स्वरूप (**अस्ति**) है (**इदम्**) ऐसे (**तत्ज्ञानम्**) इस ज्ञान को (**ज्ञानगुणम्**) ज्ञानगुण के (**विना**) विना (**कथमपि**) किसी प्रकार से भी (**प्राप्तुम्**) प्राप्त करने के लिए (**न**) नही (**क्षमन्ते**) समर्थ हो सकते हैं।

सं० टी०—(**केचित्**) कोई मुमुक्षु (**स्वयमेव-गुरूपदेशादिना विना**) गुरुजनो के उपदेश आदि के विना ही (**क्लिश्यन्तां-क्लेशं कुर्वताम्**) क्लेश करो-कष्ट सहो (**कैः ?**) किनसे (**दुष्करतरैः-दु साध्यैः**) दुष्कर-दु ख से करने योग्य अर्थात दु ख से साधने योग्य (**कर्मभिः-शीतातापनवर्षायोगप्रतिक्रमणादिक्रियाभिः**) शीत योग, आतापन योग, वर्षायोग, प्रतिक्रमण आदि रूप क्रियाओ से (**किम्भूतैः ?**) कैसे (**मोक्षोन्मुखैः-कर्ममोचनं प्रतिसन्मुखैः**) कर्मों के परित्याग कराने मे समर्थ (**निर्जराहेतुत्वात्**) निर्जरा के हेतु होने से (**च-पुन**) और (**परे-पुरुषाः**) दूसरे पुरुष (**चिर-दीर्घकालम्**) दीर्घ समय तक (**क्लिश्यन्ताम्-कायादिक्लेशं कुर्वताम्**) काय आदि के कष्ट को करे (**किम्भूता. सन्तः**) कैसे होते हुए– (**भग्ना. सन्तः**) पीडित होते हुए (**केन**) किससे (**महेत्यादि.-महाव्रतानि-अहिंसादीनि तपासि अनशनादीनि तेषा भारः तेन**) अहिंसा आदि महाव्रतो और अनशन आदि तपो-के भार से (**कर्मणा महाव्रतादिभि निर्जरासद्भावेऽपि ततोबहुतर कर्मास्रवः ज्ञानाभावात्,**) यद्यपि महाव्रतादि से कर्मों की निर्जरा होतो है तथापि आत्मज्ञान के न होने से उन्ही महाव्रतादि से निर्जरा की अपेक्षा नवीन कर्मों का आस्रव अधिक होता है (**हीति-यस्मात्**) जिससे (**कथमपि-केनापि प्रकारेण**) किसी भी तरह से (**ज्ञानगुणम्-ज्ञानमाहात्म्य**) ज्ञान के महात्त्व के (**विना**) विना (**प्राप्तुं-मोक्षमवाप्तुम्**) मोक्ष को प्राप्त करने के लिए (**न क्षमन्ते-न समर्था भवन्ति**) समर्थ नही हो सकते। (**तत.**) तिससे (**साक्षात्-प्रत्यक्षम्**) प्रत्यक्ष रूप से (**इद ज्ञानम्-आत्मपरिज्ञानम्**) यह आत्मज्ञान (**मोक्ष.**) मोक्ष है (**तदन्यतमस्य तत्रानुपलभ्यमानत्वात्**) क्योकि मोक्ष के विषय मे उक्त आत्म ज्ञान के सिवाय अन्य कोई समर्थ कारण उपलब्ध नही है (**किम्भूतम्**) कैसा आत्मज्ञान ? (**निरामयपदम्-निर्गत.**

आमयः रोगा उपलक्षणात्-क्षुत्तृष्णा जन्मजरामरणाधिदुःशर्मा स्वास्थ्योद्वेगादिर्गृह्यते) जो राग से रहित है तथा उपलक्षण से क्षुधा, तृषा, जन्म, जरा, मरण आधि, (मानसिक चिन्ता) दु ख, अस्वास्थ्य और उद्वेग-भय आदि से रहित है (**यस्मात्तत्पदम्-स्थानम्**) जिससे वह पद-स्थान (**स्वयं-स्वेन आत्मना संवेद्य-मानं-स्व सवेदन प्रत्यक्षेण ज्ञायमानम्)** अपने द्वारा स्वसवेदनात्मक प्रत्यक्ष से जाना जा रहा है अर्थात् आत्मा के द्वारा स्वभाव से ही उस ज्ञान गुण का साक्षात्कार किया जा रहा है।

भावार्थ—जिनेन्द्र शासन के विरुद्ध अतएव मोक्ष के प्रतिकूल-व्रतो के तथा तपो के पालन एव आचरण के कष्टो को कोई मोक्ष को लक्ष्य करके सहन करे तो करो। उस कष्ट सहिष्णुता से मोक्ष मिलना नितान्त असम्भव है। इसी प्रकार से जिनेन्द्र आज्ञा के अनुसार व्यवहार चारित्र – अहिंसा आदि महाव्रतो तथा अनशन आदि तपो का परिपालन एव आचरण भी मोक्ष का कारण नही है क्योकि आत्म ज्ञान शून्य सभी क्रियाएँ मोक्ष के प्रतिकूल ससार को ही बढावा देती हैं। मोक्ष तो आत्म ज्ञान स्वरूप है। अत आत्मज्ञान प्राप्त किये बिना सभी प्रकार के व्रताचरण रूप क्रियाकाण्ड पुण्य फलदायक ही हैं। अत. जो मोक्षेच्छु हैं उन्हे चाहिए कि वे सबसे पहले आत्मज्ञान प्राप्त करे।

यहा पर वताया है वह आत्मज्ञान उन क्रियाओ से प्राप्त नही होगा परन्तु वह आप अपने ज्ञान-गुण के द्वारा ही प्राप्त होता है। हमारे ऐसा भ्रम है कि इतनी इतनी क्रिया करने से सम्यक्दर्शन हो जायेगा इसलिए वह इन क्रियाओ मे लगे हुए है परन्तु सम्यक्त्व की प्राप्ति नही होती अगर क्रिया और व्रतादि से ही सम्यक् प्राप्त होता तो कोई द्रव्यलिंगी नही रहता। इससे मालूम देता है उसका कारण कुछ और है। यह तो निश्चित है कि आत्मदर्शन के विना सम्यक् नही हो सकता अब वह आत्मदर्शन कैसे हो यह विचार करना है—भेडियो मे एक सिंह का वच्चा पला और वह अपने को भेडिया ही मान बैठा। एक सिंह विपुलाचल पर्वत से धुड्का और सब भेडिये भागे वह सिंह का वच्चा भी भागा। शेर ने देखा यह शेर का वच्चा क्यो भाग रहा है उसने आवाज दी, तू शेर है रुक जा भागना तेरे को शोभा नही देता वह नही रुका। उस शेर ने उसको जाकर पकडा। उसने कहा तुम शेर हो परन्तु वह नही माना। उस शेर के बच्चे ने शेर की बहुत स्तुति करी, हाथ जोडा पैर छूवे। अपने को विचार करना है क्या इतना करने पर भी वह शेरत्व को प्राप्त हुआ ? नही-क्यो नही—क्योकि अभी तक भी उसने अपने को नही देखा। वह शेर उसको पकड कर तालाव के किनारे ले गया और अपना चेहरा दिखाया और उसका चेहरा दिखाया और दोनो का मिलान जब उसने किया तब उसके मुह् से शेर की आवाज निकल गयी। ऐसा तभी सम्भव है जब हम सच्चे देव-शास्त्र-गुरू के माध्यम से अपना स्वरूप देखने की चेष्टा करे। मात्र उनका गुण गाते रहे, पूजा करते रहे—अपने स्वरूप को देखने का आप निज मे उपाय न करें तो आत्मदर्शन नही होता। यही कारण है कि वर्षो से व्रतादि का भी पालन करे—सच्चे देव-शास्त्र-गुरू का अवलम्बन भी लेते हैं पर आप अपने स्वरूप को देखने का उपाय नही करते। ऐसी गेंद होनी चाहिए कि जो दिवाल से टकरा कर फिर अपनी तरफ आ जावे, ऐसे ही उपयोग भी सच्चे देव-शास्त्र-गुरू से टकरा कर

वापिस अपने सम्मुख हो जावे। इसलिए पहले यह निश्चय करना जरूरी है कि आत्मदर्शन करना है अगर और कोई अभिप्राय है तब तो पात्रता भी नही है।

(**अथ मुक्तेर्दुष्प्राप्यत्व प्रथयति**) अब मुक्ति की दुर्लभता का प्रतिपादन करते हैं—

पदमिदं ननु कर्मदुरासदं सहज बोधकलासुलभं किल।
ततइदं निजबोध कलाबलात्-कलयितुं यततां सततं जगत् ॥११॥

अन्वयार्थ—(**ननु**) वास्तव मे (**इदम्**) यह (**पदम्**) ज्ञान स्वरूप पद (**कर्मदुरासदम्**) क्रियाकाण्ड से दुर्लभ है (**किल**) निश्चय से (**सहजबोध कला सुलभम्**) आत्मज्ञान की कला-ज्योति-से सुलभ-सरलता से प्राप्त करने योग्य-है (**ततः**) इसलिए (**जगत्**) सारा ससार—तीन लोक के प्राणी (**सततम्**) निरन्तर-लगातार (**निजबोधकलाबलात्**) अपने आत्मज्ञान की कला ज्योति-के बल से (**इदम्**) इस पद को (**कलयितुम्**) प्राप्त करने के लिए (**यतताम्**) प्रयत्न करे।

सं० टीका—(**ननु—इति-वितर्के**) ननु अव्यय वितर्क अर्थ मे आया है अर्थात् यहा कोई वितर्क करता है कि (**किलेति-निश्चितम्**) किल यह अव्यय निश्चित अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है अर्थात् निश्चित रूप से (**इद-पद-मोक्षलक्षणम्**) मोक्ष स्वरूप यह पद (**कर्मदुरासदम्-कर्मणा क्रियाकाण्डं तपश्चरणादिना दुरासदम्-दुष्प्राप्यम्**) तपश्चरण आदि रूप क्रियाकाण्ड से दुष्प्राप्य है (**तत.-तस्मात्कारणात्**) तिस कारण से (**जगत्-त्रिभुवनम्**) तीन लोक अर्थात् तीन लोक के मुमुक्षु जन (**इदं-पदम्**) इस मोक्ष पद को (**कलयितुम्-अवगाहयितुम्**) अवगाहन करने के लिए (**यतताम्-यत्नं कुरुताम्**) यत्न करें (**कुत॰**) कैसे (**निजेत्यादि॰-निजबोध-स्वात्मज्ञानम्-तस्य कला-कलन तस्य बलं सामर्थ्यं तस्मात्**) आत्मज्ञान की कला के बल से (**कुतस्तत्रयत्नम्**) उसमे यत्न कैसा ? (**यत. इद पदम्**) क्योकि यह पद (**सहजेत्यादि-सहजबोध स्वस्वरूपज्ञानम् तस्य कला-कलन-अभ्यसनं तया सुलभम्-सुप्रापम्**) आत्म ज्ञान के अभ्यास के बल से सुलभ है।

भावार्थ—विचारना है कि कितनी क्रिया, कितने व्रत-तप करने से आत्मदर्शन हो जाय, कितना अध्ययन करने से आत्मदर्शन हो जाय। ऐसा कोई नियम नही बताया गया है। ११ अग का पाठी और उग्र से उग्र तप करने वाला, द्रव्यलिंगी तो सम्यक्त्व को न पा सके और एक साधारण गृहस्थ सम्यक्त्व का अधिकारी हो जावे। यह प्रश्न विचारणीय है। इतना शास्त्र ज्ञान-आत्मज्ञान के लिए नियम नही बनता। इतना आचरण भी नियम नही बन पाता। तब सम्यक्त्व का उपाय क्या है। उसका उपाय तो मात्र आत्मदर्शन है वह निज मे दर्शन करना चहावे और आप अपने भीतर अपने निज स्वभाव को खोजे तो जरूर प्राप्त हो जाये। स्वभाव का कभी अभाव नही होता सदा त्रिकाल एकरूप है, चाहे ज्ञानी हो चाहे अज्ञानी। जिसने अपने को अपने स्वभावरूप जाना वह ज्ञानी है और जिसने अपने को पर भाव रूप देखा-जाना वह अज्ञानी है। सवाल कितना ज्ञान और कितनी क्रिया का नही है, परन्तु अपने को अपने रूप अनुभव करने का है।

एक आत्मज्ञान है एक व्रतादि क्रियारूप आचरण है। दोनों के कारण अलग-अलग हैं एक का दर्शनमोह का अभाव कारण है एक का चारित्रमोह का अभाव। दर्शनमोह का अभाव हुए बिना चारित्र-मोह का अभाव होता नही। दर्शनमोह का अभाव ही चारित्रमोह के अभाव मे कारण पडता है। यह करणानुयोग की दृष्टि है। दोनो के कारण जुदा-जुदा है। यह समझना जरूरी है। एक खेत को मुलायम करना है दूसरा बीज है। बीज आत्मदर्शन है। बीज को प्राप्त करने का उपाय दूसरा है। चरणानुयोग के अनुसार खेत को मुलायम, ठीक करके आत्मदर्शनरूपी बीज डाले तो फल मिले। बिना बीज के मात्र खेत को ठीक करना फल नही दे सकता। ऐसे ही व्रतादि क्रियारूप आचरण परहेज है और आत्मदर्शन दवाई है। दवाई के साथ मे परहेज जरूरी है परन्तु मात्र परहेज रोग नही मेट सकता। पहाड पर चढने के लिए कार के द्वारा अक्सलेटर से आगे वढा जाता है ब्रेक से नीचे जाने से रुका जाता है दोनो के कार्य अलग-अलग है। आत्मदर्शन अक्सलेटर है और उसके साथ व्रतादि आचरण ब्रेक का काम करता है। मात्र व्रतादि से मोक्षरूपी पहाड पर नही चढा जा सकता। यह चरणानुयोग की दृष्टि है। अध्यात्म कहता है आत्मदर्शन करने की चेष्टा करे तो मिथ्यात्व हटने लगेगा। स्वभावरूप रहने की चेष्टा कर चारित्रमोह हटने लगेगा। विकल्पो से बचने के लिए विकल्पो के आश्रय को छोडकर निविकल्प स्वभाव मे ठहरने का प्रयत्न कर जिससे कर्मों का नाश होगा यही तीनो दृष्टियो का समन्वय है।

(अथ ज्ञानिनोऽपरस्या किञ्चित्करत्व युनक्ति) अब ज्ञानी को ज्ञान के सिवाय कुछ भी करना कार्य-कारी नही है यह दिखाते है—

अचित्यशक्तिः स्वयमेवदेवश्चिन्मात्र चिन्तामणिरेष यस्मात् ।
सर्वार्थसिद्धात्मतया विधत्ते ज्ञानी किमन्यस्य परिग्रहेण ॥१२॥

अन्वयार्थ—**(चिन्मात्र चिन्तामणिः)** चैतन्यरूप चिन्तामणि **(अचिन्यशक्ति)** अनन्त सामर्थ्य वाला **(एषः)** यह **(ज्ञानी)** आत्मज्ञान प्रधान जीव **(यस्मात्)** जिस कारण से **(स्वयम्)** स्वत -स्वभाव से **(एव)** ही **(देव·)** आत्मस्वरूप मे क्रीडा करने वाला **(अस्ति)** है **(तस्मात्)** तिस कारण से **(सर्वार्थ सिद्धात्मतं या)** सर्व प्रयोजन से निष्पन्न आत्मस्वरूप होने से **(अयम्)** यह **(ज्ञानी)** ज्ञानी **(अन्यस्य)** परपदार्थ के **(परिग्रहेण)** परिग्रह से **(किम्)** क्या **(विधत्ते)** करेगा अर्थात् कुछ भी नही।

सं० टीका—**(अन्यस्य-परद्रव्यस्य)** परपदार्थ के **(परिग्रहेण-ममत्वरूपाङ्गीकारेण)** परिग्रह से-ममत्व रूप से अङ्गीकार से **(ज्ञानी-सुज्ञ·)** स्वपर विवेकी सम्यग्ज्ञानी **(किं विधत्ते)** क्या करेगा अर्थात् **(न किमपि)** कुछ भी नही क्योकि **(तत्र ममत्वाभावात्)** ज्ञानी के उन परपदार्थों मे ममत्व नही होता है। **(कुतः)** कैसे **(यस्मात्कारणात्)** जिस कारण से **(एष-ज्ञानी-आत्मा)** यह आत्मज्ञानी जीव **(सर्वेत्यादिः-सर्वार्थैः सिद्धः निष्पन्नः आत्मा स्वरूपं यस्य तस्य भावः तत्ता तया,)** समस्त प्रयोजनो से परिपूर्ण स्वभाव वाला होने से **(विधत्ते-स्वकार्यं करोतीत्यर्थ)** अपने प्रयोजनीभूत कार्य को करता है। **(किम्भूत)** कैसा **(अचिन्त्यशक्तिः-**

अचिन्त्या-चिन्तितुमशक्या शक्तिः सामर्थ्यं यस्य सः) जिसकी शक्ति मन से विचार करने मे नही आ सकती (**स्वयमेव-स्वरूपेणैव**) स्वरूप से ही (**देवः-दीव्यति-क्रीडति स्वस्वरूपेणेति देवः**) देव—आत्मस्वरूप मे क्रीडा करने वाला-निरन्तर अपने मे ही रमण करने वाला है (**पुन किम्भूत**) फिर कैसा (**चिदित्यादि –चैतन्य-निर्वृत्तचिन्तामणि**) चैतन्य से निर्मित चिन्तामणि अर्थात् चेतनागुण रूप चिन्तामणि है।

भावार्थ—ज्ञानी आत्मा का जितना भी परिणमन होता है वह सब चैतन्यमय ही होता है। क्योकि वह स्वभाव से अपने खास स्वरूप मे ही रत रहता है पर के स्वरूप मे नही। अत वह पर का ग्रहण करने वाला क्यो कर होगा ? नही कदापि नही और कथमपि नही ॥१२॥

इत्थं परिग्रहमपास्य समस्तमेव सामान्यतः स्वपरयोरविवेक हेतुम् ।
अज्ञानमुज्झितुमना अधुना विशेषाद् भूयस्तमेव परिहर्तुमयं प्रवृत्तः ॥१३॥

अन्वयार्थः—(**अयम्**) यह (**इत्थम्**) इस प्रकार से (**सामान्यत**) सामान्यरूप से (**समस्तमेव**) सभी (**परिग्रहम्**) परिग्रह –को (**अपास्य**) त्याग करके (**अधुना**) इस समय (**स्वपरयोरविवेकहेतुम्**) अपने और पर मे अविवेक-एकत्व के हेतु-कारणभूत (**अज्ञानम्**) अज्ञान-मिथ्याज्ञान को (**उज्झितुमन**) छोडने का इच्छुक (**भूयः**) पुन (**तमेव**) उसी परिग्रह को (**विशेषात्**) विशेषरूप से (**परिहर्तुम्**) छोडने के लिए (**प्रवृत्त·**) उद्यत-हुआ है।

सं० टीका—(**भूयः-पुनः**) फिर (**अधुना-इदानीम्-सम्प्रति**) इस समय (**अयं-ज्ञानी**) यह ज्ञानवान आत्मा (**तमेव-परिग्रहमेव**) उस परिग्रह को ही (**परिहर्तुं-त्यक्तुम्**) त्यागनेके लिए (**प्रवृत्तः सोद्युक्तो बभूव**) प्रवृत्त हुआ है—उद्योगशील हुआ है (**विशेषात्-पूर्वं ज्ञानभावेन विमुक्तोपधिरपि इदानीं पुनर्विशेषत**) पहले ज्ञान भाव से मैं सर्व परिग्रहो से शून्य था तो भी इस समय फिर विशेषरूप से (**किम्भूत**) कैसा (**उज्झितुमना -उज्झितु त्यक्तुं मनश्चित्तं यस्य स**) जिसका चित्त छोडने के लिए तत्पर है (**किम्**) किसको (**अज्ञानम्–अहमस्य ममेद रूपमज्ञानम्**) मैं इसका हूँ और यह मेरा है इस प्रकार के अज्ञान को (**किम्भूतम्**) कैसे अज्ञान को (**स्वपरयो.-जीवपुद्गलयो.-अविवेक हेतुम्-अविवेकस्य-अविवेचनस्य हेतु कारणम्**) जीव और पुद्गल मे जुदाई नही होने देने मे कारण (**किं कृत्वा**) क्या करके (**इत्थम्—नाहमस्यनेद मम-अहमेव मम स्वं-अहमेव मम स्थानीत्यादि पूर्वोक्त प्रकारेण**) "मैं इसका नही हूँ और यह मेरा नही है, मैं ही अपना स्वामी हूँ" इत्यादि पूर्व मे कहे अनुसार (**सामान्यत -स्वपर परिग्रहस्य भेदविवक्षामन्तरेण**) सामान्य रूप से अर्थात् आत्मा और पर पुद्गलादि रूप परिग्रह मे भेद की विवक्षा–बताने की इच्छा के विना (**समस्तमेव-चेतनाचेतनादिक उपधिम्**) सभी चेतन और अचेतन आदि (**अपास्य-परिग्रह**) परिग्रह को (**त्यक्त्वा**) छोड करके।

भावार्थ—जीव का कर्म से एकत्वबुद्धि रूप जो मिथ्यात्व है वही अज्ञान भाव है। द्रव्यकर्म भाव-कर्म रागादि, नोकर्म शरीरादिक यह तो ज्ञानी अज्ञानी दोनो के है परन्तु ज्ञानी का इनमे एकत्वपना नही

है अज्ञानी का इनमे एकत्वपना है। अज्ञानी से ज्ञानी वनने के लिए मात्र इनमे अपनापना एकत्वपना छोड़ना है जो अपने निज स्वभाव को जाने विना नही छूट सकता। इसलिए अज्ञानी से ज्ञानी बनने के लिए अपने आपको एक अकेला, चैतन्यरूप, जानने वाला, अनुभव करना जरूरी है। हरएक ससारी आत्मा मे तीन भाव होते ही हैं—एक औदायिक भाव एक क्षयोपशम भाव और एक पारिणामिक भाव। वाकी दो भाव मोक्षमार्ग मे होते है। जानने वाला भाव क्षयोपशम भाव है। वह आत्मा को औदायिक भाव रूप भी देख सकता है वह अपने को पारिणामिक भावरूप भी देख सकता है। जो सामान्य ज्ञान है वह पारिणामिक भावरूप है वही जब पर्यायरूप से देखा जाता है तब मतिश्रुति ज्ञानरूप है। वह क्षयोपसम ज्ञान अपने आपको सामान्य ज्ञानरूप अनुभव मे ले सकता है। अनादिकाल से यह क्षयोपशम ज्ञान अपने को रागी-द्वेषी, शुभ-अशुभ भावरूप, शरीररूप जो औदयिकभाव है उस रूप देखता है अनुभव कर रहा है उसको कहा जा रहा है कि तू अपने आपको सामान्य ज्ञानरूप–पारिणामिक भावरूप देख ले, अनुभव कर ले। तू ही अनुभव करने वाला है तू अपने को पररूप तो अनुभव कर रहा है जिस रूप तू नही है। जैसा तू अनादि अनन्तरूप है उस रूप अपने को अनुभव करना चाहे तो अनुभव कर सकता है। औदयिक भाव रूप अपने को अनुभव करने से कर्मों की वढवारी होती है और ज्ञानरूप अनुभव करने से ज्ञान केवलज्ञान रूप हो जाता है। दोनो चीजें तेरे पास है तू ही अनुभव करने वाला है यह तेरा चुनाव है, यह तेरा निर्णय है कि ससार मे रहना है अथवा परमात्मा होना है। तू अपने को सामान्यज्ञान-पारिणामिक भावरूप अनुभव करे तो समस्त दु खो से रहित हो जावे। अनुभव करने की शक्ति तेरे मे है—पारिणामिक भाव त्रिकाल रहने वाला निज भाव है और औदयिक भाव-कर्म के फलरूप है। एक को अपने रूप अनुभव का फल मोक्ष और एक को अनुभव करने का फल अनत ससार है निर्णय तेरा है।

(अथ ज्ञानिनामपरिग्रहत्व मुल्लिखति) अब ज्ञानियो के परिग्रह के अभाव का उल्लेख करते हैं—

पूर्वबद्ध निजकर्मविपाकात् ज्ञानिनो यदिभवत्युपभोगः।
तद्भवत्वथ च रागवियोगात् नूनमेति न परिग्रह भावम् ॥१४॥

अन्वयार्थ—(**पूर्वबद्ध निजकर्म विपाकात्**) पूर्व मे वांधे हुए अपने ही कर्मों के उदय से (**यदि**) यदि (**ज्ञानिनः**) ज्ञानी के (**उपभोग.**) सुख-दुःखादि का अनुभवरूप उपभोग (**भवति**) होता है तो (**भवतु तत्**) वह होओ (**अथ च**) परन्तु (**रागवियोगात्**) राग का वियोग अभाव-होने से (**ज्ञानी**) आत्म-विवेकी (**नूनम्**) निश्चय से (**परिग्रह भावम्**) परिग्रहभाव-नवीन कर्मबन्ध रूप उपाधि-को (**न**) नही (**एति**) प्राप्त करता है।

सं० टी०—(**यदि-यदा**) जव (**ज्ञानिन.-पुंस·**) ज्ञानी पुरुष के (**उपभोगः-कर्मोदयजनितसुखदुःखादिनोकर्माद्युपभोगः**) कर्मों के उदय से उत्पन्न-प्राप्त सुख-दु ख आदि के कारणीभूत नोकर्म-बाह्य सामग्री का उपभोग (**भवति अस्ति**) होता है (**कुतः**) किससे (**पूर्वेत्यादिः-पूर्वं-ज्ञानावस्थतः प्राग्बद्धानि योगकषा-**

यवशादात्मसात्कृतानि तानि च तानि कर्माणि च तेषां विपाकः उदयः तस्मात्) ज्ञान अवस्था से पहले योगो और कषायो के वश से बाधे हुए अर्थात् आत्मा के साथ एक क्षेत्रावगाहरूप से सम्बन्धित किए हुए कर्मो के विपाक-उदय-से (**तत्-तर्हि**) तब (**भवतु-अस्तु**) होवे (**उपभोगः**) उपभोग-सेवन (**अथ च-उपभोगकथनाद-नंतरम्**) उपभोग के कहने के बाद (**नूनं-निश्चितम्**) निश्चित रूप से (**ज्ञानिन उपभोग-इत्यध्याहार्यम्**) उप-भोग शब्दका अध्याहार करके तो भी ज्ञानीका उपभोग (**परिग्रहभावम्-कर्मबन्धनाद्युपाधिस्वभावम्**) कर्मवध आदि रूप उपाधि-परिग्रह-स्वभाव को (**नैति न प्राप्नोति**) नही प्राप्त करता है (**कुत**) किससे (**रागवियो-गात् रागस्य-ममत्वादिपरिणामस्य वियोग राहित्यं तस्मात्**) ममत्वादिरूप परिणाम के अभाव से (**कर्मोदयोपभोगस्तावत् ज्ञानिन अतीतो न स्यात् प्रणष्टत्वात्-प्रत्युत्पन्नानागतौन स्त., तत्रममत्वाभावात् इति तात्पर्यम्**) ज्ञानी के अतीत कर्मोदय का उपभोग इसलिए नही होता है कि वे नष्ट हो चुके हैं तथा वर्तमान और भविष्यत् कर्मोदय का उपभोग इस कारण से नही होता है कि उनमे उसका ममत्व नही है। अर्थात् ज्ञानी के तीनो कालो मे कर्मोदय का उपभोग नही होता है यह इसका तात्पर्य है।

भावार्थ—ज्ञानी के परपदार्थो के प्रति स्वभावत· राग-द्वेष नही होता है। अतएव नवीन कर्मवन्ध भी नही होता है। क्योकि वन्ध के मूल कारण रागादि विभाव भाव हैं। कर्मो का उदय तो होता ही है। वह किसी न किसो निमित्त को प्राप्न कर सुख-दु ख की कारणीभूत सामग्री को उपस्थित करता है। लेकिन अज्ञानी अपने को उस रूप मानकर नवीन कर्मो को बाध लेता है। परन्तु ज्ञानीजन कर्मोदय को एव तन्निमित्त सामग्री को मात्र कर्म के फल रूप से जानता है। उसमे राग-द्वेषादिरूप से आसक्त नही होता है। अतएव नवीन कर्म वन्ध का भाजन नही होता है। यही ज्ञानी मे अज्ञानी से सर्वोपरि विशे-पता है जो कर्मो की निर्जरा एव मुक्ति मे साधक सिद्ध होती है ॥१४॥

(**अथ विरक्ति गृह्णाति**) अब ज्ञानी समस्त भोगो से विरक्त रहता है यह दिखाते हैं—

वेद्यवेदकविभावचलत्वाद् वेद्यते न खलु कांक्षितमेव।
तेन कांक्षति न किञ्चन विद्वान् सर्वतोऽप्यतिविरक्तिमुपैति ॥१५॥

अन्वयार्थ—(**वेद्यवेदक विभाव चलत्वात्**)वेद्य—वेदन करने योग्य-विभाव तथा वेदक-वेदन करने वाला-विभाव दोनो स्वभाव से विरोधी विभाव चल-विनश्वर-है अतएव (**खलु**) निश्चय से (**कांक्षितम्**) इष्ट-इच्छित भाव रा (**न**) नही (**वेद्यते**) अनुभव होता (**तेन**) तिस कारण से (**विद्वान्**) ज्ञानी (**किञ्चन**) कोई इष्ट अथवा अनिष्ट वस्तु को (**न**) नही (**कांक्षति**) वाछा करता है (**अपि**) किन्तु (**सर्वत.**) सबसे (**अति विरक्तिम्**) अति विरक्ति-अत्यन्त उदासीनता को (**उपैति**) प्राप्त होता है।

सं० टीका—(**तेन-कारणेन**) तिस कारण से (**विद्वान्-धीमान्-पुमान्**) बुद्धिमान् पुरुष (**किञ्चन-किमपि-शुभाशुभम्**) शुभ और अशुभ रूप किसी भी भाव को (**न**) नही (**कांक्षति-आकाङ्क्षा विषय न करोति**) चाहता है अर्थात् इच्छा का विषय नही बनाता है (**अपि-पुनः**) किन्तु (**विद्वान्**) विवेकी प्राणी (**सर्वत-संसारदेहभोगत·**) संसार शरीर और भोग सभी मे (**अतिविरक्तिम्-अतिवैराग्यम्**) अत्यन्त

विरागता-उदासीनता-को (**उपैति-भजते-प्राप्नोतीति यावत्**) प्राप्त होता है-भजता है-सेवन करता है (**तेन केन**) उस कौन से भाव से (**येन**) जिससे (**खल्विति वाक्यालङ्कारे**) खलु-यह अव्यय वाक्य के अलङ्कार अर्थ मे आया है (**काङ्क्षितं-वाञ्छितम्-भावम्**) इच्छित भाव को (**न वेद्यते-नानुभूयते**) नही-वेदता-अनुभव करता (**कुत.**) किससे (**वेद्येत्यादि -वेदनयोग्योवेद्यः-वेद्यतेऽनेनेतिवेदक, तौ च तौ विभावौ च तयोश्चलत्व क्षणिकत्वं तस्मात्**) अनुभवन योग्य भाव और अनुभावक भाव दोनो ही क्षण नश्वर होने से (**तथाहि यौ वेद्य वेदक भावौ तौ क्षणिकौस्त, विभावभावानामुत्पन्नप्रध्वसित्वात्**) इसी को 'तथाहि' से स्पष्ट करते है अर्थात् जो वेद्य वेदक भाव है वे दोनो क्षणिक-क्षणनश्वर है क्योकि सभी विभाव भाव जनन और विनशन शील हैं चिरस्थायी नही है (**अथ च यो भावः वेद्यं भावं वेदयते स वेदको यावद्भवति तावत्काक्ष्यो वेद्यो-भावो नश्यति, तद्विनाशे वेदकभाव कि वेदयते ?**) अर्थात् जो भाव, वेद्य भाव को वेदन करता है वह वेदक भाव जब उत्पन्न होता है तव तक वाञ्छनीय वेद्य भाव नष्ट हो जाता है उसके विनष्ट होने पर वेद्यकभाव किसको वेदन करे ?

(**अथ काक्ष्यवेद्यभावानन्तरभाविनमपरं भावं वेदयते तदा तद्भवनात्पूर्वं स वेदकोनश्यति तं को वेदयते ?**) अर्थात् आप यह कहे कि वाञ्छनीय वेद्यभाव के अनन्तर होने वाले दूसरे वेद्यभाव को वेदक भाव वेदन करता है तो हम कहते हैं कि—उस समय उस वेद्यभाव के उत्पन्न होने के पहले क्षण मे ही वह वेदक भाव विनष्ट हो जाता है अत उस उत्तर क्षणवर्ती वेद्यभाव को कौन वेदन करेगा ? (**अथ वेदक भावानन्तरभावी भावोऽपरस्तं वेदयते तद्भवनात्पूर्वं स वेद्यो नश्यति स किं वेदयते, इति चलत्वान्न काक्षति**) शायद आप यह कहे कि—वेदक भाव के बाद होने वाला दूसरा वेदक भाव उस वेद्य भाव को वेदन करेगा तो हम कहते हैं कि—उस वेदक भाव के उत्पन्न होने के पहले ही वह वेद्य भाव नष्ट हो चुका है अत वह वेदक किसको वेदन करेगा ? इस प्रकार से वेद्य वेदकभाव के चञ्चल-क्षणविध्वसी होने से ज्ञानी उन्हे चाहता ही नही है ।

भावार्थ—प्रत्येक वेद्य वेदक भाव एक दूसरे से कभी मिलता ही नही है क्योकि उन दोनो का जन्म-क्षण अतिशय भिन्न है जब एक जन्म लेता है तो वह पहला विनाश को प्राप्त होता है । यही क्रम प्रवाह रूप से अनादित चला आ रहा है और अनन्त काल तक चलता ही रहेगा । इसमे कोई किसी प्रकार का परिवर्तन-रद्दोबदल करने मे समर्थ नही है । यह तो वस्तुस्थिति है जो अलङ्घ्य है । यह दोनो भाव विभाव भाव है—पर्यायरूप है विनाशशील है अतएव ज्ञानी इन वेद्य वेदक भावो से सर्वथा विरक्त ही रहता है ।

(**अथ ज्ञानिनोऽपरिग्रहित्वं चेतति**) अब ज्ञानी परिग्रही नही है यह विचार प्रस्तुत करते है—

ज्ञानिनो न हि परिग्रहभावं कर्म रागरसरिक्ततयैति ।
रंगयुक्तिरकषायितवस्त्रे स्वीकृतैव हि बहिर्लुठतीह ॥१६॥

अन्वयार्थ—(**रागरसरिक्ततया**) राग रूपी रस से शून्य होने के कारण (**ज्ञानिनः**) ज्ञानी के (**कर्म**)

कर्म (हि) निश्चय से (परिग्रहभावम्) परिग्रह दशा को (न) नही (ऐति) प्राप्त होता है (इह) जैसे (अकषायितवस्त्रे) अकषैले वस्त्र मे (स्वीकृता) स्वीकृत हुई-लगाई गई (रंगयुक्ति) रग की योजना (हि) निश्चय से (वहि) बाहिर (एव) ही (लुठति) लोटती-रहती है, अन्तरङ्ग मे नही प्रविष्ट होती।

स० टीका--(हि निश्चित) निश्चित रूप से (ज्ञानिन· पुंस) ज्ञानी पुरुष के (कर्म) कर्म (परिग्रह-भावम्-उपधिस्वभावम्) उपधिस्वभाव को (नैति-न प्राप्नोति) नही प्राप्त होता है (कया ?) किससे (रागेत्यादिः-राग.-रसिकत्वम्-तेन रिक्ततस्तस्यभावस्तया या) राग-रसिकता से रहित होने से (हीत्यव्या-र्थान्तरोपन्यासे) हि-यह अव्यय यहा अर्थान्तर मे उपन्यस्त है (इह लौकिकयुक्तौ) यहा लौकिक युक्ति है (रङ्गयुक्तिः-लोहितादि रागयोग·) लोहित आदि रग का प्रयोग (अकषायितवस्त्रे-विभीतकादि कषाय-द्रव्यैरकषायीकृते चीवरे) हरड आदि कषायले पदार्थ से कषायले नही किये गये कपडे पर (स्वीकृता-गृहीता-आरोपिता) स्वीकृत-ग्रहण की गई-चढाई की गई (रङ्गयुक्ति -लोहितरागयोग) लाल रग की राशि (वहिर्लुठति-अन्तर्भेत्तुमशक्यत्वात् कषायरागादि कारणाभावात्) बाहिर ही-लोटती-स्थित रहती है क्योंकि वह अन्तरङ्ग मे कषाय एव रागादि का अभाव होने से आत्मा मे एव वस्त्र मे भेदन करने मे असमर्थ होने से प्रवेश नही कर सकती।

भावार्थ—समर्थ कारण के अभाव मे कार्य का भी अभाव देखा जाता है। प्रकृत मे कर्म ग्रहण का मुख्य हेतु भोगासक्ति है। वह ज्ञानी के है ही नही। अत ज्ञानी कर्म परिग्रही नही है। उदाहरण जैसे लोकव्यवहार मे रग का पक्कापन, और कच्चापन, कषैले पदार्थ के प्रयोग और अप्रयोग पर निर्भर करता है। यदि कषैले पदार्थ का योग होगा तो वस्त्र पर रग का पक्कापन अवश्य ही होगा। नही तो नही होगा। वैसे ही आत्मा मे यदि राग होगा तो कर्म परिग्रह होगा ही होगा। नही तो नही होगा। ज्ञानी के राग का अभाव ही भोगो से उदासीनता का जनक है जो उसे कर्म परिग्रह से अतिशय दूर रखता है। बन्ध का कारण परवस्तु नही है परन्तु परवस्तु के प्रति जीव का दृष्टिकोण है। ज्ञानी तो परवस्तुका ज्ञायक है॥१६॥

(अथ ज्ञानिनः कर्म न लिम्पति) अब ज्ञानी के कर्म का लेप नही होता है यह बताते हैं—

ज्ञानवान् स्वरसतोऽपि यतः स्यात् सर्वरागरसवर्जनशीलः।
लिप्यते सकलकर्मभिरेषः कर्ममध्यपतितोऽपि ततो न॥१७॥

अन्वयार्थ—(यतः) जिस कारण से (ज्ञानवान्) आत्मविवेकी ज्ञानी (स्वरसत) अपने आत्मिक रसानुभव से (अपि) ही (सर्वरागरसवर्जनशील.) समस्त राग रूप रस से शून्य स्वभाव वाला (स्यात्) होता है (तत) तिस कारण से (कर्ममध्य पतित) कर्मो के बीच मे पडा हुआ (अपि) भी (एष·) यह ज्ञानी (सकलकर्मभि) सभी कर्मो से—अर्थात् द्रव्य, भाव और नो कर्म से (न) नही (लिप्यते) लिप्त होता है।

स० टी०—(ततः-तस्मात्कारणात्) तिस कारण से (एषः-ज्ञानी) यह ज्ञानी (सकलकर्मभि-समस्त

द्रव्यभाव नोकर्मभिः) सभी द्रव्लकर्म भावकर्म और नोकर्मो से **(न लिप्यते नोपदह्यत नाश्रयत इत्यर्थः)** लेप-वृद्धि अर्थात् आश्रय को नही प्राप्त होता है **(कीदृशोऽपि)** कैसा होता हुआ भी **(कर्ममध्यपतितोऽपि)** कर्मो के बीच मे पडा हुआ भी **(कर्मणा उदयादिरूपाणां मध्ये अन्तः, पतितोऽपि अपि शब्दात्तन्नापतितस्य कथं बन्धः)** उदय उदीरणा आदिरूप कर्मो के विविध रूपो के बीच मे रहता हुआ भी यहा अपि शब्द से यह विशेषार्थ सूचित किया है कि जो कर्मो के मध्य मे नही रह रहा है ऐसे शुद्ध स्वभावापन्न जीव के कैसे वन्ध होगा अर्थात् नही कदापि नही और कथमपि नही। **(यथा कनकस्य कर्दममध्यगतस्य न लेप)** जैसे कीचड के मध्य मे पडे हुए सुवर्ण के कीचड का लेप नही होता है वैसे ही ज्ञानी के भी नही होता है। यह इसका तात्पर्य है। **(कुत)** किससे **(यत -यस्मात्कारणात्)** जिस कारण से **(स्वरसतोऽपि-स्वभावत एव)** स्वभाव से ही **(ज्ञानवान्-पुमान्)** ज्ञानी पुरुष **(सर्वेत्यादिः-सर्वे च ते रागाश्च रागद्वेषमोहा तेषा रसः तस्य वर्जने शीलं स्वभावो यस्यसः)** राग-द्वेष मोहरूप सभी विभावो का स्वभाव से परित्याग वाला **(ईदृग्विधः)** इस प्रकार का **(स्यात्-भवेत्)** होता है।

भावार्थ—यदि खालिस-शुद्ध-सुवर्ण कदाचित् कीचड मे पड जाय तो भी वह कीचड के परमाणु को भी नही ग्रहण करता है क्योकि वह शुद्ध है। स्वभाव सम्पन्न है। वैसे ही ज्ञानी अपने को शुद्ध सिद्ध के समान स्वरूपवान् जानता है, मानता है और अनुभव मे लाता है। अतएव यह कर्मो के बीच मे रहते हुए भी अपनी स्वाभाविक ज्ञान परिणति के बल से कर्मो से लिप्त नही होता है किन्तु उत्तरोत्तर मुक्ति की ओर ही अग्रसर होता है।

(अथ वस्तुस्वभावं निर्णेनेक्ति) अब वस्तु के स्वभाव की निश्शेष शुद्धि दिखाते हैं—

> **यादृक् तादृगिहास्ति तस्य वशतो यस्य स्वभावो हि यः**
> **कर्तुं नैष कथञ्चनापि हि परैरन्यादृशः शक्यते।**
> **अज्ञानं न कदाचनापि हि भवेज्ज्ञानं भवत्सन्ततं—**
> **ज्ञानिन् भुङ्क्ष्व परापराध जनितो नास्तीह बन्धस्तव ॥१८॥**

अन्वयार्थ—**(इह)** इस लोक मे **(यस्य)** जिस वस्तु का **(यादृक्)** जैसा—**(य)** जो **(स्वभावः)** स्वभाव **(अस्ति)** है **(तस्य)** उस वस्तु के **(वशत)** वश से-स्वाधीनता से **(तादृक्)** वैसा **(स॰)** वह **(एष)** ही **(स्वभावः)** स्वभाव **(स्यात्)** होता है-रहता है **(परैः)** दूसरो के द्वारा **(एष)** यह **(स्वभावः)** स्वभाव **(अन्यादृशः)** दूसरे के समान **(कर्तुम्)** करने के लिए **(कथञ्चनापि)** किसी प्रकार से भी **(न)** नही **(शक्यते)** समर्थ हो सकता है **(हि)** इसलिए **(सततम्)** निरन्तर **(ज्ञानम्)** ज्ञानरूप **(भवत्)** परिणमित होता हुआ **(हि)** निश्चय से **(कदाचनापि)** कभी भी **(अज्ञानम्)** अज्ञान **(न)** नही **(भवेत्)** हो सकता है अतएव **(हे ज्ञानिन्)** हे विवेकिन् **(भुक्ष्व)** तुम भोगो को भोगो **(तव)** तुम्हारे **(इह)** इस लोक मे **(परापराधजनित)** आत्मा से भिन्न पुद्गल द्रव्य के अपराध से उत्पन्न हुआ **(बन्ध)** वन्ध **(न)** नही **(अस्ति)** है।

सं० टीका – (**इह-जगति**) इस जगत् मे (**यस्य-वस्तुन.**) जिस वस्तु का (**यादृक्-यादृशः**) जैसा (**स्वभाव·-स्वरूपम्**) स्वभाव-स्वरूप (**अस्ति-वर्तते**) है (**हीति-स्फुटम्**) स्फुट-स्पष्ट रूप से (**तस्य-वस्तुनः**) उस वस्तु का (**वशतः-ज्ञानस्य नियमवशाद्वा**) ज्ञान के वश से अथवा नियम के वश से (**तादृक्-तादृश एव स्वभावो भवेत् नान्यथा**) वैसा ही स्वभाव स्वरूप होता है दूसरे प्रकार का नही । (**हीति-यस्मात्**) जिससे-निश्चय से (**यः-एष·-स्वभावः**) जो यह स्वभाव है (**स परै.-अन्यपदार्थै·**) वह दूसरे पदार्थों से (**कथञ्चनापि-केनापिप्रकारेण देशान्तरे कालान्तरे द्रव्यान्तरसयोगे**) किसी भी प्रकार से देशान्तर मे कालान्तर मे किसी अन्य द्रव्य का सयोग होने पर भी (**अन्यादृशः-अन्यस्वभाव सदृशः**) अन्य पदार्थ के स्वभाव के समान (**कर्तुं न शक्यते**) करने के लिए नही समर्थ हो सकता है (**हीति-यस्मात्**) कारण कि (**सततं-निरन्तरम्**) हमेशा (**कदाचनापि-कस्मिन्नपिकाले**) किसी भी काल मे (**भवत्-विद्यमानम्**) विद्यमान (**ज्ञान-बोध.**) ज्ञान (**अज्ञानं-न भवेत्-न जायेत**) अज्ञान नही हो सकता । (**हे ज्ञानिन्**) हे ज्ञानी जीव (**भुङ्क्ष्व-परद्रव्यमनुभव**) परपदार्थ का अनुभव कर(**कुत·**) कैसे (**यत**) जिससे (**इह-जगति**) इस जगत् मे (**परेत्यादि -परेषा-पुद्गल-द्रव्याणा-अपराध.-आगः तेन जनित -उत्पादित.**) पुद्गल द्रव्यो के अपराध से पैदा हुआ (**तव-ज्ञानिन.**) तुम ज्ञानी के (**बन्धः-कर्मबन्धः**) कर्मों का बन्ध (**नास्ति-न भवत्येव**) नही होता है ।

भावार्थ—पर मे अपनापना है वह बन्ध का कारण है । वाहरी सामग्री का सयोग होना-न होना यह पुण्य-पाप के उदय का कार्य है, रागादि भाव मोह का कार्य है—शरीरादि नामकर्म और आयुकर्म का कार्य है और उनमे अपनापना मानना, न मानना तेरा कार्य है । अगर निज स्वभाव मे अपनेपना का निर्णय किया है तब ये कर्मजनित सामग्री चाहे ज्यादा हो या कम, इनका सद्भाव हो या अभाव जीव को ज्ञानी अज्ञानी नही बना सकती परन्तु जब यह निज मे अपने स्वभाव को भूल कर कर्मकृत मे अपना-पना मानता है तब स्वमेव अज्ञानी हो जाता है । इसलिए परवस्तु तेरे को अज्ञानी नही बना सकती, तू परवस्तु मे अपनापना मानता है तब अज्ञानी वनता है । परवस्तु का अपराध नही है अपराध तेरा ही है।

एक आदमी धन की तरफ भाग रहा है और एक आदमी धन से भाग रहा है दोनो ही भाग रहे हैं । दोनो की दृष्टि धन पर ही है अपने ज्ञान स्वभाव पर नही है । ठहरा हुआ वही है जो ज्ञानरूप है । धन का सयोग तेरे को धनिक नही वना सकता, धन का मालिकपना धनिक बनाये विना छोडता नही । अतः परवस्तु से द्वेष क्यो करता है वह बन्ध का, अज्ञानता का कारण नही है वह अज्ञानता पैदा नही करा सकती । अज्ञानता तो तभी होगी जब तू अपने स्वभाव को भूल कर पर मे अपनापना मानेगा ।

अगर यह कर्मकृत नाटक ही है तब किसी का भी पार्ट करना पडे—तबीयत से कर, जब तक तू अपने को जानता रहेगा यह नाटक तेरे को सुखी दु खी नही बना सकेगा । नया बध नही होगा पुराना खत्म होता जा रहा है जहाँ अपने को भूला, नाटक के पार्ट मे असलियतपना आवेगा और तू सुखी-दु खी होगा तव नया बध भी होगा । यह अपराध तेरा है । परवस्तु को अनिष्ट मानकर त्याग भी करेगा तो द्वेष बुद्धि का प्रसग आयेगा । अत यहा पर भोगने को नही कहा जा रहा है यहाँ पर तो यह

समझाया है कि जो बध हो रहा है वह तेरे अपराध से होता है परवस्तु का अपराध नही है इसलिए उससे द्वेष क्यो करता है। छोडना तो कषाय है परन्तु कषाय छोडने के लिए कषाय के अवलम्बन को भी छुटाया है। जब तक आत्मवल की कमी रहती है यह पर का अवलम्बन लेकर कषाय कर लेता है। इसका कारण आत्मवल की कमजोरी है ऐसी स्थिति मे ऐसे वातावरण से हटने का भी उपदेश है जो व्यवहार दृष्टि का विषय है।

(**अथ ज्ञानिन. कर्म क्रिया प्रतिरुणद्धि**) अव ज्ञानी के क्रिया का निषेध करते है—

ज्ञानिन् कर्म न जातु कर्तुमुचितं किञ्चित्तथाप्युच्यते।
भुङ्क्ष्ये हन्त न जातु मे यदि परं दुर्भुक्त एवासि भोः।
बन्धः स्यादुपभोगतो यदि न तत् किं कामचारोऽस्ति ते
ज्ञानं सन्वस बन्धमेष्यपरथा स्वस्यापराधाद्ध्रुवम् ॥१६॥

अन्वयार्थ—(**हे ज्ञानिन्**) हे स्वपर विवेकिन् (**त्वया**) तुम्हे (**जातु**) कभी (**कर्म**) कर्म-शुभ और अशुभ क्रिया (**कर्तुम्**) करना (**उचितम्**) योग्य (**न**) नही (**अस्ति**) है (**तथापि-**) तो भी (**किञ्चित्**) कुछ थोडा-सा (**उच्यते**) कहते है यदि तुम यह कहो कि (**परं मे जातु न, भुंक्षे**) "पर द्रव्य मेरा कभी भी नही है और मैं उसे भोगता हूँ" (**भोः दुर्मुक्तः एव असि**) तो तुझसे कहा जाता है कि हे भाई, तू खराव प्रकार से भोगने वाला है (**हन्त**) जो तेरा नही है उसे तू भोगता है यह महा खेद है (**यदि**) यदि (**उपभोगत.**) कर्म के फल के भोगने से (**ते**) तुम्हारे (**बन्ध.**) वन्ध (**न**) नही (**स्यात्**) होता है (**तत्-तर्हि**) तो (**ते**) तुम्हारे (**किम्**) क्या (**कामचारः**) भोगने की इच्छा (**अस्ति**) है? अतएव हे ज्ञानिन् (**त्वम्**) तुम (**ज्ञानम्**) ज्ञान रूप (**सन्**) होते हुए (**वस**) निज स्वरूप मे वसो-स्थिर रहो (**अपरथा**) अन्यथा (**त्वम्**) तुम (**स्वस्य**) अपने (**अपराधात्**) अपराध से (**ध्रुवम्**) अवश्य ही (**बन्धम्**) वन्ध को (**एषि**) प्राप्त होओगे।

सं० टी०—(**हे ज्ञानिन्**) हे आत्मज्ञ (**जातु-कदाचित्**) कभी (**तव**) तुम्हारे द्वारा (**किञ्चित्-किमपि**) कुछ भी (**कर्म-शुभाशुभ लक्षण कार्यम्**) शूभरूप और अशुभरूप कार्य को (**कर्तुं-विधातुम्**) करना (**उचित-युक्तम्**) योग्य-युक्त (**न**) नही है (**तथापि-कर्माकर्तृत्वेऽपि**) तो भी—कर्म का कर्तापन न होने पर भी (**उच्यते-अस्माभिः किञ्चित् प्रतिपाद्यते**) हम कुछ कहते है (**यदि-चेत्**) यदि (**जातु-कदाचित्**) कभी (**मम कर्म न**) मेरे कर्म-क्रिया नही है (**हन्त इति-निश्चयेन**) हन्त—यह निश्चय वाचक अव्यय है अर्थात् निश्चय से (**भुङ्क्ष्ये कर्मफल भुङ्क्ष्यामि**) मैं कर्मो के फल को नही भोगूगा अर्थात् मैं कर्मो के फल का भोक्ता नही हूँ (**तर्हि भो ज्ञानिन्**) तो हे ज्ञानी (**परं-केवलम्**) सिर्फ (**दुर्मुक्त एव बन्धनमन्तरेण तत्फलानुभवनाद् दुर्भोजक, असि-भवति**) तुम बन्ध के बिना ही कर्म के फल का अनुभव करने से दुर्भोजक-नही भोगने वाले हो। (**न तु-अस्माक तत्फलानुभवनात्कर्मबन्ध इति**) अर्थात् कर्म के फल का अनुभव होने पर भी हमारे

अन्वयार्थ—**(येन)** जिसने **(फलम्)** कर्म के सुख-दु खरूप फल को **(त्यक्तम्)** त्याग कर दिया है **(सः)** वह ज्ञानी **(कर्म)** कर्म को **(कुरुते)** करता है **(इति)** ऐसा **(वयम्)** हम **(न)** नही **(प्रतीम.)** प्रतीति करते **(किन्तु)** परन्तु **(अस्य)** इस ज्ञानी के **(अपि)** भी **(कुत·)** कही से **(अपि)** भी **(कदाचित्)** कभी **(अपि)** भी **(तत्)** वह **(कर्म)** कर्म **(अवशेन)** विवशता से-बिना इच्छा के **(आपतेत्)** आ पडता है **(तस्मिन्)** उस के **(आपतिते)** आ पडने पर **(तु)** भी **(अकम्प परम ज्ञानस्वभावे)** निश्चल श्रेष्ठ ज्ञान स्वभाव मे **(स्थित)** स्थित **(ज्ञानी)** विवेकी **(किम्)** किस **(कर्म)** कर्म को **(कुरुते)** करता है **(किम्)** किस **(कर्म)** कर्म को **(न)** नही **(कुरुते)** करता है **(इति)** ऐसा **(कः)** कौन **(जानाति)** जानता है ? अर्थात् **(कोऽपि न जानाति)** कोई भी नही जानता है।

स० टी०—**(इति-एवम्)** ऐसा **(वयं-ज्ञानार्थिमः)** ज्ञानेच्छु हम **(प्रतीमः-प्रतीतिं कुर्म·)** प्रतीति-निश्चय करते है **(इति किम्)** ऐसा क्या ? **(येन ज्ञानिना-पुंसा)** जिस ज्ञानी पुरुष के द्वारा **(फलं-कर्मानुभागः)** कर्म के फल का रसानुभव **(त्यक्तम्-ज्ञानभावाद्विमुक्तम्)** ज्ञान भाव से छोडा जा चुका है **(सः-ज्ञानी)** वह ज्ञानी-वस्तुतत्त्वज्ञ **(कर्म-क्रियाकाण्ड-ज्ञानावरणादि वा)** क्रियाकाण्ड को-अथवा ज्ञानावरणादि को **(न कुरुते-न विधत्ते)** नही करता है **(किन्तु विशेषोऽस्ति)** तो भी कुछ विशेषता है **(अस्यापि-ज्ञानिनोऽपि)** ज्ञानी के भी **(कुत्नोऽपि-बहिरभ्यन्तरकारणकलापात्)** वाह्य और अन्तरङ्ग कारण के समूह-वल से **(अवशेन-अनीहितवृत्त्या)** विवशता से-अनिच्छित-वृत्ति-व्यापार से **(तत्-प्रसिद्ध)** वह प्रसिद्ध **(किञ्चिदपि-अनिर्दिष्टम्)** जिसका नाम निर्देश नहीं किया गया है ऐसा कुछ भी कर्म—**(शुभाशुभ-कर्म)** शुभ-सुखदायक और अशुभ दुखदायक कर्म- **(आपतेत्-आगच्छेत्)** आ पडता है-उपस्थित होता है **(तु-पुन)** फिर **(तस्मिन्-कर्मणि)** उस कर्म के **(आपतिते-उदयागते सति)** उदय मे आने पर **(ज्ञानी-पुमान्)** ज्ञानवान् पुरुष **(तत्परिहारार्थम्)** उसके परिहार-दूर करने के लिए **(किं कर्म-क्रियाकाण्डम्)** किस क्रियाकाण्ड को **(कुरुते-विधत्ते)** करता है **(अथवा किं न कुरुते-किं न विधत्ते)** अथवा किस क्रियाकाण्ड को नही करता है **(इति-एवम्)** ऐसा **(कर्तव्याकर्तव्यम्)** कर्तव्य-करने योग्य और अकर्तव्य-नही करने योग्य को **(क. अपरः पुरुष जानाति वेत्ति)** दूसरा कौन पुरुष जानता है **(तत्स्वरूपस्य ज्ञातुमशक्यत्वात्)** क्योकि उसका स्वरूप जानने मे नही आ सकता है **(किम्भूतो ज्ञानी)** कैसा ज्ञानी ? **(अकम्पेत्यादिः-अकम्पकेनापि चालयितुमशक्यत्वात्-अचलं-परमं-उत्कृष्ट तच्च तज्ज्ञान च तस्य स्वभावे-स्वरूपे)** किसी के द्वारा न चलाये जा सकने से अकम्प अचल अतएव सर्वोत्कृष्ट ज्ञान के स्वरूप मे **(स्थित.-लयं प्राप्तः)** स्थित-लय को प्राप्त—तन्मयता को धारण करने वाला।

भावार्थ—ज्ञानी अपने स्थिर ज्ञान स्वरूप मे लीन रहता है। अतएव कर्म के उदय मे आने पर भी वह उसे जानता तो है, पर उसके द्वारा होने वाले सुख और दुःख का अनुभवन नही करता है। क्यो कि उसके राग-द्वेष का अभाव है। अथवा उसकी परिणति को वही ज्ञानी जानता है। अज्ञानी उसकी परिणति को कैसे जान सकते हैं—यहा ज्ञानी से तात्पर्य आतमज्ञानी सम्यग्दृष्टि आदि से है। उसी का

प्रकरण यहां चल रहा है।

(अथ सम्यग्दृष्टेः साहसं कलयति) अब सम्यग्दृष्टि के साहस का प्रतिपादन करते हैं—

सम्यग्दृष्टय एव साहसमिदं कर्तुं क्षमन्तेपरम्–
यद्वज्रेऽपि पतत्यमी भयचलत्त्रैलोक्यमुक्ताध्वनि।
सर्वामेव निसर्गनिर्भयतया शङ्कां विहाय स्वयं–
जानन्तः स्वमवध्यबोधवपुषं बोधाच्च्यवन्ते न हि ॥२२॥

अन्वयार्थः—**(इदम्)** इस **(परम्)** महान् **(साहसम्)** साहस-धैर्य को **(कर्तुम्)** करने मे **(सम्यग्दृष्टयः)** सम्यग्दृष्टि **(एव)** ही **(क्षमन्ते)** समर्थ होते है। **(यत्)** कारण कि **(अमी)** ये सम्यग्दृष्टि महापुरुष **(भयचलत्त्रैलोक्य मुक्ताध्वनि)** भय से चञ्चल अतएव इधर-उधर भागने वाले त्रैलोक्य के प्राणियो द्वारा छोडा गया है मार्ग जिससे ऐसे **(वज्रे)** वज्र के **(पतति)** पडने पर **(अपि)** भी **(निसर्ग निर्भयतया)** स्वाभाविक निर्भीकता से **(सर्वाम्)** सब **(एव)** ही **(शङ्काम्)** शङ्का-सन्देह को **(विहाय)** छोडकर-निशङ्क होकर- **(स्वम्)** अपने को **(स्वयम्)** स्वभाव से **(अवध्य बोधवपुषम्)** अविनाशी ज्ञानस्वरूप शरीरवान् **(जानन्त.)** जानते हुए **(हि)** निश्चय से **(बोधात्)** सम्यग्ज्ञान से **(न)** नही **(च्यवन्ते)** च्युत होते है।

सं० टीका—**(क्षमन्ते-सहन्ते-समर्थाभवन्तीत्यर्थः)** सहते हैं-समर्थ होते हैं। **(किं कर्तुम्)** क्या करने को ? **(इदम्-वक्ष्यमाण लक्षणं)** जिसका स्वरूप आगे कहा जाने वाला है ऐसे इस **(साहसम्-लक्षणया धैर्यम्)** साहस-लक्षणो से-धैर्य को **(के)** कौन **(सम्यग्दृष्टयः-निश्चय सम्यक्त्वं प्राप्ता)** निश्चय सम्यक्त्व को प्राप्त सम्यग्दृष्टि जीव **(एव-निश्चयेन)** निश्चय से ही **(किम्भूत-साहसम्)** कैसे साहस को **(परम्-उत्कृष्टम्-परं केवलमिति व्याख्येयं वा)** उत्कृष्ट अथवा केवल-सिर्फ **(यत् यस्मात्कारणात्)** जिस कारण से **(अमी-सम्यग्दृष्टय)** ये सम्यग्दृष्टि जीव **(हि-निश्चितं)** निश्चय से **(न च्यवन्ते-न क्षरन्ते)** नही च्युत होते है अर्थात् क्षरण-पतन को प्राप्त नही होते हैं **(कुतः)** किससे **(बोधात्-ज्ञानात्)** ज्ञान से– **(उपलक्षणात्-ध्यान-तपोऽनुष्ठानादे)** उपलक्षण से ध्यान तपश्चरण आदि आत्मसाधक क्रियाओ से **(ज्ञानं मुक्त्वा नान्यत्र वर्तन्ते)** अर्थात् ज्ञान को छोडकर अन्यत्र-अज्ञान मे प्रवृत्ति नही करते है। **(क्वसति)** किसके होने पर **(वज्रे-अशनौ)** वज्र के **(पतति-मूर्ध्निपात कुर्वति सति)** मस्तक पर गिरने पर **(अपि)** भी **(किम्भूते ?)** कैसे वज्र के **(भयेत्यादि -भयेन-तद्घोष-पाताद्युत्थभीत्या–चलत्-स्वस्थानात्इतस्ततः परिलुठत् च तत्त्रैलोक्य च भुवन-त्रयवासी जन , तेन मुक्त त्यक्तः अध्वामार्गः स्थान च यस्मिन् तस्मिन्)** उस वज्र की ध्वनि-पतन आदि से उत्पन्न भीति से अपने स्थान को छोडकर इधर-उधर भागने वाले तीन लोक के प्राणियो द्वारा स्वीकृत मार्ग जिससे छोड दिया गया है ऐसे वज्र के **(किम्भूता अमी)** कैसे ये-सम्यग्दृष्टि **(स्वयम्-स्वेन आत्मना)** अपने द्वारा **(स्वं-आत्मानम्)** अपने को **(जानन्त -निश्चिन्वन्त)** जानने-निश्चय करने वाले **(कीदृक्षं-स्वम्)** कैसी आत्मा को **(अवध्येत्यादिः-अवध्यः न केनापि हन्तुं शक्यते शाश्वत इत्यर्थः स चासौ बोधश्च स एव**

कर्म का वन्ध नही है ऐसा (यदि उपभोगतः कर्म फलानुभवनात्) यदि उपभोग से-कर्मों के फल को अनुभवन करने से (बन्ध -कर्म संश्लेषः) कर्मों का आत्मा के साथ एकत्वरूप सम्बन्ध-संयोग (ते न स्यात्-न भवेत्) तुम्हारे नही होता है (तत्-तर्हि ते तव कामचार कामं चरतीति कामचार.-स्वेच्छाचारः किमस्ति अपि तु नास्ति) तो तुम्हारे स्वेच्छाचार क्या है ? अर्थात् नही है। (हे ज्ञानिन्) हे ज्ञानी तुम (ज्ञान सन्-ज्ञानस्वरूपेण भवन्-सन्) ज्ञानस्वरूप होते हुए (वस-तिष्ठ) वसो-स्थित रहो। (अपरथा-अन्यथा-ज्ञानस्वरूपेण न स्थास्यति चेत्) यदि तुम ज्ञानस्वरूप मे स्थित नही रहोगे (तदा) तव (ध्रुवम्-निश्चितम्) निश्चित ही (बन्घम्-कर्म संश्लेषम्) कर्म सयोग को (एषि-प्राप्नोषि) प्राप्त करोगे (कुत) कैसे (स्वस्य-आत्मनः) अपने (अपराधात्-ज्ञानाभाव लक्षणदोषतः) अपराध से, ज्ञान का अभावरूप दोष से ।

भावार्थ—जो ज्ञानी-स्वपर विवेकी है, उसका कर्तव्य है कि वह शुभ तथा अशुभ कोई भी क्रिया न करे। यदि वह वस्तु स्वरूप का ज्ञाता होकर भी कोई क्रिया करता है तो वह नियम से बन्ध का भागी होता है। क्योकि वस्तु के स्वरूप को जानते हुए भी यदि इच्छा पूर्वक—भोग आदि मे प्रवृत्ति की जायगी तो वह महान् अपराध-दोष होगा। और जहाँ अपराध-दोष है, वहाँ वन्ध से वचना कथमपि सम्भव नही है। कर्मोदय की प्रेरणा से अनिच्छापूर्वक अर्थात् विवश हो—भोगने की चाह न रखते हुए-यदि विषयभोगो मे प्रवृत्ति करना ही पडे तो वह वन्ध का कारण नही होगी।

(अथ कर्म योजन वियोजयति) अव कर्म के योग का वियोग कैसे हो सकता है यह दिखाते हैं--

कर्तारं स्वफलेन यत्किल बलात्कर्मैव नो योजयेत्
कुर्वाणः फललिप्सुरेव हि फलं प्राप्नोति यत्कर्मणः ।
ज्ञानं संस्तदपास्तरागरचनो नो बध्यते कर्मणा
कुर्वाणोऽपि हि कर्म तत्फलपरित्यागैक शीलो मुनिः ॥२०॥

अन्वयार्थ—(यत्) जिस कारण से-निश्चय से (कर्म) कर्म (एव) ही (बलात्) वलपूर्वक-जबरन (स्वफलेन) अपने सुख-दु खरूप-फल से (कर्तारम्) कर्म के करने वाले को (न) नही (योजयेत्) युक्त करता है किन्तु (यत्) कर्म को (कुर्वाणः) करने वाला (एव) ही (फललिप्सु.) कर्म के फल को प्राप्त करने की इच्छा वाला (सन्) होता हुआ (कर्मण·) कर्म के (फलम्) फल-सुख-और दु ख को (प्राप्नोति) प्राप्त करता है (तत्) तिस कारण से (ज्ञानम्) ज्ञान स्वरूप (सन्) होता हुआ (अपास्तरागरचनः) राग की रचना से शून्य (तत्फल परित्यागैकशील·) उन कर्मों के-सुख-दु खरूप—फल को त्यागना ही जिसका एकमात्र स्वभाव है ऐसा (मुनिः) मुनि (कर्म) कर्म को (कुर्वाणः) करता हुआ (अपि) भी (कर्मणा) कर्म से (न) नही (बध्यते) बधता है।

सं० टीका—(किल-इत्यागमोक्तौ) किल यह अव्यय आगमोक्त कथन मे आया है अर्थात् आगम मे कहा है कि (यत्-प्रसिद्धं कर्म) प्रसिद्ध कर्म (बलात्-हठात्) बल-हठ-जवर्दस्ती से (एव-निश्चयेन) निश्चय पूर्वक (स्वफलेन-स्वस्य-स्वकीयस्य-फलेन सुखदु ख रूपेण) अपने सुख-दु खरूप फल से (कर्तारम्·

पुरुषम्) करने वाले पुरुष को **(न योजयेत्-न संयोजयेत्-स्वफलभाजिनं न कुर्यादित्यर्थ)** अपना फलभागी नही करता है **(तर्हि कथं फलं प्राप्नोति ?)** तो फल कैसे प्राप्त करता है ? **(ेति स्फुटं)** हि—यह अव्यय स्फुट अर्थ मे आया है अर्थात् यह बात स्फुट-स्पष्ट है कि **(यत् कर्म-कुर्वाणः—चेक्रीयमाणः सन् पुरुष)** कर्म को वार वार अथवा अतिशयरूप से करने वाला पुरुष **(कर्मण -शुभाशुभप्रकृतेः)** शुभ और अशुभ प्रकृति-रूप कर्म के **(फलं-सुखदुःखरूपम्)** सुख और दु खरूप फल को **(प्राप्नोति-लभते)** प्राप्त करता है **(हेतुर्गभित विशेषणमाह)** यहा हेतु है गर्भ-मध्य मे जिसके ऐसे विशेषण को कहते हैं **(फललिप्सुरेव-फलं कर्मणः सुख-दुःखरूपं फलं लिप्सुः-लब्धुं-प्राप्तुमिच्छुरेव नान्य)** कर्म के सुख-दु ख रूप फल को प्राप्त करने की इच्छा वाला ही दूसरा नही। **(तत्-तस्माद्धेतो)** तिस कारण से **(ज्ञानं-ज्ञानस्वरूपं)** ज्ञानमय **(सन्-भवन्)** होते हुए **(कर्मणा)** कर्म से **(न)** नही **(वध्यते)** बंधता है **(किम्भूतः सन्)** कैसा होता हुआ **(अपास्तेत्यादिः-अपास्ता-निराकृता रागस्य रचना येन सः)** जिसने राग की रचना का निराकरण कर दिया है **(हीति स्फुटम्)** हि-यह अव्यय स्फुट अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है अर्थात् स्फुटरूप से **(कर्म-क्रियाकाण्डम्-ज्ञानावरणादि वा)** क्रिया काण्ड को अथवा ज्ञानावरणादिरूप कर्म को **(कुर्वाणोऽपि वा निर्मापयन्नपि)** करता हुआ अथवा रचता हुआ **(अकुर्वाणस्य का कथा)** क्रियाकाण्ड को नही करने वाले अथवा ज्ञानावरणादि का निर्माण नही करने वाले की तो कथा ही क्या ? **(मुनिः-ज्ञानवान् यतिः)** आत्मेतर स्वरूपज्ञ मुनि **(तदित्यादि·-तेषां कर्मणा फलं अनुभागः तस्य परित्यागे एकं अद्वितीयं शीलं स्वभावो यस्य सः रागद्वेषाभावात्)** राग-द्वेष के होने से कर्मों के फल को त्यागने मे अद्वितीय स्वभाव वाला। (कर्मों से नही बंधता है)

भावार्थ—कर्म तो स्वभावत· जड है अतएव वे किसी जीव को जबरन अपने सुख-दु·खरूप फल से सयुक्त नही करते है। अज्ञानी ही उनके फल स्वरूप प्राप्त हुए पदार्थों के प्रति राग-द्वेष के कारण इष्ट-प्रिय तथा अनिष्ट-अप्रिय कल्पना करके स्वय ही सुखी और दु खी होता रहता है। परन्तु ज्ञानी स्वपर-स्वरूपविवेकी के पर के प्रति न तो राग होता है और न द्वेष ही। ऐसी स्थिति मे वह उदयागत कर्म के फल स्वरूप पर पदार्थों से अपने को सदा जुदा रखता है—अर्थात् उदय की प्रबल प्रेरणा से उनमे अनिच्छा पूर्वक प्रवृत्ति करता है अतएव तन्मय नही होता है इसलिए कर्मों से भी बधता नही है। यही तो ज्ञान और विराग का अचिन्त्य एव अनुपम माहात्म्य है। अज्ञानावस्था मे बधा कर्म उदय मे आता है परन्तु ज्ञानी के उसके फल की चाह नही है। अतः ज्ञानी उसके फल को नही लेता है।

(अथ ज्ञानी न कर्म कुरुते) अब ज्ञानी कर्म नहीं करता यह दिखाते हैं—

त्यक्तं येन फलं स कर्म कुरुते नेति प्रतीमो वयम्
किन्त्वस्यापि कुतोऽपि किञ्चिदपि तत्कर्मावशेनापतेत्।
तस्मिन्नापतिते त्वकंपपरमज्ञानस्वभावे स्थितो
ज्ञानी किं कुरुतेऽथ किं न कुरुते कर्मेति जानाति कः ॥२१॥

अन्वयार्थ—**(येन)** जिसने **(फलम्)** कर्म के सुख-दु खरूप फल को **(त्यक्तम्)** त्याग कर दिया है **(सः)** वह ज्ञानी **(कर्म)** कर्म को **(कुरुते)** करता है **(इति)** ऐसा **(वयम्)** हम **(न)** नही **(प्रतीम.)** प्रतीति करते **(किन्तु)** परन्तु **(अस्य)** इस ज्ञानी के **(अपि)** भी **(कुतः)** कही से **(अपि)** भी **(कदाचित्)** कभी **(अपि)** भी **(तत्)** वह **(कर्म)** कर्म **(अवशेन)** विवशता से-बिना इच्छा के **(आपतेत्)** आ पडता है **(तस्मिन्)** उस के **(आपतिते)** आ पडने पर **(तु)** भी **(अकम्प परम ज्ञानस्वभावे)** निश्चल श्रेष्ठ ज्ञान स्वभाव मे **(स्थित)** स्थित **(ज्ञानी)** विवेकी **(किम्)** किस **(कर्म)** कर्म को **(कुरुते)** करता है **(किम्)** किस **(कर्म)** कर्म को **(न)** नही **(कुरुते)** करता है **(इति)** ऐसा **(कः)** कौन **(जानाति)** जानता है ? अर्थात् **(कोऽपि न जानाति)** कोई भी नही जानता है।

स० टी०—**(इति-एवम्)** ऐसा **(वयं-ज्ञानार्थिमः)** ज्ञानेच्छु हम **(प्रतीमः-प्रतीतिं कुर्मः)** प्रतीति-निश्चय करते हैं **(इति किम्)** ऐसा क्या ? **(येन ज्ञानिना-पुंसा)** जिस ज्ञानी पुरुष के द्वारा **(फल-कर्मानुभाग.)** कर्म के फल का रसानुभव **(त्यक्तम्-ज्ञानभावाद्विमुक्तम्)** ज्ञान भाव से छोडा जा चुका है **(सः-ज्ञानी)** वह ज्ञानी-वस्तुतत्त्वज्ञ **(कर्म-क्रियाकाण्डं-ज्ञानावरणादि वा)** क्रियाकाण्ड को-अथवा ज्ञानावरणादि को **(न कुरुते-न विधत्ते)** नही करता है **(किन्तु विशेषोऽस्ति)** तो भी कुछ विशेषता है **(अस्यापि-ज्ञानिनोऽपि)** ज्ञानी के भी **(कुत्नोऽपि-बहिरभ्यन्तरकारणकलापात्)** बाह्य और अन्तरङ्ग कारण के समूह-बल से **(अवशेन-अनोहितवृत्त्या)** विवशता से—अनिच्छित-वृत्ति-व्यापार से **(तत्-प्रसिद्ध)** वह प्रसिद्ध **(किञ्चिदपि-अनिर्दिष्टम्)** जिसका नाम निर्देश नहीं किया गया है ऐसा कुछ भी कर्म—**(शुभाशुभं-कर्म)** शुभ-सुखदायक और अशुभ दुखदायक कर्म— **(आपतेत्-आगच्छेत्)** आ पडता है-उपस्थित होता है **(तु-पुनः)** फिर **(तस्मिन्-कर्मणि)** उस कर्म के **(आपतिते-उदयागते सति)** उदय मे आने पर **(ज्ञानी-पुमान्)** ज्ञानवान् पुरुष **(तत्परिहारार्थम्)** उसके परिहार-दूर करने के लिए **(किं कर्म-क्रियाकाण्डम्)** किस क्रियाकाण्ड को **(कुरुते-विधत्ते)** करता है **(अथवा किं न कुरुते-किं न विधत्ते)** अथवा किस क्रियाकाण्ड को नही करता है **(इति-एवम्)** ऐसा **(कर्तव्याकर्तव्यम्)** कर्तव्य-करने योग्य और अकर्तव्य-नही करने योग्य को **(कः अपरः पुरुष जानाति वेत्ति)** दूसरा कौन पुरुष जानता है **(तत्स्वरूपस्य ज्ञातुमशक्यत्वात्)** क्योकि उसका स्वरूप जानने मे नही आ सकता है **(किम्भूतो ज्ञानी)** कैसा ज्ञानी ? **(अकम्पेत्यादि.-अकम्पकेनापि चालयितुमशक्यत्वात्-अचलं-परमं-उत्कृष्ट तच्च तज्ज्ञानं च तस्य स्वभावे-स्वरूपे)** किसी के द्वारा न चलाये जा सकने से अकम्प अचल अतएव सर्वोत्कृष्ट ज्ञान के स्वरूप मे **(स्थितः-लय प्राप्तः)** स्थित-लय को प्राप्त—तन्मयता को धारण करने वाला।

भावार्थ—ज्ञानी अपने स्थिर ज्ञान स्वरूप मे लीन रहता है। अतएव कर्म के उदय मे आने पर भी वह उसे जानता तो है, पर उसके द्वारा होने वाले सुख और दु.ख का अनुभवन नही करता है। क्योकि उसके राग-द्वेष का अभाव है। अथवा उसकी परिणति को वही ज्ञानी जानता है। अज्ञानी उसकी परिणति को कैसे जान सकते हैं—यहा ज्ञानी से तात्पर्य आत्मज्ञानी सम्यग्दृष्टि आदि से है। उसी का

प्रकरण यहाँ चल रहा है।

(अथ सम्यग्दृष्टेः साहसं कलयति) अब सम्यग्दृष्टि के साहस का प्रतिपादन करते है—

सम्यग्दृष्टय एव साहसमिदं कर्तुं क्षमन्तेपरम्–
यद्वज्रेऽपि पतत्यमी भयचलत्त्रैलोक्यमुक्ताध्वनि ।
सर्वामेव निसर्गनिर्भयतया शङ्कां विहाय स्वयं–
जानन्तः स्वमवध्यबोधवपुषं बोधाच्च्यवन्ते न हि ॥२२॥

अन्वयार्थः—(**इदम्**) इस (**परम्**) महान् (**साहसम्**) साहस-धैर्य को (**कर्तुम्**) करने मे (**सम्यग्दृष्टयः**) सम्यग्दृष्टि (**एव**) ही (**क्षमन्ते**) समर्थ होते है। (**यत्**) कारण कि (**अमी**) ये सम्यग्दृष्टि महापुरुष (**भयचलत्त्रैलोक्य मुक्ताध्वनि**) भय से चञ्चल अतएव इधर-उधर भागने वाले त्रैलोक्य के प्राणियो द्वारा छोडा गया है मार्ग जिससे ऐसे (**वज्रे**) वज्र के (**पतति**) पडने पर (**अपि**) भी (**निसर्ग निर्भयतया**) स्वाभाविक निर्भीकता से (**सर्वाम्**) सब (**एव**) ही (**शङ्काम्**) शङ्का-सन्देह को (**विहाय**) छोडकर-निशङ्क होकर- (**स्वम्**) अपने को (**स्वयम्**) स्वभाव से (**अवध्य बोधवपुषम्**) अविनाशो ज्ञानस्वरूप शरीरवान् (**जानन्तः**) जानते हुए (**हि**) निश्चय से (**बोधात्**) सम्यग्ज्ञान से (**न**) नही (**च्यवन्ते**) च्युत होते है।

स० टीका—(**क्षमन्ते-सहन्ते-समर्थाभवन्तीत्यर्थः**) सहते हैं–समर्थ होते हैं। (**किं कर्तुम्**) क्या करने को ? (**इदम्-वक्ष्यमाण लक्षणं**) जिसका स्वरूप आगे कहा जाने वाला है ऐसे इस (**साहसम्-लक्षणया धैर्यम्**) साहस-लक्षणो से-धैर्य को (**के**) कौन (**सम्यग्दृष्टयः-निश्चय सम्यक्त्वं प्राप्ता**) निश्चय सम्यक्त्व को प्राप्त सम्यग्दृष्टि जीव (**एव-निश्चयेन**) निश्चय से ही (**किम्भूत-साहसम्**) कैसे साहस को (**परम्-उत्कृष्टम्-पर केवलमिति व्याख्येय वा**) उत्कृष्ट अथवा केवल-सिर्फ (**यत् यस्मात्कारणात्**) जिस कारण से (**अमी-सम्यग्दृष्टय**) ये सम्यग्दृष्टि जीव (**हि-निश्चितं**) निश्चय से (**न च्यवन्ते-न क्षरन्ते**) नही च्युत होते हैं अर्थात् क्षरण-पतन को प्राप्त नही होते हैं (**कुतः**) किससे (**बोधात्-ज्ञानात्**) ज्ञान से– (**उपलक्षणात्-ध्यान-तपोऽनुष्ठानादे**) उपलक्षण से ध्यान तपश्चरण आदि आत्मसाधक क्रियाओ से (**ज्ञान मुक्त्वा नान्यत्र वर्तन्ते**) अर्थात् ज्ञान को छोडकर अन्यत्र-अज्ञान मे प्रवृत्ति नही करते हैं। (**क्वसति**) किसके होने पर (**वज्रे-अशनौ**) वज्र के (**पतति-मूर्ध्निपातं कुर्वति सति**) मस्तक पर गिरने पर (**अपि**) भी (**किम्भूते ?**) कैसे वज्र के (**भयेत्यादि -भयेन-तद्घोष-पाताद्युत्थभीत्या–चलत्-स्वस्थानात्इतस्ततः परिलुठत् च तत्त्रैलोक्यं च भुवन-त्रयवासी जन, तेन मुक्त त्यक्त. अध्वामार्गः स्थानं च यस्मिन् तस्मिन्**) उस वज्र की ध्वनि-पतन आदि से उत्पन्न भीति से अपने स्थान को छोडकर इधर-उधर भागने वाले तीन लोक के प्राणियो द्वारा स्वीकृत मार्ग जिससे छोड दिया गया है ऐसे वज्र के (**किम्भूता अमी**) कैसे ये-सम्यग्दृष्टि (**स्वयम्-स्वेन आत्मना**) अपने द्वारा (**स्वं-आत्मानम्**) अपने को (**जानन्तः-निश्चिन्वन्त**) जानने-निश्चय करने वाले (**कीदृक्ष-स्वम्**) कैसी आत्मा को (**अवध्येत्यादिः-अवध्यः न केनापि हन्तुं शक्यते शाश्वत इत्यर्थः स चासौ बोधश्च स एव**

वपु. शरीरं यस्य तम्) किसी के द्वारा भी हनन करने के योग्य नही अर्थात् अविनाशी वोध ही जिसका एकमात्र शरीर है ऐसी आत्मा को (किं कृत्वा) क्या करके (विहाय-त्यक्त्वा) छोड करके (कान्) किसको (सर्वाम्-समस्ताम्) समस्त (इहलोकादिभवाम) इस लोक आदि मे उत्पन्न होने वाली (एव-निश्चितम्) निश्चित (शङ्का-पराशङ्काम्) पर की आशङ्का को (कया) किससे (नीत्यादि:-निसर्गेण-स्वभावेन निर्भयतया-साध्वसा भावता तया) नैसर्गिक निर्भीकता से।

भावार्थ—जिस वज्र की भयङ्कर आवाज को सुनकर तीन लोक के प्राणी भयभीत हो अपनी रक्षा के हेतु मार्ग को छोडकर इधर-उधर छिपने का प्रयत्न करते हैं उसी आवाज को सुनते हुए भी सम्यग्दृष्टि जीव अपने स्वरूप से जरा भी विचलित नही होते है कारण कि उन्हे अपने आत्मस्वरूप की अविनश्वरता-नित्यता पर पूर्ण भरोसा है। वे जानते हैं—मै अमूर्त, ज्ञानस्वरूप, अखण्ड चैतन्य का पिण्ड हूँ। अजर-अमर हूँ। निरामय और निर्भर हूँ। अतएव इस वज्रपात से मेरी आत्मा का कुछ भी विगाड होना सम्भव नही है। हाँ, यह शरीर जड विनश्वर है। अतएव इसका विनाश हो सकता है इसके विनाश से मेरा कुछ बनता-विडता भी नही है अतएव मै तो पूर्ण निश्शक हूँ, निर्भय हूँ यही मेरा स्वभाव है।

(अथ भयसप्तक निवारणार्थं ज्ञानिन इहलोक परलोक भयमुत्त्रस्यति) अव सात प्रकार के भयो का निवारण करने के हेतु ज्ञानी के इस लोक और परलोक के भय का निरसन करते हैं—

लोकः शाश्वत एक एष सकलव्यक्तो विविक्तात्मन
श्चिल्लोकं स्वयमेव केवलमयं यल्लोकयत्येककः।
लोकोऽयं न तवापरस्तदपरस्तस्यास्ति तद्भीः कुतो
निश्शङ्कः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विन्दति ॥२३॥

अन्वयार्थ—(विविक्तात्मन.) शरीरादि पर पदार्थो से सर्वथा पृथक् आत्मा का (सकलव्यक्त.) सर्व काल मे पृथक् दिखाई देने वाला (एष) यह (शाश्वतः) नित्य स्थाई (लोकः) लोक जगत् (चिन्मयलोकः) चित्स्वरूप (एकः) अद्वितीय (अस्ति) है। (यम्) जिस (लोकम्) लोक को (अयम्) यह (एककः) एक अद्वितीय (चित्) आत्मा (केवलम्) सिर्फ (स्वयमेव) स्वत ही-अपने आप ही (लोकयति) देखता है (हे ज्ञानिन्) हे ज्ञानी (तव) तुम्हारा (अयम्) यह चैतन्यमय (लोक) लोक (अस्ति) है (अपर) इस चैतन्य-स्वरूप लोक से भिन्न (लोकः) लोक (तव न) तेरा नही (अस्ति) है (तस्य) उस आत्मा के (तद्भीः) उस चैतन्य लोक से भिन्न लोक से भय (कुत) कैसे (स्यात्) हो सकता है (न कुतोऽपीत्यर्थः) अर्थात् किसी तरह से भी नही। (सः) वह ज्ञानी (सततं) निरन्तर (स्वयम्) स्वभाव से (निश्शङ्कः) निश्शङ्क निर्भय (सन्) होता हुआ (सदा) निरन्तर (सहजम्) स्वाभाविक (ज्ञानम्) ज्ञान को (विन्दति) अनुभव करता है।

स० टी०—(एष शास्त्रादिना प्रसिद्ध.) यह शास्त्र आदि से प्रसिद्ध (लोकः-श्रेणिघनप्रचयरूपस्त्रि-लोक) श्रेणिघन प्रचयरूप तीन लोक (शाश्वतः-निश्चित) नित्य (अस्ति) है (इतीश्वरकर्तृत्वं निरस्तम्-अवि-नाशित्व च सूचितम) इस कथन से इश्वर कर्तृत्व—लोक का बनाने वाला ईश्वर है—का खण्डन हो जाता

है और लोक का अविनाशीपन भी सूचित होता है अर्थात् लोक अनादिनिधन है यह सिद्ध होता है। (**एकः-अद्वितीयः**) एक अद्वितीय (**अस्ति**) है (**इत्यनेन ब्रह्मणः प्रतिलोमानेकब्रह्माण्ड प्रतिपादनं-प्रत्याख्यातम्**) इससे ब्रह्मा के प्रतिलोम अनेक ब्रह्माण्डो का प्रतिपादन खण्डित होता है (**विविक्तात्मन-सर्वज्ञस्य**) सर्वज्ञ के (**सकलव्यक्तः-समस्तोविशद**) सब का सब विशद-स्पष्ट है (**इत्यनेन तस्य गहनत्वमपास्तम्**) इस कथन से उस लोक की गहनता-अज्ञेयता का खण्डन हो जाता है अर्थात् यह लोक किसी के ज्ञान का विषय नही है इसका खण्डन सामने आ जाता है। (**अय-चित्-ज्ञानम्**) यह चैतन्यमय ज्ञान (**स्वयमेव-स्वभावादेव**) स्वभाव से ही (**यम्**) जिन (**प्रसिद्धं लोकं-भुवनत्रयम्**) प्रसिद्ध तीनो लोको को (**केवलं-परम्**) पर (**लोकयति-पश्यति**) देखता है। (**कीदृक्ष. ?**) कैसा (**एकक.-शरीरदार दरकागाराहारादि निरपेक्ष एक-एव, अयं-प्रत्यक्षः चराचररूपो लोकः-लोकवासी जन', त्रिलोको वा इहलोक इत्यर्थ**) शरीर, स्त्री, पुत्र, गृह, आहार आदि से निरपेक्ष अद्वितीय यह प्रत्यक्ष चराचर-जगमस्थावर रूप लोक, लोकवासी-मनुष्य जन अथवा तीन लोक ही इह लोक कहा जाता है (**अपरः त्वत्तोभिन्नः**) तुम से भिन्न (**तव-ते**) तुम्हारा (**न भवेत्**) नही हो सकता है (**तदपरः-तस्मादिहलोकादपरः परलोक.**) उक्त इह लोक से भिन्न परलोक (**तस्य-आत्मनः**) उस आत्मा के (**नास्ति**) नही है (**तद्भी-ताभ्यामिह परलोकाभ्याम्-भीः-भयम्**) उन दोनो से अर्थात् इहलोक और परलोक से भय (**कुतः-कस्मात्**) कैसे हो सकता है अर्थात् (**न कुतोऽपि**) कैसे भी नही (**तयोरात्मनो भिन्नत्वख्यापनात्**) क्योकि उन दोनो—इहलोक और परलोक को आत्मा से सर्वथा भिन्न कहा गया है (**स ज्ञानी**) वह ज्ञानी (**सदा-नित्यम्**) सर्वथा (**स्वयं-स्वरूपेण**) स्वरूप से (**सहजं-स्वाभाविकम्**) स्वाभाविक (**ज्ञानं-बोधम्**) ज्ञान-बोध को (**विन्दति-जानाति**) जानता है (**सतत-निरन्तरम्**) निरन्तर-हमेशा (**निश्शङ्कः-इहपरलोक भयशङ्कारहितः**) निश्शङ्क—अर्थात् इहलोक और परलोक के भय की शङ्का से रहित होता है (**इति भयद्वयस्य ज्ञानिनो निरासः**) इस तरह से ज्ञानी के इहलोक और परलोक के भय का निराकरण होता है।

भावार्थ—ज्ञानी विचार करता है कि मेरा लोक तो चैतन्यमय है। इससे भिन्न लोक तो मेरा नही है। जो मेरा लोक है उसमे ज्ञान हो ज्ञान भरा हुआ है। उसमे भय के लिए जरा-सा भी स्थान नही है। अतएव मैं तो निर्भय हो अपने ज्ञानलोक मे ही विचरण करूँगा। ज्ञान से भिन्न लोक के साथ मेरा कोई सम्बन्ध भी नही है अतएव मैं उससे क्यो डरूँ। इस तरह मे ज्ञानी के इस लोक और परलोक का भय नही होता है।

(अथ वेदनाभय बध्नाति) अब वेदना के भय का निषेध करते हैं—

एषैकैव हि वेदना यदचलं ज्ञानं स्वयं वेद्यते
निर्भेदोदित वेद्यवेदकबलादेकं सदाऽनाकुलैः।
नैवान्यागतवेदनैव हि भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो
निश्शङ्कः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदाविन्दति ॥२४॥

अन्वयार्थ—**(अनाकुलैः)** आकुलता रहित ज्ञानी सम्यग्दृष्टि पुरुषो द्वारा **(सदा)** सर्वदा-हमेशा **(निर्भेदोदितवेद्यवेदक बलात्)** अभिन्नरूप से उदय को प्राप्त हुए वेद्य वेदक के बल से **(यत्)** जो **(एकम्)** एक-अद्वितीय **(अचलम्)** अचल-अविनाशी **(ज्ञानम्)** ज्ञान **(स्वयम्)** स्वभाव से **(वेद्यते)** वेदा जाता है अर्थात् अनुभवन किया जाता है **(हि)** निश्चय से **(एषा)** यह **(एका)** एक **(एव)** ही **(वेदना)** वेदना-ज्ञान वेदना **(अस्ति)** है। **(अन्या)** इससे भिन्न दूसरी **(आगत वेदना)** पुद्गलादि परद्रव्य से प्राप्त हुई वेदना **(एव)** नियम से **(न)** नही **(अस्ति)** है। **(हि)** निश्चय से **(ज्ञानिनः)** ज्ञानी के **(तद्भी)** उस अन्यागत वेदना का भय **(कुत)** कैसे **(भवेत्)** हो सकता है अर्थात् **(न कुतोऽपि)** कैसे भी नही। अतएव **(सः)** वह ज्ञानी **(निश्शङ्कः सन्)** निश्शङ्क-निर्भय होता हुआ **(एव)** ही **(सततम्)** सदा-निरन्तर **(सहजम्)** स्वाभाविक **(ज्ञानम्)** ज्ञान को **(एव)** ही **(सदा)** हमेशा **(स्वयम्)** स्वभाव से **(विन्दति)** वेदन करता है। अनुभवन करता है।

स० टीका—**(यत्-प्रसिद्धम्)** जो प्रसिद्ध **(ज्ञानम्)** ज्ञान **(स्वयम्)** स्वयम् स्वभाव से **(वेद्यते-ज्ञायते)** जाना जाता है **(कैः?)** किनसे? **(अनाकुलैः-आकुलतारहितैः-ज्ञानिभि)** आकुलता रहित ज्ञानियो से **(एषा-प्रसिद्धा)** यह प्रसिद्ध **(एका-अद्वितीया)** अद्वितीय **(वेदना-वेद्यते-ज्ञायते-आत्मा-अनया इति वेदना आत्मानुभवं एव नान्या)** वेदना—जिसके द्वारा आत्मा जाना जाता है अर्थात् आत्मा का अनुभव होता है वही वेदना कहाती है अन्य नही। **(किम्भूतम्)** कैसा ज्ञान **(अचलम्-निश्चलम्)** निश्चल-अविनाशी **(पुन.-कीदृक्षम्?)** फिर कैसा **(एकं-द्रव्यार्पणात्)** द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से एक अद्वितीय—**(तत्कुतः)** वह कैसे **(निरित्यादि-वेद्यते ज्ञायते इति वेद्यं-स्वरूपं वेदयतीति वेदकः-आत्माद्वन्द्व, निर्भेदेन यो वेद्यः स एव वदक.-इत्येकत्वेन उदितौ-उदय प्राप्तौ वेद्यवेदकौ तयोर्बलं तस्मात)** जो जाना जाय वह वेद्य—और जो जाने वह वेदक अर्थात् आत्मा, वेद्य और वेदक मे अभेद सम्बन्ध होने से जो वेद्य है वही वेदक है अतएव एकत्वरूप से उदय को प्राप्त हुए वेद्य वेदक के बल से **(हि-स्फुटम्)** निश्चय से—स्फुट-स्पष्टरूप से **(अन्या-आत्मन. सकाशात्)** आत्मा के सम्बन्ध से भिन्न **(एव-निश्चयेन)** एव-निश्चय से **(आगतवेदना-पुद्गलादागतवेदना रोगः)** पुद्गल से आई हुई वेदना—अर्थात् रोग **(न भवेत् आत्मनोभिन्नत्वादेव)** नही हो सकता हैक्योकि वह आत्मा से बिलकुल ही जुदा है **(ज्ञानिनः-पुस)** ज्ञानी पुरुष के **(तद्भी-वेदनाभयम्)** वेदना-भय **(कुत)** कहा से हो सकता है **(न कुतोऽपि)** अर्थात् कही से भी नही **(तुर्यचरण-पूर्ववत्)** चौथा चरण का अर्थ पहले के समान जानना चाहिए।

भावार्थ—व्यवहार दृष्टि से वेदना का अर्थ पुण्य और पाप कर्म के उदय से प्राप्त हुई भोगोपभोग की सामग्री के निमित्त से सुख और दु ख का भोगना-अनुभव करना है। परन्तु निश्चय दृष्टि से वेदना का अर्थ आत्मस्वरूप का अनुभव करना है। यहा निश्चय दृष्टि की मुख्यता से वेदना का अर्थ आत्मस्वरूप का वेदन करना ही विवक्षित है क्योकि सम्यग्दृष्टि स्वभाववेदी ही होता है परभाववेदी नही। अत सम्यग्दृष्टि आत्मज्ञानी के परपदार्थों के निमित्त से होने वाली सुख-दु खरूप वेदना का भय नही होता है

क्योकि वह ज्ञान स्वभाव से नित्य निराकुल है।

(अथात्राणभयं निरस्यति) अब अत्राण भय का निरसन करते है—

यत्सन्नाशमुपैति तन्न नियतं व्यक्तेतिवस्तुस्थितिः
ज्ञानं सत्स्वयमेव तत्किल ततस्त्रातं किमस्यापरैः।
अस्यात्राणमतो न किञ्चन भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो
निश्शंकः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विन्दति ॥२५॥

अन्वयार्थ—(**यत्**) जो वस्तु (**सत्**) सत्–उत्पाद व्यय और ध्रौव्ययुक्त (**अस्ति**) है। (**तत्**) वह वस्तु (**नियतम्**) नियम से (**नाशम्**) नाश को (**न**) नही (**उपैति**) प्राप्त करती (**इति**) ऐसी (**वस्तु-स्थितिः**) पदार्थ की मर्यादा (**व्यक्ता**) स्पष्ट है (**तत्**) वह (**ज्ञानम्**) ज्ञान (**स्वयम्**) स्वभाव से (**एव**) ही (**सत्**) सत्—सत्तात्मक वस्तु है (**ततः**) तिस कारण से (**अस्य**) इस सत्स्वरूप ज्ञान का (**अपरैः**) दूसरो के द्वारा (**त्रातम्**) रक्षण (**किम्**) क्या है अर्थात् कुछ भी नही है। (**अतः**) इसलिए (**अस्य**) इस ज्ञान का (**किल**) निश्चय से (**किञ्चन**) किञ्चित-जरा सा (**अत्राणम्**) अरक्षण-विनाश (**न**) नही (**भवेत्**) हो सकता है (**तत्**) तिस कारण से (**तद्भीः**) ज्ञान की अरक्षा का भय (**ज्ञानिन**) ज्ञानवान् सम्यग्दृष्टि के (**कुतः**) कैसे-कहा से (**भवेत्**) हो सकता है अर्थात् (**कुतोऽपि न**) कही से भी नही। (**स**) वह ज्ञानी (**सततम्**) निरन्तर (**निश्शङ्क सन्**) निर्भय होता हुआ (**स्वयम्**) स्वयम से (**सदा**) सर्वदा-हमेशा (**सहजम्**) सहज (**ज्ञानम्**) ज्ञान को (**विन्दति**) वेदन-अनुभवन करता है।

सं० टीका—(**इति-अमुनाप्रकारेण**) इस प्रकार से (**वस्तुस्थिति-वस्तुव्यवस्था**) वस्तु व्यवस्था—पदार्थ की मर्यादा (**व्यक्ता-स्पष्टा**) स्पष्ट (अस्ति) है (**इति किम्**) इति-यह-किम्-कैसे (**यत्-वस्तु सत्-द्रव्यरूपेण सत्ताप्रतिबद्धम्, तत्-वस्तु**) जो वस्तु-सत्-द्रव्यरूप से सत्ता से युक्त है वह वस्तु (**नियतम्-निश्चितम्**) निश्चितरूप से (**नाशं-विनाशम्**) विनाश को (**न उपैति-न प्राप्नोति**) नही प्राप्त करती है (**द्रव्यार्पणया वस्तुनो नित्यत्वाभ्युपगमात्**) क्योकि द्रव्यार्थिक नय की विवक्षा से वस्तु को नित्य स्वीकार किया गया है। (**प्रसिद्धं ज्ञानम्**) प्रसिद्ध ज्ञान (**स्वयमेव-स्वरूपतएव-स्वस्वरूपचतुष्टयापक्षयैव न तु परचतुष्टयापेक्षया**) स्वरूप से ही अर्थात् अपने स्वरूप चतुष्टय की अपेक्षा से ही पर के स्वरूप के चतुष्टय की अपेक्षा से नही (**सत्-सत्स्वरूपम्-विद्यमानम्**) सत् स्वरूप अर्थात् विद्यमान (**किल-अहो**) अहो (**ततः-स्वरूपेणास्तित्वात्**) अपने स्वरूप से विद्यमान रहने के कारण (**अपरैः कौक्षेयक कुन्तमुद्गराश्वगज पदाति स्वजनादिभि पुद्गलपर्यायै**) पुद्गल स्वरूप तलवार, भाला, मुद्गर, घोडा, हाथी, पैदल चलने वाले तथा कुटुम्बी आदियो से (**अस्य-ज्ञानस्य**) इस ज्ञान का (**किम्**) क्या (**त्रातम्-त्राणम्**) त्राण (**किं रक्षणम्—न किमापीत्यर्थ**) क्या रक्षण अर्थात् कुछ भी नही। (**अतः-कारणात्**) इस कारण से (**अस्यज्ञा-नस्य**) इस ज्ञान का (**किञ्चन-किमपि**) कुछ भी (**अत्राणं-कुतोऽपि रक्षणं न भवेत्**) अत्राण-अरक्षण-विनाश

कही से भी नही हो सकता है। **(ज्ञानिनः)** ज्ञानी के **(तद्भी-अत्राणभयम्)** अत्राण-अरक्षा का भय **(कुतः)** कहा से हो सकता है **(न कुतोऽपि)** अर्थात् कही से भी नही। **(शेषं पूर्ववत्)** शेष पहले के समान समझना चाहिए।

भावार्थ—जो पदार्थ सत्स्वरूप-उत्पादव्यय और ध्रौव्य से सहित है। उसका द्रव्यत कभी नाश नही होता है। उत्पाद –नवीन पर्याय की उत्पत्ति तथा व्यय-पूर्व पर्याय का विनाश अवश्य ही होता है क्योकि यह वस्तु का स्वभाव है। कूटस्थ नित्य कोई वस्तु नही है। ज्ञान भी वस्तु है। अतएव वह भी सत्तात्मक है। जो सत्ता स्वरूप है उसका विनाश सर्वथा असम्भव है। ऐसी स्थिति मे ज्ञान के अत्राण की आशका होना अस्वाभाविक है अतएव सम्यग्दृष्टि के अत्राण-अरक्षा का भय स्वभाव से नही होता है, क्योकि ज्ञानी अपने को ज्ञानस्वरूपी जानता है।

(अथास्यागुप्तिभयं गोपयति) अब ज्ञानी के अगुप्ति भय का अभाव दिखाते हैं—

स्वं रूपं किल वस्तुनोऽस्ति परमागुप्तिः स्वरूपेण य-
च्छक्तः कोऽपि परः प्रवेष्टुमकृतं ज्ञानं स्वरूपञ्च नुः।
अस्यागुप्तिरतो न काचन भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो
निश्शङ्कः सततं स्वयं स सहज ज्ञानं सदा विन्दति ॥२६॥

अन्वयार्थ—**(किल)** निश्चय से आगमानुसार **(वस्तुनः)** वस्तु-पदार्थ का **(स्वम्)** अपना **(रूपम्)** स्वरूप **(परमा)** सर्वोपरि-सर्वोत्तम **(गुप्ति)** गुप्ति सुरक्षा **(अस्ति)** है। **(यत्)** कारण कि **(स्वरूपे)** आत्मा के स्वभावभूत ज्ञान मे **(परः)** दूसरा-पुद्गल आदि **(कोऽपि)** कोई भी पदार्थ **(प्रवेष्टुं)** प्रवेश करने मे **(शक्तः)** समर्थ **(न)** नही **(स्यात्)** हो सकता। **(नुः)** आत्मा का **(ज्ञानम्)** ज्ञान **(अकृतम्)** स्वाभाविक **(स्वरूपम्)** स्वरूप **(अस्ति)** है **(अतः)** इसलिए **(अस्य)** इस ज्ञानी के **(काचन)** कोई **(अगुप्तिः)** अरक्षा **(न)** नही **(अस्ति)** है अतएव **(ज्ञानिनः)** ज्ञानी सम्यग्दृष्टि के **(तद्भीः)** अरक्षा अगुप्ति का भय **(कुतः)** कैसे–कहाँ से **(भवेत्)** हो सकता है? अर्थात कही से भी नही। **(स)** वह ज्ञानी **(सततम्)** निरन्तर **(निश्शङ्कः)** निश्शङ्क **(सन्)** होता हुआ **(सदा)** सर्वदा **(सहजम्)** स्वाभाविक **(ज्ञानम्)** ज्ञान को **(विन्दति)** प्राप्त करता है अर्थात् ज्ञान मे ही लीन रहता है।

सं० टी०—**(किल-इत्यागमौक्तौ)** किल–यह अव्यय आगमोक्ति मे आया है अर्थात् आगम के कथनानुसार **(वस्तुनः-आत्मादि द्रव्यस्य)** वस्तु-आत्मा आदि-द्रव्य का **(यत्)** जो **(स्वम्-आत्मीयम्)** स्वकीय अपना **(रूपम्-स्वरूपम्)** स्वरूप **(अस्ति-विद्यते)** है **(सा-परमा)** वह श्रेष्ठ **(निस्सीमा)** सीमा रहित अर्थात् अनन्त **(गुप्तिः-गोपनम्-स्वरूपान्तरेणगोपनाभावात्)** गुप्ति है क्योकि स्वरूपान्तर से किसी वस्तु की सुरक्षा सम्भव नही है। **(कोऽपि-कश्चिदपि)** कोई भी **(परः पुद्गलादिः)** पर-पुद्गल आदि परपदार्थ **(प्रवेष्टुम्-ज्ञानस्वरूपे प्रवेशं कर्तुम्)** ज्ञानस्वरूप मे प्रवेश करने के लिए **(शक्त-समर्थः)** समर्थ है **(अपि तु**

न समर्थः) किन्तु समर्थ नही है। **(स्वरूपे स्वरूपान्तरस्य प्रवेशाभावात्)** क्योकि स्वरूप मे अन्य स्वरूप का प्रवेश नही होता है। **(च-पुन)** और **(ज्ञानम्)** ज्ञान **(नुः-आत्मन)** आत्मा का **(अकृतम्-स्वाभाविकं-)** स्वाभाविक अनादिनिधन **(स्वरूपं-स्वभावः)** स्वभाव है। **(स्वरूपं द्वेधा-कृतमकृतं च)** स्वरूप दो प्रकार का है—एक कृत और एक अकृत **(कृतं-तावन्मति ज्ञानादि स्वरूपमात्मन. दण्डी देवदत्त इत्यादिवत्-पुद्गलादिभिः क्रियमाणत्वात्)** कृत बनावटी तो मतिज्ञान आदि स्वरूप है क्योकि वह आत्मा मे पुद्गलादि के द्वारा किया जाता है जैसे दण्ड के सम्बन्ध से देवदत्त को दण्डी कहा जाता है इत्यादि लोक व्यवहार की तरह। **(अकृतं-ज्ञानसामान्यम्)** और अकृत-नैसर्गिक-स्वभाव आत्मा का ज्ञान सामान्य है। **(अग्नेरौष्ण्यं च)** और अग्नि का स्वाभाविक स्वभाव उष्णता। **(अत -कारणात्)** इस कारण से **(अस्य आत्मन.)** इस आत्मा के **(काचन-काऽपि)** कोई भी **(निर्दिष्टा वा)** अथवा निर्दिष्ट **(अगुप्तिः-अगोपनम्)** अगुप्ति-असुरक्षा **(न भवेत्)** नही हो सकती **(तद्गोपकस्य चिद्भावात्)** क्योकि आत्मा का रक्षक चिद्भाव-ज्ञान है **(तद्भीः-तस्या अगुप्ते. भीः भयम्)** उसके अगुप्ति का भय **(कुतः)** कहाँ से हो सकता है **(न कुतोऽपि)** अर्थात् कही से भी नही। **(शेषं पूर्ववत्)** बाकी के पदो का अर्थ पूर्व के समान लगा लेना चाहिए।

भावार्थ -आत्मा के ज्ञान स्वभाव मे किसी का प्रवेश नही है चाहे वह कृत्रिम-कर्मकृत हो और चाहे अकृत्रिम-स्वाभाविक हो। वस्तुत स्वभाव तो परनिरपेक्ष हो होता है क्योकि वह वस्तुगत धर्म है लेकिन टीकाकार ने परोपाधिजन्य मतिज्ञानादि को कृत्रिम स्वभाव स्वीकार किया है उसका कारण व्यवहार दृष्टि ही है निश्चयदृष्टि नही। निश्चयदृष्टि मे तो अभेद ही है और जो अभेद स्वरूप है वही वास्तविक स्वभाव है उसमे अन्य का परमाणु के प्रमाण भी प्रवेश नही है न था और न होगा यही वस्तु की वस्तुता है। अत ज्ञानी अपने विषय मे पूर्णरूपेण नि शङ्क ही है उसे अगुप्ति की जरा सी भी अशङ्का नही है। इस प्रकार से सम्यग्दृष्टि ज्ञानी के अगुप्ति भय भी नही होता है।

(अथ ज्ञानिनो मरण भयं हरति) अब ज्ञानी के मरण के भय का परिहार करते हैं—

प्राणोच्छेदमुदाहरन्ति मरणं प्राणाः किलास्यात्मनो
ज्ञानं तत्स्वयमेव शास्वततया नोच्छिद्यते जातुचित्।
तस्यातो मरणं न किञ्चन भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो
निश्शङ्कः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विन्दति ॥२७॥

अन्वयार्थ—**(प्राणोच्छेदम्)** इन्द्रिय आदि प्राणो के उच्छेद-विनाश को लोग **(मरणम्)** मरण **(उदाहरन्ति)** कहते हैं **(किल)** निश्चय से **(अस्य** इस **(आत्मनः)** आत्मा का **(प्राणा)** प्राण **(ज्ञानम्)** ज्ञान **(अस्ति)** है **(तत्)** वह ज्ञान **(स्वयमेव)** स्वभाव से ही **(शाश्वततया)** शाश्वत-नित्य होने के कारण **(जातुचित्)** कभी **(नोच्छिद्यते)** नही नष्ट होता है **(अत.)** इसलिए **(तस्य)** उस आत्मा का **(किञ्चन)** कोई **(मरणम्)** मरण **(न)** नही **(भवेत्)** होता है अतएव **(ज्ञानिनः)** ज्ञानी के **(तद्भी.)** उस मरण का भय **(कुत.)** कहाँ से **(भवेत्)** हो सकता है **(कुतोऽपि न)** अर्थात् कही से भी नही। **(स)** वह ज्ञानी **(सततम्)** निरन्तर **(निश्शङ्क)** निश्शङ्क

(सन्) होता हुआ (सदा) हमेशा (सहजम्) स्वाभाविक (ज्ञानम्) ज्ञान का (विन्दति) अनुभव करता है।

सं० टीका—(प्राणोच्छेदं-पंचेन्द्रिय मनोवचनकायोच्छ्वासायुर्लक्षणां-उच्छेदं-विनाशम्) पांच इन्द्रिय प्राण और मनोबल, वचनबल तथा कायबल रूप तीन बलप्राण आयु औ श्वासोच्छ्वास स्वरूप प्राणो के विनाश को (मरणम्-पञ्चत्वम्) मरण (उदाहरन्ति-प्रतिपादयन्ति-पूर्ववृद्धा आबालगोपालादयश्च) पुराने बूढे और बालगोपाल आदि सभी कहते हैं (अस्यात्मनः-चिद्रूपस्य) इस चैतन्य स्वरूप आत्मा के (किल-निश्चितम्) निश्चय से (सत्तादिप्राणत्रयाहारकः किलशब्दः) यह किल शब्द सत्ता अवबोध आदि तीनो प्राणों को सूचित करता है (ज्ञान-बोधः) ज्ञान-बोध (प्राणाः-असव) प्राण (तत् ज्ञानम्) वह ज्ञान (स्वयमेव-स्वरूपेणैव) स्वरूप से ही (जातुचित्-कदाचिदपि-कालत्रयेऽपि) कभी भी अर्थात् तीन काल मे भी (नोच्छिद्यते-नोच्छेदं याति-द्रव्यार्पणया न विनश्यन्तीत्यर्थं) अर्थात् द्रव्यार्थिक नय की विवक्षा से नही नष्ट होते हैं (कया-) किससे– (शाश्वततया-नित्यत्वात्) नित्य होने से (अत.-कारणात्) इस कारण से (तस्य-आत्मनः) उस आत्मा के (किञ्चन-किमपि) कोई भी (मरणं-प्राणोच्छेदम्) मरण-प्राणो का विनाश (न भवेत्) नही होता है (ज्ञान लक्षणानां प्राणानामुच्छेदाभावात्) क्योकि ज्ञान स्वरूप प्राणो का विनाश नही होता है (ज्ञानिनः-पुंस.) ज्ञानी पुरुष के (तद्भीः-मरणभयम्) मरण का भय (कुत.) कहाँ से हो (न कुतोऽपि) अर्थात् कही से भी नही (शेषं पूर्ववत्) बाकी के पदो का अर्थ पहले के समान समझना चाहिए।

भावार्थ—व्यवहारीजन इन्द्रिय आदि प्राणो के वियोग को मरण कहते हैं पर इन्द्रिय आदि प्राण-आत्मा के न होकर पुद्गल के है क्योकि उनकी रचना पुद्गलकृत है अतएव वे जड हैं अचेतन हैं विनश्वर हैं। और आत्मा के प्राण ज्ञान स्वरूप हैं जो नित्य हैं चेतनामय हैं और अनाद्यनन्त हैं। यह निश्चय दृष्टि है जो यथार्थ वस्तुतल को स्पर्श करती है। इस दृष्टि से आत्मा का मरण सर्वथा असम्भव ही है अतएव ज्ञानी को मरण का भय नही होता है क्योकि वह चेतना के स्तर पर खडा है। अत वह तो निर्भय रहता हुआ ही अपने स्वभावभूत ज्ञान मे निमग्न रहता है इस तरह से ज्ञानी के मरण का भय भी नही है ॥२७॥

(अथाकस्मिकभयं कुन्थति) अब आकस्मिक भय का निषेध करते हैं—

एकं ज्ञानमनाद्यनंतमचलं सिद्धं किलैतत्स्वतो-
यावत्तावदिदं सदैव हि भवेन्नात्र द्वितीयोदयः।
तन्नाकस्मिकमत्र किञ्चन भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिन-
निश्शङ्कः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विन्दति ॥२८॥

(एतत्) यह (ज्ञानम्) ज्ञान (एकम्) एक (अनाद्यनन्तम्) अनादि और अनन्त (अचलम्)
...म्) सिद्ध (अस्ति) है। (किल) निश्चय से (इदम्) यह ज्ञान (यावत्)
...व तक (इदम्) यह ज्ञान (सदैव) सदा वही (अस्ति) है। (हि) निश्चय
...) द्वितीय पदार्थ का उदय (न) नही (भवेत्) हो सकता है। (तत्)
...) अकस्मात् होने वाला (किञ्चन) कुछ (न) नही

(**भवेत्**) हो सकता है अतएव (**ज्ञानिन**) ज्ञानी के (**तद्भीः**) अकस्मात् भय (**कुत**) कहाँ से (**भवेत्**) हो सकता है अर्थात् कही से भी नही। इसलिए (**सः**) वह ज्ञानी (**सततम्**) हमेशा (**निश्शङ्कः**) निश्शङ्क-निर्भय (**सन्**) होता हुआ (**स्वयम्**) स्वभाव से (**सहजम्**) स्वाभाविक (**ज्ञानम्**) ज्ञान को (**सदा**) हमेशा (**विन्दति**) अनुभव मे लाता है।

स० टी०—(**किल इत्यागमोक्तौ**) किल यह अव्यय आगम के कथन मे आया है अर्थात् आगम के कहे अनुसार (**यावत्पर्यन्तम्**) जब तक (**तत्-प्रसिद्धम्**) यह-प्रसिद्ध (**एकं-कर्मादिद्वितीयरहितम्**) कर्म आदि दूसरे पदार्थ से शून्य (**ज्ञान-बोधः**) ज्ञान (**स्वत-स्वभावेन**) स्वभाव से (**सिद्धम्-निष्पन्नम्-कृतकृत्य च**) सिद्ध-निष्पन्न और कृतकृत्य (**किम्भूतम्**) कैसा (**अनाद्यनन्तम्-उत्पत्तिविनाशरहितम्**) उत्पत्ति और विनाश से रहित (**अचलम्-अक्षोभ्यम्**) निश्चल अर्थात् क्षोभ रहित (**हि-स्फुटम्**) स्फुटरूप से है (**तावत्पर्यन्तम्**) तब तक (**इदं-ज्ञानम्**) यह ज्ञान (**सदैव-अविच्छिन्नम्**) विच्छेद रहित अर्थात् सर्वदा (**भवेत्**) है। (**अत्र-ज्ञाने**) इस ज्ञान मे (**द्वितीयोदयः–सहसा द्वितीयस्य द्रव्यभवनायतनाहिदर्शनादि पौद्गलिकस्योदयः**) अकस्मात्-अचानक अतर्कितोपनत किसी दूसरे पौद्गलिक द्रव्य, क्षेत्र और सर्प दर्शन आदि का उदय (**न**) नही (**भवेत्**) हो सकता है (**तत्-तस्मात् कारणात्**) तिस कारण से (**अत्र-आत्मनि**) इस ज्ञानस्वरूप आत्मा मे (**किंचन-किमपि**) कुछ भी-कोई भी (**आकस्मिकं-अकस्मात्सहसा भवम्-आकस्मिकम्**) आकस्मिक-सहसा होने वाला (**भयम्**) भय (**न**) नही (**भवेत्**) होता है (**ज्ञानिन-पुंस**) ज्ञानी पुरुष के (**तद्भीः-तस्य-आकस्मिकस्य भीः भयम्**) उस आकस्मिक का भय (**कुतः-**) कहाँ से हो सकता है (**न कुतोपि**) अर्थात् कही से भी नही। (**स-ज्ञानी**) वह ज्ञानी (**निश्शङ्क-सप्तभयशकारहितः**) सातो भयो की शङ्का से रहित (**सन्**) होता हुआ (**सततम्-नित्यम्**) हमेशा (**सहजम्-स्वाभाविकम्**) स्वाभाविक (**ज्ञानम्**) ज्ञान को (**सदा-नित्यम्**) नित्य-निरन्तर (**विन्दति-जानाति**) जानता है अर्थात् ज्ञानमय रहता है। (**इति ज्ञानिनः**) इस प्रकार से ज्ञानी के (**इह परलोक वेदनाऽत्राणागुप्तिमरणाकस्मिकभयसप्तकाभावात्-सदानिर्जरैव**) इहलोक भय, परलोक भय, वेदना भय, अत्राणभय, अगुप्तिभय, मरणभय और आकस्मिकभय ये सात भय न होने से सर्वदा कर्मों की निर्जरा ही होती है ॥२८॥

भावार्थ– जो आज तक न तो देखने मे आया न सुनने मे आया और न अनुभव ही मे आया ऐसा विलक्षण भय ही आकस्मिक भय कहा जाता है। यह आकस्मिक भय एक मात्र पुद्गलकृत ही होता है और पुद्गल का एक अणु भी आत्मा मे नही आ सकता है ऐसा निष्कम्प-अचल सुदृढ श्रद्धान सम्यग्दृष्टि के होता ही है। अतएव ज्ञानी सम्यग्दृष्टि आकस्मिक भय से भी शून्य ही रहता है। शरीर के स्तर पर सभी प्रकार के भय रहते है चाहे कोई भी हो। क्योकि वह नाशवान है परन्तु चेतना के स्तर पर कोई भय हो ही नही सकता। ज्ञानी चेतना के स्तर पर खडा है। अत सातो भयो का अभाव सर्वथा सम्यग्दृष्टि के स्वभाव ही से सिद्ध है।

(अथ सम्यग्दृष्टेर्निर्जराप्रकारं प्रणीते-प्रणयति) अव सम्यग्दृष्टि के निर्जरा का प्रकार-क्रम-प्रंकट करते हैं—

टङ्कोत्कीर्णस्वरसनिचितः ज्ञानसर्वस्वभाजः
सम्यग्दृष्टेर्यदिह सकलं घ्नन्ति लक्ष्माणि कर्म ।
तत्तस्यास्मिन्पुनरपि मनाक्कर्मणो नास्तिबन्धः
पूर्वोपात्तं तदनुभवतो निश्चितं निर्जरैव ॥२६॥

अन्वयार्थ—(यत्) जिस कारण से (टंकोत्कोर्णस्वरस निश्चित ज्ञान सर्वस्व भाज.) टङ्कोत्कीर्ण—टाकी से खोदे हुए के समान अविचल आत्मिक रस-आनन्द से परिपूर्ण-ओतप्रोत ज्ञान की परिपूर्णता को धारण करने वाले—अर्थात् स्वभावगत अनन्त ज्ञान को श्रद्धा मे लाने वाले (सम्यग्दृष्टेः) सम्यग्दृष्टि-आत्मश्रद्धानी-महापुरुप के (लक्ष्माणि) निशङ्कितत्व आदि आठ चिह्न (इह) इस लोक मे (सकलम्) समस्त (कर्म) कर्मों को (घ्नन्ति) नाश करते हैं (तत्- तिस कारण से तस्य उस ज्ञानी सम्यग्दृष्टि के (पुन) फिर से (अस्मिन्) कर्म का उदय होने पर (अपि) भी (पुन.) फिर (मनाक्) जरा (कर्मणः) कर्म का (बन्ध.) वन्ध अर्थात् कर्मों का नवीन वन्ध (न) नही (अस्ति) होता है। (पूर्वोपात्तम्) पूर्वोपार्जित (तद्) उस कर्म को (अनुभवत·) अनुभव करने वाले-कर्म के फल को भोगने वाले (सम्यग्दृष्टे.) सम्यग्दृष्टि के (निश्चितम्· निश्चित रूप से (निर्जरा) उस कर्म की निर्जरा (एव) ही (भवति) होती है।

सं० टी० —(यत्-यस्मात्कारणात्) जिस कारण से (इह-जगति) इस जगत् मे (घ्नन्ति-विनाशयन्ति) विनाश करते हैं (किम्) किसे (सकलं-समस्तम्) सव (कर्म-मिथ्यात्वादि) मिथ्यात्व आदि कर्म को (कानि) कौन (लक्ष्माणि-चिह्नानि-सवेगनिर्वेदनिन्दागर्होपशमभक्तिवात्सल्यानुकम्पालक्षणानि-निश्शकितादीनि वा) सवेग, निर्वेद, निन्दा, गर्हा, उपशम, भक्ति, वात्सल्य और अनुकम्पा स्वरूप अथवा निशङ्कितत्व आदि रूप चिह्न (कस्य) किसके (सम्यग्दृष्टे·-निश्चयसम्यक्त्वधारिण.) निश्चय सम्यग्दर्शन को धारण करने वाले ज्ञानी के (किंभूतस्य) कैसे (टंकोदित्यादिः-टंकोत्कीर्णश्चासौ स्वश्च आत्मा तस्य रसः अनुभवः तेन निचित युक्त तच्च-तज्ज्ञान च तस्य सर्वस्व-साकल्यं भजति सेवते इति टकोत्कीर्णस्वरसनिचितज्ञान-सर्वस्वभाक् तस्य) स्वाभाविक आत्मिक-अनुभवरूप रस से सहित-परिपूर्ण ज्ञान स्वभाव को सेवन करने वाले (तत्-तस्मात्कारणात्) तिस कारण से (कर्मघातनादनन्तरम्) अर्थात् कर्मों का घात कर चुकने के पश्चात् (तस्य-ज्ञानिन) उस ज्ञानी के (पुन -भूयः) फिर (अस्मिन्-पूर्वोक्त स्वरूपे) पुर्व मे कहे हुए ज्ञान स्वरूप मे (मनागपि-एकाशेनापि) एक अशरूप से भी (कर्मण.) कर्म का (बन्ध·-सश्लेषः) वन्ध-एक क्षेत्राव-गाह रूप सम्बन्ध (नास्ति-न विद्यते) नही होता है (तत्-कर्म) उस कर्म को (पूर्वोपात्तम्-पूर्वं सम्यग्दृष्टेः-प्राक्-उपात्त वद्धं च) जो सम्यग्दर्शन होने के पहले बाधा हुआ था (अनुभवत.-सुखदुःखादिरूपेणानुभुजत) सुख और दुख के रूप मे भोगने पर (निश्चितम्-नियमेन) नियम से (निर्जरैव-खलु निर्जरा --भवत्येव कर्मणाम्) कर्मों की निर्जरा होती है।

भावार्थ – दर्शन मोहनीय कर्म आदि कर्म प्रकृतियो का नाश करने वाले सम्यग्दृष्टि जीव के पुनः उन प्रकृतियो का बन्ध नही होता है यह तो निश्चित ही है साथ ही सम्यग्दर्शन प्रकट होने के पहले अर्थात् मिथ्यात्व दशा मे जो कर्मों का बन्ध किया था उसके उदय मे आने पर सुख-दुःख आदि का अनुभव करने पर भी नवीन बन्ध नही होता है किन्तु कर्मों की निर्जरा ही होती है। कर्म का उदय होते हुए भी ज्ञानी के उस कर्म फल मे अपनापना नही है यह सम्यग्दर्शन का अनिर्वचनीय माहात्म्य है।

(**अथ सम्यग्दृष्टेरङ्गानि लक्षयति**) अब सम्यग्दृष्टि के अगो को दिखाते हैं—

रुन्धन् बन्धं नवमिति निजैः सङ्गतोऽष्टाभिरङ्गैः
प्राग्बद्धन्तु क्षयमुपनयन् निर्जरोज्जृम्भणेन ।
सम्यग्दृष्टिः स्वयमतिरसादादिमध्यान्तमुक्तम्-
ज्ञानंभूत्वा नटति गगनाभोगरङ्गं विगाह्य ॥३०॥

अन्वयार्थ—(निजैः) अपने **(अष्टाभिः)** आठ **(अंगैः)** अगो से **(सङ्गतः)** सहित **(सम्यग्दृष्टि)** सम्यग्दृष्टि जीव **(इति)** पूर्वोक्त प्रकार से **(नवम्)** नवीन **(बन्धम्)** बन्ध को **(रुन्धन्)** रोकता हुआ **(तु)** और **(प्राग्बद्धम्)** पूर्व मे बाधे हुए कर्म को **(निर्जरोज्जृम्भणेन)** निर्जरा की वृद्धि से **(क्षयम्)** विनाश को **(उपनयन्)** प्राप्त कराता हुआ **(स्वयम्)** स्वभाव से **(अतिरसात्)** आत्मिक आनन्दरूप रस के आधिक्य से **(आदिमध्यान्तमुक्तम्)** आदि-मध्य और अन्त से रहित **(ज्ञानम्)** ज्ञानरूप **(भूत्वा)** होकर **(गगनाभोग-रङ्गम्)** आकाशमण्डलरूप रङ्गस्थल को **(विगाह्य)** व्याप्त-विलोडन-करके **(नटति)** नृत्य करता है।

सं० टीका—(सम्यग्दृष्टि-आत्मश्रद्धान लक्षण सम्यक्त्व परिणतोमुनिः) आत्मश्रद्धान स्वरूप सम्यग्दर्शन से सयुक्त साधु **(स्वयं-स्वरूपेण)** स्वरूप से **(ज्ञान-भूत्वा ज्ञानमयो भूत्वा)** ज्ञानस्वरूप होकर **(नटति-नृत्यं करोति)** नृत्य करता है। **(ज्ञानेन सह तन्मयत्व प्राप्नोतीति यावत्)** अर्थात् ज्ञान के साथ तद्रूपता को प्राप्त करता है **(किं कृत्वा)** क्या करके **(गगनाभोगरङ्गम्-गगन व्योम तस्य आभोग. परिपूर्णता स एव रंगः-नाट्यावताररंगभूमिः तम्)** आकाश के विस्तार की परिपूर्णता रूप रग भूमि को **(विगाह्य-गाहयित्वा-ज्ञानेनसर्वं गगनमण्डलमभिव्याप्य हर्षतोनृत्याविरोधात्)** ज्ञान से सारे आकाशमण्डल को व्याप्त करके अर्थात् आनन्द से सारे आकाश मे व्याप्त होने का कोई विरोध नही है। **(कुत)** किससे **'अतिरसात्-स्वानुभवनोत्थरसोद्रेकेण)** आत्मानुभूति से उत्पन्न आनन्दरूप रस की अधिकता से **(अन्योऽपि यो नटति स रङ्गमवगाह्य श्रृङ्गारादिनवरसोद्रेकत एव इत्युक्तिलेशः)** दूसरा जो कोई भी नृत्य करता है वह श्रृंगार आदि नव रसो के आधिक्य से ही करता है यह कहने का तात्पर्य है। **(तु-पुन·)** और **(प्राग्बद्ध-प्राक् सम्यक्त्वोत्पत्तेः पूर्वं बद्धं-कर्मरूपेणात्मसात्कृतम्)** सम्यग्दर्शन उत्पन्न होने से पहले कर्मरूप से आत्मा के साथ एकमेक किये गये कर्म के **(क्षयं-विनाशम्)** क्षय-विनाश को **(उपनयन्-प्रापयन्-सन्)** प्राप्त कराता हुआ **(केन-)** किससे **(निर्जरोज्जृम्भणेन-असंख्यात गुणनिर्जराया उज्जृम्भणम्-उत्सर्पणं-प्राकट्य तेन)** असख्यातगुणी निर्जरा की उत्कटता से **(अष्टाभिः-वसुसंख्यैः)** आठ **(अङ्गैः-निश्शकितादिसम्यक्त्वावयवै)**

नि.शङ्कित आदि सम्यग्दर्शन के अवयवरूप अङ्गो से (**सङ्गतः-युक्त**) सहित (**किम्भूतैः ?**) कैसे (**निजैः-निश्चय-सम्यक्त्व सम्बन्धीयै**) अपने अर्थात् निश्चय-सम्यग्दर्शन से सम्बन्ध रखने वाले **इति-पूर्वोक्त-प्रकारेण**) पूर्व मे कहे अनुसार (**नवं-नवीनम्**) नवीन (**बन्धं-कर्मबन्धम्**) कर्म बन्ध को (**रुन्धन्-निवारयन्**) निवारण करता हुआ (**प्रत्यधिकारं नटतीत्यादिशब्दः नाटकत्वमुद्योतयति**) प्रत्येक अधिकारो मे नटति-इत्यादि शब्द नाटक के धर्म को प्रकट करते हैं ॥३०॥

भावार्थ – लोक मे कोई भी नाटककार शृङ्गार आदि नव रसो मे से किसी भी विवक्षित रस की उत्कटता से नृत्य करता है। यहा सम्यग्दृष्टि भी आत्मगत ज्ञानादि गुणो की तल्लीनता रूप शान्त रस मे निमग्न-विभोर हो नृत्य करता है। दोनो की भूमिका भिन्न ही है। एक की भूमिका कर्मबन्ध का कारण तो उससे भिन्न की भूमिका सवर-निर्जरा और मोक्ष का कारण है। एक ससार की सन्तति का सवर्धक है तो दूसरा ससार की परिपाटी को छिन्नभिन्न कर मोक्ष का प्रापक है। एक दु ख की ओर प्रस्थित है तो दूसरा परिपूर्ण आत्मिक सुख की ओर।

सम्यक्दृष्टि ज्ञानस्वभाव का मालिक है—कर्म और कर्मफल का मालिक नही है, उसमे अपनापन, एकत्वपना नही है। कर्म का उदय भी आता है वह अपना फल भी देता है परन्तु ज्ञानी ज्ञान का ही भोग करता है वह कर्म फल को वैसा ही देखता है जैसे किसी नाटक मे पार्ट करने वाला धनिक गरीब का पार्ट करते हुए अपने को उस रूप नही समझता। उस समय भी उसको अपने स्वभाव का ज्ञान विद्यमान है जब स्वाग ही है तो कर्मबन्ध कैसे हो। ज्ञानी के भी कर्म का उदय है और अज्ञानी के भी। परन्तु ज्ञानी के आत्मज्ञान के बल पर वह नाटक के स्वाग तुल्य है अज्ञानी के वह कर्मकृत नाटक वास्तविकता को प्राप्त है। अत सुखी-दु खी होता है। ज्ञानी के आठ अग होते हैं। अब वह शरीर के स्तर से चैतन्य के स्तर पर आ गया है अत सात प्रकार का भय नही है। चैतन्य के स्तर पर न मरण है, न लोक है, न परलोक, न रक्षा का सवाल है, न अगुप्ति का भय है, न अकस्मात् कुछ होने का है, न कोई वेदना है। अत चेतना के स्तर पर कोई भय होता ही नही। ऐसा भय तो होता नही कि मेरा नाश हो जायेगा और पर्याय का नाश होता है वह नाशवान स्वभाव ही है। भय प्रकृति के उदय से जो भय होता है वह कर्मकृत है ज्ञानी उसका मालिक नही बनता है जब तक निबलाङ्ग है तब तक होता है। ज्ञानी तो ज्ञानरूपी शरीर का धारी है जहाँ कोई भय को जगह ही नही है। वह अपने ज्ञान-श्रद्धान मे निशंक है वह भय के निमित्त से स्वरूप से चलायमान नही होता है अथवा सन्देहयुक्त नही होता यह नि शकित गुण है।

(२) वह ज्ञान स्वभाव का मालिक है अत कर्म के फल की वाछा नही होती। वह तो कर्म को विकार समझता है रोग समझता है तब कर्म की वाछा कैसे हो। ससार के वैभव को कर्म का फल समझता है, ज्ञान स्वभाव को ही अपना वैभव समझता है यह नि काक्षित गुण है।

(३) जब पुण्य के उदय को भी कर्म का कार्य जानता है तब पाप के उदय को भी कर्म का कार्य मानता है। अत पाप का उदय चाहे अपने आवे या पर के कोई ग्लानि का सवाल नही उठता यह निर्विचिकित्सा गुण है।

(४) वह ज्ञानी है उसकी दृष्टि सच्चे-देव-शास्त्र-गुरु के प्रति भी मूढरूप नही है अपने स्वरूप के प्रति भी मूढरूप नही है। देखा-देखी से नही मानता है, रूढिवादी नही है। उनका निर्णय करके सही श्रद्धान करता है। यह अमूढदृष्टिगुण है।

(५) आत्मशक्ति को बढाने का और आत्म स्वरूप मे लगने का निरन्तर उपाय करता है। यह उपगूहन अग है। (६) अपने आप को स्वरूप से च्युत होने पर अपने स्वरूप मे स्थापित करता है यह स्थिति करण गुण है। (७) अपने स्वरूप के प्रति, अपने आत्मिक गुणो के प्रति अत्यन्त अनुराग रखता है। यह वात्सल्य गुण है। (८) आत्मगुणो को प्रकाशित करता है यह प्रभावना गुण है।

असली वन्ध का कारण मिथ्यात्व ही है उसके अभाव मे जो बन्ध होता है वह नही होने के तुल्य ही है जैसे दूसरे का पैसा घर मे रखा है नियत समय पर उसके मालिक को देना है। नियत समय के आने तक वह घर मे भी रखा रहे तो भी उसके प्रति ममत्व न होने से—उसके स्वामी को दे देने के बराबर ही है। इस प्रकार ज्ञानी कर्म कार्य को पराया मानता है इसलिए उसे उसके प्रति ममत्व नही है। अत उसके रहते हुए भी वह न रहने के समान ही है। अत ज्ञानी के आठ अग निर्जरा के कारण हैं।

(इति श्री समयसारपद्यस्याध्यात्मतरंगिण्यपरनामधेयस्य व्याख्यायां षष्ठोऽङ्कः।)

इस प्रकार से श्री समयसार के पद्यो की व्याख्या मे जिसका अपरनाम अध्यात्म-तरगिणी है
यह छठवा अङ्क समाप्त हुआ।

सप्तमोऽङ्कः प्रारभ्यते

अथ बन्धाधिकार:

वारयति निर्जराख्यं तामस्यं भव्यजीवनिचयस्तु।
अमृतेन्दु वाङमयमयूखैः श्रीकुन्दसमैः परैः सारैः॥

अन्वयार्थ—(**श्री कुन्दसमैः**) श्रीकुन्दकुन्दाचार्य के समान (**परैः**) परम (**सारैः**) श्रेष्ठ (**अमृतेन्दु वाङ्मयमयूखैः**) श्री अमृतचन्द्राचार्य के वचनरूप किरणो से (**भव्य जीवनिचयः**) भव्य जीवो का समूह (**निर्जराख्यम्**) निर्जरा को रोकने वाले (**तामस्यम्**) अन्धकार को (**वारयति**) वारण-दूर करता है।

(**ननु संवरनिर्जरे निरन्तर ज्ञानिनो निरूपिते पुनः कस्य तु न ते द्वे। प्रतिषेधस्य विधिपूर्वकत्वात्—इति विचिन्त्य वन्धतत्त्वं निबध्यते**) कोई शकाकार कहता है कि सवर और निर्जरा हमेशा ज्ञानी-सम्यग्ज्ञानी के ही निरूपण किये गये हैं फिर (**ते**) वे दोनो (**कस्य**) किस के (**न**) नही (**स्तः**) होते हैं क्योकि प्रतिषेध विधिपूर्वक ही होता है ऐसा विचार करके वन्ध तत्त्व का निरूपण करते हैं—

रागोद्गार महारसेन सकलं कृत्वा प्रमत्तं जगत्
क्रीडन्तं रसभारनिर्भरमहा नाट्येन बन्धं धुनत् ।
आनन्दामृतनित्यभोजि सहजावस्थां स्फुटं नाटय-
द्धीरोदारमनाकुलं निरुपधि ज्ञानं समुन्मज्जति ॥१॥

अन्वयार्थ—**(रागोद्गारमहारसेन)** राग की प्रकटतारूप महारस से **(सकलम्)** समस्त **(जगत्)** जगत को **(प्रमत्तम्)** उन्मत्त **(कृत्वा)** करके **(रसभारनिर्भरमहानाट्येन)** राग, रूप, रस के भार से परिपूर्ण महा नाटक से **(क्रीडन्तम्)** क्रीडा करने वाले **(बन्धम्)** बन्ध को **(धुनत्)** कम्पित-नष्ट करता हुआ **(आनन्दामृत नित्यभोजि)** आत्मिक आनन्दरूप अमृत का भोजन करने वाला **(सहजावस्थाम्)** अपनी ज्ञातृ क्रियारूप स्वाभाविक अवस्था को **(स्फुटम्)** स्पष्टरूप से **(नाटयत्)** प्रकट करता हुआ **(धीरोदारम्)** धीर-निश्चल और उदार-विशाल **(अनाकुलम्)** आकुलता रहित **(निरुपधि)** उपाधि-ममत्व से रहित **(ज्ञानम्)** ज्ञान **(समुन्मज्जति)** प्रकट होता है—अभ्युदय को प्राप्त करता है।

सं० टीका—**(समुन्मज्जति-समुच्छलति चकास्तीत्यर्थ)** प्रकट होता है अर्थात् प्रकाशित होता है। **(किम्)** क्या **(ज्ञानम्-आत्मबोधः)** आत्मज्ञान **(किम्भूतम्)** कैसा **(निरुपधि-निर्गत उपाधि-ममत्वादि विकृति-र्यस्मात् तत्)** ममेद बुद्धिरूप विकार से रहित **(पुन -कीदृक्षम्)** फिर कैसा **(अनाकुलम्-उपाधिविजृम्भित-चिन्ताच्युतम्)** रागादिरूप उपाधि से वृद्धिगल-बढने वाली-चिन्ता से रहित **(धीरम्-धैर्यगुणयुक्तम्)** धीरता-निर्विकारतारूप गुण से सहित **(तच्चतत्-उदारमुत्कटं च-)** विशालता रूप **(सहजावस्था स्वाभाविकदशाम्)** स्वाभाविक अवस्था को **(स्फुट-व्यक्त यथा भवति तथा)** स्फुट-व्यक्तरूप से जैसे बने वैसे **(नाटयत्प्रकाशयत्)** प्रकाशित करता हुआ **(धातूनामनेकार्थत्ववचनात्-द्योतकत्वमत्र)** क्योकि धातुओ के अनेकार्थता कही गई है अतएव यहाँ द्योतक-प्रकाशक अर्थ लिया गया है **(पुनः)** फिर **(आनन्देत्यादि-आनन्दं स्वात्मोत्थं सुख तदेवामृतं सुधा ताम्)** आत्मा से प्रकटित सुखरूप अमृत को **(नित्यम्-अनवच्छिन्नतया)** नित्य अर्थात् निरन्तर-व्यवधान रहित-लगातार रूप से **(भुनक्तीत्येवं शीलम्)** भोगने का स्वभाव वाला **(पुनः)** फिर **(बन्धं-कर्माश्लेषं)** कर्म के सन्बन्ध को **(धुनत्-स्फोटयत्)** नष्ट करता हुआ **(किम्भूतम्-बन्धम्)** कैसे बन्ध को **(क्रीडन्तम्-स्वेच्छया सर्वत्र क्रीडयापरिणतम्)** अपनी इच्छानुसार सर्व जगह क्रीडा से युक्त **(केन)** किससे **(रसेत्यादि-रसस्य-कर्मानुभागस्यभारः-अतिशय. स एव निर्भरं अतिमात्रम्-महानाट्य-महानटनम्)** कर्म के अनुभाग-फलदान रूप रस के आधिक्यरूप महान् नाटक से **(किं कृत्वा)** क्या करके **(सकल-समस्तम्)** समस्त **(जगत्-लोकनिवासिजनवृन्दम्)** जगत् अर्थात् लोक मे निवास करने वाले प्राणियो के समूह को **(प्रमत्तम्-मदाक्रान्तम्)** मद से आक्रान्त **(कृत्वा-विधाय)** करके **(केन ?)** किससे **(रागेत्यादिः-रागस्य-उद्गार.-उद्गिरणम्-स एव महारस.-मैरेयादिरूप तेन)** राग की उत्पत्तिरूप महारस से जो मद्य आदि मादक पदार्थ के समान आत्मा को विह्वल-बेखबर कर देता है **(अन्योऽपि य परं मदिरया प्रमाद्य नाट्ये**

नाटय तीत्युक्तिलेश) जैसे कोई दूसरा मनुष्य किसी दूसरे मनुष्य को मदिरा से प्रमादी-नशायुक्त करके नाटक मे नचाता है वैसे ही यहा समझना चाहिए।

भावार्थ—ज्ञान की सर्वोपरि महत्ता-प्रतिष्ठा यही है कि वह जब आत्मा मे आत्मिक-आनन्द के साथ प्रकाशित होता है तब वह बन्ध तत्त्व का सहार करके ही उदित होता है। और होता है सर्व व्यापक।

(**अथ कथं मुच्यते जगत कर्मात्मकत्वादितिवदन्तम्प्रत्याचष्टे**) जगत् कर्ममय है इसलिए आत्मा कर्म वन्ध से कैसे मुक्त-छूट सकता है ऐसी आशङ्का करने वाले के प्रति आचार्य उत्तर देते हैं—

न कर्मबहुलं जगन्न चलनात्मकं कर्म वा
न नैककारणानि वा न चिदचिद्वधो बन्धकृत्।
यदैक्यमुपयोगभूः समुपयाति रागादिभिः
स एव किल केवलं भवति बन्धहेतुर्नृणाम् ॥२॥

अन्वयार्थ—(**नृणाम्**) प्राणियो का (**बन्धहेतुः**) बन्ध का कारण (**कर्मबहुलम्**) कर्म-कार्माण वर्गणाओ के समूह से भरपूर (**जगत्**) लोक (**न**) नही (**अस्ति**) है (**वा**) और (**चलनात्मकं**) चञ्चल (**कर्म**) कर्म (**बन्धहेतु·**) बन्धका कारण (**न**) नही (**अस्ति**) है (**नैक कारणानि**) अनेक इन्द्रिया (**वा**) भी (**बन्धहेतु**) बन्ध का कारण (**न**) नही (**अस्ति**) हैं (**चिदचिद्वध.**) चेतन और अचेतन का वध-विनाश (**बन्धकृत्**) बन्ध करने वाला (**न**) नही (**अस्ति**) है किन्तु (**यदा**) जब (**उपयोगभू·**) आत्मा-अर्थात् ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग का आधारभूत आत्मा (**रागादिभि**) रागद्वेष मोह आदि रूप विभावो के साथ (**यद्**) जो (**ऐक्यम्**) ऐक्य-एकता-तन्मयता को (**समुपयाति**) प्राप्त होता है (**स**) वह (**एव**) ही (**किल**) निश्चय से (**केवलम्**) सिर्फ (**बन्धहेतुः**) बन्ध का कारण (**भवतु**) होता है।

सं० टीका— (**ननु**) शकासूचक-अव्यय (**जगत्-त्रिभुवनम्**) तीन जगत् (**कर्म बहुलम्-कर्मयोग्यपुद्गलैर्बहुलम्-प्रचुरम्**) कर्म योग्य पुद्गलो से प्रचुर-भरपूर (**बन्धकृत्-वन्धं करोतीति बन्धकृत्-बन्धकारण**) वन्ध को करने वाला—अर्थात् बन्ध का कारण (**न**) नही (**भवेत्**) हो सकता (**अन्यथा सिद्धानामपि तत्प्रसङ्गात् तत्र कर्मपुद्गलाना अवस्थानाविशेषात्**) यदि ऐसा न माना जायेगा तो सिद्धो के भी कर्म बन्ध का प्रसङ्ग होगा क्योकि जहाँ सिद्ध रहते हैं वहा भी कर्मपुद्गलो का अवस्थान-सद्भाव है। (**अथकायवाङ्मनसां कर्म-बन्धकृन्न चलात्मकाना कर्मणा बन्धहेतुत्वाभावात्**) और शरीर वचन और मन की क्रिया भी बन्ध करने वाली नही है क्योकि चञ्चल स्वरूप कर्म-क्रियाओ को वन्ध के प्रति कारण नही माना है (**अपरथा यथाख्यात सयतानामपि कर्मबन्ध प्रसङ्गात्**) यदि ऐसा न माना जाय तो यथाख्यात सयतो के भी कर्म बन्ध का प्रसङ्ग उपस्थित होगा। (**ननु वा-अथवा**) शङ्काकार कहता है कि अथवा (**तत्कारणं मा भवतु**) वह पूर्वोक्त कारण बन्ध के करने वाले न हो तो न सही किन्तु (**नैककरणानि-**

अनेक स्पर्शनादीन्द्रियाणां बन्ध हेतुत्वम्–"भवतु") स्पर्शन आदि अनेक इन्द्रिया तो बन्ध के कारण हो (**तन्न**) अर्थात् ये इन्द्रिया भी बन्ध के कारण नही हो सकती (**अन्यथा**) इनको बन्ध का कारण मानने पर (**केवलिनामपि तत्प्रसङ्गात्**) केवलियो के भी बन्ध का प्रसङ्ग होगा क्योकि (**तस्य तत्सद्भावात्**) केवलियो के उन इन्द्रियो का सद्भाव है।

(**ननु**) शङ्काकार कहता है कि (**चिदचिद्वधः-चिदचितां-सचित्ताचित्ताना वस्तूना वध· घात**) सचित्त और अचित्त वस्तुओ का घात तो (**बन्धकृत्**) बन्ध को करने वाला (**स्यात्**) हो (**तन्न**), यह भी नही हो सकता क्योकि (**तस्य तन्निमित्तत्वाघटनात्**) सचित्ताचित्त का वध भी बन्ध का निमित्त नही बन सकता (**अन्यथा**) यदि सचित्ताचित्त का वध ही बन्ध का कारण मान लिया जाय तो (**समितितत्पराणामपि तत्प्रसङ्गात्**) समितियो मे तत्पर-सलग्न साधुओ को भी बन्ध का प्रसङ्ग आ जायगा क्योकि समिति काल मे भी उक्त प्रकार का बन्ध हो सकता है (**ननु सर्वस्यबन्धनिमित्तत्वनिषेधे जगतोनिर्बन्धत्वमेवेतिचेत्**) शङ्काकार कहता है कि सभी बन्ध के निमित्तो का निषेध होने पर तो जगत-प्राणिमात्र के निर्बन्धता-बन्धशून्यता सिद्ध होगी– यदि ऐसा तुम्हारा मन्तव्य हो तो (**न**) वह ठीक नही है, क्योकि (**तत्सद्भावात्**) बन्ध के निमित्तो का सद्भाव है (**तथाहि**) उनको स्पष्ट करते हैं (**किल-इत्यागमोक्तौ**) किल-यह अव्यय आगम के कथन मे प्रयुक्त हुआ है अर्थात् आगमानुसार (**एव-निश्चयेन**) निश्चय से (**नृणा-प्राणिनाम्**) प्राणियो के (**केवलम्-परम्**) सिर्फ (**स -रागयोग**) वह राग का योग (**अनिर्दिष्ट.**) जिसका यहा निर्देश नही किया गया है (**बन्धहेतुः-बन्धस्य कारणम्**) बन्ध का कारण (**भवति-अस्ति**) है (**स क**) वह कौन ? (**य·**) जो (**उपयोगभूः-उपयोगस्य-ज्ञानदर्शनलक्षणस्य भूः (भूमि.) स्थानं-आत्मेत्यर्थः**) ज्ञानदर्शन स्वरूप उपयोग का स्थान है अर्थात् आत्मा (**रागादिभिः-रागद्वेष मोहैः सह**) राग-द्वेष मोह के साथ (**ऐक्य-एकताम्**) एकता को (**उपयाति-प्राप्नोति**) प्राप्त करता है (**स**) वह एकत्वपना (**एव**) ही (**बन्धकारणम्**) बन्ध का कारण (**अस्ति**) है।

भावार्थ—यहा मिथ्यात्व को मुख्य करके बन्ध के कारण का कथन है। ज्ञान और राग मे एकपना मानना ही मिथ्यात्व है वही बन्ध का कारण है और अनन्त ससार का कारण है। अन्य बन्ध के कारणो को यहाँ **गौण** किया गया है। अत उनका सर्वदा निषेध नही मानना ॥२॥

(**अथ कर्म बहुलादीना कर्म हेतुत्वं मीमासते**) अब कर्मबहुल जगत् आदिको को कर्म के प्रति कारता का विचार प्रस्तुत है—

लोकः कर्म ततोऽस्तु सोऽस्तु च परिस्पन्दात्मकं कर्म तत्
तान्यस्मिन् कारणानि सन्तु चिदचिद्व्यापादनञ्चास्तु तत् ।
रागादीनुपयोग भूमिमनयन् ज्ञानं भवेन्केवलम्
बन्धं नैव कुतोऽप्युपैत्ययमहो सम्यग्दृगात्माध्रुवम् ॥३॥

न्वयार्थ—(**कर्मततः**) कार्मण वर्गणारूप पुद्गल बन्धों से व्याप्त (**सः**) वह प्रसिद्ध (**लोकः**) जगत् (**अस्तु**) रहो (**च**) और (**परिस्पन्दात्मकम्**) आत्मा के प्रदेशो का हलन-चलन रूप (**तत्**) वह प्रसिद्ध (**कर्म**) कर्म-योग विशेष (**अस्तु**) रहो (**अस्मिन्**) इस आत्मा मे (**तानि**) वे प्रसिद्ध (**करणानि**) स्पर्शन आदि इन्द्रियाँ (**सन्तु**) रहे (**च**) और (**तत्**) वह प्रसिद्ध (**चिदचिद्व्यापादनम्**) चेतन अचेतन पदार्थों का विघात (**अस्तु**) रहो (**रागादीन्**) राग आदि को (**उपयोग भूमिम्**) उपयोगरूपी भूमि मे (**अनयन्**) नही प्राप्त करता हुआ (**केवलम्**) सिर्फ (**ज्ञानम्**) ज्ञान स्वरूप (**भवन्**) होता हुआ (**अयम्**) यह (**सम्यग्दृगात्मा**) सम्यग्दृष्टि महापुरुष (**कुतोऽपि**) किसी भी कारण से (**ध्रुवम्**) दृढ निश्चय से (**बन्धम्**) बन्ध को (**न**) नही (**एव**) ही (**उपैति**) प्राप्त करता है (**अहो**) यह महान् आश्चर्य है।

सं० टीका (**स** -**प्रसिद्ध**) वह प्रसिद्ध (**लोकः-श्रेणिघनप्रदेशमात्रं-त्रिभुवनम्**) श्रेणिघनप्रदेश प्रमाण तीन जगत् (**कर्मततः-कर्मयोग्यपुद्गलैस्ततो व्याप्त.**) कर्मरूप होने की योग्यता वाले पुद्गलो से भरपूर (**अस्तु-भवतु**) रहो (**तथाप्यात्मनः कर्मबन्धो न**) तो भी आत्मा मे कर्मों का बन्ध नही हो सकता (**च-पुनः**) और (**तत्-प्रसिद्धम्**) वह प्रसिद्ध (**कर्म-कायवाङ्मनोयोगः**) शरीर, वचन और मन की क्रिया (**परिस्पन्दात्मकम्-आत्मप्रदेश परिस्पन्दस्वरूपम्**) आत्मा के प्रदेशो का कम्पन रूप व्यापार (**अस्तु-भवतु**) रहो (**तथाप्यात्मनो न बन्ध**) तो भी आत्मा मे कर्मों का बन्ध नही हो सकता (**अस्मिन्-आत्मनि**) इस आत्मा मे (**तानि-प्रसिद्धानि**) वे प्रसिद्ध (**करणानि-इन्द्रियाणि**) इन्द्रिया (**सन्तु-भवन्तु**) रहो (**च-पुनः**) और (**तत्-प्रसिद्धम्**) वह प्रसिद्ध (**चिदित्यादिः-चित्-सचित्तः, अचित्-प्रासुक -चिच्चाचिच्च तयोर्व्यापादन-पीडनं-विनाशनम्**) चेतन और अचेतन का विनाश (**अस्तु-भवतु**) रहो (**अहो-इति-आश्चर्ये**) अहो यह अव्यय आश्चर्य वाचक है अर्थात् आश्चर्य है कि (**तथापि**) तो भी (**अयम्**) यह (**सम्यग्दृगात्मा-सम्यग्दर्शन परिणतचिद्रूपः**) सम्यग्दर्शन सहित चैतन्य स्वरूप आत्मा (**कुतोऽपि जगत्कर्मकरणचिदचिद्घातादेः**) जगत्, कर्म, करण, चित् और अचित के घात आदि रूप किसी भी कारण से (**अन्यतरादपि**) उनमे से किसी एक से भी (**ध्रुवम्-निश्चितम्**) निश्चित रूप से (**बन्धं-कर्मबन्धम्**) कर्मबन्ध को (**नैव उपैति-न प्राप्नोति**) नही प्राप्त होता है (**किम्भूतः सन्**) कैसा होता हुआ (**केवल-रागादिनिरपेक्षम्**) रागादि की अपेक्षा से रहित (**ज्ञानम्-बोधमयो भवन् जायमान**) ज्ञानमय होता हुआ (**पुनः**) फिर (**उपयोगभूमिम्-उपयोगस्य-ज्ञानदर्शनस्य भूमि.-आत्मा, उपयोगोलक्षणम्मिति सूत्रकारवचनात् तम्**) ज्ञान और दर्शन रूप उपयोग की भूमि स्वरूप आत्मा को क्योकि "उपयोगो लक्षणम्" ऐसा सूत्रकार—उमा स्वामी का वचन है (**रागादीन्-रागद्वेषमोहान्**) राग, द्वेष, मोह आदिको को (**अनयन्-अप्रापयन्-रागमयमात्मानमकुर्वन्**) नही प्राप्त करता हुआ अर्थात् आत्मा को रागमय नही करता हुआ (**न कुतोऽपि बध्नाति अयमात्मेति तात्पर्यम्**) यह आत्मा किसी से भी नही बंधता है यह तात्पर्य है।

भावार्थ—कार्माण स्कन्धो से परिव्याप्त लोक, परिस्पन्दात्मक कर्म, इन्द्रियरूप करण, चेतन और अचेतन का व्याघात आदि बन्धरूप कार्य को पैदा नही कर सकते हैं वे स्वतन्त्र रूप से वन्ध के

अनेक स्पर्शनादीन्द्रियाणां बन्ध हेतुत्वम्–"भवतु") स्पर्शन आदि अनेक इन्द्रिया तो बन्ध के कारण हो **(तन्न)** अर्थात् ये इन्द्रिया भी वन्ध के कारण नही हो सकती **(अन्यथा)** इनको बन्ध का कारण मानने पर **(केवलिनामपि तत्प्रसङ्गात्)** केवलियो के भी बन्ध का प्रसङ्ग होगा क्योकि **(तस्य तत्सद्भावात्)** केवलियो के उन इन्द्रियो का सद्भाव है ।

(ननु) शङ्काकार कहता है कि **(चिदचिद्वधः-चिदचितां-सचित्ताचित्ताना वस्तूना वधः घात)** सचित्त और अचित्त वस्तुओ का घात तो **(वन्धकृत्)** बन्ध को करने वाला **(स्यात्)** हो **(तन्न)** यह भी नही हो सकता क्योकि **(तस्य तन्निमित्तत्वाघटनात्)** सचित्ताचित्त का वध भी बन्ध का निमित्त नही वन सकता **(अन्यथा)** यदि सचित्ताचित्त का वध ही बन्ध का कारण मान लिया जाय तो **(समितितत्पराणामपि तत्प्रसङ्गात्)** समितियो मे तत्पर-सलग्न साधुओ को भी वन्ध का प्रसङ्ग आ जायगा क्योकि समिति काल मे भी उक्त प्रकार का बन्ध हो सकता है **(ननु सर्वस्यबन्धनिमित्तत्त्वनिषेधे जगतोनिर्बन्धत्वमेवेतिचेत्)** शङ्काकार कहता है कि सभी वन्ध के निमित्तो का निषेध होने पर तो जगत-प्राणिमात्र के निर्बन्धता-वन्धशून्यता सिद्ध होगी– यदि ऐसा तुम्हारा मन्तव्य हो तो **(न)** वह ठीक नही है, क्योकि **(तत्सद्भावात्)** वन्ध के निमित्तो का सद्भाव है **(तथाहि)** उनको स्पष्ट करते हैं **(किल-इत्यागमोक्तौ)** किल–यह अव्यय आगम के कथन मे प्रयुक्त हुआ है अर्थात् आगमानुसार **(एव-निश्चयेन)** निश्चय से **(नृणा-प्राणिनाम्)** प्राणियो के **(केवलम्-परम्)** सिर्फ **(स -रागयोग)** वह राग का योग **(अनिर्दिष्ट.)** जिसका यहा निर्देश नही किया गया है **(बन्धहेतुः-बन्धस्य कारणम्)** बन्ध का कारण **(भवति-अस्ति)** है **(स कः)** वह कौन ? **(यः)** जो **(उपयोगभू-उपयोगस्य-ज्ञानदर्शनलक्षणस्य भू (भूमिः) स्थानं-आत्मेत्यर्थ.)** ज्ञानदर्शन स्वरूप उपयोग का स्थान है अर्थात् आत्मा **(रागादिभिः-रागद्वेष मोहै. सह)** राग-द्वेष मोह के साथ **(ऐक्य-एकताम्)** एकता को **(उपयाति-प्राप्नोति)** प्राप्त करता है **(स)** वह एकत्वपना **(एव)** ही **(बन्धकारणम्)** बन्ध का कारण **(अस्ति)** है ।

भावार्थ—यहा मिथ्यात्व को मुख्य करके वन्ध के कारण का कथन है । ज्ञान और राग मे एकपना मानना ही मिथ्यात्व है वही वन्ध का कारण है और अनन्त ससार का कारण है । अन्य वन्ध के कारणो को यहाँ गौण किया गया है । अत उनका सर्वदा निषेध नही मानना ।।२।।

(अथ कर्म बहुलादीनां कर्म हेतुत्वं मीमांसते) अव कर्मवहुल जगत् आदिको को कर्म के प्रति कारता का विचार प्रस्तुत है—

लोकः कर्म ततोऽस्तु सोऽस्तु च परिस्पन्दात्मकं कर्म तत्
तान्यस्मिन् कारणानि सन्तु चिदचिद्व्यापादनञ्चास्तु तत् ।
रागादीनुपयोग भूमिमनयन् ज्ञानं भवेन्केवलम्
बन्धं नैव कुतोऽप्युपैत्ययमहो सम्यग्दृगात्माध्रुवम् ।।३।।

न्वयार्थ—(**कर्मततः**) कार्मण वर्गणारूप पुद्गल बन्धो से व्याप्त (**स.**) वह प्रसिद्ध (**लोकः**) जगत् (**अस्तु**) रहो (**च**) और (**परिस्पन्दात्मकम्**) आत्मा के प्रदेशो का हलन-चलन रूप (**तत्**) वह प्रसिद्ध (**कर्म**) कर्म-योग विशेष (**अस्तु**) रहो (**अस्मिन्**) इस आत्मा मे (**तानि**) वे प्रसिद्ध (**करणानि**) स्पर्शन आदि इन्द्रियाँ (**सन्तु**) रहे (**च**) और (**तत्**) वह प्रसिद्ध (**चिदचिद्व्यापादनम्**) चेतन अचेतन पदार्थों का विघात (**अस्तु**) रहो (**रागादीन्**) राग आदि को (**उपयोग भूमिम्**) उपयोगरूपी भूमि मे (**अनयन्**) नही प्राप्त करता हुआ (**केवलम्**) सिर्फ (**ज्ञानम्**) ज्ञान स्वरूप (**भवन्**) होता हुआ (**अयम्**) यह (**सम्यग्दृगात्मा**) सम्यग्दृष्टि महापुरुष (**कुतोऽपि**) किसी भी कारण से (**ध्रुवम्**) दृढ निश्चय से (**बन्धम्**) बन्ध को (**न**) नही (**एव**) ही (**उपैति**) प्राप्त करता है (**अहो**) यह महान् आश्चर्य है।

सं० टीका (**स -प्रसिद्ध**) वह प्रसिद्ध (**लोकः-श्रेणिघनप्रदेशमात्र-त्रिभुवनम्**) श्रेणिघनप्रदेश प्रमाण तीन जगत् (**कर्मतत -कर्मयोग्यपुद्गलैस्ततो व्याप्तः**) कर्मरूप होने की योग्यता वाले पुद्गलो से भरपूर (**अस्तु-भवतु**) रहो (**तथाप्यात्मनः कर्मबन्धो न**) तो भी आत्मा मे कर्मों का बन्ध नही हो सकता (**च-पुनः**) और (**तत्-प्रसिद्धम्**) वह प्रसिद्ध (**कर्म-कायवाङ्मनोयोगः**) शरीर, वचन और मन की क्रिया (**परिस्पन्दात्मकम्-आत्मप्रदेश परिस्पन्दस्वरूपम्**) आत्मा के प्रदेशो का कम्पन रूप व्यापार (**अस्तु-भवतु**) रहो (**तथाप्यात्मनो न बन्ध**) तो भी आत्मा मे कर्मों का बन्ध नही हो सकता (**अस्मिन्-आत्मनि**) इस आत्मा मे (**तानि-प्रसिद्धानि**) वे प्रसिद्ध (**करणानि-इन्द्रियाणि**) इन्द्रिया (**सन्तु-भवन्तु**) रहो (**च-पुनः**) और (**तत्-प्रसिद्धम्**) वह प्रसिद्ध (**चिदित्यादिः-चित्-सचित्तः, अचित्-प्रासुक -चिच्चाचिच्च तयोर्व्यापादन-पीडनं-विनाशनम्**) चेतन और अचेतन का विनाश (**अस्तु-भवतु**) रहो (**अहो-इति-आश्चर्ये**) अहो यह अव्यय आश्चर्य वाचक है अर्थात् आश्चर्य है कि (**तथापि**) तो भी (**अयम्**) यह (**सम्यग्दृगात्मा-सम्यग्दर्शन परिणतचिद्रूपः**) सम्यग्दर्शन सहित चैतन्य स्वरूप आत्मा (**कुतोऽपि जगत्कर्मकरणचिदचिद्घातादेः**) जगत्, कर्म, करण, चित् और अचित के घात आदि रूप किसी भी कारण से (**अन्यतरादपि**) उनमे से किसी एक से भी (**ध्रुवम्-निश्चितम्**) निश्चित रूप से (**बन्धं-कर्मबन्धम्**) कर्मवन्ध को (**नैव उपैति-न प्राप्नोति**) नही प्राप्त होता है (**किम्भूत. सन्**) कैसा होता हुआ (**केवलं-रागादिनिरपेक्षम्**) रागादि की अपेक्षा से रहित (**ज्ञानम्-बोधमयो भवन् जायमान**) ज्ञानमय होता हुआ (**पुनः**) फिर (**उपयोगभूमिम्-उपयोगस्य-ज्ञानदर्शनस्य भूमिः-आत्मा, उपयोगोलक्षणम्मिति सूत्रकारवचनात् तम्**) ज्ञान और दर्शन रूप उपयोग की भूमि स्वरूप आत्मा को क्योकि "उपयोगो लक्षणम्" ऐसा सूत्रकार—उमा स्वामी का वचन है (**रागादीन्-रागद्वेषमोहान्**) राग, द्वेष, मोह आदिको को (**अनयन्-अप्रापयन्-रागमयमात्मानमकुर्वन्**) नही प्राप्त करता हुआ अर्थात् आत्मा को रागमय नही करता हुआ (**न कुतोऽपि बध्नाति अयमात्मेति तात्पर्यम्**) यह आत्मा किसी से भी नही बंधता है यह तात्पर्य है।

भावार्थ—कार्माण स्कन्धो से परिव्याप्त लोक, परिस्पन्दात्मक कर्म, इन्द्रियरूप करण, चेतन और अचेतन का व्याघात आदि वन्धरूप कार्य को पैदा नहो कर सकते है वे स्वतन्त्र रूप से वन्ध के

प्रयोजक नहीं हैं । जब आत्मा रागादि के साथ एकता को प्राप्त होता है तव बन्ध होता ही है। अत रागादि के साथ ज्ञान की एकता ही बन्ध का समर्थ कारण है। सम्यग्दृष्टि तो ज्ञानमय निज स्वरूप मे अपनापना मानता है अतएव रागादि के साथ एकत्व को प्राप्त नही होता। अत राग रूप न होने से अवन्ध ही है। यहा अवन्ध से तात्पर्य दर्शनमोहनीय जनित अनन्त ससार का कारणीभूत वन्धन ही होता है ऐसा समझना चाहिए। बन्ध मात्र का निषेध तो इसलिए नही वन सकता है कि अभी चारित्रमोहनीय कर्म का उदय तो हो ही रहा है उसके रहते हुए रागादि भाव भी होते ही हैं। अत वन्ध भी होता ही है किन्तु वह बन्ध अनन्त ससार का कारण न होकर किञ्चित्कालिक ही होता है अत वह बन्ध होते हुए भी अवन्ध ही कहा जायगा, ऐसा समझ कर ही सम्यग्दृष्टि के बन्ध का निषेध किया गया है।

(अथ तथापि ज्ञानिना निरर्गलत्व विद्वेषयति) अब तो भी ज्ञानियो के निरर्गलता-स्वच्छन्दता का निषेध करते है—

तथापि न निरर्गलं चरितुमिष्यते ज्ञानिनाम्
तदायतनमेव सा किल निरर्गला व्यापृतिः।
अकामकृतकर्म तन्मतमकारणं ज्ञानिनां
द्वयं न हि विरुध्यते किमु करोति जानाति च ॥४॥

अन्वयार्थ—**(तथापि)** तो भी अर्थात् कर्मबहुल जगत् आदि को बन्ध के कारण का निषेध करने पर भी— **(ज्ञानिनाम्)** ज्ञानी-सम्यग्दृष्टियो को **(निरर्गलम्)** निरकुश स्वच्छन्द **(चरितुम्)** प्रवृत्ति **(न)** नही **(इष्यते)** इष्ट होती है **(किल)** क्योकि **(सा)** वह **(निरर्गला)** स्वच्छन्द-शास्त्रविरुद्ध **(व्यापृतिः)** व्यापार-प्रवृत्ति- **(एव)** निश्चय से **(तदायतनम्)** वन्ध का स्थान **(अस्ति)** है। **(ज्ञानिनाम्)** ज्ञानियो का **(तत्)** वह प्रसिद्ध **(अकामकृतकर्म)** बिना इच्छा के किया हुआ कर्म-शरीर वचन और मन का व्यापार **(अकारणम्)** बन्ध का कारण नही **(मतम्)** माना गया है **(हि)** निश्चय से **(करोति)** करना **(च)** और **(जानाति)** जानना **(द्वयम्)** यह दोनो क्रिया **(किमु)** क्या **(न)** नही **(विरुध्यते)** विरोध को प्राप्त होती **(अर्थात् विरुध्यते एव)** अर्थात् अवश्य ही विरोध को प्राप्त होती है।

स० टी०—**(तथापि-कर्मबहुलकर्मकरणादिनामबन्धकत्वे)** तो भी अर्थात् कर्म वहुल, कर्म, करण आदि को बन्ध का कारण नही मानने पर भी **(रागादीना बन्धहेतुकत्वे च सत्यपि)** और रागादिको को वन्ध का हेतु मानने पर भी **(ज्ञानिनां-पुंसाम्)** ज्ञानी-सम्यग्ज्ञानी-पुरुष **(निरर्गलं-निरङ्कुशम्)** निरकुश-स्वच्छन्द मनमानी **(चरितु-प्रवर्तयितुम्)** प्रवृत्ति करना **(न इष्यते-न वाञ्छयते)** नही इष्ट करते हैं नही चाहते हैं। **(किलेति-कस्मात्)** किल–यह अव्यय किम् अर्थ मे आया है अर्थात् क्योकि **(सा-प्रसिद्धा)** वह प्रसिद्ध **(निरर्गला-निरकुशा)** निरकुश-स्वच्छन्द **(व्यापृति-सर्वत्र कायादिव्यापारे-प्रवृत्ति.)** सभी शरीर आदि के व्यापार मे प्रवृत्ति-प्रवर्तना **(तदायतनं-तस्य-बन्धस्य-आयतनम्-स्थानम्)** वन्ध का स्थान **(एव-**

निश्चयेन) निश्चय से माना है **(ज्ञानिनां-पुंसाम्)** ज्ञानी पुरुषो के **(तत्-प्रसिद्धम्)** वह प्रसिद्ध **(अकामेत्यादि - अकामेन-अवाञ्छयाकृतं निष्पादितम्-कर्म-क्रिया-कायवाङ्मनसां कर्म च)** बिना इच्छा के किया गया—शरीर, वचन और मन का व्यापार **(अकारणम्-बन्धाहेतुकम्)** बन्ध का अकारण **(मतं-कथितं-पूर्वाचार्यैः)** मान गया है अर्थात् पूर्वाचार्यो ने उसे बन्ध का कारण नही कहा है। **(हीति-यस्मात्)** हि—यह अव्यय यद् शब्द के अर्थ मे आया है अर्थात् जिससे **(करोति-क्रिया जानाति लक्षण क्रिया)** करना और जानना स्वरूप क्रिया **(एतद्द्वयम्-च)** ये दोनो **(किमु-कथम्)** कैसे **(न विरुध्यते-विरोधं न प्राप्नोतीत्यर्थः)** नही विरोध को प्राप्त होते हैं अर्थात् होते ही हैं।

भावार्थ—यहा ज्ञानी के स्वच्छन्द प्रवृत्ति का निषेध किया गया है। अर्थात् बन्ध के जो बाह्य निमित्त कहे गये है, वे बन्ध के कारण नही है, ऐसा मानकर ज्ञानी जन बिलकुल निरकुश हो मनमानी प्रवृत्ति नही करते है। क्योकि मनमानी प्रवृत्ति ही तो ससार मे इस प्राणी को चतुर्गति मे परिभ्रमण करा-कर विविध प्रकार की यातनाओ का पात्र बनाती है। ज्ञानी के जानना और करना ये दो क्रियाए परस्पर विरुद्ध होने से एक साथ नही होती है। क्योकि जो जानता है सो जानता ही है करता नही है। और जो करता है वह करता ही है जानता नही है। अत. ज्ञानी बुद्धिपूर्वक ज्ञायक ही है कारक नही। क्योकि कर्ता का अर्थ कर्म के फल का कर्त्ता बनना और जानना का अर्थ कर्म के फल का ज्ञाता रहना है। जो कर्म के फल का कर्त्ता बनता है वह ज्ञान का मालिक नही है और जो ज्ञान का मालिक है वह कर्म के फल का कर्त्ता नही होता ॥४॥

(अथ कर्तृज्ञात्रोः पृथक्त्वं विधीयते) अब कर्ता और ज्ञाता मे जुदाई का प्रतिपादन करते है—

> **जानाति यः स न करोति करोति यस्तु**
> **जानात्ययं न खलु तत्किल कर्मरागः।**
> **रागं त्वबोधमयमध्यवसायमाहु-**
> **र्मिथ्यादृशः स नियतं स च बन्धहेतुः ॥५॥**

अन्वयार्थ—**(खलु)** निश्चय से **(यः)** जो **(जानाति)** जानता है-ज्ञाता है **(सः)** वह **(करोति)** करता **(न)** नही **(अस्ति)** है। **(तु)** किन्तु **(य)** जो **(करोति)** करता है **(अयम्)** वह **(जानाति)** जानता-ज्ञायक **(न)** नही **(अस्ति)** है। **(किल)** निश्चय से **(तत्)** वह करना **(कर्म)** कर्म का **(रागः)** राग **(अस्ति)** है। **(तु)** क्योकि जिनेन्द्रदेव **(रागम्)** राग को **(अबोधमयम्)** अज्ञान स्वरूप **(अध्यव-सायम्)** अध्यवसाय **(आहु.)** कहते हैं। **(सः)** वह **(मिथ्यादृशः)** मिथ्यादृष्टि-अज्ञानी जीव के **(नियतम्)** नियम-निश्चितरूप से **(भवति)** होता है **(च)** और **(स.)** वह **(बन्धहेतु.)** बन्ध का कारण **(अस्ति)** है।

स० टी०—**(खल्विति-निश्चयार्थे)** खलु-यह अव्यय निश्चय अर्थ मे आता है अर्थात् निश्चय से

(यः-चिद्रूपः) जो चैतन्य स्वरूप आत्मा **(जानाति-स्वपरस्वरूपं वेत्ति)** अपने और पर के स्वरूप को जानता है **(सः-चिद्रूप)** वह चैतन्यमय आत्मा **(न करोति-कर्मादि न विधत्ते)** नही करता है—कर्म आदि को नही बनाता है **(यस्तु कश्चित्-ज्ञानादन्य.)** और जो कोई ज्ञान से भिन्न **(करोति-कर्मनिर्मापयति)** कर्म का निर्माण करता है **(तु-विशेषे)** तु–अव्यय विशेष अर्थ मे आया है अर्थात् विशेष रूप से **(अयं-कर्मकर्त्ता)** यह कर्म करता है **(न जानाति-न परिच्छिनत्ति)** वह जानता नही है **(तस्याज्ञानरूपत्वात्)** क्योकि वह अज्ञानरूप-अज्ञानी है **(किल-इति निश्चितम्)** किल–यह अव्यय निश्चित अर्थ मे आया है अर्थात् निश्चितरूप से **(तत्-करोति क्रियावच्छिन्नं कर्मरागः,)** वह करोति क्रिया से युक्त कर्म रूप राग **(राग एव करोतीत्यर्थः)** अर्थात्—राग ही करता है **(तु-पुनः)** और **(रागम्-अध्यवसायम्)** अध्यवसाय-कषायरूप परिणाम को राग **(आहुः)** कहते हैं **(रागस्य कषायानुभागाध्यवसायेति सज्ञा प्रतिपादयन्ति जिना.)** अर्थात्—जिनेन्द्र भगवान राग को कषाय अनुभाग अध्यवसाय इस सज्ञा से प्रतिपादन करते हैं **(इति स्वरूप विरचितत्व संज्ञाया निरस्तम्)** इसलिए रागरूप सज्ञा आत्मस्वरूप से उद्‌भूत होती है यह कथन खण्डित हो जाता है। **(कीदृक्ष-रागम्)** कैसे राग को ? **(अवोधमयम्-अज्ञानस्वरूपम्)** अवोधमय—अर्थात् अज्ञान स्वरूप **('हन्मि-हन्ये' जीवामि जीव्येऽहममनेनेत्यादीनामज्ञानरूपत्वात्)** क्योकि 'मैं इसे मारता हूँ और इसके द्वारा मैं मारा जाता हूँ', मैं इसे जिन्दा करता हूँ और इसके द्वारा मैं जिन्दा किया जाता हूँ, इत्यादि रूप विचारधारा अज्ञान रूप ही है। **(सः-राग.)** वह राग **(नियतम्-निश्चितम्)** नियत-निश्चयरूप से **(कस्य)** किसके **(भवति)** होता है ? **(मिथ्यादृश -मिथ्यादृष्टेः,)** मिथ्यादृष्टि के **(नत्वन्यस्यसम्यग्दृष्टे)** अन्य सम्यग्दृष्टि के तो नही। **(च-पुनः)** और **(सः-राग.)** वह राग **(बन्धहेतु.-कर्मबन्धकारणम्)** कर्मबन्ध का कारण है ॥५॥

भावार्थ—निश्चयनय की दृष्टि से ज्ञाता-ज्ञाता ही है कर्ता नही। और कर्ता-कर्ता ही है ज्ञाता नही। ज्ञाता सम्यग्दृष्टि ही होता है मिथ्यादृष्टि नही। और कर्ता मिथ्यादृष्टि ही होता है सम्यग्दृष्टि नही। कर्म के कार्य का अपने को कर्ता मानना यह मिथ्यात्व सम्बन्धी राग है जो अज्ञानी के होता है अत अज्ञानी कर्ता ही है—ज्ञानी ज्ञान का मालिक है अत कर्म के कार्य का कर्ता नही बनता है तव वह ज्ञाता ही रहता है। जो कर्ता है वह ज्ञाता नही है और जो ज्ञाता है वह कर्म के कार्य का कर्ता नही है। जो कर्त्ता बनता है वह रागी है। अत बन्ध को प्राप्त होता है।

(अथाहं मरणादीनां कारक इत्यभिप्रेतस्य मिथ्यादृष्टित्व दरीदृश्यते पद्यद्वयेन) अब मैं मरण आदि का कर्ता हूँ, इस प्रकार के अभिप्राय से युक्त जीव मिथ्यादृष्टि है यह दो पद्यो द्वारा दिखाते हैं—

सर्वं सदैव नियतं भवति स्वकीयकर्मोदयान्मरणजीवितदुःख सौख्यम् ।
अज्ञानमेतदिह यत्तु परः परस्य कुर्यात्पुमान् मरणजीवितदुःखसौख्यम् ॥६॥

अन्वयार्थ—**(इह)** इस ससार मे **(सर्वम्)** सभी **(मरण जीवित दुःख सौख्यम्)** मृत्यु, जन्म, दुख और सुख **(सदा)** हमेशा **(नियतम्)** नियम से-निश्चयरूप से **(स्वकीय कर्मोदयात्)** अपने कर्मो के उदय से

(एव) ही **(भवति)** होते है **(तु)** किन्तु **(परस्य)** किसी दूसरे के **(मरण जीवित दुःखसौख्यम्)** मरण, जीवन, दु ख और सुख को **(परः)** अन्य कोई **(पुमान्)** पुरुष **(कुर्यात्)** करता है अथवा कर सकता है **(एतत्)** यह **(अज्ञानम्)** अज्ञान-मिथ्याज्ञान **(अस्ति)** है।

सं० टी०—**(इह-जगति)** इस जगत् मे **(एतत्-वक्ष्यमाणम्)** यह आगे कहा जाने वाला **(अज्ञानम-ज्ञानभाव व्यतिरिक्तम्)** ज्ञानभाव से शून्यतारूप-अज्ञान से **(एतत्किम्)** यह क्या-कैसा **(यत्तु)** जो कि **(पर -अन्यः)** दूसरा **(पुमान्)** पुरुष **(परस्यततोऽन्यस्य कस्यचिदिष्टानिष्टस्य पुंसः)** विवक्षित पुरुष से भिन्न किसी प्रिय और अप्रिय पुरुष के **(मरणेत्यादि -मरणं-प्राणवियोजनम्-मरण च जीवितं च दुःखं च सौख्यम् च तेषां समाहारो मरणजीवितदु खसौख्यम्)** प्राणवियोग रूप मरण, जोवन, दुःख और सुख को **(कुर्यात्)** कर सकता है अर्थात् **(यो मन्यते हिनस्मि, जीवयामि, दुःखिन करोमि, सुखिनं करोमि, इति क्रियां निर्मा-पयेत्)** जो मानता है कि मैं मार सकता हूँ, जिन्दा कर सकता हूँ, दु खी कर सकता हूँ, सुखी कर सकता हूँ इत्यादि क्रिया को कर सकता या करा सकता हूँ ऐसा दम्भ भरता है **(एतत्-अज्ञानम्)** यह अज्ञान **(अस्ति)** है **(कुत)** कैसे **(नियतम्-निश्चितम्)** निश्चित रूप से **(सर्वं-समस्तम्-मरणजीवित दु ख सौख्यम्)** समस्त मरण, जीवन, दु ख और सुख **(सदैव-ससारदशायाम्)** सदा ही-ससार अवस्था मे **(भवति-जायते)** होता है **(स्वकीयेत्यादिः-स्वकीयस्यात्मोपार्जितस्य कर्मणः उदयात्-आयुःक्षयेण जीवाना मरण सत्यायुषि जीवितव्यम् आयुर्हरणाभावात् कथ तत् परेण कृतम्)** अपने द्वारा उपार्जित-सञ्चित कर्म के उदय से अर्थात् आयुकर्म के क्षय से जीवो का मरण होता है तथा आयु कर्म के रहते हुए जीवन होता है क्योकि आयु का किसी दूसरे के द्वारा हरण होना सम्भव नही है। अतएव पूर्वोक्त मरणादि दूसरे के द्वारा किये हुये कैसे हो सकते है अर्थात् नही हो सकते। **(शुभाशुभ कर्मोदयात् सुखदुःखिनः जीवा भवन्ति तत्कर्मदानाभावात् कथं ते तादृशाः कृता. परेणेति भावः)** शुभ-पुण्य और अशुभ पाप-कर्म के उदय से जीव सुखी तथा दु खी होते हैं। वे पुण्य और पापकर्म किसी दूसरे के द्वारा देने मे नही आते हैं। अत दूसरे के द्वारा वे जीव सुखी और दु खी कैसे किये जा सकते हैं। अर्थात् किसी भी तरह से नही।

भावार्थ—ससारी प्राणी के जो कुछ भी जीवन, मरण, सुख, दु.ख, यश, अपयश, लाभ, हानि आदि होते हैं वे सब अपने द्वारा उपार्जित पुण्य और पाप रूपकर्मों के उदय के अनुसार ही होते है। जो लोग ऐसा कर्त्ता बनने का अहकार करते हैं कि मैं अपने से भिन्न किसी भी मनुष्य को मार सकता हूँ, जिन्दा कर सकता हूँ, दुःखी कर सकता हूँ, सुखी कर सकता हूँ यह अज्ञान है अतएव वह अज्ञानी है। वस्तुस्वरूप से सर्वथा अपरिचित हैं अतएव मिथ्यादृष्टि है। क्योकि पर का कर्ता बनना और अहकार करना अज्ञान-भाव है ॥६॥

अज्ञानमेतदधिगम्य परात्परस्य पश्यन्ति ये मरणजीवितदुःखसौख्यम्।
कर्माण्यहङ्कृतिरसेन चिकीर्षवस्ते मिथ्यादृशो नियतमात्महनो भवन्ति ॥७॥

अन्वयार्थ—**(एतत्)** इस-पूर्वोक्त प्रकार के **(अज्ञानम्)** अज्ञान को **(अधिगम्य)** जान करके **(अपि)**

भी (ये) जो जीव (परस्य) दूसरे के (मरणजीवित दु ख सौख्यम्) मरण जीवित दु ख और सुख को (परात्) किसी दूसरे से (कृतम्) किया हुआ (पश्यन्ति) देखते-जानते हैं (ते) वे (मिथ्यादृश) मिथ्या-दृष्टि जीव (अहङ्कृतिरसेन) अहकाररूप रस से (कर्माणि) कर्मों को (चिकीर्षवः) करने की इच्छा करने वाले (नियतम्) नियम से (आत्महन) आत्मा का घात करने वाले (भवन्ति) होते हैं।

सं० टी०—(ते-पुरुषा) वे पुरुष (नियतम्-निश्चितम्) नियत निश्चितरूप से (मिथ्यादृशः-मिथ्यादृष्टयः) मिथ्यादृष्टि (भवन्ति-जायन्ते) हैं (किम्भूता ?) कैसे (आत्महनः-आत्मानं हन्तीति-आत्महनः-स्वरूपघातका.-स्वस्वरूपाद्विपर्यस्तत्वात्) स्व - अपने खास स्वरूप के घातक हैं क्योकि वे अपने खास स्वरूप से विपरीत परिणमन कर रहे हैं (पुन) फिर (कर्माणि-शुभाशुभानि) शुभ पुण्य और अशुभ पाप रूप कर्मों को (चिकीर्षवः-स्वसात्कर्तुमिच्छवः) अपने आप मे एकमेक करने के इच्छुक हैं (केन ?) किससे (अहङ्कृतिरसेन—मयाऽयं हतो जीवितश्चेत्यादिरूपेणाहकाररसेन) मेरे द्वारा यह मारा गया और जिन्दा किया गया है इत्यादि प्रकार के अहकार-अभिमानरूप रस से (ते के) वे कौन हैं (ये-नराः) जो मनुष्य (परात्-भिन्नात्) पर-दूसरे से (परस्य-ततोऽन्यस्य) किसी दूसरे के (पश्यन्ति-ईक्षन्ते) देखते हैं (किम् ?) क्या (मरणजीवित दुःखसौख्म्) मरण, जीवन, दु ख और सुख को (किं कृत्वा) क्या करके (एतत्-पूर्वोक्तम्-मयाय हत इत्यादिरूपमज्ञानम्) मेरे द्वारा यह मारा गया इत्यादि पूर्व मे कहे गये अज्ञान को (अधिगम्य-प्राप्य) प्राप्त करके अर्थात् निश्चय करके ॥७॥

भावार्थ—निमित्त को कर्त्ता मानना ही अनन्तानुबन्धि का जन्म है। आत्मस्वरूप को जब नही जानता है तब शरीर मे अपनापना आता है वहा एक शरीर मे ही अपनापना नही है परन्तु अभिप्राय की अपेक्षा ८४ लाख योनि मे से कोई भी मिल जाती तो वह उसमे अपनापना मान लेता अथवा सबकी सब एक साथ मिल जाती तब सबमे अपनापना आ जाता। इस प्रकार इसके अपनेपने का विस्तार अभिप्राय मे अनत पदार्थों मे रहता है, व्यक्तता जो सामने मे मौजूद है उसमे हो रही है।

इसी प्रकार जब निमित्त को कर्त्ता मानता है तब अनतो जीव हैं और अनन्तानत पुद्गल सब हमारे सुख-दु ख के निमित्त हो सकते हैं अर्थात् सुख-दु ख के कर्त्ता हो सकते हैं इसलिए उन सबके प्रति राग-द्वेष करने का अभिप्राय बन जाता है अर्थात् अनतानत पदार्थों के प्रति राग-द्वेष का अभिप्राय बन गया, इस-लिए अनतानुबन्धि राग-द्वेष है। अपने से भिन्न अनतानत पदार्थों के लिए हम निमित्त हो सकते हैं इस-लिए हम उन अनतानत पदार्थों का बुरा-भला कर सकते हैं। अत अभिप्राय मे अनतगुणाकार अभिमान से यह ग्रस्त हो जाता है। यह निमित्त का कर्त्तापना अपने स्वभाव को जानने से और यह मानने से मिटता है कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को दु.खी-सुखी नही कर सकता, राग-द्वेष नही करा सकता। सभी द्रव्य अपना-अपना परिणमन करते हैं। एक द्रव्य की पर्याय अन्य द्रव्य की पर्याय मे निमित्त मात्र होती है परतु कर्त्ता नही हो सकती। अनतानुबधि कषाय का सम्बन्ध तीव्र और मद क्रोधादिक से नही है परन्तु कषाय करने के अभिप्राय से है। अन्यथा द्रव्यलिंगी शुक्ललेश्या के धारी के तो अनतानुबधि चालू है और

नरक के नारकी सम्यग्दृष्टि के अनंतानुबन्धि नही है यह सम्भव नही हो सकता ।

जब वह पर का कर्त्ता अपने को मानता है तो अहकार से ग्रसित हो जाता है और पर को अपने सुख-दु ख, जीवन-मरण का कर्त्ता मानता है तो राग-द्वेष से ग्रसित हो जाता है। अत निमित्त को कर्त्ता मानने का सर्वथा निषेध है। कोई कहे कि उपादान रूप से निमित्त को कर्त्ता नही मानते परन्तु निमित्त रूप से कर्त्ता माने तो ठीक है कि नही ? इसका उत्तर है कि निमित्त निमित्तरूप से कर्त्ता होता ही नही वह अपनी परिणति का कर्त्ता है पर का नही। निमित्त मे तो पर के कर्त्तापने का उपचार किया जाता है जो असत्यार्थ है। इस ग्रन्थ का मूल उद्देश्य पर के कर्त्तापने का अहकार मेटना है जो निमित्त को कर्त्ता मानने से ज्यादा मजबूत होता है।

अगर निमित्त को कर्त्ता माना तो भगवान मे भी कर्त्तापना आये बिना नही रह सकता जो तत्त्व-ज्ञान से सर्वथा विपरीत है। यह अज्ञानी का अहकार कम नही है उसकी व्यक्तता के लिए जितना क्षेत्र मिला है वहा तक व्यक्त है अगर और ज्यादा क्षेत्र मिल जावे तो तीन लोक मे और अनत पदार्थों तक फैल सकता है। आचार्यों ने भगवान के कर्त्तापने के निषेध के द्वारा समस्त ही निमित्तो के कर्त्तापने का निषेध किया है ॥७॥

(अथाध्यवसायस्य बन्धहेतुत्वं पापठयते) अब अध्यवसाय-कषायरूप अभिप्राय बन्ध का कारण है यह स्पष्ट रूप से प्रतिपादन करते है—

मिथ्यादृष्टेः स एवास्य बन्धहेतुर्विपर्ययात् ।
य एवाध्यवसायोऽयमज्ञानात्मास्य दृश्यते ॥८॥

अन्वयार्थ—**(अस्य)** इस **(मिथ्यादृष्टे)** मिथ्यादृष्टि का **(यः)** जो **(अयम्)** यह **(अज्ञानात्मा)** अज्ञान-स्वरूप **(अध्यवसाय)** अभिप्राय **(दृश्यते)** दिखाई देता है **(विपर्ययात्)** विपर्ययात्–आत्मस्वरूप से विपरीत होने के कारण **(सः)** वह **(एव)** ही **(अस्य)** इस मिथ्यादृष्टि के **(बन्ध हेतु)** बन्ध का कारण **(अस्ति)** है।

सं० टीका—**(अस्य-मिथ्यादृष्टे)** इस मिथ्यादृष्टि के **(य एव प्रसिद्ध अध्यवसायः—अहं परान् हन्मीत्यादिरूपः परिणामः स एव अध्यवसाय एव)** मैं दूसरो को मारता हूँ इत्यादि रूप जो परिणाम है वह अध्यवसाय ही **(बन्धहेतु -कर्मवन्धकारणम्)** कर्मबन्ध का कारण **(अस्ति)** है। **(कुतः)** कैसे **(विपर्ययात्-ज्ञानाद्विपर्ययस्वभावत्वात्)** क्योकि वह अध्यवसाय ज्ञान से विपरीत अज्ञानमय भाव है **(अस्य मिथ्यादृशोऽध्यवसायः बन्धहेतुः कथम्)** इस मिथ्यादृष्टि का अध्यवसाय बन्ध का कारण कैसे है ? **(यतः अयं अध्यवसायः-अज्ञानात्मा-अज्ञानमेव आत्मा स्वरूप यस्य सः)** कारण कि यह अध्यवसाय—अज्ञानस्वरूप है अतएव बन्ध का कारण है **(दृश्यते-अवलोक्यते)** ऐसा दिखाई देता है—समझ मे आता है।

भावार्थ—पर को मारने तथा जिन्दा करने का जो अहकार है वही जीव को मिथ्यादृष्टि सिद्ध करता है और जो मिथ्यादृष्टि है वह स्वपर स्वरूप से सर्वथा अनभिज्ञ रहता है अतएव उसके जितने परिणाम हैं वे सब अज्ञानमूलक है इसलिए वन्ध के ही कारण हैं यह निश्चय है।

(अथाध्यवसायमाहात्म्यमारभते) अब अध्यवसाय के महत्त्व को प्रकट करते है—

अनेनाध्यवसायेन निष्फलेन विमोहितः ।
तत्किञ्चनापि नैवास्ति नात्मात्मानं करोति यत् ॥९॥

अन्वयार्थ—(**अनेन**) इस-पूर्वोक्त- (**निष्फलेन**) फल शून्य (**अध्यवसानेन**) अध्यवसान से (**विमोहित**) मोह को प्राप्त हुआ (**आत्मा**) आत्मा (**तत्**) वह-वैसा (**किञ्चन**) कुछ (**अपि**) भी (**न**) नही (**अस्ति**) है (**यत्**) जिसको (**आत्मानम्**) आत्मारूप (**न**) नही (**करोति**) करता है।

सं० टीका—(**एव-निश्चयेन**) निश्चय से (**तत्-वस्तु**) वह वस्तु (**किञ्चनापि-किमपि, महदल्प वा**) वडी अथवा छोटी कोई भी (**नास्ति-न विद्यते**) नही है (**यत्**) जिसे (**आत्मा-जीव**) जीव (**आत्मानम्-स्वकीयम्**) आत्मा-स्वकीय (**अध्यवसायेनैव**) अध्यवसान से ही (**न करोति-न विधत्ते**) नही करता है (**किम्भूत**) कैसा (**अनेन-हन्मीत्यादिरूपेण**) 'इससे मारता हूँ' इत्यादि रूप (**पूर्वोक्ते न अध्यवसानेन-कषायाध्यवसायेन**) पूर्व मे कहे हुए कषायरूप अध्यवसान से (**विमोहितः-मोह प्राप्तः**) मोह को प्राप्त हुआ (**किम्भूतेन**) कैसे परिणाम से (**निष्फलेन-बन्ध मोक्ष लक्षणफलरहितेन**) बन्ध और मोक्षरूप फल से रहित (**जीवस्य सरागवीतरागयो स्वपरिणामयो सद्भावे बन्धमोक्षसद्भावात्**) क्योकि जीव के सराग तथा वीतराग रूप अपने ही परिणामो के सद्भाव मे बन्धमोक्ष का सद्भाव होता है। (**तदभावे-तयोरभावात्**) सराग और वीतरागरूप परिणाम के अभाव मे बन्ध और मोक्ष का अभाव होता है। (**अतस्तयोरेव स्वार्थं क्रियाकारित्वम्**) इसलिए उक्त दोनो-सराग और वीतराग भावो को बन्ध और मोक्ष रूप अपने-अपने कार्य को करने की क्षमता है (**अनध्यवसायस्याकिञ्चित्करत्वात्**) क्योकि अध्यवसाय से शून्य व्यक्ति कुछ भी नही करता है।

भावार्थ—बन्ध और मोक्ष परस्पर विरोधी तत्त्व हैं अत इनके उत्पादक कारण भी एक दूसरे के विरोधी होना ही चाहिए। टीकाकार ने उक्त दोनो का स्पष्टीकरण करते हुए यह पुष्ट कर दिखाया है कि बन्ध का मुख्य कारण राग भाव है जो वीतराग भाव का नितान्त विरोधी है और मोक्ष का मूल कारण वीतराग भाव है जो रागभाव का तीव्र प्रतिपक्षी है अत दोनो अपने-अपने कार्य के करने मे सर्वथा स्वतन्त्र हैं। अत जो जीव मोक्षभिलाषी हैं उन्हे चाहिए कि वे रागभाव का त्याग कर वीतराग भाव को प्रश्रय दें तभी उन्हे सर्वतोऽभोष्ट मुक्ति की प्राप्ति अवश्य ही होगी ॥९॥

(**अथ तथाप्यध्यवसाय बीभत्सते**) तो भो अब अध्यवसाय के प्रति ग्लानि का भाव प्रकट करते हैं—

विश्वाद्विभक्तोऽपि हि यत्प्रभावादात्मानमात्मा विदधाति विश्वम् ।
मोहैककन्दोऽध्यवसाय एषः नास्तीह येषां यतयस्त एव ॥१०॥

अन्वयार्थ—(**हि**) निश्चय से (**विश्वात्**) विश्व-समस्त द्रव्यो से (**विभक्तः**) पृथक् (**सत्**) होता हुआ (**अपि**) भी (**आत्मा**) आत्मा-चेतन तत्त्व (**यत्प्रभावात्**) जिसके प्रभाव से (**विश्वम्**) समस्त परपदार्थों को (**आत्मानम्**) आत्मस्वरूप-स्वकीय-अपने (**विदधाति**) करता है-मानता है (**एष**) ऐसा-यह

(अध्यवसाय) अध्यवसान जिसका **(मोहैक कन्दः)** मोह-अज्ञान स्वरूप राग-द्वेष आदि ही एक अद्वितीय कन्द है वह **(इह)** इस लोक मे **(येषाम्)** जिन महात्माओ के **(न)** नही **(अस्ति)** है **(ते)** वे **(एव)** ही **(यतयः)** यति-मुनि **(सन्ति)** है ।

सं० टी०—**(इह-जगति)** इस जगत् मे **(त एव प्रसिद्धाः)** वे ही प्रसिद्ध हैं **(यतयः-यतन्ते कर्मादीनीति यतयः मुनय)** जो कर्म-ईर्या समिति आदि रूप प्रशस्त क्रियाओ के करने का यत्न करते है वे यति है-मुनि हैं **(येषां-यतीनाम्)** जिन यतियो के **(एषः-इदानीमुक्तः)** अभी-अभी कहा हुआ **(अध्यवसायो नास्ति)** अज्ञानता रूप परिणाम नही है **(किम्भूतः)** कैसा **(मोहैककन्दः-मोहस्य राग द्वेषस्य-एकः-अद्वितीयः कन्दः-मूलकारणम्-यः-सः)** जो राग-द्वेषरूप मोह का अद्वितीय-असाधारण कारण है वह **(मोहनीयकर्मोत्पादकत्वात्)** क्योकि वह मोहनीय कर्म का उत्पादक है **(हीति-स्फुटम्)** हि–यह अव्यय स्फुट अर्थ मे आया है अर्थात् स्फुटरूप से **(यत्प्रभावात्-यस्य अध्यवसायस्य प्रभावः माहात्म्यं तस्मात्)** जिस अध्यवसाय-अज्ञानरूप परिणाम के माहात्म्य से **(विश्वं-चेतनाचेतनं—लोकालोकं शुभाशुभं-चराचरम्)** चेतन और अचेतन, लोक और अलोक, शुभ और अशुभ, चर और अचर रूप विश्व को **(आत्मानम्-स्वकीयम्)** आत्मरूप-अपना **(करोति विधत्ते)** करता है-समझता है **(यथा हिंसाध्यवसायात् हिंसक. तथा विपच्यमान नारक तिर्यङ्मनुष्यदेव पुण्यपापाध्यवसायान्नारक तिर्यञ्चम्-मनुष्य देव पुण्यं पापं चात्मानं करोति)** जैसे हिसा के अभिप्राय से आत्मा हिंसक होता है वैसे ही विपच्यमान-उदयागतरूप से अनुभव मे आने वाले नारक तिर्यंच मनुष्य देव, पुण्य और पापरूप अध्यवसाय-परिणामो से यह आत्मा अपने को नारक तिर्यंच मनुष्य देव पुण्य और पापरूप मान बैठता है **(किम्भूतः)** कैसा **(विश्वात्-चेतनाचेतनादिपदार्थात्)** चेतन और अचेतन आदि पदार्थों से **(विभक्तोऽपि-भिन्नोऽपि)** भिन्न होता हुआ भी अथवा जुदा है तो भी **(तदध्यवसायवशात्तन्मयोभवति)** पूर्वोक्त अभिप्राय के वश से तद्रूप होता है **(विश्वशब्दस्य-त्रिलोकार्थवाचकत्वाभावात् चेतनादि पदार्थ वाचकत्वाच्च न सर्वादिगणत्वम्)** विश्व शब्द तीन लोक रूप अर्थ का वाचक न होने से तथा चेतनादि पदार्थों का वाचक होने से सर्वादिगण का नही है ।

भावार्थ—वस्तुत यह आत्मा सभी चेतन और अचेतन पदार्थों से स्वरूपत सर्वथा पृथक्-जुदा है परन्तु अज्ञानी मिथ्याध्यवसाय के वशीभूत हो उन समस्त चेतन और अचेतन पदार्थो को अपने ही मानता हैं यहा तक कि जड शरीर को भी आत्मस्वरूप समझता है यह सब मिथ्याध्यवसाय का ही महत्त्व है । वस्तु तो जैसी है वैसी ही है परन्तु अज्ञानी अपने मिथ्या अध्यवसाय की सामर्थ से तीन लोक को अपने रूप कर लेता है उस अध्यवसाय की सामर्थ तीन लोक तक व अनंत जीव पुद्‌गलो मे राग-द्वेष करने तक फैलने की है व्यक्तता जितना मौका मिलता है उतनी होती है । बध तो सामर्थ के अनुसार पडता है । जिन्होने इससे अपना सम्बन्ध विच्छेद कर अपने को पहिचाना है वे ही सच्चे साधु हैं, मुनि हैं, यति है और हैं ऋषि ।

(अथाध्यवसायस्य व्यावहारिकत्व व्यवहरति) अब अध्यवसाय की व्यवहारिकता ।

सर्वत्राध्यवसानमेवमखिलं त्याज्यं यदुक्तं जिनै

[illegible]

सम्यङ्निश्चयमेकमेव तदमी निष्कम्पमाक्रम्य किं
शुद्धज्ञानघने महिम्नि न निजे वध्नन्ति सन्तो धृतिम् ॥११॥

अन्वयार्थ—**(यत्)** जिस कारण से **(जिनैः)** जिनेन्द्र देव ने **(सर्वत्र)** सभी पदार्थों मे **(अखिलम्)** समस्त **(अध्यवसानम्)** अध्यवसान को **(त्याज्यम्)** त्यागने योग्य **(एव)** ही **(उक्तम्)** कहा है **(तत्)** तिस कारण से **(अहम्)** मैं **(मन्ये)** मानता हूँ कि **(अन्याश्रयः)** पराश्रित **(निखिल.)** समस्त **(अपि)** ही **(व्यवहारः)** व्यवहार **(एव)** मात्र **(त्याजितः)** छुडा दिया है। **(तत्)** तव फिर **(अमी)** ये **(सन्तः)** सत्पुरुष **(एकम्)** एक-अद्वितीय **(सम्यक्निश्चयम्)** शुद्ध निश्चय नय को **(एव)** ही **(निष्कम्पम्)** निश्चल रूप से **(आक्रम्य)** प्राप्त करके **(निजे)** अपने **(महिम्नि)** महान् महिमा वाले **(शुद्धज्ञानघने)** निर्मल ज्ञानसमूह मे **(धृतिम्)** धैर्य-स्थिरता को **(किम्)** क्यो **(न)** नही **(वध्नन्ति)** धारण करते हैं।

सं० टीका—**(जिनैः-केवलज्ञानिभिः)** जिन-केवल ज्ञानियो ने **(उक्तं-प्रतिपादितम्)** प्रतिपादन किया है **(किम्)** क्या ? **(सर्वत्र-निखिलपरवस्तुनि)** सभी परवस्तुओ मे **(यत्)** जो **(अखिलं-समस्तमेव)** सारे का सारा **(अध्यवसानं-व्यवसाय.)** पर को अपना माननेरूप व्यवहार **(त्याज्यं त्यजनीयम्)** त्यागने योग्य है **(तत्-व्यवसायहापनम्)** वह व्यवहार का छुडाना **(मन्ये-अहम् जाने)** मैं जानता हूँ **(निखिलोऽपि-समस्तोऽपि)** समस्त-सब का सब **(व्यवहार एव-व्यवहारनय एव)** व्यवहार नय ही **(त्याजितः)** छुडा दिया है **(हेतु गर्भित विशेषणमाह)** हेतुगर्भित विशेषण जिसके मध्य मे हेतु पडे हुए हैं ऐसे विशेषण को कहते हैं **(अन्याश्रय -पराश्रितः-निश्चयनयेन पराश्रितमध्यवसाय बन्धहेतुत्वेन मुमुक्षोः प्रतिषेधयता व्यवहार नय एव प्रतिषिद्धः)** निश्चयनय से-पराश्रित अध्यवसाय-पराधीन विचारधारा को वन्ध का कारण होने से मुमुक्षु-मुक्ति होने की इच्छारखने वालो के लिए निषेध करने वाले भगवान ने व्यवहार मात्र का निषेध कर दिया है **(तस्यापि पराश्रितत्वाविशेषात्)** क्योकि वह सारा ही व्यवहार पराधीन ही है **(तत्-र्तांह)** तो **(किं कर्तव्यम्)** क्या करना चाहिए ? **(अमी-एते)** ये **(सन्तः-सत्पुरुषाः)** महापुरुष **(निजे-आत्मीये)** आत्मीय-अपने **(महिम्नि-माहात्म्ये)** महत्त्व मे **(धृतिं-सन्तोषम्)** सन्तोष को **(स्थिरतां वा)** अथवा स्थिरता को **(किम्-किमु)** क्यो **(न)** नही **(बध्नन्ति)** बाधते हैं **(अपि तु कुर्वन्तीत्यर्थः)** किन्तु बाधते है **(किम्भूते)** कैसे ? **(शुद्धज्ञानघने-कर्ममलकलङ्करहित बोधनिरन्तरे)** कर्ममलरूप कलङ्क से रहित अविनश्वर ज्ञान मे **(किं-कृत्वा)** क्या करके **(आक्रम्य-सम्प्राप्य)** अच्छी तरह से प्राप्त करके **(किम्)** क्या **(एकम्-अन्यनिरपेक्षम्)** अन्य की अपेक्षा से रहित अतएव एक-अद्वितीय **(एव-निश्चयेन)** निश्चय से **(सम्यग्निश्चयम्-शुद्धनिश्चय-नयम्)** शुद्ध निश्चय नय को **(किम्भूतम्)** कैसे **(निष्कम्पम्-अचलम्)** निश्चल **(स्वरूपे स्थिरत्वात्)** स्वरूप मे स्थिरता होने से।

भावार्थ—भगवान जिनेन्द्र प्रभु ने समस्त पर पदार्थों मे "अहपने-ममता" का परित्याग कराया है इससे ऐसा मालूम पडता है कि उन्होने पराधीन सारा व्यवहार ही छुडा दिया है और शुद्ध ज्ञानस्वरूप

आत्मा मे ही स्थिर रहने का उपदेश दिया है। व्यवहार की प्रवृत्ति सयोग मे, विकार मे और भेद के द्वारा होती है वह समस्त ही पराश्रित होता है अत समस्त पराश्रितपने को छुडाकर स्वाश्रित बनने को कहा है पराश्रितपना ही ससार है। आचार्यश्री ने सत्पुरुषो का आत्मिक स्वरूप मे निमग्न न होने का महान् आश्चर्य प्रकट करते हुए उस ओर अग्रसर होने की हार्दिक प्रेरणा की है।

(**अथ रागादीना किं कारणम् ? इति साक्षेपं प्रश्नोत्तरं पद्यद्वयेन निर्मिमीते**) अब राग-द्वेष आदि की उत्पत्ति का कारण क्या है ? इस प्रकार के आक्षेप के साथ किये गये प्रश्न का दो पद्यो द्वारा उत्तर देते हैं—

रागादयो बन्धनिदानमुक्तास्तेशुद्धचिन्मात्रमहोऽतिरिक्ताः।
आत्मा परो वा किमु तन्निमित्तमिति प्रणुन्नाः पुनरेवमाहुः ॥१२॥

अन्वयार्थ—(**ये**) जो (**रागादयः**) राग-द्वेष आदि (**बन्धनिदानम्**) बन्ध के कारण (**उक्ताः**) कहे गये हैं (**ते**) वे रागादि (**शुद्धचिन्मात्रमहोऽतिरिक्ताः**) शुद्ध चैतन्य स्वरूप आत्मिक तेज से बिलकुल ही जुदे (**सन्ति**) है। (**तन्निमित्तम्**) उन रागादि का निमित्त (**किमु**) क्या (**आत्मा**) आत्मा (**अस्ति**) है (**वा**) अथवा (**पर**) आत्मा से भिन्न कोई दूसरा (**इति**) इस प्रकार से (**प्रणुन्ना**) प्रेरणा किये गये—अर्थात् पूछे गये (**पुनः**) फिर से (**एवम्**) इस प्रकार से (**आहु.**) कहते है अर्थात् उत्तर देते हैं।

सं० टीका—(**इति-साक्षेपम्**) आक्षेप सहित (**प्रणुन्ना.-शुद्धनयावलम्बिन-पृष्टा सन्त.**) पूछे गये शुद्ध नय का अवलम्बन करने वाले ज्ञानी आचार्य महाराज (**पुन-भूय**) फिर से (**एव अग्रे वक्ष्यमाणम्**) इस प्रकार से—आगे कहे जाने वाले (**पर-उत्तरम्**) श्रेष्ठ उत्तर को (**आहुः-कथयन्ति**) कहते है (**इति किम्**) वह कैसा (**ते-प्रसिद्धाः**) वे-प्रसिद्ध (**रागादयः-रागद्वेषमोहा·**) राग-द्वेष मोह (**बन्धनिदानम्-कर्मबन्धकारणम्**) कर्म बन्ध के कारण (**उक्ताः-प्रतिपादिताः**) प्रतिपादन किये गये हैं (**किम्भूतास्ते**) वे कैसे ? (**शुद्धेत्यादि.-शुद्धचिदेव मात्रा प्रमाणं यस्य तत् तच्च तन्मह. परमज्योति तेन तस्माद्वा**) शुद्ध चैतन्य स्वरूप उत्कृष्ट तेज से (**अतिरिक्ता-भिन्ना**) भिन्न-जुदे (**तन्निमित्तं-रागादीनां-निमित्त-उत्पादकारणम्**) उन रागादि को उत्पत्ति के कारण (**किमु-अहो**) क्या है ? (**आत्मा-चेतनः**) चैतन्य आत्मा (**रागादीनामुत्पादक.**) राग आदि का उत्पादक-उत्पन्न करने वाला है (**वा**) अथवा (**पर-पुद्गल**) आत्मा से पर-भिन्न-पुद्गल (**तद्धेतुः**) उन राग आदि की उत्पत्ति का कारण (**अस्ति**) है (**इत्युक्ते**) ऐसा कहने पर (**आहु**) उत्तर मे कहते हैं—

भावार्थ--कोई शिष्य जिज्ञासु-जानने की इच्छा वाला आचार्यश्री से प्रश्न करता है कि आपन पूर्व मे बन्ध के मूल कारण रागादि कहे हैं और यह भी कहा है कि वे रागादि विभाव भाव चितविकार होते हुए भी शुद्ध चैतन्य स्वरूप आत्मा के नही है क्योकि वे आत्मा के शुद्ध स्वरूप मे नही पाय जाते हैं। ऐसी स्थिति मे उनका निमित्त कौन है ? आत्मा है कि आत्मा से अलग कोई दूसरा पदार्थ है ?

आचार्य उक्त प्रश्न का उत्तर नीचे के श्लोक मे दे रहे है—

न जातु रागादिनिमित्तभावमात्मात्मनो याति यथार्ककान्तः।
तस्मिन्निमित्तं परसङ्ग एव-वस्तुस्वभावोयमुदेति तावत् ॥१३॥

अन्वयार्थ—(**आत्मा**) आत्मा (**आत्मनः**) अपने (**रागादिनिमित्तभावम्**) रागादि के निमित्त भाव को (**जातु**) कभी (**न**) नही (**याति**) प्राप्त होता (**यथा**) जैसे (**अर्ककान्तः**) सूर्यकान्तमणि। अर्थात्—सूर्य कान्तमणि स्वय ही अग्निरूप नही होता है किन्तु उसमे सूर्य का निमित्त होता है। वैसे ही (**तस्मिन्निमित्तम्**) रागादि मे निमित्त (**परसङ्ग**) पुद्गल द्रव्य का सम्बन्ध (**एव**) ही (**अस्ति**) है। (**अयम्**) यह (**वस्तुस्वभावः**) वस्तु का स्वभाव (**उदेति तावत्**) सदा उदय को प्राप्त है।

स० टी०—(**जातु-कदाचित्**) कभी (**आत्मा-चिद्रूप**) चैतन्य आत्मा (**आत्मनः-स्वस्य**) अपने (**रागेत्यादि.-रागादीना रागद्वेषमोहानाम्**) राग-द्वेष मोह के (**निमित्तभावम्-उपादानकारणत्वम्**) निमित्तभाव को उपादान कारण होने से (**न**) नही (**याति-प्राप्नोति**) प्राप्त करता है (**तर्हि तन्निमित्तम्**) तो उन रागादि का निमित्त (**किम्**) क्या (**अस्ति**) है ? (**तस्मिन्-आत्मनि**) उस आत्मा मे (**परसङ्गः-परेषा पुद्गलादीना सङ्गः-सयोग**) पुद्गलादि परद्रव्यो का सयोग-सम्बन्ध (**एव-निश्चयेन**) निश्चय से (**तन्निमित्तं-तेषा रागादीनां निमित्त कारणम्**) उन रागादि का कारण (**अस्ति**) है (**इममेवार्थमुपमीयते**) इस ही अर्थ को उपमा देकर प्रकट करते हैं (**अर्ककान्त.-स्फटिकोपल**) अर्ककान्त-सूर्यकान्त-स्फटिकमणि (**यथा-इव**) जैसे (**तथाहि**) वैसे ही (**यथा स्फटिकोपल परिणामस्वभावत्वे सत्यपि स्वस्य शुद्धस्वभावत्वेन रागादिनिमित्तत्वाभावात् स्वय न परिणमते परद्रव्येणैव रागादिनिमित्तभूतेन स्वस्वरूपात्प्रच्याव्य रागादिभि. परिणम्यते**) जैसे स्फटिकमणि परिणमनशील है तो भी शुद्धस्वभाव से स्वयम विकार रूप परिणमन नही करता है क्योकि वह विकार का निमित्त नही है किन्तु विकार के निमित्तभूत परद्रव्य के द्वारा ही अपने खास स्वरूप से च्युत कराकर विकाररूप से परिणमन कराया जाता है। (**तथा केवल.-आत्मा परिणामस्वभावत्वे सत्यपि रागादिनिमित्तत्वाभावात् स्वय न परिणमते परद्रव्येणैव तन्निमित्तभूतेनस्वस्वरूपात्प्रच्याव्य तै. परिणम्यते**) वैसे आत्मा परिणाम स्वभावरूप है तो भी रागादि का निमित्त नही है क्योकि वह स्वतः ही रागादिरूप परिणमन नही करता है किन्तु रागादि के निमित्तभूत पुद्गलादि परद्रव्य के द्वारा ही अपने असली स्वरूप से पतित करके रागादि रूप से परिणमन कराया जाता है। (**इति**) ऐसा (**तावत्-प्रथमम्**) सबसे पहले (**अयं पूर्वोक्त एव वस्तुस्वभावः**) यह पूर्व मे कहा हुआ वस्तु का स्वभाव ही (**समस्तं वस्तुस्वरूपम्**) समस्त वस्तु के स्वरूप को (**उदेति**) प्रकट करता है। (**उदय-गच्छति**) वस्तु का स्वरूप उदय को प्राप्त करता है।

भावार्थ—किसी भी द्रव्य का स्वभाव स्वय ही प्रकट होता है किसी दूसरे के द्वारा प्रकट नही किया जाता है। हा, विभाव की उत्पत्ति मे परद्रव्य का अवलम्बन कारण होता है क्योकि बिना पर के अवलम्बन के विभाव भाव नही होते हैं। विभाव भाव भी दो प्रकार के होते है—एक चेतन रूप और एक अचेतन रूप। चेतनरूप आत्मा के विभाव हैं जो पुद्गल द्रव्य के निमित्त से बनते और बिगडते हैं। अचेतनरूप विभाव रागादि आत्मा की रागरूप परिणति के निमित्त से पुद्गल मे बनते और बिगडते हैं। दोनो ही सयोजक भाव हैं अतएव क्षणनश्वर हैं अनित्य हैं।

(अथ ज्ञानिनस्तदकर्तृकत्वमुद्भावति) अब ज्ञानी उन रागादि भावो का कर्ता नही है यह प्रकट करते है—

इति वस्तुस्वभावं स्वं ज्ञानी जानाति तेन सः ।
रागादींनात्मनः कुर्यान्नतो भवति कारकः ।।१४।।

अन्वयार्थ—**(इति)** पूर्वोक्त प्रकार के **(स्वम्)** अपने **(वस्तुस्वभावम्)** वस्तुस्वभाव को **(ज्ञानी)** ज्ञानी **(जानाति)** जानता है **(तेन)** इसलिए **(सः)** वह **(रागादीन्)** राग-द्वेष आदि को **(आत्मनः)** निज रूप **(न)** नही **(कुर्यात्)** करता है **(अत)** अत **(कारकः)** रागादि का कारक–करने वाला **(न)** नही **(भवति)** होता है ।

सं० टीका—**(इति-पूर्वोक्तप्रकारेण)** पूर्व मे कहे अनुसार **(ज्ञानी-पुमान्)** ज्ञानी-वस्तुस्वरूप का ज्ञाता पुरुष **(स्वम्-आत्मीयम्)** अपने **(वस्तुस्वभावम्-रागादि व्यतिरिक्तं स्ववस्तुस्वरूपम्)** रागादि शून्य-अर्थात् रागादि से पृथक् अपनी आत्मा के असली स्वरूप को **(जानाति-वेत्ति)** जानता है **(येन-कारणेन वेत्ति तेनैव-कारणेन)** जिस कारण से जानता है तिस कारण से ही **(सः-ज्ञानी)** वह ज्ञानी **(रागादीन्)** राग आदि को **(आत्मनः-स्वस्य)** अपने **(न कुर्यात्-स्वसात्-न करोति)** रूप नही करता है । **(यत)** जिससे **(अतः)** इससे **(कारकः-कर्मणा कर्ता न भवति)** कर्मों का कर्ता नही होता है ।।१४।।

भावार्थ—ज्ञानी वस्तुत अपने ज्ञानादि भावो का ही कर्त्ता होता है । क्योकि वे उसके स्वभाव भाव है । जैसा ज्ञान के साथ आत्मा का एकपना है वैसा रागादि के साथ नही है । ज्ञान के अभाव मे – आत्मा का अभाव है परन्तु रागादि के अभाव मे आत्मा का अभाव नही है । अत. शुद्धदृष्टि मे आत्मा अपने ज्ञानदर्शन का ही कर्त्ता है । रागादि तो पर्याय मे होने वाले कर्मसापेक्ष विकारी भाव हैं । राग-द्वेष मोह आदि कर्मजनित सयोजक भाव हैं उनका कर्ता एकमात्र अज्ञानी ही होता है । ज्ञानी तो उनका मात्र ज्ञाता ही है कर्ता नही । क्योकि परद्रव्य का कर्ता वही परद्रव्य होता है जिसका वह भाव है उससे भिन्न कोई भी द्रव्य उसका कर्ता नही होता है यह वस्तुगत स्वभाव है जो त्रिकाल अबाधित है, अपरिहार्य है और हैं अखण्डनीय ।

(अथाज्ञानं स्फूर्जति) अब अज्ञान का वर्णन करते हैं—

इति वस्तुस्वभावं स्वं नाज्ञानी वेत्ति तेन सः ।
रागादीनात्मनः कुर्यादतो भवति कारकः ।।१५।।

अन्वयार्थ—**(इति)** पूर्वोक्त प्रकार के **(स्वम्)** अपने **(वस्तुस्वभावम्)** रागादि से भिन्न आत्मपदार्थ के स्वभाव को **(अज्ञानी)** अज्ञानी **(न)** नही **(वेत्ति)** जानता है **(तेन)** इसलिए **(सः)** वह **(रागादीन्)** राग-द्वेष आदि को **(आत्मन)** अपने **(कुर्यात्)** करता है **(अत)** अत **(कारकः)** रागादि का करने वाला **(भवति)** होता है ।

सं० टीका—(**इदं-पद्यम्-पूर्वतो विपर्यस्त व्याख्येयं सुगमं च**) यह पद्य पूर्व पद्य से सर्वथा विपरीतार्थक है अतएव उससे बिलकुल विपरीत रूप से व्याख्या करने योग्य है और सरल है।

भावार्थ—स्वपर स्वरूप का ज्ञान न होने से अज्ञानी रागादि को अपने मानता है अतएव उनका कर्ता बन जाता है। जैसा ज्ञानी के साथ ज्ञान का एकपना है अत वह ज्ञान का कर्त्ता है वैसा ही अज्ञानी का विकारी भावो के साथ एकपना है अत वह उनका कर्त्ता बन जाता है ॥१५॥

(**अथ परद्रव्यमुद्धर्तु कामं समभिष्ठौति**) अब परद्रव्य का परित्याग करने की इच्छा करने वाले की प्रशसा करते है—

इत्यालोच्य विवेच्य तत्किल परद्रव्यं समग्रं बलात्
तन्मूलां बहुभावसन्ततिमिमामुद्धर्तुकामः समम् ।
आत्मानं समुपैति निर्भरवहत्पूर्णैकसंविद्युतं
येनोन्मूलितबन्ध एष भगवानात्मात्मनि स्फूर्जति ॥१६॥

अन्वयार्थ--(**इति**) पूर्वोक्त प्रकार से (**आलोच्य**) अच्छी तरह विचार करके (**किल**) निश्चय से (**तत्**) उस (**समस्तन्**) समस्त (**परद्रव्यम्**) परपदार्थ को (**विवेच्य**) अपने से पृथक् करके (**तन्मूलाम्**) पर द्रव्यमूलक (**इमाम्**) इस (**वहुभाव सन्ततिम्**) विविध प्रकार के रागादि रूप भावो की परिपाटी को (**बलात्**) बल पूर्वक (**समम्**) एक साथ (**उद्धर्तुकामः**) उद्धार-दूर करने की इच्छा वाला (**एष**) यह (**भगवान्**) भगवान (**आत्मा**) आत्मा (**येन**) जिस ज्ञान से (**उन्मूलितबन्धः**) मूल से ही बन्धन को उखाड फेंका है (**तेन**) उस ज्ञान से (**निर्भरवहत्पूर्णेकसवित् युतम्**) अत्यन्त रूप से एक सवेदन से युक्त परिपूर्ण अद्वितीय ज्ञान से सहित (**आत्मानम्**) आत्मा को (**समुपैति**) प्राप्त करता है (**अतएव**) और (**आत्मनि**) आत्मा मे-अपने ही स्वरूप मे (**स्फूर्जति**) स्फुरायमान-प्रकाशमान रहता है।

सं० टीका—(**एषः-सः**) यह (**आत्मा-चिद्रूपः**) चैतन्य स्वरूप (**कर्ता**) कर्ता (**आत्मनि-स्वस्वरूपे अधिकरणभूते**) आधारभूत अपने आत्मस्वरूप मे (**स्फूर्जति-गर्जति-प्रकटीभवति वा**) स्फुरायमान रहता है अथवा प्रकट रहता है। (**किम्भूत ?**) कैसा (**उन्मूलितबन्ध.-उन्मूलितनिराकृतो बन्धो येन सः**) जिसने बन्ध का उन्मूलन-निराकरण कर दिया है अर्थात् जो बन्ध रहित है (**स**) वह (**पुन**) फिर (**भगवान्-ज्ञानवान्**) भगवान् ज्ञानवान् (**पुन**) फिर (**कीदृक्ष.**) कैसा (**बलात्-ध्यानादिलक्षणात् ठात्**) बल-ध्यान आदि स्वरूप-हठ से (**इमां-प्रसिद्धाम्**) इस-प्रसिद्ध (**बह्वित्यादिः-बहूना भावाना-विभावपरिणामानां सन्तति-परम्परा ताम्**) बहुत से राग-द्वेष, काम, क्रोध आदि विभाव भावो की परम्परा को (**रागद्वेषमोहपरम्परामित्यर्थः**) अर्थात् राग-द्वेष मोह रूप विभावो की परम्परा को (**समम्-युगपत्**) एक साथ (**उद्धर्तुकामः-उद्धर्तुं निराकर्तुं कामः वाञ्छा यस्य स**) निराकरण करने की इच्छा वाला (**कुत**) किससे (**स्वस्मात्-इत्यनुक्तमप्यपादानं ज्ञेयम्**) अपने से—यहा नही कहा हुआ-स्वस्मात्—यह अपादान पद उपस्कार से ग्रहण

किया गया है ऐसा जानना चाहिए। अर्थात् स्वय-आत्मा से (**किम्भूताम्**) कैसी (**तन्मूलाम्-तदेव परद्रव्य-मेव तस्यैव वा मूलं कारणं या ताम्**) वह पर द्रव्य ही जिसका कारण है। अथवा जो परद्रव्य का ही मूल कारण है (**सः क**) वह कौन (**येन-ज्ञानरूपेण करणभूतेन**) करणरूप जिस ज्ञान से (**आत्मानं-कर्मतापन्नम्**) कर्मत्व को प्राप्त-आत्मा को (**समुपैति-प्राप्नोति**) प्राप्त करता है (**किम्भूतं-तम्**) कैसी उस आत्मा को (**निर्भरेत्यादिः-निर्भरेण अतिशयेन-वहन्ती-समस्तवस्तुग्रहणाय प्रवर्तमाना सा चासौ पूर्णा अखण्डा सा चासा वेका संवित्-ज्ञानं तया युतं संयुतम्**) अतिशय रूप से समस्त वस्तुओ को ग्रहण करने के लिए प्रवृत्ति करने वाले परिपूर्ण ज्ञान से सहित (**किं कृत्वा**) क्या करके (**किलेति निश्चितम्**) निश्चित रूप से क्योकि किल यह अव्यय निश्चित अर्थ मे आया है (**तत्-प्रसिद्धम्**) वह-प्रसिद्ध (**समग्रं-निखिलम्**) समस्त (**परद्रव्यम्**) परद्रव्य (**कस्येत्याकांक्षायाम्-**) किसके-ऐसी आकाक्षा मे (**स्वस्येतिसम्बन्धोऽनुक्तोऽप्यूह्यः**) 'स्वस्य' इस पद का सम्बन्ध यद्यपि नही कहा गया है तो भी समझ लेना चाहिए अर्थात् अपने से (**विवेच्यपृथक्कृत्य**) पृथक् करके (**किं कृत्वा**) क्या करके (**इति-पूर्वोक्त प्रकारेण**) पूर्व मे कहे अनुसार (**आलोच्य-सम्यग्विचार्य**) भले प्रकार विचार-विमर्श करके (**किमर्थम्**) किस लिए (**स्वस्मै**) अपने लिए (**इत्यप्यत्रज्ञेयम्**) यह भी यहा जानना चाहिए ॥१६॥

भावार्थ—ज्ञानावरण आदि द्रव्य कर्मों का निमित्त राग-द्वेष मोह आदि भाव कर्म हैं तथा भावकर्मों का कारण द्रव्य कर्मों का उदय है। इस प्रकार से इन दोनो मे परस्पर मे निमित्त नैमेत्तिक सम्बन्ध है। यह निमित्त नैमेत्तिक सम्बन्ध अनादित प्रवाह रूप से चलता चला आ रहा है। इसका मूलकारण पर-द्रव्य का सयोग है। अज्ञानी को इसकी खबर नही है क्योकि वह अज्ञानरूप अन्धकार से अन्धा बना हुआ है। हा, ज्ञानी-स्वपर विवेकी जब अन्तर्मुखी दृष्टि से देखता है तब उसे यह स्पष्ट रूप से प्रतिभासित होता है कि राग-द्वेष आदि का मूल कारण पर-पुद्गल-द्रव्य का सयोग है यदि इस सयोग का जडमूल से उन्मूलन कर दिया जाय तो निस्सन्देह आत्मा आत्मस्वरूप मे सदा के लिए निमग्न हो जाय। अत ज्ञानी अपनी ज्ञानशक्ति से उक्त पर द्रव्य को आत्मा से जुदा करने की तीव्र अभिलाषा ही नही करता है प्रत्युत् ध्यानादि के द्वारा बलपूर्वक उसे दूर कर एकमात्र आत्मस्वरूप मे ही रत हो जाता है जो ज्ञानी का मुख्य लक्ष्य था ॥१६॥

(**अथ रागादीनां दारकत्वं दिशति**) अब ज्ञानी राग-द्वेष मोह का विदारण करने वाला है यह दिखाते हैं—

रागादीनामुदयमदयं वारयत्कारणानां
कार्यं बन्धं विविधमधुना सद्य एव प्रणुद्य।
ज्ञान ज्योतिः क्षपिततिमिरं साधुसन्नद्धमेतत्
तद्वद्यद्वत्प्रसरमपरः कोऽपि नास्यावृणोति ॥१७॥

अन्वयार्थ—(**क्षपिततिमिरम्**) अज्ञानान्धकार का विनाशक (**रागादीनाम्**) राग-द्वेष आदि (**कार-**

णानाम्) कारणो के (**उदयम्**) उदय को (**अदयम्**) निर्दयता पूर्वक (**दारयत्**) विदारण करने वाला (**ज्ञानज्योति·**) ज्ञानरूप प्रकाश (**अधुना**) इस समय (**विविधम्**) नाना प्रकार के (**बन्धम्**) वन्धरूप (**कार्यम्**) कार्य को (**सद्य·**) शीघ्र (**एव**) ही (**प्रणुद्य**) विनाश करके (**एतत्**) यह ज्ञानरूप महाज्योति (**साधु**) सम्यक् प्रकार से (**सन्नद्धम्**) सज्ज हुई (**तद्वत्-यद्वत्**) ऐसी सज्ज हुई कि (**अपरः**) दूसरा (**क·**) कोई (**अपि**) भी (**अस्य**) इस ज्ञानज्योति के (**प्रसरम्**) विस्तार को (**न**) नही (**आवृणोति**) आवरण कर सकता है।

स० टीका—(**तद्वत्-तथा**) उस प्रकार से (**एतत्**) यह (**ज्ञानज्योति-वोधतेज**) ज्ञान का प्रकाश (**अपरम्-न विद्यते पर अन्यत्-यस्य तत्**) जिसमे किसी दूसरे का सद्भाव नही है ऐसे (**प्रसरम्-प्रस्तारं-विस्तारम्**) विस्तार को (**यातीत्याध्याहार्यम्**) प्राप्त करता है। यहाँ 'याति' इस क्रिया पद का अध्याहार करना चाहिए। (**यद्वत्-यथा**) जैसे-जिस प्रकार से (**अस्य-ज्ञानज्योतिषः**) इस ज्ञानरूप प्रकाश के (**विस्तरम्**) विस्तार को (**कोऽपि अपर कर्मादिः**) कोई दूसरा कर्म आदि (**नावृणोति-नाच्छादयति**) आवरण-आच्छादन न करे। (**कीदृक्षम्-तत्**) वह ज्ञानरूप प्रकाश कैसा ? (**क्षपिततिमिरम्-क्षपितं-निराकृतं तिमिर-अज्ञानम्-येन तत्**) जिसने अज्ञानरूप तिमिर का निराकरण कर दिया है (**अपरमपि ज्योतिः नाशितान्धकारम्**) दूसरा जड प्रकाश भी जडरूप अन्धकार का विनाशक होता है। (**पुनः**) फिर (**साधुसन्नद्धम्-साधुभि·-योगीश्वरै.**) योगीश्वरो के द्वारा (**पक्षे-सत्पुरुषै.**) पक्षान्तर मे सज्जनो द्वारा (**सन्नद्धम्-आरूढम्**) प्राप्त किया गया पक्षान्तर मे प्रशसा किया गया-अर्थात् (**स्तुतं च साधुभि. स्तूयमानत्वाज्ज्योतिषः**) साधु मुनिजनो के द्वारा ज्ञान ज्योति की स्तुति-प्रशसा की जाती है (**पुनः**) फिर (**रागादीनां-रागद्वेषमोहानाम्**) राग-द्वेष मोह के (**उदयम्-प्राकट्यम्**) उदय-प्रकट रूप से फलदान शक्ति को (**अदयं-निर्दयं यथा भवति तथा**) निर्दयतापूर्वक (**भवति तथा**) जैसे वने वैसे (**सद्य एव तत्कालमेव**) तत्काल ही-उसी समय (**दारयत्-विदारणं कुर्वत्**) विदारण करता हुआ (**अन्यदपि ज्योति**) दूसरा प्रकाश भी (**प्रातर्जाना रागादीना दारकमित्युक्तिलेश.**) प्रात काल मे उत्पन्न होने वाले राग-लालिमा-ललाई आदि का विनाशक होता है यह इस कथन का तात्पर्यार्थ है। (**किं कृत्वा**) क्या करके (**अधुना-इदानीम्**) इस समय (**विविधं-प्रकृतिस्थित्यनुभागादि भेदेनानेकविधम्**) प्रकृति-स्थिति और अनुभाग आदि के भेद से अनेक प्रकार के (**बन्धम्**) वन्ध को (**प्रणुद्य-निराकृत्य**) निराकरण करके—(**किम्भूतम्**) कैसे बन्ध को (**कारणाना-उपादानरूपपुद्गलानाम्**) कारण-उपादान कारणरूप पुद्गलो के (**कार्यं-फलम्-कर्मरूपम्**) कर्मरूप फल को।

भावार्थ—जैसे पौद्गलिक प्रकाश पौद्गलिक अन्धकार को नष्ट कर देता है वैसे ही आत्मिक ज्ञान-प्रकाश आत्मिक अज्ञानान्धकार को नष्ट कर देता है। आशय यह है कि दर्शनमोहनीय कर्म के सम्बन्ध से आत्मा का ज्ञान-अज्ञान-विपरीत ज्ञान हो जाता है। उसकी विपरीतता का विनाश भी ज्ञान से ही होता है। अतएव जव आत्मा स्वय ही ज्ञान की स्थिति मे आता है तव अज्ञान का कारण मिथ्यात्व का विनाश करके ही आता है। पश्चात् जो चारित्रमोहनीय कर्म सम्बन्धी राग-द्वेष आदि बन्ध के कारण शेष रह

जाते हैं। ज्ञानी उनका भी विनाश करने मे सतत् प्रयत्नशील रहता है। उनका विनाश कर चुकने पर पूर्वसञ्चित कर्मों का भी विनाश करता है जो बन्ध के कार्य कहे जाते हैं। इस प्रकार से ज्ञानी तब तक ज्ञानप्रकाश के विस्तार मे सोद्यम रहता है जबतक कि वह पूर्णरूप से आवरण रहित नही हो जाता है।

आठ कर्मों मे मोह कर्म ही रागादिक रूप परिणमन मे निमित्त होता है और उस रागादि के परिणमन से ही आठो कर्मों का बध होता है। इसलिए यही विचार करना है कि जब मोह कर्म का उदय है तब रागादिक परिणमन होगा ही ऐसा मानकर जीव अपने पुरुषार्थ से वचित हो रहा है उसका क्या उपाय है? करणानुयोग मे जो कथन है वह अज्ञानी की अपेक्षा है। जैसे एक लकडी पानी के बहाव मे पडी है उसका अपना कोई पुरुषार्थ नही है पानी जिधर ले जाता है, जोर से, अथवा धीरे से उधर ही चलती रहती है। ऐसी ही दशा अज्ञानी की है जैसा कर्म का उदय है उस रूप परिणमन करता जा रहा है कभी तीव्र आता है तब तीव्ररूप, कभी मद आता है तब मदरूप। जब ज्ञानी हो जाता है अपने स्वभाव को समझता है तब मोह कर्म का खिचाव तो कर्म की अपनी तरफ होता है। परन्तु आत्मा अपना पुरुषार्थ करके अपना झुकाव अपने स्वभाव की तरफ लगाता है तब कर्म के खिचाव मे से जीव का जितना पुरुषार्थ अपने स्वभाव की तरफ लगा उतना कम होकर वाकी का ही विभाव परिणमन होता है। अज्ञानावस्था मे जिधर कर्म का खिचाव था उधर ही अज्ञानी की भी जाने की रुचि थी अत कर्म का खिचाव और आत्मा का खिचाव दोनो मिलकर विभाव होता था शास्त्री भाव मे इसको उदीरणा कहते हैं और पहले को उदयाभावी क्षय कहते हैं। कर्म तो फल देने को आया परन्तु जीव लेने को तैयार नही था। यह तभी सम्भव होता है जब यह स्वभाव का आश्रय ले—कर्म का आश्रय न ले। गुणस्थानो के अनुसार जितना फल लेना पडा उतना उदय कहलाया बाकी का उदयाभावी क्षय कहलाया। इस प्रकार आत्मा की यहाँ भी स्वतत्रता रही, जितना आत्मबल था उतना उदयाभावी क्षय और जितनी आत्मबल की कमी उतना खिचाव कहे अथवा विभाव परिणमन कहे अथवा कर्म का उदय कहे। इसी वजह से पचास्तिकाय प्रवचनसार और समयसार मे कई जगह आचार्यों ने कहा है कि द्रव्यमोह का उदय होते हुए भी जीव भावमोह रूप न परिणमन करे। परन्तु कितना ? गुणस्थानो के अनुसार ही आत्मबल होगा। गृहस्थ चौथे गुणस्थान वाला बिल्कुल भी राग-द्वेष रूप परिणमन न करे—ऐसा नही हो सकता वैसा आत्मबल श्रेणी माण्डे हुए मुनि मे ही हो सकता है। इसी प्रकार से सर्वार्थसिद्धि की टीका मे लिखा है कि द्रव्यादि निमित्त के वश से कर्मों की फल प्राप्ति, वह उदय है। यहाँ पर जितना फल मिला उतना उदय कह रहे हैं। यह नही कहा है कि जितना उदय उतनी फल प्राप्ति। इससे सिद्ध होता है कि देने वाला देने को आया परन्तु लेने वाले ने जितना लिया उतना उदय वाकी का उदयाभावी क्षय हो गया अर्थात् विना फल दिए निर्जर गया।

जितने उदाहरण दिये जाते हैं सव पुद्गल के दिये जाते हैं उसमे अपना निज मे पुरुषार्थ करने की वात लागू नही होती जैसा निमित्त मिलता है वैसा नैमेत्तिक कार्य हो जाता है। परन्तु जीव मे अपनी निज की पुरुषार्थ शक्ति है वह चाहे तो निमित्त वनावे चाहे तो कम या ज्यादा अथवा नही वनावे।

जितना आत्मबल है उतना मोहकर्म को निमित्त न बनावे, तब उतना नैमेत्तिक कार्य भी न हो और अपने आत्मबल की कमी की वजह से जितना कर्म का अवलम्बन लेना पडे उतना नैमेत्तिक कार्य भी होगा ही। अत नैमेत्तिक कार्य निमित्त के सम्बन्ध से हुआ यह ठीक है परन्तु असली कारण हमारे आत्मबल की कमी है। जो आत्मानुभव के द्वारा बढाया जा सकता है। मोहकर्म के अलावा अघातिया कर्मों का कार्य तो ज्यादातर पुद्गलविपाकी है अत कर्म उदय के अनुसार कार्य होता रहता है वह आत्मकल्याण मे कोई खास बाधक नही है।

(इति श्री समयसारपद्यस्याध्यात्मतरंगिण्यपरनामधेयस्य व्याख्याया सप्तमोऽङ्कः।)

इस प्रकार से श्री समयसार के पद्यो की व्याख्या मे जिसका अपरनाम अध्यात्म-तरगिणी है यह सातवा अङ्क समाप्त हुआ।

अष्टमोऽङ्कः प्रारभ्यते

अथ मोक्षाधिकारः

नानाबंधध्वंसनकृतकेलिः कुन्दकुन्दविधुवर्यः।
विधिविविधामृतचन्द्रेद्धो भाति गुरुर्ज्ञानभूषाढ्यः॥

अन्वयार्थ—**(विधिविविधामृतचन्द्रेद्धो)** ...... अमृतचन्द्र आचार्य "के कलशो" से वृद्धि को प्राप्त तथा **(ज्ञानभूषाढ्य.)** ज्ञानरूपी भूषण से युक्त **(नानाबंधध्वंसनकृतकेलिः)** विविध कर्म बध के ध्वस के लिए क्रीडा करने वाले **(गुरुः)** दिगम्बर आचार्यश्री **(कुन्दकुन्दविधुवर्यः)** कुन्दकुन्द रूपी श्रेष्ठचन्द्र **(भाति)** सुशोभित होते हैं।

(अथ मोक्षतत्त्वं क्रम प्राप्तमाक्रामति) अब क्रम प्राप्त मोक्ष तत्त्व का प्रतिपादन करते हैं—

द्विधाकृत्य प्रज्ञाक्रकचदलनाद्बन्धपुरुषौ
नयन्मोक्षं साक्षात् पुरुषमुपलम्भैकनियतम्।
इदानीमुन्मज्जत्सहजपरमानन्दसरसं–
परं पूर्णं ज्ञानं कृत सकलकृत्यं विजयते॥१॥

अन्वयार्थ—**(इदानीम्)** अब बन्ध पदार्थ के बाद **(प्रज्ञाक्रकचदलनात्)** भेद विज्ञानरूप कैंची के द्वारा विदारण करने से **(बन्धपुरुषौ)** बन्ध और आत्मा को **(द्विधाकृत्य)** दो करके अर्थात् पृथक् करके **(उपलम्भैकनियतम्)** आत्मस्वरूप की प्राप्ति मे अद्वितीय रूप से निश्चित **(पुरुषम्)** आत्मा को **(साक्षात्)**

प्रत्यक्ष रूप से **(मोक्षम्)** मोक्ष की ओर **(नयन्)** प्राप्त कराता हुआ **(उन्मज्जत्सहजपरमानन्दसरसम्)** उदीयमान स्वाभाविक उत्कृष्ट आनन्द से भरपूर **(कृतसकलकृत्यम्)** सकल कर्तव्य कर्म को कर चुकने के कारण कृतकृत्य **(परम्)** सर्वोत्कृष्ट **(पूर्णम्)** परिपूर्ण **(ज्ञानम्)** ज्ञान **(विजयते)** जयवत प्रवर्तता है।

स० टी०—**(इदानीम्-अधुना, मोक्ष तत्त्व कथनावसरे)** इस समय अर्थात्—मोक्ष तत्त्व के निरूपण के अवसर पर **(ज्ञानम्)** ज्ञान **(विजयते-सर्वोत्कर्षेण वर्तते)** सर्वोत्कृष्ट रूप से शोभित होता है **(किम्भूतम्)** कैसा ? **(कृत्येत्यादिः-कृतं-निष्पादितम्-सकलं कृत्यं संसारावस्थाकर्तव्ये येन तत्)** जिसने ससार अवस्था के समस्त कर्तव्यो को कर लिया है अतएव कृतकृत्य **(पुन)** और **(पूर्णं-सम्पूर्णम्-प्रकर्षप्राप्तत्वात्)** प्रकर्ष-चरम सीमा को प्राप्त होने के कारण सम्पूर्ण **(परम्-उत्कृष्टम्-सर्वप्रकाशकत्वात्)** समस्त पदार्थो का प्रकाशक होने से सर्वोत्कृष्ट **(सहजेत्यादि-सहज अकृत्रिम., परमानन्दः-परमसुखम्-तेन सरसं-रसाढ्यम्)** स्वाभाविक परम सुख रूप रस से व्याप्त **(उन्मज्जत्-उदयं गच्छत्)** उदय को प्राप्त होता हुआ **(पुरुषम्-आत्मानम्)** पुरुष-आत्मा को **(साक्षात्-अक्रमेण)** प्रत्यक्ष रूप से **(मोक्षं-मुक्तिसम्पदम्)** मोक्षरूप सम्पत्ति को **(नयत्-प्रापयत्)** प्राप्त कराता हुआ **(किम्भूतम्-तत्)** कैसा वह ज्ञान **(उपेत्यादि -उपलम्भ. स्वस्वरूप-प्राप्तिः तत्र-एकेनस्वभावेननियतं-स्थितं-तत्र लीनमित्यर्थ)** अपनी आत्मा के निज स्वरूप की प्राप्ति मे स्वभाव से सलग्न **(किं कृत्वा)** क्या करके **(द्विधाकृत्य-पृथक् कृत्वा)** पृथक् करके **(कौ)** किनको **(बन्ध-पुरुषौ-बन्धः-कर्माश्लेषः-पुरुषः-आत्मा, द्वन्द्वः, तौ परस्परं मिलितौ पृथग्विधायेत्यर्थ)** कर्म सम्बन्धरूप वन्ध तथा पुरुष—अर्थात् आत्मा ये दोनो अनादित· परस्पर मे दूध और पानी की तरह मिले हुए हैं इनको जुदा करके **(कुतः)** किससे **(प्रज्ञेत्यादिः-प्रज्ञा-भेदविज्ञान सैव क्रकच.-करपत्रं-तेन दलन तस्मात्)** भेदविज्ञान रूप करोत के द्वारा दलने से।

भावार्थ—आत्मा अनादित अज्ञानी है। अज्ञान के कारण ही कर्मपुद्गलो को अपनी आत्मा के साथ बाधता रहता हे इसी का नाम वन्ध है। यह बन्धतत्त्व की सन्तति तव तक बरावर चलती रहती है जब तक कि भेदविज्ञान रूप सम्यग्ज्ञान का उदय नही होता है। इसके उदित होते ही आत्मा अपने को तथा अपने से भिन्न कर्म पुद्गलो के वन्ध विशेष को जान लेता है। पश्चात् वन्ध को छिन्न-भिन्न कर आत्मा को परिपूर्ण ज्ञानी बना कर मुक्तिधाम का पात्र बनता है।

(अथ प्रज्ञाछेत्रीमभिष्टौति) अब प्रज्ञा-भेदविज्ञान-रूप छैनी की प्रशशा करते हैं—

> **प्रज्ञाछेत्री शितेयं कथमपि निपुणैः पातिता सावधानैः**
> **सूक्ष्मेऽन्तः सन्धिबन्धे निपतति रभसादात्मकर्मोभयस्य।**
> **आत्मानं मग्नमन्तः स्थिरविशदलसद्धाम्नि चैतन्यपूरे**
> **बन्धं चाज्ञानभावे नियमितमभितः कुर्वती भिन्नभिन्नौ ॥२॥**

अन्वयार्थ—**(सावधानै)** सावधान-एकाग्रचित्त वाले **(निपुणैः)** सम्यग्ज्ञानियो के द्वारा **(कथमपि)**

जितना आत्मबल है उतना मोहकर्म को निमित्त न बनावे, तब उतना नैमेत्तिक कार्य भी न हो और अपने आत्मबल की कमी की वजह से जितना कर्म का अवलम्बन लेना पडे उतना नैमेत्तिक कार्य भी होगा ही। अत नैमेत्तिक कार्य निमित्त के सम्बन्ध से हुआ यह ठीक है परन्तु असली कारण हमारे आत्मबल की कमी है। जो आत्मानुभव के द्वारा बढाया जा सकता है। मोहकर्म के अलावा अघातिया कर्मों का कार्य तो ज्यादातर पुद्गलविपाकी है अत कर्म उदय के अनुसार कार्य होता रहता है वह आत्मकल्याण मे कोई खास बाधक नही है।

(इति श्री समयसारपद्यस्याध्यात्मतरगिण्यपरनामधेयस्य व्याख्याया सप्तमोऽङ्कः।)
इस प्रकार से श्री समयसार के पद्यो की व्याख्या मे जिसका अपरनाम अध्यात्म-तरगिणी है
यह सातवा अङ्क समाप्त हुआ।

अष्टमोऽङ्कः प्रारभ्यते

अथ मोक्षाधिकारः

नानाबंधध्वंसनकृतकेलिः कुन्दकुन्दविधुवर्यः।
विधिविविधामृतचन्द्रेद्धो भाति गुरुर्ज्ञानभूषाढ्यः॥

अन्वयार्थ—(विधिविविधामृतचन्द्रेद्धो) ······ ·· अमृतचन्द्र आचार्य "के कलशो" से वृद्धि को प्राप्त तथा (ज्ञानभूषाढ्यः) ज्ञानरूपी भूषण से युक्त (नानाबधध्वंसनकृतकेलिः) विविध कर्म बध के ध्वस के लिए क्रीडा करने वाले (गुरुः) दिगम्बर आचार्यश्री (कुन्दकुन्दविधुवर्यः) कुन्दकुन्द रूपी श्रेष्ठचन्द्र (भाति) सुशोभित होते हैं।

(अथ मोक्षतत्त्वं क्रम प्राप्तमाक्रामति) अब क्रम प्राप्त मोक्ष तत्त्व का प्रतिपादन करते हैं—

द्विधाकृत्य प्रज्ञाक्रकचदलनाद्बन्धपुरुषौ
नयन्मोक्षं साक्षात् पुरुषमुपलम्भैकनियतम्।
इदानीमुन्मज्जत्सहजपरमानन्दसरसं—
परं पूर्णं ज्ञानं कृत सकलकृत्यं विजयते॥१॥

अन्वयार्थ—(इदानीम्) अब बन्ध पदार्थ के बाद (प्रज्ञाक्रकचदलनात्) भेद विज्ञानरूप कैंची के द्वारा विदारण करने से (बन्धपुरुषौ) बन्ध और आत्मा को (द्विधाकृत्य) दो करके अर्थात् पृथक् करके (उपलम्भैकनियतम्) आत्मस्वरूप की प्राप्ति मे अद्वितीय रूप से निश्चित (पुरुषम्) आत्मा को (साक्षात्)

प्रत्यक्ष रूप से **(मोक्षम्)** मोक्ष की ओर **(नयन्)** प्राप्त कराता हुआ **(उन्मज्जत्सहजपरमानन्दसरसम्)** उदीयमान स्वाभाविक उत्कृष्ट आनन्द से भरपूर **(कृतसकलकृत्यम्)** सकल कर्तव्य कर्म को कर चुकने के कारण कृतकृत्य **(परम्)** सर्वोत्कृष्ट **(पूर्णम्)** परिपूर्ण **(ज्ञानम्)** ज्ञान **(विजयते)** जयवत प्रवर्तता है।

सं० टी०—**(इदानीम्-अधुना, मोक्ष तत्त्व कथनावसरे)** इस समय अर्थात्—मोक्ष तत्त्व के निरूपण के अवसर पर **(ज्ञानम्)** ज्ञान **(विजयते-सर्वोत्कर्षेण वर्तते)** सर्वोत्कृष्ट रूप से शोभित होता है **(किम्भूतम्)** कैसा ? **(कृत्येत्यादिः-कृतं-निष्पादितम्-सकलं कृत्यं संसारावस्थाकर्तव्ये येन तत्)** जिसने ससार अवस्था के समस्त कर्तव्यो को कर लिया है अतएव कृतकृत्य **(पुन)** और **(पूर्णं-सम्पूर्णम्-प्रकर्षप्राप्तत्वात्)** प्रकर्ष-चरम सीमा को प्राप्त होने के कारण सम्पूर्ण **(परम्-उत्कृष्टम्-सर्वप्रकाशकत्वात्)** समस्त पदार्थों का प्रकाशक होने से सर्वोत्कृष्ट **(सहजेत्यादिः-सहज अकृत्रिमः, परमानन्दः-परमसुखम्-तेन सरसं-रसाढ्यम्)** स्वाभाविक परम सुख रूप रस से व्याप्त **(उन्मज्जत्-उदयं गच्छत्)** उदय को प्राप्त होता हुआ **(पुरुषम्-आत्मानम्)** पुरुष-आत्मा को **(साक्षात्-अक्रमेण)** प्रत्यक्ष रूप से **(मोक्ष-मुक्तिसम्पदम्)** मोक्षरूप सम्पत्ति को **(नयत्-प्रापयत्)** प्राप्त कराता हुआ **(किम्भूतम्-तत्)** कैसा वह ज्ञान **(उपेत्यादि -उपलम्भ स्वस्वरूप-प्राप्तिः तत्र-एकेनस्वभावेननियतं-स्थितं-तत्र लीनमित्यर्थ)** अपनी आत्मा के निज स्वरूप की प्राप्ति मे स्वभाव से सलग्न **(किं कृत्वा)** क्या करके **(द्विधाकृत्य-पृथक् कृत्वा)** पृथक् करके **(कौ)** किनको **(बन्ध-पुरुषौ-बन्धः-कर्माश्लेषः-पुरुषः-आत्मा, द्वन्द्वः, तौ पस्परं मिलितौ पृथग्विधायेत्यर्थ)** कर्म सम्बन्धरूप बन्ध तथा पुरुष—अर्थात् आत्मा ये दोनो अनादित परस्पर मे दूध और पानी की तरह मिले हुए हैं इनको जुदा करके **(कुतः)** किससे **(प्रज्ञेत्यादिः-प्रज्ञा-भेदविज्ञान सैव क्रकच.-करपत्र-तेन दलन तस्मात्)** भेदविज्ञान रूप करोत के द्वारा दलने से।

भावार्थ—आत्मा अनादित अज्ञानी है। अज्ञान के कारण ही कर्मपुद्गलो को अपनी आत्मा के साथ बाधता रहता है इसी का नाम बन्ध है। यह बन्धतत्त्व की सन्तति तब तक बराबर चलती रहती है जब तक कि भेदविज्ञान रूप सम्यग्ज्ञान का उदय नही होता है। इसके उदित होते ही आत्मा अपने को तथा अपने से भिन्न कर्म पुद्गलो के बन्ध विशेष को जान लेता है। पश्चात् बन्ध को छिन्न-भिन्न कर आत्मा को परिपूर्ण ज्ञानी बना कर मुक्तिधाम का पात्र बनता है।

(अथ प्रज्ञाछेत्रीमभिष्टौति) अब प्रज्ञा-भेदविज्ञान-रूप छैनी की प्रशशा करते हैं—

प्रज्ञाछेत्री शितेयं कथमपि निपुणैः पातिता सावधानैः
सूक्ष्मेऽन्तः सन्धिबन्धे निपतति रभसादात्मकर्मोभयस्य ।
आत्मानं मग्नमन्तः स्थिरविशदलसद्धाम्नि चैतन्यपूरे
बन्धं चाज्ञानभावे नियमितमभितः कुर्वती भिन्नभिन्नौ ॥२॥

अन्वयार्थ—**(सावधानै)** सावधान-एकाग्रचित्त वाले **(निपुणै.)** सम्यग्ज्ञानियो के द्वारा **(कथमपि)**

किसी भी प्रकार से अर्थात् महान् कष्ट से भी **(आत्मकर्मोभयस्य)** आत्मा और कर्म दोनो के **(सूक्ष्मे)** सूक्ष्म-अल्पज्ञानियो के ज्ञान मे नही आने वाले **(अन्तः सन्धिबन्धे)** अन्त -मध्यवर्ती सन्धि-जोड के वन्ध मे **(पातिता)** पटकी हुई-डाली गई **(इयम्)** यह **(शता)** तीक्ष्ण-पैनी धार वाली **(प्रज्ञाछेत्री)** भेदविज्ञान रूप छैनी **(यदा)** जब **(निपतति)** गिरता है-पडती है **(तदा)** तव **(रभसात्)** वेग पूर्वक-शीघ्रता से **(अभित)** सब तरफ से-लक्षण भेद से **(भिन्नभिन्नौ)** जीव और पुद्गल को पृथक् पृथक् **(कुर्वती)** करती हुई **(आत्मज्ञानम्)** आत्मा को **(अन्त स्थिरविशद्लसद्धाम्नि)** अन्तरङ्ग मे स्थिर-निश्चय निर्मल शोभायमान तेजस्वी **(चैतन्यपूरे)** चैतन्य के प्रवाह मे **(मग्नम्)** निमग्न **(कुर्वती)** करती है। **(च)** और **(बन्धम्)** वन्ध-कर्मपुद्गल के सम्बन्धविशेष को **(अज्ञानभावे)** अज्ञानभाव-राग-द्वेष मोह रूप भाव मे **(नियमितम्)** निश्चित **(कुर्वती)** करती है।

सं० टीका—**(इय-प्रसिद्धा)** यह प्रसिद्ध **(प्रज्ञा छेत्री-बुद्धि छेत्री)** प्रज्ञा-भेदकबुद्धि रूप छेनी **(शिता-अतितीक्ष्णा)** अत्यन्त तीक्ष्ण-पैनी धार वाली **(रभसात्-वेगेन)** वेग से **(निपतति-भिन्नकरणार्थं पतन करोति)** पृथक् करने के लिए पतन करती है—गिरती है **(क्व)** कहा पर **(सूक्ष्मे-अत्यन्तं प्रत्यासन्नत्वाच्चैतन्य चेतकभावेनैकीभूतत्वेन सूक्ष्मे)** अतिशय समीपवर्ती होने के कारण चैतन्यभाव और चेतकभाव के साथ एकता होने से सूक्ष्म **(अन्तः सन्धिबन्धे-अन्त. अभ्यन्तरे कर्मात्मन. सन्धिवन्धे-सन्धानश्लेषे)** अन्तरङ्ग मे कर्म और आत्मा के एकत्वरूप सम्बन्ध मे **(कस्य ?)** किस के **(आत्मकर्मोभयस्य-चिद्रूप कर्मयुग्मस्य)** चैतन्य स्वरूप आत्मा तथा कर्म इन दोनो के **(कीदृक्षा सा ?)** वह कैसी **(कथमपि-महताग्रहेण)** किसी प्रकार से भी अर्थात्—महान् आग्रह से **(पातिता-तयोर्मध्ये भिन्नकरणकृते मुक्ता सती)** आत्मा और कर्म पुद्गलो को पृथक् करने के लिए बीच मे छोडी हुई-पटकी गई **(कै.)** किन से **(निपुणै.-धीमद्भिः)** सम्यग्ज्ञानी **(सावधानैः-एकाग्रचित्तैः)** एकाग्र मन वाले पुरुषो से **(अभित -सामस्त्येन)** समस्त रूप से **(लक्षण-भेदात्-भिन्न-भिन्नौ-परस्पर तौ द्वौ भिन्नौ भिन्नौ)** लक्षण के भेद से आपस मे वे दोनो पृथक्-पृथक् हैं उनको भिन्न-भिन्न पृथक्-पृथक् **(कुर्वती-निर्मापयती)** निर्माण करती हुई **(कम्)** किसको **(आत्मान-चिद्रूपम्)** चिन्मय-आत्मा को **(च-पुन)** और **(बन्ध कर्मबन्धम्)** कर्मो के वन्ध को **(कीदृक्षम्-चिद्रूपम्)** कैसे चैतनन्यस्वरूप को **(चैतन्यपूरे-समस्तशेषद्रव्यासाधारणत्वाश्चैतन्य स्वलक्षण तस्य पूरः समह तत्र)** आत्मा से भिन्न सभी द्रव्यो मे—असाधारण नही पाये जाने वाले चैतन्यस्वरूप निज लक्षण के समूह मे **(मग्नम्-तन्मयामापन्नम्)** तन्मयता को प्राप्त **(अन्तरित्यादिः-अन्तः-अभ्यन्तरे चिद्रूपे स्थिर-अन्यत्रगमनाभावात् तत्रैव स्थितिमत् तच्च तद्विशदं च निर्मलं लसत्-देदोप्यमानं धाम महो यस्य तस्मिन्)** अन्यत्र गमन न होने से अपने चैतन्यस्वरूप मे स्थितिशील निर्मल और देदीप्यमान तेज वाले **(कीदृक्षं बन्धम्)** कैसे बन्ध को **(अज्ञानभावे-अज्ञानस्वरूपे रागादौ स्वलक्षणे)** अज्ञानमय रागादिरूप अपने स्वरूप मे **(नियमित-निश्चित-निश्चयीभूतम्)** निश्चित **(तन्मयत्वमापन्नमित्यर्थ)** अर्थात् रागादिरूपता को प्राप्त **(अन्यापि छेत्री द्वयोर्धात्वो स्वलक्षणभिन्नयोः अन्तः पातिता सती भिन्नत्वं चर्करीति तथा प्रज्ञा छेत्रीति विज्ञेयम्)** जैसे जड लोहे की छैनी जुदे-जुदे स्वरूप

को धारण करने वाली दो धातुओ के एकत्वरूप बन्ध के मध्य मे पडती हुई दोनो को अत्यन्त ही भिन्न जुदा कर देती है वैसे ही यह प्रज्ञा-बुद्धिरूपी छैनी जड पुद्गल तथा चेतन आत्मा के एकत्वरूप बन्ध के मध्य मे पटकी हुई दोनो को सर्वथा पृथक् कर देती है ऐसा समझना चाहिए ॥२॥

भावार्थ—जैसे छैनी का कार्य मुख्यतया दो बधे हुए पदार्थों को छिन्नभिन्न करना है। वैसे ही यहाँ प्रज्ञा भेदविज्ञान रूप छैनी का काम भी प्रधानरूप से जीव और पुद्गल को पृथक् करना ही है क्योकि दोनो ही पदार्थ विजातीय है और अनादित बन्ध दशा मे हैं। आत्मा के अनादि काल से ज्ञानावरणादि कर्म का बध है उनका कार्य भावबध तो रागादिक है तथा नोकर्म शरीरादिक है। इसलिए बुद्धि के द्वारा आत्मा को शरीर से, द्रव्यकर्म से तथा रागादिक भावकर्म से भिन्न करके एक चैतन्यभावमात्र को अनुभव करना और उसी मे लीन रहना चाहिए ॥२॥

(**अथ तयोर्भेदक प्रलपति**) अब आत्मा तथा कर्मपुद्गलो के भेदक का कथन करते है—

भित्वा सर्वमपि स्वलक्षबलाद्भेत्तुं हि यच्छक्यते
चिन्मुद्राङ्कित निर्विभागमहिमा शुद्धश्चिदेवास्म्यहम् ।
भिद्यन्ते यदि कारकाणि यदिवा धर्मा गुणा वा यदि
भिद्यन्तां न भिदास्ति काचन विभौ भावे विशुद्धे चिति ॥३॥

अन्वयार्थ—(**हि**) निश्चय से (**यत्**) जो (**भेत्तुम्**) भेदा (**शक्यते**) जा सकता है अर्थात् जो भिन्न होने की योग्यता रखता है (**तत्**) उस (**सर्वम्**) सब को (**स्वलक्षणबलात्**) अपने स्वरूप के बल से (**भित्त्वा**) भेद करके-जुदा करके (**अहम्**) मैं (**चिन्मुद्राङ्कितनिर्विभागमहिमा**) चैतन्य स्वरूप आकारमय अभेद महिमावान् (**शुद्धः**) समस्त परद्रव्यो से शून्य (**चित्**) चैतन्य (**एव**) ही (**अस्ति**) हूँ (**यदि**) यदि-अगर च (**कारकाणि**) कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरणरूप षट्कारक (**वा**) अथवा (**यदि**) यदि-अगर च (**धर्मा**) धर्मो के (**वा**) अथवा (**यदि**) यदि-अगर च (**गुणाः**) गुणो के (**भिद्यन्ते**) भेद प्राप्त होते है (**र्तांह**) तो (**ते**) वे स्वभाव आदि (**भिद्यन्ताम्**) भेद को प्राप्त हो (**किन्तु**) परन्तु (**विभौ**) व्यापक (**विशुद्धे**) पर पदार्थो से रहित (**चिति**) चेतन्य स्वरूप (**भावे**) आत्मभाव मे (**काचन**) कोई (**भिदा**) भेद (**न**) नही (**अस्ति**) है।

सं० टीका—(**हि-स्फुटम्**) हि-अव्यय स्फुट अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है अर्थात् स्फुटरूप से (**अहं-अहकम्**) मैं (**शुद्धः-द्रव्यभाव नोकर्म मलमुक्तः**) शुद्ध द्रव्यकर्म-ज्ञानावरणादि, भावकर्म-राग-द्वेषमोहादि तथा नोकर्म-शरीरादि से रहित होने से शुद्ध (**चिदेव-चेतनास्वरूपमेव**, चेतना स्वरूप ही (**अस्मि-भवामि**) हूँ (**किम्भूत**) कैसा (**चिदित्यादिः-चिदेव मुद्राचिह्न तया अङ्कितः चिह्नित. निर्विभागः-भेत्तुमशक्यो दुर्लक्ष्यत्वात्, महिमा-माहात्म्यं यस्य स**) चैतन्यरूप चिह्न से चिह्नित सर्वसाधारण की दृष्टि मे न आ सकने के कारण विभाग-रहित माहात्म्य वाला (**किं कृत्वा**) क्या करके (**यत्-पुद्गलादिकं कर्म**) पुद्गलादिरूप कर्म को (**भेत्तुं-द्विधा-**

कर्तुम्) भेदने के लिए-दो करने के लिए (**शक्यते-शक्यानुष्ठानं भूयते स्वलक्षणाना भेत्तुमशक्यत्वात् शक्यानुष्ठानाभावः, परलक्षणाना भेत्तुं शक्यत्वात् शक्यानुष्ठानम्**) शक्यानुष्ठान सम्भव है क्योकि अपने स्वरूप का भेदन शक्य न होने के कारण अशक्यानुष्ठान है परन्तु पर के स्वरूप का अपने से भेदन शक्य होने से शक्यानुष्ठान है (**तत् सर्वमपि-समस्तमपि कर्मबन्धं भित्त्वा-द्विधा विधाय**) उस समस्त कर्म बन्ध को भेदन-दो करके अर्थात् आत्मा से पृथक् करके (**कुतः**) कैसे (**स्वेत्यादि-स्वस्य आत्मनः पुद्गलस्य च लक्षणं असाधारण स्वरूपं चैतन्यमचैतन्य च तस्य बलात्-सामर्थ्यात्**) आत्मा के असाधारण लक्षण चैतन्य के तथा पुद्गल के असाधारण लक्षण अचैतन्य के बल से (**यदि कारकाणि-कर्तृकर्मादीनि-चेतयमानः एव चेतये, चेतयमानेनैव चेतये, चेतयमानाय चेतये, चेतयमानादेव चेतये, चेतयमान एव चेतये, चेतयमानमेव चेतये इति कारकाणि**) मैं जानने वाला ही जानता हूँ, मैं जानने वाले के द्वारा ही जानता हूँ, मैं जानने वाले के लिए जानता हूँ, मैं जानने वाले से ही जानता हूँ, मैं जानने वाले मे ही जानता हूँ और मैं जानने वाले को ही जानता हूँ इत्यादि रूप छह कारक यदि (**भिद्यन्ते**) भेद को प्राप्त होते हैं (**तर्हि भिद्यन्ताम्-भेद प्राप्नुवन्तु**) तो भेद को प्राप्त होवो (**वा अथवा**) अथवा (**धर्माः-स्वभावाः-चैतन्याचैतन्यादय**) चैतन्य और अचैतन्य आदि स्वभाव (**भेदं-प्राप्नुवन्ति**) भेद को प्राप्त करते हैं (**तर्हिभिद्यन्ताम्**) तो भेद को प्राप्त करो (**यदि वा गुणाः-मतिश्रुतादयः-अनन्तज्ञानादयो वा**) अथवा मतिश्रुत आदि अथवा अनन्त ज्ञानादि गुण (**भिद्यन्ते**) भेद को प्राप्त करते हैं (**तर्हिभेदं प्राप्नुवन्तु**) तो भेद को प्राप्त करो (**पुनः**) किन्तु (**चिति-चिद्रूपे**) चैतन्यरूप (**भावे-पदार्थे**) पदार्थ मे (**काचन कापि**) कोई भी (**भिदा-भेदः**) भेद (**नास्ति**) नही है (**कारक-धर्मगुणभेदो न**) अर्थात्—कारक धर्म और गुणकृत भेद नही हो सकता है (**किम्भूते-चिति**) कैसे चैतन्य मे (**विभौ-वि-विशेषेण भवति ज्ञानादि स्वभावेनेति विभु तस्मिन् विभौ**) जो विशेषतया ज्ञानादि स्वभाव से परिणमनशील होने के कारण विभु है यहाँ विभु—उक्तार्थ भूव के भू धातु से (**"भुवो डुविसप्रेषु च"**) इति इस सूत्र से (**डुप्रत्ययः**) डु प्रत्यय हुआ है (**विशुद्धे-कर्ममलातीते**) कर्मरूप मल से रहित होने के कारण—विशुद्ध है।

भावार्थ—कर्म पुद्गल परमाणुओ मे और आत्मा मे भेद्य भेदक सम्बन्ध है अर्थात् कर्म पुद्गल परमाणु स्वभावत आत्मा से भेद्य पृथक्-जुदा होने की योग्यता रखता है अतएव भेदक है। भेद्य की अपेक्षा भेदक का स्थान सर्वोपरि है क्योकि वह ज्ञाताद्रष्टा है वह अपने विज्ञान के बल से स्वय-खुद को जानता है और पर पुद्गल को भी जानता है और यह भी जानता है कि मेने ही अज्ञान की अवस्था मे इन जड अचेतन कर्म पुद्गलो को जिनमे कर्मरूप होकर आत्मा के साथ बधने की वैभाविकी योग्यता है अपने ही विभाव भावो से अपने साथ बाधा है। अतएव वे कर्म पुद्गल परमाणु भेद्य है और मैं उनका भेदक हूँ इस प्रकार का सुदृढ निश्चय करने के बाद ही आत्मा उन्हे अपने से पृथक् करके स्वय चैतन्यमय आत्मस्वरूप मे निरत हो जाता है। भेदक नय-व्यवहार नय की अपेक्षा से यद्यपि आत्मा मे भी गुण आदि का भेद होता है परन्तु अभेदकनय-निश्चयनय की दृष्टि से आत्मा मे कोई भेद नही है वह तो एकमात्र

अखण्ड चैतन्य का पिण्ड है। अतएव ज्ञानी स्वपर विवेकी अपने आत्मा को एकमात्र चैतन्य स्वरूप ही जानता है मानता है देखता है और अनुभव मे लाता है।

(**अथ चेतनाया एकानेक रूपं विवक्षति**) अब चेतना के एक तथा अनेक रूपो को विवक्षा भेद से प्रकट करते है—

अद्वैतापि हि चेतना जगति चेद् दृग्ज्ञप्तिरूपं त्यजेत्
तत्सामान्यविशेषरूपविरहात्सास्तित्वमेव त्यजेत्।
तत्यागे जड़ता चितोऽपि भवति व्याप्यो विना व्यापका-
दात्मा चान्तमुपैति तेन नियतं दृग्ज्ञप्तिरूपास्तु चित् ॥४॥

अन्वयार्थ—(**हि**) निश्चय से (**जगति**) जगत मे (**चेतना**) चेतना (**अद्वैता**) अद्वैतरूप-अद्वितीयरूप (**अस्ति**) है (**अपि**) किन्तु (**चेत्**) यदि (**सा**) वह चेतना (**दृग्ज्ञप्तिरूपम्**) दर्शनज्ञानस्वरूप को (**त्यजेत्**) छोड दे (**तर्हि**) तो (**सा**) वह चेतना (**सामान्यविशेषरूपविरहात्**) सामान्य और विशेष स्वरूप के त्याग से (**तत्**) उस प्रसिद्ध (**अस्तित्वम्**) अस्तित्व-सत्तागुण को (**एव**) ही (**त्यजेत्**) छोड देगी (**तत्त्यागे**) उस अस्तित्व-सत्तात्मक गुण के त्याग-छोडने पर (**चित**) चैतन्य स्वरूप आत्मा के (**जड़ता**) अचेतनता (**अपि**) भी (**भवति**) होगी (**च**) और (**व्यापकात्**) व्यापक चेतनागुण के (**विना**) विना-अभाव से (**व्याप्यः**) व्याप्य-आत्मा (**अन्तम्**) विनाश को (**उपैति**) प्राप्त होगी (**तेन**) तिस कारण से (**चित्**) आत्मा (**नियतम्**) निश्चित रूप से (**दृग्ज्ञप्तिरूपा**) दर्शन ज्ञान स्वरूप (**अस्तु**) रहो।

सं० टी०—(**हीति-ननु**) यहाँ हि-यह अव्यय ननु के अर्थ मे आया है अर्थात् कोई ब्रह्माद्वैतवादी यहाँ शङ्का करता है कि (**जगति-भुवने**) इस जगत्-लोक मे (**चेतना-प्रतिभास रूपा**) प्रतिभास स्वरूप-चेतना (**अद्वैता-एकरूपा**) अद्वैत-एक रूप (**अस्ति**) है (**सर्वेषा प्रतिभासान्त प्रविष्टत्वेन एकरूपत्व साधनात्**) क्योकि सभी पदार्थ-प्रतिभास स्वरूप चेतना के मध्य मे प्रविष्ट है अतएव चेतना की एकरूपता को सिद्ध करते हैं (**तथाहि यत्प्रतिभासते-यत्प्रतिभासान्त· प्रविष्टं यथा प्रतिभासस्वरूपम्**) अर्थात् जो प्रतिभासमान होता है अर्थात् प्रतिभास के मध्य मे प्रविष्ट होता है वह प्रतिभास स्वरूप है उससे भिन्न नही है (**प्रतिभासन्ते चामी विवादापन्नाः पदार्था.**) और ये विवादग्रस्त-विवाद कोटि मे आये हुए पदार्थ प्रतिभासित होते हैं अत प्रतिभासरूप ही हैं। (**सर्वं वै खल्विद ब्रह्मेत्यादि वाक्यानामेकत्वसाधनाच्चैकैव चेतना**) यह सब निश्चय से एक ब्रह्म रूपी ही है इत्यादि अर्थ वाले वाक्य भी चेतना की एकरूपता के साधक हैं अतएव चेतना भी एक ही है (**इति चेत्**) यदि ऐसा-पूर्वोक्त प्रकार से तुम्हारा कहना है ? तो (**तदा दृग्ज्ञप्ति रूप सा दर्शनज्ञानस्वभावं त्यजेत्**) उस समय वह चेतना अपने दर्शन ज्ञान स्वभाव को छोड देगी (**अथ तत्स्वभावं त्यजतु का नो हानिः**) यदि तुम यह कहो कि वह चेतना अपने उस दर्शन ज्ञान स्वभाव को छोड दे तो तुम्हारी क्या हानि ? (**इतिवदन्तमद्वैतिनं निराकरोति**) इस प्रकार से कहने वाले अद्वैतवादी का

निराकरण करते हैं (**सा-चेतना**) वह चेतन-दर्शन ज्ञानरूप वस्तु (**तत्-प्रसिद्धम्**) उस प्रसिद्ध (**अस्तित्वं-सत्ताम्**) अस्तित्व सत्ता को (**एव**) ही (**त्यजेत्**) छोड देगी (**कुतः**) कैसे (**सामान्येत्यादिः-सामान्यं दर्शनं विशेषो ज्ञान तयोरूपं तस्य विरहः तस्मात्**) सामान्यरूप दर्शन, विशेषरूप ज्ञान इन दोनो के अभाव से (**सामान्यविशेषात्मकत्वात् सर्वस्य वस्तुनः**) क्योकि सभी वस्तुएँ सामान्यविशेष स्वरूप होती हैं (**सामान्य-विशेषात्मा तदर्थोविषयः इति वचनात्**) क्योकि "सामान्य विशेपात्मा तदर्थो विषय" ऐसा सूत्रकार का सूत्रात्मक वचन है। (**इति वचनात् दृग्ज्ञानयोः सामान्यविशेषात्मकत्वात्**) उक्त सूत्रात्मक वचन से दर्शन और ज्ञान दोनो यथाक्रम से सामान्य और विशेष स्वरूप है अतएव आत्मा चेतना भी सामान्यविशेष-रूप है (**तदभावे तदभावात्**) दर्शन ज्ञान रूप सामान्यविशेष के अभाव मे सामान्यविशेष स्वरूप चेतना का भी अभाव हो जायगा (**अपि दूषणद्वयम्**) दो दूषण और भी हैं (**तत्त्यागे-तस्य-अस्तित्वस्य त्यागे-अभावे-अथवा दर्शनज्ञानअभावे**) उस अस्तित्व के अभाव मे अथवा दर्शनज्ञान के अभाव मे (**चित -चिद्रूपस्यापि**) चैतन्यस्वरूप आत्मा के भी (**जडता-अचेतनत्वम्**) जडता-अचेतनता आ जायगी (**चेति दूषणान्तरे**) च-यह शब्द दूषणान्तर मे आया है अर्थात्— (**व्यापकात्-अस्तित्वरूपात् दर्शनरूपाद्वा**) अस्तित्वरूप अथवा दर्शनरूप व्यापक के (**विना-ऋते**) विना-अभाव मे (**व्याप्यः-आत्मा**) व्याप्य-आत्मा (**अन्त-विनाशम्**) विनाश को (**उपैति-प्राप्नोति**) प्राप्त होगी (**व्यापकाभावे व्याप्यस्याभावात्**) क्योकि व्यापक-दर्शनज्ञान के अभाव से व्याप्य-चैतन्य स्वरूप आत्मा का भी अभाव हो जायगा। (**प्रकाशाभावे प्रदीपवत्**) प्रकाश के अभाव मे दीपक के अभाव के समान (**तेन-जड़त्वात्माभाव दूषणसद्भावेन**) जडत्वरूप आत्मा के होने से आत्मा का अभावरूप दूषण उपस्थित होने के कारण (**चित्-चेतना**) चेतना (**नियतं-निश्चितम्**) नियत-रूप से (**दृग्ज्ञप्तिरूपा-दर्शनज्ञानस्वरूपा**) दर्शन ज्ञान स्वरूप (**अस्तु-भवतु**) हो-रहो ॥४॥

भावार्थ—यहा ब्रह्माद्वैतवादी का कहना है कि इस जगत मे मात्र चेतना एक ही है क्योकि "सर्वं वै खल्विद ब्रह्म नेहनानास्तिकिञ्चन। आराम तस्य पश्यन्ति न त पश्यति कश्चन" अर्थात् यह सब जो कुछ दिखाई देता है वह सब का सब एक ब्रह्म ही है अन्य नाना तरह के कोई भी पदार्थ नही हैं। मनुष्य जो कुछ भी देखते है वह सब उस ब्रह्म की माया ही है। अन्य कोई पदार्थान्तर नही है। उस ब्रह्म की माया को ही सब देखते हैं उसे कोई नही देखता है क्योकि वह चर्म चक्षुओं से किसी को भी कभी भी दिखाई नही देता है। इस प्रकार से सिर्फ अद्वैत चेतना को मानने वाले ब्रह्मद्वितवादी के मत का खण्डन करते हुए आचार्य सर्वप्रथम यह कहते है कि—यदि तुम चेतना को केवल चेतना हो मानोगे तो वह दर्शन रूप सामान्य तथा ज्ञान रूप विशेष चेतना से शून्य हो जायगी। यदि तुम यह कहो कि उक्त दोनो प्रकार की चेतनाओ से शून्य चेतना रही आवे तो तुम्हारी क्या हानि होगी, तब आचार्य कहते हैं कि—यदि चेतना सामान्य और विशेषरूप दर्शन और ज्ञान को छोड देगी तो वह अपनी सत्ता से भी हाथ धो बैठेगी। ऐसी दशा मे चेतना जड हो जायगी। चेतना के अभाव होने पर चेतनस्वरूप आत्मा का भी अभाव हो जायगा क्योकि व्यापक के न रहने पर व्याप्य का रहना कथमपि सम्भव नही है। अतएव चेतना को दर्शन ज्ञान

स्वरूप मानना ही श्रेयस्कर होगा। तभी सारी तत्त्व व्यवस्था व्यवस्थित हो सकेगी ॥४॥

(अथ चेतनाचेतनयोः परत्वापरत्वं प्रपूर्यते) अब चेतन और अचेतन मे परत्व और अपरत्व का प्रतिपादन करते है—

एकश्चितश्चिन्मय एवभावो भावाः परे ये किल ते परेषाम् ।
ग्राह्यस्ततश्चिन्मय एवभावो भावाः परे सर्वत एव हेयाः ॥५॥

अन्वयार्थ—**(चितः)** चैतन्यमय आत्मा का **(चिन्मयः)** चैतन्यमय **(एकः)** एक अद्वितीय **(एव)** ही **(भाव)** भाव **(अस्ति)** है **(ये)** जो **(परे)** चैतन्य से भिन्न **(भावाः)** भाव-परिणाम **(सन्ति)** हैं **(ते)** वे **(किल)** निश्चय से **(परेषाम्)** आत्मा से भिन्न जड पुद्गल के **(भावाः)** परिणमन **(सन्ति)** हैं। **(ततः)** इसलिए **(चिन्मयः)** चैतन्यमय **(एव)** ही **(भावः)** भाव **(ग्राह्यः)** ग्रहण करने योग्य **(अस्ति)** है **(परे)** आत्मा से भिन्न **(भावा)** भाव-परिणाम **(सर्वतः)** सर्वथा **(एव)** ही **(हेयाः)** त्याग करने योग्य **(सन्ति)** हैं।

सं० टीका - **(चित -चिद्रूपस्य)** चैतन्य स्वरूप आत्मा का **(एकः)** एक **(चिन्मयः-तद्दर्शनज्ञानमयः)** चेतन-दर्शन ज्ञानस्वरूप **(एव)** ही **(भावः-स्वभावः)** स्वभाव **(अस्ति)** होता है **(ये-प्रसिद्धा)** जो प्रसिद्ध **(परे-दृग्ज्ञप्तेः परे)** दर्शनज्ञान से भिन्न-पर **(भावा.-रागादयः)** रागादि भाव **(सन्ति)** है **(किलेति निश्चितम्)** किल-यह अव्यय निश्चितार्थक है अर्थात् निश्चय से **(परेषां-कर्मणा)** कर्मों के **(ते-भावा)** वे भाव **(सन्ति)** हैं **(ततः-आत्मीयस्वभावत्वात्)** इसलिए अर्थात् आत्मीय स्वभाव होने से **(चिन्मय एव दृग्ज्ञप्ति-निर्वृत्त एव स्वभावः)** दर्शन ज्ञान से रचित स्वभाव ही **(ग्राह्यः-आदेयः)** ग्रहण-आदान करने योग्य **(अस्ति)** है **(परभावाः-रागद्वेषादय)** किन्तु राग-द्वेष आदि पर भाव **(सर्वत एव-सामस्त्येनैव)** समग्ररूप से ही **(हेया.-त्याज्याः)** त्यागने योग्य हैं।

भावार्थ—चैतन्य स्वरूप आत्मा के चैतन्यमय ही भाव होते है। चैतन्य से भिन्न जितने भी भाव हैं, वे सबके सब परभाव है अर्थात् परद्रव्य के निमित्त से होते हैं अतएव पर भाव है, नैमित्तिक भाव हैं, अनित्य भाव हैं, विभाव भाव हैं, स्वभाव भाव नही है इसलिए हेय हैं छोडने योग्य हैं। और जो स्वभाव भाव हैं वे शुद्ध चैतन्यमय हैं अतएव उपादेय-ग्रहण करने योग्य है उन्हे ही ग्रहण करना चाहिए। शेष सभी परभावो को पर जानकर हेय होने से छोडना चाहिए।

(अथ रहस्यं-सिद्धान्तं साधयितुमुपक्रामति) अब रहस्यभूत सिद्धान्त को सिद्ध करने का प्रयत्न करते है—

सिद्धान्तोऽयमुदात्तचित्तचरितैर्मोक्षार्थिभिः सेव्यतां
शुद्धं चिन्मयमेकमेवपरमं ज्योतिः सदैवास्म्यहम् ।
एते ये तु समुल्लसन्ति विविधाभावाः पृथग्लक्षणा-
स्तेऽहं नास्मि यतोऽत्र ते मम पर द्रव्यं समग्रा अपि ॥६॥

अन्वयार्थ—(**उदात्तचित्तचरितैः**) उज्ज्वल मन से आचरण करने वाले (**मोक्षार्थिभिः**) मोक्षाभिलाषियो को (**अयम्**) यह (**सिद्धान्तः**) सिद्धान्त (**सेव्यताम्**) सेवन करना चाहिए मानना-पालना चाहिए (**यत्**) जो (**अहम्**) मैं (**सदा**) सदा-हमेशा (**शुद्धम्**) शुद्ध-परद्रव्य से शून्य (**चिन्मयम्**) चैतन्य स्वरूप (**एकम्**) अद्वितीय (**परमम्**) सर्वश्रेष्ठ (**ज्योति**) ज्ञानस्वरूप-प्रकाश का पुञ्ज (**एव**) ही (**अस्मि**) हूँ। (**तु**) किन्तु (**पृथग्लक्षणाः**) चैतन्य से जुदे चिह्न वाले (**ये**) जो (**एते**) ये (**विविधा**) नाना प्रकार के (**भावा**) भाव (**अत्र**) इस आत्मा मे (**समुल्लसन्ति**) प्रतिभासित होते है—मालूम पडते है (**ते**) वे (**अहम्**) मै (**न**) नही (**अस्मि**) हूँ (**यतः**) क्योकि (**ते**) वे (**समग्रा**) सब (**अपि**) भी (**मम**) मेरे लिए (**परद्रव्यम्**) परद्रव्य (**सन्ति**) है अर्थात् मेरे स्वभाव से भिन्न परद्रव्यरूप है।

स० टीका – (**अयम्**) यह (**सिद्धान्त -सिद्धाः-निष्पन्ना, अन्त. धर्म.-स्वभावो वा यस्य स**) सिद्धान्त-स्वभाव सिद्धधर्म (**तात्पर्यं वा**) अथवा तात्पर्य-फलितार्थ (**सेव्यताम्-आश्रीयताम्**) सेवन-आश्रय किया जाय (**कै**) किनके द्वारा (**मोक्षार्थिभि.-मुमुक्षुभिर्योगिभि**) मोक्ष चाहने वाले योगियो के द्वारा (**किम्भूतै.**) कैसे मुमुक्षुओ द्वारा (**उदात्तचित्तचरितैः-उदात्तं-उत्तम यत् चित्त-ज्ञान तदेव चरितं-आचरण येषा तैः**) निर्मल ज्ञानात्मक आचरण वाले साधुओ द्वारा (**अयम्**) यह (**क**) कौन सा सिद्धान्त (**सदैव-नित्यमेव**) नित्य ही-हमेशा हो (**अहम्**) मैं (**परम ज्योतिः-परधाम**) उत्कृष्ट तेज (**अस्मि-भवामि**) हूँ (**किम्भूत तत्**) वह उत्कृष्ट तेज कैसा है (**शुद्धं-कर्ममलरहितत्वात्**) कर्मरूप मल से रहित होने के कारण-शुद्ध-अतिपवित्र (**चिन्मय-ज्ञप्तिरूपत्वात्**) ज्ञानरूप होने से चिन्मय (**एकमेव-परभावरहितत्वात्**) पर पदार्थ से रहित होमे के कारण-एक ही-अद्वितीय ही है (**तु-पुन**) और (**एते-प्रसिद्धा**) ये-प्रसिद्ध (**विविधा.-नानाप्रकाराः**) नाना प्रकार के (**असख्यातलोकमात्रत्वात्**) असंख्यात लोक के बराबर होने से (**भावा -रागद्वेषादयः परिणामाः**) राग-द्वेष आदि रूप परिणाम (**समुल्लसन्ति-प्रादुर्भवन्ति**) उत्पन्न होते हैं (**ते भावाः**) वे भाव-परिणाम (**अह-चिद्रूप**) मैं (**नास्मि-न भवामि**) नही हूँ (**कुतः**) कैसे (**यत.-यस्मात्कारणात्**) जिस कारण से (**पृथग्लक्षणाः-आत्मन. विपरीत लक्षणा. अज्ञानस्वभावत्वात्**) अज्ञान स्वरूप होने के कारण आत्मा से प्रतिकूल स्वभाव वाले (**अत्र-इह-स्वस्वरूपविचारणे**) यहाँ-आत्मा के निज स्वरूप के विचार मे (**ते-भावा.**) वे भाव (**समग्रा अपि समस्ता अपि कषायाध्यवसायाः**) सबके सब कषायरूप हैं (**मम-चिद्रूपस्य**) चैतन्य स्वरूप मेरे (**परद्रव्य-पुद्गलकर्मोत्पादितत्वात्**) पुद्गल स्वरूप कर्मों से उत्पन्न होने के कारण परद्रव्यरूप है (**अत. सर्वथा चिद्भाव एव ग्रहीतव्यः**) इसलिए सर्वथा—सब तरह से चैतन्यमय भाव ही ग्रहण करना चाहिए (**शेषा. सर्वे भावा. प्रहातव्या इति सिद्धान्तः**) बाकी के सभी भाव त्यागना चाहिए यह सिद्धान्त है।

भावार्थ—आत्मा के जो स्वभाव भाव है, वे ही आत्मा के द्वारा उपादेय है। शेष सभी विभाव-भाव हेय हैं। यह सिद्धान्त है। आत्मा का परमपारिणामिक भाव निज भाव है जो किसी कर्म की अपेक्षा नही रखता और त्रिकाल रहता है उसी भावरूप आत्मा का अनुभव करना है बाकी भाव कर्म सापेक्ष है ॥६॥

(**अथ सापराधिनो बन्धं द्योतते**) अब अपराधी के बन्ध का विधान करते हैं—

परद्रव्यग्रहं कुर्वन् बध्येतैवापराधवान् ।
बध्येतानपराधो न स्वद्रव्ये संवृतो यतिः ॥७॥

अन्वयार्थ—(**परद्रव्यग्रहम्**) परपदार्थ के ग्रहण को (**कुर्वन्**) करने वाला (**अपराधवान्**) अपराधी (**भवति**) होता है (**ततः**) अपराधी होने से (**वध्यते**) कर्मों से बधता है (**च**) और (**स्वद्रव्ये**) आत्म-द्रव्य मे-निज स्वरूप मे (**संवृत**) सवृत-निमग्न (**यतिः**) मुनि (**अनपराधः**) अपराध रहित (**भवति**) होता है (**अत**) इसलिए (**न**) नही (**वध्येत**) बधता है ।

स० टी०—(**अपराधवान्-सापराधः पुमान्**) अपराधी मनुष्य (**एव-निश्चयेन**) निश्चय से (**वध्येत-कर्मबन्धन-प्राप्नुयात्**) कर्मबन्ध को प्राप्त करता है (**सापराधत्व-लक्षयति**) सापराधता को दिखाते हैं (**परद्रव्यग्रह-परद्रव्याणा ममेति बुद्धचा ग्रहं-ग्रहण**) परपदार्थ मेरे हैं इस प्रकार की बुद्धि से उनका ग्रहण करना अपराध है ऐसे अपराध को (**कुर्वन्-चिन्तयन्**) करने वाला मन से चिन्तन करने वाला (**अन्योऽपि परद्रव्यग्रहणं कुर्वन् बन्धं प्राप्नोति-किम्पुनर्नान्य इत्युक्तिलेश.**) लोक मे जो कोई दूसरा मनुष्य भी किसी दूसरे की वस्तु को अपनी मान कर ले लेता है तो वह भी बन्धन कारागृह आदि के दण्ड को प्राप्त करता तो फिर यहाँ परवस्तु को अपनी स्वीकार करने वाला साधु क्यो नही बन्ध को प्राप्त करेगा ? अर्थात् करेगा ही। (**अनपराधः-परद्रव्यग्रहणलक्षणापराधरहितः**) परद्रव्य के ग्रहण स्वरूप अपराध से रहित अनप-राधी (**यतिः-स्वयत्नचारित्वात् योगी**) अपने स्वरूप मे प्रयत्न पूर्वक प्रवृत्ति करने से यति-योगी (**न बध्येत न बन्धनं याति**) बधन को नही प्राप्त होता है (**स्वद्रव्ये-चिद्रूपे**) अपने चैतन्य स्वरूप मे (**सवृत.-संवरण कुर्वन् स्थितः**) सवरण-निमग्नता को करता हुआ स्थित अतएव—(**तदापराधरहितः**) उक्त प्रकार के अपराध से रहित (**बन्धनम् न याति**) कर्म बन्ध को नही प्राप्त होता है।

भावार्थ—जो साधु, साधु मुद्रा को धारण करके भी परपदार्थ को अपना मानता है वह नियम से अपराधी बनता है क्योकि अपने से भिन्न वस्तु को अपनी मानना ही सबसे बडा अपराध-दोष है। ऐसा अपराधी अनन्त ससार के कारणीभूत मिथ्यादर्शनमोह का बन्ध करने वाला होता है। लेकिन जो यति अपने स्वरूप मे ही सवृत रहता है परपदार्थ के प्रति जरा-सा भी मोह नही करता है अर्थात् पर को अपना नही मानता वह निरपराधी है अतएव बन्ध को नही प्राप्त होता है। व्यवहार भी ऐसा ही देखने मे आता है कि जो मनुष्य किसी दूसरे मनुष्य की चीज को अपनी समझ कर अपना लेता है तो वह भी अप-राधी के दण्ड का भागी होता है वैसे ही यहाँ अध्यातम शास्त्र के विषय मे पर वस्तु को अपनी मानकर ग्रहण करने वाला महान् बन्ध मे पडता है।

(**अथ सापराधापराधयो बन्धाबन्धौ बिभर्ति**) अब अपराधी और अनपराधी क्रम से बन्ध और अबन्ध को धारण करते हैं यह निरूपण करते है—

अनवरतमनन्तैर्बध्यते सापराधः
स्पृशति निरपराधो बन्धनं नैव जातु ।
नियतमयशुद्धं स्वं भजन् सापराधो-
भवति निरपराधः साधु शुद्धात्मसेवी ॥८॥

अन्वयार्थ – (**सापराधः**) अपराध सहित आत्मा (**अनवरतम्**) निरन्तर (**अनन्तै**) अनन्त कर्म पुद्गल परमाणुओ से (**बध्यते**) बधता है (**निरपराधः**) अपराध रहित (**जातु**) कभी (**बन्धनम्**) बन्धन को (**एव**) ही (**न**) नही (**स्पृशति**) स्पर्श करता है (**अयम्**) यह साधु (**अशुद्धम्**) राग-द्वेष आदि से कलुषित (**स्वम्**) अपने को (**भजन्**) सेवन करता हुआ अर्थात् रागादि स्वरूप अपनी आत्मा को मानता हुआ (**सापराध.**) अपराध सहित (**नियतम्**) नियम से (**भवति**) होता है किन्तु (**य.**) जो (**शुद्धात्मसेवी**) शुद्ध-परद्रव्य और परभावो से रहित अपनी आत्मा का सेवन-आराधन करता है (**सः**) वह (**नियतम्**) निश्चित ही (**साधु**) सम्यक् प्रकार से (**निरपराध**) अपराध रहित (**भवति**) होता है ।

सं० टी० — (**सापराध -परद्रव्य परिहारेण शुद्धस्यात्मन. सिद्धि -साधन वा राध अपगतो राधोयस्य चेतयितुर्भावस्य वा सोऽपराधस्तेन सह वर्तत इति सापराधो यति**) परपदार्थ के परित्याग के साथ शुद्ध आत्मा के स्वरूप का साधन करने का नाम राध है ऐसा राध जिस आत्मा के नही है वह आत्मा अपराध कहा जाता है ऐसी आत्मा का होना ही सापराध है ऐसा सापराध साधु (**अनवरत-निरन्तरं-प्रतिसमयम्**) निरन्तर-प्रतिसमय (**अनन्तै.-अनन्त सख्यावच्छिन्नैः**) अनन्त-अनन्त सख्या से युक्त (**बन्धनै**) कर्म बन्धनो से (**बध्यते-बन्धन याति**) बधता है—बधन को प्राप्त होता है (**ननु कर्मणां ज्ञानावरणादीना कषायाध्यवसायानां चासख्यातलोकत्वघटनादनन्तत्ववचन विरुध्यते**) शकाकार कहता है कि ज्ञानावरणादि कर्मों के कषायाध्यवसाय-कषायरूप परिणाम असख्यात लोक प्रमाण ही है अत उन्हे अनन्त कहना शास्त्र विरुद्ध है (**इति चेत्सत्यम्**) यदि उक्त प्रकार से तुम्हारा कहना है तो वह कथञ्चित् सत्य-ठीक है क्योकि (**कर्मणामध्यवसायानामसख्यातत्वे सत्यपि कर्मपरमाणूनामनन्तत्वघटनात्**) कर्मों के अध्यवसायो के असख्यात होने पर भी कर्मपरमाणुओ की सख्या अनन्त है अतएव अनन्त कहना भी शास्त्र सम्मत ही है विरुद्ध नही (**निरपराध·-उपयोगोन्मुखः-परद्रव्यग्रहणापराधरहितः**) निरपराध– अर्थात् दर्शन और ज्ञानरूप उपयोग के सम्मुख अतएव परद्रव्य के ग्रहणरूप अपराध से रहित (**जातु-कदाचित्**) कभी (**बन्धनं-कर्मबन्धनम्**) कर्मबन्ध को (**नैव स्पृशति-न प्राप्नोति**) नही स्पर्श करता अर्थात् नही प्राप्त होता। (**अयं-यति**) यह यति (**नियतम्-निश्चितम्**) नियत-निश्चित-रूप से (**अशुद्धं-रागद्वेष कलुषीकृतम्**) अशुद्ध अर्थात् राग-द्वेषरूप कलुष पापरूप मैल से मलिन (**स्वम्-आत्मानम्**) अपनी आत्मा को (**भजन्-सन्**) सेवन करता हुआ (**सापराधो भवति**) अपराध सहित होता है (**स्वस्वरूपपराङ्मुखत्वात्**) क्योकि अपने खास स्वरूप से विमुख है (**साधु-समीचीन यथा भवति तथा**) साधु-समीचन जैसे हो वैसे (**शुद्धात्मसेवी-**

शुद्धमात्मानं सेवत इति शुद्धात्मसेवी-मुनि) शुद्ध आत्मा का सेवन करने वाला मुनि (**निरपराध-परद्रव्य-ग्रहणापराधरहित)** निरपराध-परद्रव्य के ग्रहण रूप अपराध से रहित (**स्वद्रव्यसेवितत्वादाराधकएव)** अर्थात् आत्मद्रव्य का सेवक होने से आराधक ही है।

भावार्थ—जो आत्मा स्वोन्मुख है, अपने ज्ञानदर्शनमय उपयोगो मे तन्मय रहता है वह निरपराध है। आत्मस्वरूप का साधक है अतएव वह सर्वत निर्बन्ध है। लेकिन जो परोन्मुख वृत्ति है। अपने स्वरूप से च्युत हो पर मे ही स्वत्व-आत्मत्व की विभ्रान्ति से विभ्रान्त है वह सापराध है अतएव वह सर्वथा सर्वदा और सर्वत सबन्ध है कर्मबन्धन से सहित ही है।

(**अथ प्रतिक्रमणाप्रतिक्रमणं विवेचयति)** अब प्रतिक्रमण और अप्रतिक्रमण का विवेचन करते हैं—

यत्र प्रतिक्रमणमेव विषं प्रणीतं तत्राप्रतिक्रमणमेव सुधाकुतः स्यात् ।
तत्किं प्रमाद्यति जनः प्रपतन्नधोऽधः किं नोर्ध्वमूर्ध्वमधिरोहति निष्प्रमादः ॥९॥

अन्वयार्थ—(**यत्र**) जहा (**प्रतिक्रमणम्**) प्रतिक्रमण को (**एव**) ही (**विषम्**) विष (**प्रणीतम्**) कहा गया है (**तत्र**) वहा (**अप्रतिक्रमणम्**) अप्रतिक्रमण (**एव**) ही (**सुधा**) अमृत (**कुत**) कैसे (**स्यात्**) हो सकता है। (**तत्**) इसलिए (**अध.-अधः**) नीचे नीचे (**प्रपतन्**) गिरता हुआ (**जनः**) मनुष्य (**किम्**) क्यो (**प्रमाद्यति**) प्रमाद करता है (**निष्प्रमाद·**) प्रमाद रहित (**सन्**) होता हुआ (**ऊर्ध्वम्-ऊर्ध्वम्**) ऊपर ऊपर (**किम्**) क्यो (**न**) नही (**अधिरोहति**) आरोहण करता है।

सं० टी०—(**यत्र-शुद्धात्मस्वरूपे**) जिस शुद्धात्मा के स्वरूप मे (**प्रतिक्रमणमेव द्रव्यरूप-प्रतिक्रमणादिरेव-अज्ञानजनसाधारणोऽप्रतिक्रमणादिस्तावदास्तामित्येवशब्दार्थः)** अज्ञानी मनुष्यो मे साधारण रूप से पाये जाने वाले अप्रतिक्रमण आदि तो दूर रहे द्रव्यरूप प्रतिक्रमण आदि ही (**विष-हलाहलम्**) विष-हलाहल है (**प्रणीतम्-स्वकार्यकरणासमर्थत्वात् तद्विपक्षशुभबन्धनकार्यकारित्वाच्च**) अपने शुद्धोपयोगरूप कार्य के करने मे समर्थ न होने से तथा शुद्धोपयोग के विरोधी शुभबन्ध रूप कार्य का करने वाला होने से कहा गया है (**तत्र-आत्मस्वरूपे**) उस आत्मा के स्वरूप मे (**अप्रतिक्रमणमेव-पूर्वोक्त प्रतिक्रमणाप्रतिक्रमणद्वयरहित तृतीयशुद्धात्मोपयोगरूपाप्रतिक्रमणम्**) अप्रतिक्रमण ही अर्थात् पूर्व मे कहे हुए प्रतिक्रमण तथा अप्रतिक्रमण इन दोनोसे रहित तीसरी शुद्धात्माका उपयोगरूप अप्रतिक्रमण ही (**सुधाकुट अमृतकुम्भः**) अमृत का कुम्भ (**स्यात्**) होता है (**स्वकार्यकारित्वात्**) क्योकि वह अपने शुद्धात्म स्वरूप कार्य का करने वाला है (**तत्-तस्माद्धेतोः**) तिस कारण से-इसलिए (**जनः लोक**) मनुष्य (**प्रमाद्यतिकिं-कथं प्रमादं करोति**) क्यो प्रमाद करता है (**अधोऽधः-प्रतिक्रमणेतरद्वयाधोभूमौ प्रपतन् सन्**) प्रतिक्रमण और अप्रतिक्रमण इन दोनो रूप अधोभूमि मे पडता हुआ (**निष्प्रमाद-प्रमादरहित. सन्**) प्रमाद रहित होता हुआ (**ऊर्ध्वमूर्ध्वम्-उपर्युपरि-अप्रतिक्रमणरूपं तार्तीयकम्**) ऊपर ऊपर अर्थात् अप्रतिक्रमणरूप तृतीय शुद्धात्मोपयोगरूप भूमि पर (**किं-कथं नाधिरोहति न चटति**) क्यो नही आरोहण करता है अर्थात् क्यो नही चढता है। (**इति स्वरूप-**

व्यतिरिक्तस्य न किमपि प्रतिक्रमणादि नेति सूचितम्) इस प्रकार से—आत्मस्वरूप से भिन्न प्रतिक्रमण आदि का कोई महत्त्व नही यह बात सूचित हुई।

भावार्थ—शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति से भ्रष्ट अज्ञानी जीव मोक्ष का अधिकारी नही है इसलिए उसको धिक्कार कहा है। जो कर्म के फल मे लगा हुआ, कर्मफल की वाछा करता है कर्म का कर्त्ता बन रहा है वह मोक्ष का अधिकारी कैसे हो। पढना, विचार करना, चिन्तवन करना, स्मरण करना भी मोक्ष का कारण नही है मोक्ष का कारण तो मात्र शुद्ध स्वरूप मे एकाग्र होना है। आत्मस्वरूप की प्रत्यक्ष प्राप्ति हो मोक्ष का कारण है। तीन तरह के परिणाम हैं और तीन ही जगह हैं और उनका तीन प्रकार का ही फल है। एक ससार-शरीर-भोग उसमे लगने का फल तीव्र अशुभ कषाय है जिसका फल नरक निगोद है। दूसरे सच्चे देवशास्त्रगुरू जिसमे लगने का फल मद कषाय है और पुण्य का वध है जिससे देवादि गति की प्राप्ति है। तीसरा अपना निज स्वरूप है जिसमे लगने का फल शुद्धोपयोग है और कर्म की सवर पूर्वक मोक्ष की प्राप्ति है। जब पहले दूसरे की तुलना की जाती है तव पहले को पाप और दूसरे को पुण्य कहते हैं परन्तु जब दूसरे और तीसरे की तुलना की जाती है तव दूसरा पाप और तीसरा धर्म कहा जाता है। तीसरे मे ठहरने के लिए दूसरे का निषेध है अज्ञानी पहले दूसरे को समान समझकर तीसरे की चेष्टा नही करके पहले को ग्रहण कर लेता है। यह अज्ञानता है ऐसे अज्ञानी को धिक्कारा है ॥९॥

(अथ प्रमादमापद्यति) अब प्रमाद का प्रतिपादन करते हैं—

अतोहताः प्रमादिनो गताः सुखासीनतां
प्रलीनं चापलमुन्मीलितमालम्बनम् ।
आत्मन्येवालानितं च चित्तमा-
सम्पूर्ण विज्ञानघनोपलब्धेः ॥१०॥

अन्वयार्थ—**(अतः)** इस पूर्वोक्त कथन से **(सुखासीनताम्)** सुख पूर्वक स्थिरता को **(गताः)** प्राप्त हुए **(प्रमादिन)** प्रमादीलोग **(हता)** ताडित हुए। **(चापलम्)** चपलता-स्वच्छन्द प्रवृत्ति **(विलीनम्)** विनष्ट हुई **(आलम्बनम्)** आलम्बन को **(उन्मीलितम्)** उखाड फेंका है **(आसम्पूर्ण विज्ञान घनोपलब्धे.)** जब तक परिपूर्ण ज्ञान—केवल ज्ञान की प्राप्ति नही हो तब तक **(चित्तम्)** चित्त को **(आत्मनि)** आत्मा मे **(एव)** ही **(आलानितम्)** बाधा है—उपयुक्त किया है।

भावार्थ—जो लोक निश्चयाभाषी बनकर प्रमादी हो रहे थे अर्थात् निश्चय नय से आत्मा परिपूर्ण शुद्ध है अतएव अब हमे कुछ भी करना योग्य नही है ऐसा मानकर जो प्रमादी हो रहे थे, आत्मशुद्धि के मार्ग से विमुख हो रहे थे उन्हे तो ताडन कर आत्मशुद्धि के मार्ग मे लगाया और स्वच्छन्द प्रवृत्ति कर रहे थे उन्हे उस स्वच्छन्द-प्रवृत्ति से छुटाया। जो प्रतिक्रमण आदि मे ही सन्तुष्ट थे आत्मशुद्धि का प्रमुख साधन प्रतिक्रमण आदि का परिपालन ही है ऐसा समझ रहे थे उन्हे उससे हटाकर आत्मस्वरूप

की प्राप्ति के प्रबलतम साधन शुद्धोपयोग की ओर झुकाया। पश्चात् जब तक परिपूर्ण ज्ञान प्राप्त न हो जाय तब तक आत्मस्वरूप मे ही लीन रहने का उद्यम करो यह समझाया।

प्रमादकलितः कथं भवति शुद्धभावोऽलसः
कषायभरगौरवादलसता प्रमादो यतः।
अतः स्वरसनिर्भरे नियमितः स्वभावे भवन्
मुनिः परमशुद्धतां व्रजति मुच्यते वाऽचिरात् ॥११॥

अन्वयार्थ—(**प्रमादकलितः**) प्रमाद से सहित (**मुनि**) साधु (**अलस**) आलस्यवान् (**भवति**) होता है (**सः**) वह (मुनि **शुद्धभावः**) शुद्ध भाववान् (**कथम्**) कैसे (**स्यात्**) हो सकता है (**यतः**) क्योकि (**कषायभरगौरवात्**) कषाय के भार की गुरुता से (**अलसता**) आलस्य-का (**भवति**) होना (**प्रमादः**) प्रमाद (**अस्ति**) है। (**अतः**) इसलिए (**स्वरसनिर्भरे**) आत्मिक आनन्दरूप रस से भरपूर (**स्वभावे**) स्वभाव मे (**नियमितः**) निश्चित-स्थिर (**भवन्**) होने वाला (**मुनि**) साधु (**परमशुद्धताम्**) उत्कृष्ट निर्मलता को (**व्रजति**) प्राप्त करता है (**वा**) और (**अचिरात्**) शीघ्र ही (**मुच्यते**) कर्मबन्धन से मुक्त हो जाता है।

सं० टी०—(**प्रमादकलितः-सार्धसप्तत्रिंशतसहस्रभेदप्रमादयुक्तः**) साढे सैंतीस हजार भेद वाले प्रमाद से सहित (**मुनिः**) मुनि (**अलसः-आलस्यवान्**) आलस्य से युक्त (**सन्**) होता हुआ (**शुद्धभावः-शुद्धोभावः-स्वभावो यस्य सः-परमात्मा**) शुद्ध स्वभाववान् परमात्मा (**कथं भवति ?**) कैसे हो सकता है (**न कथमपि**) अर्थात् किसी भी तरह से नही। (**कुतः**) कैसे (**कषायेत्यादि-कषायाणां-क्रोधादीनां भर समूहः तस्य गौरव माहात्म्यं तस्मात्**) क्रोधादि कषायो के समूह के माहात्म्य से (**कषायेन्द्रियविकथादि परावृत्तिजत्वात् प्रमादानाम्**) क्योकि प्रमाद, क्रोधादि कषायो, स्पर्शन आदि इन्द्रियो और भोजन कथा आदि विकथाओ के व्यापार से ही उत्पन्न होते हैं (**यतः-कारणात्**) जिस कारण से—कारण कि (**अलसता-आलस्यमेव प्रमादः,**) आलस्य का नाम ही प्रमाद है (**तयोरेकार्थत्वात्**) क्योकि प्रमाद और आलस्य ये दोनो शब्द एक ही अर्थ के वाचक हैं (**अत.-कारणात्**) इस कारण से (**परममननात्-मुनिः-योगी**) शुद्ध आत्मस्वरूप का मनन-चिन्तन करने वाला होने से मुनि अर्थात् योगी-ध्यानी साधु (**परम शुद्धता-अत्यन्तविशुद्धिम्**) अतिशय निर्मलता को (**व्रजति-प्राप्नोति**) प्राप्त होता है (**च-पुन.**) और (**अचिरात्-शीघ्रम्**) शीघ्र (**मुच्यते-ससार बन्धनात् मुक्तो-भवति**) ससार के बन्धन से मुक्त हो जाता है (**किम्भूत.**) कैसा (**सन्**) होता हुआ (**नियमित -नियन्त्रित.**) नियमित-नियन्त्रित (**सन्**) होता हुआ (**क्व**) किसमे (**स्वेत्यादि -स्वस्य-आत्मन रस. तस्य निर्भर -अतिशयः तस्मिन्**) आत्मिक रस के अतिशय मे (**पुनः**) पश्चात् (**स्वभावे आत्मस्वरूपे**) आत्मा के स्वरूप मे (**भवन्-स्थित· सन्**) स्थित होता हुआ।

भावार्थ- प्रमाद और कषाय मे परस्पर मे जन्य जनक सम्बन्ध है। जहा प्रमाद होगा वहा कषाय अवश्य होगा क्योकि इन दोनों मे कार्य कारण भाव है। कार्य के होने पर कारण तो होगा ही। अत जिस

साधु के प्रमाद है उसके कषाय भाव अवश्य है और जिसके कषाय भाव है उसके शुद्ध आत्मस्वरूप की प्राप्ति कैसे हो सकती है अर्थात् कथमपि नही। अत जो साधु कषाय भाव को त्याग कर निष्प्रमादी होता है वह ही आत्मिक आनन्दरूप रस मे निमग्न हो परम विशुद्धि को प्राप्त कर अन्ततोगत्वा कर्मबन्धन से शीघ्र ही मुक्ति को प्राप्त करता है।

(अथ सर्वापराधं च्योतति) अब समस्त अपराध को छुडाते हैं—

त्यक्त्वाऽशुद्धिविधायि तत्किल परद्रव्यं समग्रं स्वयं
स्वद्रव्ये रतिमेति यः स नियतं सर्वापराधच्युतः।
बन्धध्वंसमुपेत्य नित्यमुदितः स्व-ज्योतिरच्छोच्छल-
च्चैतन्यामृतपूरपूर्णमहिमा शुद्धो भवन्मुच्यते ॥१२॥

अन्वयार्थ—(**किल**) निश्चय से (**अशुद्धिविधायि**) अशुद्धि को करने वाले (**समग्रम्**) समस्त (**परद्रव्यम्**) परद्रव्य को (**यः**) जो साधु (**स्वयम्**) स्वतः-स्वभाव से (**त्यक्त्वा**) त्याग करके (**स्वद्रव्ये**) आत्मद्रव्य मे (**रतिम्**) लीन (**एति**) होता है (**सः**) वह साधु (**नियतम्**) नियम से निश्चित रूप से (**सर्वापराधच्युतः**) सब-समस्त अपराधो-दोषो से रहित (**सन्**) होता हुआ (**बन्धध्वंसम्**) वन्ध के विनाश को (**उपेत्य**) प्राप्त करके (**नित्यम्-**) निरन्तर (**उदित**) उदित-उदय को प्राप्त अतएव (**स्वज्योतिरच्छोच्छलच्चैतन्यामृतपूरपूर्णमहिमा**) आत्मिक प्रकाशरूप ज्योति से निर्मल उछलते हुए चैतन्यरूप अमृत के प्रवाह से परिपूर्ण-भरपूर महत्त्वशाली (**शुद्ध**) परद्रव्य तथा परभावो से रहित (**भवन्**) होता हुआ (**मुच्यते**) मुक्त होता है।

सं० टीका—(**किलेति-आगमोक्तौ**) किल–यह अव्यय आगम के कथन मे आया है अर्थात् आगम के कथनानुसार (**य योगी**) जो योगी (**स्वयं-स्वरूपेण कृत्वा**) स्वरूप से-स्वभाव से (**स्वद्रव्ये-स्वात्मद्रव्ये**) अपनी आत्मा मे (**रतिं-रमणम्**) क्रीडा को (**एति-गच्छति**) प्राप्त करता है (**किं कृत्वा**) क्या करके (**तत्-प्रसिद्धम्**) उस-प्रसिद्ध (**समग्रं-निखिलम्**) समस्त (**परद्रव्यं-कर्मादिद्रव्यम्**) कर्म आदि परद्रव्य को (**त्यक्त्वा-हित्वा**) त्याग करके (**किम्भूतम्**) कैसे परद्रव्य को (**अशुद्धिविधायि-रागाद्यशुद्धिकारकम्**) रागादि रूप अशुद्धि को करने वाले (**स मुनिः**) वह मुनि (**मुच्यते-कर्मबन्धनात्**) कर्म बन्धन से मुक्त हो जाता है (**कीदृक्ष सन्**) कैसा होता हुआ (**नियतं-निश्चितम्**) निश्चित रूप से (**सर्वेत्यादि-पूर्वोक्तैः-समस्तापराधैः च्युतः रहितः सन्**) पूर्वोक्त सभी अपराधो से रहित होता हुआ (**किं-कृत्वा**) क्या करके (**बन्धध्वंसम्**) बन्ध के विनाश को (**उपेत्य**) प्राप्त करके (**स्वेत्यादिः-स्वस्य-आत्मनः ज्योतिः प्रकाश तेन अच्छं-निर्मलम्, उच्छलत्-उदयं गच्छत् तच्च तच्चैतन्यं च तदेवामृतपूर सुधासमूह. तेन पूर्ण सम्पूर्ण महिमा माहात्म्यं यस्य सः**) आत्मप्रकाश से निर्मल उदीयमान चैतन्यमय अमृत के प्रवाह से परिपूर्ण महिमावान् होकर ॥१२॥

भावार्थ—जो साधु सर्वप्रथम आत्मिक अशुद्धि के मूल कारण परद्रव्य मे अपनेपने का त्याग करता है

वही आत्मस्वरूप मे रत होता है और जो आत्मा मे लीन रहता है वह सभी प्रकार के अपराधो से भी रहित हो जाता है। पुन. नवीन कर्म बन्ध से रहित हो पूर्व सञ्चित कर्म बन्ध का विनाश करके अनन्त ज्ञानी हो जाता है। और पूर्ण आत्मशुद्धि को प्राप्त करके ससार से सदा के लिए छूट जाता है अर्थात् मुक्त-आत्माओ मे जा मिलता है।

(**अथ मोक्षं महते**) अब मोक्ष का प्रतिपादन करते है—

बन्धच्छेदात्कलयदतुलं मोक्षमक्षय्यमेत
न्नित्योद्योतस्फुटितसहजावस्थमेकान्तशुद्धम् ।
एकाकारस्वरसभरतोऽत्यन्तगम्भीरधीरम्–
पूर्णं ज्ञानं ज्वलित-मचले स्वस्य लीनं महिम्नि ॥१३॥

अन्वयार्थ—(**बन्धच्छेदात्**) कर्मबन्ध के विनाश से (**अतुलम्**) अनुपम (**अक्षय्यम्**) अविनाशी (**मोक्षम्**) मोक्ष तत्त्व को (**कलयत्**) प्रकट करता हुआ (**नित्योद्योत स्फुटित सहजावस्थम्**) निरन्तर प्रकाश से प्रकाशित स्वाभाविक अवस्था वाला (**एकान्त शुद्धम्**) एकान्त-अद्वितीय रूप से शुद्ध (**एकाकार स्वरस-भरतः**) ज्ञानरूप आकारमय निजरस के समूह से (**अत्यन्त गम्भीरधीरम्**) अतिशय अगाध और निश्चल (**अचले**) अविनाशी (**पूर्णम्**) अविकल परिपूर्ण (**ज्ञानम्**) ज्ञान-केवलज्ञान (**ज्वलितम्**) प्रकाशमान हो उठा है (**स्वस्य**) और अपनी (**महिम्नि**) महिमा मे (**लीनम्**) लीन हुआ है।

सं० टी० —(**एतत्**) यह (**पूर्णं-सम्पूर्णम्**) परिपूर्ण (**ज्ञानम्**) ज्ञान (**ज्वलित-दीपितम्-प्रकाशं प्राप्त-मित्यर्थः**) प्रदीप्त अर्थात् प्रकाश को प्राप्त हुआ है (**कीदृक्षम्**) कैसा (**स्वस्य-आत्मनः**) अपने (**महिम्नि-माहात्म्ये**) माहात्म्य मे (**लीनम्-एकतामापन्नम्**) लीन हुआ अर्थात् एकता अभेदता को प्राप्त हुआ है (**किम्भूते**) कैसे माहात्म्य मे (**अचले-निष्कम्पे**) कम्पन रहित (**पुन कीदृक्षम्**) फिर कैसा ज्ञान (**अत्यन्ते-त्यादि -अत्यन्तं गभीरं-अतलस्पर्शम् तच्च तद्धोरं च**) अतिशय अगाध एव धीर-निर्विकार (**कुतः**) कैसे (**एकेत्यादिः-एकाकारेण-सर्वत्र ज्ञानाकारेण-स्वस्य-आत्मनः रसः तस्यभर.-अतिशय. तस्मात्**) सर्व व्यापक ज्ञानाकार रूप अपने रस के अतिशय से (**पुन मोक्षम्-कर्ममोचनमोक्षम्**) पश्चात् कर्ममोचनरूप मोक्ष को (**कथम्भूतम्**) कैसे मोक्ष को (**अक्षय्यम्**) अक्षम्य-अविनश्वर (**पुन कथम्भूतम्**) फिर कैसे (**अतुलम्-अनुपमम्**) अतुल—तुलना रहित अर्थात् अनुपम (**किं कुर्वत्**) क्या करता हुआ (**कलयत्-सम्पादयत्**) सम्पादन करता हुआ (**कस्मात्**) किससे (**बन्धच्छेदात्-कर्मबन्धविनाशात्**) कर्मबन्ध के उच्छेद से (**पुन. कथम्भूतं-ज्ञानम्**) फिर कैसा ज्ञान (**नित्येत्यादिः-नित्योद्योतेन-निरावरण ज्ञानप्रकाशेन स्फुटिता-प्रकाशिता सहजा-स्वाभाविकी अवस्था-दशा लक्षणया स्वरूपं यत्र तम्**) निरावरणज्ञान-केवलज्ञान-रूप प्रकाश से प्रकाशित स्वाभाविक स्वरूपवान् (**पुनः-किम्भूतम्**) फिर कैसा (**एकान्तशुद्धम्-एकान्तेन-एकधर्मेण-कर्ममुक्तिलक्षणेन शुद्ध निर्मल-समस्तपदाधिक्यादत्यन्तविशुद्धम्**) कर्म मुक्तिरूप एकान्त-एकधर्म से निर्मल अर्थात् समस्त पदो से अधिक होने के कारण अत्यन्त विशुद्ध अतिशय पवित्र ॥१३॥

भावार्थ—ज्ञान की दो अवस्थाएँ हैं। एक क्षायिक अवस्था। दूसरी क्षायोपशमिक अवस्था। क्षायिक अवस्था का ज्ञान, परिपूर्ण-केवलज्ञान कहा जाता है। यही ज्ञान अर्हत्परमेष्ठी से लेकर सिद्धपरमेष्ठी तक अनन्तकाल पर्यन्त प्रतिष्ठित रहता है। इससे पहले की क्षायोपशमिक अवस्था का ज्ञान विकल ज्ञान -अपरिपूर्ण ज्ञान या अधूरा ज्ञान कहलाता है। साथ ही कर्माधीन होने के कारण नश्वर होता है। यह अपने आप मे अधूरा होते हुए भी सम्यग्दर्शन के साहाय्य से आशिक निर्मल होता है। यही निर्मल ज्ञान सप्ततत्त्व की यथार्थ व्यवस्था को अपनी योग्यता से जानता है और अपने आवरण कर्म को छिन्न-भिन्न करके स्वय ही परिपूर्ण अवस्था रूप-क्षायिक अवस्था को प्राप्त कर अनन्तकाल तक उसी मे लीन रहता है। क्योकि यही अवस्था इसकी स्वाभाविक अवस्था है जो अत्यन्त ही शुद्ध है। इस अवस्था के प्रकट होने पर ही आत्मा मुक्ति को प्राप्त करता है। अन्यथा नही।

(इति श्री समयसारपद्यस्याध्यात्मतरगिण्यपरनामधेयस्य व्याख्याया अष्टमोऽङ्क. समाप्तः ।)

इस प्रकार से श्री समयसार के पद्यो की व्याख्या मे जिसका अपरनाम अध्यात्म-तरगिणी है यह आठवा अङ्क समाप्त हुआ।

नवमोऽङ्कः प्रारभ्यते

अथ सर्वविशुद्धि ज्ञानाधिकार:

सकलाशर्म विमुक्तं युक्तं सुज्ञानसम्पदासारम् ।
भजते मुक्ति वचसाऽमृतचन्द्रोऽमृतमयो जन्तुः ॥१॥

अन्वयार्थ—**(अमृतमयः)** अविनश्वर स्वभावमय **(अमृतचन्द्र)** अमृतचन्द्र नामक **(जन्तुः)** जन्म-धारी प्राणी **(सकलाशर्म विमुक्तम्)** सभी-समस्त दु खो से रहित **(सुज्ञानसम्पदा)** सम्यग्ज्ञान-परिपूर्ण केवलज्ञान रूप सम्पदा से युक्त-सहित **(सारम्)** सर्वश्रेष्ठम् **(मोक्षम्)** मोक्ष को **(वचसा)** वचन से **(भजते)** सेवन करते हैं अर्थात् वचन से मोक्ष की स्तुति करते हैं।

(अथ सर्वविशुद्धं ज्ञानमुदेति) अब सर्वविशुद्ध ज्ञान-केवलज्ञान उदय को प्राप्त करता है—

नीत्वा सम्यक् प्रलयमखिलान् कर्तृभोक्त्रादिभावान्
दूरीभूतः प्रतिपदमयं बन्धमोक्ष प्रक्लृप्तेः ।
शुद्धः शुद्धः स्वरसविसरापूर्णपुण्याचलार्चि-
ष्टङ्कोत्कीर्णप्रकटमहिमास्फूर्जति ज्ञानपुञ्जः ॥१॥

अन्वयार्थ—(**अयम्**) यह (**ज्ञानपुञ्जः**) ज्ञान का पुञ्ज अर्थात् आत्मा (**अखिलान्**) अखिल समस्त (**कर्तृभोक्त्रादिभावान्**) कर्ता भोक्ता आदि भावान्-भावो अर्थात् कर्तापन भोक्तापन आदिरूप विकारी परिणामो को (**सम्यक्**) समीचीन रूप से (**प्रलयम्**) विनाश को (**नीत्वा**) प्राप्त कराके (**प्रतिपदम्**) क्षयोपशम के निमित्त से होने वाली प्रत्येक पर्याय मे (**बन्धमोक्ष प्रक्लृप्ते**) बन्ध और मोक्ष की विशिष्ट कल्पना से (**दूरीभूतः**)दूर रहने वाला (**शुद्धः**) द्रव्य से शुद्ध अर्थात् परद्रव्य से रहित (**शुद्ध**) भाव से शुद्ध अर्थात्–परभावो से रहित (**स्वरसविसरापूर्णपुण्याचलार्चिः**) आत्मानुभवरूप रस के समूह से परिपूर्ण ऐसा अचल, पवित्र आत्मतेज (**टङ्कोत्कीर्णप्रकटमहिमा**) टङ्कोत्कीर्ण प्रकट महिमावान् (**सन्**) होता हुआ (**स्फूर्जति**) स्फुरायमान-देदीप्यमान होता है।

सं० टीका—(**अयम्-ज्ञानपुञ्जः-बोधस्यानन्तसंख्यावच्छिन्नाविभागशुद्धः सन् प्रतिच्छेदसमह**) यह ज्ञान का पुञ्ज अर्थात् ज्ञान के अनन्त सख्या से युक्त विभागो से परिशुद्ध होता हुआ प्रतिच्छेद समूह (**प्रतिपदम्-एकेन्द्रियादिस्थानम्-प्रथमद्वितीयादिगुणस्थानं गुणस्थानं प्रति**) एकेन्द्रिय आदि पर्याय मे तथा प्रथम द्वितीय आदि गुणस्थानो मे (**स्फूर्जति-गर्जति द्योतत इत्यर्थ**) प्रकाशमान रहता है (**किं कृत्वा**) क्या करके (**नीत्वा-प्राप्य**) प्राप्त करके (**कम्**) किसको (**सम्यक् प्रलयम् निश्शेषविनाशम्**) पूर्ण विनाश को (**कान्**) किनको (**निखिलान्-समस्तान्**) सभी (**कर्त्रेत्यादिः-कर्ता-कर्मकारकः भोक्ता-कर्मफलभोक्ता, कर्ता च भोक्ता च कर्तृभोक्तारौ तावेवादिर्येषामुत्पाद्योत्पादकादीना ते तथोक्ताः, ते च ते भावाश्चपरिणामाः तान्**) कर्ता—कर्मों को करने वाला, भोक्ता—कर्मों के फल को भोगने वाला आदि शब्द से पत्पाद्य-उत्पन्न करने योग्य तथा उत्पादक-उत्पन्न करने वाला आदि रूप-परिणामो से (**किम्भूताः**) कैसा होता हुआ (**दूरीभूताः**) दूर होता हुआ (**कुत**) किससे (**बन्धेत्यादि.-कर्मबन्धमोचनयो. प्रक्लृप्ति.-कल्पना तस्याः**) कर्मों के बन्ध एव मोक्ष की कल्पना से (**पुनः**) फिर (**शुद्ध-निर्मलः**) शुद्ध-निर्मल परोपाधि से शून्य (**पुनः कीदृक्ष**) फिर कैसा (**स्वेत्यादि.-स्वस्य-आत्मन' रस-अनुभव. तस्य विसरः समह स एव आपूर्ण. सम्पूर्णः पुण्याचलः-प्रशस्ताचलः-उदयाचल. तत्रार्चिः तेज. यस्य स टङ्केन उत्कीर्ण-प्रकट. महिमा माहात्म्य यस्य सः**) आत्मा के अनुभव रूप रस के समूह से भरपूर उदयाचल पर अतिशय रूप से प्रकट हुई है महिमा जिसकी (**स्वरसेत्यादिरेकपद वा**) अथवा स्वरस इत्यादि एक ही पद है (**स्वरसविसरापूर्ण पुण्याचलार्चिश्चासौ टङ्कोत्कीर्ण प्रकटमहिमा च**) अर्थात् स्वात्मानुभूति रस के विस्तार से परिपूर्ण पवित्र अचल तेजरूप टङ्कोत्कीर्ण प्रकटित महिमावान् होता है।

भावार्थ—शुद्ध निश्चयनय का विषय शुद्ध ज्ञानस्वरूप आत्मा है। वह परभावो का कर्ता एव भोक्ता नही है। वह तो मात्र अपने ही ज्ञान स्वभाव का कर्ता तथा भोक्ता है। वह बन्ध तथा मोक्ष आदि की विविधकल्पनाओ से भी शून्य है। वह एकेन्द्रिय आदि पर्यायो से तथा गुणस्थानादि से भी अतीत है। वह परद्रव्यो से तथा परभावो से भी सर्वथा रहित है। वह तो मात्र चैतन्य का अक्षुण्ण निधान है। ऐसा

द्रव्यदृष्टि का विषयभूत यह आत्मा है। यह आत्मा का स्वभाव त्रिकाल इसी रूप है। आत्मा का असाधारण धर्म चैतन्य है वह चैतन्य ज्ञान और दर्शन के भेद से दो प्रकार है। वह ज्ञान और दर्शन प्रत्येक ससारी प्राणी के अपनी-अपनी पर्याय योग्यता के अनुसार सर्वदा विद्यमान रहता है। सर्वज्ञ प्रणीत आगम के प्रकाश मे सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तिक जीव के भी वह ज्ञान और दर्शन उपलब्ध होता है जो सबसे हीन पर्याय है। उससे उठकर यह जीव सज्ञी पचेन्द्रिय होकर ज्यो ज्यो आत्मानुभव करता है त्यो त्यो इस जीव का वह ज्ञान और दर्शन भी उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त करता रहता है। वही ज्ञानदर्शन बढते-बढते किसी उन्नतिशील जीव के वृद्धि की चरमसीमा को प्राप्त कर लेता है। जिस जोव के उक्त ज्ञान और दर्शन अपनी परिपूर्ण अवस्था को प्राप्त कर लेते हैं बस वही जीव सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हो परमात्मा कहा जाता है। यह परमात्मा ही परिपूर्ण आत्मानुभूति रूप रस मे सराबोर रहता है इसकी महिमा अचिन्त्य है वचनागोचर होने से अगम्य है।

(अथात्मन. कर्तृत्वभोक्तृत्वं कीर्तयति) अब आत्मा के कर्तृत्व-कर्तापन तथा भोक्तृत्व-भोक्तापन का कीर्तन-वर्णन करते हैं—

कर्तृत्वं न स्वभावोऽस्य चितो वेदयितृत्ववत् ।
अज्ञानादेव कर्ताऽयं तदभावादकारकः ॥२॥

अन्वयार्थ--(अस्य) इस **(चितः)** चित्-चैतन्यमय आत्मा का **(वेदयितृत्ववत्)** वेदयितापन-भोक्तापन की तरह **(कर्तृत्वम्)** कर्तापन—कर्मों का करनारूप **(स्वभावः)** स्वभाव **(न)** नही **(अस्ति)** है **(अयम्)** यह आत्मा **(अज्ञानात्)** अज्ञान से-मिथ्याज्ञान के कारण **(एव)** ही **(कर्ता)** कर्मों का कर्ता-करने वाला **(भवति)** होता है **(तदभावात्)** उस मिथ्याज्ञान के अभाव से **(अकारकः)** अकारक-अकर्ता ही है।

सं० टीका—**(अस्य-चित -चिद्रूपस्य)** इस चिद्रूप आत्मा का **(कर्तृत्व-कर्मकारकत्वम्)** कर्मों का करना रूप कर्तृत्व-कर्तापन **(न स्वभावः-न स्वरूपम्)** स्वभाव-स्वरूप नही **(अस्ति)** है **(किमिव)** किसके समान **(वेदयितृत्ववत्-यथा वेदयितृत्व-भोक्तृत्वम्)** जैसे-वेदयितृत्व-वेदयितापन अर्थात् भोक्तृत्व-भोक्तापन **(आत्मनो न सम्भवति तथा कर्तृत्वमपि)** आत्मा के सम्भव नही है वैसे ही कर्तृत्व-कर्तापन भी सम्भव नही है **(अयम्-आत्मा)** यह आत्मा **(कर्ता-कर्मणा कारकः)** कर्मों का करने वाला **(अस्ति)** है **(इति प्रतीतिर्दृश्यते)** ऐसी प्रतीति देखी जाती है **(तत्कथम्)** वह कैसे **(स्यात्)** होगी ? **(आत्मा कारकः-कर्मणां कर्ता भवेत्)** आत्मा कर्मों का कर्ता हो सकता है **(कुत)** कैसे **(तदभावात्-तस्य ज्ञानस्य अभाव·-विनाशस्तस्मात्)** उस ज्ञान अभाव से **(अज्ञानतोमया कृतमिति मनुते)** अज्ञान से मैंने किया ऐसा मानता है **(तदभावावकर्तृत्वमेव)** उस पूर्वोक्त अज्ञान के अभाव से तो अकर्ता ही है।

भावार्थ -द्रव्यदृष्टि से आत्मा पर से भिन्न और अपने स्वभाव से अभिन्न है। द्रव्यदृष्टि से आत्मा द्रव्यकर्म-नोकर्म, भावकर्म से रहित ज्ञानदर्शनमयी है। इस दृष्टि मे जब रागादि भाव और शरीरादिक ही नही है तब उनके कर्तापने का और भोक्तापने का सवाल ही नही रहता। इस दृष्टि मे क्योंकि आत्मा

ज्ञान दर्शनमयी है और उसी के साथ एकरूप है और अपने ज्ञातापने का ही कर्त्ता और ज्ञातापने का ही भोक्ता है। इस दृष्टि मे जो विकारी पर्याय हो रही है वह भी गौण हो जाती है क्योकि वह द्रव्यदृष्टि का विषय नही है। तब द्रव्य कर्मों के कर्त्तापिने का तो सवाल ही नही रहता। यहा पर तो जाननपने रूप परिणमन को ज्ञानगुण मे गर्भित किया और ज्ञानगुण को चेतन द्रव्य मे गर्भित करके एक अकेले चेतन का ही अनुभव कराया है। अज्ञानी अपने ज्ञान स्वभाव को नही जानता और रागादि और शरीरादिक के साथ एकत्व को प्राप्त हो रहा है इसलिए अपने को कर्मो का कर्त्ता और उनके फल का भोक्ता मानता है। जैसा ज्ञानी का ज्ञानस्वभाव के साथ एकत्वपना है वैसा अज्ञानी का रागादि और शरीरादिक के साथ एकत्वपना है। वह उनको पर्याय मे होने वाला विकार नही समझता परन्तु अपना स्वभाव ही समझता है अत अपने को कर्मों का कर्त्ता और भोक्ता मानता है देखता है। उसकी श्रद्धा मे पर्यायदृष्टि का विषय ही द्रव्यदृष्टि के विषयरूप है अर्थात् व्यवहार ही परमार्थपने को प्राप्त है।

(अथाकर्तृकत्वं चिन्तयति) अब अकर्तापन का चिन्तन करते है—

अकर्ता जीवोऽयं स्थित इति विशुद्धः स्वरसतः
स्फुरच्चिज्ज्योतिर्भिश्छुरितभुवनाभोगभवनः।
तथाप्यस्यासौ स्याद्यदिह किल बन्धः प्रकृतिभिः
स खल्वज्ञानस्य स्फुरति महिमा कोऽपि गहनः ॥३॥

अन्वयार्थ—(यद्यपि) यद्यपि (स्फुरच्चिज्ज्योतिर्भिः) प्रकाशमान चैतन्य ज्योति से (छुरितभुवनाभोगभवनः) जिसने लोकरूपी विस्तृत भवन को व्याप्त-प्रकाशित कर दिया है ऐसा (स्वरसतः) स्वभाव से (विशुद्धः) अति पवित्र (अयम्) यह (जीव) जीव (अकर्ता) कर्मों का कर्ता नही हैं (इति) ऐसा (स्थितः) स्थित-सिद्ध हो चुका है (तथापि) तथापि (अस्य) इस आत्मा के (इह) इस ससार मे (किल) निश्चय से (यत्) जो (प्रकृतिभिः) कर्म प्रकृतियो से (बन्धः) वन्ध (स्यात्) होता है (स.) वह (असौ) यह (खलु) निश्चय से (अज्ञानस्य) अज्ञान की (अपि) ही (क॰) कोई (गहन) अति गम्भीर (महिमा) महिमा-महत्ता (स्फुरति) वृद्धिगत हो रही है।

सं० टी०—(अमुना-प्रकारेण स्वपरिणामैरुत्पद्यमानस्य जीवस्य तेन स कारणभावाभाव सर्वद्रव्याणां द्रव्यान्तरेणोत्पाद्योत्पादक भावाभावात् इति प्रकारेण) पूर्वोक्त प्रकार से अपने ही परिणामो से उत्पन्न होने वाले जीव का कर्मो के साथ कारणभाव का अभाव है क्योकि सभी द्रव्यो का अपने से भिन्न द्रव्यो के साथ उत्पाद्य उत्पादक भाव का अभाव है इस प्रकार से (अयम्) यह (जीव.) जीव (चिद्रूप) चैतन्य स्वरूप (अकर्ता-कर्मणामकारकः सन्) कर्मो का नही करने वाला होता हुआ (स्थित -सुस्थः) स्थित रहो। (किम्भूत) कैसा (स्वरसत -स्वभावत कर्मोपाधिनिरपेक्षतः) स्वभाव से-कर्मरूप उपाधि की अपेक्षा न रखने से (विशुद्ध.-निर्मल) विशुद्ध-निर्मल (स्फुरदित्यादि॰-स्फुरन्ति-प्रकाशमानानि तानि च तानिचिज्ज्यो-

तीषि च ज्ञान तेजांसि च तैः छुरितेत्यादि.—छुरितं-प्रकाशितं भुवनमेव विष्टपमेव भोगभवनं परिपूर्ण गृहं येन सः) देदीप्यमान ज्ञानरूप तेज से लोकरूप भवन को प्रकाशित करने वाला (तथापि-आत्मनः समस्त विज्ञानमयत्वेनाकर्तृकत्वेसत्यपि) आत्मा परिपूर्ण ज्ञानस्वरूप होने से कर्मो का कर्ता नही है तो भी (किल इति निश्चितम्) किल–यह अव्यय निश्चितार्थक है अर्थात् निश्चय से (इह-जगति) इस जगत मे (ज्ञानावरणादि कर्मभिः) ज्ञानावरण आदि कर्मों से (स्यात्-भवेत्) होता है (खलु इति निश्चितम्) खलु—यह अव्यय निश्चितार्थक है अर्थात् निश्चय से (यत्-यस्माद्धेतो) जिस कारण से (अस्य-आत्मनः) इस आत्मा के (असौ-बन्धः संश्लेषः) बन्ध-सश्लेष-दोनो का एकत्व सम्बन्ध (प्रकृतिभि.) ज्ञानावरण आदि कर्म प्रकृतियो से (सः कोऽपि-अनिर्दिष्ट) वह कोई अनिर्वचनीय (गहनः-अज्ञातान्त स्वरूपः) गहन-गम्भीर जिसके असली स्वरूप की थाह नही (अज्ञानस्य-ज्ञानाभावस्य) अज्ञान की (महिमा-माहात्म्यम्) महत्ता (स्फुरति-विजृम्भते) वृद्धिगत हो रही है—बढ रही है (अतिशयाऽलङ्कारोऽयम्) यह अतिशय अलङ्कार हैं।

भावार्थ—आत्मा स्वभावत ज्ञानी है। परद्रव्यो से तथा परभावो से सर्वथा शून्य है। अपने ज्ञान-गुण से लोक और अलोक का साक्षात्कारक होने से सर्व व्यापक है अतएव पर का कर्ता नही है तो भी ज्ञानावरण आदि कर्म प्रकृतियो के साथ इसका सम्बन्ध रूप जो कुछ भी बन्ध होता है वह सब अज्ञान का ही प्रभाव है अतएव अज्ञानी ही कर्मो का कर्ता होता है ज्ञानी नही। कर्मों का कार्य ज्ञानी के भी होता है और अज्ञानी के भी होता है। ज्ञानी अपने ज्ञानस्वभाव को जानना है अत कर्म के कार्य को जानता तो है परन्तु उसके साथ एकत्व नही करता अत कर्ता नही होता और भोक्ता नही होता। अज्ञानी आत्म-स्वभाव को नही जानता अत कर्म के कार्य के साथ एकत्व मानकर उनका कर्ता और भोक्ता बन जाता है ॥३॥

(अथभूयः कर्तृत्वभोक्तृत्वमामनति) अब कर्तृत्व तथा भोक्तृत्व पर फिर से विचार करते हैं—

भोक्तृत्वं न स्वभावोऽस्य स्मृतः कर्तृत्ववच्चितः।
अज्ञानादेव भोक्ताऽयं तदभावादवेदकः ॥४॥

अन्वयार्थ—(अस्य) इस (चितः) चैतन्यमय-आत्मा का (भोक्तृत्वम्) भोक्तापन-कर्म के फलो को भोगने का (स्वभावः) स्वभाव (कर्तृत्ववत्) कर्तापन के समान (न) नही (स्मृतः) स्मरण किया गया है अर्थात् नही है (अयम्) यह चिद्रूप आत्मा (अज्ञानात्) आज्ञान-मिथ्याज्ञान से (एव) ही (भोक्ता) भोक्ता-कर्मों के फलो का भोगने वाला है (तदभावात्) उस अज्ञान के अभाव से (अवेदक.) अवेदक-अभोक्ता नही भोगने वाला है।

सं० टीका—(अस्य-चित.-चिद्रूपस्य) इस चैतन्यस्वरूप आत्मा का (भोक्तृत्वम्-कर्म फलभोक्तृत्वम्) भोक्तृत्व-कर्मों के सुख-दु खादि रूप फलो का भोक्तापन (न स्वभाव.-न स्वरूपम्) स्वरूप नही (स्मृत·-कथितः) स्मरण किया गया है अर्थात् नही कहा गया है (अज्ञानदेव-परात्मनोरेकत्वाध्यासकरणलक्षणाद-नवबोधादेव) पर पुद्गलरूप कर्म और आत्मा इन दोनो मे एकत्व बुद्धि को करने वाले अज्ञान से ही

(अयं-चेतयिता) यह चेतन आत्मा **(भोक्ता-कर्मफलानुभोजकः)** भोक्ता—कर्मो के फलो का अनुभव करने वाला **(तदभावात्-प्रतिनियतस्वलक्षणनिर्ज्ञानात्)** उस अज्ञान के अभाव से अर्थात् ज्ञान के निश्चित स्वरूप प्रकट होने से **(अवेदक -कर्मफलानभोजकः)** कर्मों के फलो को नही भोगने वाला है।

भावार्थ—ज्ञान का अपना निश्चित लक्षण स्व और पर को मात्र जानना ही है। और अज्ञान का अपना सुनिश्चित स्वरूप अपने को तथा पर को एक जानना ही है अर्थात् अनात्मा को आत्मा और आत्मा को अनात्मा रूप से स्वीकार करना है। प्रकृत मे जब ज्ञान ज्ञानरूप में परिणत होता है तब वह स्वरूप का वेदक-भोगने वाला होता है, कर्मो के फलो का नही। लेकिन जब वही ज्ञान मिथ्यादर्शन से सहित होता है तब विपरीत परिणमन करता है उस अवस्था मे वह भोक्ता-कर्मों के फलो का भोगने वाला होता है, निज स्वरूप का नही।

(अथ ज्ञान्यज्ञानाभिस्वरूपं सूत्रयति) अब ज्ञानी और अज्ञानी का स्वरूप सक्षेप मे कहते है—

अज्ञानी प्रकृतिस्वभावनिरतो नित्यं भवेद्वेदको
ज्ञानी तु प्रकृतिस्वभावविरतो नो जातुचिद्वेदकः।
इत्येवं नियमं निरूप्य निपुणैरज्ञानितात्यज्यताम्-
शुद्धैकात्ममये महस्यचलितैरासेव्यतां ज्ञानिता॥५॥

अन्वयार्थ—**(प्रकृतिस्वभावनिरत·)** ज्ञानावरणादि कर्म प्रकृतियो के स्वभाव मे रमण करने वाला **(अज्ञानी)** मिथ्याज्ञानी **(नित्यम्)** हमेशा **(वेदकः)** वेदक-भोक्ता **(भवेत्)** होता है। **(तु)** किन्तु **(प्रकृति-स्वभाव विरतः)** ज्ञानावरणादि कर्म प्रकृतियो के स्वभाव से विरक्त पृथक् रहने वाला **(ज्ञानी)** सम्यग्-ज्ञानी-स्वपरविवेकी **(जातुचित्)** कदाचित्-कभी **(वेदकः)** वेदक-भोक्ता **(नो)** नही **(भवेत्)** होता है। **(इत्येवम्)** ऐसे "पूर्वोक्त प्रकार के" **(नियमम्)** नियम को **(निरूप्य)** भले प्रकार जानकर **(निपुणै.)** निपुण पुरुषो को **(अज्ञानिता)** अज्ञानीपन **(त्यज्यताम्)** त्यागना चाहिए **(शुद्धैकात्ममये)** शुद्ध अद्वितीय आत्मा से विरचित **(महसि)** तेज मे **(अचलितैः)** स्थिर होकर **(ज्ञानिता)** ज्ञानीपने का **(आसेव्यताम्)** सेवन करना चाहिए।

सं० टीका--**(अज्ञानी-पुमान्)** अज्ञानी पुरुष **(प्रेत्यादि·-प्रकृतेः-कर्मणः स्वभावः स्वरूपं तत्र निरत.-निश्शेषं रक्त. सन्)** प्रकृति-कर्मों के स्वभाव मे अतिशय रूप से अनुरक्त रहने वाला **(शुद्धात्मज्ञानाभावात् स्वपरयोरेकत्वज्ञानेन तयोरेकत्वदर्शनेन तयोरेकत्वपरिणत्या च प्रकृतिस्वभावे स्थितत्वात-प्रकृतिस्वभावमपि, अहन्तयानुभवत्)** शुद्ध आत्मा के स्वरूप का ज्ञान न होने से, आत्मा और कर्म पुद्गलो को एक समझने से एक ही देखने से और उनमे एक रूप ही परिणमन करने से कर्मस्वभात्र मे स्थित अतएव कर्मस्वभाव को ही आत्मारूप से अनुभव करने वाला **(नित्यम्)** सदा **(वेदक -कर्मफलभोक्ता)** वेदक-कर्मों के फल का अनुभव करने वाला भोक्ता **(भवेत्)** होता है। **(तु-पुन)** किन्तु **(ज्ञानी पुमान)** ज्ञानी आत्मा **(प्रेत्यादिः-**

प्रकृते· स्वभावात् विरत·-विरक्त सन्) कर्म के स्वभाव से विरक्त-उदासीन पृथक् होता हुआ **(शुद्धात्मज्ञानसद्भावात्स्वपरयोर्विभागज्ञानेन तयोर्विभागदर्शनेन तयोर्विभागपरिणत्या च प्रकृतिस्वभावादपसृतत्वात्, शुद्धात्मस्वभावमेकमेवाहन्तयानुभवन्)** शुद्ध आत्मा के ज्ञान का सद्भाव होने के कारण आत्मा और कर्मपुद्गलो मे जुदाई का ज्ञान होने से उन दोनो मे जुदाई का दर्शन होने से और उन दोनो मे पृथक्-पृथक् परिणमन होने से कर्मों के स्वभाव से अतिशय दूर रहने के कारण शुद्ध आत्मा के स्वभाव को ही एकरूप से आत्मरूप मे अनुभव करने वाला होता है **(जातुचित्-कदाचिदपि)** कभी भी **(न वेदकः-उदितकर्म फल भोक्ता न)** उदय को प्राप्त हुए कर्मों के फल का भोगने वाला नही **(भवेत्)** होता है **(निपुणैः-भेदज्ञैः-पुरुषै)** स्वपर के भेद को जानने वाले पुरुषो के द्वारा **(अज्ञानिता-अज्ञान स्वभावः)** अज्ञान स्वभाव **(त्यज्यताम्-मुच्यताम्)** छोडना चाहिए **(किं कृत्वा)** क्या करके **(इति-अमुना-प्रकारेण)** इस प्रकार से **(एवम्-पूर्वोक्त ज्ञान्यज्ञानिनोर्बन्धाबन्धलक्षणम्)** पूर्व मे कहे गये ज्ञानी और अज्ञानी के बन्ध और अबन्ध स्वरूप **(नियमम्)** नियम को **(निरूप्य-ज्ञात्वा)** जानकर **(पुन)** पश्चात्-फिर **(आसेव्यताम्-ध्यायताम्)** सेवन करना चाहिए—ध्यान करना चाहिए **(का)** क्या **(ज्ञानिता-ज्ञानित्वम्)** ज्ञानीपन-ज्ञानस्वभाव का **(कै.)** किनसे **(अचलितैः-अचलत्व-प्राप्तैः)** निश्चलता को प्राप्त हुए **(क्व)** कहा **(महसि-तेजसि)** तेज मे **(किम्भूते)** कैसे **(शुद्धैकात्ममये-शुद्धः निष्कलङ्क स चासौ एकात्मा च तेन निर्वृत्तस्तस्मिन्)** शुद्ध एकात्ममय अर्थात् निष्कलङ्करूप एक आत्मा के द्वारा रचे हुए ।

भावार्थ—कर्मों के स्वभाव को आत्मा का स्वभाव मानने वाला अज्ञानी ही वेदक-भोक्ता होता है। तथा जो कर्मों के स्वभाव से पृथक् अपने चैतन्य स्वभाव को ही स्वभाव रूप से स्वीकार करता है वह ज्ञानी ज्ञाता ही होता है भोक्ता नही । कर्मों का कार्य होते हुए भी उसमे ज्ञानी के अपनापना, एकत्वपना, अहम्पना नही है । इस तरह ज्ञानी और अज्ञानी के स्वरूपगत भेद को जानने वाले ज्ञानीजनो का कर्तव्य है कि वे अज्ञानी की भूमिका से हटकर ज्ञानी के भूतल पर आ जाये और अपने अविचल तेजोमय चैतन्य मे सदा के लिए निमग्न हो जायें जो शाश्वतिक है अद्वितीय है और है असाधारण ।

(अथ ज्ञानिनो ज्ञातृत्वमध्यापयति) अव ज्ञानी का ज्ञातापन प्रकट करते हैं—

ज्ञानी करोति न न वेदयते च कर्म
जानाति केवलमयं किल तत्स्वभावम् ।
जानन् परं करणवेदनयोरभावात्
शुद्धस्वभावनियतः स हि मुक्त एव ॥६॥

अन्वयार्थ—**(ज्ञानी)** ज्ञानी-सम्यग्ज्ञानी **(कर्म)** कर्म को **(न)** नही **(करोति)** करता है **(च)** और **(न)** नही **(वेदयते)** भोगता है । किन्तु **(अयम्)** यह ज्ञानी **(केवलम्)** केवल-सिर्फ **(तत्स्वभावम्)** कर्म के स्वभाव को **(जानाति)** जानता है । **(परम्)** सिर्फ **(जानन्)** जानने वाला ज्ञानी **(करणवेदनयोः)** करना

और भोगना इन दोनो का **(अभावात्)** अभाव होने से **(शुद्धस्वभावनियतः)** शुद्ध आत्मस्वभाव मे निमग्न होने से **(स)** वह ज्ञानी महात्मा **(हि)** निश्चय से **(मुक्त)** मुक्त **(एव)** ही है।

सं० टीका—**(ज्ञानी-पुमान्)** ज्ञानी पुरुष **(शुभाशुभं कर्म न करोति-न विधत्ते)** शुभ-पुण्य-अशुभ-पाप रूप कर्म को नही करता है **(न वेदयते-कर्म फल न भुञ्जति)** कर्मों के सुख और दु खरूप फल को नही भोगता है। **(किलेति निश्चितम्)** किल–यह अव्यय निश्चितार्थक है—निश्चय से **(अय-ज्ञानी)** यह ज्ञानी **(केवलम्-कर्तृत्व भोक्तृत्वराहित्येन परम्)** कर्तृत्व-कर्तापन तथा भोक्तृव-भोक्तापन से रहित होने के कारण सिर्फ—**(तत्स्वभावम्-तस्यकर्मण.-स्वभावम्-स्वरूपम्-मधुरकटुकादि)** उस कर्म के मीठे सुहावने और कटुक-कडवे असुहावने रूप को **(जानाति-तत्स्वभाव परिच्छेदको भवति)** जानता है अर्थात् उसके स्वभाव का परिच्छेदक-निश्चय करने वाला है **(हि-पुन)** निश्चय से **(सः-आत्मा)** वह आत्मा **(मुक्त एव-कर्मफलरहित एव)** कर्मों के फल से रहित ही है **(परम्-केवलम्)** सिर्फ **(जानन्-विश्व परिच्छिन्दन् सन्)** जानता हुआ अर्थात् सभी पदार्थों को भली भाति निर्णय करता हुआ **(शुद्धेत्यादि.-शुद्धश्चासौ स्वभाव· स्वरूप च तत्र नियतः निश्चलत्वमापन्न.)** शुद्ध स्वरूप मे निश्चलता को प्राप्त हुआ है **(कुत.)** कैसे **(करणवेदनयो करण-कर्मकर्तृत्वं च, वेदनं-कर्मफलभोक्तृत्वं च तयोरभावात्-कर्तृत्व भोक्तृत्व स्वभावराहित्यात्)** कर्मों का करना रूप कर्तृत्व तथा कर्मों के फल का भोगनारूप भोक्तृत्व स्वभाव न होने से।

भावार्थ—द्रव्यदृष्टि से आत्मा मात्र ज्ञाता है जैसे दूसरे के, पुण्य-पाप के उदय के फल को, शरीर की अवस्था को और शुभ-अशुभ भावो को मात्र जानता ही है उनका कर्त्ता नही और भोक्ता भी नहो है वैसे ही इस शरीर की अवस्था को, पर्याय मे होने वाले शुभ-अशुभ भावो को और पुण्य-पाप के उदय को मात्र जानने वाला ही है इन दोनो मे परपने की अपेक्षा और जाननेपने की अपेक्षा कोई अन्तर नही है ॥६॥

(अथात्मनः कर्तृत्व दूषयति) अब आत्मा के कर्तृत्व को दूषित करते हैं—

ये तु कर्तारमात्मानं पश्यन्ति तमसावृताः।
सामान्यजनवत्तेषां न मोक्षोऽपि मुमुक्षताम् ॥७॥

अन्वयार्थ—**(तमसा)** अज्ञानरूप अन्धकार से **(आवृताः)** व्याप्त आच्छादित **(ये)** जो पुरुष **(आत्मानम्)** आत्मा-अपने को **(कर्तारम्)** कर्मो का कर्ता **(पश्यन्ति)** देखते अर्थात् जानते है **(मुमुक्षताम्)** मुक्ति को चाहने वाले होने पर **(अपि)** भी **(तेषाम्)** उनको **(सामान्यजनवत्)** साधारण मनुष्यो की तरह **(मोक्षः)** मोक्ष **(न)** नही **(स्यात्)** हो सकता है।

स० टी०—**(ये तु-जिनसिद्धान्ताभासा)** जिन सिद्धान्त को नही जानने वाले जो लोग **(तमसा वृताः-अज्ञानव्याप्ता.)** अज्ञान से व्याप्त-घिरे हुए है **(विचारराहित्यात्)** वस्तु के यथार्थ स्वरूप के विचार-विमर्श से शून्य होने के कारण **(आत्मानम्)** अपने को **(कर्तारम्-कर्मकारकम्)** कर्मों का कर्ता–करने वाला **(पश्यन्ति-ईक्षन्ते)** देखते है जानते-मानते है **(तेषां-जैनाभासाना)** उन जैनाभासो को **(मुमुक्षतामपि मोक्ष-मिच्छतामपि)** मोक्ष की इच्छा करने वाले होने पर भी **(न मोक्ष.-कर्ममोचनलक्षणोमोक्षो न स्यात्-आत्मन**

प्रकृते स्वभावात् विरत.-विरक्त. सन्) कर्म के स्वभाव से विरक्त-उदासीन पृथक् होता हुआ (**शुद्धात्मज्ञानसद्भावात्स्वपरयोर्विभागज्ञानेन तयोर्विभागदर्शनेन तयोर्विभागपरिणत्या च प्रकृतिस्वभावादपसृतत्वात्, शुद्धात्मस्वभावमेकमेवाहन्तयानुभवन्**) शुद्ध आत्मा के ज्ञान का सद्भाव होने के कारण आत्मा और कर्मपुद्गलो मे जुदाई का ज्ञान होने से उन दोनो मे जुदाई का दर्शन होने से और उन दोनो मे पृथक्-पृथक् परिणमन होने से कर्मों के स्वभाव से अतिशय दूर रहने के कारण शुद्ध आत्मा के स्वभाव को ही एकरूप से आत्मरूप मे अनुभव करने वाला होता है (**जातुचित्-कदाचिदपि**) कभी भी (**न वेदकः-उदितकर्म फल भोक्ता न**) उदय को प्राप्त हुए कर्मों के फल का भोगने वाला नही (**भवेत्**) होता है (**निपुणैः-भेदज्ञैः-पुरुषै**) स्वपर के भेद को जानने वाले पुरुषो के द्वारा(**अज्ञानिता-अज्ञान स्वभावः**) अज्ञान स्वभाव(**त्यज्यताम्-मुच्यताम्**) छोडना चाहिए (**किं कृत्वा**) क्या करके (**इति-अमुना-प्रकारेण**) इस प्रकार से (**एवम्-पूर्वोक्त ज्ञान्यज्ञानिनोर्बन्धाबन्धलक्षणम्**) पूर्व मे कहे गये ज्ञानी और अज्ञानी के बन्ध और अबन्ध स्वरूप (**नियमम्**) नियम को (**निरूप्य-ज्ञात्वा**) जानकर (**पुन**) पश्चात्-फिर (**आसेव्यताम्-ध्यायताम्**) सेवन करना चाहिए—ध्यान करना चाहिए (**का**) क्या (**ज्ञानिता-ज्ञानित्वम्**) ज्ञानीपन-ज्ञानस्वभाव का (**कै.**) किनसे (**अचलितै.-अचलत्वं-प्राप्तैः**) निश्चलता को प्राप्त हुए (**क्व**) कहा (**महसि-तेजसि**) तेज मे (**किम्भूते**) कैसे (**शुद्धैकात्ममये-शुद्धः निष्कलङ्क स चासौ एकात्मा च तेन निर्वृत्तस्तस्मिन्**) शुद्ध एकात्ममय अर्थात् निष्कलङ्करूप एक आत्मा के द्वारा रचे हुए।

भावार्थ—कर्मों के स्वभाव को आत्मा का स्वभाव मानने वाला अज्ञानी ही वेदक-भोक्ता होता है। तथा जो कर्मों के स्वभाव से पृथक् अपने चैतन्य स्वभाव को ही स्वभाव रूप से स्वीकार करता है वह ज्ञानी ज्ञाता ही होता है भोक्ता नही। कर्मों का कार्य होते हुए भी उसमे ज्ञानी के अपनापना, एकत्वपना, अहम्पना नही है। इस तरह ज्ञानी और अज्ञानी के स्वरूपगत भेद को जानने वाले ज्ञानीजनो का कर्तव्य है कि वे अज्ञानी की भूमिका से हटकर ज्ञानी के भूतल पर आ जाये और अपने अविचल तेजोमय चैतन्य मे सदा के लिए निमग्न हो जाये जो शाश्वतिक है अद्वितीय है और है असाधारण।

(**अथ ज्ञानिनो ज्ञातृत्वमध्यापयति**) अब ज्ञानी का ज्ञातापन प्रकट करते हैं—

ज्ञानी करोति न न वेदयते च कर्म
जानाति केवलमयं किल तत्स्वभावम्।
जानन् परं करणवेदनयोरभावात्
शुद्धस्वभावनियतः स हि मुक्त एव ॥६॥

अन्वयार्थ—(**ज्ञानी**) ज्ञानी-सम्यग्ज्ञानी (**कर्म**) कर्म को (**न**) नही (**करोति**) करता है (**च**) और (**न**) नही (**वेदयते**) भोगता है। किन्तु (**अयम्**) यह ज्ञानी (**केवलम्**) केवल-सिर्फ (**तत्स्वभावम्**) कर्म स्वभाव को (**जानाति**) जानता है। (**परम्**) सिर्फ (**जानन्**) जानने वाला ज्ञानी (**करणवेदनयो**)

आता है तो मिथ्यात्व सम्बन्धी राग है और ज्ञान स्वभाव मे भी अह आता है तो चारित्रमोह सम्बन्धी राग है जिसका अभाव ज्ञानरूप रहने से ही होता है। आचार्यों ने मिथ्यात्व सम्बन्धी राग छुटाने के लिए पर मे अहम्पने का निषेध किया और ज्ञानस्वभाव मे अहम्पना स्थापित कराया। चारित्रमोह का अभाव करने के लिए ज्ञानस्वभाव के अहम् को छुटा करके स्वभाव मे एकरूप रहने को कहा। निमित्त-नैमेत्तिक सम्बन्ध से जो भाव होते है वह पर्याय का विषय है जो यहा पर गौण है। उनके साथ भी द्रव्यदृष्टि रूप एकत्वपना ज्ञानी के नही होता है। पुद्गलद्रव्य को पर्याय जो कर्मादिक है उनका कर्त्ता अपने को मानने से तो दो द्रव्य मे एकत्व बुद्धि हो जाती है जो खराखरी मिथ्यात्व है ॥७॥

(अथ तथैव कर्तृत्व व्याहन्ति) अब पर के कर्तृत्व-करतापन का निषेध करते हैं—

नास्ति सर्वोऽपि सम्बन्धः परद्रव्यात्मतत्त्वयोः।
कर्तृकर्मत्वसम्बन्धाभावे तत्कर्तृता कुतः ॥८॥

अन्वयार्थ—**(परद्रव्यात्मतत्त्वयोः)** पर-पुद्गलादि द्रव्य का और आत्मतत्त्व का **(सर्व.)** कोई भी **(सम्बन्धः)** सम्बन्ध **(न)** नही **(अस्ति)** है **(कर्तृकर्मत्वसम्बन्धाभावे)** कर्ता और कर्मरूप सम्बन्ध के अभाव मे **(तत्कर्तृता)** कर्मों का कर्तापन **(कुत.)** कैसे **(भवेत्)** हो सकता है।

स० टीका—**(परेत्यादिः-पुद्गलद्रव्यजीवद्रव्ययोः)** पुद्गल द्रव्य और जीव द्रव्य का **(सर्वोऽपि-तादात्म्यादिलक्षणः)** सभी तादात्म्य आदि नाना प्रकार के **(सम्बन्ध)** सम्बन्ध **(नास्ति)** नही हैं **(कर्त्रेत्यादिः-तयोर्मध्ये-आत्मन. कर्तृत्वम्-कर्मणा कर्मत्वं-एतल्लक्षणसम्बन्धाभावे सति)** आत्मा और पुद्गल के मध्य मे आत्मा के कर्तृता-कर्तापना तथा पुद्गल कर्मों के कर्मता-कर्मपन रूप सम्बन्ध का अभाव होने पर **(तत्कर्तृता-तेषा कर्मणामात्मनः कर्तृत्वम्)** उन कर्मो का कर्तापन आत्मा के **(कुत ?)** कैसे **(स्यात्)** हो सकता है अर्थात् **(न कुतोऽपि स्यात्)** कही से भी नही हो सकता है।

भावार्थ—निश्चय नय की अपेक्षा से पुद्गलतत्त्व का एव आत्मतत्त्व का परस्पर मे कोई भी सम्बन्ध नही है क्योकि दोनो मे स्वभावकृत विभिन्नता स्वत सिद्ध है। स्वभाव भेद से सम्बन्ध मात्र की व्यवस्था सर्वथा विघटित हो जाती है ऐसी स्थिति मे आत्मा का कर्मों के साथ कर्ता कर्म सम्बन्ध कैसे बन सकता है अर्थात् कथमपि नही। तादाम्य सम्बन्ध से सम्बन्धित द्रव्यो मे ही कर्तृकर्म भाव की व्यवस्था देखी जाती है अन्य सम्बन्ध से सम्बन्धित द्रव्यो मे नही। अत पुद्गल द्रव्य का आत्मद्रव्य के साथ परस्पर मे सयोग सम्बन्ध ही है अतएव उनमे उक्त कर्तृकर्म सम्बन्ध सर्वथा असम्भव ही है।

(अथ परद्रव्यात्मतत्त्वयोः सम्बन्ध निवारयति) अब पर-पुद्गलद्रव्य का तथा आत्मतत्त्व का परस्पर मे सम्बन्ध मात्र का निवारण करते है—

एकस्य वस्तुन इहान्यतरेण सार्द्धं-
सम्बन्ध एव सकलोऽपि यतो निषिद्धः।

तत्कर्तृकर्मघटनास्ति न वस्तुभेदे–
पश्यन्त्वकर्तृ मुनयश्च जनाश्च तत्त्वम् ॥६॥

अन्वयार्थ—(**एकस्य**) एक (**वस्तुन.**) वस्तु का (**इह**) इस जगत मे (**अन्यतरेण**) किसी दूसरी वस्तु के (**सार्द्धम्**) साथ (**यत:**) जिस कारण से (**सकल: अपि**) सभी (**सम्बन्ध.**) सम्वन्ध (**निषिद्ध**) निषिद्ध-वर्जित है (**तत्**) तिस कारण से—(**वस्तुभेदे**) वस्तु के भेद मे अर्थात् भिन्न वस्तु मे (**कर्तृकर्मघटना**) कर्त्ता-कर्म की व्यवस्था (**न**) नही (**अस्ति**) है अत (**मुनय**) मुनिजन (**च**) और (**जना.**) साधारण लोग (**तत्त्वम्**) आत्मा को (**अकर्तृ**) पर का अकर्ता (**पश्यन्तु**) देखें।

स० टीका—(**इह-जगति**) इस जगत मे (**यत.-कारणात्**) जिस कारण से (**एकस्य वस्तुन:-चेतनस्य, अचेतनस्य वा**) एक चेतन अथवा—अचेतन पदार्थ का (**अन्यतरेण सार्द्ध-सह**) किसी भिन्न वस्तु के साथ (**सकलोऽपि-समस्तोऽपि**) सब का सब (**सम्बन्ध-तादात्म्यलक्षण:-गुणगुणिभावलक्षण, लक्ष्यलक्षणभाव, वाच्यवाचकभावलक्षण:, विशेष्यविशेषणभावलक्षण: इत्यादि. सम्बन्धोभिन्नवस्तुनो:**) तादाम्य स्वरूप, गुण-गुणिभावरूप, लक्ष्यलक्षणरूप, वाच्यवाचकरूप, विशेष विशेषणरूप इत्यादिरूप सम्वन्ध विभिन्न वस्तुओ मे (**निषिद्ध एव-प्रतिषिद्ध एव**) निषिद्ध ही—निषेध किया गया है (**तत्-तस्मात् कारणात्**) तिस कारण से (**वस्तुभेदे-वस्तुनो.-जीवपुद्गलयो:-भेदे-पृथक्त्वे सति**) जीव और पुद्गल वस्तुओ मे पृथक्ता-जुदाई के सिद्ध होने पर (**कर्तृकर्मघटना-कर्तृकर्मणो:-जीव पुद्गलयो.-कर्तृत्वं कर्मत्वमिति घटना-सम्भावना**) जीव और पुद्-गल इन दोनो मे आपस मे कर्ता और कर्म की सम्भावना (**नास्ति**) नही हैं (**च-पुन:**) अतएव (**मुनयो जना-मुनीश्वरलक्षणा लोका.**) मुनीश्वर लोग (**अकर्तृ-कर्तृत्वव्यपदेशरहितम्**) कर्तृत्व-कर्तापन के व्यवहार से शून्य (**स्वतत्त्वम्-स्वात्मस्वरूपम्**) अपने आत्मा के स्वरूप को (**पश्यन्तु-अवलोकयन्तु**) देखें-अवलोकन करें।

भावार्थ—इस लोक मे जितने भी पदार्थ हैं वे सब स्वभाव से पृथक्-पृथक् ही है उनका आपस मे कोई मेल जोल नही है। अत उनमे परस्पर मे कोई भी सम्वन्ध निश्चित या नियत नही है ऐसी स्थिति मे आत्मा का पर पुद्गल जन्य कर्मों के साथ कर्ता कर्म सम्वन्ध कैसे सम्भव हो सकता है अर्थात् सर्वथा असम्भव ही है। अतएव आचार्य कहते हैं कि साधुजन और साधारण तत्त्वजिज्ञासु लोग आत्मतत्त्व को परद्रव्य का अकर्ता ही जानें और देखें।

(**अथाज्ञानि** [illegible] ज्ञानी जीव के स्वभाव की पुष्टि करते हैं—

त नेममज्ञानमग्नमहसो वत ते वराका: ।
मकर्ता स्वयं भवति चेतन एव नान्य: ॥१०॥

इमम्) इस (**स्वभावनियम्**) स्वभाव के नियम को (**अज्ञानमग्नमहस.**) अज्ञानाच्छादित ज्ञानज्योति

वाले (**वराकाः**) स्वरूप से अपरिचित (**सन्तः**) होते हुए (**कर्म**) कर्म को (**कुर्वन्ति**) करते हैं अर्थात् कर्म के कर्ता वनते है (**तत·**) उस अज्ञान से (**एव**) ही (**हि**) निश्चय से (**भावकर्मकर्ता**) रागादिरूप भाव कर्मों का करता (**स्वयम्**) स्वत (**चेतन**) आत्मा (**एव**) ही (**भवति**) होता है (**अन्यः**) ज्ञानी आत्मा (**न**) रागादि भावकर्मों का कर्ता नही है।

सं० टीका—(**तु-पुन·**) किन्तु (**ये-साख्यादयो वादिनः**) जो साख्य आदि वादो लोग (**इमम्-प्रसिद्धम्**) इस प्रसिद्ध (**स्वभावनियमम्-स्वभावः चेतनत्वम्-अचेतनत्वम्-तस्य नियमम्**) चेतनता तथा अचेतनतारूप पृथक्-पृथक् स्वभाव के नियम को (**न कलयन्ति-न मन्यन्ते**) नही मानते है (**साख्यादीना प्रकृत्यादितत्त्वानामेकत्वघटनात्**) क्योकि साख्यादि विभिन्न मतावलम्बियो ने प्रकृति आदि तत्त्वो को एकरूप से स्वीकार किया है। (**कीदृक्षास्ते**) वे साख्य आदि कैसे है ? (**अज्ञानेत्यादि·-अज्ञाने मग्न-अज्ञानाच्छादित महः-ज्ञानज्योति येषाते**) जिनका ज्ञानरूप तेज अज्ञानरूप अन्धकार से समाच्छादित-ढका हुआ है (**वतेति खेदयति**) वत–इस अव्यय से—आचार्यश्री खेद प्रकट करते हैं कि (**ते वादिन.**) वे साख्यादि वादी लोग (**वराकाः-स्वतत्त्व व्याघातात्-स्वस्वरूपं स्थापयितुमसमर्थाः सन्तः**) निज आत्मतत्त्व के विनाश से अपने चैतन्य स्वरूप को स्थापन करने मे अशक्त होते हुए (**केवलम्**) सिर्फ (**कर्म-ज्ञानावरणादिप्रकृतिमुपार्जयन्ति**) ज्ञानावरण आदि द्रव्य प्रकृति का उपार्जन करते है (**हीति स्फुटम्**) हि—यह अव्यय स्फुटार्थक है अर्थात् स्फुटरूप से (**तत एव-अज्ञानादेव**) अज्ञान से ही (**भावकर्म करोति**) रागादिरूप भावकर्म को करता है (**न द्रव्यकर्म करोति**) द्रव्यकर्म ज्ञानावरणादि को नही करता है (**यतः**) जिस कारण से (**तत एव**) तिस कारण से ही (**स्वयम्**) स्वत (**अज्ञानादिः**) अज्ञान आदि से (**भावकर्मकर्ता-भावकर्मणा-रागद्वेषादीना कर्ता-कारक**) राग-द्वेष आदि भाव कर्मों का कर्ता-करने वाला (**भवति**) होता है (**अन्य.-अज्ञानादि स्वभावाद्भिन्नः**) अज्ञान आदि रूप स्वभाव से भिन्न (**चेतन एव-चेतयति स्वस्वरूपमिति चेतन एव**) निज स्वरूप को जानने वाला चेतन ही अर्थात् ज्ञानी ही (**भावकर्मकर्ता**) भाव कर्म रागादि का करता (**न भवति**) नही होता है अथात् ज्ञानी तो अपने शुद्ध ज्ञानादि भावो का ही कर्ता है रागादि विभावो का नही।

भावार्थ—जिनका जीवात्मा मिथ्यात्वग्रस्त है वे मिथ्याज्ञानी ही परद्रव्य का एव परभावो का कर्ता अपनी आत्मा को ही मानते हैं पर को नही। यह मिथ्यात्व जनित अज्ञान का ही प्रभाव ही समझना चाहिए। ज्ञानी की विचारणा एव मान्यता इससे सर्वथा विपरीत होती है। वह तो मात्र अपने चैतन्यमय स्वभाव भावो का कर्ता अपने को मानता है अन्य का एव अन्य भावो का नही। अज्ञानी के आत्मस्वभाव का ज्ञान न होने से निमित्त-नैमेत्तिक सम्बन्ध को नही जानता हुआ जो नैमेत्तिक भाव अपनी पर्याय मे होते हैं उनको स्वभाव भाव मान लेता है और कर्त्ता वन जाता है। इसी प्रकार पुद्गल की पर्याय जो कर्मादिक रूप हुई उसका कर्त्ता भी वस्तु स्वभाव को नही जानने के कारण अपने को मान लेता है जो अज्ञानता है ॥१०॥

(**अथ कर्मणः कार्यत्वं कीर्तयति**) अब कर्म के कार्य का कथन करते हैं—

एक मात्र जीव के ही कार्य है क्योकि वे चेतन के साथ अन्वय व्यतिरेक रखते हैं अत· अन्ततोगत्वा जीव ही पर्याय दृष्टि से उनका कर्ता है जड प्रकृति नही। यह फलितार्थ हुआ।

(अथ प्रकृतिवादिनं साख्यं प्रतिक्षिपति) अब प्रकृतिवादी साख्य के प्रति आक्षेप करते हुए आचार्य स्वमत का स्थापन करते हैं—

कर्मैव प्रवितर्क्य कर्तृ हतकैः क्षिप्त्वात्मनः कर्तृताम्
कर्तात्मैष कथञ्चिदित्यचलिता कैश्चिच्छ्रुतिः कोपिता।
तेषामुद्धतमोहमुद्रितधिया बोधस्य संशुद्धये
स्याद्वादप्रतिबन्धलब्धविजया वस्तुस्थितिः स्तूयते ॥१२॥

अन्वयार्थ—**(कैश्चित्)** किन्ही **(हतकै)** आत्मा को कर्ता नही मानने वाले साख्य आदि आत्मस्वरूप के घातको द्वारा **(आत्मन)** आत्मा के **(कर्तृताम्)** कर्तापन को **(क्षिप्त्वा)** तिरस्कृत करके **(कर्मैव)** कर्म को ही **(कर्तृ)** कर्मों का कर्ता **(प्रवितर्क्य)** तर्कणा करके-विचार करके **(एष)** यह **(आत्मा)** आत्मा **(कथञ्चित्)** किसी विवक्षा विशेष के वश से **(कर्ता)** रागादि का कर्ता-करने वाला **(अस्ति)** है **(इति)** ऐसी **(अचलिता)** निश्चल **(श्रुति)** जिन वाणी **(कोपिता)** कुपित कराई गई **(उद्धतमोहमुद्रितधियाम्)** उत्कट मोह के वश से विपरीत बुद्धि वाले **(तेषाम्)** उन साख्य आदि वादियो के **(बोधस्य)** ज्ञान के **(संशुद्धये)** संशोधन के लिए **(स्याद्वादप्रतिबन्धलब्धविजया)** स्याद्वाद-कथञ्चिद्वादरूप सिद्धान्त के प्रतिपादन से विजय को प्राप्त हुई **(वस्तुस्थिति.)** वस्तु की मर्यादा **(स्तूयते)** प्रस्तुत करते हैं।

सं० टीका—**(कैश्चित्-साख्यमतानुसारिभि.)** साख्य मत का अनुसरण करने वाले किन्ही वादियो के द्वारा **(इति-पूर्वोक्ता)** पूर्व मे कही हुई इस **(श्रुति-जिनोक्तं-सूत्रम्)** जिनेन्द्रदेव द्वारा कही हुई सूत्रात्मक वाणी **(कोपिता-विराधिता)** क्रुद्ध की गई—विराधना को प्राप्त कराई गई **(किम्भूता श्रुतिः)** कैसी श्रुति **(अचलिता-प्रमाणादिभिश्चलयितुमशक्या)** प्रमाण आदि से चलाने मे अशक्य अर्थात् प्रमाणनय आदि से बाधित नही होने वाली **(किम्भूतैस्तै)** कैसे उन सख्यादियो से **(हतकै.-आत्मनोऽकर्तृकत्वप्रतिपादकैः)** आत्मा को कर्मों का कर्ता नही मानने वाले अतएव आत्मस्वरूप के हतक-घातक **(आत्मा-चेतयिता)** आत्मा—जानने वाला **(कर्ता तु प्रकृतिः)** और कर्ता-कर्मों को करने वाली प्रकृति है **(किं-कृत्वा)** क्या करके **(कर्मैव-प्रकृतिरेव)** प्रकृति ही **(कर्तृ-सुखदु.खादि कारकम्)** सुख-दु ख आदि का कर्ता करने वाली **(प्रवितर्क्य-प्रविचिन्त्य)** विचार करके **(कर्मैव-आत्मानमज्ञानिनं करोति ज्ञानावरणाख्यकर्मोदयमन्तरेण तदनुपपत्तेः)** कर्म ही आत्मा को अज्ञानी बनाता है क्योकि ज्ञानावरण नामक कर्म के उदय के विना अज्ञानी बनना सम्भव नही है। **(कर्मैव-ज्ञानिन करोति-तत्कर्मक्षयोपशममन्तरेण तदनुपपत्ते.)** कर्म ही आत्मा को ज्ञानी करता-बनाता है—क्योकि ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम के विना ज्ञानी होना कथमपि सम्भव नही है। **दु.खमिथ्यादृष्ट्यसयतोर्ध्वाधस्तिर्यग्लोक शुभाशुभप्रशस्ताप्रशस्तादिक तत्तत्सम्बन्धि कर्मोदय-**

मन्तरेण तदनुपपत्तेः) वैसे ही निद्रा-नीद सुख-दु ख मिथ्यादृष्टि असयत ऊर्ध्वलोक, अधोलोक, मध्यलोक शुभ-अशुभ, प्रशस्त-अप्रशस्त आदि नाना अवस्थायें अपने-अपने कर्म के उदय आदि के बिना नही हो सकती है। **(तथा च जैनी श्रुतिः)** और ऐसी ही जिनवाणी है अर्थात् जिनेश्वर की वाणी से भी हमारा उक्त कथन मिलता-जुलता है जैसा कि निम्न पक्तियो से स्फुट होता है—**(पुवेदाख्य कर्मस्त्रियमभिलषति)** पुवेद नामक कर्म स्त्री की इच्छा करता है **(स्त्रीवेदाख्यं-कर्म-नर च)** और स्त्रीवेद नामक कर्म-मनुष्य को चाहता है। **(तथा यत्परं हन्ति येन च परेण हन्यते तत्परघातकर्मेति वाक्येन जीवस्याब्रह्मपरघातादि निषेधात् कर्मण एव तत्समर्थनात्)** वैसे ही जो दूसरे का घात करता है अथवा दूसरे से घाता जाता है वह परघात कर्म है इस वाक्य से जीव के अब्रह्मचर्य, परघात आदि का निषेध होने के कारण कर्म को ही उक्त प्रकार का समर्थन प्राप्त होता है। **(आत्मन.-जीवस्य)** आत्मा-जीव का **(कर्तृता-भावकर्मकारित्वम्)** कर्तृता—रागादि भाव कर्मों का कर्तापन का **(क्षिप्त्वा-निराकृत्य)** निराकरण करके **(प्रकृतेरेव कर्तृत्वे तस्य सर्वेषा जीवानामकर्तृत्वे भोक्तृत्वादीनामपि कर्तृत्वाभावात् अकिञ्चित्करत्वमेव पुरुषत्व व्याघातात्)** प्रकृति को ही कर्ता मानने पर, सभी जीवो के कर्तापन का अभाव होने से, भोक्ता-भोग भोगने वाले जीवो के भी कर्तापन का अभाव होने से पुरुष-आत्मा के पुरुषत्व-आत्मत्व का व्याघात होने के कारण अकिञ्चित्करत्व रूप महान् दोष का प्रसङ्ग होगा। **(इति किम्)** इसलिए **(एष आत्मा)** यह आत्मा **(कथञ्चित्कर्ता-केनचित्कारणेनकारक·)** किसी कारण से कर्ता–रागादि भाव कर्मों का करने वाला है **(अन्यथा मुक्तात्मना कर्तृत्व प्रसङ्गात्)** यदि आत्मा को किसी विवक्षा विशेष से रागादि भावो का कर्ता नही माना जायेगा तो मुक्तात्माओ के भी रागादि के कर्तृत्व-कर्तापन का प्रसङ्ग उपस्थित होगा। **(तेषां प्रकृते कर्तृत्ववादिनाम्)** उन-प्रकृति को ही कर्ता मानने वाले साख्यादिको को **(बोधस्य-ज्ञानस्य)** ज्ञान के **(सशुद्धये-निर्मलीकरणाय)** निर्मल करने के लिए **(वस्तुस्थिति -वस्तुन. व्यवस्था)** वस्तु की व्यवस्था यथार्थ मर्यादा **(स्तूयते-प्रशस्यते)** कहते हैं **(किम्भूता सती ?)** कैसी व्यवस्था **(स्यादित्यादि-स्याद्वादेन कथञ्चिद्वादेन प्रकृत्यादीना नित्यत्वादेः प्रतिबन्ध. प्रतिषेध -तत्कथम् ? प्रधानं व्यक्तादपैति नित्यत्वनिराकरणात्-अपेतमप्यस्यिविनाशप्रतिषेधात्-इत्येकान्तनिषेधः तेन लब्धो विजयो यया सा)** स्याद्वाद, कथञ्चिदवाद, अपेक्षावादविवक्षा के वश से प्रकृति आदि के नित्यता निषिद्ध है। वह कैसे ? प्रधान-आत्मा-पुरुष, व्यक्त-प्रकृति से पृथक् होता है इससे नित्यत्व का निराकरण-खण्डन हो जाता है और वह पृथक् हुआ प्रधान विद्यमान रहता है इससे उसके विनाश का भी प्रतिषेध-निषेध हो जाता है इस प्रकार से एकान्त के निषेध द्वारा जिसने विजय को प्राप्त कर लिया है **(अथवा-स्याद्वाद एव प्रतिबन्ध कारणं वस्तुस्थितेः-तेन लब्धो विजयो यया सा)** अथवा वस्तुस्थिति-वस्तु की यथार्थ व्यवस्था का प्रमुख कारण स्याद्वाद ही है उस स्याद्वाद से जिसने विजय पाई है **(कीदृशा-नाम्-तेषाम्)** कैसे साख्यादि वादियो पर **(उद्धतेत्यादि -उद्धत -उत्कटः चासौ मोहश्च मोहनीय कर्म तेन मुद्रिता आच्छादिता धी·-धारणावती बुद्धिर्येया तेषाम्)** तीव्र मोहनीय कर्म के उदय से समावृत बुद्धि वाले अर्थात् दर्शनमोहनीय कर्म के तीव्र उदय से जिनकी बुद्धि मिथ्यात्व से ग्रस्त होने के कारण विपरीत परि-

कार्यत्वादकृतं न कर्म न च तज्जीवप्रकृत्ययोर्द्वयो-
रज्ञायाः प्रकृतेः स्वकार्यफलभुग्भावानुषङ्गाकृतिः ।
नैकस्याः प्रकृतेरचित्वलसनाज्जीवोऽस्य कर्ता ततो
जीवस्यैव च कर्म तच्चिदनुगं ज्ञाता न यत्पुद्गलः ।।११।।

अन्वयार्थ - (**कर्म**) कर्म (**कार्यत्वात्**) कार्य होने से (**अकृतम्**) अकृत–नही किया हुआ (**न**) नही (**स्यात्**) हो सकता (**च**) और (**तत्**) वह कर्म (**जीवप्रकृत्यो.**) जीव और प्रकृति (**द्वयोः**) दोनो का (**कृति**) कार्य (**न**) नही (**स्यात्**) हो सकता क्योकि (**अज्ञाया.**) अज्ञानरूप (**प्रकृतेः**) प्रकृति के (**स्वकार्य-फलभुग्भावानुषङ्गाकृति.**) कर्म के कार्य भूत सुख दु खादि रूप फल के भोगने का प्रसङ्ग (**स्यात्**) होगा। (**कर्म**) राग-द्वेषादि कर्म (**एकस्या**) एक (**प्रकृतेः**) प्रकृति का (**कार्यम्**) कार्य (**न**) नही (**स्यात्**) हो सकता क्योकि (**अचित्वलसनात्**) वह प्रकृति स्वभावत. अचेतन है (**ततः**) इसलिए (**अस्य**) इस रागादि भाव कर्म का (**कर्ता**) कर्ता–करने वाला (**जीव.**) जीव-चेतन आत्मा (**स्यात्**) है (**च**) और (**तत्**) वह प्रसिद्ध (**कर्म**) रागादि भाव कर्म (**जीवस्य**) जीव का (**एव**) ही (**अस्ति**) है क्योकि वह कर्म (**चिदनुगम्**) चैतन्य का अनुगम–अनुसरण करने वाला अर्थात् चेतन का ही विकार (**अस्ति**) है (**यत्**) क्योकि (**पुद्गलः**) पुद्गल (**ज्ञाता**) जानने वाला (**न**) नही (**अस्ति**) है।

सं० टीका—(**कर्म-भावकर्मपक्ष.**) कर्म अर्थात् भावकर्म राग-द्वेष आदि (**अकृतं न भवितुमर्हति इति साध्योधर्म· कार्यत्वात् हेतु**) नही किये हुए—नही हो सकते यह साध्य है और कार्यत्वात्–कार्य होने से-यह उसका साधक-हेतु है (**तत्रान्वयव्याप्तिः**) उसमे अन्वयव्याप्ति दिखाते हैं (**यद्यत्कार्यं तत्तदकृतं न भवति**) जो जो कार्य होता है वह वह अकृत–नही किया हुआ-नही होता है (**यथा घटादि**) जैसे घट आदि कार्य (**कार्यं च भावकर्म**) और भावकर्म कार्य है (**तस्मादकृत न**) इसलिए वह बिना किया हुआ नही हो सकता (**व्यतिरेक व्याप्तिश्च**) और व्यतिरेक व्याप्ति (**यदकृतं तन्न कार्यं यथा व्योमादि**) जो किया हुआ नही होता है वह कार्य भी नही हो सकता जैसे आकाश आदि (**नच तथेदं तस्मान्न तथेति**) और यह राग आदि भाव कर्म अकृत नही है किन्तु किये हुए है इसलिए अकार्य नही हैं किन्तु कार्य ही हैं (**कस्य कार्यमिति प्रश्ने**) यह किसका कार्य है ऐसा प्रश्न होने पर–उत्तर देते है कि (**तच्चकर्म जीवप्रकृत्यो -जीवश्च प्रकृतिश्च तयोः द्वयो कार्यं न**) वह रागादि भाव कर्म जीव और प्रकृति-पुद्गल इन दोनो का कार्य नही है। (**कुत.**) किस कारण से (**अज्ञायाः-अचेतनाया प्रकृते**) अचेतन-जडरूप प्रकृति के (**स्वेत्यादि.-स्वस्य स्वभावकर्मणः कार्यं सुखदु खादि तस्य फलं-इष्टानिष्टावाप्ति परिहारपूर्वकसुखदु·खानुभवन भुनक्तीति स्वकार्यफलभुग तस्य भावस्तस्यानुषङ्गाकृति सम्पर्क प्रसङ्गः स्यात्**) राग-द्वेषादि भावकर्म का कार्य सुख-दु खादि है और उसका फल प्रिय पदार्थ की प्राप्ति और अप्रिय पदार्थ का परिहार-दूरीकरण पूर्वक सुख और दु ख का अनुभव करना है अर्थात् सुख और दु.ख के अनुभव का प्रसङ्ग उपस्थित होगा। (**ननु द्वयोर्मा भवतु कार्य-**

मेकस्याः प्रकृतेः द्रव्यकर्मणः सांख्यपरिकल्पिताया सत्वरजस्तमसा समावस्थायाः प्रकृतेर्वा कार्यम् ?) यहा कोई शङ्का करता है कि जीव और पुद्गल प्रकृति इन दोनो का कार्य न हो तो न सही किन्तु एक ही द्रव्य-कर्मरूप प्रकृति का अथवा साख्य परिकल्पित सत्त्व, रज और तमोगुण इन तीनो की समान अवस्था रूप प्रकृति का ही कार्य हो **(इतिचेत्)** यदि ऐसा तुम्हारा कहना है **(तर्हि)** तो **(तत्)** वह तुम्हारा कहना **(न)** ठीक नही है क्योकि **(अचित्त्वलसनात्)** प्रकृतिके अचेतन रूप होने से **(प्रकृतेः अचेतनत्व स्वभावत्वात्)** कर्म प्रकृति स्वभाव अचेतन ही है **(तत्कार्यत्वे च तस्याचेतनत्वानुषङ्गात्)** उसके कार्यभूत रागादि मे भी उसकी अचेतनता का प्रसङ्ग होगा **(ततो द्वयोरेकस्याः कार्यकरणायोगात्)** इसलिए दोनो से एक प्रकृति का कार्य करना ठीक नही है **(अस्य भावकर्मणः जीवति दशभिः प्राणैरिति जीवः ससार्यात्मा कर्ता-कारकः)** इस भाव कर्म-रागादि का करता वह ससारी आत्मा है जो इन्द्रिय आदि दश प्राणो से जीता है—जीवन धारण करता है। **(च-पुनः)** और **(तत्-कर्म, तत्प्रसिद्धम्-भावकर्म जीवस्यैव नान्यस्य)** वह प्रसिद्ध रागादि भाव कर्म जीव का ही कार्य है अन्य किसी द्रव्य का नही। **(किम्भूतम्)** कैसा है वह **(चिदनुगं-चेतनासहितम्)** चैतन्यमय है चेतना से सहित है। **(तथाचोक्तं श्रीमदाप्तपरीक्षायाम्)** जैसा कि श्री मदाप्तपरीक्षा ग्रन्थ मे कहा है—

भावकर्माणि चैतन्य विवर्तात्मानि भान्ति नुः।
क्रोधादीनि स्ववेद्यानि कथञ्चिच्चिदभेदत. ॥

अन्वयार्थ—(चैतन्यविवर्तात्मानि) चैतन्य के विकार स्वरूप **(अतएव)** इसलिए **(स्ववेद्यानि)** आत्मा के द्वारा वेदन-जानने अथवा अनुभव करने योग्य **(क्रोधादीनि)** क्रोध आदि रूप **(भाव कर्माणि)** भावकर्म **(नु)** आत्मा के साथ **(कथञ्चित्)** अशुद्ध निश्चय नय की अपेक्षा से **(अभेदत)** अभेद सम्बन्ध रखने के कारण **(नु)** आत्मा के **(भान्ति)** मालूम पडते है।

भावार्थ—क्रोधादि विभाव भाव अशुद्ध-कर्मबद्ध आत्मा के ही विकारी भाव हैं अतएव वे चेतन है अशुद्ध निश्चयनय की दृष्टि से आत्मा के साथ अभेद सम्बन्ध रखते है इसलिए आत्मा के द्वारा जानने अथवा अनुभव करने योग्य है।

(यत् यस्यात् कारणात्) जिस कारण से **(पुद्गल)** पुद्गल द्रव्य **(ज्ञायको न अचेतनत्वात्)** अचेतन-जड होने के कारण ज्ञायक-जानने वाला नही है।

भावार्थ—राग-द्वेष आदि कर्म, कार्य हैं। और जो कार्य होता है वह किसी न किसी के द्वारा किया हुआ ही होता है अतएव रागादि कर्मरूप कार्य भी किसी न किसी के द्वारा किया हुआ होना चाहिए। जीव और पुद्गल दोनो का यह कार्य नही है क्योकि दोनो का कार्य मानने पर अचेतन पुद्गल प्रकृति को सुख-दु ख आदि के अनुभव करने का प्रसङ्ग उपस्थित होगा। अगर आप कहे कि केवल जड प्रकृति का ही यह कार्य मान लिया जाय तो क्या हानि है ? उत्तर मे कहते हैं कि यदि रागादि कर्म को जड प्रकृति का कार्य मानेंगे तो वे रागादि भी जड कहे जायेगे जो अनुभव से विरुद्ध सिद्ध होगे। अत वे रागादि कर्म

एक मात्र जीव के ही कार्य है क्योकि वे चेतन के साथ अन्वय व्यतिरेक रखते हैं अत अन्ततोगत्वा जीव ही पर्याय दृष्टि से उनका कर्ता है जड प्रकृति नही। यह फलितार्थ हुआ।

(अथ प्रकृतिवादिनं साख्यं प्रतिक्षिपति) अब प्रकृतिवादी साख्य के प्रति आक्षेप करते हुए आचार्य स्वमत का स्थापन करते हैं—

कर्मैव प्रवितर्क्य कर्तृ हतकैः क्षिप्त्वात्मनः कर्तृताम्
कर्तात्मैष कथञ्चिदित्यचलिता कैश्चिच्छ्रुतिः कोपिता।
तेषामुद्धतमोहमुद्रितधिया बोधस्य संशुद्धये
स्याद्वादप्रतिबन्धलब्धविजया वस्तुस्थितिः स्तूयते॥१२॥

अन्वयार्थ—(**कैश्चित्**) किन्ही (**हतकै**) आत्मा को कर्ता नही मानने वाले साख्य आदि आत्मस्वरूप के घातको द्वारा (**आत्मन**) आत्मा के (**कर्तृताम्**) कर्तापन को (**क्षिप्त्वा**) तिरस्कृत करके (**कर्मैव**) कर्म को ही (**कर्तृ**) कर्मो का कर्ता (**प्रवितर्क्य**) तर्कणा करके-विचार करके (**एष**) यह (**आत्मा**) आत्मा (**कथञ्चित्**) किसी विवक्षा विशेष के वश से (**कर्ता**) रागादि का कर्ता-करने वाला (**अस्ति**) है (**इति**) ऐसी (**अचलिता**) निश्चल (**श्रुति·**) जिन वाणी (**कोपिता**) कुपित कराई गई (**उद्धतमोहमुद्रितधियाम्**) उत्कट मोह के वश से विपरीत बुद्धि वाले (**तेषाम्**) उन साख्य आदि वादियो के (**बोधस्य**) ज्ञान के (**संशुद्धये**) संशोधन के लिए (**स्याद्वादप्रतिबन्धलब्धविजया**) स्याद्वाद-कथञ्चिद्वादरूप सिद्धान्त के प्रतिपादन से विजय को प्राप्त हुई (**वस्तुस्थिति.**) वस्तु की मर्यादा (**स्तूयते**) प्रस्तुत करते हैं।

स० टीका—(**कैश्चित्-सांख्यमतानुसारिभिः**) साख्य मत का अनुसरण करने वाले किन्ही वादियो के द्वारा (**इति-पूर्वोक्ता**) पूर्व मे कही हुई इस (**श्रुति.-जिनोक्तं-सूत्रम्**) जिनेन्द्रदेव द्वारा कही हुई सूत्रात्मक वाणी (**कोपिता-विराधिता**) क्रुद्ध की गई—विराधना को प्राप्त कराई गई (**किम्भूता श्रुतिः**) कैसी श्रुति (**अचलिता-प्रमाणादिभिश्चलयितुमशक्या**) प्रमाण आदि से चलाने मे अशक्य अर्थात् प्रमाणनय आदि से बाधित नही होने वाली (**किम्भूतैस्तै**) कैसे उन सख्यादियो से (**हतकैः-आत्मनोऽकर्तृकत्वप्रतिपादकैः**) आत्मा को कर्मों का कर्ता नही मानने वाले अतएव आत्मस्वरूप के हतक-घातक (**आत्मा-चेतयिता**) आत्मा—जानने वाला (**कर्ता तु प्रकृति·**) और कर्ता-कर्मों को करने वाली प्रकृति है (**किं-कृत्वा**) क्या करके (**कर्मैव-प्रकृतिरेव**) प्रकृति ही (**कर्तृ-सुखदु खादि कारकम्**) सुख-दु ख आदि का कर्ता करने वाली (**प्रवितर्क्य-प्रविचिन्त्य**) विचार करके (**कर्मैव-आत्मानमज्ञानिन करोति ज्ञानावरणाख्यकर्मोदयमन्तरेण तदनुपपत्ते.**) कर्म ही आत्मा को अज्ञानी बनाता है क्योकि ज्ञानावरण नामक कर्म के उदय के विना अज्ञानी बनना सम्भव नही है। (**कर्मैव-ज्ञानिन करोति-तत्कर्मक्षयोपशममन्तरेण तदनुपपत्ते.**) कर्म ही आत्मा को ज्ञानी करता-बनाता है—क्योकि ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम के विना ज्ञानी होना कथमपि सम्भव नही है। (**तथैव निद्रासुखदु.खमिथ्यादृष्टयसयतोर्ध्वाधस्तिर्यग्लोक शुभाशुभप्रशस्ताप्रशस्तादिक तत्तत्सम्बन्धि कर्मोदय-**

मन्तरेण तदनुपपत्तेः) वैसे ही निद्रा-नीद सुख-दु ख मिथ्यादृष्टि असयत ऊर्ध्वलोक, अधोलोक, मध्यलोक शुभ-अशुभ, प्रशस्त अप्रशस्त आदि नाना अवस्थायें अपने-अपने कर्म के उदय आदि के विना नही हो सकती हैं। **(तथा च जैनी श्रुतिः)** और ऐसी ही जिनवाणी है अर्थात् जिनेश्वर की वाणी से भी हमारा उक्त कथन मिलता-जुलता है जैसा कि निम्न पक्तियो से स्फुट होता है—**(पुवेदाख्यं कर्मस्त्रियमभिलषति)** पुवेद नामक कर्म स्त्री की इच्छा करता है **(स्त्रीवेदाख्यं-कर्म-नरं च)** और स्त्रीवेद नामक कर्म-मनुष्य को चाहता है। **(तथा यत्परं हन्ति येन च परेण हन्यते तत्परघातकर्मेति वाक्येन जीवस्याब्रह्मपरघातादि निषेधात् कर्मण एव तत्समर्थनात्)** वैसे ही जो दूसरे का घात करता है अथवा दूसरे से घाता जाता है वह परघात कर्म है इस वाक्य से जीव के अब्रह्मचर्य, परघात आदि का निषेध होने के कारण कर्म को ही उक्त प्रकार का समर्थन प्राप्त होता है। **(आत्मनः-जीवस्य)** आत्मा-जीव का **(कर्तृता-भावकर्मकारित्वम्)** कर्तृता—रागादि भाव कर्मों का कर्तापन का **(क्षिप्त्वा-निराकृत्य)** निराकरण करके **(प्रकृतेरेव कर्तृत्वे तस्य सर्वेषा जीवानामकर्तृत्वे भोक्तृत्वादीनामपि कर्तृत्वाभावात् अकिञ्चित्करत्वमेव पुरुषत्व व्याघातात्)** प्रकृति को ही कर्ता मानने पर, सभी जीवो के कर्तापन का अभाव होने से, भोक्ता-भोग भोगने वाले जीवो के भी कर्तापन का अभाव होने से पुरुष-आत्मा के पुरुषत्व-आत्मत्व का व्याघात होने के कारण अकिञ्चित्करत्व रूप महान् दोष का प्रसङ्ग होगा। **(इति किम्)** इसलिए **(एष आत्मा)** यह आत्मा **(कथञ्चित्कर्ता-केनचित्कारणेनकारक·)** किसी कारण से कर्ता–रागादि भाव कर्मो का करने वाला है **(अन्यथा मुक्तात्मना कर्तृत्व प्रसङ्गात्)** यदि आत्मा को किसी विवक्षा विशेष से रागादि भावो का कर्ता नही माना जायेगा तो मुक्तात्माओ के भी रागादि के कर्तृत्व-कर्तापन का प्रसङ्ग उपस्थित होगा। **(तेषा प्रकृते कर्तृत्ववादिनाम्)** उन-प्रकृति को ही कर्ता मानने वाले साख्यादिको को **(बोधस्य-ज्ञानस्य)** ज्ञान के **(सशुद्धये-निर्मलीकरणाय)** निर्मल करने के लिए **(वस्तुस्थिति -वस्तुनः व्यवस्था)** वस्तु की व्यवस्था यथार्थ मर्यादा **(स्तूयते-प्रशस्यते)** कहते हैं **(किम्भूता सती ?)** कैसी व्यवस्था **(स्यादित्यादि-स्याद्वादेन कथञ्चिद्वादेन प्रकृत्यादीना नित्यत्वादे· प्रतिबन्धः प्रतिषेध -तत्कथम् ? प्रधानं व्यक्तादपैति नित्यत्वनिराकरणात्-अपेतमप्यस्यिविनाशप्रतिषेधात्-इत्येकान्तनिषेध. तेन लब्धो विजयो यया सा)** स्याद्वाद, कथञ्चिदवाद, अपेक्षावादविवक्षा के वश से प्रकृति आदि के नित्यता निषिद्ध है। वह कैसे ? प्रधान-आत्मा-पुरुष, व्यक्त-प्रकृति से पृथक् होता है इससे नित्यत्व का निराकरण-खण्डन हो जाता है और वह पृथक् हुआ प्रधान विद्यमान रहता है इससे उसके विनाश का भी प्रतिषेध-निषेध हो जाता है इस प्रकार से एकान्त के निषेध द्वारा जिसने विजय को प्राप्त कर लिया है **(अथवा-स्याद्वाद एव प्रतिबन्ध कारण वस्तुस्थितेः-तेन लब्धो विजयो यया सा)** अथवा वस्तुस्थिति-वस्तु की यथार्थ व्यवस्था का प्रमुख कारण स्याद्वाद ही है उस स्याद्वाद से जिसने विजय पाई है **(कीदृशानाम्-तेषाम्)** कैसे साख्यादि वादियो पर **(उद्धतेत्यादि -उद्धत -उत्कटः चासौ मोहश्च मोहनीय कर्म तेन मुद्रिता आच्छादिता धीः-धारणावती बुद्धिर्येषां तेषाम्)** तीव्र मोहनीय कर्म के उदय से समावृत बुद्धि वाले अर्थात् दर्शनमोहनीय कर्म के तीव्र उदय से जिनकी बुद्धि मिथ्यात्व से ग्रस्त होने के कारण विपरीत परि-

णमन वाली है, वस्तुस्वरूप को उलटा मान रही है ऐसे साख्य आदि वादियो पर।

भावार्थ—प्रकृतिवादी साख्य आत्मा को नित्य अकर्ता और प्रकृति को ही कर्ता मानता है। वह तीव्र मिथ्यात्व के उदय से अभिभूत होने के कारण वस्तुस्वरूप से बिलकुल ही अपरिचित है। उसे वस्तु-स्थिति का बोध कराने के हेतु आचार्य स्याद्वाद सिद्धान्त को प्रस्तुत करते है। स्याद्वाद-कथञ्चिद्वाद या अपेक्षावाद से ही सारी वस्तु व्यवस्था निर्वाध रूप से सिद्ध होती है अर्थात् द्रव्यदृष्टि से आत्मा कर्मो का कर्ता नही है परन्तु पर्याय दृष्टि से तो वह भी कर्मो का कर्ता है ही। अनेकान्तवादी सम्यग्दृष्टि वस्तु की यथार्थता को स्वरूपत जानता है परन्तु एकान्तवादी विपरीत दृष्टि वस्तु की यथार्थता को स्वरूपत न जानकर विपरीत ही जानता है—वस्तु तो द्रव्यपर्यायात्मक-सामान्यविशेषात्मक है। जो पर्याय मूढ थे उनको स्वभाव का ज्ञान कराने के लिए निमित्त की अपेक्षा से रागादि को कर्म का बताकर स्वभाव का ज्ञान कराया। जो द्रव्यदृष्टि का एकात करके रागादिक पर्याय मे होते हुए अपने को शुद्ध मान लिया उनको रागादि अशुद्ध दृष्टि से तेरी पर्याय मे हो रहे हैं इसलिए तुम्ही जिम्मेवार हो ऐसा कहकर स्वच्छन्द होने से बचाया है। दोनो दृष्टिकोणो से अविरोधरूप जो श्रद्धा है वही सच्ची श्रद्धा है। रागादि को निमित्त की अपेक्षा कर्म का बताने का दृष्टिकोण यही रहा है कि वह तेरा स्वभाव नही है—स्वभाव का कभी नाश नही होता। स्वभाव मे पर निमित्त नही होता और नैमेत्तिक भाव नाशवान होते हैं। रागादि भाव मे मोह कर्म का उदय निमित्त होता है, पर का अवलम्वन होता है अत स्वभाव भाव नही है नैमे-त्तिक विकारी भाव है जो नाशवान है। यह पर्यायमूढ को स्वभाव का ज्ञान कराने के लिए समझाया गया। जिससे उसका पर्याय मे एकत्वपना मिटे और विकारी भावो को स्वभाव भाव मानना छोड दे और द्रव्यपर्यायात्मक वस्तु का ज्ञान हो जावे। जो द्रव्यदृष्टि का एकात कर रखा था उसको वताया कि रागादि भाव तेरी पर्याय मे हो रहे है उनका उपादान अशुद्ध निश्चयनय से आत्मद्रव्य है। अत. यह तेरी जिम्मेवारी है। द्रव्यदृष्टि से तो द्रव्य कभी अशुद्ध होता ही नही है। पर्यायदृष्टि मे जव तक अशुद्धता है तव तक द्रव्य अशुद्ध है वह रागादि भावो के अभाव से शुद्ध होगा क्योकि द्रव्यगुण पर्याय अभद है। जिस द्रव्य का जो परिणमन है उसका कर्त्ता वही द्रव्य होता है अतः आत्मा ही रागादि का कर्त्ता है यह पर्यायदृष्टि है। जो लोग पर्यायदृष्टि ो ही द्रव्यदृष्टि मान लेते हैं उनके रागादिक के कर्तापने का निषेध किया। क्योकि द्रव्य-दृष्टि से रागादिक का कर्त्ता मानने से ज्ञान की तरह-रागादिक आत्मा का स्वरूप स्वभाव ठहर जाता है तव रागादिक के नाश का सवाल नही उठता। और पर्यायदृष्टि से रागादिक की जिम्मेवारी भी अपनी न माने तो उसका नाश का उपाय कैसे करे।

रागादि अपने निज स्वभाव मे नही ठहरने के कारण होते है अत जीव की जिम्मेवारी है। सही श्रद्धा क्या है? आत्मा ज्ञानदर्शन स्वभाव रूप है उसी रूप रहना है पर्याय मे जो रागादिक हो रहे हैं उसकी जिम्मेवारी मेरी है जो स्वभाव का अवलम्बन लेने से नाश को प्राप्त होते हैं। जब अपनी जिम्मे-वारो समझे तो स्वच्छन्द न हो। जव पर्याय अशुद्ध है तव गुण भी अशुद्ध है और द्रव्य भी अशुद्ध है क्योकि

द्रव्य के विना गुण नही और गुणो के बिना पर्याय नही होती। परन्तु उस समय भी जो द्रव्य को शुद्ध कहा जाता है वह द्रव्यदृष्टि से द्रव्य को शुद्ध कहा है। और पर्याय को द्रव्य से भिन्न दिखाया है वह भी यह समझाना था कि रागादिरूप परिणमन हो रहा है और द्रव्य अपने परिणमन से अभिन्न है तव रागादिक का नाश कैसे हो। तव तो उसके नाश मे द्रव्य का नाश हो जावेगा ऐसे अज्ञानी को पर्याय को कथचित भिन्न वताकर यह कहा कि पर्याय के नाश से द्रव्य का नाश नही होता।

रागादि भाव तो जैसे अज्ञानी के होते है वैसे ही ज्ञानी के होते हैं। ये नैमेत्तिक भाव है—नाशवान हैं। मोह कर्म के उदय मे पर का अवलम्बन लेकर यह आत्मा रागादिक रूप परिणमन करता है। अज्ञानी के उसमे रुची है उपादेयपना है उनको निजरूप मानता है अत विपरीत श्रद्धा की अपेक्षा उसको कर्त्ता कहा है। ज्ञानी उनको विकारी भाव मानता है उनमे हेय बुद्धि है रुचि नही है आत्मवल की कमी की वजह से होते हैं अत उसको कर्ता नही कहा अकर्त्ता कहा है। वस्तु तो जंसी है वैसी ही है अज्ञानी और ज्ञानो की श्रद्धा की अपेक्षा कर्त्ता अकर्त्तापने का कथन है। अज्ञानी को अपनी श्रद्धा ठीक करनी है। जैसी वस्तु है वैसी श्रद्धा करनी है। द्रव्यदृष्टि से तो रागादि का कर्त्तापना है ही नही। पर्यायदृष्टि से वरजोरी से होने से, अरुचिपूर्वक होने से, अकर्त्ता कहा है। इस प्रकार ज्ञानी दोनो दृष्टियो से अकर्त्ता है। अज्ञानी के कोई नय विवक्षा लागू नही पडती फिर भी समझने के लिए ऐसा है कि अज्ञानी रागादि को आत्मा से एकत्वरूप मानता है अत द्रव्यदृष्टिसे कर्ता हुआ और उनमे रुचि और उपादेयपना है अत पर्यायदृष्टि से भी कर्त्ता हुआ।

(अथ निश्चयेनाकर्तृत्वमात्मनोवक्ति) अव निश्चयदृष्टिसे आत्मा कर्मो का कर्ता नही है वह कहते हैं—

मा कर्तारममी स्पृशन्तु पुरुषं सांख्या इवाप्याहृताः
कर्तार कलयन्तु तं किल सदा भेदावबोधादधः।
ऊर्ध्वं तूद्धत बोधधामनियतं प्रत्यक्षमेनं स्वयं-
पश्यन्तु च्युतकर्तृभावमचलं ज्ञातारमेकं परम् ॥१३॥

अन्वयार्थ—(**सांख्याः**) साख्यो के (**इव**) समान (**अमी**) ये (**आर्हता.**) आर्हत-मतानुयायी-जैन (**अपि**) भी (**पुरुषम्**) पुरुप-आत्मा को (**कर्तारम्**) कर्मो का कर्ता (**मा**) नही (**स्पृशन्तु**) स्पर्श करें-स्वीकार करे। (**किल**) निश्चय से (**तम्**) उस आत्मा को (**भेदाववोधात्**) भेद ज्ञान से पूर्व अर्थात्—अज्ञान अवस्था मे (**सदा**) हमेशा ही (**कर्तारम्**) रागादि भाव कर्मो का कर्ता (**कलयन्तु**) माने-स्वीकार करें। (**तु**) किन्तु (**ऊर्ध्वम्**) अज्ञान के पश्चात् अर्थात् ज्ञान अवस्था मे (**उद्धतवोधधामनियतम्**) उत्कट ज्ञान के तेज मे लीन अतएव (**च्युतकर्तृभावम्**) कर्तापन से रहित (**अचलम्**) निश्चल (**प्रत्यक्षम्**) साक्षात् (**एतम्**) इस आत्मा को (**स्वयम्**) स्वभाव से (**परम्**) केवल-सिर्फ (**एकम्**) एक अद्वितीय (**ज्ञातारम्**) ज्ञाता ज्ञायक-जानने वाला (**पश्यन्तु**) देखे जाने-स्वीकार करें।

स० टीका—(**अमी-आर्हता.-अर्हत-भगवत.-इमे, अर्हद्देवो येपा ते-आर्हता.**) अर्हन्त भगवान के आराधक अर्थात् अर्हत्परमेष्ठी को ही देव मानने वाले (**पुरुपम्-आत्मानम्**) पुरुप-आत्मा को (**कर्तारम्-**

भावकर्मकर्तारम्) भाव कर्मों का कर्ता **(मा स्पृशन्तु-माङ्गीकुर्वन्तु)** स्वीकार नही करें **(के-इव)** किनके समान **(साख्या इव—)** साख्यो के समान **(यथा-साख्या आत्मनोऽकर्तृत्व प्रतिपादयन्ति तथा साक्षात् ज्ञान-रूपेण जैना अपि)** जैसे साख्य लोग-आत्मा को अकर्ता प्रतिपादन करते हैं वैसे ही साक्षात् ज्ञानरूप से जैन भी **(किल-इत्यागमोक्तौ)** किल–यह अव्यय आगम के कथन मे प्रयुक्त हुआ है अर्थात् आगम मे कहा है कि **(भेदावबोधात्-भेदज्ञानात्)** भेदज्ञान-आत्मा और जड पुद्गलके यथार्थ स्वरूप के ज्ञान से **(अध.-अभेद अज्ञा-नावस्थायाम्)** पूर्व अर्थात् अज्ञान की अवस्था मे **(त-आत्मान:)** आत्मा को **(तदा ससारावस्थापर्यंत)** ससार अवस्था पर्यंत **(कर्तार-भाव कर्म कारक)** भाव कर्म का कर्ता **(कलयतु-जानंतु)** जाने-माने **(तु-पुन.)** फिर **(ऊर्ध्व-अज्ञानादुपरि.)** अज्ञान अवस्था के वाद **(भेदविज्ञानावस्थायां)** भेद विज्ञान होने पर **(एनम्-आत्मा-नम्)** इस आत्मा को **(स्वय-स्वभावत)** स्वभाव से **(प्रत्यक्षम्-अध्यक्षं यथाभवति तथा)** प्रत्यक्ष रूप मे जैसे हो वेसे **(च्युतकर्तृभावम्-त्यक्तकर्तृस्वभावम्)** कर्तृ स्वभाव से रहित **(पश्यन्तु-अवलोकयन्तु)** देखें—अवलो-कन करे **(मुनय.)** वस्तुस्वरूप को जानने वाले मुनिजन **(किम्भूतम्)** कैसी आत्मा को **(उद्धतेत्यादि-उद्धत च तद्बोधधाम-ज्ञानज्योति तत्र नियतम्-नियन्त्रितम्)** उत्कृष्ट ज्ञान ज्योति मे निमग्न **(अचलं-निष्कम्पम्)** निश्चल **(ज्ञातारम्-ज्ञायकम्)** ज्ञायक-जानने वाला **(एकम्-कर्मद्वैतरहितत्वादद्वैतम्)** कर्म के द्वैत-द्वन्द्व से रहित होने के कारण अद्वैत-अद्वितीय **(परम्-जगच्छ्रेष्ठम्)** जगत मे श्रेष्ठ ।

भावार्थ—अर्हन्मतानुयायी जैन लोग भी साख्य मतानुसारी लोगो के समान ही आत्मा को सर्वथा अकर्ता-रागादि भाव कर्मों का नही करने वाला नही माने किन्तु जब तक दर्शन मोहनीय कर्म के उदय से ज्ञान-अज्ञान विपरीत ज्ञान रहे तव तक ही कर्ता माने। अज्ञान के दूर होते ही अर्थात् सम्यग्दर्शन के प्रकट होने पर अकर्ता-रागादि भाव कर्मों का नही करने वाला आत्मा को स्वीकार करें। सम्यक्त्व के प्रभाव से आत्मा भेदविज्ञानी-स्वपर तत्त्वस्वरूपज्ञ हो जाता है उस अवस्था मे आत्मा अपने ज्ञान स्वभाव का ही स्वामी अपने को मानता है पर स्वभाव का नही। सर्वथा अकर्ता स्वीकार करने पर न तो ससार ही वन सकेगा और न मोक्ष ही। ऐसी स्थिति मे सारी तत्त्व व्यवस्था ही नष्ट भ्रष्ट हो जायेगी। अत स्याद्वाद के उज्ज्वल प्रकाश मे आत्मस्वरूप का निरीक्षण करना ही श्रेयस्कर होगा, जिसमे संसार मोक्ष दोनो की सुव्यवस्था के पवित्र दर्शन से समस्त ही पदार्थों की यथार्थता निर्वाधरूप से सिद्धिपथ का आस्वादन करने वाली सिद्ध होगी। निश्चय और व्यवहार दोनो ही दृष्टिया स्याद्वाद से ही अपने-अपने विषय को प्रस्फुट करने मे सार्थक सफल सिद्ध होगी अन्यथा नही। ऐसा निश्चय करके एकान्त का व्यामोह छोड अनेकान्त की शरण ग्रहण करना हितप्रद होगा।

रागादि परिणमन तो कर्म के उदय मे जैसा होता है वैसा ही होता है इसमे ज्ञानी अज्ञानी का कुछ विशेष नही है। परन्तु ज्ञानी के उसमे रुचि नही है, उसको विकार समझता है, हेय समझता है, आत्मबल की कमी से रागरूप परिणमन होता है अत उसका कर्त्ता नही है। रागादि परिणमन होना और करने मे वडा अन्तर है। ज्ञानी के होता है अज्ञानी करता है। जैसे शरीर मे स्वस्थ रहने की चेष्टा करते हुए भी

रोग हो जाता है परन्तु उसके नाश करने का उपाय किया जाता है। अज्ञानी के रागादि मे रुचि है, उपादेयपना है करना चाहता है उसके साथ एकपना है अत कर्त्ता है। ज्ञानी रागादि का कर्त्ता नही है अत रागादि होते ही नही है ऐसा नही है। रागादि होते है परन्तु कर्त्ता नही है। वह रागादि को नेटने के लिए अपने स्वरूप का अवलम्बन लेकर आत्मबल वढाने की चेष्टा करता है जिससे पर की मजबूरी दूर होती है। ज्ञानी के रागादि कर्मकृत है क्योकि मजबूरो से होते है और अज्ञानी के जीवकृत है क्योकि चाह कर करना है ॥१२॥

(अथ क्षणक्षयस्वलक्षणवादिनंसौगत निराचष्टे) अब आत्मा आदि समस्त पदार्थों को क्षणिक मानने वाले बौद्ध का निराकरण करते है—

क्षणिकमिदमिहैकः कल्पयित्वात्मतत्त्वं—
निजमनसि विधत्ते कर्तृभोक्त्रोर्विभेदम्।
अपहरति विमोहं तस्य नित्यामृतौघैः
स्वयमयमभिषिञ्चंश्चिच्चमत्कार एव ॥१४॥

अन्वयार्थ—(**इह**) इस लोक मे (**एकः**) एक सौगत-बौद्ध (**इदम्**) इस (**आत्मतत्त्वम्**) आत्मतत्त्व को (**क्षणिकम्**) क्षणनश्वर (**कल्पयित्वा**) कल्पना करके (**निजमनसि**) अपने मन मे (**कर्तृभोक्त्रो**) कर्ता और भोक्ता मे (**विभेदम्**) विभिन्नता को-जुदाई को (**विधत्ते**) करता है (**तस्य**) उस सौगत के (**विमोहम्**) विमोह-विपरीत ज्ञान को अर्थात् क्षणिक सिद्धान्त को (**अयम्**) यह (**चिच्चमत्कारः**) चेतन्य का चमत्कार (**स्वयम्**) स्वत -स्वभाव से (**नित्यामृतौघैः**) नित्यतारूप अमृत के प्रवाह से (**अभिषिञ्चन्**) अभिषेक करता हुआ (**अपहरति**) दूर करता है—निराकरण करता है।

सं० टीका—(**इह-भरतक्षेत्रे**) इस भरत क्षेत्र मे (**भावमिथ्यात्वापेक्षया सर्वत्र वा**) अथवा भाव-मिथ्यात्व की अपेक्षा से सब जगह—सारे लोक मे (**एकः-सौगतवादी**) एक-सौगतवादी-सुगतमतानुयायी (**कर्तृभोक्त्रोर्विभेदं कर्ता च भोक्ता च तयोर्विभेद-भिन्नत्वम्**) कर्ता और भोक्ता के भेद को (**सौगताना कर्ताऽन्य., भोक्ता अन्यः**) सौगतो का कर्ता कोई दूसरा होता है और भोक्ता कोई दूसरा होता है (**निजमनसि-स्वचेतसि**) ऐसा अपने मन मे (**विधत्ते-करोति**) करता है (**किं कृत्वा ?**) क्या करके (**कल्पयित्वा-प्रकल्प्य**) कल्पना करके (**किम्**) किसे (**इदम्-प्रसिद्धम्**) इस-प्रसिद्ध (**आत्मतत्त्वं-जीवतत्त्वम्**) आत्म-तत्त्व को (**क्षणिकं-क्षणस्थायि**) क्षणिक-क्षणनश्वर (**सर्वं क्षणिक सत्त्वात्-प्रदीपवत्**) सभी पदार्थ क्षणिक हैं क्योकि वे सत् हैं दीपक की तरह (**इत्यनुमाने सर्वथा नित्यादिपक्षे अर्थक्रियाभावं-प्रकल्प्यदूषयति**) इस अनु-मान मे सर्वथा अनित्य पक्ष मे अर्थक्रिया के अभाव की कल्पना करके अनुमान को दूषित करते हैं (**अयं-प्रसिद्धः प्रत्यभिज्ञानादिलक्षण चिच्चमत्कारः एव चितः ज्ञानस्य चमत्कारः**) यह प्रसिद्ध प्रत्यभिज्ञान आदि स्वरूप ज्ञान का चमत्कार ही (**तस्य सौगतस्य**) उस सौगत के (**विमोहं-क्षणिकत्व बुद्धिव्यामोहम्**) क्षणि-

कत्व-क्षणनश्वरता के व्यामोह को (**अपहरति-निराकरोति**) दूर करता है—निराकरण करता है (**स्वयं-स्वभावात् एव**) स्वभाव से ही (**नित्यामृतोघैः-आत्मादौ यन्नित्यत्वं तदेवामृतं-तस्य ओघैः-समूहैः**) आत्मा आदि की नित्यता रूप अमृत के समूहो से (**अभिषिञ्चन्-अभिषेकं कुर्वन्-सर्वं नित्यस्वरूपं प्रदर्शयन् सन् इत्यर्थ**) अभिषेक करते हुए अर्थात् समस्त पदार्थों को नित्यस्वरूप दिखाते हुए (**सर्वं कथञ्चिन्नित्यं प्रत्यभिज्ञायमानत्वात्**) सभी पदार्थ किसी अपेक्षा से नित्य हैं क्योकि प्रत्यभिज्ञान से ऐसा ही प्रतीत होता है (**न चैतदसिद्धम्**) यह वात असिद्ध नही है प्रत्युत् सिद्ध ही है (**य एव वाल· स एव युवा स एव च वृद्धः, इत्यबाधिताया प्रतीतेः सद्भावात् तथा व्यवहाराच्च**) जो आज वालक है वही कुछ समय के पश्चात् युवा और वृद्ध हो जाता है ऐसी प्रतीति का सद्भाव एव व्यवहार भो देखने मे आता है (**क्षणिकत्वेऽर्थक्रियाविरोधाच्च**) साथ ही सर्वथा क्षणिक मानने पर अर्थक्रिया मे विरोध आता हैं (**क्षणिकं यदि स्वसत्तायामपरक्षणोत्पादलक्षणामर्थक्रिया करोति तदा सकलस्य जगतः क्षणिकत्व रुणद्धि कार्यकाल प्राप्नुवतः क्षणिकत्व-विरोधात्**) यदि क्षणिक पदार्थ अपनी सत्ता-मौजूदगी मे दूसरे क्षण की उत्पाद रूप अर्थक्रिया को करता है तो वह उस समय समस्त लोक के क्षणिकत्व को रोकता है क्योकि कार्यकाल को प्राप्त करने वाली वस्तु मे क्षणिकता का विरोध होता है (**स्वयम्-अविद्यमान सत् करोति यदा तदा कालान्तरे पूर्वं पश्चाच्च-तत्कुर्यादसत्वाविशेषात्-इत्यर्थक्रियाविरोध ।**) जिस समय कोई पदार्थ स्वय विद्यमान-मौजूद न होता हुआ यदि कार्य को करता है तो वह कालान्तर मे – किसी भिन्न समय मे पहले अथवा पीछे भी उस कार्य को कर सकता है क्योकि असत्य-अविद्यमानता मे कोई विशेषता नही नजर आती है। इस प्रकार से अर्थ-क्रिया मे विरोध सिद्ध होता है ॥१४॥

भावार्थ—क्षणिकवादी बौद्ध आत्मा को क्षण नश्वर मानता है अर्थात् आत्मा प्रतिक्षण नष्ट होता है और उत्पन्न होता है अतएव कर्ता और भोक्ता दोनो भिन्न-भिन्न हैं अर्थात् जो कर्ता है वह भोक्ता नही है और जो भोक्ता है वह कर्ता नही है । जिस क्षण आत्मा पाप या पुण्य जो कुछ भी करता है वह आत्मा दूसरे क्षण मे नही है किन्तु उससे भिन्न कोई दूसरा ही आत्मा है ऐसी स्थिति मे करने वाला कोई और है और भोगने वाला कोई और ही है ऐसा बौद्ध का अपना निजी मत है। जिसे उसने ही अपने मन मे कल्पित कर रखा है। उसके उक्त मत का परिहार यह आत्मा अपने हो चैतन्यमय चमत्कार से स्वय ही दूर करेगा। क्योकि वह आत्मा स्वभाव से ही नित्यरूप है अर्थात् जो प्रथम क्षण मे था वही द्वितीय क्षण मे भी रहता है उसका विनाश नही होता है । यह बात अपने अनुभव मे भी आती है और प्रत्यभिज्ञान से भी ऐसा ही सिद्ध होता है—"यह वही है जिसे मैंने कल देखा था" इस वाक्य मे यह प्रत्यक्ष मे दिखाई देने वाला वही है परोक्ष का स्मरण करा रहा है यह स्मरणात्मक प्रत्यभिज्ञान आत्मा की नित्यता को सिद्ध करता है जो अनुभव सिद्ध है इससे आत्मा की क्षणिकता का खण्डन और नित्यता का मण्डन स्पष्टरूप से सिद्ध होता है । अनुभव सिद्ध का अपलाप ज्ञानी को कैसे सह्य हो सकता है ॥१४॥

(**अथ क्षणिकैकान्तान् छिनत्ति पद्यत्रयेण**) अब क्षणिकैकान्त का छेदन-खण्डन तीन पद्यो द्वारा करते हैं—

वृत्त्यंशभेदतोऽत्यन्तं वृत्तिमन्नाशकल्पनात् ।
अन्यः करोतिभुङ्क्तेऽन्य इत्येकान्तश्चकास्तुमा ।।१५।।

अन्वयार्थ—(**अत्यन्तम्**) अत्यन्त-एकान्तरूप से अर्थात् सर्वथा (**वृत्त्यंशभेदतः**) वृत्त्यश–प्रतिक्षणवर्ती पर्याय के भेद से (**वृत्तिमन्नाशकल्पनात्**) वृत्तिमान-अवस्थावान् पदार्थ के विनाश की कल्पना के कारण (**अन्यः**) अन्य (**करोति**) कार्य को करता है (**अन्यः**) और अन्य (**भुङ्क्ते**) भोगता है (**इति**) ऐसा (**एकान्तः**) एकान्त सिद्धान्त (**मा**) मत-नही (**चकास्तु**) शोभित हो ।

स० टी०—(**इति-ईदृक्षः**) ऐसा-इस प्रकार का (**एकान्तः-सौगतोपकल्पितक्षणिकैकान्तः**) सौगत कल्पित क्षणिक एकान्त मत (**चकास्तु मा प्रतिभासताम्**) प्रतिभासित-प्रकाशित नही हो (**इति किम्**) वह कैसा (**अन्यः-भिन्नः क्षणः**) भिन्न क्षण (**करोति कार्यं निष्पादयति**) कार्य का निष्पादन करता है (**अन्यः-तदनन्तरभावी-अन्यः भिन्नः क्षण पूर्वक्षणकृतं कार्यं भुङ्क्ते-भुनक्ति**) उसके अनन्तर ही होने वाला भिन्न क्षण अपने से पूर्व क्षण में किये हुए कार्य के फल को भोगता है (**कुत -**) कैसे (**वृत्त्यमित्यादिः-वृत्ते - वर्तनायाः अंशाः ज्ञानादिपर्यायाः तेषा भेदात्**) वृत्ति-वर्तना के अशो-ज्ञानादि पर्यायो के भेद से (**द्रव्या-भावेसति-पूर्वोत्तरपर्यायाणामत्यन्त भिन्नत्वात्**) क्योकि द्रव्य का अभाव होने पर पूर्वोत्तर-पहले के और पीछे के पर्यायो मे अत्यन्त भिन्नता होती है (**कुतो भेदः**) कैसा भेद (**अत्यन्तम्-अन्तर्द्रव्यादिस्वरूपेणापि**) अत्यत अर्थात् अन्तरङ्ग द्रव्यादि के स्वरूप से भी (**वृत्तीत्यादिः-वृत्तिः-वर्तना अस्ति येषां ते वृत्तिमन्तः पर्यायाः तेषा नाशः-अत्यन्तमुच्छेद तस्य कलनात्**) वृत्तिमान्-पर्यायो के अत्यन्त उच्छेद-विनाश के सम्बन्ध से (**इत्येकान्ते**) पूर्वोक्त प्रकार के एकान्त से (**यो हिंसाभिसन्धाता स न हिनस्ति सोऽहिंसकः सन् बध्नाति पापकर्मणा यस्तु बध्यते स न मुच्यते, अन्यो ध्याता अन्योध्यानचिन्तकः अन्यो मुक्तः इति पूर्वोत्तर पर्यायाणा-मत्यन्त भेदात्**) जो हिंसा का अभिप्राय धारण करता है वह हिंसा नही करता है अतएव वह अहिंसक होता हुआ भी पापकर्म से बधता है क्योकि हिंसा के अभिप्राय से पाप कर्म का बन्ध होता है। जो पाप-कर्म से बधता है वह उससे नही छूटता है क्योकि हिंसा का ध्यान करने वाला भिन्न है हिंसा के ध्यान का चिन्तन-विचार करने वाला अन्य है और मुक्त छूटने वाला भिन्न है। इस तरह से पूर्व और उत्तर पर्यायो मे सर्वथा भेद होने से द्रव्य की व्यवस्था का सर्वथा मूलोच्छेद हो जाता है ।।१५।।

भावार्थ—क्षणिकैकान्तवादी बौद्ध वृत्त्याश के अत्यन्त भेद से वृत्तिमान पदार्थ का सर्वथा विनाश होगा, उस विनाश से बचने के लिए कार्य का करने वाला भिन्न है और उस कार्य के फल को भोगने वाला करने वाले से सर्वथा भिन्न है ऐसा मान कर सन्तुष्ट होता है। लेकिन यह सन्तुष्टि भी यथार्थ नही है क्योकि वृत्त्याशो के विनाश होने पर वृत्तिमान् पदार्थ के विनाश को कौन रोक सकता है वह तो होगा ही। अवयव के विनाश से अवयवी का विनाश अवश्यम्भावी होता है इस तरह से पदार्थशून्यता रूप महान् दोष उपस्थित होगा। अत क्षणिकेकान्त सदोष सिद्धान्त है ।।१५।।

आत्मानं परिशुद्धमीप्सुभिरति व्याप्ति प्रपद्यान्धकैः
कालोपाधिबलादशुद्धिमधिकां तत्रापि मत्वा परैः ।
चैतन्यं क्षणिकं प्रकल्प्य पृथुकैः शुद्धर्जुसूत्रे रतै–
रात्मा व्युज्झित एष हारवदहो निस्सूत्रमुक्तेक्षिभिः ॥१६॥

अन्वयार्थ—(**परिशुद्धम्**) अतिशय शुद्ध (**आत्मानम्**) आत्मा को (**ईप्सुभिः**) चाहने वाले (**अन्धकै**) आत्मस्वरूप से अपिचित बौद्धो ने (**अतिव्याप्तिम्**) अतिव्याप्ति दोष को (**प्रपद्य**) प्राप्त करके (**तत्रापि**) उसमे भी (**परैः**) उन्ही बौद्धो ने (**कालोपाधिबलात्**) काल की उपाधि के वल से (**अधिकाम्**) अधिक (**अशुद्धिम्**) अशुद्धि को (**मत्वा**) मान कर (**शुद्धर्जुसूत्रेरतैः**) शुद्ध ऋजुसूत्र नय से प्रेरित (**पृथुकैः**) वस्तुस्वरूप से अनभिज्ञ उन्ही बौद्धो ने (**चैतन्यम्**) चैतन्य स्वरूप आत्मा को (**क्षणिकम्**) क्षणिक-क्षणस्थायी— (**प्रकल्प्य**) कल्पना करके (**अहो**) खेद है कि (**निस्सूत्रमुक्तेक्षिभिः**) विना सूत्र के मोतियो को देखने वाले पुरुषो के द्वारा (**हारवत्**) मोतियो के हार के समान (**एषः**) यह नित्यानित्य स्वरूप (**आत्मा**) आत्मा (**व्युज्झितः**) छोड दिया गया है ।

सं० टीका—(**अहो-आश्चर्ये**) अहो—यह अव्यय आश्चर्य अर्थ मे आया है अर्थात् आश्चर्य है कि (**परैः-स्याद्वादानवद्यविद्याविचारचोरकैः**) पर-अर्थात् स्याद्वाद-कथञ्चिद्वाद रूप निर्दोष विद्या के विचार से शून्य (**अन्धकैः-बौद्धैः**) अतएव वस्तुरूप से अनभिज्ञ होने से अन्धे बौद्धो ने (**आत्मा-आत्माख्य द्रव्यम्**) आत्मा नामक द्रव्य को (**व्युज्झितः त्यक्तः**) त्याग दिया । (**ज्ञान पर्यायमन्तरेणात्मनोऽभावात्**) क्योकि ज्ञानपर्याय के बिना आत्मद्रव्य का ही अभाव हो जाता है । (**किं कृत्वा ?**) क्या करके (**अतिव्याप्ति-अतिव्याप्तिनामदूषणम्**) अतिव्याप्ति नामक दूषण को (**प्रपद्य-अङ्गीकृत्य**) स्वीकार करके (**तथाहि—यदेव वस्तु स्याद्वादिनामात्मादि तदेव अनेक पर्यायाक्रान्तं-गुणपर्यायाक्रान्त "गुणपर्ययवद् द्रव्यम्" इति सूत्रकार वचनात्**) यहाँ तथाहि शब्द से अतिव्याप्ति दोष का स्फुट करते है— जैसा कि स्याद्वादी लोगो के मन मे भी आत्मा आदि जो भी वस्तु है वह अनेक पर्यायो से भरपूर है ऐसा ही सूत्रकार—स्वामी उमास्वाति के (**गुणपर्ययवद्द्रव्यम्**) सूत्र से सिद्ध होता है अर्थात् जो गुण और पर्यायो से युक्त होता है वह द्रव्य कहा जाता है—

नयोपनयैकान्ताना त्रिकालाना समुच्चयः ।
अविभ्राट् भावसम्बन्धोद्रव्यमेकमनेकधा ॥१०७॥

अन्वयार्थ—(**त्रिकालाना नयोपनयैकान्ताना**) तीनो कालो के नयो और उपनयो के एकान्तो का (**समुच्चयः**) समुदाय रूप एकीकरण (**अविभ्राट् भावसम्बन्धः**) जन साधारण की दृष्टि मे नही प्रकाशित होने वाला भाव सम्बध का नाम (**द्रव्यम्**) द्रव्य है और वह द्रव्य (**एकम्**) एक अर्थात् अभेद विवक्षा से एक है और भेद विवक्षा से (**अनेकधा**) अनेक प्रकार का है । (**इति स्वामि समन्तभद्राचार्यवर्य वचनाच्च**) स्वामी समन्त-

भद्राचार्यवर्य के उपर्युल्लिखित वचन से भी द्रव्य को उक्त लक्षण की पुष्टि होती है। **(ननु त एव पर्याया अवस्तुभूताः, वस्तुभूता वा ?)** यहाँ बौद्ध शङ्का करता है कि वे पर्यायें अवस्तु रूप है अथवा वस्तुरूप ? ये दो विकल्प हैं। **(प्राक् पक्षे)** उनमे से पहले पक्ष मे अर्थात् पर्यायो को अवस्तुरूप मानने मे **(अवस्तुभूतैः पर्यायैः जीवस्य वस्तुत्वाघटनात्)** अवस्तुभूत पर्यायो से जीवरूप वस्तु नही बन सकती क्योकि जब पर्यायें स्वय ही वस्तुरूप नही है तब वे जीववस्तु को जो स्वय ही वस्तुरूप है कैसे बना सकेगी **(कृत्रिमस्फुटत्वतो वस्तुभूततानवघटनात्)** शायद आप यह कहे कि हम उन्हे बना लेगे तो बनावटीपन के जाहिर होने से उनमे वस्तुरूपता नही आ सकती। **(अथवस्तुभूताश्चेत्)** यदि आप दूसरा वस्तुभूत पक्ष स्वीकार करे अर्थात् वे पर्यायें वस्तुभूत है ऐसा कहे तो **(तेऽपि पर्यायाक्रान्ता.)** वे भी पर्यायो से आक्रान्त-व्याप्त होगी **(अन्यथा वस्तुत्वाघटनात्)** यदि उन्हे पर्यायाक्रान्त न मानोगे तो वे वस्तुरूप नही हो सकेंगी। **(पुनरुत्तर पर्यायाणा वस्तुत्वापत्तावनवस्था)** यदि आप उत्तर पर्यायो को वस्तुरूप मानेगे तो अनवस्था दोष उपस्थित होगा। **(एकस्मिन्ननेकवस्तुत्वापत्तिश्च)** साथ ही एक वस्तु मे अनेक वस्तुओ की आपत्ति आ खडी होगी। **(ततोनैकद्रव्य व्यवस्था अतिव्याप्तिसद्भावात्)** इसलिए एक द्रव्य की व्यवस्था नही हो सकती क्योकि सामने अतिव्याप्त दोष खडा हुआ है। **(इतिचेन्न)** यदि ऐसा तुम्हारा कहना है तो वह ठीक नही है ऐसा आचार्य कहते हैं क्योकि **(प्रदीपक्षणस्यैकस्य तैलाकर्षणवर्तिकामुखदाहाद्यनेककार्यकुर्वत कार्यस्यासत्यत्वे कार्याकारित्वाद्वस्तुव्यवस्थानायोगात्)** तैल का आकर्षण तथा वार्तिका के मुख का दाह आदि अनेक कार्यों को करने वाले एक ही प्रदीपक्षण के कार्यों को यदि आप असत्य मानेगे तो वह प्रदीपक्षण कार्यकारी न होने से वस्तु की व्यवस्था नही बन सकेगी **(तत्सत्यत्वे प्रतिकार्यं क्षणिक वस्तुत्वापत्तिरिति कथमेकक्षणिक वस्तुत्व स्थितिरिति)** और यदि आप उन पूर्वोक्त कार्यों को सत्य स्वीकार करेगे तो प्रति कार्य क्षणिक वस्तु बन जायेगा तब कार्यों की अनेकता से अनेक क्षणिक वस्तुओ की आपत्ति आ खडी होगी ऐसी स्थिति मे एक क्षणिक वस्तु की व्यवस्था कैसे होगी यह तुम ही कहो। **(कीदृशै ?)** कैसे बौद्धो ने **(आत्मानं स्व चैतन्यम्)** अपने चैतन्य स्वरूप आत्मतत्त्व को **(परिशुद्ध-संसारदशातोध्यानादिभिर्निर्मलम्)** ससार अवस्था से ध्यान आदि के द्वारा निर्मल-स्वच्छ **(ईप्सुभिः वाञ्छकै.)** चाहने वाले **(क्षणिकत्वेकस्याशुद्धित्व कस्य पुनर्ध्यानम्, कस्य च मुक्तावस्थाया शुद्धिरिति सर्वं गगनारविन्दमिव निर्विषयत्वादसदाभाति)** आत्मा की क्षणिकता स्वीकार करने पर किसकी अशुद्धिता और किसका ध्यान तथा मुक्त अवस्था मे किसकी शुद्धि ये सब आकाशकमल के समान विषयशून्य होने से असत्-मिथ्या मालूम पडते हैं। **(आत्माभावात् शुद्धिर-शुद्धिश्च कस्य)** आत्मा का अभाव होने से किसकी तो शुद्धि और किसकी अशुद्धि **(पुन.-एकक्षणस्यद्विधर्मा-धारत्वाघटनात्)** क्योकि एक क्षण दो विरोधी धर्मों का आधार नही हो सकता। **(अन्यथा निरंशत्व पक्षघात प्रसक्तेः)** अन्यथा अर्थात् एक क्षण को दो धर्मों का आधार स्वीकार करने पर निरशत्व पक्ष के व्याघात का प्रसङ्ग आ जायगा। **(अपि-पुनः किं कत्वा)** और क्या करके **(तत्र-आत्मनि)** उस आत्मा मे **(अधिका-दूषणाधानाद्बहुतराम्)** दूषणो के धारण करने से अत्यधिक **(अशुद्धिम्-अशुद्धताम्)** अशुद्धता को

(मत्वा-ज्ञात्वा) जान कर **(कुत)** किससे **(कालोपाधिवलात्-काल· समयादिस्थायित्वरूप: स एव उपाधि.-विशेषणं तस्य बलं-सामर्थ्यं तस्मात्)** समय आदि रूप उपाधि-विशेपण की सामर्थ्य से **(तथाहि-एकं वस्तु-अनेकक्षणस्थायिसदनेकक्षणविशिष्टं भवेत्तदविशिष्टं वा)** उसे स्पष्ट करते है कि एक वस्तु अनेक क्षण स्थायी होती हुई अनेक क्षण से सहित होती है ? अथवा अनेक क्षण से सहित नही होती है । **(प्राक्तने पक्षे-प्रथमक्षणेऽनेकक्षणविशिष्टत्वं भवेत्)** पूर्ण पक्ष मे पहले क्षण मे अनेक क्षण सहितता होगी **(अन्यथा-अनेक क्षणविशिष्टत्वाभावप्रसङ्गात्)** यदि ऐसा न माना जायगा तो अनेक क्षण विशिष्टता का अभाव का प्रसङ्ग होगा **(एवं द्वितीयादि क्षणेष्वपि)** ऐसा ही अर्थात् अनेक क्षण विशिष्टता द्वितीय-तृतीय आदि क्षणो मे भी होगी **(द्वितीयपक्षे कालावशिष्ट वस्तुक्रमयौगपद्याभ्यां व्यतिरिक्तमवस्त्वेव स्यात्)** दूसरे पक्ष मे काल से रहित वस्तु क्रम तथा यौग पद्य इन दोनो मे भिन्न अवस्तु ही होगी **(पुनः किं विधाय)** फिर क्या करके **(प्रकल्प्य-कल्पयित्वा)** कल्पना करके **(किम्)** क्या कैसी कल्पना **(क्षणिकम्-क्षणस्थायि चैतन्यं ज्ञान सर्वं क्षणिक सत्त्वात् प्रदीपवत्)** क्षणिक अर्थात् चैतन्य ज्ञान क्षणस्थायी है क्योकि जो सत् है वह सव क्षणिक-क्षणस्थायी है प्रदीप की तरह **(नित्ये क्रमाक्रमाभावात् अर्थक्रियाभावात्सत्त्वाभाव· इति)** नित्य मे क्रम और अक्रम दोनो का अभाव होने से अर्थक्रिया नही होगी और उसके न होने से सत्त्व का भी अभाव होगा इसलिए क्षणिकता मानना ही ठीक है । **(कीदृक्षैश्च)** कैसे बौद्धो ने **(पृथुकैः बालिशैः)** अज्ञानी-वस्तुस्वरूप को नही जानने वाले **(वस्तुन क्वचित्कदाचित्क्षणिकत्वाभावात्)** क्योकि वस्तु किसी देश मे और किसी काल मे क्षणिक नही है । **(पुन. कीदृक्षैः)** फिर कैसे **(रतै-रक्तै.)** अनुरक्त **(क्व)** किसमे **(शुद्धर्जुसूत्रे-शुद्ध द्रव्यनिरपेक्ष. स चासौ ऋजुसूत्रश्च-अर्थपर्यायग्राहको नयः तत्र)** शुद्ध ऋजुसूत्र नय मे अर्थात् द्रव्य की अपेक्षा से रहित अर्थपर्याय मात्र को ग्रहण करने वाले नय मे **(कैः इव)** किसके समान **(निस्सूत्रमुक्तेक्षिभि -अप्रोत-सूत्रे-ईहितहारमुक्ताफलावलोकिभि· पुरुषैः)** सूत्र मे नही पिरोए हुए अभीप्सित हार के मुक्ताफल मोतियो को देखने वाले पुरुषो के **(हारवत्)** हार के समान **(यथा हारस्त्यक्त -अन्वयिसूत्र द्रव्यानङ्गीकारात्)** जैसे मोतियो से अन्वय सम्बन्ध रखने वाले सूत्ररूप द्रव्य के स्वीकार न करने से हार छूट जाता है वैसे ही अर्थ-पर्याय से अन्वय सम्बन्ध रखने वाले द्रव्य के अङ्गीकार न करने से जीवद्रव्य ही नष्ट हुआ ऐसा समझना चाहिए ॥१६॥

भावार्थ—सवत —सव तरफ से सर्वथा-सब तरह से शुद्ध आतमा को चाहने वाले बौद्धो ने अति-व्याप्ति के भय से तथा काल की उपाधि से आत्मा मे अधिक अशुद्धि की कल्पना करके वर्तमान पर्याय-मात्र को विषय करने वाले ऋजुसूत्रनय की अपेक्षा से आत्मा को वर्तमान पर्यायमात्र अर्थात् क्षणिक मान करके आत्मतत्त्व को ही छोड दिया है हार के समान । जैसे कोई मनुष्य मोतियो के हार को सूत्र के बिना ही देखना चाहे तो वह मात्र मोतियो को ही देख सकेगा जो स्वभावतः जुदे हैं हार को नही क्योकि मोतियो को हार की सज्ञा देने वाला तो वह सूत्र है जिसमे वे बधे हुए है । वैसे ही क्षणनश्वर पर्यायो से सम्वन्धित आत्मा को जो नित्यध्रुव है उसे छोडकर केवल निरन्व पर्यायो को ही आत्मारूप से

देखने वाले बौद्धो की दशा है। टीकाकार ने क्षणिकत्व के सम्बन्ध मे अनेक विकल्प उठा कर उसे दूषित कर नित्यानित्यात्मक वस्तु की सुव्यवस्थित स्थापना की है। अर्थ पर्याय की दृष्टि से द्रव्य कथञ्चित क्षणिक-अनित्य है और द्रव्य सामान्य की दृष्टि से वही द्रव्य कथञ्चित् त्रिकालस्थायी-नित्य है। इस तरह से स्याद्वाद का उज्ज्वल प्रकाश ही वस्तु के खास स्वरूप को प्रकाशित करने मे पूर्णरूप से समर्थ है। अत उसी के अनुपम उद्योत मे आकर क्षणिकवादियो को अपना क्षणिकैकान्त का घोरान्धकार विनष्ट कर अनेकान्तरूप सूर्य की खरतर किरणो का सेवन ही श्रेयस्कर है।

पुनश्च—

कर्तुर्वेदयितुश्च युक्तिवशतो भेदोऽस्त्वभेदोऽपि वा
कर्ता वेदयिता च मा भवतु वा वस्त्येव सञ्चिन्त्यताम्।
प्रोतासूत्र इवात्मनीह निपुणैर्भेत्तुं (भत्तु॑) न शक्या क्वचि-
च्चिच्चिन्तामणिमालिकेयमभितोऽप्येका चकास्त्येव नः ॥१७॥

अन्वयार्थ—(**कर्तुः**) कर्ता के (च) और (वेदयितु) भोक्ता के (युक्तिवशत) युक्ति के वश से (**भेदः**) भेद से (**वा**) अथवा (**अभेद**) अभेद (**अपि**) भी (**अस्तु**) हो (**वा**) अथवा (**कर्ता**) कर्ता (**च**) और (**वेदयिता**) भोक्ता (**मा**) मत-नही (**भवतु**) हो। (**वस्तु**) वस्तु का (**एव**) ही (**सञ्चिन्त्यताम्**) भले प्रकार चिन्तन-ध्यान करो। (**सूत्रे**) सूत्र के (**इव**) समान (**इह**) इस (**आत्मनि**) आत्मा मे (**प्रोता**) पिरोई हुई-गूंथी हुई (**इयम्**) यह (**चिच्चिन्तामणिमालिका**) चैतन्य रूप चिन्तामणियो की माला (**निपुणै.**) तत्त्वज्ञ पुरुषो के द्वारा (**क्वचित्**) किसी देश मे (**कदाचित्**) किसी काल मे (**भेत्तुम्**) भेदन करने के लिए (**शक्या**) शक्य (**न**) नही (**अस्ति**) है (**सा**) वह चैतन्यरूप चिन्तामणियो की माला (**अभित**) सब तरफ से (**एका**) अद्वितीय (**एव**) ही (**नः**) हमारे (**अपि**) भी (**चकास्तु**) प्रकाशमान रहे।

सं० टीका—(**कर्तुः-कारकस्य**) कर्ता-कारक का (**वेदयितुश्च-कर्मभोजकस्य च**) वेदयिता-कर्मो के फल को भोगने वाले का (**भेद-परस्परं कथञ्चिद्भिन्नत्वमस्तु**) आपस मे कथञ्चित्-विवक्षा के वश से भिन्नता रहो (**सर्वथा भेदे तयो केवलं कर्तृत्व भोक्तृत्व वा स्यात् य कर्ता स एव भोक्ता इति जीवान्तर वेदकसन्तानेऽपि न स्यात्**) कतृत्व-कर्तापन तथा भोक्तृत्व-भोक्तापन इन दोनो मे सर्वथा-एकान्तरूप से भेद मानने पर या तो केवल-सिर्फ कर्तृत्व कर्तापन होगा या सिर्फ भोक्तृत्व-भोक्तापन होगा किन्तु जो कर्ता है वही भोक्ता है ऐसा जीवान्तर वेदक सन्तान मे भी नही हो सकता (**कुत**) कैसे (**युक्तिवशत.-नयप्रमाणात्मिका युक्ति तस्यः वशत**) नय और प्रमाणरूप युक्ति के वश से (**द्रव्यार्थदिशादेकत्वप्रतिभासनात्**) क्योकि द्रव्यार्थिक नय के आदेश से एकत्व का प्रतिभास होता है। (**अहमहमिकात्मा चिवर्त्तात्मा ननु भवन् सर्वलोकानां स्वलक्षणप्रत्यक्षत्वप्रतिभासनाच्च चित्वज्ञानवत्सर्वथा भेदाघटनात्**) अहम्-मैं अहम्-मैं-रूप पर्याय स्वरूप होता हुआ यह आत्मा वस्तुत अपने चैतन्य स्वरूप लक्षण से प्रत्यक्ष रूप से सभी मनुष्यों के

स्वसवेदनरूप से प्रतिभासित होता है अतएव चित्र ज्ञान की भाँति सर्वथा–एकान्तरूप से भेद सिद्ध नही हो सकता है यह सुनिश्चित है। (**तु-पुन**) और (**कथञ्चिदभेदो वास्तु**) अथवा कर्ता तथा भोक्ता इन दोनो मे कथञ्चित् विवक्षा के वश से अभेद भी रहो (**सर्वथाऽभेदेतयोरुभयव्यपदेशाभाव.**) क्योकि सर्वथा एकान्तरूप से कर्ता और भोक्ता इन दोनो मे अभेद होने पर कर्ता और भोक्तारूप दो का व्यवहार नही हो सकेगा (**केवलं कर्तैव भोक्तैव वा स्यात्**) किन्तु या तो सिर्फ कर्ता ही होगा या सिर्फ भोक्ता ही होगा दोनो मे से एक कोई हो सकेगा, दो नही। (**ततस्तद्वतस्ताभ्या परस्परं व्यावृत्तिरेकानेक स्वभावत्वात् घटरूपादिवत्**) इसलिए कर्तृत्व और भीक्तृत्व से युक्त आत्मा की कर्तृत्व तथा भोक्तृत्व इन दोनो से परस्पर मे पृथकता है एक तथा अनेक स्वभाव होने के कारण घटगत रूपादि की तरह। (**ततः**) इसलिए (**य एव करोति स एव अन्यो वा वेदयते य एव वेदयते स एव अन्यो वा करोति इति नास्ति एकान्तः**) जो कर्ता है वही अथवा उससे भिन्न भोक्ता है जो भोक्ता है वही अथवा उससे भिन्न कर्ता है। इस तरह से एकान्त नही है। (**कर्ता वेदयिता भोक्तावात्मा भवतु वा-अथवा मा भवतु**) कर्ता-करने वाला और वेदयिता भोक्ता भोगने वावा आत्मा न हो (**कर्ता भोक्ता मास्तु**) कर्ता-भोक्तारूप कल्पना न हो (**वस्त्वेव-शुद्धात्मैकद्रव्यरूपं वस्तु-वसति गुणपर्यायानितिवस्तु पर्यायानपेक्षया द्रव्यमेव शुद्धम्**) जिसमे गुण और पर्यायें बसती-रहती हैं वह वस्तु कही जाती है शुद्धात्मा एक द्रव्यरूप वस्तु है अतएव उसमे पर्यायो की अपेक्षा न होने से एक मात्र शुद्ध आत्मद्रव्य का ही (**सञ्चिन्त्यताम्-ध्यायताम्-विचार्यतां वा**) भली भाँति चिन्तन-ध्यान वा विचार करे। (**कैः**) कौन (**निपुणै.-भेदज्ञै. पुरुषैः**) निपुण-स्वपर के भेद को जानने वाले पुरुष (**इह-आत्मनि-चिद्रूपे**) इस चैतन्य स्वरूप आत्मा मे (**क्वचित्-कस्मिश्चित् काले**) किसी समय (**भर्तु-धर्तुम् कर्ता भोक्ता चेतिधर्तु न शक्यस्तस्यैकरूपत्वात्**) कर्ता और भोक्ता इन दो विभिन्न धर्मों को धारण नही कर सकते क्योकि वह आत्मा स्वभावत एकरूप है। (**दृष्टान्तयतीत्यत्र**) इस विषय मे दृष्टान्त देते हैं (**इव-यथा सूत्रे गुणे तन्तौ**) जैसे सूत्र-गुण अर्थात् तन्तु-धागे मे (**प्रोता-अनुस्यूतो हारो मुक्तामणिरिति भर्तुं न शक्य.**) सम्बद्ध-पिराया हुआ हार मुक्तामणि ऐसा भेद धारण नही कर सकता अर्थात् सूत्र तथा मोतियो मे तो भेद है पर हार मे भेद नही है क्योकि वह एक द्रव्य है तात्पर्य यह है कि मोतियो को हार सज्ञा तो सूत्र के साथ सम्बद्ध होने पर ही दी जाती है सूत्र के विना मात्र मोतियो को नही। वैसे ही आत्मा मे बिना अपेक्षा के केवल कर्तृत्व तथा भोक्तृत्व रूप पर्यायें नही बन सकती। हा जब आत्मा मे भेद विवक्षा की जाती है तब वही आत्मा पर्याय अपेक्षा से कर्ता भी है और भोक्ता भी है। पर अभेद विवक्षा से तो आत्मा आत्मा ही है वह न तो कर्ता ही है और न भोक्ता ही। (**अपि-पुन.**) और (**न-अस्माकं स्याद्वादिनाम्**) हम स्याद्वाद सिद्धान्तियो के (**अभित.-सामस्त्येन**) समग्ररूप से (**इयम्-प्रसिद्धा**) यह प्रसिद्ध (**एका-अद्वितीया**) एक-अद्वितीय (**चिदित्यादि-चित्-चेतना सैव चिन्तामणि· तस्य मालिका पक्ति.**) चैतन्यरूप चिन्तामणि की माला (**अनुस्यूत मुक्ताफलाना पक्तिरिव**) सूत्र मे पिरोये हुए मोतियो की माला के समान (**चकास्त्येव द्योतत एव**) प्रकाशमान-द्योतमान रहे। (**क्षणक्षणिकपक्षदूषणैरष्टसहस्रचा क्षणिक ज्ञानस्य निराकृतत्वात्**) क्योकि

क्षणक्षणिक पक्ष के दूषणों से क्षणिक ज्ञान का निराकरण अष्टसपस्त्री मे किया गया है ।।१७।।

भावार्थ—आत्मा स्वभावत न तो कर्ता है और न भोक्ता । पर विवक्षा वश से उसमे कर्तृत्व तथा भोक्तृत्व भी बन सकता है क्योकि स्याद्वाद-कथञ्चिद्वाद या अपेक्षावाद से वस्तु स्वरूप का प्रतिपादन शास्त्रो मे यत्र-तत्र बहुत प्राप्त होता है । व्यवहार मे भी ऐसा देखा जाता है जैसा कि हार के दृष्टान्त से स्फुट होता है। सूत्रनिबद्ध मोतियो का समूह हार कहा जाता है उसमे अभेद विवक्षा की प्रधानता है। पर वही हार जब भेद विवक्षा का विषय होता है तब यह हार मोतियो का है। ये मोती अपना पृथक्-पृथक् अस्तित्व रखते है, एक दूसरे से सटकर सूत्र मे निबद्ध हैं। यह सब भेद प्राधान्य कथन है। यही भेदाभेद विवक्षा वस्तुस्थिति की व्यवस्थापिका है। आचार्यश्री ने तो यही भावना भाई है कि हमारे तो वही एक अखण्ड आत्मज्योति सदा प्रकाशमान रहो जो एकमात्र चैतन्य चमत्कार से ओतप्रोत है ।।१७।।

(अथ व्यावहारिकदृशा तयोर्भिन्नत्वं चिन्त्यते) अब व्यवहार प्रधान दृष्टि से कर्तृत्व तथा भोक्तृत्व की भिन्नता का चिन्तन करते है—

व्यावहारिकदृशैवकेवलं कर्तृ कर्म च विभिन्नमिष्यते ।
निश्चयेन यदि वस्तु चिन्त्यते कर्तृ कर्म च सदैकमिष्यते ।।१८।।

अन्वयार्थ—**(केवलम्)** सिर्फ **(व्यावहारिक दृशा)** व्यावहारिक दृष्टि से **(एव)** ही **(कर्तृ)** कर्ता **(च)** और **(कर्म)** कर्म **(विभिन्नम्)** परस्पर मे अति भिन्न **(इष्यते)** इष्ट है **(तु)** किन्तु **(यदि)** यदि-अगर **(निश्चयेन)** निश्चय की दृष्टि से **(वस्तु)** वस्तु का **(चिन्त्यते)** चिन्तन-विचार करते है **(तर्हि)** तो **(कर्तृ)** कर्ता **(च)** और **(कर्म)** कर्म **(सदा)** सर्वदा-हमेशा **(एकम्)** एक **(एव)** ही **(इष्यते)** इष्ट है ।

सं० टी०—**(च-पुनः कर्तृ-कारकम्—कर्म च कार्यम् परस्परे भिन्नम्)** जो करे सो कर्ता और जो किया जाय वह कर्म अर्थात् कार्य ये दोनो आपस मे भिन्न-जुदे है **(इष्यते)** इष्ट है **(कया)** किससे **(केवलं-परम्)** सिर्फ **(व्यावहारिक दृशैव-व्यवहार दृष्ट्यैव)** व्यवहारनय की दृष्टि से **(यथा सुवर्णकारादि कुण्ड-लादि परद्रव्य परिणात्मकं कर्म करोति तत्फलं च भुङ्क्ते न तु तन्मयो भवति)** जैसे सुवर्णकार आदि कुण्डल आदि परद्रव्य परिणमन रूप कर्म को करता है और उसके फल को भी भोगता है किन्तु वह तन्मय-कर्ममय नहीं होता है **(तथात्माऽपि पुण्यपापादिकं पुद्गलात्मकं कर्म करोति तत्फल-कुलं च कवलयति न तु तन्मय मीमास्यते)** वैसे ही आत्मा भी पुण्य और पापादि रूप पुद्गलजन्य कर्म को करता है तथा उसके फल समूह को भी भोगता है किन्तु तन्मय-पुद्गल कर्मरूप नही विचार किया जाता है **(यदि-चेत्)** अगर **(निश्चयेन-निश्चयनयेन वस्तुद्रव्यमात्रं केवलम्)** निश्चयनय से वस्तु-सिर्फ द्रव्यमात्र **(इष्यते)** इष्ट है **(तदा)** तब **(सदा-नित्यम्)** हमेशा **(कर्तृ कर्म च आत्मनः कर्तृत्वकर्मत्व योरैक्यमिष्यते)** कर्ता और कर्म आत्मा के कर्तृत्व तथा कर्मत्वरूप मे एक ही इष्ट है **(यथा च स नाडिंधमादि चिकीर्षुः, चेष्टारूपमात्मपरिणात्माक कर्म करोति आत्मपरिणात्मकं**

दुःख लक्षणं चेष्टारूपं कर्मफल च भुङ्क्ते ततोऽन्यत्वे सति तन्मयश्च भवति) जैसे वह आत्मा नाडिन्धम-नाडी का सञ्चालन आदि कर्म को करने की इच्छा करता है तो वह चेष्टारूप आत्मा के परिणाम-परिणमन रूप कर्म को करता है और आत्मा के परिणामरूप दु खमय चेष्टा स्वरूप कर्म के फल को भोगता है और वह उस कर्म के फल से पृथक् न होने से तन्मय-कर्मरूप होता है। **(तथात्माऽपि चिकीर्षुश्चेष्टारूपं स्वपरिणात्मक कर्म करोति चेष्टारूपमात्मपरिणामात्मकं दु ख लक्षणं फल च भुङ्क्ते ततोऽनन्यत्वेसति तन्मयश्चैव स्यात्)** वैसे ही आत्मा भी चेष्टारूप अपने परिणाममय कर्म को करता है और चेष्टारूप अपने परिणाम स्वरूप दु खरूप फल को भोगता है और उस कर्मरूप से अभिन्न होने से तन्मय कर्ममय ही होता है ॥१८॥

भावार्थ—जैसे कुण्डल आदि कर्म का कर्ता सुवर्णकार सुवर्ण के विकाररूप पुद्गल कर्म से पृथक् ही रहता हुआ उस कर्म के फल को भोगता है, वैसे ही आत्मा पौद्गलिक पुण्य पापरूप कर्म को करता है और उस कर्म के सुख-दु ख रूप फल को भोगता हुआ भी उससे जुदा ही रहता है यह व्यवहार दृष्टि है। परन्तु निश्चय दृष्टि इससे सर्वथा भिन्न कर्ता कर्म को एक आत्मस्वरूप ही देखता है क्योकि परिणाम और परिणामी मे शुद्ध नय से कोई भेद-अन्तर नही है। कर्ता कर्म एक ही द्रव्य मे होते हैं ॥१८॥

(अथ वस्त्वन्तरप्रवेश वस्तुनो न निर्लुठति पद्यत्रयेण) अब वस्तु किसी अन्य वस्तु के अन्दर प्रवेश नही करती यह बात तीन पद्यो द्वारा प्रकट करते है—

ननु परिणाम एव किल कर्म विनश्चयतः
स भवति नापरस्य परिणामिन एव भवेत् ।
न भवति कर्तृशून्यमिह कर्म न चैकतया
स्थितिरिह वस्तुनो भवतु कर्तृ तदेव ततः ॥

अन्वयार्थ—**(ननु)** निश्चयत **(किल)** आगमानुसार **(परिणाम)** परिणाम **(एव)** ही **(विनिश्चयत)** परमार्थ दृष्टि से-निश्चयनय से **(कर्म)** कर्म है **(स·)** वह परिणाम **(परिणामिनः)** परिणामी-परिणमनशील द्रव्य का **(एव)** ही **(भवति)** होता है **(अपरस्य)** दूसरे किसी भिन्न द्रव्य का **(न)** नही **(भवेत्)** होता है। **(इह)** इस जगत मे **(कर्म)** कर्म **(कर्तृशून्यम्)** कर्ता के बिना **(न)** नहीं **(भवति)**होता है। **(च)** और **(इह)** इस लोक मे **(वस्तुनः)** वस्तु की **(स्थिति)** मर्यादा-अवस्था **(एकतया)** एकरूप कूटस्थ नित्य अर्थात् अपरिणमनशील **(न)** नही **(भवति)** होती है **(ततः)** इसलिए **(तद्)** वह वस्तु **(एव)** ही **(कर्तृ)** अपने परिणाम रूप कर्म को करने वाली **(भवतु)** है।

भावार्थ—परिणमनरूप कर्म का कर्ता वही द्रव्य होता है जिस द्रव्य का वह परिणमन है। प्रत्येक द्रव्य परिणमनशील होता है। कूटस्थनित्य कोई द्रव्य नही है। अतएव अपने-अपने परिणमन का कर्ता स्वद्रव्य ही होता है परद्रव्य नही। जो कर्म होता है उसका कोई न कोई कर्ता अवश्य ही होता है क्योकि

बिना कर्ता के कर्म की उपलब्धि कथमपि सम्भव नही है। इस प्रकार से परिणामी और परिणाम में परस्पर में कर्तृकर्म भाव सहज सिद्ध है कृत्रिम नही है और न कल्पित है किन्तु वास्तविक है यथार्थ है वस्तुस्वरूपगत है।

इसकी सस्कृत टीका उपलब्ध नही है।

पुनश्च—

बहिर्लुठति यद्यपि स्फुटदनन्तशक्तिः स्वयं–
तथाप्यपरवस्तुनो विशति नान्यवस्त्वन्तरम् ।
स्वभावनियतं यतः सकलमेव वस्त्विष्यते–
स्वभावचलनाकुलः किमिह मोहितः क्लिश्यते ॥१९॥

अन्वयार्थ—(**यद्यपि**) यद्यपि (**स्फुटदनन्तशक्तिः**) प्रकाशमान अनन्त शक्ति स्वरूप (**वस्तु**) वस्तु-द्रव्य (**स्वयम्**) स्वभाव से (**बहिः**) अन्य वस्तु के बाहिर (**लुठति**) लोटती रहती है (**तथापि**) तो भी (**अपरवस्तुनः**) दूसरी वस्तु मे (**अन्य वस्त्वन्तरम्**) दूसरी अन्य कोई वस्तु (**न**) नही (**विशति**) प्रवेश करती है। (**यत**) क्योकि (**सकलम्**) सब (**एव**) ही (**वस्तु**) वस्तु-द्रव्य (**स्वभावनियतम्**) अपने स्वभाव मे निश्चित (**इष्यते**) मानी जाती हैं। (**ततः**) इसलिए (**स्वभाव चलनाकुलः**) स्वभाव की चञ्चलता से आकुल (**सन्**) होता हुआ (**मोहितः**) मोह को प्राप्त (**आत्मा**) जीव (**इह**) इस जगत मे (**किम्**) क्यो (**क्लिश्यते**) क्लेशित होता है।

सं० टी०—(**यद्यपि**) यद्यपि (**स्वयं-स्वभावत**) स्वभाव से (**बहिः-बाह्ये**) बाहिर (**स्फुटेत्यादिः-स्फुटन्ती-व्यक्ता चासावनन्तशक्ति द्विकवारानन्ताविभागप्रतिच्छेदश्च**) स्फुरायमान-देदीप्यमान अनन्त बलशाली (**लुठति-स्फुटीभवति**) स्फुट – स्पष्ट होनी है (**यथा सेटिकायाः सेटिकत्वादिः**) जैसे कि सेटिका-कलई की सफेदी (**तथापि**) तथापि (**अन्यवस्त्वन्तरं-सेटिकादि**) दूसरी वस्तु सेटिकादि (**परवस्तुनो मध्ये**) दूसरी वस्तु के मध्य मे (**न**) नही (**विशति**) प्रवेश करती है। (**कुड्यादि लक्षणस्य मध्ये न प्रविशति**) अर्थात् कुड्यादि स्वरूप वस्तु के मध्य मे नही प्रवेश करती है (**यतः-यस्मात्-कारणात्**) जिस कारण से (**सकलमेव-समस्तमेव**) सभी (**वस्तु-चेतनलक्षण द्रव्यम्**) चैतन्य स्वरूप वस्तु (**स्वभावनियतम्-स्वस्यभावे-स्वस्वरूपे नियतम्-स्थितम्**) अपने स्वरूप मे स्थित है (**जीवस्य ज्ञानात्मकं लक्षणम्**) जीव का लक्षण ज्ञान (**अजीवस्य-अचेतनस्य अचैतन्यं-तद्विपरीतम्**) अजीव अचेतन का लक्षण चेतन से भिन्न अचेतनता (**इष्यते-अभिलष्यते**) इष्ट है—अभिलषित है (**अत**) इसलिए (**इह-जगति**) जगत मे (**मोहित मोहाक्रान्त -पुमान्**) मोह से व्याप्त मनुष्य (**किम्-क्लिश्यते किं वृथा क्लेश करोति पराभिप्राय परिवर्तनेन**) दूसरे के अभिप्राय के परिवर्तन से व्यर्थ ही क्यो क्लेश पाता है। (**किम्भूतः सन्**) कैसा होता हुआ—(**स्वेत्यादिः-स्वभावस्य-वस्तुस्वरूपस्य चलना चापल्यं-कर्तरि कर्मप्रवेशत्वं कर्मणि कर्तृप्रवेशत्वंमित्यादि लक्षणं तत्राकुलः-व्याकुलता**

गतः सन्) कर्ता मे कर्म का प्रवेश तथा कर्म मे कर्ता का प्रवेशरूप वस्तु स्वरूप की चञ्चलता से व्याकुल होता हुआ (**स्वरूपस्य ज्ञानादेः स्वरूपिणि जीवादौ व्यवस्थितत्वात्**) क्योकि ज्ञानादि लक्षण की जीवादि-रूप लक्ष्यभूत द्रव्य मे व्यवस्थिति होती है (**अन्यथा द्रव्योच्छेद· स्यात्**) यदि ऐसा न माना जाए तो द्रव्य का ही समूलोच्छेद हो जाएगा।

—**भावार्थ**—वस्तु स्वभाव सर्वथा अपरिहार्य है एक वस्तु का अपने से भिन्न वस्तु मे प्रवेश कथमपि सम्भव नही है। प्रत्येक वस्तु अपने मे ही कर्ता तथा कर्मरूप से परिणमन करती रहती है परवस्तु मे नही। यदि ऐसा न माना जायगा तो वस्तु की वस्तुता ही नष्ट हो जायेगी। अत कर्ता कर्मरूप अन्य वस्तु का अन्य वस्तु मे प्रवेश त्रिकाल बाधित है ऐसा सुनिर्णित सिद्धान्त ही मानव की आकुलता तथा व्याकुलता के दूर करने का प्रमुख साधन एव सुमार्ग है। इसी सुमार्ग पर चलकर स्व-आनन्द की अनुभूति हो सकती है।

पुनश्च—

वस्तु चैकमिह नान्यवस्तुनो येन तेन खलु वस्तु वस्तु तत् ।
निश्चयोऽयमपरोऽपरस्य कः किं करोति हि बहिर्लुठन्नपि ॥२०॥

अन्वयार्थ—(**येन**) जिस कारण से (**वस्तु**) वस्तु (**इह**) .इस जगत मे (**अन्यवस्तुन**) अपने से भिन्न वस्तु की (**न**) नही है (**तेन**) तिस कारण से (**तत्**) वह (**वस्तु**) वस्तु (**एकम्**) एक-अद्वि-तीय (**वस्तु**) वस्तु (**अस्ति**) है (**अयम्**) यह (**निश्चयः**) निश्चय है (**अपर**) दूसरा (**क**) कौन (**अपरस्य**) अन्य वस्तु का (**बहि·**) बाहर (**लुठन्**) लोटता हुआ (**अपि**) भी (**किम्**) क्या (**करोति**) करता है अर्थात् कुछ भी नही।

सं० टीका (**इह-जगति**) इस जगत मे (**येन-कारणेन**) जिस कारण से (**एकम्-चेतनादि लक्षणम्**) चेतन आदि लक्षण स्वरूप (**वस्तु-द्रव्यम्**) वस्तु-द्रव्य (**अन्यवस्तुनः-अपरवस्तुन चेतनादे स्वरूपम् न भवति खल्विति निश्चितम्**) चेतनादि स्वरूप अन्य द्रव्यरूप नही होती है यह निश्चित है। (**तेन-वस्तुन.-परवस्तु-स्वभावाभावेन कारणेन**) एक वस्तु मे परवस्तु के स्वभाव का अभाव होने के कारण (**अयम्-प्रसिद्धः**) यह प्रसिद्ध (**निश्चय -परमार्थ**) निश्चय-परमार्थ है (**अयम्-क**) यह कौन (**यद्वस्तु-स्वगुणपर्यायैर्द्रव्यम्**) जो वस्तु अपने गुण तथा पर्यायो से द्रव्य है (**तत्स्वगुणपर्यायैरेव वस्तु चेतनादि द्रव्यम्**) वह वस्तु अपने गुण तथा पर्यायो से ही चेतनादि स्वरूप द्रव्य है (**नान्यथा**) अन्य रूप से नही। (**परस्वरूपेण वस्तु भवत्यतिप्रसङ्गात्**) यदि ऐसा न स्वीकार करें तो परस्वरूप से वस्तु होने लगेगी यह अति प्रसङ्गरूप महान् दोष उप-स्थित होगा। (**हीति-यस्मात् कारणात्**) जिस कारण से (**कः-अपर.-अन्य पदार्थ सेटकादिर्जीवादिश्च**) सेटकादि तथा जीवादि रूप भिन्न पदार्थ (**अपदस्य कुडचादेः कर्मपुद्गलस्य च**) अपने से भिन्न दीवाल आदि को तथा कर्मपुद्गल को (**किं श्वेतत्व ज्ञानित्वं च करोति अपि तु न करोतीत्यर्थ.**) क्या श्वेत तथा "जीव पक्ष मे" ज्ञानी कर सकता है अपितु अर्थात् नही कर सकता है (**बहिः-बाह्ये**) बाहिर मे ऊपर ऊपर (**लुठन्नपि**

भित्त्यादीनां श्वेतत्व कुर्वन्नपि परस्वरूपेण न भवति) भित्ति आदि को श्वेत-सफेद करता हुआ भी पर रूप-भित्तिरूप नही होता है **(अन्यथा स्वद्रव्योच्छेद)** यदि ऐसा न स्वीकार किया जाय तो सेटकादि रूप द्रव्य का ही नाश हो जायगा **(आत्मापि परद्रव्यस्य ज्ञेयस्य ज्ञायकः बहिर्भवन्नपि तत्स्वरूपेण न भवति)** आत्मा भी ज्ञेयरूप परद्रव्य का बाहिर से ज्ञाता होता हुआ भी ज्ञेय द्रव्यरूप नही होता है। यदि वह भी ज्ञेयरूप हो जाये तो उस आत्मारूप द्रव्य का ही नाश हो जायेगा। यह महान दोष आ खडा होगा।

भावार्थ—जो वस्तु जिस रूप मे है वह उसी रूप मे रहेगी। अन्य वस्तुरूप नही होगी यही वस्तु-स्थिति है इसमे जरा भी अन्तर नही पड सकता है यह अभेद्य सिद्धान्त है। चेतन का अचेतन के साथ एक क्षेत्रावगाह रूप संयोग सम्बन्ध अनादित प्रसिद्ध है यह ठीक है परन्तु चेतन का अचेतन रूप से और अचेतन का चेतन रूप से परिणमन-परिवर्तन न तो कभी हुआ है और न कभी होगा। क्योकि एक वस्तु का अन्य वस्तु रूप होना सर्वथा असम्भव है ॥२०॥

पुनश्च—

यत्तु वस्तु कुरुतेऽन्यवस्तुनः किञ्चनापि परिणामिनः स्वयम् ।
व्यावहारिकदृशैव तन्मतं नान्यदस्ति किमपीह निश्चयात् ॥२१॥

अन्वयार्थ—**(तु)** किन्तु **(यत्)** जो वस्तु **(स्वयम्)** स्वभाव से **(परिणामिन)** परिणमनशील होती हुई **(अन्यवस्तुनः)** अन्य वस्तु का **(किञ्चनापि)** कुछ भी **(कुरुते)** करती है **(तत्)** वह **(व्यावहारिक दृशा)** व्यवहार दृष्टि से **(एव)** ही **(मतम्)** माना गया है **(इह)** इस ससार मे **(निश्चयात्)** निश्चय परमार्थ-नय से **(अन्यत्)** अन्य वस्तु की अन्य वस्तु **(किमपि)** कुछ भी **(न)** नही **(अस्ति)** है।

सं० टीका—**(यत्तु तत्-मतं-कथितम्)** और जो कहा गया है वह **(कया)** किस दृष्टि से **(व्यावहारिकदृशैव-व्यवहारदृष्ट्यैव)** व्यवहारनय की दृष्टि से ही **(न तु परमार्थत)** परमार्थ-निश्चय दृष्टि से तो नही **(तत् किम्)** वह क्या **(तु विशेषे)** विशेष रूप से **(यद्वस्तु सेटकादिः)** सेटकादिरूप जो वस्तु **(परिणामिन.-परिणमनशीलस्य)** परिणमनशील **(अन्यवस्तुन.-कुडचादे.)** कुड्यादि-भित्तिरूप सर्वथा भिन्न वस्तु के **(स्वयं-स्वभावतः)** स्वभाव से **(किञ्चन-धवलत्वादिकम्)** धवलादि रूप जो कुछ भी **(कुरुते-विदधाति)** करता है **(तथात्मापि)** वैसे आत्मा भी **(परद्रव्यं-स्वकेन भावेन ज्ञातापि)** पर पुद्गलादि परद्रव्य को अपने ज्ञान स्वभाव से जानता है **(जानाति पश्यति विजहाति श्रद्धत्ते चैतत्सर्वं व्यवहारत)** जानता है देखता है त्यागता है और श्रद्धान करता है यह सब व्यवहार नय से है **(इह जगति)** इस जगत मे **(निश्चयात्-परमार्थतः)** निश्चय-परमार्थ दृष्टि से **(किमपि-सेटकादिद्रव्यं चेतनद्रव्यं वा)** सेटिका आदि अचेतन तथा आत्मारूप चेतन द्रव्य **(अन्यत्-कुडचादे श्वेतकत्वं, आत्मनः परद्रव्य ज्ञातृत्वं च नास्ति)** अपने से भिन्न कुड्य आदि अचेतन द्रव्य को श्वेत करने वाला वैसे ही, पुद्गल आदि परद्रव्य का जानने वाला नही है।

भावार्थ—जो पदार्थ स्वभाव से परिणमनशील है उसके परिणमन मे निमित्त मात्र परवस्तु को माना गया है, यह व्यवहारनय प्रधान कथन है। पर निश्चयनय की दृष्टि उक्त दृष्टि से

सर्वथा बिलकुल ही जुदी है वह अपनी दृष्टि से किसी पदार्थ को किसी अन्य पदार्थ के परिणमन मे सहायक स्वीकार नही करता है। वह तो यही कहता है कि—हरेक पदार्थ अपने-अपने मे ही सीमित है कोई किसी का कर्ता धर्ता या हर्ता नही है। सेटिका-कलई ने दीवाल को सफेद किया तथा आत्मा ने पुद्गल को जाना यह सब व्यवहार, व्यवहारनय की अपेक्षा से है पर निश्चयनय की दृष्टि से सही नही है। क्योकि सेटिका, सेटिकारूप से सेटिका मे ही परिणमन करती है अन्य दीवाल आदि मे नही। आत्मा भी अपने ज्ञान स्वभाव से अपने को ही जानती है पर को नही ॥२१॥

(अथ द्रव्ये द्रव्यान्तर निषेधं निधत्ते) अब एक द्रव्य मे दूसरे द्रव्य के अस्तित्व का निषेध करते हैं --

शुद्धद्रव्य निरूपणार्पितमतेस्तत्त्वं समुत्पश्यतो
नैकद्रव्यगतं चकास्ति किमपि द्रव्यान्तरं जातुचित् ।
ज्ञानं ज्ञेयमवैति यत्तु तदयं शुद्ध स्वभावोदयः-
किं द्रव्यान्तर चुम्बनाकुलधियस्तत्त्वाच्च्यवं ते जनाः ॥२२॥

अन्वयार्थ—**(शुद्धद्रव्यनिरूपणार्पितमते)** जिसने अपनी बुद्धि को शुद्धद्रव्य के प्रतिपादन करने मे लगा दिया है अतएव **(तत्त्वम्)** वस्तु के असली स्वरूप को **(समुत्पश्यत.)** देखने वाले-जानने वाले **(ज्ञानिनः)** ज्ञानी पुरुष के **(ज्ञाने)** ज्ञान मे **(जातुचित्)** कदाचित्-कभी भी **(एकद्रव्यगतम्)** एक द्रव्य मे रहती हुई **(द्रव्यान्तरम्)** दूसरी भिन्न जुदी द्रव्य **(न)** नही **(चकास्ति)** प्रतीत-प्रतिभासित होती है। **(तु)** किन्तु **(यत्)** जो **(ज्ञानम्)** ज्ञान **(ज्ञेयम्)** ज्ञेय-पदार्थ को **(अवैति)** जानता है **(तत्)** वह **(अयम्)** यह **(शुद्धस्वभावोदय)** शुद्ध-परिपूर्ण निर्मलज्ञान का स्वभाव का उदय है **(अतः)** इसलिए **(जना.)** ऐसे पुरुष **(द्रव्यान्तरचुम्बनाकुलधियः)** भिन्न द्रव्यो के साथ स्पर्श होने की बुद्धि से आकुल-व्याकुल होते हुए **(तत्त्वात्)** वस्तु के असली स्वरूप से **(किम्)** क्यो **(च्यवन्ते)** स्खलित होते हैं।

स० टीक—**(जातुचित्-कदाचित्)** कभी भी **(किमपि-चेतनमचेतनं वा द्रव्यान्तरं-चेतनादचेतन वस्त्वन्तरम्, अचेतनाच्चेतन वा वस्त्व तरम्)** कोई चेतन अथवा अचेतन भिन्न द्रव्य अर्थात् चेतन से भिन्न अचेतन द्रव्य तथा अचेतन से भिन्न चेतन द्रव्य **(एकद्रव्यगतम्-एकस्मिन्द्रव्ये चेतने चेतनं अचेतनं च अचेतने वा चेतनमचेतनं च गतं सम्प्राप्तम्)** एक चेतन द्रव्य मे चेतन अथवा अचेतन द्रव्य, तथा अचेतन मे चेतन अथवा अचेतन द्रव्य प्रवेश को प्राप्त **(न चकास्ति-न द्योतते)** नही प्रतिभासित होता है **(कस्य)** किसके **(तत्त्वं-वस्तुयाथात्म्यम्)** वस्तु की यथार्थतारूप तत्त्व को **(समुत्पश्यत -अवलोकयतो मुनेः)** अवलोकन करने वाले साधु के **(किम्भूतस्य)** कैसे मुनि के ? **(शुद्धेत्यादि-शुद्ध द्रव्य निरुपाधिस्वात्मादि द्रव्य तस्य निरूपणे-प्रतिपादने-अर्पिता-आरोपिता मतिः-बुद्धि. येन तस्य)** परोपाधि रहित निज आत्मादि द्रव्य के प्रतिपादन मे जिन्होंने अपनी निर्मल वस्तु स्वरूप परिचायक बुद्धि का उपयोग किया है ऐसे मुनि के **(तु-पुन')** और **(यत्-यस्माद्धेतो)** जिस कारण से अर्थात् कारण कि—**(ज्ञानम्)** ज्ञान **(ज्ञेयं-पदार्थम्)** ज्ञेय-जानने योग्य-

पदार्थ को (अवैति-जानाति) जानता है (न तु ज्ञेयं स्वस्वरूपेण करोति नत्विदं तत्स्वरूपेण भवति किन्तु केवलं परिच्छिनत्ति) किन्तु ज्ञेय-जानने योग्य पदार्थ को आत्मरूप नही करता है और न ज्ञेय पदार्थ ही ज्ञानरूप होता है मात्र ज्ञान उस पदार्थ को जानता ही है। (तत्-तस्मात् कारणात्)तिस कारण से अर्थात् इसलिए (अय-ज्ञेयपरिच्छेदकत्वलक्षणः) ज्ञेय को जानना ही है लक्षण जिसका ऐसा यह (शुद्धस्वभावोदय - शुद्धः-कर्मोपाधिनिरपेक्षः स्वभावः-स्वरूप तस्य उदयः-प्राकट्यम्) कर्मोपाधि शून्य स्वभाव का उत्कर्षात्मक अभ्युदय है (तत) इसलिए (जना.-जिनागमानभिज्ञा.-लोकाः) जिनागम के असली स्वरूप से अपरिचित लोग (तत्त्वात्-वस्तुयाथात्म्यात्) वस्तु स्वरूप की वास्तविकता से (किं च्यवन्ते-कथं चलन्ति) क्यो विचलित-चलायमान होते हैं (कीदृक्षाः सन्त·) कैसे होते हुए (द्रव्यमित्यादिः-द्रव्यात्-द्रव्यान्तरे-परद्रव्ये चुम्बन-आश्लेषणम्-तेनाकुला सेटिकया कथं श्वेतत्व कुडचादे. ज्ञानेन कथ ज्ञेय ज्ञातमित्यादिरूपाधी.-र्बुद्धि येषा ते तथोक्ताः सन्तः) एक द्रव्य का अपने से भिन्न द्रव्य मे होने वाले सम्बन्ध विशेष से जिनकी बुद्धि व्याकुलित है अर्थात् सेटिका-कलई से दीवाल मे सफेदी कैसे हो गई। ज्ञान ने ज्ञेय को कैसे जाना इत्यादि रूप से जिनकी बुद्धि चञ्चलित-प्रपीडित है।

भावार्थ—सभी पदार्थ अपने-अपने स्वरूप मे ही केन्द्रित-सीमित है। किसी का किसी मे प्रवेश नही है। चेतन का अचेतन मे अथवा अचेतन का चेतन मे प्रवेश होना कथमपि सम्भव नही है। रही सयोग सम्बन्ध की बात सो वह सयोग सम्बन्ध भी एक दूसरे के स्वभावरूप नही होता है किन्तु विभावरूप ही होता है। सो भी वस्तु की वस्तुता का उच्छेदक नही होता है किन्तु विकारात्मक ही होता है। रही ज्ञान और ज्ञेय की बात सो ज्ञान ज्ञेय को पृथक् रह करके ही जानता है एक होकर नही। ज्ञान मे ज्ञेय, ज्ञेयरूप से ही ज्ञात होता है ज्ञानरूप से नही। यदि ज्ञेय, ज्ञानरूप से ज्ञान मे प्रतिभासित होने लगे तो ज्ञेय का उच्छेद होगा। ऐसी स्थिति मे द्रव्य व्यवस्था ही छिन्नभिन्न-नष्टभ्रष्ट हो जायगी। अत ज्ञान ज्ञेय को सिर्फ जानता ही है ग्रहण नही करता है। ज्ञान अपने मे रहता है और ज्ञेय अपने मे। दोनो एक दूसरे से मिलते जुलते नही है किन्तु सदा जुदे ही रहते हैं ऐसा निश्चय करना चाहिए। चेतना ज्ञायक स्वरूप है अन्य समस्त पदार्थ ज्ञेय है ऐसी वस्तु व्यवस्था होते हुए भी यह जीव शरीरादिक परपदार्थो मे अपनापना मान कर क्यो व्याकुल हो रहा है यह आश्चर्य है।

(अथ स्वभावस्वभाविनोर्भेदं चकास्ति) अव स्वभाव और स्वभावी मे भेद प्रदर्शित करते है—

शुद्धद्रव्यस्वरसभवनात् किं स्वभावस्यशेष–
मन्यद्द्रव्यं भवति यदि वा तस्य किं स्यात्स्वभावः।
ज्योत्स्नारूपं स्नपयति भुवं नैव तस्यास्तिभूमिः–
ज्ञानं ज्ञेयं कलयति सदा ज्ञेयमस्यास्ति नैव ॥२३॥

अन्वयार्थ—(शुद्ध द्रव्यस्वरसभवनात्) शुद्ध द्रव्य-निजरस-स्वभावरूप होता है अतएव (शेषम्) बाकी के (अन्यद्द्रव्यम्) दूसरे द्रव्य (स्वभावस्य) उस स्वभाव के (किम्) क्या (भवति) हो सकते है

अर्थात् नही। **(वा)** अथवा **(यदि)** यदि **(भवति)** होते है **(तर्हि)** तो **(किम्)** क्या वे दूसरे द्रव्य **(तस्य)** उस भिन्न द्रव्य का **(स्वभाव)** स्वभावरूप **(स्यात्)** हो सकते हैं **(कदाचिदपि)** कभी भी नही **(ज्योत्स्नारूपम्)** चन्द्रमा की चाँदनी **(भुवम्)** भूमि को **(स्नपयति)** श्वेत करती है किन्तु **(भूमि.)** भूमि **(तस्य)** ज्योस्नारूप-चन्द्र की चाँदनीरूप **(एव)** कदापि **(न)** नही **(अस्ति)** होती है। **(ज्ञानम्)** ज्ञान **(सदा)** हमेशा **(ज्ञेयम्)** ज्ञेय-जानने योग्य पदार्थ को **(कलयति)** जानता है किन्तु **(ज्ञेयम्)** ज्ञेय-जानने योग्य पदार्थ **(अस्य)** ज्ञान का **(एव)** कदापि **(न)** नही **(अस्ति)** होता है।

सं० टीका—**(शुद्धोत्यादि·-शुद्धद्रव्यं-दर्शन ज्ञानचारित्रात्मकनिरुपाधिजीवद्रव्यादि तस्य स्वरसः स्वभावः तेन भवनात्)** परोपाधिरहित दर्शन ज्ञान चारित्रस्वरूप जीव द्रव्य का स्वभाव स्वभावरूप होने से **(स्वभावस्य-चैतन्यादि लक्षणस्य स्वरूपस्य)** चैतन्यादिरूप स्वभाव के **(शेषं-द्रव्यात्परम्)** विवक्षित द्रव्य से भिन्न **(अन्यद्द्रव्यम्-चेतन वा)** दूसरा कोई द्रव्य अथवा चेतन द्रव्य **(कि भवति)** क्या होता है **(अपितु परद्रव्यस्य स्वभाविनस्तदन्यद्रव्य स्वभावः स्वरूप न भवति)** किन्तु स्वभाववान परद्रव्य का अन्य द्रव्य का स्वभाव स्वरूप नही होता है **(परद्रव्यं-तस्य स्वभावि न भवतीति तात्पर्यम्)** अर्थात् विवक्षित द्रव्य का स्वभाव अविवक्षित अन्य द्रव्य नही होता है यह तात्पर्यार्थ है। **(यदि वा-अथवा)** अथवा **(स -स्वभावः चेतनादि लक्षण·)** वह चेतनादि स्वरूप-स्वभाव **(तस्य-अचेतनाद्यन्यद्रव्यस्यस्वरूप किं स्यात्)** उस अचेतनादिरूप अन्य द्रव्य का स्वभाव हो सकता है क्या ? **(अपि तु न स्यादेव)** किन्तु नही हो सकता है **(अथ स्वरूपस्वरूपिणो परस्वरूपस्वरूपिभ्या सकरव्यतिकरादि दोषापत्ते न किञ्चिच्चेतनमचेतनं वा स्यात्)** स्वरूप और स्वरूपी का परस्वरूप एव परस्वरूपी के साथ सम्बन्ध स्वीकार करने पर शकर एव व्यतिकर आदि अनेक दोष उपस्थित होते हैं अत कोई भी चेतन, अचेतन नही हो सकता और न अचेतन चेतन हो सकता है। **(इममेवार्थं दृष्टान्तयति)** इसी अर्थ को दृष्टान्त से सिद्ध करते है **(ज्योत्स्नारूप-सेटिकादिद्रव्यस्य श्वेतस्वरूपम्)** ज्योत्स्नारूप अर्थात् सेटिकादि द्रव्य का श्वेतस्वरूप **(भुवम्-भूतलम्)** भूतल को **(स्नपयति-धवलीकरोति)** श्वेत-धवल-सफेद करता है **(एव-निश्चयेन)** निश्चय से **(तथापि)** तथापि—तो भी **(भूमि -वसुन्धरा-विश्वभरा)** विश्वम्भरा-भूमि—**(तस्य-ज्योत्स्नारूपस्य स्वभावो नास्ति तस्यस्वभाविनो ज्योत्स्नारूप न, ज्योत्स्नाया सेटिकास्वभावत्वात्)** उस ज्योत्स्ना के स्वभावरूप नही होती है और उसके स्वभावी विना वह ज्योत्स्नारूप नही है क्योकि ज्योत्स्ना तो सेटिका के समान है **(दृष्टान्तेन स्पष्ट दार्ष्टान्त दर्शयति)** दृष्टान्त से दार्ष्टान्ति को स्पष्ट रूप से दिखाते है **(ज्ञानं-स्वपरावभास.)** स्व और पर को जानने वाला—ज्ञान **(ज्ञेय-कर्मतापन्न परपदार्थम्)** कर्मरूपता को प्राप्त होने वाले पर पदार्थ-ज्ञेय को **(कलयतिपरिच्छिनत्ति-जानाति)** जानता है **(सदा-नित्यम्)** सदा-हमेशा **(तथापि)** तथापि—तो भी **(अस्य-ज्ञानस्य)** इस ज्ञान का **(ज्ञेय-स्वरूप नैवास्ति)** ज्ञेय स्वरूप नही है **(ज्ञेयस्य स्वरूपस्य ज्ञानं स्वरूपिनैवास्ति)** ज्ञेय—स्वरूप का—ज्ञानस्वरूपी नही ही है **(तयो परस्परमत्यन्तभेदात्)** क्योकि उन दोनो "ज्ञान और ज्ञेय" का परस्पर-आपस मे अतिशय-सर्वथा भेद-फर्क है।

भावार्थ—जैसे भूतल को धवल करने वाली ज्योत्स्ना भूतल का स्वभाव नही है अतएव भूतल उसका स्वभावी भी नही है अर्थात् ज्योत्स्नारूप नही है। वैसे ही ज्ञान ज्ञेय को जानता है परन्तु ज्ञेय ज्ञान का स्वभाव नहीं है अतएव ज्ञेय ज्ञान का स्वभावी भी नही है अर्थात् ज्ञानरूप भी नही है। तात्पर्य यह है कि जैसे ज्योत्स्ना और भूतल मे श्वेतक तथा श्वेत्य सम्बन्ध है वैसे ही ज्ञान और ज्ञेय मे भी ज्ञायक तथा ज्ञेय सम्बन्ध है क्योकि वे दोनो स्वभाव से ही जुदे-जुदे पदार्थ हैं एक दूसरे से कभी मिलते-जुलते नही हैं।

(**अथ ज्ञानस्वभावं वावच्यते**) अब ज्ञान के स्वभाव का विवेचन करते हैं—

रागद्वेषद्वयमुदयते तावदेतन्न याव-
ज्ज्ञानं ज्ञानं भवति न पुनर्बोध्यतां याति बोध्ये।
ज्ञानं ज्ञानं भवतु तदिदं न्यक्कृताज्ञानभावं-
भावाभावौ भवति तिरयन् येन पूर्णस्वभावः ॥२४॥

अन्वयार्थ—(**यावत्**) जब तक (**एतत्-**) यह (**ज्ञानम्**) ज्ञान (**ज्ञानम्**) ज्ञानरूप (**न**) नही (**भवति**) होता है (**पुनः**) और (**बोध्ये**) बोध्य-जानने योग्य पदार्थ (**बोध्यताम्**) बोध्यपने को अर्थात् ज्ञेयत्व को (**न**) नही (**याति**) प्राप्त होता है (**तावत्**) तब तक (**रागद्वेषद्वयम्**) राग और द्वेष दोनो (**उदयते**) उदय को प्राप्त होते हैं। (**तत्**) इसलिए (**न्यक्कृताज्ञानभावम्**) अज्ञान भाव को तिरस्कृत करने वाला (**इदम्**) यह (**ज्ञानम्**) ज्ञान (**ज्ञानम्**) ज्ञान रूप (**भवतु**) हो (**येन**) जिससे अर्थात् ज्ञानस्वरूप होने से (**भावाभावौ**) भाव और अभाव 'राग-द्वेष' को (**तिरयन्**) दूर करता हुआ (**पूर्णस्वभावः**) परिपूर्ण स्वभाव (**भवति**) हो जाये।

सं० टीका—(**यावत्पर्यन्तम्**) जब तक (**ज्ञान-बोध.**) ज्ञान (**ज्ञानं-ज्ञायक-स्वपरावभासकं-शुद्धम्**) स्व आत्मा तथा पर-अनात्मा को जानने वाला शुद्ध–विपरीतता रहित (**न भवति-नजायते**) नही हो जाता है (**तावत्कालम्**) तब तक (**एतत्-जगत्प्रसिद्धम्**) यह जगत् प्रसिद्ध (**रागद्वेषद्वयम्-रागद्वेषयोर्द्वय**) राग और द्वेष का द्वय जोडा (**उदयते-अनुभागरूपेणोदयं धत्ते**) अनुभाग रूप से फलदान के रूप मे उदय को धारण करता है (**उदिते ज्ञाने तस्योदयाभावात्**) किन्तु ज्ञान के उदित होने पर राग-द्वेष का उदय नही होता है (**पुनः**) किन्तु (**यावज्ज्ञानं-ज्ञान-प्रकाटचप्राप्तं न**) जब तक ज्ञान, ज्ञान नही होता है अर्थात् शुद्ध ज्ञान प्रकट नही होता है यानी सम्यग्ज्ञान नही बन जाता है (**तावद्बोध्ये-ज्ञेये-वहिःपदार्थे**) तब तक बोध्य-जानने योग्य वाह्य पदार्थ मे (**बोधताम्-ज्ञातृतां**) बोधकता-ज्ञायकता को (**न याति-न प्राप्नोति**) नही प्राप्त करता है (**ज्ञाते ज्ञाने स्वपर बोध्यप्रकाशकत्वात्**) क्योकि ज्ञान मे ज्ञात होने पर ही ज्ञान ज्ञेय जानने योग्य पदार्थ का प्रकाशक-ज्ञायक-जानने वाला होता है। (**येन ज्ञानेन कृत्वा**) जिस ज्ञान के द्वारा (**आत्मा**) आत्मा (**पूर्णस्वभाव·**) परिपूर्ण स्वभाववान् (**भवति-जायते**) होता है (**कीदृक्ष सन्**) कैसा होता हुआ (**तिरयन्-आच्छादयन्**) आच्छादन करता हुआ (**कौ**) किनको (**भावाभावौ-अस्तिनास्तिस्वभावौ-विभावपर्यायौ-**

उत्पादविनाशौ वा) अस्ति तथा नास्ति रूप स्वभाव को अथवा विभाव पर्यायो को जो उत्पाद एव विनाश रूप है (**तत्**) वह (**इदम्-प्रसिद्धम्**) यह प्रसिद्ध (**ज्ञानम् ससारावस्थासम्भवात् रागद्वेषकल्मषीकृतं ज्ञानं शुद्धं स्वभावबोधोभवतु-अस्तु**) ज्ञान ससार अवस्था की उत्पत्ति के कारण राग-द्वेष रूप मैल से मलिनता को प्राप्त है निर्मल-शुद्ध स्वभाव रूप हो। (**कीदृक्षम्**) कैसा ज्ञान (**न्यगित्यादिः-न्यक्कृत-तिरस्कृतः, अज्ञानलक्षणो भावः-स्वभाव· येनतत्**) जिसने अज्ञान-विपरीत ज्ञानरूप स्वभाव का तिरस्कार-परित्याग कर दिया है।

भावार्थ—ज्ञान का स्वभाव, ज्ञानरूप से परिणत होना ही है। इसकी ज्ञानरूप परिणति में बाधक कारण राग-द्वेष का द्वन्द्व है। यह द्वन्द्व जब तक आत्मा से पृथक् नही हो जाता है तब तक ज्ञान मे स्वाभाविकता की उपलब्धि असम्भव ही है। अत सर्वप्रथम किसी भी मुमुक्षु को अज्ञानका विनाश करना चाहिए इसका विनाश किये जाने पर ही ज्ञान ज्ञानरूपता को प्राप्त कर आत्मा को परिपूर्ण ज्ञानी बनाने मे सक्षम हो सकता है। अतएव ज्ञान की यह परिपूर्ण स्वाभाविकता हमे प्राप्त हो ऐसी पवित्रतर भावना ग्रन्थकार ने अभिव्यक्त की है।

(**अथसम्यग्दृष्टेस्तत्सयमाश सति**) अब सम्यग्दृष्टि के उक्त राग-द्वेष के क्षय-विनाश का कथन करने हैं—

रागद्वेषाविह हि भवति ज्ञानमज्ञानभावात्
तौ वस्तुत्वप्रणिहितदृशा दृश्यमानौ न किञ्चित्।
सम्यग्दृष्टिः क्षयतु ततस्तत्वदृष्टया स्फुटं तौ—
ज्ञानज्योतिर्ज्वलति सहजं येन पूर्णाचलार्चिः ॥२५॥

अन्वयार्थ—(**इह**) इस जगत मे (**हि**) निश्चय से (**ज्ञानम्**) ज्ञान (**अज्ञानभावत्**) अज्ञान भाव से (**रागद्वेषौ**) राग-द्वेष रूप (**भवति**) परिणमित होता है (**वस्तुत्वप्रणिहितदृशा**) चैतन्यस्वरूप आत्मद्रव्य की ओर सलग्न दृष्टि से (**दृश्यमानौ**) देखे जाने पर (**तौ**) वे राग-द्वेष (**किञ्चित्**) कोई वस्तुभूत (**न**) नही (**स्त·**) हैं (**ततः**) इसलिए (**सम्यग्दृष्टि.**) सम्यक्त्वी जीव (**तत्त्वदृष्टच**) तत्त्व दृष्टि से (**तौ**) राग और द्वेष को (**स्फुटम्**) स्फुट-स्पष्ट रूप से (**क्षपयतु**) विनष्ट कर देवे (**येन**) जिससे अर्थात् राग-द्वेष के विनाश से (**पूर्णाचलार्चि**) परिपूर्ण निश्चल तेजस्वरूप (**सहजम्**) स्वाभाविक (**ज्ञानज्योतिः**) अनन्त ज्ञानमय प्रकाश (**ज्वलति**) ज्वल उठे अर्थात् प्रकाशित होवे।

स० टीका—(**हि-स्फुटम्**) निश्चय से (**ज्ञान-बोध**) ज्ञान (**इह-जगति**) इस जगत मे (**राग-द्वेषस्वभावौ**) राग-द्वेष स्वभाव वाला (**भवति-जायते**) हो जाता है (**कुत·**) कैसे (**अज्ञानभावात्-अज्ञानमयस्वभावत्वात्**) अज्ञान रूप स्वभाव से (**ननु कथ ज्ञान रागद्वेषौ भवति**) यहा कोई पूछता है कि ज्ञान, राग-द्वेष रूप कैसे हो जाता है? (**ज्ञानस्य-ज्ञानावरणकर्मण. क्षयोपशमात्**) क्योकि

ज्ञान तो ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशन होता है (**तयोमोहनीयकर्मविवर्तत्वात्**) और वे राग तथा द्वेष दोनो मोहनीय कर्म के परिणमन या पर्याय है ? (**कथं ज्ञाने रागद्वेष सद्भावइतिचेत्**) अत ज्ञान मे राग-द्वेष का अस्तित्व कैसे हो सकता है और ऐसा आपका कहना है (**र्तहि**) तो (**सत्यम्**) सत्य है-ठीक है (**रागद्वेषयोर्भावकर्मणोश्चैतन्यविवर्तत्वात् ज्ञानस्वभावत्वं तथाग्रे समर्थयिष्यमाणत्वात्**) राग और द्वेष दोनो भावकर्म हैं क्योकि वे चेतन्यस्वरूप आत्मा के पर्याय विशेष है अतएव अज्ञान के स्वभाव है ऐसा हो आगे समर्थन किया जायगा। (**तदप्यभ्यधायि श्रीमद्विद्यानन्दिसूरिणा**) ऐसा ही श्रीमद्विद्यानन्द सूरि ने कहा है—

भावकर्माणि चैतन्य विवर्तात्मानि भान्तिनुः।
क्रोधादीनि स्ववेद्यानि कथञ्चिच्चिदभेदतः ॥ ११४ ॥ इति।

अन्वयार्थ—(**चैतन्य विवर्तात्मानि**) चैतन्यस्वरूप आत्मा के विकार रूप अतएव (**स्ववेद्यानि**) आत्मा के द्वारा वेदने—जानने योग्य (**क्रोधादीनि**) क्रोध आदि (**भावकर्माणि**) भाव कर्म (**नु**) आत्मा के (**कथञ्चित्**) विवक्षा के वश से (**अभेदतः**) अभेद रूप से-अभिन्न रूप से (**भान्ति**) प्रतीत होते हैं।

(**तौ-रागद्वेषौ**)वे राग और द्वेष दोनो (**दृश्यमानौ-अन्तर्दृष्टयावलोक्यमानौ सन्तौ**) अन्तरङ्ग दृष्टि से देखे जा रहे (**न किञ्चित् न किमपि ज्ञानिना दृश्येते**) ज्ञानी के द्वारा कुछ भी नही देखे जाते है (**कया**) किससे (**वस्त्वित्यादिः-वस्तुत्वे चैतन्यलक्षणे-वस्तुस्वरूपे-प्रणिहितदृशा समारोपितदृष्टया**) चैतन्यस्वरूप आत्म-द्रव्य मे समारोपित-स्थापित दृष्टि से (**ततः-अन्तर्दृष्टयाऽदृश्यमानत्वात्**) अन्तरङ्ग दृष्टि से देखने पर राग-द्वेष दिखाई ही नही देते इसलिए (**स्फुटं-निश्चितम्**) निश्चित रूप से (**सम्यग्दृष्टिः-तत्त्वदर्शीपुमान्**) वस्तु वस्तुस्वरूप का द्रष्टा सम्यग्दृष्टि पुरुष (**तौ-रागद्वेषौ**) उन राग और द्वेष दोनो को (**क्षययतु-निर्जरादि-भिर्निराकरोतु**) निर्जर आदि के द्वारा निरस्त विनष्ट कर दे। (**तत्त्वदृष्टयावस्तुयाथार्थ्यदर्शनेन**) तत्त्व दृष्टि से अर्थात् वस्तु यथार्थता के दर्शन से (**येन-रागद्वेषक्षयणेन**) राग और द्वेष के क्षय-विनाश से (**सहजम्-स्वाभाविकम्**) स्वाभाविक-नैसर्गिक (**ज्ञानज्योतिः-ज्ञानाविभागप्रतिच्छेदसमूहम्-धाम**) ज्ञान के अविभाग प्रतिच्छेदो का समूहरूप तेज (**ज्वलति-प्रकाशते**) प्रकाशित होता है (**किम्भूतम्-तत्**) वह ज्ञान का प्रकाश कैसा (**पूर्णाचलार्चि·-पूर्णं-निरावरणत्वात्सम्पूर्णम्-अचलम्-अक्षोभ्यम्-प्रतिपक्षकर्माभावात्-अर्चि - ज्ञानशक्ति-यस्य तत्**) जिसकी ज्ञान शक्ति निवारण-आवरण शून्य होने से सम्पूर्ण है एव विरोधी कर्म का अभाव होने से क्षुब्ध करने के योग्य न होने के कारण ही अचल अर्थात् अक्षोभ्य है। (**'स्त्रीनपुंसकयोरर्चि.'**) अर्चि शब्द स्त्री और नपुसक लिङ्ग है (**इति भट्टिः**) ऐसा भट्टिमहाकाव्य से प्रसिद्ध है।

भावार्थ—राग और द्वेष आत्मा से पृथक अस्तित्व रखने वाले द्रव्य नही हैं किन्तु कर्मबद्ध अतएव अशुद्ध आत्मा ही के परिणाम विशेष है जो कर्म के दूर होते ही दूर हो जाते है। ज्ञानी-सम्यग्यदृष्टि ही उक्त प्रकार के रहस्य का ज्ञाता-जानने वाला होता है अतएव वही अन्तर्मुखी दृष्टि से जब देखता है तब उसे ने राग-द्वेष आत्मा के मूल स्वभाव मे दिखाई नही पड़ते अतएव वह उन्हे कर्मजनित औपाधिक भाव ही

मानता है इसलिए आचार्यश्री ने प्रेरणा करते हुए सम्यग्दृष्टि से कहा है कि तुम सर्वप्रथम उन राग और द्वेष दोनो का मूलोच्छेद करो जिससे तुम्हे परिपूर्ण एव निश्चल अत्यन्त ज्ञान ज्योति की सम्प्राप्ति हो।

(अथ रागद्वेषोत्पादकारण सङ्गच्छते) अब राग और द्वेष को उत्पन्न करने वाले कारण का निर्देश करते हैं—

रागद्वेषोत्पादकं तत्त्व दृष्ट्या नान्यद्द्रव्यं वीक्ष्यते किञ्चनापि।
सर्वद्रव्योत्पत्तिरन्तश्चकास्ति व्यक्तात्यन्तं स्वस्वभावेन यस्मात् ॥२६॥

अन्वयार्थ—**(तत्त्वदृष्ट्या)** यथार्थ दृष्टि से **(रागद्वेषोत्पादकम्)** राग और द्वेष को उत्पन्न करने वाला **(किञ्चन)** कोई **(अपि)** भी **(अन्यद्रव्यम्)** दूसरा पदार्थ **(न)** नही **(वीक्ष्यते)** दिखाई देता है **(यस्मात्)** क्योकि **(सर्वद्रव्योत्पत्ति)** सभी द्रव्यो की उत्पत्ति **(स्वस्वभावेन)** अपने-अपने स्वभाव से होती हुई **(अन्त·)** अपते अतरग मे **(अत्यन्तम्)** अतिशय रूप से **(व्यक्ता)** स्पप्ट **(चकास्ति)** देदीप्यमान होती है।

सं० टी०—(रागद्वेषोत्पादकम्-रागद्वेषयोरुत्पादकं-कारणम्) राग तथा द्वेष को उत्पन्न करने वाला कारण **(अन्यद्रव्यम्-आत्मद्रव्यम्-विहाय परद्रव्यमचेतनादि)** आत्मद्रव्य को छोडकर-पुद्गलादिरूप अचेतन परद्रव्य को **(न वीक्ष्यते-नावलोक्यते)** नही देखते **(कया)** किससे **(तत्त्वद्रष्ट्या-वस्तुयाथात्म्यदर्शनेन)** वस्तु की यथार्थता के दर्शन से **(कुतः)** कैसे **(यस्मात्कारणात्)** जिस कारण से **(सर्वेत्यादि-सर्वेषा द्रव्याणा-चैतनानाम्-उत्पत्ति-उत्पादः)** सभी चेतन द्रव्यो की उत्पत्ति **(अन्त-अभ्यन्तरे)** अपने भीतर **(स्वस्वभावेन-स्वस्वरूपेण)** अपने स्वभाव के अनुरूप **(अत्यन्तम्-निश्चितम्)** निश्चित रूप से **(व्यक्ता-स्फुटा)** स्पष्ट **(चकास्ति-द्योतते)** प्रकाशमान है **(ननु सर्वद्रयाणां नित्यत्वात्-कथमुत्पत्ति अन्यथा सौगतमतस्यागति)** शकाकार कहता है कि जब सभी द्रव्य नित्य हैं तब उनकी उत्पत्ति कैसी ? यदि नित्य होने पर भी उनकी उत्पत्ति मानोगे तो हठात् सौगतमत की उपस्थिति होगी **(इतिचेत् न)** यदि ऐसा तुम्हारा कहना हो तो वह ठीक नही है क्योकि **(स्वस्वभावेनेतिवचनात्)** स्वस्वभावेन—अपने स्वभाव से ऐसा वचन कहा गया है। **(स्वपरिणामेन स्वपर्यायेणैवोत्पत्तिर्न तु द्रव्यरूपेण)** अर्थात् अपने परिणाम यानी अपनी पर्याय रूप से ही उत्पत्ति होती है किन्तु द्रव्यरूप से नही। **(यथामृत्तिका कुम्भभावेनोत्पद्यमाना किं-मृत्स्वरूपेण ?)** जैसे कुम्भभाव-घडारूप से उत्पन्न होने वाली अर्थात् घडारूप पर्याय को धारण करने वाली मृत्तिका-मिट्टी क्या कुम्भकार के स्वभाव से उत्पन्न होती है अथवा मृत्तिका के स्वभाव से। **(यदि प्राक्तनः पक्ष)** यदि पहला पक्ष माना जायेगा **(तदाकुम्भकाराहङ्कारनिर्भरपुरुषाधिष्ठितप्रसारित-करतच्छरीराकार कुम्भः स्यात्)** तो कुम्भकार के अहङ्कार से भरपूर-कुम्भकार रूप पुरुष से युक्त फैलाये हुए हाथो से उपलक्षित कुम्भकार के शरीर के आकार वाला घडा होगा **(न च तथाऽस्ति)** और घडा वैसा कुम्भकार के शरीर के आकार का नही है **(अतएव उत्तर· पक्षः श्रेयान्)** इसलिए आगे का दूसरा पक्ष ही

श्रेष्ठ है (**मृदेव कुम्भस्योत्पादिका न तु कुम्भकार**) मृत्तिका ही कुम्भ घडे को उत्पन्न करने वाली है कुम्भकार नही। (**तथा रागद्वेषौपुद्गलस्वभावेनानुत्पद्यमानौ केवलमात्मनः स्वभावौ**) वैसे ही पुद्गल के स्वभाव से नही उत्पन्न होते राग-द्वेष एकमात्र आत्मा के स्वभाव है (**अन्योऽन्यस्योत्पादकत्वे तत्त्वव्यवस्थानाभावात् सर्वोच्छेदः स्यात्**) क्योकि अन्य को अन्य का उत्पादक मानने पर तत्वव्यवस्था का अभाव होगा और तत्त्व व्यवस्था का अभाव होने से सभी द्रव्यो के विनाश का प्रसङ्ग उपस्थित होगा।

भावार्थ—परमार्थ-निश्चय दृष्टि से जब किसी वस्तु का विचार-विमर्श किया जाता है तब उसका आधार केन्द्र वह वस्तु ही होती है अन्य कोई दूसरी वस्तु नही। प्रकृत मे राग-द्वेषादि के उत्पादक कारण-कलाप पर चिन्तन प्रस्तुत किया जा रहा है। इस चिन्तन मे वस्तुगत कार्य कारणता को ही प्रमुखता प्राप्त है अतएव जब कभी आत्मा मे राग-द्वेषादि भावो का प्रादुर्भाव होता है तब वह आत्मा स्वय ही उसका उपादान कारण बनता है। आत्मा से भिन्न कोई भी द्रव्य उसका कारण नही होता है। यह पर्याय दृष्टि का कथन है सभी द्रव्यें अपने-अपने मे ही परिणमन को प्राप्त होती हैं—अन्य मे नही।

(**अथ तद्धेतुत्वमात्मनः सङ्गिरते**) अब राग-द्वेषादि का कारण आत्मा है यह प्रतिज्ञारूप मे स्वीकार करते हैं—

यदिह भवति रागद्वेषदोषप्रसूतिः
कतरदपि परेषां दूषणं नास्ति तत्र।
स्वयमयमपराधी तत्र सर्पत्यबोधो—
भवतु विदितमस्तं यात्वबोधोऽस्मि बोधः॥२७॥

अन्वयार्थ—(**यत्**) जो-जिस कारण से (**इह**) इस आत्मा मे (**रागद्वेषदोषप्रसूतिः**) राग-द्वेष आदि रूप दोषो की उत्पत्ति (**भवति**) होती है (**तत्र**) उसमे (**परेषाम्**) आत्मा से भिन्न किसी भी द्रव्य का (**कतरदपि**) कोई भी (**दूषणम्**) दूषण-अपराध (**न**) नही (**अस्ति**) है किन्तु (**तत्र**) उस रागादि के (**सर्पति**) फैलने मे (**अयम्**) यह (**अबोधः**) अज्ञानी जीव (**स्वयम्**) स्वत (**अपराधी**) दोषी (**भवतु**) होता है (**इति मया विदितम्**) ऐसा मैंने जाना (**अतः**) इसलिए (**अबोधः**) अज्ञान (**अस्तम्**) विनाश को (**यातु**) प्राप्त हो (**च**) और (**अहम्**) मैं तो (**बोधः**) बोधरूप (**अस्मि**) हूँ।

सं० टीका—(**यत्-यस्मात्कारणात्**) जिस कारण से (**इह-आत्मनि**) इस आत्मा मे (**रागेत्यादि-रागश्च द्वेषश्च रागद्वेषौ तावेव दोषौ स्वस्वरूपाच्छादकत्वात् तयोः प्रसूतिः उत्पत्तिः**) आत्मा के असली स्वभाव के घात के होने से राग-द्वेष दोनो महान दोष हैं उनकी उत्पत्ति (**स्यात्**) होती है (**तत्र-तथा सति**) उन रागादि दोषो की उत्पत्ति मे (**परेषाम्-अचेतनद्रव्याणाम्**) परपुद्गलादि अचेतन द्रव्यो का (**कतरदपि-किमपि**) कोई भी (**दूषण-दोषः**) दोष (**नास्ति**) नही है (**अचेतनद्रव्यस्य तदुत्पादकत्वाभावात्, न तस्य दूषणम्**) क्योकि अचेतन द्रव्य उन राग-द्वेषरूप चैतन्य भावो का उत्पन्न करने वाला नही है अतएव अचेतन द्रव्य का उसमे कोई दोष नही है (**केवलमात्मनो दूषणम्**) सिर्फ-एकमात्र आत्मा का ही दोष है (**तत्र-राग-**

द्वेषै) उन राग और द्वेष के **(आत्मनि)** आत्मा मे **(सर्पति-व्याप्नुवति सति)** व्याप्त होने पर **(आत्मा-स्वयम्-स्वरूपेण)** आत्मा स्वय ही स्वरूप से **(अपराधी-दोषवान्)** अपराधी-दोषी **(भवतु-अस्तु)** होता है **(किम्भूतः-सः)** वह आत्मा कैसा **(अबोध.-बोधरहितः सन्)** बोध रहित होता हुआ **(विदितम्-मया-ज्ञातं)** मैंने ऐसा जाना है **(अयम्-अबोधः अज्ञानम्)** यह अबोध अज्ञान **(अस्त-विनाशम्)** विनाश को **(यातु-प्राप्नोतु)** प्राप्त हो **(पुनः)** पश्चात्-और **(बोध.-अह ज्ञानम्)** मैं ज्ञान **(अस्मि-भवामि)** स्वरूप रहूँ ।

भावार्थ—निमित्त-उपादान का विषय जैन शास्त्रो मे विशेषरूप से वर्णन है, जैन शास्त्रकारो ने हरेक द्रव्य मे अपनी-अपनी परिणमन करने की शक्ति मजूर करी है। उपादान भी एक द्रव्य है और निमित्त भी एक द्रव्य है, हरेक द्रव्य मे अपनी-अपनी योग्यता है। जो योग्यता जिस रूप मे नही होती वह कोई दूसरा पैदा कर दे ऐसा नही हो सकता। एक बाहरी दृष्टि से देखना होता है एक अन्तरदृष्टि से। बाहरी दृष्टि से देखते है तब मालूम होता है कि पुराना पत्ता टूटने से नया पत्ता आया परन्तु अन्तरदृष्टि से देखे तो नया पत्ता निकलने के सम्मुख हुआ तो पुराना पत्ता गिर गया। इसी प्रकार जमीन मे बीज बोया और बाहर से देखने वाला कहता है कि जमीन फटने से पौधा उगा परन्तु अन्तरदृष्टि वाला देखता है कि पौधा उगने के लिए तैयार हुआ तो जमीन फट गयी। बाहर से देखने वाला जो उसे दिखाई दे रहा है वही कह रहा है परन्तु उसका यह कहना सही नही है अगर वह पेड के सब पत्ते तोड डाले तो नया नही आयेगा। परन्तु बाहरी दृष्टि से देखने वाला यही मान लेता है कि मेरे को ऐसा दिखाई दिया है। अत वह समझता है कि गाली निकालने वाले ने क्रोध करा दिया। स्त्री ने राग करा दिया—खोमचे वाले ने मन चला दिया। इस प्रकार परवस्तु का दोष तो देखता है अपने दोष को नही देखता कि मैंने क्रोध कर लिया, मैंने राग कर लिया, मैंने मन चलाया है। पर का दोष माने तो पर को ठीक करने की चेष्टा करे वह हमारे आधीन नही है अपना दोष जाने तो अपने को ठीक करने का उपाय करे जो हमारे आधीन है। लौकिक मे भी कहा जाता है कि चिढाने वाले अगर चिढाना नही बन्द करते हैं तो चिढ़ने वाले को कहते हैं कि तू ही चिढना बन्द कर दे तो चिढाने वाले अपने आप चले जायेंगे। यह तभी सम्भव है जब हम अपनी गलती मानें। जब हम क्रोध करने के सम्मुख होते है तब बाहर मे पर का अवलम्बन हम लेते हैं और क्रोध करने के लिए लेते हैं और हमही क्रोधरूप परिणमन करते हैं तब उपचार से जिसका अवलम्बन लिया उसने क्रोध करा दिया यह कहा जाता है जो मात्र उपचार है कहने मात्र है। उसने गाली दी यह उसका परिणमन हुआ। उस गाली का हमने अवलम्बन लिया और जिस दृष्टिकोण से देखा वैसा ही हमारा परिणमन हुआ। अत अवलम्बन हमने लिया दृष्टिकोण देखने का हमारा अत गाली ने क्या किया जो कुछ किया वह हमने किया। पर ने तो हमारे साथ जबरदस्ती करी नही। गाली ने यह नही कहा कि तू मेरे को सुन हम ही अपने स्वभाव से हटकर उसको सुनने को गये—उसको अनिष्ट माना है इसलिए जिम्मेवारी हमारी है। हम उसका अवलम्बन न लें अथवा दृष्टिकोण अनिष्टपने का न बनावे उसके साथ हम अपना सम्बन्ध न जोडें यह सब हमारे पर ही निर्भर करता है। निमित्त सहायता नही

करता – निमित्त के सहयोग से कार्य नही होता परन्तु निमित्त का अवलम्बन लेकर हम कार्य करते हैं। जिसका अवलम्बन लेते है वह निमित्त कहलाता है और जिस कार्य के लिए अवलम्बन लेते हैं उस कार्य का निमित्त कहलाता है। एक लकडी मे कई प्रकार की उसकी निमित्तपने की शक्ति है वह हमेशा है जैसे जलने की, मारने मे निमित्तपने की, चलने मे सहारा बनने की। अव हम कौन-सा कार्य करना चाहते हैं उसी अभिप्राय से हम उसका अवलम्बन लेते हैं और वह उसका निमित्त कहलाती है। हमारा कार्य होने पर ही वह हमारे लिए निमित्त कहलावेगी परन्तु उस कार्य के निमित्तपने की शक्ति उसमे हमेशा से है इसलिए राग के मिमित्त से, क्रोधादि के निमित्त से, मिथ्यात्व के निमित्त से बचने का उपदेश दिया और वीतरागता के निमित्त के सहयोग का उपदेश दिया। एक सामान्य कथन है कि इस वस्तु की पर्याय मे इस इसपने के निमित्त होने की शक्ति है और एक विशेष कथन है कि हमारे लिए निमित्त हमारा कार्य होने पर ही कहलावेगा। हमे दोनो कथन को मानना जरूरी है। सामान्य कथन को नही मानेंगे तो उन-उन निमित्तो से बचने का उपाय नही करेंगे। क्योकि हमारे लिए तो अभी निमित्त हुआ ही नही तब निमित्त कैसे कहे। कोई यह कहे कि जब निमित्त कुछ करता हो नही फिर उससे किस लिए बचना चाहिए उसका उत्तर है कि यह सही है वह कुछ नही करता परन्तु उसका अवलम्बन लेकर अथवा उसके सद्भाव मे हम आत्मबल की कमी की वजह से अन्यथा परिणमन कर जाते है। अत गलती हमारी है निमित्त की नही। परन्तु आत्मबल की जब तक कमी है तब तक बचना जरूरी है।

जितने उदाहरण दिये गये हैं वह पुद्गल के दिये गये हैं, पुद्गल मे ऐसी शक्ति नही है कि वह निमित्त को निमित्त न बनावे वहा तो जैसा निमित्त मिलता है वैसा ही नैमेत्तिक कार्य हो जाता है परन्तु चैतन्य मे तो निज पुरुषार्थ है वह चाहे तो निमित्त बनावे (उसका अवलम्बन ले) अथवा न बनावे और अपने दृष्टिकोण को भी उसके प्रति बदल ले। इसलिए पुद्गल के उदाहरण चेतन मे नही लग सकते। निमित्तादि को समझने मे यह हमारी सबसे बड़ी गलती है।

अज्ञानी ऐसा मानता है कि दूसरे ने राग करा दिया अथवा दूसरे ने भला-बुरा कर दिया इसलिए उसके अभिप्राय मे पर पदार्थों के प्रति राग द्वेष कभी नही मिट सकता। जो रागादिक होने मे पर को कारण मानता है अथवा पर की वजह मानता है वह बहिरात्मा है यही बहिरात्मा का असली लक्षण है। ज्ञानी रागादि होने मे अपनी गलती मानता है अपने आत्मबल की कमी को कारण मानता है। अत अपने आत्मबल की कमी को आत्म अनुभव के द्वारा दूर करके पर को निमित्त नही बनाता अथवा पर का अवलम्वन नही लेता अत' नैमेत्तिक कार्य नही होता।

कोई कहे कि मोह कर्म के उदय को तो निमित्त माने कि उसने राग करा दिया। यह भी सही नही है। मोह के उदय मे जीव रागादिरूप निज मे परिणमन करता है तब उपचार से कहते हैं कि मोह के उदय ने राग करा दिया। अज्ञानी ऐसा मान कर पुरुषार्थ से वञ्चित रहता है। परन्तु ज्ञानी स्वभाव का अवलम्बन लेता है जितना आत्मबल लगाता है उतना कर्मका उदयाभावी क्षय हो जाता है, जितना आत्मबल की

कमी रहती है उतना रागादि होते हैं जो मोह का उदय कहलाता है। क्योकि ज्ञानी के रुचि नही है आत्मबल की कमी के कारण बरजोरी से होते हैं अत उसको कर्ता नही कहा, कर्म का कार्य कहा। परन्तु ज्ञानी उसको कर्म का दोष नही मानता अपने स्वरूप मे नही ठहर सकने के कारण हुए हैं अत स्वरूप मे नही ठहरने को अपनी कमी समझता है जिसको दूर करने का निरन्तर पुरुषार्थ करता है। अत रागादि होने मे पर का दोष देखता है वह मोह नदी से पार नही हो सकता यह सब पर्यायदृष्टि का विषय है— द्रव्यदृष्टि मे तो रागादि है ही नही। अगर रागादि पर के कारण से हुए हैं तो परके मेटने से ही मिटेंगे।

(अथान्य निमित्तत्व तयोस्तीर्यते) अब रागादि की उत्पत्ति मे अन्य द्रव्य की निमित्तता का निषेध करते हैं—

राग जन्मनि निमित्ततां परद्रव्यमेवकलयन्ति ये तु ते।
उत्तरन्ति न हि मोहवाहिनीं शुद्धबोधविधुरान्धबुद्धयः ॥२८॥

अन्वयार्थ—(**तु**) किन्तु (**ये**) जो पुरुष (**रागजन्मनि**) राग की उत्पत्ति मे (**परद्रव्यम्**) परद्रव्य को (**एव**) ही (**निमित्तताम्**) निमित्त-कारणरूप से (**कलयन्ति**) स्वीकार करते हैं (**ते**) वे पुरुष (**शुद्धबोध-विधुरान्धबुद्धयः**) वस्तुस्वरूप के ज्ञान से शून्य अतएव अन्धबुद्धि वाले (**हि**) निश्चय से (**मोहवाहिनीम्**) मोहरूपी नदी को (**न**) नही (**उत्तरन्ति**) पार कर सकते हैं।

स० टीका—(**ये-वस्तुस्वरूपानभिज्ञपक्षा-सांख्याः**) वस्तु के असली स्वरूप से अपरिचित जो साख्य-मतानुयायी लोग (**रागजन्मनि-रागद्वेषोत्पत्तौ**) राग और द्वेष की उत्पत्ति मे (**परद्रव्यमेव-आत्मान्यद्रव्यम्-रागोत्पत्तौ मणि कनक कामिनी प्रमुखम्, द्वेषोत्पत्तौ-विष विपक्ष कर्कश कण्टकादिद्रव्यम्, एव-निश्चयेन**) आत्मा से भिन्न द्रव्य को अर्थात् राग की उत्पत्ति मे मणि, स्वर्ण, स्त्री आदि प्रधान पदार्थों को तथा द्वेष की उत्पत्ति मे—विष, शत्रु, कठोर, कण्टक आदि द्रव्य को ही निश्चित रूप से (**निमित्तताम्-हेतुताम्**) निमित्तता-हेतुता-कारणता को (**कलयन्ति-प्रतिपादयन्ति**) प्रतिपादन करते हैं (**कलि वलि कामधेनु' इति कामधेनावुक्तत्वात् कलेः प्रतिपादनार्थं**) यहा कलिधातु का अर्थ—प्रतिपादन है क्योकि कलि और वलि यह दोनो धातुए कामधेनु अर्थ मे कही गई हैं (**तु-पुनः**) और (**ते-जड़धियः**) वे जडबुद्धि-पदार्थ ज्ञान से रहित पुरुष (**हि-निश्चितम्**) निश्चित रूप से (**मोह वाहिनीम्-महामोहनिम्नगाम्**)महा मोहरूप नदी को (**नोत्तर-न्ति-उत्तर्तुं न शक्नुवन्ति स्वरूपानभिज्ञत्वात्**) आत्मा के स्वरूप से अपरिचित होने के कारण उतरने पार करने मे नही समर्थ हो सकते (**कीदृक्षा.-सन्त**) कैसे होते हुए (**शुद्धेत्यादिः-शुद्धबोधेन-कर्ममलकलङ्क-रहितेन ज्ञानेनविधुरा रहिता अन्धा.-स्वरूपदर्शनाभावात्-बुद्धिर्मतिर्येषा ते**) कर्ममलरूपकलङ्क से रहित ज्ञान से शून्य होने के कारण, आत्मस्वरूप का दर्शन न होने से जिनकी बुद्धि अन्ध है (**तत्कथं न कारणम्**) वह बाह्यद्रव्य कारण क्यो नही है ? (**तथाहि-**) जैसा कि (**यद्धि यत्र भवति तद्घातेन तद्धन्यते एव**) यह निश्चित है कि जो जहा होता है उसके घात-विनाश से उसका विनाश हो ही जाता है (**यथा प्रदीप घाते प्रकाशो हन्यते**) जैसे प्रदीप के विनाश होने पर प्रकाश का विनाश होता है (**न हन्यते च स्त्र्यादीना विनाशे**

रागादिः तस्मात्तथा न) स्त्री आदि के विनाश होने पर भी रागादि का विनाश नही होता है इसलिए वैसा नही है (**तथा च यत्रहि यद्भवति तत्तद्घाते हन्यत एव**) जैसे कि निश्चय से जहा जो होता है उसके नाश होने पर उसका भी नाश होता ही है (**यथा प्रकाशघाते प्रदीपोहन्यते एव**) जैसे प्रकाश का विघात होने पर प्रदीप का विघात होता ही है (**न हन्यते च रागादीनां विनाशे कमनीय-कामिन्यादि.**) राग आदि के विनाश होने पर भी कमनीय-सुन्दर-कामिनी स्त्री आदि का विनाश नही होता है (**तस्मान्न तत्तथा**) इस-लिए वह वैसा नही है (**यत्तु न यत्र भवति**) और जो जहा नही होता (**तत्तद्घाते न हन्यते**) वह उसके घात होने पर भी नाश को प्राप्त नही होता (**यथा घटघाते घट प्रदीपो न हन्यते**) जैसे घट का विनाश होने पर भी घट प्रकाशक प्रदीप का नाश नही होता है (**न हन्यते स्त्रीघाते रागादिः**) स्त्री का घात होने पर भी स्त्री सम्बन्धी रागदि का विनाश नही होता है। (**यत्र हि यन्नभवति**) जो जहा नही होता है (**तत्तद्घाते न हन्यते**) वह उसके घात होने पर भी नाश को प्राप्त नही होता है (**यथा घट प्रदीपघाते घटो न हन्यते**) जैसे घट के प्रकाशक प्रदीप के नाश होने पर भी घट का नाश नही होता है। (**न रागादिघाते च स्त्र्यादिर्हन्यते**) राग आदि का घात होने पर भी स्त्री आदि का विनाश नही होता है (**तस्मान्न तत्त-थेति**) इसलिए वह वैसा नही है।

भावार्थ—व्यवहार नय की दृष्टि मे एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य के साथ निमित्त-नैमित्तिक भाव हैं निश्चयनय की दृष्टि से नही। निश्चय नय की दृष्टि से तो प्रत्येक द्रव्य का अपना स्वतन्त्र कार्य कारण भाव है उसमे परद्रव्य की जरा-सी भी अपेक्षा नही है। टीकाकार ने भी उक्त भाव को ही समर्थन किया है उन्होने अनेक उदाहरणो द्वारा यही बात स्पष्ट की है कि अन्तरङ्ग कारण के रहते हुए ही वाह्य कारण कार्य को उत्पत्ति में मात्र निमित्त होता है उत्पादक नही। उत्पादक तोएकमात्र अन्तरङ्ग कारण ही होता है। अन्तरङ्ग कारण के नाश होने पर वाह्य कारण के रहते हुए भी कार्योत्पत्ति नही होती है। वाह्य कारण के नाश होने पर भी अन्तरङ्ग कारण से कार्य की उत्पत्ति होती है अत वाह्य कारण को ही कार्यो-त्पत्ति मे प्रमुखता प्रदान करना अज्ञानता सूचक ही नही है प्रत्युत् न्यायनीति के सर्वथा विरुद्ध भी है। अत जो मुमुक्षु हैं मोहरूपी महानदी को तैरना चाहते हैं—उससे पार होना चाहते हैं उनका कर्तव्य है कि वे सर्वप्रथम कार्यकारण भाव को सम्यग्ज्ञान के द्वारा सुदृढता के साथ निश्चित करें। रागादि की उत्पत्ति में परद्रव्य को ही कारणता है ऐसा कहने वाले साख्यो के सिद्धान्त का खण्डन करने के हेतु टीकाकार ने ऐसी अनेक व्याप्तियाँ प्रस्तुत की हैं जिनसे उक्त सिद्धान्त का खण्डन सहज ही हो जाता है वे व्याप्तियाँ निम्न प्रकार है—

(१) जो जिस आधार में रहता है वह उस आधार के नष्ट होने पर नष्ट हो जाता है। जैसे — दीपकरूप आधार के नाश होने पर प्रकाशरूप आधेय का भी नाश हो जाता है। लेकिन स्त्री आदि के नाश होने पर भी रागादि का नाश नही होता है।

(२) जहाँ जो होता है वह उसके नाश होने पर नाश को प्राप्त करता है। जैसे—प्रकाश के नाश

होने पर प्रदीप का नाश हो जाता है। लेकिन रागादि के नाश होने पर भी स्त्री आदि का नाश नही होता है अतएव स्त्री आदि को रागादि की उत्पत्ति मे कारणता नही है।

(३) जो जहाँ नही होता है वह उसके नाश होने पर नाश को प्राप्त नही होता है। जैसे—घट के नाश होने पर भी उसके भीतर रखे हुए दीपक का नाश नहीं होता है, वैसे ही स्त्री के नाश होने पर भी रागादि का नाश नही होता है।

(४) जहाँ जो नही होता है उसके नाश होने पर भी उसका नाश नहीं होता है। जैसे—दीपक के नाश हो जाने पर भी घट का नाश नही होता है। वैसे ही राग आदि का नाश होने पर भी स्त्री आदि का नाश नही होता है। इस प्रकार से रागादि की उत्पत्ति मे आत्मा से भिन्न किसी अन्य द्रव्य को कारण मानने वाले साख्यो के सिद्धान्त का निरसन-खण्डन हुआ।

(अथ बोधाबोधयोरन्यत्वमुनीयते) अब बोध-ज्ञान तथा अबोध-अज्ञान इन दोनो मे जुदाई को दिखाते हैं—

पूर्णैकाच्युत शुद्धबोधमहिमा बोधो न बोध्यादयं
यायात्कामपि विक्रियां तत इतो दीपः प्रकाश्यादिव।
तद्वस्तुस्थितिबोधबन्ध्यधिषणा एते किमज्ञानिनो
रागद्वेषमयीभवन्ति सहजां मुञ्चन्त्युदासीनताम्॥२६॥

अन्वयार्थ—(पूर्णैकाच्युतशुद्धबोधमहिमा) परिपूर्ण अद्वितीय-अविनाशी कर्ममल से रहित अतएव शुद्ध ज्ञान की महिमा वाला **(अयम्)** यह **(बोधा)** ज्ञान **(बोध्यात्)** बोध्य जानने योग्य-ज्ञेय पदार्थ से किंचित मात्र **(विक्रियाम्)** विकार को **(न)** नही **(यायात्)** प्राप्त होता है **(इव)** जैसे **(इतः)** इस **(प्रकाश्यात्)** प्रकाशने योग्य-घटपदादि पदार्थ से **(दीप)** दीपक **(विक्रियाम्)** विकार को **(न)** नही **(यायात्)** प्राप्त होता है। **(तद्)** इसलिए **(वस्तुस्थितिबोधबन्ध्यधिषणा.)** वस्तु की स्वभाव रूप मर्यादा के ज्ञान से शून्य बुद्धि वाले **(एते)** ये **(अज्ञानिन)** अज्ञानी-वस्तु स्वरूप से अपरिचित-अनभिज्ञ पुरुष **(किम्)** क्यो **(रागद्वेषमयी)** राग-द्वेषरूप **(भवन्ति)** हो रहे हैं **(च)** और **(सहजाम्)** स्वाभाविक **(उदासीनताम्)** उदासीनता-मध्यस्थ वृत्ति को **(किम्)** क्यो **(मुञ्चंति)** छोड रहे हैं।

सं० टीका—(इव-यथा) जैसे **(इत-अस्मात्)** इस **(प्रकाश्यात्-प्रकाशयितुं योग्यात् घटपटादे)** प्रकाशने योग्य घट पट आदि पदार्थों से **(दीप—कज्जलध्वजः)** काजल ध्वजा वाला—दीपक **(कामपि-)** किसी भी **(विक्रियाम्)** विक्रिया—विकार को **(न)** नही **(याति)** प्राप्त होता है **(देवदत्तो हि यज्ञदत्तमिव हस्ते गृहीत्वा मा प्रकाशयेति घट पटादिः स्वप्रकाशने दशेन्धनं न प्रयोजयति)** जैसे देवदत्त यज्ञदत्त का हाथ पकड कर कहता है कि तुम मुझे प्रकाशित करो वैसे ही घट पट आदि पदार्थ अपने को प्रकाशित करने के लिए दीपक से प्रेरणा नही करते हैं **(प्रदीपोऽपि नचाय. कान्तोपलाकृष्टाय. सूचीवत् स्वस्थानोत्प्र-**

च्युत्य तं प्रकाशयितुमायाति) दीपक भी अय कान्तोपलाकृष्ट-चुम्बक पाषाण से आकृष्ट-खीची हुई अय सूचीवत्—लोहे की सुई के समान-अपने स्थान से खिचकर-हटकर उस प्रकाशनीय पदार्थ को प्रकाशित करने के लिए नही जाता है। (**वस्तुस्वभावस्य परेणोत्पादयितुमशक्यत्वात्-परमुत्पादयितुमशक्यत्वाच्च**) क्योकि किसी वस्तु का स्वभाव किसी अन्य वस्तु के द्वारा उत्पन्न नही किया जा सकता है इतना ही नही प्रत्युत् कोई वस्तु अपने से भिन्न किसी वस्तु को उत्पन्न करने मे समर्थ नही हो सकती है। (**तदसन्निधाने तत्सन्निधाने च स्वरूपेणैव स प्रकाशते**) किन्तु प्रकाशनीय पदार्थ के समीप मे नही रहने पर तथा रहने पर भी वह दीपक स्वभाव से ही प्रकाशमान रहता है (**तथा अयं बोधः-ज्ञानम्**) वैसे ही यह ज्ञान भी प्रकाशमान रहता है स्वभाव से। प्रकाशनीय पदार्थ हो और न भी हो। (**ततः-तस्मात् बहिरर्थात्-शब्दरूप-गन्धरसस्पर्शगुणद्रव्यादेः**) शब्दरूप गन्ध रस और स्पर्श गुणवान द्रव्यरूप बाह्य पदार्थ से (**बोध्यात्-बोद्धुं ज्ञातुं योग्यात**) बोध-जानने योग्य वस्तु से (**कामपि विक्रियां**) किसी विक्रिया को नही प्राप्त होते (**देवदत्तो यज्ञदत्तमिव करे गृहीत्वा मां शृणु मां पश्येत्यादिनि स्वज्ञाने नात्मानं प्रेरयति न चात्माप्ययः सूचीवत स्वस्थानात् तान् ज्ञातुमायाति किं तु स्वभावत एव जानाति-इति विक्रियां न यायात् न गच्छेत्**) जैसे देवदत्त यज्ञदत्त को हाथ पकड कर कहता है कि तुम मुझे सुनो, मुझे देखो इत्यादि रूप अपने ज्ञान मे अपने को प्रेरित नही करता है वैसे ही यह आत्मा भी लोहे को सुई के समान अपने स्थान से हटकर उन ज्ञातव्य पदार्थो को जानने के लिए उनके समीप मे भी नही जाता है किन्तु अपने ज्ञायक स्वभाव से ही उनको जानता है इसलिए किसी भी प्रकार के विकार को प्राप्त नही करता है (**कीदृक्षोबोध**) कैसा बोध (**पूर्णैकेत्यादिः-पूर्णः-स्वगुणपर्यायैः सम्पूर्णः एकः अच्युतः-अक्षोभ्य शुद्धः—कर्ममलरहित. स चासौ बोधश्च तस्य तेन वा महिमा-माहात्म्यं यस्य सः**) अपने गुण पर्यायो से परिपूर्ण, अद्वितीय, क्षोभरहित कर्ममल कलङ्क से रहित अतएव शुद्धज्ञान की महिमा से युक्त (**तत·-तस्मात्**) इसलिए (**एते-प्रसिद्धा-बौद्धाः**) ये प्रसिद्ध बौद्ध (**ज्ञानेन तदाकार तदुत्पत्ति तदध्यवसाय वादिनः**) ज्ञान से परार्थाकार, पदार्थ से उत्पन्न होने वाले तथा पदार्थ का अध्यवसाय-निश्चय करने वाले ज्ञान को स्वीकार करने वाले (**अज्ञानिन·**) अज्ञानी—ज्ञान के स्वरूप को नही जानने वाले अतएव अज्ञानो (**किम्किमु**) क्यो (**रागद्वेषमया**) राग द्वेष से युक्त अर्थात्—रागी-द्वेपी (**भवन्ति**) हो रहे है (**कीदृक्षा ?**) कैस (**वस्त्वित्यादि-वस्तुन· स्थिति.-नयोपनयैकान्त समुच्चय-रूपातस्याबोधेन बन्ध्या-रहिता धिषणा मतिर्येषा ते**) नयैकान्तो तथा उपनयैकान्तो का समुदाय रूप वस्तु को स्वभावभूत स्थिति से शून्य बुद्धि वाले (**पुन सहजा-स्वभावजाम्**) स्वभाव से उत्पन्न होने वाली (**उदासीन-ताम्-रागद्वेषाभावलक्षणाम्**) राग-द्वेष से शून्य रूप—उदासीनता को अर्थात् (**माध्यस्थम्**) मध्यस्थता को (**कथम्**) क्यो (**मुञ्चन्ति**) त्यागते है।

भावार्थ—जैसे घट पट आदि प्रकाशनीय पदार्थो से प्रकाशक दीपक की उत्पत्ति नही होती है प्रत्युत् दीपक अपने प्रकाशक स्वभाव से ही दीपक है। सर्वथा स्वतन्त्र है। स्वापेक्ष है। पर से सदा निरपेक्ष है। वैसे ही ज्ञान एक अविनाशी कर्ममल से शून्य परिपूर्ण महिमाशाली गुण है ज्ञेय से पृथक् अस्तित्व युक्त

आत्मिक गुण है। इसका ज्ञेय के साथ मात्र ज्ञायक सम्बन्ध है उत्पादक सम्बन्ध नही है। अतएव ज्ञेय के निमित्त से ज्ञान मे कोई भी कभी भी थोडा-सा भी विकार पैदा नही होता है यह ज्ञान की वास्तविकता है। टीकाकार ने अज्ञानी शब्द से बौद्ध दार्शनिको की ओर सकेत करते हुए कहा है कि बौद्ध दार्शनिक ज्ञान की उत्पत्ति पदार्थ से मानते है और वह पदार्थ से उत्पन्न हुआ ज्ञान पदार्थाकार होता हुआ पदार्थ का ही निश्चायक होता है ऐसी मान्यता वाले बौद्धो के प्रति शोक प्रकट करते हुए ग्रन्थकार कहते है कि ज्ञान की उत्पत्ति ज्ञान से ही होती है ज्ञेय से नही। ज्ञेय तो ज्ञय ही है वह ज्ञान नही है। साथ ही जो ज्ञेय स्वभावत जड है अचेतन है उससे चेतन स्वरूप ज्ञान की उत्पत्ति कैसे हो सकती है। अतः ज्ञान ज्ञेय से सर्वथा जुदा रहने वाला आत्मा का खास गुण है। वह राग-द्वेष आदि विकारो से रहित होने के कारण परिपूर्ण शुद्ध है अविनश्वर है। ऐसा ज्ञान के स्वरूप का निर्णय करने मे असमर्थ-अशक्त अज्ञानी जन ही अपनी स्वाभाविक मध्यस्थता को छोडकर रागी-द्वेषी हो क्यो दु खी हो रहे हैं। क्यो नही वे यथार्थ वस्तु स्वरूप को समझ कर मध्यस्थ वृत्ति को अपनाते है ॥२६॥

(अथ निश्चय प्रतिक्रमण प्रत्याख्यानालोचना चारित्रं विन्दति) अब निश्चय प्रतिक्रमण, निश्चय प्रत्याख्यान तथा निश्चय आलोचनारूप चारित्र का प्रतिपादन करते हैं—

रागद्वेषविभावमुक्तमहसो नित्यं स्वभावस्पृशः
पूर्वागामिसमस्तकर्मविकला भिन्नास्तदात्वोदयात् ।
दूरारूढचरित्रवैभवबलां चञ्चच्चिदर्चिमयीं
विन्दन्ति स्वरसाभिषिक्तभुवनां ज्ञानस्य सञ्चेतनाम् ॥३०॥

अन्वयार्थ—(रागद्वषविभावमुक्तमहसः) राग-द्वेष रूप विभाव से शून्य तेज वाले **(नित्यम्)** सदा-हमेशा **(स्वभावस्पृश)** अपने स्वभाव को स्पर्श करने वाले **(पूर्वागामिसमस्त कर्मविकलाः)** पूर्व तथा आगामी काल के समस्त कर्मो से रहित **(तदात्वोदयात्)** वर्तमान काल के कर्मोदय से **(भिन्ना)** पृथक् रहने वाले ज्ञानीजन **(दूरारूढ़चरित्रवैभवबलात्)** अतिशय रूप से धारण किये हुए चारित्र के वैभव के बल से युक्त **(चञ्चच्चिदर्चिमयीम्)** प्रकाशमान चैतन्य की ज्योति से युक्त **(स्वरसाभिषिक्तभुवनाम्)** अपने चैतन्य रूप रस से लोक को व्याप्त करने वाली **(ज्ञानस्य)** ज्ञान की **(सञ्चेतनाम्)** समीचीन चेतना को अर्थात् ज्ञान चेतना को **(विन्दति)** अनुभव करते हैं।

सं० टीका—(रागेत्यादिः-रागद्वेषौ तौ च तौ विभावौ च विभावपर्यायौ ताभ्या मुक्त महो येषा ते पुरुषा·) जिनका स्वाभाविक तेज राग-द्वेष रूप विभाव भावात्मक पर्यायो से रहित है वे पुरुष **(ज्ञानस्य-सञ्चेतनां-सम्यग्ज्ञायकत्वम्)** ज्ञान की समीचीन चेतना को अर्थात् सम्यग्ज्ञानिता को **(विन्दन्ति-लभन्ते)** प्राप्त करते हैं। **(कीदृक्षाम्-ताम्)** कैसी ज्ञान चेतना को **(चञ्चदित्यादि.-चञ्चत्-देदीप्यमाना चित्-दर्शन-ज्ञानम्-सैवार्चिः-प्रकाश -तेन निर्वृत्ताम्)** देदीप्यमान-अतिशय प्रकाशमान ज्ञान दर्शन रूप तेज से निष्पन्न

(स्वेत्यादि-स्वरय रसेन स्वभावेन-अभिषिक्तं-सिञ्चितम्-लक्षणया ज्ञातम्-भुवनं-त्रैलोक्यं यथा ताम्) जिसने अपने स्वभावरूप ज्ञान से तीन लोक को अवगत कर लिया है **(कीदृक्षास्ते)** वे ज्ञानी पुरुष कैसे है। **(नित्यम्-अविच्छिन्नतया-निरन्तरम्)** बिना विच्छेद के अर्थात् निरन्तर-हमेशा **(स्वभावस्पृशः-स्वभावं-चैतन्यस्वरूपम् नित्यस्वभावमितिपाठः नित्यश्चासौ स्वभावश्च शुद्ध ज्ञान स्वभावः तं स्पृशन्ति-ध्यानविषयी कुर्वन्ति इति)** अपने चैतन्य स्वरूप को ध्यान मे लाने वाले अर्थात् नित्य शुद्ध ज्ञान स्वभाव का ध्यान करने वाले **(पूर्वेन्यादिः-पूर्वसमस्तकर्मभिर्विकला.-यत्पूर्वकृतं शुभाशुभं कर्म तस्मान्निवर्तयत्यात्मानं तु य स प्रतिक्रमणं भविष्यत्समस्त कर्म विकला -यद्भविष्यच्छुभाशुभ कर्म तस्मान्निवर्तते य आत्मान स प्रत्याख्यानम्-अनेनात्मनः प्रतिक्रमण प्रत्याख्याने निगदिते)** पूर्व मे किये हुए समस्त शुभ तथा अशुभ कर्मों से आत्मा को पृथक् करना रूप प्रतिक्रमण को तथा भविष्य मे किये जाने वाले समस्त शुभ तथा अशुभ कर्मों से आत्मा को दूर रखनेरूप प्रत्याख्यान को करने वाले—अर्थात् उक्त प्रकार से प्रतिक्रमण तथा प्रत्याख्यान से आत्मा को विभूषित करने वाले **(तदात्वोदयात्-तदातनोदीर्णकर्मणः)** वर्तमान काल मे उदय या उदीर्णा को प्राप्त कर्मों से **(भिन्नाः)** अपने को पृथक् रखने वाले **(अनेनालोचनमुक्तम्)** इस वचन से आलोचना कही गई **(यच्छुभाशुभ कर्मोदीर्णं सम्प्रतिचानेक विस्तरविशेष यश्च नित्यमालोचयति स खल्वालोचना चेतयतेति)** अर्थात् वर्तमान मे अनेक विस्तार विशेष वाले जो शुभ और अशुभ कर्म उदय या उदीर्णा को प्राप्त हुए हैं उनकी जो नित्य आलोचना करते है **(कुत. लभन्तेताम्)** उस ज्ञान सञ्चेतना को कैसे प्राप्त करते है ? **(दूरेत्यादिः-दूरारूढं नित्यं प्रत्याख्यान प्रतिक्रमणा लोचनात् स्वभावात् दूर-अतिशयेन-आरूढ-सम्प्राप्तं-चरित्रं-तत्त्रितय लक्षण तस्य वैभव माहात्म्यं तस्य बलात्-सामर्थ्यात्)** निरन्तर प्रतिक्रमण प्रत्याख्यान और आलोचनारूप स्वभाव से अतिशयरूप से प्राप्त हुए चारित्र-प्रतिक्रमण आदि तीन रूप चारित्र के माहात्म्य के बल से **(इति स्वरूपं चारित्र निगदितम्)** इस प्रकार से स्वरूपाचरण चारित्र का स्वरूप कहा गया है।

भावार्थ—जीव पहले कर्मचेतना और कर्मफलचेतना से भिन्न अपनी ज्ञानचेतना का स्वरूप आगम प्रमाण, अनुमानाप्रमाण और स्वसवेदनप्रमाण से जानता है और उसका श्रद्धान दृढ करता है यह तो चौथे-पाचवें और छठे मे होता है और जब अप्रमत्त अवस्था होती है तब जीव अपने स्वरूप का ही ध्यान करता है। उस समय, उसने जिस ज्ञानचेतना का प्रथव श्रद्धान किया था उसमे वह लीन होता है और श्रेणी चढकर केवल ज्ञान उत्पन्न करके साक्षात् ज्ञान चेतनारूप हो जाता है।

जो अतीत कर्म के प्रति ममत्व को छोड दे वह आत्मा प्रतिक्रमण है, जो अनागत कर्म न करने की प्रतिज्ञा करे—उन भावो का ममत्व छोडे वह आत्मा प्रत्याख्यान है और जो उदय मे आये हुए वर्तमान कर्म का ममत्व छोडें वह आत्मा आलोचना है। सदा ऐसे प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और आलोचनापूर्वक प्रवर्तमान आत्मा चारित्र है ॥३०॥

(अथ ज्ञान सञ्चेतना चेतयते) अब ज्ञान सञ्चेतना का चिन्तन प्रस्तुत करते हैं—

ज्ञानस्य सञ्चेतनयैवनित्यं प्रकाशते ज्ञानमतीव शुद्धम् ।
अज्ञान सञ्चेतनया तु धावन् बोधस्यशुद्धि निरुणद्धि बन्धः ॥३१॥

अन्वयार्थ—(**ज्ञानस्य**) ज्ञान के (**सञ्चेतनया**) सम्यक् स्वरूप के सचेतना से (**एव**) ही (**नित्यम्**) हमेशा (**अतीव**) अत्यधिक अर्थात् निरावरण (**शद्धम्**) शुद्ध-कर्म से रहित (**ज्ञानम्**) ज्ञान (**प्रकाशते**) प्रकट-प्रकाशित होता है। (**तु**) और (**अज्ञानसञ्चेतनया**) अज्ञान की सञ्चेतना से (**बन्धः**) नवीन कर्मों का बन्ध (**धावन्**) शीघ्रता से (**बोधस्य**) ज्ञान की (**शुद्धिम्**) शुद्धता को (**निरुणद्धि**) रोकता है।

स० टी०—(**ज्ञानस्य-आत्मनः-गुणे गुणिन उपचार.**) ज्ञान अर्थात् आत्मा के "यहाँ गुण मे गुणी का उपचार किया गया है" (**सञ्चेतनया-सम्यग्ध्यानेन**) समीचीन-ध्यान-चिन्तन से (**एव-निश्चयेन**) निश्चय से (**ज्ञानं-बोधः**) ज्ञान-बोध (**नित्य-निरन्तरम्**) सदा-हमेशा (**प्रकाशते-चकास्ति**) देदीप्यमान रहता है (**किम्**) कैसा (**अतीवशुद्धम्-अत्यन्तं निरावरणम्**) अतिशय आवरण रहित (**तु-पुनः**) और (**अज्ञान सञ्चेतनया-ज्ञानादन्यत्र-इदमहमिति चेतन-अज्ञानचेतना सा द्विधा-कर्मचेतना कर्मफल चेतना च**) ज्ञान से भिन्न पदार्थ मे "यह मैं हूँ" इस प्रकार की पर मे आत्मरूप बुद्धि का होना - अज्ञान चेतना है। वह अज्ञान चेतना कर्म चेतना तथा कर्म फल चेतना के भेद से दो प्रकार की है। (**तत्र ज्ञानादन्यत्र इदमहं करोमीति चेतनमाद्या**) उनमे-ज्ञान से भिन्न वस्तु मे इसको मैं करता हूँ—बनाता हूँ ऐसा विचार करना पहली कर्म चेतना है। (**वेदयेऽहं ततोऽन्यत्रेदमिति चेतना द्वितीया**) अपने से भिन्न पदार्थ मे "इसे मैं भोगता हूँ" ऐसा चिन्तन करना दूसरी कर्म फल चेतना है (**तया**) उस अज्ञान चेतना से (**बन्धः-अष्टविध कर्मणा बन्धः**) ज्ञानावरण आदि आठ प्रकार के कर्मों का बन्ध (**धावन्-आस्कन्दन् सन्**) पीछे से दौडता हुआ (**बोधस्य-ज्ञानस्य**) ज्ञान की (**शुद्धिम्**) शुद्धि को (**निरुणद्धि-आच्छादयति**) आच्छादन करता है (**अतो मोक्षार्थिना सा हेया**) इसलिए मोक्षार्थी उसे छोडे-त्यागें।

भावार्थ—आत्मा से भिन्न किसी भी पदार्थ का कर्तृत्व तथा भोक्तृत्व का अहङ्कार ही कर्मचेतना तथा कर्मफल चेतना है। ये दोनो ही अज्ञान चेतनाये हैं। जितना अपने को ज्ञानरूप अनुभव करेगा उतनी अशुद्धता-रागादि दूर होगे और जितना अपने को कर्म और कर्मफल रूप अनुभव करेगा उतना मोह गाढा होता जायेगा। अत अपने को ज्ञानरूप अनुभव करे तो ज्ञान शुद्ध होकर केवल ज्ञानरूप हो जाता है। यह चाहे तो अपने को ज्ञानरूप अनुभव कर सकता है। अनुभव करने वाला आप ही है। अपने को कर्म और कर्मफलरूप अनुभव करना ससार का बीज है और अपने को ज्ञानरूप अनुभव करना मोक्ष का बीज है।

(**अथ नैष्कर्म्यमवलम्बते**) अब निष्कर्मता "कर्म रहितपन" का अवलम्बन करते हैं—

कृतकारितानुमननैस्त्रिकालविषयं मनोवचनकायैः
परिहृत्य कर्म सर्वं परमं नैष्कर्म्यमवलम्बे ॥३२॥

अन्वयार्थ—(**त्रिकालविषयम्**) भूत-भविष्यत् तथा वर्तमान काल सम्बन्धी (**सर्वम्**) समस्त (**कर्म**)

कर्मों को (**कृतकारितानुमननैः**) कृतकारित तथा अनुमनन-अनुमोदन (**मनोवचनकायैः**) तथा मन वचन और काय से (**परिहृत्य**) परिहार-त्याग करके (**अहम्**) मैं (**परमम्**) सर्वश्रेष्ठ (**नैष्कर्म्यम्**) कर्म शून्यता का (**अवलम्बे**) अवलम्बन करता हूँ।

सं० टी०—(**परमम्-उत्कृष्टतमम्**) अतिशय श्रेष्ठ (**नैष्कर्म्यम्-कर्मस्वभावातिक्रान्तम्-स्वम्**) कर्म के स्वभाव से शून्य अपनी आत्मा का (**अवलम्बे-अहमवलम्बयामि**) मैं अवलम्बन करता हूँ (**कि कृत्वा**) क्या करके (**त्रिकाल विषयम्-अतीतानागत वर्तमान विषयम्**) अतीत-भूत-अनागते-भविष्यत् और वर्तमान काल सम्बन्धी (**सर्वम्**) समस्त (**कर्म**) कर्म को (**कृतकारितानुमननै-कृतं स्वयम्, कारितं परै., अनुमनितम्-परकृतानुमोदितम्-मनोवचनकायै. परिहृत्य-निराकृत्य**) कृत—स्वय किया हुआ कारित—दूसरो से कराया हुआ अनुमानित—दूसरे के द्वारा किये हुए का अनुमोदन किया गया इनको मन वचन और शरीर से निराकरण करके (**मनोवचनकायैः कृतकारितानुमननैः यदतीतकर्मनिराकरण तत्प्रतिक्रमणम्**) मन वचन-काय कृत कारित अनुमनन से जो अतीत काल सम्बन्धी कर्मों का निराकरण किया जाता है उसे प्रतिक्रमण कहते है। (**यत्तैस्तैर्वर्तमानकर्मनिराकरणमालोचना**) **और** जो उन्ही मन वचन काय कृत कारित अनुमोदनो द्वारा वर्तमान काल सम्बन्धी कर्मों का निराकरण किया जाता है उसे आलोचना कहते हैं। (**यद्भविष्यत्कर्मतैस्तैर्निराकरणम् तत्प्रत्याख्यानम्**) तथा जो भविष्यत्काल सम्बन्धी कर्मों का उन्ही मन-वचन काय कृत कारित अनुमोदनो द्वारा निराकरण किया जाता है उसे प्रत्याख्यान कहते है (**तदक्षसञ्चारिणानीयते**) उन्ही को अक्षसचार द्वारा दिखाते हैं (**"पढमक्खो अन्तगतो आदिगदो सकमेदि विदियक्खो" इति सूत्रेण**) अर्थात् प्रथमाक्ष जब क्रम से घूमता हुआ अन्त तक पहुच कर आदि स्थान पर आ जाता है तब द्वितीय अक्ष प्रारम्भ होता है। इस गाथा सूत्र से—(**तथाहि-यन्मनसाकृत दुष्कृतम् मे मिथ्येति**) मेरे द्वारा जो पाप मन से किया गया हो वह मेरा मिथ्या हो (**यन्मनसा कारित मिथ्या मे दुष्कृतमिति**) जो पाप मेरे द्वारा मन से कराया गया हो वह पाप मेरा मिथ्या हो (**यन्मनसानुमानितं मिथ्या मे दुष्कृतमिति**) जो पाप मेरे द्वारा मन से अनुमोदित किया गया हो वह पाप मेरा मिथ्या हो। (**यन्मनसा कृत कारित मिथ्या-मे दुष्कृतमिति**) जो पाप मेरे द्वारा मन से किया गया तथा कराया गया हो वह पाप मेरा मिथ्या हो (**इति-**) इस प्रकार से (**एकसंयोगद्विसंयोगत्रिसंयोगोत्पन्नभेदा, एकोन्नपञ्चाशत् प्रतिक्रमणभेदा-जायन्ते**) एक सयोगी दो सयोगी तथा तीन सयोगी के भेद से प्रतिक्रमण के उनचास भेद हो जाते है।

भावार्थ—यहाँ ज्ञानी कृत-कारित अनुमोदन—मन वचन काय से भूत भविष्यत् तथा वर्तमान काल सम्बन्धी समस्त कर्मों के परित्याग की प्रतिज्ञा कर परिपूर्ण निष्कर्ष दशा का आलम्बन ले रहा है। भूतकाल सम्बन्धी प्रतिक्रमण के उनचास भेद होते है जो मन-वचन काय कृत कारित अनुमनन के एक के सयोग से दो के सयोग से तथा तीनो के सयोग से निष्पन्न होते हैं।

(**अथ स्वस्वरूपप्रतिक्रमण चङ्क्रम्यते**) अब अपनी आत्मा के स्वरूप मे भूतकालिक कर्मों का अभाव स्वरूप प्रतिक्रम प्रस्तुत करते हैं—

मोहाद्यदहमकार्षं समस्तमपि कर्म तत्प्रतिक्रम्य ।
आत्मनि चैतन्यात्मनि निष्कर्मणि नित्यमात्मना वर्ते ॥३३॥

अन्वयार्थ—(**अहम्**) मैंने (**मोहात्**) अज्ञान से (**यत्**) जो (**कर्म**) कर्म (**अकार्षम्**) किये हैं (**तत्**) उन (**समस्तम्**) समस्त (**कर्म**) कर्मों को (**प्रतिक्रम्य**) निराकरण करके (**अहम्**) मैं (**निष्कर्मणि**) कर्मरहित (**चैतन्यात्मनि**) चैतन्य स्वरूप (**आत्मनि**) आत्मा मे (**आत्मना**) आत्मा से (**नित्यम्**) सदा (**वर्ते**) प्रवृत रहा हूँ ।

सं० टीका—(**आत्मनि-चिद्रूपे**) चैतन्य स्वरूप आत्मा मे (**आत्मना-ज्ञानेन कृत्वा**) ज्ञान से (**नित्यम्-वर्ते-सततमह प्रवर्तयामि**) हमेशा प्रवर्तन करता हूँ । (**कीदृशे**) कैसे आत्मस्वरूप मे (**चैतन्यात्मनि-चेतना-स्वरूप**) ज्ञानदर्शन रूप चेतनायुक्त आत्मा मे (**पुन कीदृशे**) फिर कैसे (**निष्कर्मणि-कर्ममलातीते**) कर्मरूप मल से रहित (**किं कृत्वा**) क्या करके (**तत्-पूर्वनिबद्धम्**) पूर्वकाल मे बाधे हुए उन (**समस्तमपि कर्म**) सभी कर्मों को (**प्रतिक्रम्य-निराकृत्य**) निराकरण करके (**तत्किम्**) वह कर्म कैसा (**यत्कर्म**) जिस कर्म को (**अहम्-अहकम्**) मैंने (**मोहात्-भ्रान्तिविजृम्भणात्**) मोह-भ्रम के विस्तार से (**अकार्षम्-कृतवान्**) किया था बाधा था (**यदहमचीकरम्**) जिसे मैंने कराया था (**यदह कुर्वन्तमप्यन्य समन्वज्ञासिषम्**) और जिसे करने वाले किसी दूसरे की मैंने अनुमोदना की थी (**मनसा वचसा वपुषा च**) मन से वचन से तथा काय से (**एतत्स्वस्वरूपप्रतिक्रमणम्**) यह अपने स्वरूप का प्रतिक्रमण है । (**इति प्रतिक्रमणकल्प. समाप्त.**) इस तरह से यह प्रतिक्रमण कल्प समाप्त हुआ ।

भावार्थ—आत्मस्वरूप का ज्ञाता सम्यग्ज्ञानी अपने ही ज्ञान के द्वारा आत्मा के सच्चे स्वरूप को जान कर पूर्व सञ्चित कर्मों का प्रतिक्रमण-परिहार करके स्वय आत्मस्वरूप मे स्थिर होने की प्रतिज्ञा करता है ॥३३॥

(**अथालोचनामालोचयति**) अब आलोचना का प्रतिपादन करते है—

मोहविलासविजृम्भितमिदमुदयत्कर्म सकलमालोच्य ।
आत्मनि चैतन्यात्मनि निष्कर्मणि नित्यमात्मना वर्ते ॥३४॥

अन्वयार्थ—(**मोहविलास विजृम्भितम्**) मोह के विलास-माहात्म्य से वृद्धि को प्राप्त (**उदयत्**) उदय मे आये हुए—फल प्रदान करने वाले (**इदम्**) इस (**सकलम्**) सभी (**कर्म**) कर्म की (**आलोच्य**) आलोचना करके (**अहम्**) मैं (**निष्कर्मणि**) कर्मों से रहित (**चैतन्यात्मनि**) चैतन्य स्वरूप (**आत्मनि**) आत्मा मे (**आत्मना**) आत्मा से (**नित्यम्**) निरन्तर (**वर्ते**) प्रवृत्ति करता हूँ ।

सं० टी०—(**आत्मनि**) आत्मा मे (**आत्मना**) आत्मा से (**नित्यम्**) सदा (**वर्ते**) प्रवृत्ति करता हूँ (**चैतन्यात्मनि**) चैतन्य स्वरूप (**निष्कर्मणि च**) और कर्मों से रहित (**कि कृत्वा**) क्या करके (**इदम्-प्रसिद्धम्**) इस प्रसिद्ध (**सकल-समस्तम्**) समस्त (**उदयत्-उदयनिषेकावस्थापन्नम्**) जिसके निषेक-कर्म पर-

माणुओ का समूह-उदय अवस्था-फलदान की दशा को प्राप्त है **(कर्म-ज्ञानावरणादि)** ज्ञानावरण आदि कर्म की **(आलोच्य-सम्यग्विवेच्य)** आलोचना-समीचीन विवेचना अर्थात् आत्मस्वरूप से पृथकता करके **(किम्भूतम्)** कैसे कर्म का **(मोहेत्यादि:-मोहस्य-रागद्वेष रूपस्य विलास· विलसनं तेन विजृम्भितं-निष्पादितम्)** राग-द्वेष रूप मोह के विलास से सम्पादित **(अत्राप्यक्षसचार.)** यहाँ भी अक्ष सचार **(प्रदर्श्यते)** दिखाते है **(करोमि-कारयामि समनुजानामि मनसा वचसा कायेन)** मन से वचन से और काय से करता हूँ कराता हूँ और करने वाले की अनुमोदना करता हूँ **(मनसा कर्म न करोमि)** मन से कर्म नही करता हूँ **(मनसा न कारयामि)** मन से नही कराता हूँ **(मनसा कुर्वन्तमप्यन्य न समनुजानामि)** कर्म को करने वाले किसी अन्य की मैं मन से अनुमोदना भी नही करता हूँ। **(मनसा न करोमि न कारयामि)** मन से न करता हूँ और न कराता हूँ **(मनसा न करोमि कुर्वन्तमप्यन्यं न समनुजानामि)** मन से न तो करता हूँ और न करने वाले किसी दूसरे की अनुमोदन ही करता हूँ **(एवमेकद्वित्रिसंयोगेन आलोचनाभेदा एकोन्नपचाशत् सम्बोभुर्वात)** इस प्रकार से एक दो तथा तीनो के सयोग से आलोचना के उनचास भेद हो जाते हैं **(इत्यालोचनाकल्पः समाप्तः)** इस प्रकार से यह आलोचनाकल्प पूर्ण हुआ।

भावार्थ—स्वरूपाचरण चारित्र मे निरत ज्ञानी यह विचार करता है कि जो कर्म उदय मे आया है वह तो जड है उसका कर्ता मैं नही हूँ। अतएव वह मेरा कर्म नही है तब मैं उसके फल का भोक्ता भी कैसे हो सकता हूँ। मैं तो अपने चैतन्य भावो का ही कर्ता हूँ अतएव भोक्ता भी उन्ही का हूँ। इस प्रकार से वह आत्मज्ञानी कर्मो की आलोचना कर अपने चैतन्य स्वभाव मे ही लीन रहता है जिसमे परपुद्गलादि द्रव्य का जरा-सा भी लगाव नही है ॥३४॥

(अथ स्वप्रत्याख्यानमाख्याप्यते) अब आत्म प्रत्याख्यान का कथन करते है—

प्रत्याख्याय भविष्यत् कर्मसमस्तं निरस्तसम्मोहः ।
आत्मनि चैतन्यात्मनि निष्कर्मणि नित्यमात्मना वर्ते ॥३५॥

अन्वयार्थ—**(निरस्तसम्मोहः)** राग-द्वेष रूप मोह से रहित मैं **(समस्तम्)** सभी **(भविष्यत्)** अनागत काल सम्बन्धी **(कर्म)** कर्म का **(प्रत्याख्याय)** प्रत्याख्यान-त्याग करके **(चैतन्यात्मनि)** चेतना स्वरूप **(निष्कर्मणि)** स्वभाव से कर्म विरहित **(आत्मनि)** अपनी आत्मा मे **(आत्मना)** अपने द्वारा **(नित्यम्)** सर्वदा **(वर्ते)** प्रवृत्ति करता हूँ।

स० टीका—**(चैतन्यात्मनि)** चैतन्य स्वरूप **(निष्कर्मणि)** कर्मों से रहित **(आत्मनि)** आत्मा मे **(नित्यम्)** सदा **(आत्मनाकृत्वा)** आत्मा से आत्मा के द्वारा **(वर्ते-ध्यानरूपेणाहम्)** ध्यानरूप से मैं प्रवृत्त होता हूँ **(कीदृक्षोऽहम्)** कैसा मैं **(निरस्तसम्मोह—दूरीकृत रागद्वेषः)** राग-द्वेष से विरहित **(किं विधाय)** क्या करके **(समस्तम्)** सारे **(भविष्यम्)** आगामी काल मे होने वाले **(कर्म)** ज्ञानावरणादि कर्मों का **(प्रत्याख्याय-निराकृत्य)** प्रत्याख्यान-निराकरण करके **(करिष्यत्-करिष्यमाणम्-समनुज्ञास्य-मनो वचन**

कार्यैः निरुध्य) भविष्य मे स्वय किये जाने वाले कर्म का तथा अन्य के द्वारा किये जाने वाले कर्म का अनुमोदन मन वचन-काय से रोक कर (इति प्रत्याख्यानं समाप्तम्) इस प्रकार प्रत्याख्यान पूर्ण हुआ। (तथा चाक्षसञ्चारोऽत्र) इस विषय मे अक्ष सञ्चार इस प्रकार है (करिष्यामि कारयिष्यामि समनुज्ञास्यामि मनसा वचसा कायेन।) करूँगा-कराऊँगा और अनुमोदन करूँगा मन से वचन मे तथा काय से (मनसाकर्म न करिष्यामि) मन मे कर्म नही करूँगा (मनसा न कारयिष्यामि) मन से नही कराऊँगा (मनसा कुर्वन्तमन्य न समनुज्ञास्यामि) करने वाले किसी दूसरे का मन मे अनुमोदन नही करूँगा (मनसा न करिष्यामि) मनसे नही करूँगा (न कारयिष्यामि) मन मे नही कराऊँगा (कुर्वन्तमप्यन्य न समनुज्ञास्यामि) करने वाले किसी दूसरे को मन मे अनुमोदन नही करूँगा (एवमेवद्वित्रिसयोगजा. एकोनपञ्चाशत् प्रत्याख्यानभेदा, जायन्ते) इस प्रकार से एक के सयोग से दो के सयोग से तथा तीनो के सयोग से होने वाले उनचास भेद प्रत्याख्यान के होते है। (इति प्रत्याख्यानकल्पः समाप्त) इस प्रकार से यह प्रत्याख्यानकल्प पूर्ण हुआ।

भावार्थ – ज्ञानी शुद्धोपयोगी-शुद्धोपयोग मे स्थिर होने के लिए जैसे अतीत कर्मों का प्रतिक्रमण तथा वर्तमान मे उदयागत कर्मो का आलोचन करता है वैसे ही वह अनागत कर्मो का प्रत्याख्यान भी करता है। गर्ज यह है कि ज्ञानी शुद्धोपयोग मे स्थिरता के हेतु त्रैकालिक कर्मो का अभाव भावपूर्वक अपने मे देखता है और जानता है कि मेरा आत्मा स्वरूपत कर्मो से सर्वथा शून्य है वह तो मात्र चैतन्यमय एक स्वतन्त्र तत्त्व है बस उसी मे स्थिर होना या लीन होना ही मेरा मुख्य स्वभाव है अतएव मैं उसी आत्मस्वरूप मे स्थिरता के हेतु प्रवृत्ति करता हूँ। कृत कारित अनुमोदन मन-वचन-काय के निमित्त से प्रत्याख्यान के भी उनचास भेद होते हैं उन सबका प्रत्याख्यान करने वाला ज्ञानी आत्मस्वरूप मे निमग्नता रूप शुद्धोपयोग के बल से परिपूर्ण ज्ञान-केवल ज्ञान को प्राप्त करता है॥३५॥

(अथैतत् त्रय त्रायते) अब ये प्रतिक्रमण आदि तीनो आत्मा की सुरक्षा करते हैं यह बताते हैं—

समस्तमित्येवमपास्य कर्म त्रैकालिकं शुद्धनयावलम्बी।
विलीनमोहो रहितं विकारैश्चिन्मात्रमात्मानमथावलम्बे॥३६॥

अन्वयार्थ—(इत्येवम्) पूर्वोक्त प्रकार से (शुद्धानयावलम्वी) शुद्धनय-निश्चनय का अवलम्वन करने वाला (त्रैकालिकम्) तीनो कालो सम्वन्धी (समस्तम्) सभी (कर्म) कर्म को (अपास्य) त्याग करके (विलीनमोह.) मिथ्यात्व से रहित ऐसा मैं (अथ) अव (विकारै.) राग-द्वेष आदि विकारो से (रहितम्) रहित (चिन्मात्रम्) एक मात्र चैतन्यरूप (आत्मानम्) आत्मा को (अवलम्बे) अवलम्वन करता हूँ।

स० टी०—(अथ-प्रतिक्रमणादिकथनादनन्तरम्) प्रतिक्रमण आदि का कथन कर चुकने के वाद (चिन्मात्र-चेतनामयम्) चेतनारूप (आत्मानं-स्वचिद्रूपम्) अपने चैतन्य स्वरूप का (अवलम्बे-ध्यायामि) अवलम्वन-ध्यान करता हूँ (अहम्) मैं (कीदृशम्) कैसे आत्मस्वरूप का (विकारै-कर्मोत्पन्न प्रकृतिभिः)

कर्मों से उत्पन्न प्रकृतिरूप विकारो से **(रहितम्)** रहित-शून्य या पृथक् **(कीदृक्षोऽहम्)** कैसा मैं **(शुद्धेत्यादि-शुद्धं-स्वस्वरूपम्-नयति-प्राप्नोति-इति शुद्धनयः, आत्मानम् अवलम्बत इत्येवं शीलः)** जो आत्मा के शुद्ध स्वरूप को प्राप्त करता है—जानता है वह शुद्धनय कहा जाता है ऐसे शुद्धनयस्वरूप आत्मा को अवलम्बन करना जिसका स्वभाव है **(पुन कीदृक्ष)** फिर कैसा **(विलीनमोहः-विनष्टरागद्वेषमोह)** जिसका राग-द्वेष मोह नाश को प्राप्त हो चुका है **(किं कृत्वा)** क्या करके **(इत्येवं पूर्वोक्तं प्रतिक्रमणादिकथनरूपेण)** पूर्वोक्त प्रतिक्रमण आदि के कथनरूप से **(समस्तं-निखिलम्)** सकल **(त्रैकालिकं-त्रिकाले अतीतानागतवर्तमाने भवं-त्रैकालिकम्)** भूत-भविष्यत तथा वर्तमान मे उत्पन्न **(कर्म-ज्ञानावरणादि)** ज्ञानावरण आदि रूप कर्म का **(अपास्य-निराकृत्य)** निराकरण करके ।

भावार्थ—तीन काल सम्बन्धी कर्मों का निराकरण का भाव इतना ही है कि अज्ञान के कारण जो कर्म पूर्व मे आत्मा के साथ सम्बन्ध को प्राप्त हुए थे और जो वर्तमान मे उदय मे आ रहे है तथा भविष्य मे जिनका बन्ध होने वाला था वे सबके सब आत्मस्वरूप से बिलकुल ही जुदे हैं अतएव शुद्धनय का अवलम्बन करने वाला मै उन सबसे स्वभावत जुदा हूँ उनका और मेरा कोई भी कर्म कर्तृभाव नही है और न भोग्य-भोक्तृभाव ही है अतएव मैं चैतन्य स्वरूप आत्मा मे ही आश्रय लेता हूँ अन्य कोई भी मेरा आश्रय नही है ।

(अथ सकल कर्म फल सन्यासभावनां नाटयति) अब समस्त कर्मों के फल की सन्यास भावना को प्रकट करते है—

विगलन्तु कर्मविषतरुफलानि मम भुक्तिमन्तरेणैव ।
सञ्चेतयेऽहमचलं चैतन्यात्मानमात्मानम् ॥३७॥

अन्वयार्थ—**(मम)** मेरे **(भुक्तिम्)** भोगे **(अन्तरेण)** विना **(एव)** ही **(कर्म विषतरु फलानि)** कर्मरूप विष वृक्ष के फल **(विगलन्तु)** विनाश को प्राप्त हो **(अहम्)** मैं **(अचलम्)** निश्चल **(चैतन्यात्मानम्)** चैतन्य स्वरूप **(आत्मानम्)** आत्मा का **(संचेतये)** समीचीन ध्यान—अनुभव करता हूँ ।

सं० टीक—**(मम-आत्मनः)** मेरी आत्मा के **(कर्मेत्यादि-कर्म एव विषतरु-विषवृक्षः चेतनाच्छादकत्वात् तस्य फलानि-शुभाशुभानि)** कर्म ही विष वृक्ष है क्योकि वह आत्मा के स्वरूप का आवरण करता है उसके शुभ-अच्छे तथा अशुभ-बुरे-फल **(विगलन्तु-स्वयं गलित्वा पतन्तु-प्रलयं यान्त्वित्यर्थः-)** अपने आप गल कर गिर जाये अर्थात् विनाश को प्राप्त हो। **(कथम्)** कैसे **(भुक्तिमन्तरेण-उदयदानं विना)** उदयदान के बिना **(अहम्)** मैं **(आत्मानम्)** आत्मा का **(संचेतये-ध्यायामि)** सम्यग् विचार – सुचिन्तन अर्थात् ध्यान करता हूँ **(कीदृशम्)** कैसी आत्मा का **(अचलं-अक्षोभ्यम्)** निश्चल-क्षुब्ध नही होने वाली **(चैतन्यात्मानम्-दर्शनज्ञानचेतनास्वरूपम्)** दर्शन तथा ज्ञान चेतनामय आत्मा का **(तथाहि नाहं मतिज्ञानावरणीयफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये)** वैसा ही स्पष्ट करते है—मैं मतिज्ञानावरणीय कर्म के फल को नही भोगता हूँ किन्तु चैतन्य स्वरूप आत्मा का ही चिन्तन-ध्यान करता हूँ । **(नाहं श्रुतज्ञानावरणीयफलं**

भुजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव सचेतये) मैं श्रुतज्ञानावरणीय कर्म के फल को नही भोगता हूँ किन्तु चैतन्य स्वरूप आत्मा का ही चिन्तन-ध्यान करता हूँ (**एव ज्ञानावरणपञ्चके, दर्शनावरणनवके, वेदनीयद्विके, दर्शनमोहनीयत्रिके, चारित्रवेदनीयाख्यमोहनीयपञ्चविंशतिके, आयुष्चतुष्के, नाम कर्मणस्त्रयोनवतिप्रकृतौ, गोत्रद्विके, अन्तरायपञ्चके– योजनीय विस्तरभयात् सुगमत्वाच्च न लिखितमत्र**) इसी प्रकार से ज्ञानावरण के पाच, दर्शनावरण के नौ, वेदनीय के दो, दर्शनमोहनीय के तीन, चारित्रवेदनीय नामक मोहनीय के पच्चीस, आयु के चार, नाम कर्म के तिरानवे, गोत्र के दो, अन्तराय के पाच भेदो मे भी उक्त प्रकार की योजना कर लेनी चाहिए। विस्तार के भय से तथा सरल होने से यहाँ नही लिखा है अर्थात् ज्ञानावरण आदि अष्टकर्मों को मूल तथा उत्तर प्रकृतियो के फल को मैं नही भोगता हूँ किन्तु मैं तो सिर्फ चैतन्य स्वरूप आत्मा का ही चिन्तन-ध्यान करता हूँ।

भावार्थ—आत्मनिष्ठ आत्मज्ञ पुरुष कर्म सन्यास की भावना भाते हुए यह विचार करता है कि ज्ञानावरण आदि कर्म एकमात्र अज्ञान के ही कार्य हैं। अज्ञान अवस्था मे ही इनकी सृष्टि-रचना अज्ञानी जीव के द्वारा होती रहती है। लेकिन वही अज्ञानी जीव अपने पुरुषार्थ से तथा गुरु आदि के उपदेश से अज्ञान से निकल कर ज्ञान की अवस्था मे आता है तव स्वय ही कर्म मात्र से अपने आपको सर्वथा पृथक् स्वरूप वाला ही देखना और जानता है और स्वय को ज्ञाता द्रष्टारूप से ही ध्यान का विषय वनाता है। अतएव मैं भी अब अपने चैतन्य स्वरूप आत्मा का ध्यान करता हूँ जो साक्षात् ससार के वन्धक कर्मो का सवर और निर्जरा पूर्वक विप्रमोक्ष करता है। इस प्रकार से आत्मध्यानी त्रैकालिक कर्मों की ओर से सदा सन्यस्त रहता है ॥३७॥

(**अथात्मतत्त्वे कालावलीं सकलामभिरमयति**) अव आत्मस्वरूप के चिन्तन मे समस्त काल की आवली-पक्ति को सफल करने का उपदेश देते है--

निश्शेष कर्मफल सन्यसनान्ममैवं सर्वक्रियान्तरविहारनिवृत्तवृत्तेः।
चैतन्यलक्ष्म भजतो भृशमात्मतत्त्वं कालावलीयमचलस्य वहत्वनन्ता ॥३८॥

अन्वयार्थ—(**निश्शेष कर्मफल सन्यसनात्**) समस्त कर्मो के शुभ और अशुभरूप फलो के परित्याग से (**सर्वक्रियान्तर विहार निवृत्त वृत्ते**) आत्मिक क्रिया के अतिरिक्त समस्त अन्य क्रियाओ मे प्रवृत्ति की निवृत्ति वाले (**भृशम्**) निरन्तर अतिशय रूप से (**चैतन्यलक्ष्म**) चैतन्य स्वरूप (**आत्मतत्त्वम्**) आत्मस्वरूप को (**भजत**) सेवन करने वाले (**एवम्**) ऐसे (**अचलस्य**) निश्चल-धीर वीर (**मम**) मेरी (**इयम्**) यह (**अनन्ता**) अनन्त (**कालावली**) काल–समय की पक्ति (**वहतु**) निरन्तर आत्मतत्त्व के उपभोग मे चलती रहे–प्रवाहित रहे।

सं० टी०—(**मम-मे**) मेरे (**इयम्-प्रसिद्धा**) यह प्रसिद्ध (**कालावली काल-समय पक्तिः**) समय के समूह (**अनन्ता-अनन्तसमयावच्छिन्ना**) अनन्त समय से युक्त (**वहतु-यातु**) प्राप्त हो (**कीदृक्षस्य मे**) कैसे

मेरे (भृशम्-अत्यर्थम्) अतिशय रूप से (आत्मतत्त्वम्-स्वस्वरूपम्) अपने स्वरूप को (भजतः-आश्रयत.) भजने-आश्रय करने वाले (कीदृक्षम्-) कैसे आत्मस्वरूप को (चैतन्यलक्ष्म-चैतन्यमेव लक्ष्म लक्षणं यस्य तत्) चैतन्य लक्षण वाले (एवं-पूर्वोक्त प्रकारेण) पूर्व मे कहे अनुसार (निरित्यादिः-निश्शेषाणि-समस्तानि तानि च तानि कर्ममलानि च अज्ञानत्व शुभाशुभादीनि तेषा-स-सम्यक् प्रकारेण न्यसनं परित्यजनम् तस्मात्) अज्ञानता-शुभ तथा अशुभरूप कर्मों के समस्त फलो के परित्याग से (पुन. किम्भूतस्य मे) फिर कैसे मेरे द्वारा (सर्वेत्यादिः-स्वक्रियाया अन्या क्रिया क्रियान्तरं सर्वस्मिन् क्रियान्तरे विहारः विहरणम् तत्र निवृत्ता वृत्तिः प्रवर्तनं यस्य तस्य) आत्मक्रिया से भिन्न क्रिया का नाम क्रियान्तर है उस समस्त क्रियान्तर मे विहरण-विचरण रूप क्रिया की निवृत्ति वाले अर्थात्—आत्मस्वरूप का चिन्तनरूप क्रिया को छोड कर अन्य किसी भी प्रकार की क्रिया को नही करने वाले ॥३८॥

भावार्थ—जितना-जितना आत्मस्वरूप का अनुभव मे ज्ञानी लगता है उतना-उतना राग-द्वष का अभाव होता है इसलिए मैं निरन्तर आत्मस्वरूप मे रमण करना चाहता हूँ जब आत्मबल की कमी से स्वभाव मे नही ठहर सकता हूँ तो उसी की भावना और चिंतवन मे निरत होता हूँ जिससे मेरी ज्ञान चेतना परिपूर्ण केवल ज्ञान स्वरूप हो जाय जिसके होने पर मैं स्वय ही परमात्म अवस्था को प्राप्त होऊँ ॥३८॥

(अथ कर्मफलभुक्ति भनक्ति) अब कर्म फल के भोगने का निषेध करते है—

यः पूर्वभावकृत कर्मविषद्रुमाणां भुङ्क्ते फलानि न खलु स्वत एव तृप्तः ।
आपातकालरमणीयमुदर्करम्यं निष्कर्मशर्ममयमेति-दशान्तरं सः ॥३९॥

अन्वयार्थ—(यः) जो ज्ञानी (खलु) निश्चय से (स्वतः) स्वभाव से (एव) ही (तृप्त.) तृप्त-सन्तुष्ट (अस्ति) है (स) वह (पूर्वभावकृत कर्म विषद्रुमाणाम्) पूर्व मे कर्म के उदय से उत्पन्न हुए रागादि भावो से किये हुए कर्मरूपी विष वृक्षो के (फलानि) फलो–सुख-दु.खादिरूप परिणामो को (न) नही (भुङ्क्ते) भोगता है। (सः) वह ज्ञानी (आपातकाल रमणीयम्) प्राप्तिकाल मे सुन्दर तथा (उदर्करम्यम्) उत्तर काल-भविष्यत्काल मे मनोहर (निष्कर्मशर्ममयम्) कर्मों से शून्य अतएव अविनाशी आत्मिक सुख स्वरूप (दशान्तरम्) ससार दशा से भिन्न मोक्षरूप दशा को (एति) प्राप्त करता है अर्थात् सदा के लिए कर्म बन्धन से मुक्त हो जाता है।

सं० टी०—(खलु-निश्चितम्) निश्चित रूप से (यः-पुमान्) जो पुरुष (स्वत एव-स्वस्वभावत एव) अपने स्वभाव से ही (तृप्तः-सन्तृप्त.) पूर्णरूप से सन्तुष्ट होता है (पूर्वेत्यादि.-पूर्वभावै.-पूर्वोदयित विभाव परिणामैः-कृतानि कर्माणि तान्येव विषद्रुमा. विषवृक्षा. तेषा फलानि-सुखदु·खादीनि) पूर्वकाल मे उदय को प्राप्त हुए विभाव परिणामो रागादि रूप विकारी भावो से किये हुए कर्मरूप विष वृक्षो के सुख-दु खरूप फलो को (न भुङ्क्ते ततोभिन्नत्वेन तत्फलास्वादको न भवति) कर्म फलो से स्वय भिन्न होने के कारण

उन कर्मों के फल का आस्वाद लेने वाला नही होता है (**सः-योगी**) वह योगी-आत्मध्यानी (**दशान्तरं-ससारावस्थातः-अवस्थान्तरम्-मोक्षम्**) ससार अवस्था से भिन्न अवस्था को अर्थात् मोक्ष को (**एति-प्राप्नोति**) प्राप्त होता है (**कीदृशम्**) कैसी अवस्थान्तर को (**आपातेत्यादिः-आपातकाले-तत्प्राप्तिकाले रमणीय-मनोज्ञम्**) मोक्ष की प्राप्ति के समय मे ही सुन्दर (**ननु प्राप्तिकाले भोगसुखवद्रमणीयं तदानादरणीय-मित्याकाक्षायाम्**) शकाकार कहता है कि यदि वह मोक्ष प्राप्ति के समय मे भोग-सुख के समान ही सुन्दर लगता हो तो उस समय उसका आदर करना अर्थात् उसे अच्छा समझना ठीक नही है ऐसी आकाक्षा मे उत्तर देते हैं (**उदर्करम्यम्-उदर्के-उत्तरकाले-रम्य-मनोज्ञम्**) उत्तर काल मे मनोज्ञ अर्थात् सदा काल सुख रूप (**निरित्यादि -निष्कर्म-कर्मातीतं तच्च तच्छर्म च तेन निर्वृत्तम्**) कर्मों से रहित सुख से निष्पन्न ।

भावार्थ—कर्मफल चेतना स्वय ही अज्ञान चेतनारूप है और ज्ञानी एकमात्र ज्ञानचेतना को ही अपना स्वरूप मानकर उसमे ही निरन्तर तृप्ति का अनुभव करता है उससे भिन्न कर्म चेतना की ओर से तो वह सदा के लिए विमुखता को ही धारण करता है। कर्मफल चेतना को त्याग कर ज्ञान चेतना को अपनाने वाला ज्ञानी आत्मज्ञ सम्यग्दृष्टि महापुरुष अतीत काल मे बाँधे हुए कर्मों के उदय से उदयानुसारी भावो के अनुसार पुन बाँधे हुए कर्मों के उदय मे आने पर भी उदय के अनुसार रागादि भावो को नही होने देता है। किन्तु उदय का मात्र ज्ञाता द्रष्टा बनकर आत्मस्वरूप मे ही तृप्त रहता है। वह आत्मरसिक आत्मोत्थसुख के अनन्तकाल पर्यन्त स्थिर रखने वाली मोक्ष अवस्था को प्राप्त करता है जो ससार के क्षणनश्वर पराधीन सुखाभास से सर्वथा प्रतिकूल है ॥३९॥

(**अथ प्रशमरस पान पाययति**) अब प्रशम रस का पान कराते हैं—

> **अत्यन्तं भावयित्वा विरतिमविरतं कर्मणस्तत्फलाच्च**
> **प्रस्पष्टं नाटयित्वा प्रलयनमखिलाज्ञानसञ्चेतनायाः ।**
> **पूर्णं कृत्वा स्वभावं स्वरसपरिगतं ज्ञानसंचेतनां स्वाम्—**
> **सानन्दं नाटयन्तः प्रशमरसमितः सर्वकालं पिबन्तु ॥४०॥**

अन्वयार्थ—(**कर्मणः**) कर्म से (**च**) और (**तत्फलात्**) उन कर्मों के फल से (**अत्यन्तम्**) अतिशय रूप से (**विरतिम्**) विरक्ति की (**अविरतम्**) निरन्तर (**भावयित्वा**) भावना करके (**अखिलाज्ञान सञ्चेतनाया**) समस्त अज्ञान चेतना अर्थात् कर्म चेतना तथा कर्म फल चेतना के (**प्रलयनम्**) विनाश को (**प्रस्पष्टम्**) अति स्पष्ट रूप से (**नाटयित्वा**) नचा करके (**स्वरस परिगतम्**) आत्मिक रस से व्याप्त (**स्वभावम्**) स्वभाव को (**पूर्णम्**) पूर्ण-भरपूर (**कृत्वा**) करके (**स्वाम्**) आत्मिक (**ज्ञान सञ्चेतनाम्**) ज्ञान सञ्चेतना को (**सानन्दम्**) आनन्द के साथ (**नाटयन्त**) नचाते हुए (**इतः**) अब से (**सर्वकालम्**) सदा (**प्रशमरसम्**) प्रशमरूप रस को (**पिबन्तु**) पिय। अर्थात् प्रशान्तिरूप अमृत रस का पान करें।

सं० टीका—(**इत -कर्मतत्फल विरक्ति भजनादनन्तरम्**) कर्म तथा कर्मफल से विरक्त होने के

पश्चात् **(सर्वकालम्-सर्वदा)** सदा **(प्रशमरसम्-साम्यपीयूषम्)** समतारूप अमृत रस को **(पिबन्तु-आस्वादयन्तु)** पीवे-आस्वादन करे **(योगिनः)** योगी जन **(कीदृक्षास्ते)** वे योगी कैसे **(स्वाम्-स्वकीयाम्)** स्वकीय-अपनी-निज की— **(ज्ञान सञ्चेतनाम्—ज्ञानं मे ज्ञानस्याहम् इति भावनाम्)** "ज्ञान मेरा है मैं ज्ञान का हूँ" इस प्रकार की भावना रूप ज्ञान सञ्चेतना को **(सानन्दं-हर्षोद्रेक यथा भवति तथा)** हर्ष का आधिक्य जैसे हो वैसे आनन्द सहित **(नाटयन्त.-कुर्वन्तः)** करते हुए **(किं कृत्वा)** क्या करके **(स्वेत्यादि.-स्वस्य-आत्मनः रसः तत्र परिगतं-प्राप्तम्)** आत्मा के रस मे परिव्याप्त **(स्वभावम्-स्वरूपम्)** स्वरूप को **(पूर्णम्-सम्पूर्णम्)** सम्पूर्ण **(कृत्वा-विधाय)** करके **(तदपि-किं कृत्वा)** तो भी क्या करके **(प्रस्पष्टं-व्यक्त यथा भवति तथा)** अति स्पष्ट-अतिव्यक्त जैसे हो वैसे **(अखिलेत्यादिः-अखिला-समस्ता चासावज्ञानचेतना च कर्मचेतना कर्मफलचेतना च तस्याः प्रलयनं-विनाशनम्)** समस्त अज्ञान चेतना अर्थात् कर्म चेतना तथा कर्म फल चेतना के विनाश को **(नाटयित्वा-विधाय)** करके **(तदपि किं कृत्वा)** तो भी क्या करके **(अविरतं-निरन्तरम्)** निरन्तर **(कर्मणः ज्ञानावरणादेः)** ज्ञानावरण आदि कर्मो से **(च-पुनः)** और **(तत्फलात्-तेषां कर्मणा-फलात्-रागद्वेषादेः)** उन कर्मों के फल स्वरूप राग-द्वेष आदि से **(अत्यंतं-निश्शेषं)** पूर्णरूप से **(विरतिम्-विरक्तिम्)** विरक्ति की **(भावयित्वा-सम्भाव्य-कृत्वेत्यर्थः)** भले प्रकार भावना करके।

भावार्थ—यहाँ आचार्य महाराज प्रेरणा करते हैं कि हे मुमुक्षुओ! यदि तुम्हारी इच्छा निरन्तर आत्मिक शान्ति रस रूप अमृत को पीने की हो तो तुम अज्ञान चेतना रूप कर्म चेतना तथा कर्म फल चेतना की परिधि से निकल कर ज्ञान चेतना के प्रबल प्रकाश से अपनी आत्मा को प्रकाशित करो यह ज्ञान चेतना की स्थिरता ही उन्हे आत्मिक सुख-शान्ति प्रदान करती है अतएव जो प्रशमरस के पान के इच्छुक हैं उन्हे चाहिए कि वे कर्म चेतना तथा कर्म फल चेतना का परित्याग कर ज्ञान चेतना को अपनाये। जो आत्मा का खास स्वरूप है और है परिपूर्ण ज्ञान—केवल ज्ञान का अव्यर्थ साधन ॥४०॥

(अथेतो ज्ञानं विवेचयति) अब यहा से आगे ज्ञान का विवेचन करते हैं—

इतः पदार्थ प्रथनावगुण्ठनात् विना कृतेरेकमनाकुलं ज्वलत्।
समस्त वस्तु व्यतिरेक निश्चयाद् विवेचितं ज्ञानमिहावतिष्ठते ॥४१॥

अन्वयार्थ—**(इत इह)** यहा से अब **(पदार्थ प्रथनावगुण्ठनात्)** पदार्थों के विस्तार से गुथित होने से **(कृत)** क्रिया के **(विना)** अभाव से **(एकम्)** एक ज्ञान क्रिया मात्र **(अनाकुलम्)** आकुलता रहित **(ज्वलद्)** देदीप्यमान **(समस्त वस्तु व्यतिरेकनिश्चयात्)** समस्त वस्तुओ से भिन्नता का निश्चय होने से **(विवेचितम्)** अतिभिन्न **(ज्ञानम्)** ज्ञान **(अवतिष्ठते)** निश्चल रहता है।

सं० टीका—**(इह-आत्मनि-जगति वा)** इस आत्मा मे अथवा जगत मे **(ज्ञानं बोध)** ज्ञान **(विवेचितं-भिन्नम्)** भिन्न **(अवतिष्ठते-आस्ते)** रहता है **(कुतः)** किससे **(इत.-अस्मात्)** इस **(पदार्थेत्यादिः-पदार्थाना-शास्त्र शब्दरूपरसगन्धवर्णस्पर्शकर्मधर्माधर्म कालाकाशाध्यवसायादीनां प्रथनं-विस्तारः तस्य अव-**

गुण्ठनात्—न श्रुतं ज्ञानम्-अचेतनत्वात्-ततो ज्ञानश्रुतयोर्व्यतिरेकः एवं शब्दादिषु योज्यम्) शास्त्र शब्दरूप रस गन्ध वर्ण स्पर्श कर्म धर्म अधर्म काल आकाश अध्यवसाय आदिको के विस्तार के अवगुण्ठन-ज्ञानज्ञेय रूप सम्बन्ध से अर्थात् श्रुतशास्त्र ज्ञान नही है क्योकि वह पौद्गलिक होने से अचेतन जड है इसलिए ज्ञान और श्रुत-शास्त्र मे व्यतिरेक-भेद है इसी प्रकार से शब्द आदिको मे भी ज्ञान से भिन्नता-जुदाई की योजना कर लेनी चाहिए। (**कृति-कारणम्-तस्य**) कृति अर्थात् कारण के (**विना-अन्तरेण-क्रियाया अन्तरेण स्वभावादित्यर्थः**) क्रिया के बिना अर्थात् स्वभाव से (**एकम्-अद्वितीयम्**) अद्वितीय (**पुनः-कीदृक्षम्**) फिर कैसा (**अनाकुलम्-आकुलतारहितम्**) आकुलता रहित (**पुन.**) फिर (**ज्वलत्-देदीप्यमानम्**) देदीप्यमान अतिशयरूप से प्रकाशमान (**कुतः**) किससे (**समस्तेत्यादि.-समस्तानां निखिलानां वस्तूना शास्त्रशब्दादीना व्यतिरेक. भिन्नत्वम्-ज्ञानान्यर्थयोर्भिन्नत्व तस्य निश्चय·-निर्णय तस्मात्**) शास्त्र शब्द आदि सभी वस्तुओ से भिन्नता-पृथकता का ज्ञान से निश्चय होने से।

भावार्थ—यद्यपि ज्ञान का ज्ञेयो के साथ ज्ञायक ज्ञेय सम्बन्ध है तो भी ज्ञानगत क्रिया स्वभावत ज्ञान जन्य ही है। ज्ञेय जन्य नही अतएव ज्ञान निराकुल है एक है और सदा काल जाज्वल्यमान है। साथ ही समस्त शास्त्र आदि पुद्गल जन्य पदार्थों से जो ज्ञेयरूप हैं तथा ज्ञेय भूत धर्म अधर्म आदि द्रव्यो से बिलकुल ही जुदा होने के कारण ज्ञान आत्मा मे निरन्तर विद्यमान रहता है। शात्र ज्ञान नही है। शास्त्रो को जानकर कोई समझे मैंने आत्मा को जान लिया, वह ठीक नही है। शास्त्रो के द्वारा आत्मा के बारे मे जानकारी करके जहाँ ज्ञान स्वरूप आत्मा है वहाँ देखे तो उसकी प्राप्ति होती है।

(**अथ ज्ञानस्य मध्याद्यन्तराहित्यमर्हते**) अब ज्ञान मध्य आदि तथा अन्त से रहित हैं यह कथन करते हैं—

> **अन्येभ्यो व्यतिरिक्तमात्मनियतं बिभ्रत् पृथग्वस्तुता**
> **मादानोज्झनशून्यमेतदमलं ज्ञानं तथावस्थितम्।**
> **मध्याद्यन्तविभागमुक्तसहजस्फार प्रभाभासुरः**
> **शुद्धज्ञानघनो यथास्य महिमा नित्योदितस्तिष्ठति ॥४२॥**

अन्वयार्थ—(**अन्येभ्य·**) अपने से भिन्न पदार्थों से (**व्यतिरिक्तम्**) भिन्न-पृथक्-जुदा (**आत्मनियतम्**) अपने मे ही निश्चित (**पृथग् वस्तुताम्**) पृथक्-अन्य वस्तुओ से भिन्न वस्तुत-सामान्य विशेषात्मकता को (**बिभ्रत्**) धारण करने वाला (**आदानोज्झनशून्यम्**) पर हदार्थों के ग्रहण और त्याग से रहित (**एतत्**) यह (**अमलम्**) निर्मल (**ज्ञानम्**) ज्ञान (**तथा**) उस प्रकार से (**अवस्थितम्**) स्थिर (**अस्ति**) है (**यथा**) जिस प्रकार से (**अस्य**) इस ज्ञान की (**मध्याद्यन्तविभागमुक्तसहजस्फारप्रभाभासुर**) मध्य आदि अन्त के विभाग से रहित स्वाभाविक विस्तीर्ण प्रभा-दीप्ति से देदीप्यमान (**शुद्धज्ञानघन**) शुद्ध-निरावरण कर्ममल रहित ज्ञानघनरूप (**महिमा**) महिमा महत्व-माहात्म्य (**नित्योदित·**) निरन्तर उदय को प्राप्त (**तिष्ठति**) रहे।

सं० टीका (**तथा-तेनैव प्रकारेण**) उसी प्रकार से (**एतत्-प्रसिद्धम्**) यह प्रसिद्ध (**ज्ञानं-बोधः**) ज्ञान (**अवस्थितम् व्यवस्थितम्**) व्यवस्थित (**कीदृक्षम्**) कैसा ज्ञान (**अन्येभ्य -सर्वपरद्रव्येभ्य.**) समस्त परद्रव्यो से (**व्यतिरिक्तम्-भिन्नम्**) भिन्न (**अनेनातिव्याप्ति परिहृता**) इस कथन से अतिव्याप्ति दोष का परिहार हो हो जाता है (**आत्मनियतम्-सर्वदर्शनादिजीव स्वप्रतिष्ठम्**) सभी दर्शनादि प्रसिद्ध जीव मे स्वयमेव विद्यमान रहने वाला (**अनेनाव्याप्तिः परिहृता ज्ञानस्य**) इस वचन से अव्याप्ति दोष के ज्ञान का परिहार हो जाता है (**पुनः**) फिर (**पृथग्वस्तुताम्-परपदार्थेभ्यो भिन्नस्वभावम्-परिच्छेदकलक्षणम्**) पर पदार्थों से भिन्न स्वभाव वाला अर्थात् जानना मात्र ही जिसका एक असाधारण लक्षण है ऐसे लक्षण को (**बिभ्रत्-दधत्**) धारण करता हुआ (**अनेन-असम्भवः परिहृतः**) इस कथन से असम्भव दोष का परिहार हुआ (**आदानोज्झनशून्यम्-परवस्तुनः आदानं ग्रहणं उज्झनं त्यजनं च ताभ्या शून्यम् रहितम्**) पर वस्तु के ग्रहण और त्याग से रहित (**अमलम्-कर्ममलातिक्रान्तम्**) कर्मरूप मल से—अतिक्रान्त रहित (**तथा**) उस तरह से (**कथम्**) किस तरह से (**यथा**) जिस तरह से (**अस्य-ज्ञानस्य**) इस ज्ञान का (**नित्योदित -नित्यमुदीयमानः-प्रकाशमानः**) हमेशा प्रकाशमान (**महिमा-माहात्म्यम्**) महात्म्य-महत्व-सर्वोपरि श्रेष्ठता(**तिष्ठति**) स्थित होती है (**कीदृक्ष सः**) वह महिमा-महत्व कैसा (**मध्येत्यादिः-मध्यं च आदिश्च अन्तश्च मध्याद्यन्ता तेषा-विभाग -भेद -तैः मुक्ता रहिता सा चासौ सहजा स्वाभाविको स्फारा-विस्तीर्णा-प्रभा दीप्तिश्च लक्षणया ज्ञायकत्वं तया भासुरः प्रकाशनशील.**) मध्य आदि और अन्त के भेद से रहित स्वाभाविक विस्तार वाली ज्ञापकता से प्रकाशमान स्वभाव वाला (**पुन. कीदृशः**) फिर कैसा (**शुद्धेत्यादि -शुद्धज्ञानेन घन. निरन्तर.**) शुद्ध परिपूर्ण निरावरण ज्ञान से व्याप्त।

भावार्थ—ज्ञान वस्तुत अन्य पदार्थों से बिलकुल जुदा है अपने आप मे स्थिर है। सामान्य विशेष स्वरूप है। अपने से जुदे किसी भी पदार्थ को न तो ग्रहण ही करता है और न छोडता ही है। अपने आप मे पूर्ण निर्मल है। आदि मध्य और अन्त से रहित है। अपनी साहजिक दीप्ति से निरन्तर देदीप्यमान रहता है। यही इसकी लोकोत्तर की महिमा है जो नित्य ही उदित रहती है। अब जिसके ऊपर कोई आवरण कथमपि सम्भव नही है ॥४२॥

(**अथात्मधारणामनुमोदते**) अब आत्मा की ज्ञान आधारता का समर्थन करते है—

उन्मुक्तमुन्मोच्यमशेषतस्तत्तथात्तमादेयमशेषतस्तत् ।
यदात्मनः संहृतसर्वशक्तेः पूर्णस्य सन्धारणमात्मनीह ॥४३॥

अन्वयार्थ—(**संहृतसर्वशक्ते**) सञ्चित कर लिया है समस्त सामर्थ्य को जिसने ऐसी (**आत्मनः**) आत्मा का (**इह**) इस (**आत्मनि**) आत्मा मे (**यत्**) जो (**पूर्णस्य**) परिपूर्ण ज्ञान का (**सन्धारणम्**) भले प्रकार धारण करना है (**अस्ति**) है (**तत्**) वह (**अशेषतः**) समग्र रूप से (**उन्मोच्यम्**) त्यागने योग्य का (**उन्मुक्तम्**) त्यागना है (**तथा**) तथा (**तत्**) वह (**अशेषत**) समग्र रूप से (**आदेयम्**) ग्रहण करने योग्य का (**आत्तम्**) ग्रहण करना है।

सं० टीका—(**इह अस्मिन्**) इस (**आत्मनि-चिद्रूपे**) चैतन्यस्वरूप आत्मा मे (**आत्मनः-ज्ञानस्वरूपस्य**) ज्ञानमय आत्मा का (**तत्-प्रसिद्धम्**) वह-प्रसिद्ध (**सन्धारणम्-धारण-एकाग्रताप्रापणम्**) एकाग्रता को प्राप्त करना (**कीदृशस्य**) कैसी आत्मा का (**संहृतेत्यादि-संहृता-निवारिता सर्वा कर्मोपाधिजाशक्तिः सामर्थ्यं येन तस्य**) जिसने समस्त कर्मोपाधिजन्य सामर्थ्य का निवारण कर दिया है अर्थात् स्वाभाविक आत्मिक शक्ति को प्राप्त कर लिया है उस (**पूर्णस्य-सम्पूर्ण ज्ञानशक्तिविशिष्टस्य**) सम्पूर्ण ज्ञान शक्ति से युक्त अत्मा का (**तत्-यत्सन्धारणम्**) जो सम्यक् प्रकार से धारण करना है (**तदेव**) वही (**अशेषत-सामस्त्येन**) अशेष रूप से-परिपूर्ण रूप से (**उन्मोच्यम् उन्मोक्तुं त्यक्तुं योग्यम्-शरीरादि**) उन्मोचन करने योग्य-त्याग करने योग्य-शरीर आदि का (**उन्मुक्तम्-त्यक्तम्**) त्याग करना (**अस्ति**) है (**तथा—येन प्रकारेण सर्वं त्यक्तम् तेनैव प्रकारेण तत् आत्मसन्धारणम्**) जिस प्रकार से सब का त्याग किया गया है उस ही प्रकार से उस आत्मीय वस्तु का सन्धारण-आत्मा मे भले प्रकार से धारण करना है (**अशेषत**) पूर्णरूप से (**आदेयं-ग्रहीतुं योग्य-दर्शनज्ञानादि**) ग्रहण करने योग्य दर्शन ज्ञान आदि का (**आत्तम्-गृहीतम्**) ग्रहण करना है (**आत्मन-उपादानमेव हेयोपादेययोः परित्यागग्रहणमित्यभिप्रायः**) आत्मा के स्वरूप का ग्रहण करना ही त्यागने योग्य का त्यागना तथा ग्रहण करने योग्य का ग्रहण करना है यह इसका अभिप्राय साराश है ॥४३॥

भावार्थ—आत्मा के द्वारा आत्मा के स्वरूप रूप ज्ञान दर्शन आदि गुण ही ग्रहण करने योग्य है उनका ग्रहण करना ही हेय-त्यागने योग्य का त्यागना तथा ग्रहण करने योग्य का ग्रहण करना है। वास्तविकता तो यह है कि प्रत्येक पदार्थ अपने ही गुण पर्यायो को ग्रहण करता है अन्य के गुण पर्यायो को नही। अत जब वह अपने गुण पर्यायो को ग्रहण करता है तब यह अर्थात् सिद्ध होता है कि वह अन्य का ग्रहीता न होने से स्वभावत अन्य से मुक्त ही है। कोई भी जीव पर का ग्रहण तो कर ही नही सकता परन्तु मिथ्या श्रद्धा मे पर का ग्रहण करने वाला अपने को मान लेता है। मिथ्या श्रद्धा मिटने पर अपने को ज्ञानस्वभावी पर के ग्रहण त्याग से रहित पाता है। यह श्रद्धा की दृष्टि है जब स्वरूप मे रमण कर केवल ज्ञान को प्राप्त करता है तब सर्वथा ग्रहण त्याग से रहित हो जाता है ॥४३॥

(अथास्यानाहारकत्वं शङ्क्यते) अब इस ज्ञान के अनाहारकता की शका करते हैं—

व्यतिरिक्तं परद्रव्यादेवं ज्ञानमवस्थितम् ।
कथमाहारकं तस्याद्येन देहोऽस्य शङ्क्यते ॥४४॥

अन्वयार्थ—(**एवम्**) पूर्वोक्त प्रकार से (**ज्ञानम्**) ज्ञान (**परद्रव्यात्**) परद्रव्य से (**व्यतिरिक्तम्**) भिन्न-पृथक् (**अवस्थितम्**) स्थित रहा। (**तत्**) वह ज्ञान (**आहारकम्**) कर्म नोकर्म वर्गणाओ का ग्रहण करना रूप आहारक (**कथम्**) कैसे किस प्रकार से (**स्यात्**) हो सकता है (**येन**) जिससे (**अस्य**) इस ज्ञान के (**देहः**) शरीर की (**शङ्क्यते**) शङ्का की जाय।

सं० टीका—(**तत्-ज्ञानम्**) वह ज्ञान (**आहारकम्-आहार्यवस्तुग्राहकम्**) आहरण करने योग्य वस्तुओं का ग्रहण करने वाला (**कथम्**) कैसे (**स्यात्**) हो सकता है (**केनप्रकारेण स्यात्**) किस प्रकार से हो सकता है (**न केनापि**) किसी भी प्रकार से नही (**तस्यामूर्तत्वात्**) क्योकि वह ज्ञान स्वभाव से अमूर्त है (**आहारकस्य मूर्तत्वात्**) और आहार्य-आहरण करने योग्य-पदार्थ मूर्त है (**तत् किम्**) वह कौन (**यत्-ज्ञानम्**) जो ज्ञान (**एवं-अन्येभ्य इत्यादि पूर्वोक्त युक्त्या**) आत्मा से भिन्न सभी अन्य पदार्थों से पृथक् इत्यादि पूर्वोक्त युक्ति से (**परद्रव्यात्**) परद्रव्य से (**व्यतिरिक्तं-भिन्नम्**) भिन्न-जुदा (**अवस्थितम्-सुप्रतिष्ठम्**) अवस्थित है (**अस्य-ज्ञानस्य**) इस ज्ञान के (**देहः शरीरम्**) शरीर (**येन कथं शङ्क्यते-आरेक्यते सम्भाव्यते**) कैसे सम्भव हो सकता है (**न कथमपि**) अर्थात् किसी भी प्रकार से नही (**अस्यानाहारकत्वात्**) क्योकि यह ज्ञान स्वभाव से अनाहारक है अर्थात् पर पुद्‌गलादि का ग्रहण करने वाला नही है।

भावार्थ—जब पूर्व मे अनेक युक्तियो द्वारा ज्ञान को पर पदार्थों से पृथक् सिद्ध कर दिखाया है तब वह ज्ञान आहारक-शरीर के योग्य पुद्‌गलो का ग्रहण करने वाला कैसे हो सकता है अर्थात् किसी भी प्रकार से नही। साथ ही ज्ञान स्वभावत अमूर्त है वह मूर्त पुद्‌गलो का ग्राहक कथमपि सम्भव नही हो सकता है। अत. ज्ञान के शरीर की आशका करना ही उपयुक्त नही है।

(**अथालिङ्गमालिङ्ग्यते**) अव आत्मा के-ज्ञान के-जब शरीर ही नही है तब शरीर सम्बन्धी लिङ्ग भी नही है यह दिखाते हैं—

एवं ज्ञानस्य शुद्धस्य देह एव न विद्यते।
ततो देहमयं ज्ञातुर्नलिङ्गं मोक्षकारणम् ॥४५॥

अन्वयार्थ—(**एवम्**) इस प्रकार से (**शुद्धस्य**) शुद्ध (**ज्ञानस्य**) ज्ञान के (**देहः**) देह-शरीर (**एव**) ही (**न**) नही (**विद्यते**) है (**ततः**) तब-इसलिए (**ज्ञातुः**) ज्ञानी के (**देहमयम्**) शरीर रूप (**लिङ्गम्**) लिङ्ग (**मोक्षकारणम्**) मोक्ष का कारण (न) नही (**स्यात्**) है।

सं० टीका—(**एवं मूर्तत्वामूर्तत्वप्रकारेण**) मूर्तता तथा अमूर्तता के भेद से (**यतः शुद्धस्य-निष्कलमषस्य ज्ञानस्य**) जिस कारण से कर्ममलरहित ज्ञान के अर्थात् शुद्ध ज्ञान के (**देह एव निश्चयेन न विद्यते नास्ति**) निश्चय से शरीर ही नही है (**ततः-तस्माद्-देहाभावात्**) देह का अभाव होने से (**ज्ञातु -ज्ञायकस्य**) ज्ञाता-ज्ञानी (**पुंस**) पुरुष के (**लिङ्गं-पाषण्डिलिङ्गम्-गृहिलिङ्गं वा**) पाखण्डी का लिङ्ग-वेश तथा गृहस्थ-श्रावक का लिङ्गवेश (**न मोक्षकारणम्-न मुक्तेर्मार्गः**) मोक्ष का कारण नही है (**हेतुर्गभित-विशेषणमाह**) हेतु है गर्भ मे जिसके ऐसा विशेषण कहते हैं (**देहमयम्-देह निर्वृत्तम्**) देह से बना हुआ (**यदि देहः स्वकीयो न**) यदि शरीर अपना नही है (**र्तीह तदाश्रितं लिङ्गं स्वकीयं कथं स्यात्**) तो शरीर के आश्रित लिङ्ग-वेश अपना कैसे हो सकता है ? अर्थात् किसी भी तरह से नही।

भावार्थ—ज्ञानी के ज्ञान शक्ति के अचिन्त्य प्रभाव से समस्त वाह्य वस्तुओ से निर्ममत्व भाव का प्रादुर्भाव प्रकट हो जाता है अतएव वह जड़ पौद्‌गलिक शरीर को भला अपनाने का भाव कैसे कर सकता

है। वह जानता है कि यह शरीर मूर्त है स्पर्श रस गन्ध वर्ण वाला है और मैं उससे सर्वथा भिन्न अमूर्त हूँ, ज्ञाता द्रष्टा स्वभाव वाला हूँ ऐसी स्थिति मे शरीर के साथ मेरा स्वामित्व कैसे हो सकता है। जब स्वामित्व ही नही तब वह शरीर मोक्ष का कारण भी कैसे माना जा सकता है। शरीर की क्रिया तो जड की क्रिया है वह मोक्ष के लिए साधन कैसे बन सकती है। अत शरीर सम्बन्धी लिङ्ग चाहे वह श्रावक का हो और चाहे मुनि का केवल बाह्य शारीरिक लिङ्गमात्र को मोक्ष के प्रति कारणता नही है। वह कारणता एकमात्र आत्मिक गुण स्वरूप रत्नत्रय सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान एव सम्यक्चारित्र को ही हो सकती है। अत निश्चय नय की दृष्टि मे बाह्य लिङ्ग का कोई महत्त्व नही है।

(तर्हि को मोक्षमार्ग· इतिचेत्) तो मोक्ष का मार्ग क्या है यदि ऐसी आपकी आशका हो तो उत्तर मे कहते हैं—

दर्शनज्ञानचारित्रत्रयात्मा तत्त्वमात्मनः।
एक एव सदा सेव्यो मोक्षमार्गो मुमुक्षुणा ॥४६॥

अन्वयार्थ—**(आत्मनः)** आत्मा का **(तत्त्वम्)** यथार्थ स्वरूप **(दर्शन-ज्ञान-चारित्र-त्रयात्मा)** सम्यग् दर्शन-सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के त्रिकत्व रूप हैं अतएव **(मुमुक्षुणा)** मोक्ष को चाहने वाले पुरुष के द्वारा **(सदा)** सर्वदा-हमेशा **(एकः)** एक **(एव)** ही **(मोक्षमार्गः)** मोक्षमार्ग-रत्नत्रय स्वरूप मोक्ष का उपाय **(सेव्य)** सेवन-आराधन करने योग्य है।

सं० टीका—**(मुमुक्षुणा-मोक्तुमिच्छुना)** मुक्त होने की इच्छा करने वाले **(पुसा)** पुरुष के द्वारा **(एक एव-जिनोपदिष्ट एव—न मिथ्योपकल्पितः)** भगवान् जिनेन्द्र प्रभु के द्वारा उपदेश को प्राप्त एक ही किन्तु अन्य वादियो द्वारा कल्पित अतएव मिथ्या-झूठा नही **(मोक्षमार्ग -मोक्षसाधनोपाय)** मोक्षमार्ग-मोक्ष के साधन के उपाय **(सदा-नित्यम्)** हमेशा **(सेव्य·-आश्रयणीयः)** सेवन करने योग्य अर्थात् आश्रय करने योग्य हैं **(कीदृक्षः)** कैसा-मोक्षमार्ग **(दर्शनेत्यादिः-स्वश्रद्धान-स्वज्ञान-स्वचरण-त्रयस्वरूपः)** आत्मश्रद्धान आत्मज्ञान आत्माचरणरूप अर्थात् उक्त तीनो स्वरूप **(एतत्त्रयमन्तरेण तस्यानुपलब्धे.)** क्योकि इन तीनो के विना मोक्ष की प्राप्ति नही होती है **(पुन.)** और **(आत्मन)** आत्मा का **(तत्त्व-स्वरूपम्)** असली स्वरूप **(दर्शनादित्रयमन्तरेणात्मस्वरूपाभावात्)** दर्शन आदि तीनो के विना नही वन सकता है **(मोक्षमार्गस्य दर्शनादित्रयात्मकत्वात् च)** साथ ही दर्शन आदि तीनो के बिना मोक्षमार्ग भी नही बन सकता है क्योकि वह भी दर्शन आदि तीनो स्वरूप है। अत एक के सिद्ध होने पर दूसरे की सिद्धि अनायास ही हो जाती है।

भावार्थ—सम्यक्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग —ऐसा सूत्र है जिसका अर्थ है कि द्रव्कर्म भावकर्म नोकर्म से रहित एक अपने चेतन स्वभाव का अपनेरूप श्रद्धान, उसी का अपनेरूप ज्ञान और उसी मे स्थिर हो जाना यही सम्यक्दर्शनज्ञानचारित्र है। यही वास्तविक मोक्षमार्ग है। इसके विपरीत कर्म और

कर्मफल जो शरीरादि, रागादि मे अपने रूप की श्रद्धा, ज्ञान और उसी कर्म फल मे अपने रूप, एकरूप स्थिरता यह संसार मार्ग है। चैतन्यरूप आत्मा, रागादि व शरीरादि तीनो एकमेक हो रहे है। अज्ञानी का अपनापना-अपने स्थितत्व का भान उस मिले हुए पिण्ड मे हो रहा है, तीनो की मिली हुई सत्ता को ही वह अपनी सत्ता मानता है यह मिथ्यात्व है। इस मिले हुए पिण्ड मे अनुभव करने वाला तो चैतन्य ही है अत. मिले हुए रहते हुए भी मात्र अपने चैतन्यपने मे ही अपनी सत्ता का भान होना अपनापना आना यही सम्यक्‌दर्शन-ज्ञान है और उसी निज सत्ता मे ही स्थिर रह जाना यह सम्यक्‌चारित्र है। जहाँ इन तीनो की एकता होती है वहाँ पर्याय मे होने वाले रागादि भावो का अभाव होने लगता है। यही रागादि के नाश का वास्तविक उपाय है। रागादि और शरीरादि मे अपनापना यही ससार की जड है, राग-द्वेष की उत्पत्ति का मूल कारण है। अपने चैतन्य स्वरूप मे अपनापना, एकत्वपना यही धर्म का मूल है इसके बिना धर्म की शुरुआत ही नही होती है। इसी की प्राप्ति मे जो सहयोगी-सहचारी है उनको व्यवहार मोक्ष-मार्ग कहते हैं। रागादि का होना ही दु ख है, रागादि का अभाव वही आत्मिक सुख है। जितना रागादि का अभाव उतना परमात्मपना है और रागादि का सर्वथा अभाव ही परमात्मा होना है। वह मात्र आत्म-स्वभाव के निरन्तर अनुभव करने से ही होता है ॥४६॥

(अथ तमेव मोक्षमार्गं मार्गयति) अब उस पूर्वोक्त दर्शनादित्रय को ही मोक्षमार्गता का समर्थन करते हैं—

एको मोक्षपथो य एष नियतो दृग्ज्ञप्तिवृत्त्यात्मक
स्तत्रैव स्थितिमेति यस्तमनिशं ध्यायेच्च तं चेतति।
तस्मिन्नेव निरन्तरं विहरति द्रव्यान्तराण्यस्पृशन्
सोऽवश्यं समयस्य सारमचिरान्नित्योदयं विन्दति ॥४७॥

अन्वयार्थ—(यः) जो (एष.) यह **(दृग्ज्ञप्तिवृत्त्यात्मकः)** दर्शन ज्ञान चारित्र स्वरूप **(एकः)** एक-अद्वितीय **(मोक्षपथः)** मोक्षमार्ग **(नियतः)** नियत-निश्चित है (यः) जो **(पुमान्)** पुरुष **(तत्रैव)** उस ही मे **(स्थितिम्)** स्थिति-स्थिरता को **(एति)** प्राप्त करता है **(च)** और **(तम्)** उसका **(अनिशम्)** निरन्तर **(ध्यायेत्)** ध्यान करता है **(च)** और **(तम्)** उसका **(चेतति)** चिन्तन-विचार करता है **(द्रव्यान्तराणि)** अन्य द्रव्यो का **(अस्पृशन्)** स्पर्श नही करता हुआ **(तस्मिन्)** उसमे **(एव)** ही **(निरन्तरम्)** निरन्तर-सदा काल **(विहरति)** विहार-विचरण करता है (सः) वह पुरुष **(अचिरात्)** शीघ्र-थोडे समय मे **(नित्योदयम्)** निरन्तर उदित रहने वाले **(समयस्य)** समय-आत्मा के **(सारम्)** सार-निर्मल स्वरूप को **(अवश्यं)** अवश्य **(विन्दति)** प्राप्त करता है।

सं० टीका—**(यः-सर्वजनप्रसिद्ध)** सभी मनुष्यो मे ख्याति प्राप्त जो **(मोक्षमार्ग-नाना मिथ्यामति विजृम्भितः, अनेकता दधानोऽपि)** नाना प्रकार की मिथ्या बुद्धियो से वृद्धि को प्राप्त हुआ अतएव अनेकता-

नानारूपता को धारण करता हुआ भी **(स एषः मोक्षपथः)** वह यह मोक्षमार्ग **(दृगित्यादिः-दर्शनज्ञानचारित्रत्रयात्मकः सन्)** सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र रूप से तीन प्रकार का होता हुआ **(एकः)** एक है **(न त्वनेकधा)** किन्तु अनेक प्रकार का नही है **(नियत.-अनेक प्रमाण नयोपन्यासैर्निश्चित.)** अनेक प्रमाण और नयो के समर्थनो से निश्चित **(य.-पुमान्)** जो पुरुष **(तत्रैव-मोक्षपथे-दर्शनादिरूपे)** दर्शनादि तीनो स्वरूप उस ही मोक्षमार्ग मे **(स्थितम्-निश्चलताम्)** निश्चलता को **(स्वात्मनः)** अपनी आत्मा को **(एति-प्राप्नोति)** प्राप्त करता है **(च-पुन)** और **(अनिशम्-निरन्तरम्)** निरन्तर-सदा **(तम्-रत्नत्रयरूप मोक्षपथम्)** उक्त रत्नत्रय स्वरूप मोक्षमार्ग को **(एकाग्रोभूत्वा)** एकाग्र होकर **(ध्यायेत्-ध्यान विषयीकुर्यात्)** ध्यान-चिन्तन-मनन का विषय करे **(पुन·)** फिर **(य.)** जो-पुरुष **(तम्-मोक्षपथम्)** उक्त मोक्षमार्ग का **(सकल कर्मफल चेतना सन्यासेन शुद्धज्ञानचेतनामयीभूत्वा)** समस्त कर्म चेतना तथा कर्मफल चेतना के परित्याग से शुद्ध ज्ञान चेतनास्वरूप होकर **(चेतति-मुहुर्मुहुरनुभवति)** बार-बार अनुभव करता है **(निरन्तरम्-प्रतिक्षणम्)** प्रत्येक समय **(तस्मिन्नेव दर्शनादित्रयात्मके मोक्षपथे)** उस ही दर्शन आदि तीन स्वरूप मोक्षमार्ग मे **(विहरति-अनुचरति)** विचरण करता है **(कीदृक्षः-सन्)** कैसा होता हुआ— **(द्रव्यान्तराणि-परद्रव्याणि)** अपने से भिन्न द्रव्यो का **(अस्पृशन्-अनाश्रयन्)** आश्रय नही करता हुआ **(मनागपि स्वकीयान्यकुर्वन्)** अर्थात् थोडे समय के लिए भी उनको अपना नही मानता हुआ **(स.-पुमान्)** वह पुरुष **(अचिरात्-शीघ्रम्)** शीघ्र **(तद्भवे तृतीयभवादौ वा)** उस ही भव मे अथवा तीसरे आदि भव मे **(अवश्यम्-नियमतः)** नियम से **(समयस्यपदार्थस्य-सिद्धान्तशासनस्य वा)** पदार्थ के अथवा सिद्धान्त शासन के **(सारम्-परमात्मानम्-टंकोत्कीर्णस्वभावम्)** टकोत्कीर्ण स्वभाव स्वरूप-परमात्मपद रूप सार को **(विन्दति-लभते)** प्राप्त करता है **(साक्षात् परमात्मा भवतीति यावत्)** अर्थात् साक्षात् परमात्मा हो जाता है। **(कीदृशम्)** कैसे सार को **(नित्योदयम्-नित्यमुदीयमानम्)** निरन्तर उदय को प्राप्त करने वाले।

भावार्थ—जब यह जीव स्व-पर का भेदविज्ञान करता है, द्रव्यकर्म-भावकर्म-नोकर्म से भिन्न अपने आपको ज्ञाता-द्रष्टा चैतन्यरूप अनुभव करता है, तब पहले गुणस्थान से इसके चौथा गुणस्थान होता है। वहा अतरग मे तो अनन्तानुबधी कषाय और मिथ्यात्व का अभाव होता है तथा वहिरग मे अन्याय-अभक्ष्य-अनाचार रूप प्रवृत्ति का अभाव होता है। सच्चे, वीतरागी देव-शास्त्र-गुरु ही पूजनीय हैं, अन्य नही, ऐसी श्रद्धा होती है। यही से मोक्षमार्ग चालू होता है।

यहाँ साधक जब आत्मानुभव को जल्दी-जल्दी करने का पुरुषार्थ करता है तो अप्रत्याख्यानावरण कषाय इसके मद होने लगती है और वहिरग मे अणुव्रतादिक बारह व्रतो का धारण तथा ग्यारह प्रतिमाओ के अनुरूप आचरण शुरू होता है। यहाँ तक गृहस्थ अवस्था है—पाँचवाँ गुणस्थान है। यहाँ पर साधक अभ्यास के द्वारा आत्मानुभव का समय वढाता है और अन्तराल कम करता जाता है फलस्वरूप, प्रत्याख्यानावरण कषाय मद पडने लगती है। और, अभ्यास करते-करते जब इसके अन्तर्मुहूर्त मे एक बार आत्मानुभव होने की योग्यता वनती है, तब अन्तरग मे तो प्रत्याख्यानावरण का अभाव होता

है और बहिरग मे अट्ठाइस मूलगुणो का पालन तथा नग्न-दिगम्बर मुनि अवस्था के अनुरूप आचरण होने लगता है। यहाँ साधक जब आत्मानुभव से हटता है तो मूलगुणो के पालनरूप प्रवृत्ति मे अथवा स्वाध्याय, चिंतवन आदि मे लगता है।

छठे गुणस्थान मे जब आत्मानुभव होता है तो सातवाँ गुणस्थान हो जाता है। यदि उस आत्मानुभव से नीचे न गिर कर यह साधक ध्यान की लीनता को बढाता है तो सातवें से आठवाँ--नवाँ–दसवाँ, ये गुणस्थान होते है। वहाँ अतरग मे सज्वलन कषाय तीव्र से मद, मदतर, मदतम होती चली जाती है और ध्यानस्थ अवस्था चलती रहती है, जिसे शुक्लध्यान कहा गया है। आठवें, नवें तथा दसवें गुणस्थान मे ध्यानस्थ अवस्था रहते हुए उसमे गहराई उत्तरोत्तर बढती जाती है। सातवें मे डुबकी लगाता था और फिर बाहर आ जाता था। आठवे मे भीतर डूबता जाता है परन्तु अभी सतह पर बुलबुले उठ रहे हैं। और अधिक गहराई मे जाता है तो बुलबुले उठने भी बद हो जाते हैं। आत्मज्ञान की गहनता के फलस्वरूप सूक्ष्मलोभ का भी अभाव होकर कषाय रहित बारहवाँ गुणस्थान होता है। इसके पश्चात् शुक्लध्यान के दूसरे पाये के द्वारा आत्मा के ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्य अनतता को, पूर्ण विकास को प्राप्त हो जाते है— तेरहवाँ गुणस्थान हो जाता है। यहाँ पर शरीर का और शरीर सम्बन्धी कर्म-प्रकृतियो का सम्बन्ध अभी शेष है। यहाँ बिना किसी प्रयत्न या इच्छा के, मेघ की गर्जना के समान सहज-स्वाभाविक रूप से, वाणी खिरती है जिससे प्राणीमात्र को आत्मकल्याण का, अनत दु ख से छूटने का और परमात्मा बनने का मार्ग मिलता है। पुन' शुक्लध्यान का पाया बदलता है—तीसरे पाये से योग-निरोध करते हुए चौदहवें गुणस्थान मे प्रवेश करते है, और फिर चौथे शुक्लध्यान द्वारा शरीर से भी रहित होकर सच्चिदानन्द परमात्मा हो जाते हैं।

गुणस्थानो की इस परम्परा मे एक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि अध्यात्म, करणानुयोग और चरणानुयोग—इन तीनो का कार्य साथ-साथ चलता है। चेतना मे लगना, कषाय का हटना और आचरण का परिवर्तित होना— ये तीनो एक साथ होते है। अत आचार्य अनुरोध करते है कि ऐसा परमात्मपद प्राप्त करने के लिए निरन्तर अपने स्वभाव का ही चिंतवन कर उसी का मनन कर उसी मे लीन हो जा यही मोक्षमार्ग है।

(अथ लिङ्गस्य वैयर्थ्यं साधयति) अब लिङ्ग-बाह्यवेश की व्यर्थता को सिद्ध करते है—

ये त्वेनं परिहृत्य संवृतिपथ प्रस्थापितेनात्मना
लिङ्गे द्रव्यमये वहन्ति ममतां तत्त्वावबोधच्युताः।
नित्योद्योतमखण्डमेकमतुलालोकं स्वभावप्रभा-
प्राग्भारं समयस्य सारममलं नाद्यापि पश्यन्ति ते ॥४८॥

अन्वयार्थ—(तत्त्वावबोधच्युताः) वस्तुस्वरूप के ज्ञान से भ्रष्ट (ये) जो पुरुष (एनम्) इस निश्चय

मोक्षमार्ग को (**परिहृत्य**) परिहार-परित्याग करके (**संवृतिपथप्रस्थापितेन**) व्यवहारमार्ग पर आरूढ (**आत्मना**) अपने द्वारा (**द्रव्यमये**) शरीररूप (**लिङ्गे**) लिङ्ग-वेश मे (**ममताम्**) ममता को-मोहजनित ममत्व को (**वहन्ति**) धारण करते हैं (**ते**) वे पुरुष (**नित्योद्योतम्**) निरन्तर प्रकाशित रहने वाले (**अखण्डम्**) अखण्ड-परिपूर्ण (**एकम्**) अद्वितीय (**अतुलालोकम्**) अनुपम प्रकाशयुक्त (**स्वभावप्रभा प्राग्भारम्**) स्वाभाविक प्रभा केसमूह से युक्त (**अमलम्**) निर्मल (**समयस्य**) समय-आत्मा के (**सारम्**) सार को अर्थात् परमात्मपद को (**अद्यापि**) अभी भी (**न**) नही (**पश्यन्ति**) देखते हैं अर्थात् यही प्राप्त करते है।

सं० टीका—(**ते-पुरुषाः**) वे पुरुष (**अद्यापि-इदानीमपि-साक्षात्स्वरूप प्रकाशनावसरेऽपि**) आज भी अर्थात् प्रत्यक्षरूप से आत्मा के स्वरूप के प्रकट करने के समय पर भी (**समयस्य सारम्-आत्मानम्**) आत्मा-निर्मल परमात्मस्वरूप आत्मा को (**न पश्यन्ति नेक्षन्ते**) नही देखते हैं अर्थात् प्रत्यक्ष नही करते है (**कीदृक्षम्**) कैसी आत्मा को (**नित्योद्योतम्-सदाप्रकाशमानम्**) सर्वदा देदीप्यमान (**अखण्डम्-सम्पूर्णम्**) खण्डरहित परिपूर्ण (**एकम्-कर्मद्वैतरहितम्**) कर्मद्वैत से शून्य (**अतुलालोकम्-अनुपमेयप्रकाशम्**) उपमा रहित प्रकाशरूप (**तत्प्रकाशसदृशस्यापरस्याभावात्**) क्योकि आत्मा के प्रकाश के समान अन्य के प्रकाश का सर्वथा अभाव है (**स्वेत्यादि-स्व एव भाव.-पदार्थः, तस्य प्रभा-ज्ञान अथवा स्वभावज्ञानस्य प्रभा-द्योत-कत्वम् तया प्राग्भार पूर्वभृतम्**) आत्मा रूप पदार्थ के ज्ञान से भरपूर अथवा स्वभाव ज्ञान की प्रभा से व्याप्त-ओतप्रोत (**अमलम्-निर्मलम्**) निर्मल (**ते के**) वे कौन (**ये-पुरुषा**) जो पुरुष (**आत्मना कृत्वा**) अपने ही द्वारा (**द्रव्यमये-नाग्न्यत्रिदण्डि प्रमुखद्रव्य निर्मापिते**) नग्नता त्रिदण्डी प्रधानद्रव्य से विरचित (**लिङ्गे-वेषे**) लिङ्ग वेश मे (**ममताम्—"अहं श्रमण." अह श्रमणोपासकश्चेतिममत्वम्**) मैं श्रमण हूँ तथा मैं श्रमणो का उपासक हूँ इस प्रकार के ममत्व को (**वहन्ति-कुर्वन्ति**) करते हैं (**कीदृक्षाः**) कैसे (**ये तत्त्वेत्यादिः-तत्त्वस्य वस्तुयाथात्म्यस्य अवबोध· – परिज्ञान तेन च्युताः**) जो वस्तु के यथार्थ ज्ञान से शून्य है अर्थात् जिन्हे आत्म-स्वरूप का परिज्ञान नही है। (**कीदृशेनात्मना**) कैसी आत्मा से (**समित्यादिः-सवृतिपथे-कल्पनापथे-प्रस्था-पितेन आरोपितेन**) कल्पना के मार्ग मे आरूढ आत्मा से (**किं कृत्वा**) क्या करके (**एनम्-दर्शनज्ञान चारित्र लक्षणम्-भावलिङ्गम्**) सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्र स्वरूप भावलिङ्ग को (**परिहृत्य-मुक्त्वा**) परिहार-परित्याग करके (**इतस्तो द्रव्यलिङ्गे प्रवृत्तस्य न मुक्तिरित्यभिप्रायः**) इधर-उधर से द्रव्यलिङ्ग मे प्रवृत्त पुरुष के मुक्ति नही होती है यह इसका फलितार्थ है।

भावार्थ—वस्तु के वास्तविक स्वरूप से अनभिज्ञ अज्ञानी जन आत्मस्वरूप रूप रत्नत्रयात्मक निश्चय मोक्षमार्ग को छोडकर मात्र बाह्यवेश जो नग्नता रूप है अथवा त्रिदण्डिता आदि विविधरूप मय है उसी मे ही अनुरक्त हो मैं श्रमण हूँ अथवा मैं श्रमणो का उपासक हूँ इस प्रकार के ममकार तथा अहङ्कार को धारण करते हैं वे मोक्ष को प्राप्त करने मे सर्वथा एव सर्वदा असफल ही रहते हैं॥४८॥

(**अथ व्यवहार विमूढयति**) अब व्यवहार की विमूढता को प्रसिद्ध करते है—

व्यवहार विमूढदृष्टयः परमार्थं कलयन्ति नो जनाः ।
तुषबोधविमुग्धबुद्धयः कलयन्तीह तुषं न तण्डुलम् ॥४६॥

अन्वयार्थ—(**व्यवहारविमूढदृष्टयः**) व्यवहार से विमूढ—व्यामुग्ध दृष्टि वाले (**जनाः**) मनुष्य (**परमार्थम्**) यथार्थ-निश्चय को (**न**) नही (**कलयन्ति**) प्राप्त कर पाते है (**तुषबोधविमुग्धबुद्धय.**) तुष के बोध से व्यामोहित बुद्धि वाले मनुष्य (**इह**) इस लोक मे (**तुषम्**) तुष को (**कलयन्ति**) प्राप्त करते हैं (**तण्डुलम्**) चावल को (**न**) नहीं प्राप्त करते हैं ।

सं० टीका—(**व्यवेत्यादिः—व्यवहारेण-श्रमणश्रमणोपासकलक्षणद्विविधेन लिङ्गेन मोक्षमार्ग· इति स्वरूपेण विमूढा मोहिता दृष्टिर्येषा ते**) मोक्षमार्ग स्वरूप श्रमण तथा श्रमणोपासक लक्षणरूप दो प्रकार के लिङ्गरूप व्यवहार से व्यामोहित दृष्टि वाले (**जना.-लोकाः**) मनुष्य (**परमार्थं-निश्चयम्**) परमार्थ-यथार्थ निश्चय को (**न कलयन्ति-न प्राप्नुवन्ति-न जानन्ति वा**) नही प्राप्त कर पाते अथवा नही जान पाते है (**तस्य स्वयमशुद्धद्रव्यानुभवनात्मकत्वे सति परमार्थत्वाभावात्**) क्योकि वह व्यवहार स्वय ही अशुद्ध द्रव्य का अनुभव करने वाला है अतएव परमार्थ नही है (**अत्र दृष्टान्तोपन्यास**) इस विषय मे दृष्टान्त देते है—(**इह-जगति**) इस जगत मे (**तुषेत्यादिः-तुषबोधः-तण्डुलाच्छादकत्वज्ञानं तेन विमुग्धा सर्वमिदं तुषमेवेति विमुग्धा विमोहिता बुद्धिर्येषां ते जनाः**) चावल को आच्छादन करने वाले के ज्ञान से विपरीत बुद्धि वाले अर्थात् यह सब तुष ही है इस प्रकार से जिनकी बुद्धि विमोहित है वे मनुष्य (**तुषम्-तन्दुलाच्छादिकां त्वचम्**) तन्दुल-चावल को ढाकने वाली त्वचा को (**कलयन्ति-जानन्ति**) जानते हैं (**पुनस्तत्र स्थितं तण्डुलं अक्षत न जानन्ति**) किन्तु उस तुष मे रहने वाले अक्षत-चावल को नही जानते हैं। (**तत्र तस्य परिज्ञानाभावात्**) क्योकि उन्हे—उस तुष मे चावल की स्थिति का ज्ञान नही है। (**वैतालीय नाम छन्दः**) यह वैतालीय नाम का छन्द है—

षड्विषमेऽष्टौ समे कलास्ताश्च समे स्युर्नो निरन्तराः ।
न समात्र पराश्रिता कला वैतालीये रलौगुरुः ॥१॥

अन्वयार्थ—(**वैतालीये**) वैतालीय छन्द मे (**विषमे**) विषम पाद में अर्थात् प्रथम तथा तृतीय पाद मे (**षट्कला**) छह मात्राएँ होती हैं (**रलौ**) रगण लघु (**गुरु.**) और गुरु होता है (**समे**) सम पाद मे अर्थात् द्वितीय और चतुर्थ पाद मे (**ताश्च**) वे मात्राएँ (**अष्ठो**) आठ-मात्राएँ होती हैं रगण लघु और गुरु है। (**समे**) सम पाद मे (**निरन्तरा·**) निरन्तर (**न**) नही (**स्युः**) होती हैं (**अत्र**) इस वैतालीय छन्द मे (**समा**) सम (**कला**) कला (**पराश्रिता**) पराश्रित (**न**) नही (**स्यात्**) होती है (**इति छन्दः**) इस प्रकार यह वैतालीय छन्द है (**उक्त लक्षण सद्भावात्**) क्योकि उक्त श्लोक मे उपर्युक्त वैतालीय छन्द का लक्षण पूर्णतया घटित होता है।

भावार्थ—असली मोक्षमार्ग तो सम्यक्दर्शन ज्ञान-चारित्ररूप है अर्थात् पर से भिन्न अपने निज

स्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान और उसी मे स्थितरूप आचरण यही मोक्षमार्ग है। इसके अलावा जिन-वाणी मे जो कुछ कथन किया गया वह इसी के वाहरी साधनो की दृष्टि से किया गया है। वीमारी एक है—राग-द्वेष दवाई एक है—पर से-परकृत भावो से भिन्न निज स्वभाव मे रमण करना अथवा निजस्वरूप का अनुभव। इसके बिना मोक्षमार्ग कभी न हुआ है न होगा। जो मोक्ष को प्राप्त नही हुए वे इसी आत्मानुभव के अभाव की वजह से नही हुए। शरीरादि को निजरूप अनुभव करने से मोह बढा है वह निज स्वभाव को अपने रूप अनुभव करने से ही मिटेगा। दवाई को किसके साथ लेना चाहिए यह बताया है—दूध के साथ, पानी के साथ अथवा चीनी की चासनी के साथ। अज्ञानी ने क्या किया—दूध तो पी गया दवाई लेना भूल गया। यही वात यहाँ पर बताई है। मुनिव्रत धारण किया, महाव्रत पालन किया, तपस्या की परन्तु आत्मानुभव के बिना मात्र किञ्चितमात्र पुन्यबंध तो कर लिया और उससे सन्तुष्ट हो गया। जो आत्मानुभवरूप दवाई थी वह नही ली, रोग कैसे मिटे। पुन्य के फल से शारीरिक कष्ट दूर हो सकता है परन्तु आत्मिक आनन्द तो कषाय के अभाव से होता है और कषाय का अभाव आत्मानुभव बिना नही हो सकता। मुनिपना, तपस्या, व्रत, दर्शन, स्तुति, शास्त्र अध्ययन के माध्यम से आत्मानुभवरूप दवाई लेनी थी। इनको माध्यम बनाकर स्वभाव मे ठहरना था—स्वरूप मे डुबकी लगानी थी—वह तो लगाई नही, अत बीमारी कैसे मिटे।

व्यवहार तो उपचार है और जो उपचार को ही परमार्थ मान लेता है वह बहिरात्मा है—मोक्ष-मार्ग से बाह्य है। परमार्थ के ज्ञानपूर्वक व्यवहार का ज्ञान सही होता है। जिनको परमार्थ का ज्ञान नही है उनका व्यवहार भी झूठा है कहने मात्र है। इसी प्रकार परमार्थ की दृष्टिपूर्वक जो व्यवहार-आचरण है वह साधन कहलाता है। परमार्थ की दृष्टि बिना वह साधन किसका कहलावे। जैसी दृष्टि होतो है वैसी ही सृष्टी होती है। परमार्थ की दृष्टि बिना जो आचरण करते हैं वह चाहे आगमानुकूल ही हो परन्तु मोक्षमार्ग का साधन नही होता ॥४६॥

(**द्रव्यलिङ्गिनां कुतः स्वरूपाप्राप्तिरिति चेत्**) द्रव्यलिङ्गियो को आत्मस्वरूप की प्राप्ति क्यो नही होती है यदि यह तुम्हारा प्रश्न हो तो उत्तर देते हैं—

द्रव्यलिङ्गममकारमीलितैर्दृश्यते समयसार एव न।
द्रव्यलिङ्गमिह यत्किलान्यतो ज्ञानमेकमिदमेव हि स्वतः ॥५०॥

अन्वयार्थ—(**द्रव्यलिङ्गममकारमीलितै.**) द्रव्यलिङ्ग-शारीरिक नग्न दिगम्बर मुद्रा के ममत्व से अंधे पुरुषो को (**समयसार·**) समय—आत्मा का सार—सर्वोपरि परमात्मरूप (**एव**) ही (**न**) नही (**दृश्यते**) दिखाई देता है। (**यत्**) क्योकि (**इह**) इस ससार मे (**द्रव्यलिङ्गम्**) द्रव्यलिङ्ग अर्थात् शरीर सम्बन्धी मुद्रा विशेष-परिपूर्ण नग्नता-दिगम्बर मुद्रा (**किल**) निश्चय से (**अन्यत**) आत्मा से भिन्न पुद्गल द्रव्यरूप शरीर से (**स्यात्**) होती है और (**इदम्**) यह (**एकम्**) एक-अद्वितीय-असाधारण (**ज्ञानम्**) ज्ञान (**हि**) निश्चय से (**स्वत**) आत्मा से (**एव**) ही (**स्यात्**) होता है।

सं० टीका—(**समयसारः-समयेषु-पदार्थेषु-सारः**) पदार्थों मे श्रेष्ठ—आत्मपदार्थ (**एव-निश्चितम्**) निश्चितरूप से (**न दृश्यते-नेक्ष्यते**) नही दिखाई देता है (**कैः**) किन्हे (**द्रव्यलिङ्गे-श्रमणोऽहं-श्रमणोपासको-ऽहमिति यः ममकारः-अहङ्कारः तेन-मीलितैः—आच्छादितैः-पुम्भिः**) द्रव्यलिङ्ग मे 'मैं श्रमण हूँ' 'मैं श्रमणो का उपासक हूँ' इस प्रकार का जो अहङ्कार उससे आच्छादित-परिव्याप्त पुरुषो को (**कुत**) किससे (**यत्-यस्मात्कारणात्**) जिस कारण से (**किल इति स्पष्टम्**) किल–यह अव्यय स्पष्ट अर्थ का वाचक है अर्थात् स्पष्टरूप से (**इह-जगति**) इस जगत मे (**द्रव्यलिङ्गम्-वेषधारणादि चिह्नम्**) शारीरिक वेष धारण आदि चिह्नस्वरूप (**अन्यतः-परद्रव्याच्छरीरादेः**) परद्रव्य शरीर आदि से (**भवति**) होता है (**हीति निश्चितम्**) हि–यह अव्यय निश्चित अर्थ का वाचक है अर्थात् निश्चय से (**इदं-प्रसिद्धम्**) यह प्रसिद्ध (**एकम्-अद्वितीयम्**) अद्वितीय-असाधारण (**ज्ञानमेव-परमात्म-ज्ञानमेव**) परमातमज्ञान (**स्वतः-स्वरूपात्**) स्वरूप से-आत्मा से (**जायते**) उत्पन्न होता है (**नान्य-तस्तत्**) वह ज्ञान आत्मा से भिन्न किसी द्रव्य से नही उत्पन्न होता है (**नान्यत्ततः**) इसलिए वह ज्ञान आत्मा से भिन्न नही है किन्तु आत्मरूप ही है।

भावार्थ—जो जिससे उत्पन्न होता है वह उसका ही कहलाता है अन्य का नही। अत आत्मा से उत्पन्न होने वाला ज्ञान आत्मा का ही होगा अन्य का नही। इस कथन से ज्ञान का उत्पाद्य उत्पादक सम्बन्ध एकमात्र आत्मा के साथ ही है अन्य पुद्गलादि अचेतन द्रव्य के साथ नही। अत ज्ञानी आत्मा का भावलिङ्ग है और वही साक्षात् मोक्षमार्ग है जिसकी खबर द्रव्यलिङ्ग के मोही जीव को सर्वथा ही नही है अतएव उसे आत्मस्वरूप की प्राप्ति नही हो सकती ॥५०॥

(**अथ शास्त्रे परमार्थं मन्यते**) अब शास्त्र मे परमार्थ-परमात्मा का चिन्तन प्रस्तुत करते हैं—

अलमलमतिजल्पैर्दुर्विकल्पैरनल्पैरयमिह परमार्थश्चेत्यतां नित्यमेकः।
स्वरसविसरपूर्णज्ञानविस्फूर्तिमात्रान्न खलु समयसारादुत्तरं किञ्चिदस्ति ॥५१॥

अन्वयार्थ—(**अतिजल्पैः**) अत्यधिक कथनो से (**अनल्पैः**) बहुत-प्रचुर (**दुर्विकल्पैः**) दुष्ट-दोषयुक्त-विकल्पो-मनोविचारो मानसिक कल्पनाओ से (**अलम्-अलम्**) व्यर्थ है व्यर्थ है—अर्थात् कुछ पूरा पडने वाला नही है (**इह**) इस जगत् मे (**अयम्**) इस (**एकः**) एक (**परमार्थ.**) उत्कृष्ट आत्मा का (**नित्यम्**) सदा-निरन्तर (**चेत्यताम्**) चिन्तन-अनुभवन करो (**खलु**) निश्चय से (**स्वरस विसरपूर्णज्ञानविस्फूर्तिमात्रात्**) आत्मिक रस के समूह से परिपूर्ण ज्ञान के विकास स्वरूप (**समयसारात्**) परमात्मा से (**उत्तरम्**) उच्च (**किञ्चित्**) कोई चिन्तनीय-अनुभवनीय (**न**) नही (**अस्ति**) है।

सं० टी०—(**अलमलं-पूर्यताम्-पूर्यताम्**) पूरा पडो-पूरा पडो (**कैः**) किनसे (**अतिजल्पै·—इदं मोक्ष हेतुः, इदं नेत्यादि वचो जल्पनै**) यह मोक्ष का हेतु है यह नही है इत्यादि वाग्व्यवहारो से (**पुन**) फिर किनसे (**अनल्पै -प्रचुरै·**) अत्यधिक-बहुतायत (**दुर्विकल्पैः-तत्तन्मानससङ्कल्पै.**) उन-उन मानसिक सङ्कल्पो-दुर्विचारो से (**अलमलम्**) व्यर्थ है व्यर्थ है (**अथवा-तद्विशेषणम्**) अथवा "अतिजल्पै" का विशेषण (**दुर-**

दुष्टा विकल्पा यत्रातिजल्पे तै) ये अति-प्रचुर-जल्प-भाषण दुष्ट विचार हैं (**जल्पस्य-विकल्प पूर्वकत्वात्**) क्योकि भाषण मात्र विकल्प पूर्वक ही होते हैं (**इह-जगति**) इस जगत्-लोक मे (**नित्यम्**) सदा (**एक.**) एक अद्वितीय-असहाय (**अयम्**) इस (**परमार्थ –परा-उत्कृष्टा-मा ज्ञानादि लक्ष्मीर्यस्य स चासावर्थ**) जिसमे उत्कृष्ट अनुपम-ज्ञानादि लक्ष्मी विद्यमान है उस पदार्थ का (**कुतः**) कैसे (**आत्मार्थः**) आत्मारूप पदार्थ का (**चेत्यताम्-ध्यायताम्**) अनुभव चिन्तन ध्यान करो (**खलु-निश्चितम्**) निश्चितरूप से-निश्चय से (**समयसारात्-परमात्मनः-सकाशात्**) समयसार-परमात्मा से (**उत्तरम्-अपरम्**) दूसरा (**किञ्चित्-किमपि**) कोई भी (**ध्येयम्**) ध्यान-चिन्तन-मनन करने योग्य (**नास्ति**) नही है (**कीदृशात्-तस्मात्**) कैसे उस समयसार-परमात्मा से (**स्वेत्यादिः-स्वस्य-आत्मन.-रसः-तस्य विसरः-समूहः तेन पूर्णं-परिपूर्णं तच्च तत् ज्ञान च विस्फूर्तिमात्रं-विस्फुरणकार्त्स्न्यं यत्र तस्मात्**) आत्मा के आनन्दरूप रस के समूह से परिपूर्ण ज्ञान का है विकास जिसमे ऐसे परमात्मारूप पदार्थ से ।

भावार्थ—सच्चे देवशास्त्र गुरु से, पचपरमेष्ठी से अथवा चौबीस तीर्थंकरो से कोई उत्कृष्ट श्रेष्ठ नही है। परन्तु मोक्षमार्ग की प्राप्ति मे उससे भी श्रेष्ठ अपना निज स्वभाव है क्योकि पचपरमेष्ठी भी इसी मे ठहर कर अपने पद को प्राप्त हुए हैं। उन्होने भी यही कहा है कि हम अपने स्वभाव का आनन्द ले रहे हैं तुम भी अपने स्वभाव मे लग जाओ तो हमारे जैसा आनन्द तुम भी प्राप्त कर सकते हो, तुम भी परमात्मा वन सकते हो। पचपरमेष्ठी व चौबीस तीर्थंकरो मे लगने का फल, उसके गुणगान करने का फल पुण्यबध है जबकि निज स्वभाव मे लगने का फल सवर निर्जरापूर्वक मोक्ष प्राप्ति है।

वह आत्मस्वभाव ही एक परमज्ञान है, वही एक पवित्र दर्शन है, वही एक चारित्र है तथा वही एक निर्मल तप है।

सत्पुरुषो को वही एक नमस्कार योग्य है, वही एक मगल है, वही एक उत्तम है वही एक शरण है।

अप्रमत्त योगी को वही एक आचार है, वही एक आवश्यक क्रिया है तथा वही एक स्वाध्याय है।

पचपरमेष्ठी तो हमे हमारे निज स्वभाव की खबर देने वाले हैं। वे निज स्वभाव मे लगे है और हमे निज स्वभाव की खबर वताने वाले हैं कि यह तेरा निज स्वभाव है तू उसमे लगकर अनन्त सुख को प्राप्त कर सकता है।

अत उसी का चिंतवन कर—उसी का मनन कर, उसी की भावना कर उसी मे लीन होकर एक हो जा यही मोक्षमार्ग है, यही साक्षात मोक्ष है।

(**अथ शास्त्रं परिसमापयत् तन्माहात्म्यमावर्ण्यते**) अव शास्त्र को पूर्ण करते हुए उसके माहात्म्य का वर्णन करते हैं—

इदमेकं जगच्चक्षुरक्षयं याति पूर्णताम् ।
विज्ञानघनमानन्दमयमध्यक्षतां नयत् ॥५२॥

अन्वयार्थ—(**आनन्दमयम्**) आनन्द स्वरूप-अनन्त सुखमय (**विज्ञानघनम्**) अनन्त ज्ञानमय-आत्मा को (**अध्यक्षताम्**) प्रत्यक्ष (**नयत्**) कराता हुआ (**एकम्**) अद्वितीय- (**जगच्चक्षुः**) जगत का नेत्र समान (**अक्षयम्**) अविनाशी अर्थात् अनन्त काल पर्यन्त स्थायी (**इदम्**) यह समयसार नामक शास्त्र (**पूर्णताम्**) पूर्णता-समाप्ति को (**याति**) प्राप्त हो रहा है।

सं० टी०—(**इदम्-अध्यात्मतरङ्गिणीनामशास्त्रम्-समयप्राभृत वा**) यह अध्यात्म तरङ्गिणी नाम का शास्त्र अथवा समयप्राभृत (**एकम्-सकलशास्त्रातिशायित्वात्-परमात्मस्वरूपप्रकाशकत्वात्**) परमात्मा के स्वरूप का प्रकाशक होने से समस्त शास्त्रो मे शिरोमणि अतएव अद्वितीय (**अक्षयम्-आचन्द्रार्कम्-शास्वतं सत्**) जब तक चन्द्र और सूर्य है तब तक निरन्तर रहने वाला (**पूर्णताम्-भव्यताम्-पूर्णतां-सम्पूर्णताम्**)भव्यता-सम्पूर्णता-समाप्तिता को (**याति-प्राप्नोति**) प्राप्त करता है (**कीदृशम्**) कैसा शास्त्र (**जगच्चक्षुः-जगन्नेत्रम्-तत्प्रकाशकत्वात्**) जगत् का प्रकाशक होने से ही जगत के नेत्र के समान (**पुनः कीदृशम्**) फिर कैसा (**विज्ञानघनम्-आत्मानम्**) विज्ञानघन-केवल ज्ञान स्वरूप-आत्मा की (**अध्यक्षताम्**) प्रत्यक्षता को (**नयत्-प्रापयत्**) प्राप्त कराता हुआ (**कीदृशम्-तम्**) कैसी उस आत्मा की (**आनन्दमयम्-आत्यन्तिकसुखनिर्वृत्तम्**) अत्यन्त-अन्त मे होने वाले सुख से सम्पन्न अर्थात् मोक्ष सम्बन्धी अविनश्वर सुख से सहित (**इदम्-शास्त्रम्**) इस शास्त्र को (**ब्रह्मप्रकाशकत्वात् शब्दब्रह्मायमाणम्**) ब्रह्म—आत्मा के परिपूर्ण स्वरूप का प्रकाशक होने से शब्द ब्रह्म के समान आचरण करने वाले (**अधीत्योत्तमम्-सौख्यं विन्दति**) अध्ययन करके ज्ञानी उत्तम सुख-अविनाशी मोक्ष सुख को प्राप्त करता है (**इत्यभिप्रायः**) यह इसका फलितार्थ है।

भावार्थ—यह अध्यात्मतरङ्गिणी अथवा समयप्राभृत नामक शास्त्र ज्ञानरूप तथा वचनरूप नेत्र के समान है अर्थात् जैसे नेत्र दृश्यमान पदार्थों को स्पष्टरूप से दिखाता है वैसे ही यह शास्त्र भी ज्ञानरूप नेत्र तथा शब्दरूप नेत्र से आत्मा के असली स्वरूप को स्पष्टरूप से दर्शाता है अनुभव कराता है ।।५२।।

(**अथात्म तत्त्वोपसंहारं दंध्वन्यते**) अब आत्मतत्त्व का उपसहार अतिशयरूप से प्रकट करते है—

इतीदमात्मनस्तत्त्वं ज्ञानमात्रमवस्थितम् ।
अखण्डमेकमचलं स्वसंवेद्यमबाधितम् ।।५३।।

अन्वयार्थ—(**इति**) पूर्वोक्त प्रकार से (**आत्मनः**) आत्मा का (**तत्त्वम्**) वास्तविक स्वरूप (**अखण्डम्**) खण्ड रहित (**एकम्**) अद्वितीय (**अचलम्**) निश्चल (**स्वसवेद्यम्**) अपने द्वारा ही अनुभव करने योग्य (**अबाधितम्**) प्रत्यक्ष तथा परोक्ष प्रमाणो से सर्वथा वाधा रहित (**ज्ञानमात्रम्**) ज्ञानस्वरूप (**अवस्थितम्**) स्थित-सिद्ध हुआ।

स० टी०—(**इति-उक्तयुक्त्या**) पूर्वोक्त युक्तिसे (**ज्ञानमात्रं-ज्ञानमयम्**)ज्ञानस्वरूप (**इदम्**,यह (**आत्मनः**) आत्मा का (**तत्त्वम्-स्वरूपम्**) स्वरूप (**अवस्थितम्-सुप्रतिष्ठम्**) सुप्रतिष्ठित हुआ (**ज्ञानादपरस्य तत्राभावात् तस्य तन्मयत्वाच्च**) क्योकि ज्ञान से भिन्न किसी अन्य द्रव्य का आत्मामे सद्भाव नही है। (**अन्यथा अचेतनत्व-**

प्रसङ्गात्) यदि आत्मा को ज्ञानमात्र-ज्ञानस्वरूप न कहा जाय किन्तु अन्य द्रव्यरूप कहा जाय तो अचेतनता का प्रसङ्ग उपस्थित होगा क्योकि आत्मा से भिन्न सभी द्रव्ये अचेतनरूप ही हैं। **(अखण्डम्-परवादिभिः-प्रमाणै खण्डयितुमशक्यत्वात्)** परमत वादियो के द्वारा प्रमाणो से यह आत्मा खण्डित नही हो सकता है इसलिए अखण्ड है। **(एकम्-कर्मोपाधिनिरपेक्षत्वात्)** कर्मरूप उपाधि से निरपेक्ष होने के कारण एक है—अद्वितीय है। **(अचलम्-शास्वतत्वात्)** शाश्वत-नित्य होने से अचल है **(स्वसवेद्यम्-स्वानुभव प्रत्यक्षत्वात्)** स्वानुभव से प्रत्यक्ष होने के कारण– अपने द्वारा ही अनुभवगोचर होता है इसलिए स्वसवेद्य है **(अबाधितम्-तत्स्वरूपबाधकस्य प्रमाणस्य कस्यचित्परमाणोश्चासम्भवात्)** आत्मा के स्वरूप को वाधित करने वाले किसी भी प्रमाण के परमाणु मात्र का भी सम्भव न होने से अबाधित है।

भावार्थ—यह ज्ञानस्वरूप आत्मा एक है अर्थात् इसमे अन्य का परमाणु भी उपलब्ध नही है अतएव अद्वितीय है। अखण्ड है अर्थात् अन्य मतावलम्बियो द्वारा स्वीकृत प्रमाणो के जरिए इसका खण्डन किसी भी तरह से सम्भव नही है अतएव अखण्ड है। अचल है अर्थात् नित्य होने से अपने चैतन्य स्वरूप से चलायमान नही होता है अतएव अचल है। स्वसवेद्य है अर्थात् आत्मा अपने द्वारा ही अपने को वेदन करता है अनुभव मे लाता है अन्य के द्वारा नही अतएव स्वसवेद्य है। अबाधित है अर्थात् किसी भी प्रमाण से या अन्य किसी भी द्रव्य से बाधा को प्राप्त नही होता है अतएव अबाधित है आकुलता से रहित है। इस प्रकार से परिपूर्ण ज्ञानस्वरूप आत्मा वस्तुत उक्त सभी विशेषणो से विशिष्ट है क्योकि ज्ञान की परिपूर्णता के साथ वे सब विशेषण अपने आप ही आत्मा मे आ मिलते हैं।

यद्यपि आत्मा ज्ञानादि अनन्त गुणो का एक अखण्ड पिण्ड है तथापि उसे यहा ज्ञान मात्र कहा गया है सो इसका यह तात्पर्य कदापि नही है कि आत्मा मे एक ज्ञान ही है अन्य गुण नही है। यहा तो आत्मा को अन्य द्रव्यो से पृथक् सिद्ध करने के लिए उसका खास गुण जो ज्ञान है उसी का नाम इसलिए लिया गया है कि वह ज्ञानगुण अन्य किसी भी आत्मेतर द्रव्य मे उपलब्ध नही होता है। साथ ही आत्मा उसी के द्वारा अन्य समस्त पदार्थों को जानता है अनुभव करता है अतएव यह ज्ञान ही अव्याप्ति अतिव्याप्ति तथा असम्भवरूप दोषत्रय से रहित होने के कारण आत्मा का सुलक्षण या असाधारण लक्षण है। इसलिए आत्मा ज्ञानमात्र है यह सिद्ध किया गया है। इससे ज्ञान के साथ अविनाभाव सम्बन्ध रखने वाले वे अनन्त गुण भी सिद्ध हो जाते हैं जो आत्मा मे विद्यमान है स्वय ही आत्मस्वरूप हैं ॥५३॥

(इति श्री समयसारपद्यस्याध्यात्मतरंगिण्यपरनामधेयस्य व्याख्याया नवमोऽङ्कः समाप्त.।)

इस प्रकार से श्री समयसार के पद्यो की व्याख्या मे जिसका अपरनाम अध्यात्म-तरगिणी है
यह नववा अङ्क समाप्त हुआ।

अथ स्याद्वाद अधिकार

(अथ स्वरूपनिरूपणानन्तरं विशदस्याद्वादविद्यानवद्यवादविनोदवेदनाय पातिकापद्य निगद्यते) अब आत्मा के स्वरूप का निरूपण करने के बाद निर्मल स्याद्वाद विद्या के निर्दोषवाद के विनोद-आनन्द को जानने-अनुभव करने के हेतु प्रारम्भिक पद्य को कहते हैं—

अत्र स्याद्वाद शुद्धचर्थं वस्तुतत्त्व व्यवस्थितिः ।
उपायोपेयभावश्च मनाग्भूयोऽपिचिन्त्यते ॥५४॥

अन्वयार्थ—(**अत्र**) इस समयसार को परिसमाप्ति के अवसर पर (**स्याद्वादशुद्धचर्थम्**) स्याद्वाद सिद्धान्त की निर्मलता के हेतु (**वस्तुतत्त्व व्यवस्थितिः**) वस्तु के असली स्वरूप की व्यवस्था (**च**) और (**उपायोपायभावः**) उपाय भाव तथा उपेयभाव का (**मनाक्**) यत्किञ्चित्-थोडासा (**भूयोऽपि**) फिर भी (**चिन्त्यते**) चिन्तन करते है-विचार व्यक्त करते हैं।

सं० टीका—(**अत्र-समयसारपद्यपूर्णताप्रस्तावे**) इस समयसार के पद्यो की समाप्तिरूप पूर्णता के समय (**भूयोऽपि-पुनरपि-पूर्वं तत्त्वस्वरूप-मुक्तम् ततोऽपि पुनः**) पहले आत्मतत्त्व के स्वरूप का कथन किया अब फिर भी (**मनाग्-संक्षेपतः**) सक्षेप से (**किञ्चित्**) कुछ (**वस्त्वित्यादिः-वस्तुनः तत्त्वं-स्वरूपं-तस्य व्यवस्थितिः-व्यवस्था**) वस्तु के स्वरूप की व्यवस्था का (**चिन्त्यते-विचार्यते च**) चिन्तन-विचार करते हैं (**उपेत्यादिः-उपायः-स्वप्राप्तये दर्शनज्ञानचारित्र प्राप्तये-उपायः, उपेयः तेनोपायेन प्राप्यः आत्मा तयोर्भावः स्वरूपम्-चिन्त्यते**) दर्शन ज्ञान चारित्र की प्राप्ति के लिए जो आत्मस्वरूप रूप है वही उपाय है उस उपाय के द्वारा जो प्राप्त करने के योग्य है वह आत्मा ही उपेय है उन—उपाय-उपेय दोनो के स्वरूप का विचार करते हैं (**किमर्थम्**) किसलिए ? (**स्यादित्यादिः-स्याद्वादः-अनेकान्तवादः-तत्र यदेव तत्-तदेवातत्, यदेकं तदेवानेकम्, द्रव्येपर्यायार्पणात्, यदेव सत् तदेवासत् स्वपर द्रव्य क्षेत्रकालभाव विवक्षातः यदेव नित्यं तदेवानित्यं द्रव्यपर्यायार्पणात्-इत्यादि-अनेकान्तस्य युक्तितोऽष्टसहस्त्र्या निरूपणात् तस्य शुद्धचर्थं-प्रतिपाद्य चित्तध्वान्तनिवारणात् तस्य स्वतः शुद्धत्वाच्च**) स्याद्वाद अर्थात् अनेकान्तवाद— उस स्याद्वाद मे जो तत् है वही अतत् है जो एक है वही अनेक है द्रव्य और पर्याय की विवक्षा से। जो सत् है वही असत् है स्वपर द्रव्य क्षेत्र काल और भाव की विवक्षा से। जो नित्य है वही अनित्य है द्रव्य और पर्याय की अपेक्षा से। इत्यादि अनेकान्त का युक्तियो द्वारा अष्टसहस्त्री मे निरूपण किया गया है। उसकी शुद्धि के लिए अर्थात् प्रतिपादन करने योग्य वस्तु के विषय मे मन मे जो मिथ्यान्धकार बना हुआ है छाया हुआ है उसका विनाशक होने से तथा उस स्याद्वाद के स्वभावत. शुद्ध होने से भी।

भावार्थ—यद्यपि वस्तु अनतगुणात्मक है परतु पूर्व मे ज्ञान की मुख्यता से आत्मा को ज्ञान मात्र कहा है। वस्तुत आत्मा कथन और चिंतन के समय ज्ञानमात्र ही नही, सामान्य विशेषात्मक है। सामान्य द्रव्यार्थिकदृष्टि का और विशेष पर्यायार्थिकदृष्टि का विषय है। द्रव्यार्थिक-दृष्टि और पर्यायार्थिकदृष्टि का कथन एक दूसरे से विरोधी है। द्रव्यदृष्टि जव वस्तु को एक नित्य, सतरूप एव ततरूप कहती है तव पर्यायदृष्टि अनेक, अनित्य, असतरूप और अततरूप कहती है। दोनो ही वस्तु धर्म है। जब एक दृष्टि का कथन करते हैं तव दूसरी दृष्टि का विषय गौण हो जाता है अभाव नही हो सकता क्योकि वस्तु द्रव्यार्थिक+पर्यायार्थिक रूप है। जैसे रुपये की दो साइड है—कोई एक साइड ऊपर होने से दूसरी साइड नीचे हो जाती है परन्तु अभाव नही हो सकता। दोनो दृष्टियो के विषय का ज्ञान होने पर ही पूरी वस्तु का ज्ञान होता है जो प्रमाण का विषय है और उसी को सम्यक्ज्ञान कहा है। दोनो दृष्टियो का विषय एक साथ-एक समय मे है, परन्तु दोनो का एक साथ कथन नही कर सक्ते। एक को पहले और दूसरे को बाद मे ही कहना पडता है इसलिए स्याद्वाद को अपनाना पडा जो कथन करने की सही पद्धति है जैसे—

(१) वस्तु कथचित सामान्यरूप है, (२) वही वस्तु विशेषरूप है, (३) दोनो धर्म एक साथ हैं, (४) परन्तु दोनो को एक साथ कथन नही कर सकते इसलिए अवक्तव्य है। (५) दोनो धर्म साथ-साथ होने पर भी सामान्य को मुख्य किया है, (६) फिर विशेष को मुख्य किया है, (७) फिर दोनो धर्म साथ-साथ होने पर दोनो ही मुख्य हैं परन्तु एक साथ नही कहे जाते अत अवक्तव्य कहा है।

एक दूसरा प्रकार भी है अनेकातात्मक वस्तु को कथन करने का। वस्तु मे अनत धर्म होते हैं। अनत गुणो को एक साथ नही कह सकते। एक गुण को मुख्य करते हैं तब बाकी गौण हो जाते हैं। जैसे—आत्मा के ज्ञानगुण को मुख्य किया। आत्मा का ज्ञानगुण ही ज्ञानरूप है— दर्शन चारित्र आदि गुण ज्ञान-रूप नही है अत अज्ञानरूप है। आत्मा को ज्ञानरूप कहने मे एक गुण का कथन हुआ उसी समय कथचित अज्ञान स्वरूप कहने से ज्ञान के अलावा बाकी अनन्त गुणो का कथन अज्ञान शब्द के द्वारा आ गया क्योकि बाकी अनन्त गुण ज्ञानरूप नही है। इस प्रकार आत्मा कथचित ज्ञानरूप है कथचित अज्ञानरूप है इसके द्वारा अनतगुणात्मक वस्तु का कथन हो जाता है।

तीसरा प्रकार यह है कि आत्मनामा वस्तु अनतगुणात्मक है अभेद अखण्ड है। पर्यायरूप परिणमनकर रही है। पर्याय स्वभाव और विभावरूप है। उसका कर्म के साथ निमित्त नैमेत्तिक सम्बन्ध है शरीर के साथ सयोग है और इसके अलावा बाहरी पदार्थों का स्त्री-पुत्रादि-परिग्रह का सम्बन्ध है। ऐसी वस्तु का कथन करना है, इस प्रकार करना है कि एक अकेली वस्तु का ज्ञान भी हो जावे और उसके अलावा जितने सम्बन्ध जिस-जिस प्रकार के नजदीक और दूर के हैं उनका उसी रूप का सही ज्ञान हो जावे। इसके लिए निश्चय दृष्टि और व्यवहारदृष्टि के द्वारा वस्तु का कथन किया गया है। नय वस्तु को वदली नही करती परन्तु वस्तु जैसी है उसका उसी रूप से परिपादन करती है।

आत्मानामा वस्तु ज्ञानगुण के साथ एकरूप है। रागादि आत्मा के साथ ज्ञान के समान एकरूप नही है। कर्म अलग द्रव्य है जिससे साथ निमित्त नैमेत्तिक सम्बन्ध है—उसी के फल स्वरूप आत्मा के साथ शरीर का सम्बन्ध है और उसके आगे परिग्रह का सम्बन्ध है। १ इसलिए आत्मा ज्ञान-स्वरूप है यह कथन निश्चयदृष्टि का विषय हुआ। २ रागादि क्योकि आत्मा के हो अशुद्ध अनित्य परि-णमन हैं अत अशुद्ध निश्चयनय से यह कथन हुआ। ३ अनतगुणादिरूप है अत समझाने के लिए भेद करके कथन किया। अभेद मे भेद किया परन्तु वास्तव मे वे गुण आत्मा के ही हैं। अत अनुपचारित सद्भूत व्यवहार दृष्टि का विषय बना और ४ कर्म सम्बन्धित मतिश्रुत ज्ञान उपचारित सद्भूत व्यवहार का विषय बना। ५ कर्मका सम्बन्ध अन्य द्रव्य है परन्तु निमित्त नैमेत्तिक सम्बन्ध रखे हुए है अत आत्मद्रव्य के साथ जोडे गये इसलिए असद्भूत अनुपचरित व्यवहार का विषय बना और ६ शरीरादि का सम्बन्ध और उसके आगे का सम्बन्ध कर्म का फल है, इसलिए उपचारित असद्भूत व्यवहार का विषय बना। अत यह अच्छी तरह समझ मे आ जाता है कि आत्मा का किस-किस प्रकार का सम्बन्ध किस-किसके साथ है।

व्यवहार शब्दका अर्थ उपचार है अर्थात् अभेदमे भेदका उपचार है और सयोग मे एकपने का उपचार है। इसलिए व्यवहार को समझने के लिए उपचार को मिथ्या समझे और जिसमे उपचार किया हो उसको सही समझे। जैसे संयोग मे एकपने का उपचार है वहा एकपने को मिथ्या समझे परन्तु सयोग को सही मानना चाहिए। निश्चयदृष्टि का अर्थात् एक अकेली वस्तु का ज्ञान हुए बिना सयोग का सही ज्ञान नही हो सकता। सयोग को सयोग कहते हुए भो सयोग मे एकपना नही मिटेगा। अत निश्चयदृष्टि का ज्ञान जरूरी है।

पर्यायदृष्टि का और व्यवहारदृष्टि का ज्ञान नही होगा तो पर का किस-किस प्रकार का सम्बन्ध है उसको आत्मा से दूर करना कैसे सम्भव होगा। स्व-स्त्रो और परस्त्री का भेद नही होगा, व्रतो का पालन करने मे त्याग ग्रहण नही हो सकेगा इसलिए यहाँ पर भी दोनो दृष्टियो का ज्ञान जरूरी है।

जैन शासन मे उपचार कथन बहुत है कही भेद मे अभेद का उपचार है जैसे शरीरादि मे, कही अभेद मे भेद का उपचार है जैसे गुणो का भेद करके कथन करना। कही निमित्त नैमेत्तिक मे कर्त्ता कर्म का उपचार है जैसे कर्मादि मे। कही साधन मे साध्य का उपचार है जैसे धन को प्राण कहना, वहा प्राणो का उप-चार अन्न मे है और अन्न का धन मे है। वैसे ही वीतरागता रूप चारित्र का उपचार विशुद्ध भावो मे और उसका उपचार बाहरी व्रतादि क्रिया मे है। आत्मदर्शन का उपचार जिनदर्शन मे है स्वाध्याय का उप-चार शास्त्र अध्ययन मे है। यह निमित्तादि की अपेक्षा उपचार है। वहा उनको साधन तो समझना परन्तु साध्य नही समझना चाहिए। इस प्रकार व्यवहार के अर्थ को सही समझने पर ही नय विवक्षा सही बैठेगी और वस्तु का सही स्वरूप समझने मे आवेगा।

एक अनेकात का कथन दो चीजो की तुलना करने मे होता है जैसे एक ही लाइन को छोटी की अपेक्षा

बडी कहना और बडी की अपेक्षा छोटी कहना। यह भी कथन कथचित--या अपेक्षा से किया जाता है।

जिस दृष्टि का जो विषय है उसी दृष्टि से वह वैसा ही है अन्यथा नही हो सकता। क्योकि दूसरी दृष्टि का विषय और है इसलिए दूसरी दृष्टि के विपय को जिन्दा रखने के लिए अगर पहले नय विवक्षा नही खोली है तो 'भी' लगाया जाता है। एक दृष्टि के विपय को मुख्य करके और दूसरी दृष्टि को गौण करे तव सम्यक् एकात होता है। दूसरी दृष्टि का अभाव करने पर मिथ्या एकात होता है। पर्यायदृष्टि के ज्ञान के विना व्यवहारदृष्टि का ज्ञान भी सही नही होता। मात्र व्यवहारदृष्टि का ज्ञान अज्ञानी के लिए परमार्थरूप ही हो जाता है अत दोनो दृष्टियो का ज्ञान ही सम्यक् है। जव तक उपचार कथन का अर्थ सही ढग से नही करेंगे तव तक नय विवक्षा सही तरह से समझ मे नही आ सकती।

इसके अलावा नैगम, सग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवभूत आदि भी नयो के भेद हैं। निक्षेपादि के द्वारा भी वस्तु का परिपादन होता है ॥५४॥

(अथ तत्र ज्ञानस्यातदात्मकत्ववादि वादमनूद्य तत्समाधानसन्धानमाधत्ते) अव सर्वप्रथम ज्ञान को ज्ञानस्वरूप स्वीकार नही करने वाले वादी के वाद-कथन का अर्थात् पूर्व पक्ष का अनुवाद करके उसका स्याद्वाद की दृष्टि से समाधान का सयोजन प्रस्तुत करते हैं—

बाह्यार्थैः परिपीतमुज्झित निज प्रव्यक्तिरिक्तीभव-
द्विश्रान्तं पररूप एव परितो ज्ञानं पशोः सीदति।
यत्तत्तत्तदिह स्वरूपत इति स्याद्वाविनस्तत्पुन—
र्दूरोन्मग्नघनस्वभावभरतः पूर्णं समुन्मज्जति ॥५५॥

अन्वयार्थ—**(पशो·)** अज्ञानी-एकान्ती-हठाग्रही का **(ज्ञानम्)** ज्ञान **(बाह्यार्थै.)** बाह्य-ज्ञेयरूप पदार्थों से **(परिपीतम्)** परिपूर्णरूप से पिया गया अर्थात् ज्ञेयरूपता को प्राप्त हुआ अतएव **(उज्झितनिज प्रव्यक्ति-रिक्तीभवत्)** अपने स्वभाव के परित्याग से शून्यता को प्राप्त हुआ **(परित.)** सब तरफ से **(पररूपे)** पर-ज्ञेय के रूप मे **(एव)** ही **(विश्रान्तम्)** विश्रान्ति—समाप्ति को प्राप्त होता हुआ **(सीदति)** नाश को प्राप्त होता है। **(इह)** इस जगत मे **(यत्)** जो ज्ञानादि वस्तु **(अस्ति)** है **(तत्)** वह **(स्वरूपतः)** स्वभाव से **(तत्)** उसी रूप **(अस्ति)** है **(पुन·)** और **(स्याद्वादिन.)** स्याद्वादि.-स्याद्वाद सिद्धान्त को मानने वाले के **(तत्)** वह ज्ञान—या ज्ञानादिरूप वस्तु **(दूरोन्मग्नघन स्वभावभरत)** चिरकाल से व्याप्त निरन्तर स्व-भावरूप समूह से **(पूर्णम्)** पूर्ण-भरपूर अर्थात् अपने गुण पर्यायो से भरी हुई **(समुन्मज्जति)** सम्यक् प्रकार से प्रकाशमान रहती है।

सं० टी०—(पशो -पश्यते-बध्यते-कर्मेति पशु·-अज्ञानी तस्य अतत्स्वभाव वादिनोऽज्ञानिन·) जो वस्तु का स्वभाव नही है उसको ही वस्तु का स्वभाव स्वीकार करने वाला अज्ञानी कर्मों को ही बाधता है अतएव पशु-अज्ञानी है उसके **(ज्ञानम्-बोध)** ज्ञान-बोध **(सीदति-विशीर्णतां याति-युक्तिवलाभावात्)** युक्ति

रूप बल का अभाव होने से नाश को प्राप्त करता है (**कीदृशम्-तत्**) वह ज्ञान कैसा है (**बाह्यार्थैः-अचेतन-पदार्थैः**) बाह्य-अचेतन-पदार्थों से (**परिपीतम्-ततः समुत्पत्तेस्तदाकार धारित्वात्तत्स्वरूपेण ज्ञानम्**) ज्ञेयाकार रूप परिणमन के समय ज्ञान स्वय ही ज्ञेयरूपता को धारण करता है अतएव वह ज्ञान ज्ञेयो से पिया गया हो समझा जाता है (**उज्झितेत्यादिः-उज्झिता त्यक्ता निजपृथ्यक्तिः स्वप्राकटचम् तया रिक्तीभवत्-स्वरूपा वेदकत्वात्**) स्वरूप को न जानने के कारण जिसने अपने स्वरूप की प्रकटता को ही छोड दिया है (**पुनः**) और (**परितः-समन्तात्**) सब तरफ से (**पररूपे-परात्मके-अचेतनादौ द्रव्ये**) पररूप-अचेतनादि द्रव्य मे (**विश्रान्तम्-एव निश्चयेन न स्वस्वरूपे**) ही विश्रान्त–विलीन हो जाता है अपने खास स्वरूप मे नही रहता है (**ज्ञानस्यार्थ प्राकटचम्-न तु स्वप्राकटचम्**) ज्ञान मे अर्थ-बाह्य पदार्थ को जानने की ही प्रमुखता है अपने को जानने की नही (**ज्ञानन्तु ज्ञायते खलु-अर्थप्राकट्चयान्यथानुपपत्त्या इत्यतदात्मकत्वं वदतो ज्ञानाभाव-प्रसङ्गात्-अनवस्थादिदोषदुष्टत्वात्**) ज्ञान तो निश्चय से जानता ही है यदि नही जानता तो अर्थ की प्रकटता ही नही बन सकती थी इसलिए ज्ञान, ज्ञानरूप न होकर पदार्थरूप ही होता है ऐसा कहने वाले के ज्ञान के अभाव का प्रसङ्ग आता है साथ ही अनवस्था आदि दोष भी उपस्थित होते है (**ननु-स्वात्मनि क्रियाविरोधात्स्वरूपप्रकाशात्मकत्व कथम्, तदभावात् परस्वरूपेण व्यवस्था**) शकाकार का कहना है कि ज्ञान मे स्वय को जाननेरूप क्रिया का विरोध होने से निज को ज्ञान द्वारा प्रकाशित करना अर्थात् खुद को जानना कैसे हो सकता है अतएव स्वय को न जान सकने के कारण पर को जानने से ही ज्ञान की व्यवस्था बन सकती है अन्यथा नही (**इतिचेत्**) यदि ऐसा तुम्हारा कहना है तो (**न**) वह ठीक नही है। (**प्रदीपस्य स्वप्रकाशनवत् ज्ञानस्यापि स्वपरप्रकाशात्मकत्वात्**) क्योकि जैसे प्रदीप स्वपर-अपने को तथा अपने से भिन्न घटपटादि पदार्थों को प्रकाशित करता है वैसे ही ज्ञान भी स्वपर-अपने को तथा अपने से भिन्न पदार्थों को भी प्रकाशित करता है अर्थात् अपने को भी जानता है और अपने से जुदे चेतन-अचेतन पदार्थों को भी जानता है। ऐसी स्थिति मे (**का स्वात्मनि क्रियाविरुद्धा**) ज्ञान मे अपने को जाननेरूप क्रिया से क्या विरोध हुआ अर्थात् कुछ भी नही (**न तावद्धात्वर्थं लक्षणा भवनाभावप्रसङ्गात्**) धात्वर्थ लक्षणा क्रिया का विरोध तो हो ही नही सकता क्योकि उक्त क्रिया का विरोध हो तो भवनरूप क्रिया के अभावरूप दोष का प्रसङ्ग उपस्थित होगा। (**उत्पत्तिलक्षणायास्तस्या अनङ्गीकाराच्चज्ञप्तिलक्षणाया विरोधाभावात्**) और उत्पत्ति लक्षणरूप उक्त भवनरूप क्रिया को आपने स्वीकार भी नही किया है इसलिए भी ज्ञप्ति लक्षण जाननारूप क्रिया मे कोई विरोध भी नही है। (**पुनः-भूयः**) फिर (**इति युक्त्या**) इति-पूर्वोक्त युक्ति से (**स्याद्वादिनः-अनेकान्तमतावलम्बिनः**) अनेकान्त मत का अवलम्बन करने वाले स्याद्वादी के (**तत्-ज्ञानम्**) वह ज्ञान (**पूर्णं-स्वगुण पर्यायैरभिन्नं सत्**) अपने गुण और पर्यायो से अभिन्न-एक होता हुआ (**समुन्मज्जति-सर्वत्र स्वप्रकाशकत्वेन समुच्छलति**) सब जगह अर्थात् सभी ज्ञेयो के जानने मे स्वप्रकाशकरूप से अर्थात् अपने को जानते हुए ही पर को जानने मे प्रवृत्त होता है (**इति किम्**) यह कैसे (**इह-जगति**) इस जगत मे (**यत्-ज्ञानादि**) जो ज्ञान आदि (**अस्ति**) है (**तत्-**) वह ज्ञान आदि (**तत्स्वरूपम्-**

स्वपरप्रकाशात्मकम्) अपने को तथा पर को प्रकाश करने-जानने वाला रूप ही होता है (**तत्-ज्ञानादि**) वह ज्ञान आदि (**स्वरूपतः-स्वभावतः**) स्वभाव से (**ततः-तदात्मकं स्यात्**) स्वपर प्रकाशकरूप ही होता है (**कुतः**) कैसे (**दूरेत्यादि-दूरं-अनन्त कालम्-उन्मग्न-स्वगुणिनि लयं गत घनः-निरन्तरम्-यः स्वभावः-स्वरूपं-तस्य भरः अतिशयः तस्मात्**) वह ज्ञानगुण अनन्तकाल पर्यन्त अपने गुणीरूप आत्मद्रव्य मे लीन हुआ हमेशा ही अपने जाननेरूप स्वभाव के समूह से (**स्वरूपस्यस्वरूपिणिलीनत्वात्तदात्मत्वमेव**) क्योकि स्वरूप स्वरूपी मे ही लीन होने से स्वरूपी ही होता है पररूपी नही ।

भावार्थ—अज्ञानी-वस्तु के यथार्थ स्वरूप से अनभिज्ञ पुरुष एकान्त को ही पकड बैठता है उसके वस्तुस्वरूप जैसा नही है वैसा ही प्रतिभासित होता है । उन्ही मे से कोई अज्ञानी एकान्ती ऐसा मानते हैं कि ज्ञान ज्ञेयाकाररूप ही होता है । उनकी इस मान्यता से ज्ञान जब ज्ञेयाकार रूप ही होता है तब उसका अपना निज का कोई अस्तित्व न रहने से वह सर्वथा नाश को प्राप्त होता है । लेकिन स्याद्वादी उसी ज्ञान को ज्ञेयाकार मानते हुए भी यह कहते है कि ज्ञान ज्ञानरूपता को नही छोडता है वह स्वाकार होते हुए ही ज्ञेयाकाररूप परिणमन को प्राप्त करता है । अत उसका कभी भी द्रव्यदृष्टि से नाश नही होता है नाश जब भी होता है तब पर्यायदृष्टि से ही होता है क्योकि पर्याय क्षणनश्वर है ।।५५।।

(**अथाभिन्नवादिनो-मतमाशङ्क्य स्याद्भिन्नत्व समाचेष्टते**) अब अभिन्नवादी के मत को आशङ्का रूप मे उपस्थित करके कथञ्चित्-विवक्षा के वश से भिन्नता का प्रतिपादन करते हैं—

विश्वं ज्ञानमिति प्रतर्क्य सकलं दृष्ट्वा स्वतत्त्वाशया
भूत्वा विश्वमयः पशुः पशुरिव स्वच्छन्दमाचेष्टते ।
यत्तत्तत्पररूपतो न तदिति स्याद्वाददर्शी पुन—
विश्वाद्भिन्नमविश्वविश्वघटितं तस्य स्वतत्त्वं स्पृशेत् ।।५६।।

अन्वयार्थ—(**पशुः**) अज्ञानी (**विश्वम्**) विश्व-जगत् (**ज्ञानम्**) ज्ञानमय है (**इति**) ऐसा (**प्रतर्क्य**) तर्क-विचार करके (**सकलम्**) सकल-विश्व-जगत को (**स्वतत्त्वाशया**) आत्मतत्त्व की आशा से (**दृष्ट्वा**) देखकर (**पशु**) पशु के (**इव**) समान (**स्वच्छन्दम्**) स्वच्छन्द-स्वतन्त्र-स्वेच्छानुसार (**आचेष्टते**) चेष्टा करते है । (**पुन**) किन्तु (**स्याद्वाददर्शी**) स्याद्वाद-कथञ्चिद्वाद से वस्तुस्वरूप को अवलोकन करने वाला अनेकान्ती (**यत**) जो वस्तु (**तत्**) निज स्वरूप है (**तत्**) वह वस्तु (**तत्**) निज स्वरूप ही है (**पररूपतः**) पर-पदार्थ रूप (**न**) नही है (**इति**) ऐसी (**प्रतर्क्य**) तर्कणा करके (**तस्य**) उस वस्तु के (**स्वतत्त्वम्**) निज स्वरूप को (**विश्वात्**) जगत से भिन्न (**अविश्वविश्वघटितम्**) विश्वरूप न होता हुआ ज्ञेयाकार रूप से विश्वमय (**स्पृशेत्**) जानता है ।

सं० टीका—(**ननु यदुक्तं स्याद्वादिभिरभिन्न तदिष्टमेव**) शकाकार कहता है कि स्याद्वाद सिद्धान्तियो ने जो वस्तु मे अभिन्नता कही है वह हमे भी इष्ट ही है (**तथाहि-**) उसका स्पष्टीकरण निम्न

प्रकार से है— **(प्रतिभास एवेदम्)** यह प्रतिभास ही है **(यत् प्रतिभासते तत् प्रतिभास एव)** जो प्रतीत-मालूम होता है वह प्रतीत ही है मालूम ही पडता है **(यथा-प्रतिभासस्वरूपम्-प्रतिभासमानं चेदं जगत्)** जैसे प्रतिभासमान-प्रतीति मे आने वाला यह जगत् प्रतिभासरूप ही है—प्रतीति का विषय ही है **(नचात्र जगत प्रतिभासमानत्वमसिद्धम्)** यहा जगत की प्रतिभासमानता प्रतीति विषयता असिद्ध नही है **(साक्षादसाक्षाच्च तस्य प्रतिभासमानत्वे शब्दविकल्पगोचरातिक्रान्तत्वेन वक्तुमशक्तेः)** क्योकि प्रत्यक्ष तथा परोक्षरूप से जगत् की प्रतिभासमानता शब्दो और विकल्पो का विषय न होने से कही नही जा सकती **(प्रतिभासश्चिद्रूप-एव)** और वह प्रतिभास-प्रतीति चैतन्यरूप ही है **(अन्यथा)** प्रतिभास को चैतन्यरूप न मानने से **(प्रतिभासविरोधात्)** प्रतिभास नही वन सकेगा **(तस्य पुरुषाद्वैतत्वात्)** क्योकि वह प्रतिभास पुरुषाद्वैतरूप ही है **(इति)** इस प्रकार से **(विश्वम्-)** विश्व-जगत् को **(ज्ञानम्)** ज्ञानरूप **(प्रतर्क्य-विचार्य)** विचार्य—विचार करके **(कया)** किससे **(स्वतत्त्वाशया-स्वप्रतिभासान्तः प्रवेशाशया)** अपने चैतन्य स्वरूप प्रतिभास के मध्य मे प्रवेश करने की आशा से **(सकलम्-दृष्ट्वा-प्रतिभासमयं सर्वं विलोक्य)** समस्त विश्व को प्रतिभास स्वरूप देखकर **(पुरुषाद्वैतमननम्)** पुरुषाद्वैत मानना अर्थात् पुरुषरूप स्वीकार करना **(तस्य च देशकालाकारतो विच्छेदानुपलब्धेः नित्यत्वं-सर्वगतत्वं-निराकारत्वञ्च व्यवतिष्ठते)** और उस पुरुषाद्वैत के देश से काल से तथा आकार से कोई विच्छेद-विनाश उपलब्ध नही होता है इसलिए वह नित्य है सर्व व्यापक है और निराकार भी है। **(न हि कश्चिद्देश. कालः आकारश्च प्रतिभास शून्यः)** कोई देश, कोई काल से तथा कोई आकार प्रतिभास से शून्य नही है **(प्रतिभासविशेषाणा नीलमुखादीनां विच्छेदात् तेषामसत्यत्वात्)** जो नील मुखादि प्रतिभास हैं वे असत्य हैं—मिथ्या हैं उनके विच्छेद की उपलब्धि होने से आपका प्रतिभासमानरूप हेतु अनैकान्तिक दोष से दूषित है यदि ऐसा आपका कहना हो तो इसके उत्तर मे हमारा यह कहना है कि **(यदि ते न प्रतिभासन्ते तर्हि सन्तीति कथं ज्ञायते)** यदि वे नील मुखादि प्रतिभास विशेष प्रतिभासित नही होते हैं तो वे हैं ऐसा आप कैसे जानते है ? **(ततो न तैरनैकान्तिकः)** इसलिए उन नील मुखादि प्रतिभास विशेषो से जो आपके मत मे मिथ्या है हमारा प्रतिभासमानरूप हेतु अनैकान्तिक दोष से दूषित नही है। **(यच्च कारकक्रियाभेद कर्मफल लोकद्वैत विद्याऽविद्या वन्ध मोक्षद्वय तद्बाधकमभ्यधायि तदपि निरस्तं तेषां प्रतिभासस्वभावत्वादन्यथा व्यवस्थानायोगात्)** और जो कारक क्रिया भेद कर्म फल लोकद्वैत विद्या अविद्या वन्ध मोक्ष द्वैत को उस हेतु का बाधक कहा है वह भी खडित हो जाता है क्योकि वे सभी प्रतिभास स्वरूप हैं यदि ऐसा न माना जायेगा तो पदार्थ व्यवस्था ही नही वन सकेगी। **(यदपि पक्ष हेतु दृष्टान्तानामुपनिषद्वाक्याना च प्रतिभासनमप्रतिभासनमिति दूषणोद्भावनं तदपि प्रत्याख्यातं प्रतिभासमात्रात्मत्वात्तेषाम्)** और जो पक्ष हेतु दृष्टान्तो तथा उपनिषद् वाक्यो का प्रतिभासन अप्रतिभासनरूप दूपण का उद्भावन किया है वह भी खण्डित हो जाता है क्योकि वे भी प्रतिभास स्वरूप ही है। **(पञ्चविंशतिसाङ्ख्योपकल्पितानां-प्रकृत्यादीनां तथात्वे हेतुत्वे दोषाभावात्)** सांख्यो के द्वारा कल्पित प्रकृत्यादि पच्चीस तत्त्व भी प्रतिभास स्वरूप होने से हेतु मे कोई दोप नही आता है **(स्याद्वादि-**

नामनेकान्तात्मकत्वे साध्ये सत्वादिसाधनवत्) जैसे स्याद्वादियो के अनेकान्तरूप साध्य मे सत्वादि साधन को कोई दूषण दूषित नही कर सकता। **(तत्त्वानां यमनियमानशनादीना संप्रज्ञातासप्रज्ञातयोगफलकैवल्यादीनां च प्रतिभासात्मकत्वेन तदन्त. प्रविष्टत्वसिद्धेः)** तत्त्वो के यम नियम अनशन आदिको के तथा सम्प्रज्ञात असम्प्रज्ञात योग फल कैवल्य आदिको के भी प्रतिभास स्वरूप होने से इन सभी की भी हेतु से ही सिद्धि हो जाती है **(नैयायिककोपकल्पित प्रमाणप्रमेयादिषोडशतत्त्ववत्)** जैसे नैयायिको के द्वारा प्रकल्पित प्रमाण प्रमेय आदि सोलह तत्त्व सिद्ध होते है। **(एवं मीमासोपकल्पिताना भट्ट प्रभाकरोपकल्पिना चात्मजन फलादीना, योगाचार सौत्रान्तिक वैभाषिकमाध्यमकाङ्गीकृताना क्षणक्षयलक्षणाना च चतुरार्यसत्याना च वैशेषिकाङ्गीकृत द्रव्यगुणकर्मादीना षण्णां पदार्थानां लौकायितकेष्ट पृथ्व्यादीना चतुर्णां नास्तिकाध्यासित नास्तीति तत्त्वस्य च गगनकुसुमादीनां च प्रतिभासमानत्वेन प्रतिभासान्तः प्रविष्टत्वसिद्धेः)** इसी प्रकार से मीमासको द्वारा कल्पित तथा भट्ट प्रभाकर द्वारा कल्पित आत्माजन फल आदियो का योगाचार सौत्रान्तिक वैभाषिक माध्यमको द्वारा स्वीकृत क्षण क्षय ही है स्वरूप जिन्हो का ऐसे चतुरार्य सत्यो का तथा वैशैषिको द्वारा अङ्गीकृत द्रव्यगुण कर्म आदि षट् पदार्थों का लौकायतिको द्वारा अभीष्ट पृथ्वी आदि चारो का तथा नास्तिको द्वारा प्रतिपादित स्वीकृत नास्तिरूप तत्त्व का तथा आकाश कुसुम आदिको का भी प्रतिभास मानतारूप होने से प्रतिभासान्त प्रविष्टता सिद्ध होती है इसलिए प्रतिभासमानत्व हेतु से सभी प्रतिभासस्वरूप साध्यो की सिद्धि हो जाती है। **(अप्रतिभासमानत्वे तद् व्यवस्थाविरोधात्)** यदि उक्त सवो को अप्रतिभासमानरूप मान लिया जायेगा तो उनकी कोई व्यवस्था ही नही बन सकेगी **(तथापि तदङ्गीकारेऽनिष्ट तत्त्वसिद्धि प्रसङ्गात् न केषाचित्स्वेष्टतत्त्वसिद्धिरतः प्रतिभासमानत्वमेष्टव्यम्)** व्यवस्था नही वनने पर भी उनको स्वीकार करने पर तो अनिष्ट तत्त्वो की सिद्धि का प्रसङ्ग उपस्थित होगा इसलिए किन्ही के भी अपने अभीष्ट तत्त्व की सिद्धि नही हो सकेगी अतएव प्रतिभासमानता को स्वीकार कर लेना चाहिए।

(तथाचोक्तम्) जैसा कि कहा गया है—

सर्वं वै खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन।
आराम तस्य पश्यन्ति न तत्पश्यति कश्चन॥१॥

अन्वयार्थ—**(वै)** निश्चय से **(इदम्)** यह **(सर्वम्)** समस्त जगत् **(खलु)** निश्चितरूप से **(ब्रह्म)** ब्रह्ममय **(अस्ति)** है **(इह)** इस जगत मे **(किञ्चन)** कोइ **(नाना)** नाना-अनेक **(न)** नही **(अस्ति)** है **(तस्य)** उस ब्रह्म की **(आरामम्)** माया को ही **(पश्यन्ति)** देखते हैं **(तम्)** उस ब्रह्म को **(कश्चन्)** कोई भी **(न)** नही **(पश्यति)** देखता है।

(इति) पूर्वोक्त प्रकार से **(विश्वमयी)** विश्वमय **(भूत्वा)** होकर **(कश्चित्)** कोई **(अद्वैतवादी)** अद्वैतवादी "ब्रह्मा के अतिरिक्त किसी दूसरे को नही कहने वाला" **(पशु.)** अज्ञानी **(पशुः)** पशु के **(इव)** समान **(अज्ञानीव)** अज्ञानी पशु के समान **(स्वच्छन्दं-निरकुशत्वेन)** निरकुशतारूप स्वच्छन्द वृत्ति से

(आचेष्टते-स्वेच्छयेइते) अपनी इच्छानुसार चेष्टा करता है **(प्रतिभासविशेषाणां पररूपत्वेन सत्यत्वात्)** क्योकि जितने भी प्रतिभास विशेष वे सबके सब परपदार्थ रूप ही होने से सत्य ही है। **(पुन.)** किन्तु **(स्याद्वाददर्शी)** स्याद्वाद दृष्टि से देखने वाला **(कश्चित्)** कोई स्याद्वादी-अनेकान्ती **(युक्त्या)** युक्ति से **(तस्य-वस्तुनः)** उस वस्तु के **(स्वतत्त्वम्-स्वस्वरूपतः-स्वरूपम्)** अपने स्वरूप से निज स्वरूप को **(स्पृशेत्)** जानता है **(इति किम्)** ऐसा क्यो ? **(यत्)** जो **(ज्ञानादि स्वरूपेण)** ज्ञानादि के स्वरूप से **(स्यात्)** हो **(तत्)** वह **(तत्त्वम्)** तत्त्व **(अस्ति)** है **(तत्-ज्ञानादि)** वह ज्ञानादि **(पररूपतः-परस्वरूपतः)** परपदार्थ के स्वरूप से **(तत्त्वम्)** तत्त्व **(न)** नही **(भवति)** होता है **(अन्यथा)** यदि ज्ञानादि तत्त्व को परपदार्थ के स्वरूप से माना जायगा तो **(सर्वस्योभयरूपत्वे)** सब के उभयरूप होने से **(तद्विशेष निराकृतेः)** उस पदार्थ की विशेषता का निराकरण होगा जिससे **(नोदितो दधि खादति किमुष्ट्रं चाभिधावति)** प्रेरणा किया हुआ दही को नही खाता है और ऊट की तरफ क्यो दौडता है ? **(इत्यतिप्रसङ्गस्य दुर्निवारत्वात्)** ऐसा अति-प्रसङ्ग दुर्निवार हो जायेगा। **(कीदृक्षम्-तत्वम्)** कैसा तत्त्व ? **(विश्वात्-समस्त पदार्थाद्भिन्नम्-पृथक्)** समस्त पदार्थों से पृथक् **(पुनः)** फिर कैसा **(अविश्वेत्यादि-अविश्व-अविश्वस्वरूपं तच्च तद्विश्वेन-विश्वपदार्थेन घटितं च निष्पादितं विश्वपदार्थपरिच्छेदकत्वात्)** विश्वस्वरूप न होता हुआ भी विश्व के पदार्थों से निष्पन्न क्योकि ज्ञान स्वय ही विश्व के पदार्थों का परिच्छेदक-ज्ञायक-जानने वाला है।

भावार्थ—जो वस्तु जिस रूप है वह वस्तु सदा उस रूप ही है अन्य रूप नही। यह वस्तु तत्त्व है। इसमे कभी भी फेरफार सम्भव नही है। कोई वस्तु परवस्तु से वस्तु नही कहलाती है किन्तु अपने गुण पर्यायो से ही वस्तु कही जाती है क्योकि जिसमे निज के गुणो और उनके विकार स्वरूप पर्यायो का वास होता है वही वस्तु वस्तु शब्द से व्यवहृत होती है अन्य वस्तु के गुण पर्यायो से नही। अत जो एकान्ती अज्ञानी वस्तु स्वरूप से अनभिज्ञ हैं वे ही वस्तु को अन्य वस्तु रूप कल्पित करते है। ज्ञानाद्वैतवादी सारे जगत को ज्ञानस्वरूप ही मानता है अन्य रूप नही। इस सिद्धान्त का खण्डन करते हुए आचार्य ने स्याद्वाद के द्वारा ही जगत के तमाम पदार्थों की स्वरूप व्यवस्था प्रस्तुत की है जो किसी भी विवेकी के विवेक का विषय बन सकती है। ज्ञान ज्ञानरूप मे रहकर ही समस्त ज्ञेयो को ज्ञेयाकार रूप से परिणत होकर जानता है इस दृष्टि से ज्ञान मे सभी ज्ञेय समा जाते हैं। इसका यह आशय कभी नही है कि ज्ञेय अपने-अपने अस्तित्व को नष्ट करके ज्ञानरूप हो जाते हैं या ज्ञान अपने अस्तित्व को खोकर ज्ञेयरूप हो जाता है। किन्तु इसका अभिप्राय यह है कि ज्ञान ज्ञानरूप मे रहकर ही ज्ञेयो को जानता है और ज्ञेय भी ज्ञेयरूप रहकर ही ज्ञान मे प्रतिभासित होते है दर्पण की तरह। जैसे दर्पण अपने अस्तित्व को कायम रखता हुआ ही स्वच्छता से अपने मे प्रतिविम्बित पदार्थों को अपनी पृथकता के साथ ही पदार्थों की पृथकता को प्रकट करता हुआ ही प्रकट करता है वैसे ही ज्ञान भी अपने द्रव्यक्षेत्र काल और भाव मे रहता हुआ ही पर-पदार्थों को द्रव्य क्षेत्र काल और भाव को पृथक् रखता हुआ ही उन्हे जानता है उनके स्वरूपमय होकर नही ॥५६॥

(अथानेकत्ववादमारेक्यैकत्वमारेकते) अब अनेकत्ववाद को प्रकट करके एकत्ववाद को प्रकाशित करते हैं—

बाह्यार्थग्रहणस्वभावभरतो विश्वग्विचित्रोल्लस–
ज्ज्ञेयाकारविशीर्णशक्तिरभितस्त्रुटयन् पशुर्नश्यति ।
एकद्रव्यतया सदाप्युदितया भेदभ्रमं ध्वंसय–
न्नेकं ज्ञानमबाधितानुभवनं पश्यत्यनेकान्तवित् ॥५७॥

अन्वयार्थ—**(बाह्यार्थग्रहणस्वभावभरत.)** बाह्य पदार्थों के ग्रहणरूप स्वभाव के अतिशय से **(विश्वग्विचित्रोल्लसज्ज्ञेयाकार विशीर्ण शक्ति.)** सब तरफ नाना प्रकार के प्रकाशमान ज्ञेयो के आकारो से उपक्षीण शक्ति वाला अतएव **(अभित.)** सब ओर से **(त्रुटयन्)** टूटता-नष्ट होता हुआ **(पशु.)** अज्ञानी एकान्तवादी **(नश्यति)** नाश को प्राप्त होता है। किन्तु **(अनेकान्तवित्)** अनेकान्त को जानने वाला ज्ञानी-स्याद्वादी **(एकद्रव्यतया)** एक द्रव्यस्वरूप होने से **(सदाऽपि)** हमेशा ही **(उदितया)** उदित रहने से-प्रकाशमान होने से **(भेदभ्रमम्)** भेद के भ्रम को **(ध्वंसयन्)** दूर करता हुआ **(ज्ञानम्)** ज्ञान को **(एकम्)** एक-अद्वितीय **(अबाधितानुभवनम्)** बाधा रहित अनुभव वाला **(पश्यति)** देखता है-जानता है-अनुभव करता है।

सं० टीका—**(पशुः-सौगताख्योऽज्ञानी)** अज्ञानी सौगत-बुद्धमतानुयायी **(नश्यति-नाश याति)** नाश को प्राप्त करता है **(तत्कल्पितो ज्ञान क्षणो युक्त्या न व्यवस्थामेति-इत्यर्थ)** अर्थात् सौगत कल्पित ज्ञान-क्षण युक्ति से व्यवस्था को नही प्राप्त करता है **(कीदृक्ष स.)** वह कैसा है ? **(अभितः-समन्तात्)** सब तरफ से **(त्रुटयन् विनश्यन्-पूर्वक्षणस्वलक्षणनिर्मूल विनश्यदुत्तरमुत्पादयति)** स्वलक्षण स्वरूप पूर्व क्षण को निर्मूल नष्ट करता हुआ उत्तर क्षण को उत्पन्न करता है अतएव नाश को प्राप्त होता हुआ **(पुनः कीदृक्ष)** फिर कैसा—**(विश्वागित्यादि —विश्वक्-सामस्त्येन, विचित्रा-नीलपीताद्यनेकप्रकाराः, उल्लसन्त -स्वाकारार्पणेनोल्लसन्त -गच्छन्त , ते च ते ज्ञेयाना-ज्ञानविषयभूताना नीलादिक्षणानामाकारा ज्ञाने स्वाकारार्पकत्व तैः विशीर्णा-अनेकधा जाता शक्ति· सामर्थ्यं यस्य-)** समस्तरूप से नीलपीत आदि अनेक प्रकार के अपने ही आकार से शोभमान ज्ञान के विषयभूत ज्ञेयो के नील पीत आदि क्षणो के आकार जो ज्ञान मे अपने ही आकार रूप से प्रतिविम्बित हुए हैं उनसे जिसकी शक्ति अनेकता को प्राप्त हुई है **(नीलपीतादीना क्षणिकत्वात्-तदुत्पत्तितस्तदाकारमनु कुर्वाणं ज्ञानम्-तदध्यवसायत प्रमाणं क्षणिकं कारकगुणाना कार्यसद्भावात्)** नीलपीत आदिको के क्षणिक होने से उन नीलादि की उत्पत्ति से उनके ही आकार को अनुसरण करने वाला ज्ञान उनके ही अध्यवसाय-निश्चल से प्रमाणरूप होता हुआ क्षणिक होता है क्योकि कारण के गुणो का कार्य मे सद्भाव होता है। **(क्षणिकम् हि सर्वम्)** सभी पदार्थ क्षणिक हैं यह निश्चय है। **(यत्सत्तत्क्षणिकम्)** जो सत् है वह क्षणिक है **(यथाघट)** जैसे घट **(सन्ति च नीलपीतानि च)** और नील

पीत आदि भी सत् हैं । (**घटाद्यवयवो न कपालांशमन्तरेणोपलभ्यते**) घट आदि का अवयव कपालाश के विना उपलब्ध नही होता है (**न हि अवयवी अवयवेषु वर्तमानः प्रत्यवयवं साकल्येन वर्तते एकदेशेन वा ?**) वस्तुत वह अवयवी अवयवो मे रहता हुआ प्रति अवयव मे पूर्णरूप से रहता है अथवा एकदेश रूप से (**यदि साकल्येन तदा यावन्तोऽवयवास्तावन्तोऽवयविन**) यदि पूर्णरूप से रहता है तो जितने अवयव हैं उतने ही अवयवी होगे । (**तत्रापि चावयवकल्पनायामनवस्था**) और उन अवयवियो मे भी अवयवो की कल्पना होने पर अनवस्था दोप होगा । (**एकदेशेन चेत्**) यदि यह कहो कि वह अवयवी एकदेशरूप से अवयवो मे रहता है (**तदा भंगित्वप्रसगात्-एकत्वं न स्यात्**) तो भङ्गिता का प्रसङ्ग होने से एकत्व नही वन सकेगा । (**इत्यादि युक्त्या नीलपीताद्यवयवा एव**) इत्यादि युक्ति से नील पीत आदि अवयव ही हैं। (**बाह्येत्यादि-क्षणिकलक्षणानां बाह्यार्थानां ग्रहण तदेवस्वभावः स्वरूपं यस्य भरतोऽअप्रतिशयात्**) क्षणिक स्वभाव वाले बाह्य पदार्थो का ग्रहण करना रूप ही जिसका स्वभाव है ऐसे ज्ञान के अतिशय से (**ज्ञानमपि क्षणिकम्**) ज्ञान भी क्षणिक है (**तदप्ययुक्तम्**) यह कहना भी युक्तियुक्त नही है अर्थात् अयुक्त है (**यतः**) कारण कि (**अनेकान्तवित्-स्याद्वादी**) अनेकान्त को जानने वाला स्याद्वादी (**एक-पूर्वापरविवर्तव्यापितया-अद्वितीयम्**) पूर्वापर-प्रथम एव द्वितीय आदि पर्यायो मे व्यापक होने से अद्वितीय-असाधारण (**ज्ञानम्**) ज्ञान को (**पश्यति**) देखता है (**कीदृक्ष तत्**) वह ज्ञान कैसा ? (**अबाधितेत्यादिः-अबाधितं-प्रमाणैरनुभवनं यस्य तत्**) प्रमाणो से बाधा रहित है अनुभव जिसका—जिसका अनुभव प्रमाणो से बाधित नही है अर्थात् प्रमाण सिद्ध है (**न च कस्यापि-ईदृशी प्रतीतिर्मया क्षणिकं वस्तु लब्धमिति**) मैने क्षणिक वस्तु को प्राप्त किया ऐसी किसी की भी प्रतीति नही होती है (**सर्वेषा साधारणस्थूलघटादीनां प्राप्तेः**) क्योकि सभी के साधारण तौर हर स्थूल घटादि की प्राप्ति होती है (**एकद्रव्यतया-अहं मतिज्ञानी स एवाहं श्रुतज्ञानी यदेव मयादृष्ट तदेव मया लब्धमित्येकद्रव्यत्वेन**) मैं मतिज्ञानी हूँ वही मैं श्रुतज्ञानी हूँ । जिसे मैंने देखा था उसे ही मैंने प्राप्त किया इत्यादि एक द्रव्यरूप से (**भेदभ्रमं भिन्नज्ञानभ्रान्तिम्**) भेद के भ्रम को अर्थात् भिन्न ज्ञान की भ्रान्तियो को (**ध्वसयन्-विनाशयन्**) विनाश करता हुआ (**अन्यथा जीवान्तरवत् स्वात्मन्यपि भेद-प्रसङ्गात्**) यदि ऐसा न माना जाये तो जीवान्तर-अन्य जीव की तरह अपनी आत्मा मे भी भेद का प्रसङ्ग उपस्थित होगा (**कीदृक्षया तया ?**) कैसी एकद्रव्यता से (**सदाप्युदितया-सदा नित्यं, आवालगोपाल चाण्डालावालादीना प्रसिद्धया विद्यमानतया**) जो निरन्तर वालक से लेकर गोपाल चाण्डाल आदिको के भी विद्यमान है ।

भावार्थ—सौगत ने ज्ञान को ज्ञेयो के आकाररूप ही मानकर ज्ञेयो की क्षणनश्वरता के साथ ज्ञान को भी क्षणनश्वर माना है जो अनुभव से तो विरुद्ध है ही साथ ही प्रत्यक्षादि प्रमाणो से भी बाधित है । इसी वात को अनेकान्त की दृष्टि से सिद्ध किया गया है और कहा गया है कि जैसे मैंने मतिज्ञान की अवस्था जिसे जाना था उसी को अर्थ मे श्रुतज्ञान की दशा मे जान रहा हूँ इस कथन से ज्ञान एक द्रव्य रूप ही है अनेक ज्ञेय द्रव्यरूप नही । साथ ही ज्ञान क्षणनश्वर भी नही है क्योकि वह नित्य द्रव्य का नित्य

गुण है पर्याय की अपेक्षा से ही वह क्षणनश्वर कहा गया है क्योकि क्षणनश्वरता पर्यायरूप होती है।

(**अथैक ज्ञानमतमतिं निराचिकीर्षुरनेकता ज्ञानस्यचिकीर्षति**) अब ज्ञान एक ही है ऐसा जिसका मत है उसकी उक्त प्रकार की बुद्धि के निराकरण की इच्छा करने वाला ज्ञान की अनेकता की इच्छा करता है यह प्रकट करते हैं—

ज्ञेयाकारकलङ्कमेचकचिति प्रक्षालनं कल्पय-
न्नेकाकार चिकीर्षयास्फुटमपि ज्ञानं पशुर्नेच्छति ।
वैचित्र्येऽप्यविचित्रतामुपगतं ज्ञानं स्वतः क्षालितं-
पर्यायैस्तदनेकतां परिमृशन् पश्यत्यनेकान्तवित् ॥५८॥

अन्वयार्थ—(**पशुः**) अज्ञानी-वस्तुस्वरूप की यथार्थता से अनभिज्ञ (**एकाकार चिकीर्षया**) एक आकार को करने की इच्छा से (**ज्ञेयाकार कलङ्क मेचकचिति**) ज्ञेयो के आकार रूप कलङ्क से कलङ्कित ज्ञान मे (**प्रक्षालनम**) अनेक आकारो को साफ करने की (**कल्पयन्**) कल्पना करता हुआ (**स्फुटमपि**) अनेकाकार रूप से अति स्पष्ट (**ज्ञानम्**) ज्ञान को (**न**) नही (**इच्छति**) इच्छा करता है। किन्तु (**अने-कान्तवित्**) अनेकान्त का ज्ञाता विवेकी स्याद्वादी (**पर्यायैः**) पर्यायो से (**अनेकताम्**) अनेकाकारता को (**परिमृशन्**) स्वीकार करता हुआ (**वैचित्र्ये**) नाना ज्ञेयाकाररूप विचित्रता मे (**अपि**) भी (**अविचित्रताम्**) अनेकाकारता की शून्यता को (**उपगतम्**) प्राप्त (**स्वतः**) स्वभाव से (**क्षालितम्**) निर्मल (**ज्ञानम्**) ज्ञान को (**पश्यति**) देखता है।

स० टीका—(**पशुः-अज्ञानी-सांख्यादिः कश्चित्**) कोई सांख्य आदि अज्ञानी पुरुष (**स्फुटमपि-अनेकाकारतया व्यक्तमपि**) अनेक आकर रूप से व्यक्त होते हुए भी (**ज्ञानम्-**) ज्ञान को (**नेच्छति**) नही चाहता है (**कीदृक्षः-सन्**) कैसा होता हुआ (**एकेत्यादिः-ज्ञानस्य-एकाकारं-एकत्वम्-चिकीर्षया-कर्तुमिच्छया**) ज्ञान को एकरूप करने की इच्छा से (**ज्ञेयेत्यादिः-ज्ञेयस्य-पदार्थस्य-आकार-ज्ञानेतदाकारः सएव कलङ्कः-कालिमा-ज्ञाने तदाकारस्याभावात्-एकस्वभावत्वात्तस्यकूटस्थ नित्यत्वात् तेन मेचकः चित्रितः चित-ज्ञानम्-तत्र**) ज्ञेय-ज्ञान के विषय बनने वाले पदार्थ का ज्ञान मे ज्ञेयाकार रूप होना ही कलङ्क है क्योकि ज्ञान मे तदाकारता-ज्ञेयाकारता का अभाव है कारण कि वह ज्ञान एक ज्ञान स्वभाव वाला ही है कूटस्थनित्य होने से, उस ज्ञेयाकारता से मेचक-चित्रित-ज्ञान मे (**प्रक्षालनं-अनेकाकारनिवारणम्**) अनेक आकारो को दूर करने की चेष्टा को (**कल्पयन्-कुर्वन्**) करता हुआ (**तत्राह अनेकान्तवित्**) उस विषय मे कहते हैं कि— अनेकात का ज्ञाता (**तत्-ज्ञानम्**) उस ज्ञान को (**पश्यति-ईक्षते**) देखता है (**कीदृशम्-तत्**) कैसे उस ज्ञान को (**पर्यायैः-मतिश्रुतादिज्ञानविवर्तैः**) मतिज्ञान, श्रुतज्ञान आदि विवर्तो-पर्यायो से (**अनेकतां-कथञ्चिद-नेकत्वम्**) विवक्षा के वश से अनेकता को (**परिमृशन्-अङ्गीकुर्वन्**) अङ्गीकार करता हुआ (**सर्वथैकत्वे नाना ज्ञेयग्रहणं न स्यात्**) ज्ञान को सर्वथा एकाकार मानने पर नाना ज्ञेयो का ग्रहण नही बन सकेगा (**एकार्थ-ज्ञानस्य नित्यमसम्भवात् तदभावः स्यात्**) एकार्थरूप ज्ञान की नित्यता कथमपि सम्भव नही है अतएव उस

एकार्थ ज्ञान का ही अभाव हो जायगा (**तदुक्तमष्टसहस्त्र्याम्**) यही बात अष्टसहस्री मे कही गई है—

प्रमाणकारकैर्व्यक्तं व्यक्तञ्चेन्द्रियार्थवत् ।

ते च नित्ये विकार्यं किं साधोस्तेशासनाद्बहिः ॥१॥

अन्वयार्थ—(**प्रमाणकारकैः**) प्रमाण-प्रत्यक्षादि-तथाकारक कर्तृ आदि से ज्ञान (**व्यक्तम्**) स्पष्ट है (**च**) और (**इन्द्रियार्थवत्**) इन्द्रिय और अर्थ—पदार्थ के समान वहज्ञान (**व्यक्तम्**) व्यक्त-स्पष्ट है (**च**) और यदि (**ते**) प्रमाण और कारक अथवा इन्द्रिय और पदार्थ (**नित्ये**) नित्य (**स्याताम्**) हो (**तर्हि**) तो (**विकार्यम्**) विकार्य-कर्म (**किं**) कौन (**स्यात्**) होगा (**अतः**) इसलिए (**ते**) वे नित्यवादी (**साधोः**) साधु (**ते**) तुम्हारे (**शासनात्**) शासन से (**बहिः**) बाहर है ।

(**ननु ज्ञानं पर्यायैरनेकत्वं दधदशुद्धं स्यात्-पर्यायस्याशुद्धत्वख्यापनात्**) शकाकार कहता है कि पर्यायो से अनेकता को धारण करने वाला ज्ञान अशुद्ध हो जायगा क्योकि पर्यायो को अशुद्ध कहा गया है (**इति-चेन्न**) यदि यह तुम्हारा कहना हो तो वह ठीक नही है (**यत.**) क्योकि (**तत्**) वह ज्ञान (**स्वतः-स्वभावतः**) स्वभाव से (**क्षालितं-निर्मलम्**) निर्मल (**अस्ति**) है (**ननु-ज्ञानस्यानेकत्वमेवेष्टं दृष्टेष्टानां तद्विषयाणामिष्ट-त्वात्-जगतोविचित्रत्वात्**) शकाकार कहता है कि ज्ञान को अनेक रूप ही स्वीकार किया है क्योकि उस ज्ञान के विषयभूत पदार्थ जो प्रत्यक्ष और परोक्ष हैं अनेक रूप इष्ट हैं । जगत् की ऐसी ही विचित्रता है (**इतिचेन्न**) यदि ऐसा तुम्हारा कहना हो तो वह उचित नही है (**कुतः**) कैसे (**पर्यायापेक्षया**) पर्यायो की अपेक्षा से (**वैचित्र्येऽपि**) विचित्रता होने पर भी (**एकज्ञानद्रव्यतया**) एक ज्ञानरूप द्रव्यता से (**अविचित्रताम्-एकस्वरूपताम्**) एक स्वरूपता को (**उपगतम्-प्राप्तम्**) प्राप्त हुआ (**अतः कथञ्चिदेकं-द्रव्यार्पणात्**) इसलिए द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से कथञ्चित् एक (**कथञ्चिदनेकं-पर्यायार्पणात्**) तथा पर्यायार्थिक नय की विवक्षा से कथञ्चित् अनेक है ॥५८॥

भावार्थ—एकान्ती-हठधर्मी ज्ञान को एकमात्र चैतन्याकार ही मानता है अन्य ज्ञेयो के आकारो को ज्ञान मे मलिनता मान उन्हे दूर करने की बलवती इच्छा से ज्ञान को ही नष्ट कर देता है । क्योकि ज्ञान स्वभावत ज्ञेयाकार परिणमनरूप है और वह उसे उन परिणमनो से युक्त देखना नही चाहता है । ऐसी स्थिति मे ज्ञान की अवस्थिति ही नही बन सकती तब ज्ञान का नाश ही समझा जायगा । किन्तु अनेकान्ती-अनेक धर्म स्वरूप वस्तु को अङ्गीकार करने वाला विवेकी कहता है कि ज्ञान का स्वभाव ही ज्ञेयो को जानने का है और वह जानना भी ज्ञान मे ज्ञेयो का आकाररूप परिणमन ही है जो पर्यायरूप है । अत पर्यायार्थिक नय की विवक्षा से ज्ञान अनेकाकार रूप भी है तथा द्रव्यार्थिक नय की विवक्षा से एकाकार-चैतन्याकार भी है क्योकि वह चैतन्याकार एकमात्र ज्ञानरूप ही है अन्य पदार्थरूप नही । इस तरह से ज्ञान एक भी है और अनेक भी है यह विवक्षा की प्रमुखता पर आधारित है, जिसे अज्ञानी समझता ही नही है ।

(अथ परद्रव्यास्तित्वन्यस्तं ज्ञानं निराकृत्य स्वास्तित्वास्तिक्यमागभ्यते) अब परद्रव्य के अस्तित्व के अधीन ज्ञान का निराकरण करके अपने ही अस्तित्व से ज्ञान का अस्तित्व है यह प्रकट करते है—

प्रत्यक्षालिखितस्फुट स्थिरपरद्रव्यास्तितावञ्चितः
स्वद्रव्यानवलोकनेन परितः शून्यः पशुर्नश्यति ।
स्वद्रव्यास्तितयानिरूप्य निपुणं सद्यः समुन्मज्जता
स्याद्वादी तु विशुद्धबोधमहसा पूर्णोभवन् जीवति ।।५६।।

अन्वयार्थ—(**पशुः**) अज्ञानी (**प्रत्यक्षालिखितस्फुटस्थिर परद्रव्यास्तितावञ्चितः**) प्रत्यक्ष रूप से अतिशयप्रकाशमान-अतएव अति स्पष्ट रूप से स्थिर परद्रव्य के अस्तित्व से प्रतारित-ठगा हुआ (**परित**) सब तरफ से (**स्वद्रव्यानवलोकनेन**) आत्मद्रव्य के नही देखने से (**शून्यः**) शून्य-आत्मद्रव्य को नही मानने वाला (**नश्यति**) नाश को प्राप्त होता है। (**तु**) किन्तु (**स्याद्वादी**) अनेकान्ती-स्याद्वाद सिद्धान्तानुसारी (**स्वद्रव्यास्तितया**) अपने आत्मद्रव्व के अस्तित्व से (**निपुणम्**) अपने को भले प्रकार (**निरूप्य**) अवलोकन-जान करके (**सद्यः**) तत्काल (**समुन्मज्जता**) देदीप्यमान (**विशुद्धबोधमहसा**) निर्मल ज्ञान के तेज से (**पूर्णः**) परिपूर्ण (**भवन्**) होता हुआ (**जीवति**) जीता है अर्थात् आत्मस्वरूप से विद्यमान रहता है।

सं० टीका—(**पशुः-परद्रव्येण सदिति प्रतिपद्यमान. कश्चित्**) परद्रव्य के रूप मे अपने अस्तित्व को स्वीकार करने वाला कोई अज्ञानी (**नश्यति**) नाश को प्राप्त होता है (**स्वपक्षापक्षेपं लक्षयति**) अज्ञानी अपने पक्ष के समर्थन को प्रदर्शित करता है (**परितः-सामस्त्येन**) समग्र रूप से (**स्वेत्यादि-स्वस्य आत्मनः द्रव्यम्-द्रवतिद्रोष्यति-अदुद्रवत् स्वगुणपर्यायात् इति द्रव्यं-तस्यानवलोकनेन स्वामित्यावीक्षमाणेन**) जो अपने गुणो और पर्यायो को प्राप्त कर रहा है भविष्य मे प्राप्त करेगा और भूत मे प्राप्त कर चुका हो वह द्रव्य कहलाता है ऐसे आत्मद्रव्य के परद्रव्य के समान स्वामित्व के न देखने से (**शून्य.**) अपने अस्तित्व से रहित (**पुनः कीदृक्षः**) फिर कैसा (**प्रत्यक्षेत्यादिः-प्रत्यक्षेण-वैशद्यज्ञानेन-आलिखिता-आज्ञाता, स्फुटा-व्यक्ता-स्थिरा-अनेककाल स्थायित्वात् सा चासौ परद्रव्यास्तिता च, न च घटास्तित्व पटास्तित्वेऽस्ति सर्वस्य सर्वार्थ क्रिया-करणात्, न हि घटादय. घटादय इव पय आहरणलक्षणामर्थक्रिया कुर्वन्ति घटादिज्ञानं वा इति-परास्तित्वा-भावेऽपि तया वञ्चितः**) प्रत्यक्ष-निर्मल ज्ञान से भले प्रकार अवगत अति स्पष्ट और अनेक काल पर्यन्त स्थिर रहने वाले परद्रव्य के अस्तित्व से अर्थात् घट का अस्तित्व पट मे नही है क्योकि सभी पदार्थ सभी पदार्थों की अर्थ क्रिया करने वाले नही हो सकते। पट आदि घट आदि की तरह जल धारण रूप अर्थ-क्रिया को नही करते हैं—अथवा पटादि घटादि के ज्ञान को नही करा सकते हैं इस तरह से परद्रव्य में अपने से भिन्न द्रव्य के अस्तित्व का अभाव होने पर भी—परद्रव्य के अस्तित्व से वञ्चित-ठगा गया। (**स्याद्वादी तु कथं व्यवतिष्ठते-अनेकान्तमतमति-स्वतत्वं जीवति-स्थिर स्थापयति-इत्यर्थ**) किन्तु स्याद्वादी कैसे व्यवस्था करता है अर्थात् अनेकान्त मतावलम्बी आत्मतत्त्व को स्थिरता के साथ स्थापित करता है।

(कीदृक्षः-) कैसा अनेकान्ती— **(विशुद्धित्यादि-विशुद्धज्ञान तेजसा)** निर्मल ज्ञान के तेज से **(पूर्णीभवन्-स्वमनोरथं पूर्णीकुर्वन्)** अपने मनोऽभिलाष को पूरा करता हुआ **(कीदृशेन-तेन)** कैसे ज्ञान के तेज से **(समुन्मज्जता-समुच्छता-जगति-प्रकाशं गच्छता)** सम्यक् प्रकार से उछलने वाले अर्थात् जगत् में प्रकाशित होने वाले **(किं कृत्वा)** क्या करके **(सद्यः-तत्कालम्)** तत्काल-उसी समय-शीघ्र **(स्वेत्यादिः-स्वस्य-आत्मनः द्रव्यास्तित्वं तया)** अपने आत्मद्रव्य के अस्तित्व से **(निपुणम्-यथोक्तं-अस्तित्वम्)** पूर्वोक्त आत्मा के अस्तित्व को **(निरूप्य-अवलोक्य)** देखकर-जानकर।

भावार्थ—यद्यपि एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य मे नास्तित्व है तथापि अज्ञानी अपने आत्मद्रव्य के अस्तित्व को परद्रव्व के रूप मे अन्तर्हित कर अपने आत्मद्रव्य का नाश करता है परन्तु ज्ञानी स्याद्वादी अनेकान्ती अपने ही निर्मल ज्ञान से अपने आत्मद्रव्य को स्वानुभव रूप से स्वीकार कर उसके पृथक् अस्तित्व का स्थापन करता है जो यथार्थ है।

(अथ परद्रव्य स्वरूपं ब्रह्मेतिवादिनं प्रति परद्रव्येणासदिति सन्न्यस्यते) अब आत्मा परद्रव्यरूप है ऐसा कहने वाले के प्रति आत्मा परद्रव्य रूप नही है यह प्रतिपादन करते हैं—

सर्वद्रव्यमयं प्रपद्य पुरुषं दुर्वासनावासितः—
स्वद्रव्यभ्रमतः पशुः किल परद्रव्येषु विश्राम्यति ।
स्याद्वादी तु समस्त वस्तुषु परद्रव्यात्मना नास्तिताम्—
जानन्निर्मलशुद्धबोधमहिमा स्वद्रव्यमेवाश्रयेत् ॥६०॥

अन्वयार्थ—**(दुर्वासनावासितः)** मिथ्या वासना से वासित **(पशुः)** अज्ञानी-मिथ्याज्ञानी **(पुरुषम्)** आत्मा को **(सर्वद्रव्यमयम्)** समस्त द्रव्यस्वरूप **(प्रपद्य)** जानकर **(किल)** निश्चय से **(स्वद्रव्यभ्रमतः)** आत्मद्रव्य के भ्रम से **(परद्रव्येषु)** परपदार्थों मे **(विश्राम्यति)** विश्राम को प्राप्त करता है अर्थात् पर को ही आत्मा मान निश्चिन्त हो जाता है **(तु)** किन्तु **(स्याद्वादी)** अनेकान्ती **(समस्त वस्तुषु)** सभी पदार्थों मे **(परद्रव्यात्मना)** पर द्रव्यरूप से अर्थात् कोई भी द्रव्य अपने से भिन्न द्रव्यरूप से **(नास्तिताम्)** नास्तिता-अविद्यमानता को **(जानन्)** जानता हुआ **(निर्मलशुद्धबोधमहिमा)** निर्मल शुद्ध ज्ञान की महत्ता वाला ज्ञानी **(स्वद्रव्यम्)** अपने आत्मद्रव्य का **(एव)** ही **(आश्रयेत्)** आश्रय-सेवन-करता है।

सं० टीका—**(पशुः-अद्वैतैकान्तावलम्बी)** अद्वैतरूप एकात का अवलम्बन करने वाला अज्ञानी **(स्वेत्यादिः-स्वस्य द्रव्यं तस्य भ्रमतः भ्रान्तेः)** अपने आत्मद्रव्यके भ्रमसे **(परद्रव्येषु-समस्त चेतनाचेतनेष्वपरद्रव्येषु)** समस्त चेतना तथा अचेतनारूप अन्य द्रव्यो मे **(किल-निश्चितम्)** निश्चितरूप से **(विश्राम्यति-विश्रामं याति)** विश्रामको प्राप्त करता है **(परद्रव्य-सर्वं स्वद्रव्यमिति कृत्वा तिष्ठति)** अर्थात् सभी परद्रव्य को आत्मद्रव्यरूप मानकर बैठ जाता है **(किं कृत्वा)** क्या करके **(पुरुषं-ब्रह्म)** पुरुष-ब्रह्म को **(सर्वद्रव्यमयम्-समस्तचेतनेतर वस्तु मयम्)** सभी चेतनाचेतन वस्तुरूप **(प्रपद्य-अङ्गीकृत्य)** स्वीकार करके **(तदभ्युपगमे वेदवाक्यं "पुरुष एवेदं यद्भूतं यच्चभाव्यं स एव हि सकल लोक प्रलयस्थितिर्हेतुरिति")** सर्व वस्तुमय मानने मे—जो है वह

और जो पहले हो चुका है तथा आगे होगा वह सब पुरुष ही है समस्त लोक के प्रलय-विनाश तथा स्थिति का हेतु है ऐसे वेद वाक्यो को ही प्रमाणरूप से उपस्थित करता है **(सर्वेषा प्रतिभासमानत्वेन प्रतिभासन्त. प्रविष्टत्वं)** सभी पदार्थों के प्रतिभासमान होने से सभी पदार्थ-प्रतिभास के अन्दर समा जाते है **(तस्यैकत्वे)** उसकी एकता मे **(घटपट लकुट मुकुट शकटादीना भेदस्तु)** घट-पट लकुट 'लकडी' मुकुट शकट आदि का भेद तो **(दुर्वासनावासित.-दुर्वासनया-अविद्यया सदसन्नित्यानित्यैकानेकादिरूपेण प्रतिभासमानया वासित.-कल्पित इति वदन् अद्वैतदुर्वासनावासितः दुर्वासनया अनादि कालभूतमहामोहाख्ययाऽविद्यया वासितः-वासनाविषयीकृत.)** सत्-असत्, नित्य-अनित्य, एक-अनेक आदि रूप से प्रतिभासमान होने वाली अविद्या से कल्पित हैं। ऐसा कहने वाले अद्वैत-एकान्तावलम्बी, अद्वैत की खोटी वासना से ग्रसित हैं और अनादि काल की महामोहरूप अविद्या की वासना से गृहीत है। **(स्याद्वादी तु)** स्याद्वादी-अनेकान्ती तो **(समस्तवस्तुषु-सर्व पदार्थेषु)** सभी पदार्थों मे **(स्वद्रव्यमेव-स्वद्रव्येणास्तित्वमेव)** आत्मद्रव्य रूप से अस्तित्व को ही **(आश्रयेत्-भजेत्)** आश्रय करता है— भजता है। **(किं कुर्वन्-)** क्या करता हुआ **(तेषु-)** उन पर-पदार्थों मे **(परद्रव्यात्मना-परस्वरूपेण)** परद्रव्य के रूप से **(नास्तिताम्)** नास्तित्व-अभाव को **(जानन्-प्रमाणवलान्नास्तित्वमभ्युपगच्छन्)** प्रमाण के बल से नास्तिता को निर्वाध रूप से जानता हुआ **(कीदृक्ष स.)** वह कैसा **(निर्मलेत्यादिः— निर्मलः द्रव्यमलकलङ्करहितः, शुद्ध -भावकर्म विकलः स चासौ बोधश्च तेन महिमा माहात्म्य यस्य सः)** निर्मल ज्ञानावरणादि रूप द्रव्य कर्ममय कलङ्क से रहित, शुद्ध - राग-द्वेष मोह आदि भावकर्म से शून्य ज्ञान की महिमा-महत्ता से युक्त।

भावार्थ—पुरुषाद्वैतवादी सारे जगत को एकमात्र पुरुषरूप ही देखता एव जानता है। इस विषय मे वह "पुरुषएवेदम्" वह सर्व जगत पुरुष ही है इत्यादि वेदवाक्य को प्रमाणरूप मे उपस्थित करता है और जब कोई जिज्ञासु यह जानने की इच्छा प्रकट करता है कि घट पटादि जुदे-जुदे दिखने वाले पदार्थों का भेद क्यो कर निषेध किया जा सकता है, जो जगत् की अनेकता को स्पष्ट रूप से जाहिर करते हैं तव उत्तर मे वह कहता है कि अनादि कालीन मोहरूप अज्ञान के वश से हो वैसा प्रतीत होता है वस्तुत वैसा है ही नही इत्यादि। प्रत्यक्षापलापी अज्ञानी हठाग्रही परद्रव्य रूप से नास्तिता को न मानकर स्वद्रव्य को ही पररूप से स्वीकार कर आत्मतत्त्व का समूल नाश करता है। किन्तु अनेकान्ती विवक्षा के वश से पर-द्रव्यरूप से आत्मद्रव्य का नास्तित्व तथा स्व-आत्म-द्रव्यरूप से अस्तित्व को स्वकीय निर्मल ज्ञान से जानकर अपने मे ही अपने को भजता है अपनेरूप से, पररूप से नही।

(अथ परक्षेत्रास्तित्वं निराकुर्वन् स्वक्षेत्रास्तित्वं तुदति) अब परक्षेत्र की अपेक्षा से आत्मा के अस्तित्व का निराकरण करता हुआ स्याद्वादी-अनेकान्ती स्व-क्षेत्र की अपेक्षा से ही अस्तित्व का समर्थन करता है—

भिन्नक्षेत्र निषण्ण बोध्यनियत व्यापारनिष्ठः सदा
सीदत्येव वहिः पतन्तमभितः पश्यन् पुमांसं पशुः।

स्वक्षेत्रास्तितया निरुद्धरभसः स्याद्वादवेदीपुन-
स्तिष्ठत्यात्मनिरवातबोध्य नियत व्यापारशक्तिर्भवन् ॥६१॥

अन्वयार्थ—(**भिन्नक्षेत्रनिषण्ण बोध्यनियतव्यापारनिष्ठः**) पृथक् क्षेत्र मे स्थित ज्ञेय-पदार्थो के जानने रूप निश्चित व्यापारवान् (**पशुः**) अज्ञानी एकान्ती (**पुमासम्**) पुरुष-आत्मा को (**अभित**) सव तरफ से—(**वहिः**) वाहिर-परिक्षेत्र मे (**पतन्तम्**) ज्ञानरूप से जाता हुआ (**पश्यन्**) देखता है अतएव (**सदा**) निरन्तर (**एव**) ही (**सीदति**) नाशको प्राप्त होता है। (**पुनः**) किन्तु (**स्याद्वादवेदी**) स्याद्वाद सिद्धान्ती (**स्वक्षेत्रास्तितया**) स्वक्षेत्र के अस्तितव से (**निरुद्धरभस.**) परक्षेत्रमे गमनका निरोधी (**आत्मनिरवातबोध्यनियत व्यापारशक्तिः**) अपने आत्मा मे प्रतिविम्वित पदार्थो को निश्चित रूप से जानने की शक्ति वाला (**भवन्**) होता हुआ (**तिष्ठति**) अपने आत्मिक क्षेत्र मे ही स्थित रहता है।

सं० टीक—(**कश्चिन्नैयायिकादिः पशुः-अज्ञानी**) कोई नैयायिक आदि अज्ञानी-वस्तु के वास्तविक स्वरूप से अनभिज्ञ पुरुष (**सीदत्येव-स्वस्थित्यभावाद्विषादं यात्येव**) अपनी आत्मा की स्थिति के अभाव से विपाद को ही प्राप्त करता है (**किं कुर्वन्**) क्या करता हुआ (**अभितः-समन्तात्**) सव ओर से (**वहि.-पतन्तम् स्वक्षेत्रात्परक्षेत्रेपतन्तम्**) अपने स्थान से पर के स्थान पर जानने वाले (**पुमासम्-आत्मानम्**) पुरुष-आत्मा को (**पश्यन्-अवलोकयन्**) देखता हुआ (**सदा-नित्यम्**) सर्वदा-हमेशा (**आत्मनः व्यापकत्वाङ्गीकारात्**) क्योकि आत्मा को सर्व व्यापक स्वीकार किया है (**कीदृक्षः-सः**) वह अज्ञानी कैसा है? (**भिन्नेत्यादिः—भिन्नं च तत् क्षेत्रं तत्र निषण्ण-वर्तमानं तच्च तद्बोध्यं ज्ञातु योग्य द्रव्यं च तत्र नियतः निश्चित· व्यापारः सन्निकर्षादिक्रिया-आत्मा मनसा सयुज्यते, मन इन्द्रियेण, इन्द्रियं अर्थेन इन्द्रियाणा प्राप्यकारित्वनियमात्-इति सन्निकर्षादि व्यापारः बोध्यक्षेत्रगमनलक्षण तत्र निष्ठ**) भिन्न क्षेत्र मे वर्तमान ज्ञेय-जानने योग्य द्रव्य के विषय मे निश्चित-सन्निकर्ष आदि रूप क्रिया मे तत्पर अर्थात् सर्वप्रथम आत्मा मन से संयुक्त होता है, मन इन्द्रिय से सयुक्त होता है, इन्द्रिय पदार्थ से सयुक्त होती है क्योकि इन्द्रियो को प्राप्यकारी माना गया है अर्थात् इन्द्रिया पदार्थो से मिलकर ही पदार्थों को जानती हैं ऐसा नियम है इस तरह से सन्निकर्षादि व्यापार मे परिनिष्ठ यानी ज्ञेय पदार्थो के क्षेत्र मे गमन करने वाला (**तत्पक्षावलम्वी स्वव्यवस्थानाभावात्सीदत्येव**) अर्थात् स्वक्षेत्र विनाश पूर्वक परक्षेत्र गमन रूप पक्ष को अवलम्वन करने वाला एकान्ती आत्मतत्त्वकी स्थितिका अभाव होनेसे दु खी ही रहता है। (**स्याद्वादवेदी पुन· कथं तिष्ठति**) और स्याद्वादी कैसे स्थित रहता है? (**स्वेत्यादि —स्वस्यक्षेत्रे अस्तिता अस्तित्वं तया निरुद्धरभस·-सन्निकर्षादीनां निरुद्धोरभस· वेगः येन स·**) जिसने स्वक्षेत्र के अस्तित्व से सन्निकर्षादि के प्रसार को रोक दिया है (**प्रमाण परीक्षादौ सन्निकर्षस्य गतादावतिप्रसङ्गेन दूषितत्वात्**) क्योकि प्रमाण परीक्षा आदि ग्रन्थो मे सन्निकर्ष को गतादि मे अतिप्रसङ्ग होने मे दूषित किया गया है (**नायनसन्निकर्षस्य घटरूपयोः समवेतयो सद्भावे समवेतयोर्घटरसयो. स कथ न स्यात् इति निरस्तत्वात्**) अर्थात् जैसे समवेत-समवाय सम्वन्ध से सम्वद्ध-घट और घटगत रूप मे चाक्षुप सन्निकर्ष का सद्भाव होता है वैसे ही समवेत-समवाय

सम्वन्ध से सम्वद्ध-घट और घटगत रस मे वह चाक्षुष सन्निकर्ष क्यो नही होता है इस तरह से सन्निकर्ष का खण्डन हो जाता है (**तर्हि क्वचिदपिबोध्ये आत्मनो व्यापित्वं न इति वदन्तं प्रति स्याद्वादी कीदृक्षो भवास्तिष्ठति ?**) ऐसी स्थिति मे तो किसी भी वोध्य-जानने योग्य-द्रव्य मे आत्मा की व्यापकता ही नही बन सकेगी ऐसा कहने वाले के प्रति स्याद्वादी कैसा वनकर रहेगा ? (**आत्मेत्यादि —आत्मनि-स्वस्मिन्-निरवात-व्यवस्थितं तच्च यद्वोध्यं च स्वरूपलक्षण बोध्यमित्यर्थः तत्र नियता-निश्चिता व्यापार शक्ति. येन स ईदृक्षो भवन् सन्**) अर्थात् ज्ञायक स्वरूप निज आत्मामे निरवात-व्यवस्थित-प्रतिविम्वित ज्ञेयरूप से स्थित पदार्थों को जानना ही जिसका निश्चित स्वभाव है ऐसा होता हुआ ।

भावार्थ—अज्ञानी-एकान्ती परक्षेत्रस्थ पदार्थों के आकार को धारण करने वाले आत्मा को स्वक्षेत्र को त्यागकर परक्षेत्र मे गया हुआ मानकर स्वक्षेत्र के विघात से आत्मा के विघात को अङ्गीकार करता है परन्तु अनेकान्ती स्याद्वाद के प्रवल प्रकाश मे जव वस्तु के स्वरूप को देखता है तव उसे यही दिखाई देता है कि आत्मा अपने क्षेत्र मे स्थित रहकर ही परक्षेत्रस्थ पदार्थों को अपने ज्ञान स्वभाव से तदाकार रूप से परिणत होकर जानता है अतएव स्वक्षेत्र की अपेक्षा से इसके अस्तित्व मे कोई बाधा उपस्थित नही होती है ।

(**अथ परक्षेत्रे नास्तित्वाभावं वदन्तं प्रति परक्षेत्रे नास्तित्वं क्वणति**) अब परक्षेत्र मे नास्तित्व के अभाव को कहने वाले वादी के प्रति परक्षेत्र मे नास्तित्व के सद्भाव का समर्थन करते हैं—

स्वक्षेत्रस्थितये पृथग्विधपरक्षेत्रास्थितार्थोज्झनात्—
तुच्छीभूयपशुः प्रणस्यति चिदाकारान् सहर्थैर्वमन् ।
स्याद्वादी तु वसन् स्वधामनि परक्षेत्रे विदन्नास्तिताम्—
त्यक्तार्थोऽपि न तुच्छतामनुभवत्याकारकर्षी परान् ॥६२॥

अन्वयार्थ – (**पशुः**) अज्ञानी (**स्वक्षेत्रस्थितये**) अपने क्षेत्र मे स्थित रहने के हेतु (**पृथग्विधपरक्षेत्र-स्थितार्थोज्झनात्**) विभिन्न परक्षेत्रो मे स्थित पदार्थो के परित्याग से (**तुच्छीभूय**) निज स्वभाव से शून्य होकर (**अर्थै.**) परपदार्थों के (**सह**) साथ (**चिदाकारान्**) चैतन्य के आकारो को (**वमन्**) त्यागता हुआ (**प्रणस्यति**) विनाश को प्राप्त होता है (**तु**) किन्तु (**स्याद्वादी**) स्याद्वादसिद्धान्ती (**स्वधामनि**) अपने क्षेत्र मे (**वसन्**) रहता हुआ (**परक्षेत्रे**) परक्षेत्र मे (**नास्तिताम्**) नास्तित्व को (**विदन्**) जानता हुआ (**त्यक्तार्थ.**) परक्षेत्रस्थ पदार्थों को छोडता हुआ (**अपि**) भी (**परान्**) परपदार्थों का (**आकारकर्षी**) आकारधारी (**सन्**) होता हुआ (**तुच्छताम्**) शून्यता को (**न**) नही (**अनुभवति**) अनुभव करता है ।

स० टीका—(**पशु.-कश्चिदज्ञानी**) कोई अज्ञानी (**प्रणश्यति-स्वक्षयं नयति**) अपनी आत्मा के विनाश को प्राप्त करता है (**किं कृत्वा**) क्या करके (**पृथगित्यादि-पृथग्-भिन्न विधिः प्रयोजनं येषान्ते ते च ते परक्षेत्रे-स्वक्षेत्रादपरक्षेत्रे-स्थितार्थाश्च तेषा-उज्झन परिहरण तस्मात्**) भिन्न प्रयोजन वाले परक्षेत्र मे स्थित पदार्थों के परित्याग से (**तुच्छीभूय-निस्स्वभाव भूत्वा**) स्वभाव से शून्य होकर (**किमर्थम्**) किस लिए

(स्वक्षेत्रास्थितये-स्वक्षेत्रभवनाय) अपने क्षेत्र मे रहने के लिए **(स्याद्वादी तु)** स्याद्वादी तो **(पुनः)** फिर **(परान्-परिच्छेद्यपदार्थान्)** पर-परिच्छेद्यपदार्थान्—जानने योग्य पदार्थों के **(आकारकर्षी-आकारग्राही सन्)** आकारो को ग्रहण करने वाला होता हुआ **(न तुच्छताम्-न तुच्छभावताम्)** तुच्छभावता को नही **(अनुभवति)** अनुभव करता है **(ननु पराकारकर्षी स्याद्वादिबोधः परार्थग्राही स्यादित्याशङ्कायामाह)** शङ्काकार कहता है कि पर पदार्थो के आकारो को ग्रहण करने वाला स्याद्वादी का ज्ञान भी पर-पदार्थों के आकारो को ग्रहण करने वाला होगा ऐसी आशङ्का मे उत्तर देते हैं—**(त्यक्तार्थोऽपित्यक्त पर-द्रव्योऽपि परिच्छिन्नस्ति)** परपदार्थों का परित्यागी स्याद्वादी भी परपदार्थो को जानता है **(त्यक्तार्थत्वं कथम्)** परपदार्थों का त्यागी कैसे ? **(परक्षेत्रे-स्वक्षेत्रादपरक्षेत्रे नास्तितता वदन्-प्रतिपादयन्)** अपने क्षेत्र से भिन्न क्षेत्र मे अपनी नास्तिता-अभावता को प्रतिपादन करने वाला **(ननु परक्षेत्र इव स्वक्षेत्रे मास्त्विति-चेन्न)** शङ्काकार कहता है कि जैसे आत्मा परक्षेत्र मे नही रहता है वैसे ही अपने क्षेत्र मे भी मत रहो तो आचार्य कहते हैं कि यह तुम्हारी आशङ्का उचित नही है **(यतः)** कारण कि **(स्वधामनि-स्वक्षेत्रे)** आत्मा अपने आत्मिक क्षेत्र मे **(वसन्-अस्तित्व भजन्)** अस्तित्व को धारण करता हुआ **(पुनः)** फिर **(किं कुर्वन्)** क्या करता हुआ **(चिदाकारान्-चित्पर्यायान्)** चैतन्य के आकारो-पर्यायो को **(वमन्-उद्गिरन्)** त्यागता हुआ **(कैः सह)** किनके साथ **(अर्थैः-पदार्थैः)** परपदार्थों के साथ ।

भावार्थ—एकान्ती परक्षेत्रो मे स्थित परपदार्थों के आकारो को जो अपने ज्ञान मे ज्ञानाकार ही स्थित है उन्हे अपने क्षेत्र की स्थिति के हेतु छोड देता है क्योकि वह ऐसा जानता है कि परपदार्थों के समान ही यदि मैं उनके आकारो को नही छोडूगा तो मेरा निज का क्षेत्र ही नष्ट हो जायगा अतएव वह चैतन्य के आकारो को भी छोड़ बैठता है इसलिए सर्वथा शून्य हो जाता है अर्थात् आत्मा का नाश कर बैठता है। किन्तु स्याद्वादी परक्षेत्र स्थित पदार्थो के आकार को नही छोडता हुआ अपने क्षेत्र मे ही रहता है और परक्षेत्र मे अपनी नास्तिता को भी कायम रखता है इस तरह से यह अनेकान्ती स्वक्षेत्र स्थिति पूर्वक परक्षेत्र स्थित नास्तिता को भी धारण करता है यही परक्षेत्र नास्तिता है ।।६२।।

(अथ स्वकालास्तित्वं प्रीणाति) अब अपने काल मे अपने-अस्तित्व को पुष्ट करते हैं—

पूर्वालम्बितबोध्यनाश समये ज्ञानस्य नाशं विदन्
सीदत्येव न किञ्चनापि कलयन्नत्यन्ततुच्छः पशुः ।
अस्तित्वं निज कालतोऽस्य कलयन् स्याद्वादवेदी पुनः
पूर्णस्तिष्ठति बाह्यवस्तुषुमुहुर्भूत्वा विनश्यत्स्वपि ।।६३।।

अन्वयार्थ—(पशुः) अज्ञानी-एकान्तवादी (पूर्वालम्बितबोध्यनाशसमये) पूर्व समय में ज्ञेयाकाररूप से उपस्थित ज्ञेय के नाश के समय मे (ज्ञानस्य) ज्ञान के (नाशम्) नाश को (विदन्) जानता हुआ (अत्यन्ततुच्छ.) अतिशय रूप से अभाव स्वरुप (सन्) होता हुआ (किञ्चन) किसी पदार्थ को (अपि) भी

(न) नही **(कलयन्)** जानता हुआ **(एव)** ही **(सीदति)** नाश को प्राप्त होता है **(पुनः)** किन्तु **(स्याद्वादवेदी)** स्याद्वाद को जानने वाला ज्ञानी **(अस्य)** ज्ञान के **(अस्तित्वम्)** अस्तित्व को **(निजकालतः)** अपने काल से **(कलयन्)** सम्पादन करता हुआ **(मुहुः)** बार-बार **(भूत्वा)** उत्पन्न होकर **(विनश्यत्सु)** नाश होने वाले **(बाह्यवस्तुषु)** बाह्य पदार्थों मे **(अपि)** भी **(मुहुः)** बार-बार **(भूत्वा)** ज्ञायकरूप से होकर अर्थात् उन्हे प्रति समय जानकर **(अपि)** भी **(पूर्णः)** पूर्णरूप से **(तिष्ठति)** विद्यमान रहता है।

सं० टीका—**(पशुःकश्चिदज्ञानी)** कोई अज्ञानी **(सीदत्येव-विनश्यत्येव)** विनाश को ही प्राप्त करता है **(किं कुर्वन्-)** क्या करता हुआ **(पूर्वेत्यादिः-पूर्वं-स्वोत्पत्तिक्षणे, आलम्बितं-ज्ञेयस्वरूपेण अवलम्बितं तच्च तद्बोध्य च ज्ञेयं तस्य नाशः क्षयः तस्य समये-क्षणे)** पूर्व मे—अपनी उत्पत्ति के समय मे ज्ञेयरूप से अवलम्बित-उपस्थित ज्ञेय के नाश के समय मे **(ज्ञानस्य-बोधस्य)** ज्ञान के **(नाश-विनाशम्)** विनाश को **(विदन्-जानन्)** जानता हुआ **(अत्यन्त तुच्छः-अत्यन्त-निश्शेष तुच्छः-निस्स्वभावः)** पूर्णरूप से स्वभाव शून्यता से **(सर्वेषा तुच्छस्वभावत्वात्-निरन्वय विनाशात्)** क्योकि सभी पदार्थ तुच्छ स्वभाव वाले अर्थात् अन्वय शून्य विनाश वाले हैं। **(सोऽपि वादी तुच्छस्वभावः तन्मध्ये पतितत्वात्)** वह वादी भी तुच्छ स्वभाव वाला निरन्वय विनाश वाला है क्योकि वह भी उन सभी तुच्छ स्वभाव वालो के मध्य मे समाविष्ट है **(किञ्चनापि-किमपि चेतनाचेतनम्)** किसी भी चेतन तथा अचेतन पदार्थ को **(स्थिर न कलयन्)** स्थिर नही मानता **(पुनः)** किन्तु **(स्याद्वादवेदी)** स्याद्वाद का ज्ञाता **(पूर्णः-पूर्वापर कालस्थायित्वेन पूर्णमनोरथः)** पूर्वोत्तर काल मे स्थितिशील होने से ही परिपूर्ण मनोरथ वाला **(तिष्ठति-आस्ते)** स्थित रहता है। **(किं कुर्वन्)** क्या करता हुआ **(अस्य-ज्ञानस्य)** ज्ञान के **(निजकालतः-स्वकालतः)** अपने काल से **(अस्तित्वं कलयन्)** अस्तित्व को जानता हुआ **(किं कृत्वा)** क्या करके **(मुहुः-पुनः)** बार-बार **(बाह्यवस्तुषु-बहिः पदार्थेषु)** बाह्य पदार्थों मे **(भूत्वा-तद्ग्राहक स्वरूपेणोत्पद्य)** उन पदार्थों का ग्राहक रूप से उत्पन्न होकर **(कीदृशेषु तेषु)** कैसे पदार्थों मे **(विनश्यत्स्वपि-पर्यायापेक्षया-प्रतिक्षण विनाशं गच्छत्सु)** पर्यायो की अपेक्षा से प्रति समय विनाश को प्राप्त करने वाले **(अपिशब्दात्-द्रव्यादेशादविनश्यत्सु)** द्रव्यार्थिक नय के आदेश से नष्ट नही होने वाले **(बाह्यपदार्थेषु विनश्यत्स्वपि)** बाह्य पदार्थों के विनाश को प्राप्त होने पर भी **(ज्ञानं न विनश्यति)** ज्ञान नही नष्ट होता है **(स्वकाले सत्त्वात्)** क्योकि ज्ञान अपने समय मे विद्यमान रहता है ॥६३॥

भावार्थ—वादी-एकान्ती के मत मे सभी पदार्थ निरन्व विनाशशील हैं अतएव वह भी उनके मध्य अन्तर्हित होने से स्वय ही विनाशशील है। किन्तु प्रतिवादी अनेकान्ती के मत मे पर्यायार्थिक नय की विवक्षा से सभी [illegible] होते हुए भी द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से सभी पदार्थ नित्य है अविनश्वर हैं [illegible] पर्यन्त स्थित रहने वाले है। अत आत्मा भी उन्ही पदार्थों मे से एक [illegible] से उभयरूप है यही स्वकालास्तित्व नाम का भङ्ग है ॥६३॥

[illegible]व परकाल मे आत्मा के नास्तित्व का समर्थन करते हैं—

अर्थालम्बनकाल एव कलयन् ज्ञानस्य सत्त्वं बहि-
र्ज्ञेयालम्बनलालसेन मनसा भ्राम्यन् पशुर्नश्यति ।
नास्तित्वं परकालतोऽस्य कलयन् स्याद्वादवेदी पुन-
स्तिष्ठत्यात्मनिरवातनित्यसहजज्ञानैकपुञ्जीभवन् ।।६४।।

अन्वयार्थ—(**पशु**) अज्ञानी (**अर्थालम्बनकाले**) अर्थ-पदार्थ के आलम्बन काल मे (**एव**) ही (**ज्ञानस्य**) ज्ञान के (**सत्त्वम्**) अस्तित्व को (**कलयन्**) जानता या मानता हुआ (**बहिर्ज्ञेयालम्बन लालसेन**) बाह्य ज्ञेयो के आलम्बन की लालसा वाले (**मनसा**) मन से (**भ्राम्यन्**) बाह्य पदार्थों मे अनुरक्तता के वश से घूमता हुआ (**नश्यति**) नाश को प्राप्त होता है। (**पुनः**) किन्तु (**स्याद्वादवेदी**) स्यद्वाद के स्वरूप का वेत्ता (**अस्य**) ज्ञान का (**परकालतः**) परपदार्थ के काल से (**नास्तित्वम्**) नास्तित्व को-अभाव को (**कलयन्**) जानता हुआ (**आत्मनिरवातनित्य सहजज्ञानैक पुञ्जीभवन्**) आत्मा मे अवस्थित नित्य स्वाभाविक ज्ञान का अद्वितीय पुञ्ज होता हुआ (**तिष्ठति**) स्थित रहता है।

सं० टीका—(**पशु -कश्चिदज्ञानी**) कोई अज्ञानी (**परकाले वस्तुनोऽस्तित्ववादी**) परद्रव्य के काल मे वस्तु की अस्तित्वता को कहने वाला अविवेकी (**नश्यति-स्वपक्षक्षयेणस्वयं क्षय याति**) अपने पक्ष के विनाश से स्वय ही विनाश को प्राप्त होता है (**कीदृक्षः सन् ?**) कैसा होता हुआ (**मनसा-चित्तेन**) चित्त से (**कृत्वा भ्राम्यन्-अन्यथार्थस्यान्यथार्थकल्पनया भ्रमं गच्छन्**) पदार्थ के असली स्वरूप से विपरीत स्वरूप कल्पना करके भ्रम को प्राप्त होता हुआ (**कीदृशेन तेन ?**) कैसे चित्त से (**बहिरित्यादिः-बहिर्ज्ञेयं-बाह्याचेतनादिद्रव्यं तदेवालम्बनं-अवलम्बनं तत्र लालसं यत्तेन**) बाहिरी अचेतन आदि द्रव्यरूप आलम्बन मे लालसा रखने वाले (**पुन कीदृक्ष. सः**) फिर भी वह अज्ञानी कैसा (**अर्थेत्यादिः-अर्थस्य ज्ञेयस्य आलम्बनं तदुत्पत्त्यादिवशादवलम्बनं तस्य काले-समये-एव**) ज्ञेय-ज्ञान के द्वारा जानने योग्य-पदार्थ के आलम्बन अर्थात् उस पदार्थ की उत्पत्ति आदि के वश से अवलम्बन काल मे ही (**ज्ञानस्य**) ज्ञान के (**सत्त्वं-अस्तित्वम्**) अस्तित्व-सत्त्व को (**कलयन्-अङ्गीकुर्वन्**) अङ्गीकार करता हुआ (**तदुक्तं तन्मते**) यही बात उसके मत मे कही गई है—

अर्थस्यासम्भवे भावात् प्रत्यक्षे च प्रमाणता ।
प्रतिवद्धस्वभावस्य तद्धेतुत्वे समं द्वयम् ।।१।।

(**अर्थालंबन लक्षणे परकाले सत्त्वे सर्वदा सत्त्वप्रसङ्गात् स्याद्वादवेदी पुन**) और स्याद्वादवेदी (**अस्य ज्ञानस्य**) इस ज्ञान का (**परकालतः-परकालेन**) परपदार्थ के काल से (**नास्तितम्-असत्त्वम्**) नास्तित्व-असत्त्व को (**कलयन्-अङ्गीकुर्वन्**) अङ्गीकार करता हुआ (**तिष्ठति-आस्ते**) स्थित रहता है (**ननु यथा परकालेन नास्तित्व स्याद्वादिनां तथा स्वकालेऽपि तदस्तु इति चेत्**) शङ्काकार कहता है कि जैसे स्याद्वादियो के परद्रव्य के काल से ज्ञान का नास्तित्व है वैसे ही वह नास्तित्व अपने ज्ञान के काल से भी रहो यदि ऐसा तुम्हारा कहना है तो (**न**) वह कहना ठीक नही है (**यतः**) कारण कि (**आत्मेत्यादिः-आत्मनि-चिद्रूपे-निरवातम्-आरोपित तच्च तन्नित्यं-द्रव्यरूपतया शास्वतम्-सहज ज्ञानं**

च चिद्रूपस्य शास्वतिकत्वे ज्ञानस्यापि शाश्वतिकत्वात् तत्काले तस्य सद्भावः तस्यैकपुञ्जीभवन्-अद्वितीय-समह सन्) चैतन्य स्वरूप आत्मा मे स्थित द्रव्यरूप होने से नित्य स्वाभाविक क्योकि चैतन्यमय आत्मा के नित्य होने से उसका ज्ञानगुण भी नित्य ही है अतएव आत्मा के अस्तित्व काल मे ज्ञान का भी अस्तित्व रहता है ऐसे ज्ञान का अद्वितीय समूह होता हुआ।

भावार्थ—पराधीन बुद्धि अज्ञानी एक पक्षपाती पर के अस्तित्व काल मे ही अपने ज्ञान के अस्तित्व को स्वीकार करने वाला पर के विनाश काल मे अपने विनाश को मानने वाला अपने अस्तित्व को ही खो बैठता है। किन्तु स्याद्वादी स्वाधीन बुद्धि अनेकान्ती-अनेक पक्षो को विविध अपेक्षाओ से स्वीकार करने वाला स्व के अस्तित्व से ही अपने अस्तित्व को मानता है पर के अस्तित्व से नही। अतएव जिस काल ज्ञान परद्रव्य को जानता है उस काल मे वह अपने काल के अस्तित्व से ही अपने अस्तित्व को नियत करता है परज्ञेय पदार्थ के अस्तित्व काल से नही। यदि कोई यह कहे कि जैसे स्याद्वादी परद्रव्य के काल से अपने नास्तित्व को अङ्गीकार करता है वैसे ही अपने काल से भी नास्तित्व स्वीकार करे तो उसका यह कहना सर्वथा अनुचित है कारण कि आत्मा द्रव्यदृष्टि से नित्य है अतएव उसका ज्ञान गुण भी उसके आधार से नित्य ही है। क्योकि आधार आधेय में यहा तादात्म्य सम्वन्ध है और जिनका तादात्म्य सम्बन्ध होता है वे गुण और गुणी नित्य ही होते हैं। उनका स्वकाल मे भी नास्तित्व कथमपि सम्भव नही है। अतएव परकाल के नास्तित्व के समान स्वकाल मे नास्तित्व नही है। स्वकाल मे नास्तित्व स्वीकार करने पर द्रव्य का ही मूलोच्छेद होगा।

(अथ स्वभावास्तित्वमनुभूयते) अब स्वभाव की अपेक्षा से अस्तित्व का अनुभव करते हैं—

विश्रान्तः परभावभावकलनान्नित्यं बहिर्वस्तुषु—
नश्यत्येव पशुः स्वभावमहिमन्येकान्तनिश्चेतनः।
सर्वस्मिन्नियतस्वभावभवनज्ञानाद्विभक्तो भवन्—
स्याद्वादी तु न नाशमेति सहजस्पष्टीकृत प्रत्ययः ॥६५॥

अन्वयार्थ—**(पशु.)** अज्ञानी एकान्तवादी हठाग्रही **(नित्यम्)** निरन्तर **(परभावभाव कलनात्)** परभावो मे आत्मभाव की कल्पना से **(बहिर्वस्तुषु)** वाह्य पदार्थों मे **(विश्रान्त)** विश्रान्ति को प्राप्त हुआ **(स्वभाव महिमनि)** निज चैतन्य स्वरूप की महिमा मे **(एकान्तनिश्चेतनः)** अत्यन्त निश्चेतन "जड" वर्तता हुआ **(एव)** ही **(नश्यति)** नाश को प्राप्त करता है। **(तु)** किन्तु [illegible] द का परिवेत्ता अनेकान्ती निराग्रही **(सर्वस्मिन्)** सभी पदार्थों मे **(नियतस्वभावभवन-** [illegible] वभावभाव के परिज्ञान से **(विभक्तः)** उन समस्त परपदार्थों से पृथक् **(भवन्)** होता [illegible] **प्रत्यय.)** स्वभाव से स्पष्ट प्रत्यक्ष—अनुभव रूप किया है जिसने अर्थात् स्वभाव से [illegible] **-नाशम्)** नाश को **(न)** नही **(एति)** प्राप्त करता है अर्थात् आत्म श्रद्धावान [illegible] है।

सं० टीका—(**पशुः-परभावेनात्मानं मन्यमानः कश्चिदज्ञाता**) परपदार्थ रूप से आत्मा को मानने वाला कोई अज्ञानी (**नश्यत्येव**) नाश को ही प्राप्त करता है (**कीदृशः**) कैसा (**नित्यम्-निरन्तरम्**) निरन्तर-हमेशा (**बहिर्वस्तुषु-नीलादिज्ञेयक्षणेषु**) नील आदि पदार्थो के समय मे (**विश्रान्त.-स्थित**) स्थित (**कुतः**) कैसे (**परेत्यादिः-परे च ते भावाश्चनीलपीतादयस्तेषां भावः-स्वभाव तस्य कलना-ग्रहणम्-आत्मसात्करणम्-तस्मात्**) नील पीतादि परपदार्थों के स्वभाव को ही आत्मा का स्वभाव स्वीकार करने से (**स्याद्वादवेदी तु न नाशमेति-विनाशं न प्राप्नोति**) किन्तु स्याद्वाद के स्वरूप का सवेत्ता विनाश को नही प्राप्त होता (**कीदृशः**) कैसा स्याद्वादी (**सहजेत्यादिः-सहजः स्वभाविक· स्पष्टीकृतः प्रत्यय. ज्ञान येन सः**) जिसने आत्मा के स्वभावभूत ज्ञान को सर्वथा स्पष्ट कर लिया है (**स्वस्वभावनियतत्वात्**) क्योकि आत्मा का स्वभाव नियत·निश्चित है (**सर्वस्मात्-ज्ञेयात्-विभक्तः भिन्नः**) सभी ज्ञेय-पदार्थों से भिन्न (**भवन्-सन्**) होता हुआ (**परभावस्वभावग्राहकत्वाभावात्**) क्योकि आत्मा अपने से भिन्न किसी भी पदार्थ के स्वभाव का ग्राहक-ग्रहण करने वाला नही है। (**कुतः**) कैसे (**नियतेत्यादि.-नियतः निश्चितः स्वभावः चैतन्यादि स्वरूपम्-तेन भवन यस्य तच्च तज्ज्ञानंच तस्मात्**) जिसका चैतन्यादि स्वरूप रूप परिणमन निश्चित है उसके ज्ञान से (**कीदृक्षः सः**) वह कैसा (**स्वेत्यादिः-स्वस्यभावः पर्यायः, ज्ञानादि-लक्षणः तस्यमहिमा-माहात्म्यं-यत्र तस्मिन्नात्मनि**) जिस आत्मा मे ज्ञानादि स्वरूप महिमा विद्यमान है उसमे (**एकान्तेत्यादिः-एकान्तात्-सर्वथास्तित्वनास्तित्वादे. निर्गत चेतन ज्ञानं यस्य स.**) जिसका ज्ञान सर्वथा अस्तित्व एव सर्वथा नास्तित्वादि रूप एकान्तवाद से शून्य है (**आत्मनि एकान्तज्ञानाभावात्-अनेकान्त ज्ञानम्**) आत्मा मे एकान्त ज्ञान का अभाव होने से अनेकान्त रूप ज्ञान होता है।

भावार्थ—एकान्ती अपनी आत्मा को परपदार्थ स्वरूप ही मानता है अतएव वह बाह्य पदार्थो मे आसक्त रहता है इसलिए वह अपनी आत्मा का विनाश करने वाला है अपनी आत्मा से बेखबर है। किन्तु स्याद्वादी आत्मज्ञानी प्रत्येक पदार्थ को अपने-अपने निश्चित-नियत स्वरूप मे ही परिणमनशील स्वीकार करता है अतएव अपने आत्मपदार्थ को भी समस्त चेतन एव अचेतन पदार्थों से स्वभावत पृथक् जानता है अतएव वह अपने ज्ञानादि गुणो के पुञ्जभूत आत्मा का कदापि नाश नही होने देता है ज्ञानी की दृष्टि मे कूटस्थ नित्य कोई वस्तु है ही नही ॥६५॥

(**अथापरपर्यायपर ब्रह्मनिषेधयन् परस्वरूपेण सदित्युद्घाटयति**) अब परपदार्थ रूप से आत्मा का निषेध करते हुए स्वरूप से आत्मा के अस्तित्व का उद्घाटन-निरूपण करते है—अर्थात् आत्मा पररूप से नास्तिरूप है और निजरूप से अस्तिरूप है, यह प्रकट करते है—

अध्यास्यात्मनि सर्वभावभवनं शुद्धस्वभावच्युतः
सर्वत्राप्यनिवारितो गतभयः स्वैरं पशुः-क्रीडति ।
स्याद्वादी तु विशुद्ध एवलसति स्वस्य स्वभावं भरा-
दारूढः परभावभावविरहव्यालोकनिष्कम्पितः ॥६६॥

अन्वयार्थ—(**पशुः**) अज्ञानी एकान्ती (**आत्मनि**) आत्मा मे—अपने चैतन्य स्वरूप मे (**सर्वभावभवनम्**) समस्त पदार्थों के अस्तित्व को (**अध्यास्य**) आरोपित-कल्पित करके— (**शुद्धस्वभावच्युत**) अपने शुद्ध स्वभाव से स्खलित-रहित अतएव (**सर्वत्र**) सभी अकर्तव्यो मे (**अपि**) भी (**अनिवारित.**) वेरुकावट प्रवृत्ति करने वाला (**गतभयः**) निर्भयरूप होता हुआ (**स्वैरम्**) स्वच्छन्द-मनचाही (**क्रीडति**) क्रीडा करने लगता है (**तु**) किन्तु (**स्याद्वादी**) स्याद्वाद से वस्तु स्वरूप की व्यवस्था को जानने वाला अनेकान्ती (**भरात्**) अतिशयरूप से (**स्वस्य**) अपने (**स्वभावम्**) स्वभाव को (**आरूढः**) प्राप्त हुआ अतएव (**परभावभावविरह व्यालोक निष्कम्पित.**) परपदार्थों तथा परपर्यायो के अभाव के विशिष्ट दर्शन से निश्चल अत (**विशुद्ध.**) परिपूर्ण निर्मल रूप से—(**एव**) ही (**लसति**) शोभित होता है ।

सं० टीका—(**सर्वभावमयं पुरुषम्-कल्पयन् पशुः-कश्चिदज्ञानी**) सर्व पदार्थ स्वरूप आत्मा को स्वीकार करने वाला कोई अज्ञानी (**स्वैरम्-स्वेच्छया**) अपनी इच्छानुसार (**यमनियमासनाद्यभावात्**) यम, नियम, आसन आदि का अभाव होने से (**क्रीडति विहरति-इतस्तत**) इधर-उधर सब जगह क्रीडा करता रहता है (**कीदृक्ष**) कैसा (**गतभयः-गतः नष्ट. भयः-इहपरलोकादि लक्षणोयस्य सः**) जिसका इस लोक तथा परलोक आदि का भय नष्ट हो चुका है (**सर्वस्य ब्रह्ममयत्वादिहपरलोकाद्यभावः**) समस्त पदार्थों के ब्रह्म स्वरूप होने से ही इस लोक तथा परलोक आदि का अभाव सिद्ध होता है (**पुन. सर्वत्रापि-निषिद्धानुष्ठानेऽपि**) और शास्त्र से निषिद्ध–नही करने योग्य क्रियाओके करनेमे (**अनिवारितः**) वे रोक टोक होता है (**अलाबूनिमज्जन्ति, ग्रावाणः प्लवन्ते, अन्धोमणिमविन्दवत् तमनङ्गुलिरावतत् उत्ताना वै देवगावो वहन्तीत्यादीना वेदवाक्याना पूर्वापरविरुद्धाना मातृगमनादि प्ररूपकाणा च सद्भावान्न तेषा कश्चिन्निवारकः**) अर्थात् तूम्बडिया पानी मे डूबती है, पाषाण-पत्थर पानी मे तैरते हैं अन्धा आदमी मणि को पाया, उसको बिना अगुलि की ध्वनि व्याप्त करती है, ऊपर मुख किये हुए देवो की गायें तैरती हैं इत्यादि वेद वाक्य जो पूर्वापर विरुद्ध है उनके और माता के साथ काम सेवन आदि के निरूपण करने वाले वचनो के सद्भाव से उनका कोई निवारण करने वाला नही है। (**पुन.**) और (**शुद्धेत्यादिः-शुद्धस्वभावे च्युतः शुभाशुभ पर्यायमयत्वात्**) शुभ और अशुभ पर्यायस्वरूप होने से शुद्ध स्वभाव से शून्य (**किं-कृत्वा**) क्या करके (**आत्मनि-चिद्रूपे**) चैतन्य स्वरूप आत्मा मे (**सर्वेत्यादि.-सर्वभावाना-समस्तस्वभावाना भवनं-अस्तित्वम्-**) सभी स्वभावो के अस्तित्व को (**अध्यास्य-अध्यारोप्य**) आरोपण करके । (**स्याद्वादी तु**) किन्तु स्याद्वादी तो (**विशुद्ध एव-निर्मलस्वज्ञाननियत एव**) पूर्णरूप से परिशुद्ध अपने ज्ञान मे निश्चित होकर ही (**लसति-विलासं करोति**) विलास को करता है (**दृष्टेष्टविरोधाभावात्**) क्योकि इस निर्मल ज्ञान मे नियत रहना प्रत्यक्ष तथा परोक्ष किसी भी प्रमाण से विरुद्ध नही है (**कीदृक्ष.-**) कैसा (**भरात्-अतिशयेन**) अतिशय रूप
त्मा के (**स्वभाव-स्वरूपम्**) स्वरूप को (**आरूढः-विश्रान्तः**) प्राप्त हुआ (**स्वभावेन**
वभाव से सत् रूप है (**तर्हि परस्वभावेनाप्यस्तु**) यदि स्वभाव से आत्मा सत्
ो वह सत् रहो ऐसा वादी का कहना है (**तन्निवारणार्थमाह**) उसका निवा-

रण करने के हेतु कहते हैं अर्थात् आत्मा स्वभाव से तो सत् है परस्वभाव से सत् नही है यह दिखाते है—**(परेत्यादिः-परे च ते भावश्च चेतनाचेतनादयश्च तेषां भावाः पर्यायाः राग-द्वेष नीलपीतादय. तेषा विरहेणं-अभावेन व्यालोकः-स्वतत्त्वावलोकनं तेन निष्कम्पितः-निश्चलः)** आत्मा से भिन्न सभी चेतन तथा अचेतन पदार्थों के राग-द्वेष आदि तथा नीलपीतादि पर्यायो के अभाव से आत्मतत्त्व के अवलोकन द्वारा निश्चल है **(प्रमाणप्रसिद्धत्वात्)** क्योकि आत्मा का पूर्वोक्त स्वरूप प्रत्यक्षादि प्रमाणो से प्रसिद्ध है ॥६६॥

भावार्थ—एकान्ती दुराग्रही ज्ञान मे ज्ञेयरूप से प्रतिभासित समस्त पदार्थों को सदाकाल अपने मे ही स्थित मानकर तद्रूप हुआ अपने शुद्ध स्वभाव से शून्य हो स्वय के अस्तित्व को नष्ट कर परपदार्थों मे ही स्वच्छन्दता से प्रवृत्ति करता रहता है और उन्ही मे अपनी अनुभूति को स्वीकार करता है। किन्तु अनेकान्ती स्याद्वादी अपेक्षा से वस्तुस्वरूप को देखने और जानने वाला—सभी परद्रव्यो से अपने ज्ञान स्वभाव को पृथक् मानता हुआ उन्हे जानता है क्योकि ज्ञान का कार्य ही ज्ञेयो को जानने का है पर ज्ञेयरूप होने का नही। अतएव अपने ज्ञान स्वभाव का अनुभव करता हुआ सदा काल अपने अस्तित्व को उन समस्त ज्ञेयो से भिन्न ही स्वीकार करता है। यही परभाव की अपेक्षा से निज भाव का नास्तित्व है ॥६६॥

(अथ सर्वस्य क्षणभङ्गाभोगभङ्गिसङ्गतस्य तत्त्वस्य निरसनव्यसन नित्यत्व पणायते) सभी तत्त्वो की क्षणभगुरता का निरसन पूर्वक नित्यता की प्रतिज्ञा करते है—

प्रादुर्भावविराममुद्रितवहद्ज्ञानांशनानात्मना-
निर्ज्ञानात्क्षणभङ्गसङ्गपतितः प्रायः पशुर्नश्यति ।
स्याद्वादी तु चिदात्मना परिमृशंश्चिद्वस्तु नित्योदितं-
टङ्कोत्कीर्णघनस्वभावमहिमज्ञानं भवन् जीवति ॥६७॥

अन्वयार्थ—**(पशुः)** अज्ञानी-एकान्ती **(प्रादुर्भाव विराम मुद्रितवहद् ज्ञानांश नानात्मना)** उत्पत्ति तथा विनाश से चिह्नित वस्तु को जानने वाले ज्ञान के अशो से ज्ञान के भी नाना रूप होने से **(निर्ज्ञानात्)** और अपने सिद्धान्त के निश्चयात्मक निर्णय से **(क्षणभङ्ग संगपतितः)** क्षणनश्वरता की सगति मे पतित-पडा हुआ अर्थात् क्षणनश्वरता को स्वीकार करने वाला **(प्रायः)** बहुधा **(नश्यति)** नाश को प्राप्त करता है। **(तु)** किन्तु **(स्याद्वादी)** अनेकान्तात्मक वस्तु की व्यवस्था को अपेक्षावाद से जानने वाला कथञ्चिद वादी- **(चिद्वस्तु)** चैतन्य स्वरूप आत्मपदार्थ को **(चिदात्मना)** चैतन्य स्वरूप से **(परिमृशन्)** निश्चय करता हुआ **(नित्योदितम्)** निरन्तर उदित करने वाले **(टङ्कोत्कीर्ण घनस्वभावमहिमज्ञानम्)** निरन्तर देदीप्यमान महिमाशाली ज्ञानस्वरूप **(भवन्)** होता हुआ **(जीवति)** सदा काल जीवित रहता है अर्थात् कभी भी विनाश को प्राप्त नही होता है।

सं० टीका—**(प्रायः बाहुल्येन)** बहुलता से **(पशुः-सर्वक्षणिकवादी कश्चिदज्ञानी)** समस्त पदार्थसमूह को क्षणनश्वर स्वीकार करने वाला कोई अज्ञानी **(नश्यति-सीदति)** नाश को प्राप्त होता है **(कीदृक्ष.)**

अन्वयार्थ—(**पशुः**) अज्ञानी एकान्ती (**आत्मनि**) आत्मा मे—अपने चैतन्य स्वरूप मे (**सर्वभावभवनम्**) समस्त पदार्थों के अस्तित्व को (**अध्यास्य**) आरोपित-कल्पित करके— (**शुद्धस्वभावच्युत**) अपने शुद्ध स्वभाव से स्खलित-रहित अतएव (**सर्वत्र**) सभी अकर्तव्यो मे (**अपि**) भी (**अनिवारितः**) बेरुकावट प्रवृत्ति करने वाला (**गतभयः**) निर्भयरूप होता हुआ (**स्वैरम्**) स्वच्छन्द-मनचाही (**क्रीडति**) क्रीडा करने लगता है (**तु**) किन्तु (**स्याद्वादी**) स्वाद्वाद से वस्तु स्वरूप की व्यवस्था को जानने वाला अनेकान्ती (**भरात्**) अतिशयरूप से (**स्वस्य**) अपने (**स्वभावम्**) स्वभाव को (**आरूढः**) प्राप्त हुआ अतएव (**परभावभावविरह व्यालोक निष्कम्पितः**) परपदार्थों तथा परपर्यायो के अभाव के विशिष्ट दर्शन से निश्चल अत (**विशुद्धः**) परिपूर्ण निर्मल रूप से—(**एव**) ही (**लसति**) शोभित होता है ।

सं० टीका—(**सर्वभावमयं पुरुषम्-कल्पयन् पशुः-कश्चिदज्ञानी**) सर्व पदार्थ स्वरूप आत्मा को स्वीकार करने वाला कोई अज्ञानी (**स्वैरम्-स्वेच्छया**) अपनी इच्छानुसार (**यमनियमासनाद्यभावात्**) यम, नियम, आसन आदि का अभाव होने से (**क्रीडति विहरति-इतस्तत.**) इधर-उधर सब जगह क्रीडा करता रहता है (**कीदृक्षः**) कैसा (**गतभयः-गतः नष्टः भयः-इहपरलोकादि लक्षणोयस्य सः**) जिसका इस लोक तथा परलोक आदि का भय नष्ट हो चुका है (**सर्वस्य ब्रह्ममयत्वादिहपरलोकाद्यभावः**) समस्त पदार्थों के ब्रह्म स्वरूप होने से ही इस लोक तथा परलोक आदि का अभाव सिद्ध होता है (**पुनः सर्वत्रापि-निषिद्धानुष्ठानेऽपि**) और शास्त्र से निषिद्ध—नही करने योग्य क्रियाओके करनेमे (**अनिवारित.**) बे रोक टोक होता है (**अलाबूनिमज्जन्ति, ग्रावाणः प्लवन्ते, अन्धोमणिमवन्दिवत् तमनङ्गुलिरावतत् उत्ताना वै देवगावो वहन्तीत्यादीना वेदवाक्याना पूर्वापरविरुद्धानां मातृगमनादि प्ररूपकाणां च सद्भावान्न तेषा कश्चिन्निवारकः**) अर्थात् तूम्बडिया पानी मे डूबती हैं, पाषाण-पत्थर पानी मे तैरते हैं अन्धा आदमी मणि को पाया, उसको बिना अगुलि की ध्वनि व्याप्त करती है, ऊपर मुख किये हुए देवो की गायें तैरती हैं इत्यादि वेद वाक्य जो पूर्वापर विरुद्ध हैं उनके और माता के साथ काम सेवन आदि के निरूपण करने वाले वचनो के सद्भाव से उनका कोई निवारण करने वाला नही है। (**पुनः**) और (**शुद्धेत्यादि.-शुद्धस्वभावे च्युतः शुभाशुभ पर्यायमयत्वात्**) शुभ और अशुभ पर्यायस्वरूप होने से शुद्ध स्वभाव से शून्य (**किं-कृत्वा**) क्या करके (**आत्मनि-चिद्रूपे**) चैतन्य स्वरूप आत्मा मे (**सर्वेत्यादि.-सर्वभावाना-समस्तस्वभावाना भवनं-अस्तित्वम्-**) सभी स्वभावो के अस्तित्व को (**अध्यास्य-अध्यारोप्य**) आरोपण करके। (**स्याद्वादी तु**) किन्तु स्याद्वादी तो (**विशुद्ध एव-निर्मलस्वज्ञाननियत एव**) पूर्णरूप से परिशुद्ध अपने ज्ञान मे निश्चित होकर ही (**लसति-विलासं करोति**) विलास को करता है (**दृष्टेष्टविरोधाभावात्**) क्योकि इस निर्मल ज्ञान मे नियत रहना प्रत्यक्ष तथा परोक्ष किसी भी प्रमाण से विरुद्ध नही है (**कीदृक्षः-**) कैसा (**भरात्-अतिशयेन**) अतिशय रूप से (**स्वस्य-आत्मनः**) आत्मा के (**स्वभावं-स्वरूपम्**) स्वरूप को (**आरूढः-विश्रान्तः**) प्राप्त हुआ (**स्वभावेन सत्त्वात्**) क्योकि आत्मा स्वभाव से सत् रूप है (**तर्हि परस्वभावेनाप्यस्तु**) यदि स्वभाव से आत्मा सत् स्वरूप है तो परस्वभाव से भी वह सत् रहो ऐसा वादी का कहना है (**तन्निवारणार्थमाह**) उसका निवा-

रण करने के हेतु कहते हैं अर्थात् आत्मा स्वभाव से तो सत् है परस्वभाव से सत् नही है यह दिखाते हैं—(**परेत्यादिः-परे च ते भावश्च चेतनाचेतनादयश्च तेषां भावाः पर्यायाः राग-द्वेष नीलपीतादय· तेषां विरहेणं-अभावेन व्यालोकः-स्वतत्त्वावलोकन तेन निष्कम्पितः-निश्चलः**) आत्मा से भिन्न सभी चेतन तथा अचेतन पदार्थों के राग-द्वेष आदि तथा नीलपीतादि पर्यायो के अभाव से आत्मतत्त्व के अवलोकन द्वारा निश्चल है (**प्रमाणप्रसिद्धत्वात्**) क्योकि आत्मा का पूर्वोक्त स्वरूप प्रत्यक्षादि प्रमाणो से प्रसिद्ध है ॥६६॥

भावार्थ—एकान्ती दुराग्रही ज्ञान मे ज्ञेयरूप से प्रतिभासित समस्त पदार्थों को सदाकाल अपने मे ही स्थित मानकर तद्रूप हुआ अपने शुद्ध स्वभाव से शून्य हो स्वय के अस्तित्व को नष्ट कर परपदार्थो मे ही स्वच्छन्दता से प्रवृत्ति करता रहता है और उन्ही मे अपनी अनुभूति को स्वीकार करता है। किन्तु अनेकान्ती स्याद्वादी अपेक्षा से वस्तुस्वरूप को देखने और जानने वाला—सभी परद्रव्यो से अपने ज्ञान स्वभाव को पृथक् मानता हुआ उन्हे जानता है क्योकि ज्ञान का कार्य ही ज्ञेयो को जानने का है पर ज्ञेयरूप होने का नही। अतएव अपने ज्ञान स्वभाव का अनुभव करता हुआ सदा काल अपने अस्तित्व को उन समस्त ज्ञेयों से भिन्न ही स्वीकार करता है। यही परभाव की अपेक्षा से निज भाव का नास्तित्व है ॥६६॥

(**अथ सर्वस्य क्षणभङ्गाभोगभङ्गिसङ्गतस्य तत्त्वस्य निरसनव्यसनं नित्यत्वं पणायते**) सभी तत्त्वो की क्षणभगुरता का निरसन पूर्वक नित्यता की प्रतिज्ञा करते है—

प्रादुर्भावविरामसुद्रितवहद्ज्ञानांशनानात्मना–
निर्ज्ञानात्क्षणभङ्गसङ्गपतितः प्रायः पशुर्नश्यति ।
स्याद्वादी तु चिदात्मना परिमृशंश्चिद्वस्तु नित्योदितं–
टङ्कोत्कीर्णघनस्वभावमहिमज्ञानं भवन् जीवति ॥६७॥

अन्वयार्थ—(**पशुः**) अज्ञानी-एकान्ती (**प्रादुर्भाव विराम मुद्रितवहद् ज्ञानाश नानात्मना**) उत्पत्ति तथा विनाश से चिह्नित वस्तु को जानने वाले ज्ञान के अशो से ज्ञान के भी नाना रूप होने से (**निर्ज्ञानात्**) और अपने सिद्धान्त के निश्चयात्मक निर्णय से (**क्षणभङ्ग सगपतितः**) क्षणनश्वरता की सगति मे पतित-पडा हुआ अर्थात् क्षणनश्वरता को स्वीकार करने वाला (**प्राय.**) बहुधा (**नश्यति**) नाश को प्राप्त करता है। (**तु**) किन्तु (**स्याद्वादी**) अनेकान्तात्मक वस्तु की व्यवस्था को अपेक्षावाद से जानने वाला कथञ्चिद वादी- (**चिद्वस्तु**) चैतन्य स्वरूप आत्मपदार्थ को (**चिदात्मना**) चैतन्य स्वरुप मे (**परिमृशन्**) निश्चय करता हुआ (**नित्योदितम्**) निरन्तर उदित करने वाले (**टङ्कोत्कीर्ण घनस्वभावमहिमज्ञानम्**) निरन्तर देदीप्यमान महिमाशाली ज्ञानस्वरूप (**भवन्**) होता हुआ (**जीवति**) सदा काल जीवित रहता है अर्थात् कभी भी विनाश को प्राप्त नही होता है।

सं० टीका—(**प्रायः बाहुल्येन**) बहुलता से (**पशु-सर्वक्षणिकवादी कश्चिदज्ञानी**) समस्त पदार्थसमूह को क्षणनश्वर स्वीकार करने वाला कोई अज्ञानी (**नश्यति-सीदति**) नाश को प्राप्त होता है (**कीदृश**)

कैसा (**क्षणत्यादिः-क्षणे पदार्थाना भङ्ग-विनाशः तस्य सङ्गः सङ्गतिः-तत्र पतितः-तदङ्गीकार परवशीभूत.**) प्रत्येक क्षण मे पदार्थों के विनाश के सङ्ग मे पडा हुआ अर्थात् पदार्थों की क्षणनश्वरता के आधीन हुआ (**कुत.**) कैसे (**निर्ज्ञानात्-स्वपक्षसिद्धदृष्टेष्ट प्रमाणनिर्णयात्**) अपने पक्ष-क्षणनश्वरता मे साधकरूप से प्रसिद्ध प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाणो के निर्णय से (**कल्पनापोढमभ्रान्तं प्रत्यक्ष स्वलक्षमनिर्देश्यमित्यादि लक्षणसद्भावात्**) क्योकि जो काल्पनिक न हो तथा भ्रान्त न हो और जिसके लक्षण का निर्देश करना आवश्यक नही वह प्रत्यक्ष प्रमाण है ऐसा प्रत्यक्ष प्रमाण का लक्षण कहा गया है। (**ज्ञानाशेत्यादिः—ज्ञानानमाशाः-पर्यायाः सुख-दु खहङ्कारादयः तेषां नानात्मना-परस्परं सर्वथाभिन्नत्वभावेन**) ज्ञानो के सुख-दु ख अहङ्कार आदि रूप पर्यायो के परस्पर मे सर्वथा भिन्न स्वभाव वाले होने से (**प्रादुरित्यादिः-पीतादिज्ञान क्षणाना प्रादुर्भावः उत्पत्तिः, नीलादिज्ञान क्षणाना विराम विनाश तेन मुद्रितं लाञ्छित वस्तु वहतीति**) पीतादि को विषय करने वाले ज्ञानो के क्षणो की उत्पत्ति से तथा नीलादि को विषय करने वाले ज्ञानो के क्षणो के विनाशसे सहित वस्तुको जानने वाला होने से(**ननु स्याद्वादिना प्रतिक्षण क्षणिकाना पर्यायाणां सद्भावात्सुगत गतिगमनमारमणमेव विभावपर्यायाणा तु नारकादीनांतुस्थायित्वाभ्युपगमेऽपि तेषामसत्वात्**) शकाकार कहता है कि स्याद्वादियो को भी यावज्जीवन सुगतो की गति पर चलना ही होगा क्योकि उन्होने भी प्रति समय क्षणनश्वर पर्यायो को अङ्गीकार किया है और जिन नारकादि विभाव पर्यायो को उन्होने स्थायी स्वीकार किया है वे है ही नही (**इति चेत्**) यदि ऐसा शङ्काकार का कहना है तो (**न**) वह ठीक नही है— (**यतः**) क्योकि (**स्याद्वादी तु जीवति-समस्त मतमण्डनखण्डनेन विलासित्वात् उज्जीवति**) स्याद्वादी तो मतो के मण्डन तथा खण्डन से सुशोभित होने के कारण सर्वोपरि जीवित रहता है—सदा विद्यमान रहता है (**कीदृशः**) कैसा स्याद्वादी (**चिदात्मना-चेतना स्वरूपेण सर्वत्रावग्रहेहादौ चैतन्यस्वभावेन**) चेतना स्वरूप से अर्थात् सब जगह अवग्रह ईहा आदि मे चैतन्य स्वभाव के होने से (**नित्योदितं-नित्यस्वरूपेणोदितम्**) सर्वदा चैतन्यरूप से प्रकाशित (**चिद्वस्तु-चैतन्यद्रव्यम्**) चैतन्यद्रव्य–यानी आत्मारूप पदार्थ को (**परिमृशन्-कलयन्**) जानता हुआ (**प्रमाणबलादनुभवन्नित्यर्थ**) अर्थात् प्रत्यक्षादि प्रमाणो के बल से—अनुभव करता हुआ (**पुनः**) और (**टङ्कोत्कीर्णेत्यादिः-टङ्केन-उत्कीर्ण घनस्वभाव निरन्तरप्रकाशमानस्वरूप स एव महिमा माहात्म्य यस्य तत्-टङ्कोत्कीर्णं च घनस्वभावमहिमा च तच्च तज्ज्ञान च**) जिसकी महिमा निरन्तर प्रकाशमान रहना ही है ऐसे ज्ञान स्वरूप (**भवन्-जायमान सन्**) होता हुआ।

भावार्थ—एकान्तवादी तो समस्त जगत् को क्षण विनाशी मानता है। अतएव पदार्थ की उत्पत्ति के समय मे ज्ञान की उत्पत्ति तथा विनाश के समय मे ज्ञान के विनाश को स्वीकार करता है अर्थात् ज्ञान को परपदार्थों के अधीन मानता है उसकी दृष्टि मे ज्ञान का स्वतन्त्र अस्तित्व नही है। अतएव वह ज्ञान का सर्वथा विनाशक है। किन्तु स्याद्वादी ज्ञान के परिणमनो को परपदार्थों के निमित्त से स्वीकार करता हुआ भी ज्ञान के अस्तित्व को अपने आत्मिक चैतन्य के रूप मे ही स्वीकार करता है। अतएव ज्ञान पर्याय दृष्टि से क्षणनश्वर होते हुए भी द्रव्यदृष्टि से नित्य है अविनाशी है सदा काल विद्यमान-देदीप्यमान रहता

है। यह स्वापेक्ष नित्यता का भङ्ग है।

(**अथ सर्वथा सत्यनित्यचित्तशातनमनित्यत्वमात्मनो ज्ञानस्य-विज्ञापयति**) अब सब तरह से सत्य-नित्य आत्मा मे भी प्रति समय परिणमन होता रहता है अतएव आत्मा का ज्ञान भी प्रति समय परिणमन करता रहता है इसलिए अनित्य है यह बताते है—

टङ्कोत्कीर्णविशुद्धबोधविसराकारात्मतत्त्वाशया
वाञ्छत्युच्छलदच्छचित्परिणतेर्भिन्नं पशुः किञ्चन।
ज्ञानं नित्यमनित्यतापरिगमेऽप्यासादयत्युज्ज्वलं—
स्याद्वादी तदनित्यतां परिमृशंश्चिद्वस्तुवृत्तिक्रमात् ॥६८॥

अन्वयार्थ—(**पशुः**) अज्ञानी-एकान्ती (**टङ्कोत्कीर्णविशुद्धबोधविसराकारात्मतत्त्वाशया**) कूटस्थ नित्य-परिणमनशून्य अतएव विशुद्ध निर्विकार ज्ञान के समूहरूप आत्मतत्त्व की आशा से (**उच्छलदच्छ-चित्परिणतेः**) उछलने वाली निर्मल चैतन्य की परिणति से (**भिन्नम्**) भिन्न पृथक्-जुदा (**किञ्चन**) किसी ज्ञान को (**वाञ्छति**) चाहता है। (**स्याद्वादी**) स्याद्वाद से अनेकान्तात्मक वस्तु की व्यवस्था को जानने वाला ज्ञानी (**अनित्यतापरिगमेऽपि**) अनित्यता का परिज्ञान होने पर भी (**चिद्वस्तु वृत्तिक्रमात्**) चैतन्य स्वरूप आत्मपदार्थ के परिवर्तन के क्रम से (**अनित्यताम्**) अनित्यता का (**परिमृशन्**) अनुभव करता हुआ (**तद्**) उस (**ज्ञानम्**) ज्ञान को (**नित्यम्**) नित्य (**उज्ज्वलम्**) उज्ज्वल (**आसादयति**) प्राप्त करता है—जानता है।

सं० टीका—(**पशुः-कश्चिन्नित्यैकान्तवादीशठः**) कोई नित्यैकान्तवादी अज्ञानी (**किञ्चनापि-किमपि ज्ञानम्**) किसी अनिर्वचनीय ज्ञान को (**भिन्नम्-पृथक्**) जुदा (**वाञ्छति-ईहते**) चाहता है (**कुतः**) किससे (**उच्छलदित्यादिः-उद्-ऊर्ध्वमुच्छलन्ती-अच्छा-निर्मला सा चासौ चित्परिणतिश्चिच्चित्पर्यायः तस्याः**) प्रति समय अपने मे उछलने वाली निर्मल चैतन्यरूप परिणति से (**पर्यायपर्यायिणो परस्परं भेदात्**) क्योकि पर्याय-परिणाम तथा पर्यायी-परिणामी मे भेद होता ही है इस लिए (**ज्ञानस्य नित्यत्वम्**) ज्ञान की नित्यता (**कया**) किससे (**टङ्कोदित्यादिः-टङ्केनोत्कीर्णाः पर्यायाभावात् नित्यत्वात् स चासौ विशुद्धश्च पूर्वापरविवर्तकालिकाविकलत्वात् स चासौ बोधश्च तस्य विसरः निवहः स एवाकारः तेनोपलक्षितं आत्मतत्त्वं तस्य वाञ्छा-नित्यत्वात्मज्ञानाकाङ्क्षा तया**) टङ्कोत्कीर्ण यानी पर्याय का अभाव होने से नित्य अतएव विशुद्ध—यानी पूर्वापर पर्यायरूप कालिमा से शून्य ज्ञान के समूह रूप आकार से सहित नित्य आत्मतत्त्व की आकाक्षा से (**स्याद्वादी-स्यात्कथञ्चिच्छब्देनोपलक्षितोवादः-जल्पनम्, विद्यते यस्य सः**) जिसके कथञ्चित् शब्द से सहित जल्पन-सम्भाषण है (**वस्तुनः तथात्वात्**) क्योकि वस्तु कथ-ञ्चित् अर्थ वाले स्यात् शब्द का वाच्य है (**तथाकाङ्क्षाया. समुत्पत्ते.**) क्योकि कथचित् रूप इच्छा उत्पन्न होती है (**तथा विवक्षायाः सद्भावात्**) क्योकि बोलने की इच्छा कथञ्चित् रूप होती है (**अनेकान्तात्मकं**

सर्वं एकान्तस्वरूपानुपलब्धेरित्यनेकान्तवादी) समस्त वस्तु समूह अनेकान्त-अनेक धर्म-स्वरूप है क्योकि एकान्तस्वरूप-एक धर्मात्मकता की उपलब्धि-प्राप्ति नही है अतएव अनेकान्तवादी-अनेक धर्मात्मक वस्तु का विवेचक **(ज्ञानम्)** ज्ञान को **(नित्यम्-पूर्वापरावग्रहेहादिषुव्याप्त ज्ञानत्व सामान्येन स्यान्नित्यम्)** पूर्वापर अवग्रह आदि ज्ञानो मे व्यापकरूप से रहने वाले—ज्ञानत्वरूप सामान्य से कथञ्चित् नित्य **(आसादयति-प्राप्नोति)** प्राप्त करता है **(कीदृक्षम्)** कैसे ज्ञान को **(उज्ज्वलम्-अवदातम्)** परिपूर्ण स्वच्छ-अति निर्मल (**अनित्यतापरिगमेऽपि-वस्तुनोऽनित्यतापरिज्ञाने, अपिशब्दान्नकेवलं नित्यमेव अनित्यता परिज्ञाने सत्यपि)** वस्तु की अनित्यता का परिज्ञान होने पर 'अपि' शब्द से सिर्फ नित्य ही नही किन्तु अनित्यता का परिज्ञान होने पर भी **(नन्वनित्यता परिज्ञान मात्रवस्तु शुक्तिकायां रजतपरिज्ञानवन्नपुनस्तथा वस्तुनः प्राप्तिरिति)** शकाकार कहता है कि अनित्यता के परिज्ञान स्वरूप वस्तु को मानने पर तो शुक्तिका—सीप मे रजत—चादी के परिज्ञान के होने पर भी चादी रूप से वस्तु की उपलब्धि नही होती है **(तदपि स्वमनोरथ मात्रम्)** उत्तर मे अनेकान्ती का कहना है कि यह तुम्हारा मनोविचार ही है मानसिक कल्पना मात्र ही है **(यत)** क्योकि **(अनित्यताम्-वस्तुगतानित्यत्वम्)** वस्तु स्वरूप मे उपलब्ध अनित्यता को **(परिमृशन्-अर्थक्रिययोपलभमानः)** अर्थ क्रिया के द्वारा प्राप्त करता है **(कुत.)** किससे **(चिदित्यादिः-चिद्वस्तुनः चेतनारूपवस्तु पर्यायस्य वृत्तिः-वर्तना तस्याः क्रमात्-अनुक्रमात्)** चेतनारूप वस्तु की पर्याय के अनुक्रम से ।

भावार्थ—एकान्तवादी की यह हार्दिक बलवती इच्छा है कि जिस ज्ञान मे जो तरह-तरह के अन्य ज्ञेयो के आकार प्रतिभासित होते हैं उस ज्ञान से सर्वथा भिन्न कूटस्थ नित्य ज्ञान हमे चाहिए सो ऐसा ज्ञान कथमपि सम्भव नही है। अतएव उसकी उक्त चाह के अनुकूल ज्ञान की उपलब्धि ही जब नही है तब उसकी दृष्टि मे ज्ञान ही का अभाव है क्योकि वह ज्ञान ही क्या जो परिणमनशील न हो। परन्तु स्याद्वादी अनेकान्ती ज्ञान को परिणमनशील ज्ञेयाकार रूप मानता हुआ भी उसे चैतन्य से भिन्न नही मानता है किन्तु चैतन्यमय ही अङ्गीकार करता है। अतएव ज्ञान प्रति समय ज्ञेयाकार रूप होने से तो अनित्य है तथा चैतन्य सामान्य रूप होने से नित्य है इस तरह से ज्ञान नित्यानित्यात्मक है यह मात्र कल्पना नही है किन्तु वस्तुस्थिति ही ऐसी है जो सहज सिद्ध है अकृत्रिम है अनादि अनन्त है ॥६८॥

(अथानेकान्तमतव्यवस्था सुघटेति सञ्जाघटीति इति पद्यद्वयेन) अब अनेकान्त सिद्धान्त की व्यवस्था सरलता से घटित होती है इसलिए दो पद्यो द्वारा उसे अतिशय रूप से घटित करते हैं—

इत्यज्ञानविमूढानां ज्ञानमात्रं प्रसाधयन् ।
आत्मतत्त्वमनेकान्तः स्वयमेवानुभूयते ॥६९॥

अन्वयार्थ—(इति) पूर्वोक्त प्रकार से **(अनेकान्त)** अनेकान्त सिद्धान्त **(अज्ञानविमूढानाम्)** अज्ञान से व्यामोहित प्राणियो के **(आत्मतत्त्वम्)** आत्मतत्त्व—आत्मा के असली स्वरूप को **(ज्ञानमात्रम्)** ज्ञान स्वरूप **(प्रसाधयन्)** प्रसाधता हुआ **(स्वयमेव)** स्वत ही, **(अनुभूयते)** अनेकान्तरूप से—अनेक धर्मों के अखण्ड पिण्डरूप से अनुभव मे आता है ।

सं० टीका—(**इति-अमुना प्रकारेण**) इस प्रकार से (**स्वयमेव-स्वयं-प्रकाशमानत्वादिस्वरूपेण-आलोकाद्युपायेन च**) स्वयमेव-स्वय प्रकाशमान रूप से तथा आलोक आदि उपाय से (**आत्मतत्त्वं-आत्मस्वरूपम्**) आत्मा के स्वरूप को (**अनेकान्तःस्याद्भिन्नाभिन्नत्व सत्त्वासत्त्वैकानेकनित्यत्वानित्यत्वादयः**) कथञ्चित्-किसी अपेक्षा से भिन्न, अभिन्न, सत्त्व, असत्त्व, एक, अनेक, नित्य तथा अनित्य आदि रूप अनेकान्त (**अनुभूयते-स्वानुभव प्रत्यक्षीक्रियते**) अपने ही अनुभव से प्रत्यक्ष किया जाता है (**किं कुर्वन्**) क्या करता हुआ (**अज्ञानेत्यादिः-अज्ञानेन-अनादिकाल विजृम्भितमोहाज्ञानेन विमूढानां-विमोहितानाम्**) अनादि काल से वृद्धि को प्राप्त मोहरूप अज्ञान से विमोहित जीवो को (**ज्ञानमात्रम्-ज्ञानसाकल्यम्**) ज्ञानमात्र-ज्ञान से परिपूर्ण(**प्रसाधयन्-स्वरूप प्रकाशनादिभिर्दर्शयन्**) आत्मा के असली स्वरूप के प्रकाशन आदि से दिखाता हुआ।

भावार्थ—अनादि अज्ञान के कारण प्राणीमात्र आत्मस्वरूप से विमुख है साथ ही अज्ञानियो के उपदेश से भी आत्मा को एक धर्मात्मक मानकर आत्मा के खास स्वरूप से सर्वदा वञ्चित रहते है। उन्हे अनेकान्तस्वरूप आत्मा है यह समझाने के लिए सर्वप्रथम अनेकान्त सिद्धान्त आत्मा को ज्ञानस्वरूप प्रसिद्ध करता है और जब आत्मा ज्ञानस्वरूप प्रसिद्ध हो जाता है तब उसमे अपने आप अनेक धर्म सिद्ध हो जाते हैं। क्योकि वे धर्म आत्मा मे अनादित स्वभाव सिद्ध हैं इतना ही नही प्रत्युत् वे अनेक धर्म अनुभव करता के अनुभव मे स्वयमेव आते रहते हैं अतएव स्वानुभव सिद्ध है ॥६९॥

एवं तत्त्वव्यवस्थित्या स्वं व्यवस्थापयन् स्वयम् ।
अलङ्घ्यशासनं जैनमनेकान्तो व्यवस्थितः ॥७०॥

अन्वयार्थ—(**एवम्**) पूर्वोक्त प्रकार से (**तत्त्वव्यवस्थित्या**) वस्तु स्वरूपकी व्यवस्था द्वारा (**स्वयम्**) स्वत -अपने आप (**स्वम्**) अपने को (**व्यवस्थापन्**) व्यवस्थित करता हुआ (**अनेकान्तः**) अनेकान्त सिद्धान्त (**जैनम्**) जिनेद्रदेव द्वारा प्रणीत (**अलंघ्यशासनम्**) एकान्तवादियो द्वारा अलङ्घनीय मत को (**व्यवस्थापयन्**) प्रतिष्ठित करता हुआ (**व्यवस्थितः**) व्यवस्थित-प्रतिष्ठित हुआ।

सं० टीका—(**अनेकान्तः-कथञ्चिद्धर्मः**) विवक्षित विषय को विवक्षा के वश से निरूपण करने रूप धर्म (**व्यवस्थितः-प्रमाणनयोपन्यासैः-सुप्रतिष्ठः**) प्रमाणो और नयो के समुद्धरणो द्वारा भले प्रकार प्रतिष्ठित-प्रसिद्ध हुआ (**कया**) किससे- (**एवमित्यादिः-एवमुक्तप्रकारेण-पूर्वं स्याद्वाद समर्थनेन**) पूर्व मे कहे अनुसार अर्थात् स्याद्वाद के समर्थन से (**तत्त्वस्य-वस्तुयाथात्म्यस्य-आत्मतत्त्वस्य वा**) वस्तु की यथार्थता का अथवा आत्मा के असली स्वरूप का (**व्यवस्थितिः-व्यवस्थापनम् तया**) व्यवस्थापन विविध अपेक्षाओ से सिद्ध करने से (**किं कुर्वन्**) क्या करता हुआ (**स्वयम्-आत्मना कृत्वा**) अपने द्वारा ही (**स्वम्-आत्मानम्**) आत्मा को (**व्यवस्थापयन्-सुस्थिरीकुर्वन्-**) अच्छी तरह से स्थिर करता हुआ (**पुन**) फिर-और (**जैनम्-सर्वज्ञभट्टारक प्रणीतम्**) सर्वज्ञ अरहन्तदेव द्वारा प्ररूपित (**शासनम्-मतम्**) शासन-मत को (**व्यवस्थापयन्**) अतिशयरूप से व्यवस्थित-स्थिर करता हुआ(**अथवा**)अथवा(**यतोऽनेकान्तादित्यध्याहार्यम्**)अथवा यहा "अने-

कान्तात्" ऐसा पञ्चम्यन्त पद का अध्याहार करना चाहिए जिससे (**जैनं-शासनम् अलङ्घ्यं-एकान्तमतमति विजृम्भितमिथ्यादृष्टिकोटिभिर्नलङ्घितुं शड्क्यम्**) जैनशासन-अर्हन्त भट्टारक सर्वज्ञदेव द्वारा प्रणीत वस्तु व्यवस्थापक सिद्धान्त, एकान्त-एकधर्मस्वरूप वस्तु को प्रतिपादन करने वाला जो मत-सिद्धान्त ऐसे सिद्धान्त मे स्थित वुद्धि से जिनका मिथ्यात्व वृद्धिगत हुआ है ऐसे करोडो मिथ्यादृष्टियो द्वारा नही लाघा जा सकता ॥७०॥

भावार्थ—जिस सिद्धान्त का प्रतिपादन भगवान् सर्वज्ञ अर्हन्त प्रभु ने किया है वह अनेकान्त स्वरूप होने से एकान्तियो के द्वारा त्रिकाल मे भी खण्डित नही हो सकता, क्योकि वस्तुगत अनेक धर्मो को अपने निरावरण अनन्त ज्ञान द्वारा जानकर ही अनेकान्त के सिद्धान्त की व्यवस्था सर्वदर्शी भगवान जिनेन्द्र ने की है ॥७०॥

(**अथानन्त शक्तियुक्तता सवक्ति**) अब प्रत्येक पदार्थ अनन्त शक्तियो से युक्त है यह निरूपण करते है—

इत्याद्यनेक निजशक्तिसुनिर्भरोऽपि
यो ज्ञानमात्रमयतां न जहाति भावः।
एवं क्रमाक्रम विवर्तिविवर्त चित्रं—
तद् द्रव्यपर्ययमयं चिदिहास्तु वस्तु ॥७१॥

अन्वयार्थ—(**इत्याद्यनेकनिजशक्तिषु**) पूर्वोक्त भिन्नत्व अभिन्नत्व एकत्व-अनेकत्व आदि अनेक आत्मिक शक्तियो मे (**निर्भर.**) अतिशयरूप से भरा हुआ-व्यापक होता हुआ (**अपि**) भी (**य**) जो (**भाव**) आत्मारूप पदार्थ (**ज्ञानमात्रमयताम्**) ज्ञानरूप स्वरूप को (**न**) नही (**जहाति**) छोडता है (**एवम्**) पूर्वोक्त प्रकार से (**क्रमाक्रमविवर्तिविवर्तचित्रम्**) क्रम और अक्रम से विवर्तनशील पर्यायो से विचित्र-विविधरूप (**द्रव्यपर्ययमयम्**) द्रव्य-सामान्य तथा पर्यय-विशेष स्वरूप (**तद्**) वह (**चिद्**) चैतन्यमय (**वस्तु**) पदार्थ (**इह**) इस जगत् मे (**अस्तु**) विद्यमान है।

स० टीका—(**य -भाव पदार्थ.**) जो पदार्थ (**ज्ञानेत्यादि. ज्ञानमात्रकल्परूपताम्-न जहाति न त्यजति**) ज्ञान को कल्पान्त काल तक भी अपने स्वरूप से नही त्यागता है। अपने स्वरूपरूप ज्ञान को कल्पान्त काल-पर्यन्त नही छोडता है। (**ननु क्रमाक्रमवृत्तानन्तधर्ममयस्यात्मन· कथं ज्ञानमात्रत्वमितिचेत्**) क्रम तथा अक्रम-रूप अनन्त धर्म स्वरूप आत्मा को मात्र ज्ञान स्वरूप आप कैसे कहते हैं यदि ऐसा तुम्हारा कहना हो तो (**उच्यते**) उत्तर मे कहते है (**परस्पर व्यतिरिक्तानन्तधर्मसमुदायपरिणतैकज्ञप्तिमात्रभावरूपेण स्वयमेव भवनात्-ज्ञानमात्रत्वम्**) आपस मे एक दूसरे से स्वरूपत पृथक् रहने वाले अनन्त धर्मों के समूह रूप से परिणत एक ज्ञप्तिरूप क्रिया स्वरूप स्वयमेव होने से ही आत्मा को ज्ञानमात्र कहा है (**कीदृक्षोऽपि**) कैसा पदार्थ (**इत्यादीत्यादी.-गत्याद्याः-भिन्नाभिन्नत्वाद्या. ताश्च ता अनेकनिजशक्तय.-अनन्तस्वशक्तयः तासु**

सतीषु) भिन्नत्व अभिन्नत्व आदि अनन्त निज शक्तियो के रहते हुए (**निर्भरोऽपि-अतिशयं गतोऽपि ज्ञानं-मात्र एव**) अतिशयता को प्राप्त होता हुआ भी ज्ञानमात्र ही (**इह-जगति**) इस जगत् मे (**तत्-चित्-चेतना-वस्तु द्रव्यम्**) वह चैतन्य द्रव्य (**अस्ति-विद्यते**) है (**कीदृक्षम्**) कैसा (**द्रव्यपर्ययमयम्-द्रव्यपर्यायात्मकम्**) द्रव्यपर्याय स्वरूप (**एवं-पूर्वोक्त प्रकारेण**) पूर्वोक्त प्रकार से (**क्रमेत्यादि-क्रमः-कालकृत, अक्रम.-युगपत्, क्रमश्चाक्रमश्च क्रमाक्रमौ ताभ्यां विवर्तिनः वर्तनशीलाः विवर्ताः पर्याया तैः चित्रं-चित्रता नीतम्**) क्रम-कालकृत तथा अक्रम-युगपत् दोनो रूप से स्वभावत होने वाली पर्यायो से विचित्रता-नानारूपता को प्राप्त (**यथा दीपः क्रमेण अक्रमेण तमोनाशपदार्थ प्रकाशादि पर्यायात्मकः तैलशोषणवृत्तिमुखदाहको ज्वालोत्पाद-नादि पर्यायात्मकस्तथात्मादिः**) जैसे दीपक क्रम से तथा युगपत्—एक साथ अन्धकार का नाश तथा पदार्थों का प्रकाशन आदि पर्याय स्वरूप तथा तेल का शोषण करना, मुख का जलाना, ज्वालाओ को उत्पन्न करना आदि नाना पर्यायो का स्वरूप होता है वैसे ही आत्मा आदि समस्त द्रव्यें भी नाना पर्यायस्वरूप है।

भावार्थ—अभी इससे पूर्व दो पद्यो मे आत्मा को ज्ञानमात्र प्रसिद्ध किया था इससे कोई यह निष्कर्ष न निकाल ले कि आत्मा मात्र ज्ञान गुण वाला ही है अन्य कोई भी गुण इसमे नही है। आत्मा मे जैसे ज्ञानगुण है वैसे ही अन्य अनेक-अनन्त गुण भी आत्मा मे विद्यमान है क्योकि आत्मा भी एक वस्तु है और जो वस्तु होती है वह नियम से अनन्त गुणो का भण्डार होती है। उसमे प्रति समय नवीन पर्याय की उत्पत्ति और पूर्व पर्याय का विनाश होता रहता है इस उत्पाद तथा विनाशरूप विशेष से सहित चैतन्य सामान्य सदा काल ही विद्यमान रहता है। चैतन्य का परिणमन अनन्त प्रकार का होता है क्योकि वह अनन्त गुणो का पिण्ड है लेकिन परिणमन काल मे भी वह अपने चैतन्य स्वभाव को अबाध ही रखता है कारण कि स्वभाव नित्य निर्विनाशी होता है।

(**अथ स्याद्वादतः शुद्धि दीव्यति**) अब स्याद्वाद से शुद्धि को प्रकट करते हैं—

नैकान्तसङ्गतदृशा स्वयमेव वस्तु-
तत्त्वव्यवस्थितिमिति प्रविलोकयन्तः।
स्याद्वादशुद्धिमधिकामधिगम्य सन्तो-
ज्ञानीभवन्ति जिननीतिमलङ्घयन्तः ॥७२॥

अन्वयार्थ—(**सन्तः**) सत्पुरुष-ज्ञानीजन (**इति**) पूर्व मे कहे अनुसार (**स्वयम्**) स्वत (**एव**) ही (**वस्तुतत्त्वव्यवस्थितिम्**) वस्तु-पदार्थ के असली स्वरूप की व्यवस्था को (**नैकान्तसङ्गतदृशा**) अनेकान्त से प्राप्त हुई समीचीन दृष्टि द्वारा (**स्वयमेव**) स्वत ही (**प्रविलोकयन्त.**) सम्यक् प्रकार से देखते हुए (**इति**) पूर्वोक्त प्रकार से (**अधिकाम्**) अतिशय-अत्यधिक (**स्याद्वादशुद्धिम्**) स्याद्वाद-कथञ्चिद्वाद की शुद्धि को (**अधिगम्य**) जान कर (**जिननीतिम्**) जिन भगवान की नीति—वस्तु स्वरूप के प्रतिपादन करने की पद्धति को (**अलङ्घयन्तः**) उल्लघन नही करते हुए (**ज्ञानीभवन्ति**) मिथ्या ज्ञान के परिहार पूर्वक सम्यग्ज्ञानी बनते हैं।

सं० टीका—(**सन्तः-सत्पुरुषाः**) सत्पुरुष (**ज्ञानीभवन्ति-संसारवर्ति-अज्ञानं ज्ञानं भवन्तीति ज्ञानी भवन्ति**) ससार के कारणभूत अज्ञान को छोड कर मोक्ष के साधनभूत ज्ञान को प्राप्त कर ज्ञानी हो जाते हैं (**किं कृत्वा**) क्या करके (**इति-पूर्वोक्त प्रकारेण**) पूर्व मे कहे अनुसार (**स्याद्वादशुद्धिम्-अनेकान्त शुद्धिम्**) अनेकान्त के प्रतिपादक स्याद्वाद की शुद्धि—निर्मलता के (**अधिकां-विचारतः प्रकर्ष प्राप्ताम्**) विचार से श्रेष्ठता को प्राप्त हुई है (**अधिगम्य-ज्ञात्वा-निश्चित्य वा**) जानकर अथवा निश्चय करके (**कीदृक्षास्ते**) वे ज्ञानी सत्पुरुष कैसे हैं (**स्वयमेव-स्वात्मनकृत्वा**) अपने द्वारा ही (**वस्त्वित्यादिः—वस्तुन. तत्त्वं स्वरूपं-अनेकान्तात्मकम्-तस्य व्यवस्थितिः-व्यवस्था ताम्**) वस्तु के स्वरूप रूप अनेकान्त की व्यवस्था को (**प्रविलोकयन्त -ईक्षमाणा.**) देखते हुए (**कया**) किससे (**नैकान्तेत्यादिः—न एकान्तो नैकान्तः स्याद्वादः-क्वचिदस्य नाकादिमध्यपाठान्न नकारलोप. तत्र सङ्गता-सम्यक् प्राप्ता दृक् दृष्टिः तया**) नैकान्त—यानी स्याद्वाद मे सम्यक् प्रकार से प्रविष्ट हुई दृष्टि से "यहा नैकान्त शब्द का नाकादि के मध्य मे पाठ होने के कारण नकार का लोप नही हुआ है" (**पुन. कीदृक्षा·**) फिर कैसे (**जिन नीतिम्—सर्वज्ञ प्रकाशितमार्गम्**) सर्वज्ञ प्रभु के द्वारा दिव्य ध्वनि से प्रकाशित मार्ग को (**अलङ्घयन्त.-अनुल्लङ्घयन्तः**) नही उल्लघन करने वाले ।।७२।।

भावार्थ—स्याद्वाद की तीक्ष्ण-पैनी दृष्टि से वस्तुस्वरूप का अवलोकन करने वाले अनेकान्ती-सम्यग्ज्ञानी पुरुष-भगवान् सर्वज्ञ सर्वदर्शी जिनेन्द्र प्रभु की अनेकान्तात्मक वस्तु के स्वरूप को प्रतिपादन करने वाली स्याद्वाद की पद्धति को वस्तुस्वरूप के समझने मे कसौटी मानते हैं। क्योकि स्याद्वाद-अपेक्षावाद के विना किसी भी वस्तु का यथार्थ स्वरूप निर्णीत नही हो सकता। उसके न समझ सकने के कारण ही प्राणी अज्ञानी वना रहता है। अपने और पर के स्वरूप का निर्णय नही कर पाता है। अतएव एकान्ती हठाग्रही हो ससार मे ही भ्रमण करता रहता है ।।७२।।

(इति श्री समयसारपद्यस्याध्यात्मतरंगिण्यपरनामधेयस्य व्याख्याया स्याद्वाद अधिकार समाप्तः ।)

इस प्रकार से श्री समयसार के पद्यो की व्याख्या मे जिसका अपरनाम अध्यात्म-तरगिणी है

यह स्याद्वाद अधिकार समाप्त हुआ।

अथ उपाय उपेय भाव

अथास्योपायोपेय भाव सम्भाव्यते) अब इस ज्ञान के उपाय तथा उपेय भाव का विचार करते है—

ये ज्ञानमात्रनिजभावमयीमकम्पां-
भूमि श्रयन्ति कथमप्यपनीतमोहाः।
ते साधकत्वमधिगम्य भवन्तिसिद्धा-
मूढास्त्वमूमनुपलभ्य परिभ्रमन्ति ॥७३॥

अन्वयार्थ—(**कथमपि**) किसी भी प्रकार से अर्थात महान् कष्ट से (**अपनीतमोहाः**) दूर कर दिया है मोह को जिन्होने अर्थात् मिथ्यात्व रहित (**ये**) जो भव्य जीव (**अकम्पाम्**) कम्पन रहित अर्थात् निश्चल (**ज्ञानमात्रनिजभावमयीम्**) ज्ञानमात्र निज भावरूप (**भूमिम्**) भूमि को (**श्रयन्ति**) आश्रय करते है (**ते**) वे भव्य जीव (**साधकत्वम्**) साधकता को (**अधिगम्य**) प्राप्त करके (**सिद्धा.**) सिद्ध (**भवन्ति**) होते है (**तु**) किन्तु (**मूढाः**) अज्ञानी मिथ्यादृष्टि (**अमूम्**) इस भूमि को (**अनुपलभ्य**) विना प्राप्त किये (**परिभ्रमन्ति**) ससार मे ही भ्रमण करते रहते है।

सं० टीका—(**ये साधव.**) जो साधु पुरुष (**कथमपि-केनापिप्रकारेण महता कष्टेन वा**) किसी भी तरह से महान् कष्ट सह करके भी (**ज्ञानेत्यादि.-ज्ञानमात्र·-ज्ञानेन साकल्यः, स चासौ निजभावश्च स्वात्मपरिणाम तेन निर्वृत्ताम्**) ज्ञानस्वरूप आत्मपरिणाम से निर्मित (**भूमि-शुद्धोपयोगभूमिम्**) शुद्धोपयोग रूप भूमि का (**श्रयन्ति भजन्ते**) सेवन करते है (**कीदृशाम्-ताम्**) कैसी भूमि को (**अकम्पा-निश्चलाम्**) निश्चल (**अपनीतमोहा:-अपनीत.-निराकृतः मोह·-रागद्वेषाज्ञानादिर्यैस्ते योगिन.**) राग-द्वेष अज्ञान आदि रूप भोह का निराकरण करने वाले योगी जन (**साधकत्व-रत्नत्रयादिलक्षणमुपायत्वम्**) रत्नत्रयादि लक्षणरूप उपाय-साधन को (**अधिगम्य-आश्रित्य**) आश्रय करके (**सिद्धा -उपेया -साध्याः**)सिद्ध अर्थात् उपेय-साध्यरूप मोक्षको प्राप्त करने वाले (**भवन्ति-जायन्ते**) हो जाते है। (**आत्मनो ज्ञानमात्रत्वे उपायोपेय भावोविद्यत एव तस्यैकस्यापिस्वयं साधक सिद्धरूपोभयपरिणामित्वात्**) आत्मा के ज्ञान स्वरूप मे उपाय साधन तथा उपेय-साध्य भाव विद्यमान है ही क्योकि वह ज्ञानमात्र आत्मा स्वय ही साधक तथा सिद्धरूप परिणाम वाला है (**मूढा -अज्ञानिनस्तु**) मोही अज्ञानी तो (**अमूम्-अन्तर्नीतानेकान्तज्ञानमात्रैकमाव रूपाम्-भूमिम्**) जिसमे अनेकान्त समाया हुआ है ऐसी ज्ञानस्वरूप भूमि को (**अनुपलभ्य-अप्राप्य**) प्राप्त नही करने मे (**परिभ्रमन्ति-संसारापारभूमिमण्डलीमाक्रमन्ते**) अपार-अनन्त ससाररूप भूमण्डल पर आक्रमण करते रहते हैं अर्थात् अनन्त ससारी वने रहते है।

भावार्थ—यहा उपाय उपेय भाव का साराश प्रकट करते हुए आचार्य ने आत्मज्ञान को उपाय तथा उससे प्राप्य सिद्ध अवस्था को उपेय कहा है। यह तो भेदपरक वर्णन है अर्थात् आत्मज्ञान को साधक और सिद्ध दशा को साध्य भेद बुद्धि से ही कहा गया है। अभेद बुद्धि से आत्मज्ञान स्वय ही साधक तथा स्वय ही साध्य है क्योकि उक्त दोनो प्रकार की दशाए आत्मा की हैं अन्य की नही। आत्मा स्वय ही उन दोनो रूप परिणमन करने वाला परिणामी द्रव्य है। अतएव आत्मा खुद व-खुद उपाय उपेयरूप है इसे ज्ञानीजन स्वमेव अनुभव करते हैं ॥७३॥

(अथ शुद्धोपयोग भूमि प्राप्त्युपायं लक्षयति) अब शुद्धोपयोगरूप भूमिका की प्राप्ति के उपाय को दिखाते हैं—

स्याद्वादकौशल सुनिश्चलसंयमाभ्यां—
यो भावयत्यहरहः स्वमिहोपयुक्तः।
ज्ञानक्रियानयपरस्परतीव्रमैत्री—
पात्रीकृतः श्रयतिभूमिमिमां स एकः ॥७४॥

अन्वयार्थ—**(यः)** जो साधु पुरुष **(स्याद्वादकौशल सुनिश्चल सयमाभ्याम्)** स्याद्वादवाणी की कुशलता तथा निर्मल चारित्र से **(इह)** आत्मस्वरूप मे **(उपयुक्त)** उपयुक्त-सलग्न **(सन्)** होता हुआ **(स्वम्)** अपनी आत्मा को **(अहरहः)** प्रति दिन **(भावयति)** भाता-ध्याता है **(स.)** वह **(एकः)** एक अद्वितीय-असाधारण साधु पुरुष **(एव)** ही **(ज्ञानक्रियानयपरस्परतीव्रमैत्रीपात्रीकृत.)** ज्ञाननय तथा क्रियानय की पारस्परिक प्रगाढ मित्रता का पात्र हुआ **(इमाम्)** इस **(भूमिम्)** शुद्धोपयोगरूप भूमिका **(श्रयति)** आश्रय-सेवन करता है।

सं० टीका—(स एव एकः अद्वितीयो मुनिः) वही एक असाधारण साधु **(इमा-प्रत्यक्षा)** इस प्रत्यक्ष **(भूमि-शुद्धोपयोग स्थानम्)** शुद्धोपयोगरूप भूमि को **(श्रयति-भजति)** सेता है-भजता है। **(कीदृक्ष)** कैसा साधु **(ज्ञानेत्यादि-ज्ञानं स्वात्मज्ञाम्-क्रियास्वात्माचरण लक्षण चारित्रम् त्रयोदशप्रकार लक्षणं वा नय·-नयति-प्राप्नोति स्वात्मस्वरूपमिति नय. प्रमाणैक देशो नैगमादि दर्शन वा ज्ञान च क्रिया च नयश्च तेषा परस्पर अन्योऽन्य तीव्रमैत्री-अत्यन्त सखित्व तया अपात्रं पात्रं कृत इतिपात्रीकृतः)** आत्मज्ञानरूप ज्ञान तथा आत्म आचरणरूप चारित्रात्मक क्रिया अथवा तेरह प्रकार के स्वरूप वाला बाह्य चारित्ररूप क्रिया, आत्मा के स्वरूप को प्राप्त कराने वाला नय जो प्रमाण का एक देशरूप है अथवा नैगमादि नय, दर्शन ज्ञान तथा क्रियारूप नयो की परस्पर की तीव्र मित्रता की पात्रता को प्राप्त कर **(स· कः)** वह कौन **(य. योगी)** जो मुनि **(भावयति ध्यानविषयी करोति)** भाता है अर्थात् ध्यान का विषय करता है—ध्याता है **(कथम्)** कैसे **(अहरह -दिने दिने तत्सामर्थ्यात्प्रतिक्षणम्)** प्रति दिन अपनी शक्ति प्रमाण प्रति समय **(कम्-)** किसको **(स्वम्-आत्मानम्)** आत्माको **(क्व)** कहा **(इह-आत्मनि-स्वस्वरूपे)**अपने आत्मस्वरूपमे **(काभ्याम्-)**

किनसे (स्याद्वित्यादि-स्याद्वादः श्रुतज्ञानम्) स्याद्वाद अर्थात् श्रुतज्ञान (तथाचोक्तं देवागमे) ऐसा ही देवागम स्तोत्र मे कहा गया है—

स्याद्वादकेवलज्ञाने सर्वं तत्त्व प्रकाशते।

भेदः साक्षादसाक्षाच्च वस्तु ह्यन्यतमं भवेत् ॥१॥

(**सर्वतत्त्वप्रकाशने**) समस्त वस्तुस्वरूप को प्रकाशित करने वाले (**स्याद्वाद केवलज्ञाने**) स्याद्वाद और केवलज्ञान मे (**साक्षात्**) प्रत्यक्ष (**च**) और (**असाक्षात्**) परोक्ष रूप (**भेदः**) भेद (**अस्ति**) है अर्थात् केवलज्ञान प्रत्यक्ष रूप से वस्तुमात्र के स्वरूप को जानता है तथा स्याद्वाद शास्त्र के साहाय्य रूप परोक्ष से पदार्थों के यथार्थ स्वरूप को अवगत करता है (**हि**) निश्चय से (**अन्यतमम्**) अन्यतम (**वस्तु**) वस्तु (**भवेत्**) उन दोनो का विषय होती है।

(**इति तत्र कौशल-निपुणता सुनिश्चलः-सुष्ठु-अक्षोभ्यः स चासौ संयमः चारित्र च द्वन्द्व ताभ्याम्**) मे निपुणता तथा निर्बाध चारित्र से (**कीदृक्षः सः**) कैसा वह साधु (**उपयुक्तः-शुद्धोपयोगे सावधानः**) शुद्धोपयोग मे सावधान निरत।

भावार्थ—इस कलश मे पहला उपाय स्याद्वाद न्याय का प्रवीणपना बताया है। उसका विचार करना है—वस्तु-सामान्य+विशेष=वस्तु है सामान्य द्रव्यदृष्टि का विषय है और विशेष पर्यायदृष्टि का। दोनो का अविरोधरूप से श्रद्धान करना जरूरी है अन्यथा प्रमाण ज्ञान नही है और सम्यक्ज्ञान है वही प्रमाण है। जो वस्तु जैसी है उसका उसी रूप का श्रद्धान होना चाहिए। सयोग का सयोगरूप का—अभेद का अभेदरूप का, विकार का विकाररूप का, अनित्य का अनित्यरूप का, पर्याय का पर्यायरूप का, द्रव्यस्वभाव का द्रव्यस्वभावरूप का। द्रव्यदृष्टि के ज्ञान बिना पर्यायदृष्टि का ज्ञान अधूरा है और पर्यायदृष्टि के ज्ञान बिना द्रव्यदृष्टि का ज्ञान अधूरा है। अत द्रव्य पर्यायात्मक वस्तु की श्रद्धा ही सही श्रद्धा है। आचार्यो ने कही द्रव्यदृष्टि की मुख्यता से कथन किया है और कही पर्यायदृष्टि की मुख्यता परन्तु दोनो कथन सापेक्ष है।

इस कलश की टीका मे ज्ञाननय और क्रियानय की तीव्र मित्रता का कथन किया है। ज्ञाननय से अपने चैतन्य स्वभाव का अनुभव और उसका बार-बार अवलब लेना—उसमे ठहरना है। क्रियानय का अर्थ आचार्य शुभचद्र जी ने आतम आचरणरूप चारित्रात्मक क्रिया अथवा तेरह प्रकार के स्वरूप वाला बाह्य चारित्ररूप क्रिया किया है। आचार्य को क्रियानय का अर्थ दोनो ही इष्ट है अर्थात् निश्चयरूप भी और व्यवहाररूप भी। अब यहा पर यह विचार करना है कि बाह्यचारित्र रूप क्रियामात्र बध का ही कारण है अथवा किसी रूप मे आत्म-दर्शन मे, एव आत्मानुभव मे आत्मरमणता मे कुछ सहयोगी भी है अगर है तो किस रूप मे।

सच्चे देवशास्त्र गुरू की श्रद्धा भी करी—देव के माध्यम से यह भी समझा कि शरीर आत्मा दो है। ऐसा ही शास्त्रोके अध्ययनसे तर्क युक्तियोके द्वारा जाना कि शरीर आत्मा दो हैं—सच्चे गुरुओ ने भी

यह वताया कि हमने शरीर और आत्मा को अलग-अलग प्रत्यक्ष मे अनुभव किया है। इस प्रकार देवशास्त्र गुरू की श्रद्धा की, उनके अलावा अन्य कुदेवादि को कभी नही माना। मास-मदिरा और मधु आदि के त्यागरूप मूल गुणो का पालन किया, सप्त व्यसन का त्याग भी किया। सात तत्वो के वारे मे अच्छी तरह समझ लिया फिर भी आत्मानुभव नही होता इसका क्या कारण है-इस पर विचार करनाहै।

ऐसा लगता है कि हमने यह माना है कि इतना कार्य करते-करते सम्यक्त्व हो जायेगा इसलिए इन कार्यों को किये जा रहे है। अव यह सवाल उठता है कि हमने शास्त्रो से जाना, गुरुओ से जाना कि शरीर आत्मा दो है क्या हमने अपने मे दो देखनेकी चेष्टा भी की। क्या दोपने की भावना-चिंतन मनन निरन्तर किया, क्या यह निर्णय किया कि दो को दो देखे विना मोक्षमार्ग चालू नही होगा—धर्म की शुरुआत नही होगी। पहले तो जिनदर्शन मे दोपने का दर्शन करें फिर अपने को दो देखें यह दो काम अलग-अलग है। ऐसा लगता है कि हमारे तो पहले काम मे ही कमी रह गयी क्योकि सच्चे देवशास्त्र गुरू को तो पूजा परन्तु उस ढग से नही दर्शन किये, उस ढग से नही शास्त्र अध्ययन किया जिससे शरीर और आत्मा दो दिखाई दे। हमने उनको पुण्य का, मान वढाने का—भोगो का तो साधन वनाया परन्तु शरीर और आत्मा को दो देखने का साधन नही वनाया। दो देखने का भी अगर साधन वनाया तो भी अपने मे अपने को शरीर से भिन्न देखना था, वह पुरुषार्थ-वह चेष्टा नही करी तव आत्मदर्शन कैसे हो।

साधन तो उसको कहते हैं—जो कार्य करता नही, जिसके अवलम्वन से कार्य होता नही परन्तु जिसका अवलम्वन लेकर हम अपना कार्य करें तो हो। जैसे लकडी चलती नही, लकडी के अवलम्वन से चलना होता नही परन्तु लकडी का चलने के लिए जिस प्रकार से सहयोगी हो उस प्रकार से अवलम्वन लेकर हम चलें तो कार्य हो तव उपचार से कहा जाता है कि लकडी ने चला दिया या लकडी के अवलम्वन से घर आ गये। सही वात है कि लकडी का हमने उस प्रकार से अवलम्वन लिया और अवलम्वन लेकर हम ही चले तव कार्य हुआ। जैसे-जैसे अपना पुरुषार्थ-वल बढ़ने लगा लकडी का अवलम्बन ढीला होने लगा और एक रोज जहा हमारा वल वढ गया लकडी का अवलम्वन छूट गया। यह एक सरल उदाहरण निमित्त की निमित्तता समझने के लिए है अवलम्वन लेना भी है और छोडना भी है।

ऐसा ही निमित्तपना सच्चे देवशास्त्र गुरू का अथवा व्रत-उपवासादि का है। उनका अवलम्वन लेना है उस प्रकार से लेना है जिस ढग से शरीर आत्मा को दो देखने मे वे सहकारी हो सकें। यहा तक उनका सहकारीपना है। फिर अपने को अपने मे दो देखना है यहा पर आप ही अपना सहकारी है। जब तक सम्यक्त्व न हो तब तक उसी भावना का चिंतवन-मनन करके अपने को दो देखने की चेष्टा करनी है। सम्यक्त्व होने के बाद भी व्रत-उपवासादि और तपस्चरण के द्वारा बाहर से हटना है यह एक काम हुआ और अन्तरग मे लगना है यह दूसरा काम हुआ। बाहर से तो हटे उससे अपने मे लग जावेंगे ऐसा नही है परन्तु बाहर से हटकर अन्तरग मे लगने का पुरुषार्थ हम ही करें तो लग

सकते है अत यहां पर भी यह समझना होगा कि बाहरी व्रतादि से अतरग मे लग जावेंगे यह उपचार कथन है परन्तु बाहर से हटकर अतरग मे लगने का पुरुषार्थ करे तो लग सकते है अत इनको इस प्रकार से सहयोगी कहा है। दूसरे शब्दो मे यह कहा जा सकता है कि जो स्वभाव मे लगेगा उसके बाहर मे व्रतादि तपस्चरणादि की भूमिका होगी ही। बाहर से हटना है और स्वभाव मे लगना है इन दोनो कार्यों मे तीव्र मित्रता होनी चाहिए। धर्म-सवर-निर्जरा बाहर से हटने से नही स्वआत्मा मे लगने से होता है। परन्तु दोनो साथ-साथ चलते हैं। अगर स्वरूप मे सातवें गुणस्थान के योग्य रमणता है तो बाहर मे पच महाव्रत—२८ मूलगुण नग्न दिगम्बरपना जरूर होगा अगर ऐसा बाहर मे नही है तो भीतर मे ऐसी रमणता भी नही है। अगर बाहर मे बेईमानी, अन्याय अभक्ष-मायाचारी है तो भीतर आत्मामे श्रावकके जैसा होना चाहिए वैसा स्वरूप का अनुभव व ठहराव नही है। अगर किसी भी रूप मे कुदेवादि—शासनदेवो को पूजता है सच्चे देव-शास्त्र गुरू को भी पुण्यके लिए-मान बडाई के लिए भोगो की लालसा से पूजता है तो अतरग मे भेदविज्ञान नही है यह निश्चित है यह ज्ञाननय और क्रियानय की एकता है और यह एकता भीतर से बाहर की तरफ है। बाहर से भीतर की तरफ नही है अर्थात् बाहर मे ऐसी क्रिया और व्रतादि है तो भीतर मे स्वरूप रमणता होगी ही ऐसा नही है। परन्तु अन्तर मे ठहराव है तो बाहरी आचरण भी उसी रूप जरूर है। शुभ राग बधरूप है यह बात सही है क्योकि जितना राग होगा उतना बध जरूरी है परन्तु हम उनको पुण्य का साधन न बनाकर आत्मदर्शन और आत्मस्थिरता का भी साधन बना सकते है और साधन बना कर हमे ही आत्मदर्शन और आत्मस्थिरता करनी होगी। वे करवा दे अथवा उनसे हो जावे, उनके करते-करते हो जावे, ऐसा तत्त्व नही है।

मैले कपडेके साबुन लगानेसे रग नही चढेगा परन्तु रगमे डालेंगे तो रग चढेगा अगर रगमे न डालें तो अनतकाल तक भी साबुन लगाता रहे तो रग नही चढेगा। यह गलती हमारी है कि हम उन्हे पुण्यबध का या भोगो का साधन बनाते है। पुण्य बध का साधन नही बनाने पर भी पुण्य बध तो होगा परन्तु वह हमारे अभिप्राय बिना होगा। अत ज्ञानी उसका कर्ता नही है ज्ञानी तो उनको शरीर और आत्मा को भिन्न देखने का ही साधन बनता है जो आत्मदर्शन करने मे सहकारी है। इसलिए इनको व्यवहारदृष्टि से मोक्ष मार्ग कहा है। ऐसा ही प० जयचन्द जी ने अर्थ किया है—"जे पक्षपात का अभिप्राय छोडि निरतर ज्ञान रूप होते कर्मकाड कू छोडै है अर निरतर ज्ञानस्वरूप विषै "जेतै न थव्या जाय तेतै" अशुभ कर्म कू छोडि स्वरूप का साधनरूप शुभ कर्मकाड विषै प्रवर्ते है ते कर्म का नाश करि ससार ते निवृत होय है।"

इसी कलश का भावार्थ—जो ज्ञाननय ही कू ग्रहण करि क्रियानय कू छोडे है सो प्रमादी स्वच्छन्द भया इस भूमि कू न पावै है। बहुरि जो क्रिया नय ही कू ग्रहण करि ज्ञाननय कू नाही जाने है सो भी शुभकर्म मैं सतुष्ट भया इस निष्कर्म भूमिका कू नाही पावे है। बहुरि ज्ञान पाय निश्चल सयम कू अगीकार करे हैं तिनिकै ज्ञाननय के अर क्रियानय के परस्पर अत्यत मित्रता होय है ते इस भूमिका कू पावे है।

गाथा १२ का भावार्थ—तहा जैते यथार्थ ज्ञान श्रद्धान की प्राप्तीरूप सम्यक्दर्शन की प्राप्ति न भई

होय, तेतै तो यथार्थ उपदेश जिनितै पायीये ऐसे जिनवचन का सुनना-धारना तथा जिनवचन के कहने वाले श्री जिनगुरू तिनि की भक्ति जिनबिंब का दर्शन इत्यादि व्यवहार मार्ग मे प्रवर्तना प्रयोजनवान है। बहुरि जिनि कै श्रद्धान, ज्ञान तौ भया अर साक्षात्प्राप्ति न भई तेतै पूर्वोक्त कार्य भी अर परद्रव्य का आलबन छोडने रूप अणुव्रत महाव्रत का ग्रहण तथा समिति गुप्ति पचपरमेष्ठी का ध्यानरूप प्रवर्तना तथा तैसे प्रवर्तने वालेकी सगति करना, विशेष ज्ञान करने कू शास्त्रनि का अभ्यास करना··· · प्रयोजनवान है।

प्रवचनसार मे चरणानुयोग चूलिका मे गाथा २०१ की टीका करते हुए आचार्य अमृतचन्द स्वामी ने लिखा है जिसकाअर्थ है कि अहो—आठ प्रकार ज्ञानाचार—आठ अगरूप दर्शनाचार—तेरह प्रकार चारित्राचार और बारह प्रकार तपाचार मैं यह निश्चय से जानता हूँ कि तू शुद्धात्माका नही है तथापि तुम्हे तब तक अगीकार करता हूँ जब तक तेरे प्रसाद से शुद्धात्मा को उपलब्ध कर लू। यहा पर —"तू शुद्धात्मा का का नही है" इसके द्वारा बध का कारण बताया और "तेरे प्रसाद से" इसके द्वारा साधनपना स्वीकार किया है। "प्राप्त करलू" इसके द्वारा जीव का अपना वैसा करने का पुरुषार्थ बताया है।

क्या तत्त्वविचार, व्रत-उपवासादि अथवा जिनदर्शनादि मात्र संसार बध का ही कारण है अथवा इनके द्वारा हम अपने स्वभाव की, भेदविज्ञान की, वीतरागता की भी पुष्टि कर सकते हैं। अगर इनके द्वारा इनकी पुष्टि नही हो सकती तब तो ज्ञानी को इन कार्यो मे जाना ही नही चाहिए। ज्ञानी पुण्य बध के लिए इन कार्यो को नही करता परन्तु इनके माध्यम से आत्मस्वभाव की रुचि को, भेदविज्ञान की, वीतरागता की, सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की पुष्टि करके तदरूप होने का उपाय करता है अत उतने रूप मे यथापदवी प्रयोजनवान भी है परन्तु उपादेय तो मात्र निज स्वभाव मे रमण करना ही है ॥७४॥

(अथात्मोदयमावष्पति) अब आत्मा के उदय को प्रकट करते है—

चित्पिण्डचण्डिमविलासिविकासहासः
शुद्धप्रकाशभरनिर्भरसुप्रभातः ।
आनन्दसुस्थित सदास्खलितैकरूप-
स्तस्यैव चायमुदयत्यचलार्चिरात्मा ॥७५॥

अन्वयार्थ—**(तस्य)** उक्त प्रकार के शुद्धोपयोगी साधु के **(एव)** ही **(चित्पिण्ड चण्डिम विलासि विकास हासः)** चैतन्य के पिण्ड की प्रचण्डता से विलासरूप जिसका खिलना है **(शुद्धप्रकाशभरनिर्भर सुप्रभात)** कर्ममल से शून्य ज्ञानरूप प्रकाश के समूहरूप सातिशय प्रात काल वाला **(आनन्दसुस्थित सदास्खलितैकरूप)** आत्मिक आनन्द मे सम्यक् प्रकार से स्थित नित्य स्खलन रहित अद्वितीय रूप वाला **(च)** और **(अचिलार्चिः)** निश्चल ज्योति स्वरूप **(अयम्)** यह **(आत्मा)** आत्मा **(उदयति)** उदय को प्राप्त होता है।

सं० टीका—(तस्यैवमुनेः शुद्धोपयोग भूमिगतस्य न पुनरन्यस्य) शुद्धोपयोग की भूमि को प्राप्त हुए

साधु के ही अन्य के नही **(अयम्)** यह **(आत्मा-चिद्रूप)** चैतन्य स्वरूप आत्मा **(उदयति-उदयं प्राप्नोति-साक्षाद्भवति-इत्यर्थः)** उदय को प्राप्त होता है अर्थात् प्रत्यक्ष होता है **(कीदृक्षः सः)** वह आत्मा कैसा **(चिदित्यादिः-चित्पिण्डः-ज्ञानपिण्डः, तस्यचण्डिमा प्रौढत्वं तेन विलसतीत्येवं शीलो विकासः स एव हासः झर्झरं यस्य सः)** ज्ञान पिण्ड की प्रौढता से विलास स्वभावरूप विकासात्मक हास वाला **(अन्योऽप्युदये विकासहासो भवतीत्युक्तिलेशः)** उत्कर्ष के समय साधारण मनुष्य भी आनन्दोल्लसरूप हास्य को प्राप्त होता है यह इसका तात्पर्यार्थ है **(पुनः कीदृशः)** फिर कैसा **(शुद्धेत्यादिः-शुद्धः-कर्ममलकलङ्करहितः स चासौ प्रकाशश्च ज्ञानोद्योतः तस्य भरः समूह. स एव निर्भरप्रभातः-सातिशय प्रात.कालो यस्य सः)** कर्ममलरूप कलङ्क से रहित ज्ञान का समुज्वल प्रकाश का समूहरूप सातिशय प्रात काल वाला **(अन्यस्यापि-उदये प्रातःकालोभवति)** अर्थात् लोक मे भी पुण्य का उदय होने पर मनुष्य के प्रात काल-सुखदायक समय प्राप्त होता है **(पुनः कीदृशः)** फिर कैसा **(आनन्देत्यादिः-आनन्दे-अकर्मशर्मणि सुस्थितं सुप्रतिष्ठ -सदा-नित्यं-अस्खलितैकरूपं-स्खलितरहितं एकमद्वितीयस्वरूपं यस्य सः)** कर्मोपाधिशून्य सुखमे स्थित हमेशा स्खलन रहित अद्वितीय स्वरूप वाला **(अन्यस्याप्युदयस्यास्खलितस्वरूपं भवतीत्युक्तिलेशः)** अर्थात् व्यवहार मे भी किसी के पुण्य का उदय दीर्घकाल स्थायी देखा जाता है ॥७५॥

भावार्थ—जैसे लोक मे इष्ट-प्रिय-पदार्थ के दर्शन से मनुष्य खुशी से हँसने लगता है वैसे ही आत्मा आत्मदर्शन से आनन्दविभोर हो जाता है। जैसे व्यवहार मे पापोदय के दूर होने और प्रबल पुण्य के उदय होने पर जीव को अपनी दुखद अवस्था के पश्चात् सुखद ज्ञान होने से सुप्रभात प्राप्त होता है वैसे ही ज्ञानी को आत्मज्ञान की प्राप्तिकाल मे हर्षोन्मग्नता प्राप्त होती है। जैसे लोक मे आकुलता के कारण के हटने पर बहुकाल स्थायी निराकुलता रूप सुख प्राप्त होता है वैसे ही ज्ञानी को कर्मोपाधि के हटने पर अनन्त अविनाशी शाश्वतिक अनन्त सुख की प्राप्ति होती है। जैसे व्यवहार मे दुर्बल आदमी को योग्योपचार से बल की प्राप्ति होती है वैसे ही ज्ञानी को अपने ही प्रबल पुरुषार्थ से अनन्त बल की प्राप्ति होती है जो आत्मिक अनत बल अनत काल तक स्थित रहता है ॥७५॥

(अथ स्वस्वभावविस्फुरण काम्यति) अब अपने स्वभाव के पूर्ण विकास की इच्छा प्रकट करते है—

स्याद्वादवदीपितलसन्महसि प्रकाशे
शुद्धस्वभावमहिमन्युदिते मयीति ।
कि बन्धमोक्ष पथपातिभिरन्यभावै-
र्नित्योदयः परमयं स्फुरतु स्वभावः ॥७६॥

अन्वयार्थ—**(इति)** पूर्वोक्त-प्रकार के **(स्याद्वाद दीपित लसन्महसि)** स्याद्वाद से प्रकाशित अतएव परित शोभमान तेज वाले **(शुद्धस्वभाव महिमनि)** शुद्ध स्वभाव की महत्ता वाले **(प्रकाशे)** ज्ञानरूप प्रकाश के **(मयि)** मेरे मे **(उदिते)** उदित को प्राप्त होने पर **(बन्धमोक्षपथपातिभि)** बन्धमार्ग तथा मोक्षमार्ग मे

पडने वाले (**अन्यभावैः**) अन्य भावो से (**मम**) मेरा (**किम्**) क्या (**प्रयोजनम्**) प्रयोजन (**अस्ति**) है ? अर्थात् (**किमपि न**) कुछ भी नही (**मम**) मेरे तो (**परम्**) केवल-सिर्फ (**अयम्**) यह (**नित्योदयः**) निरन्तर उदयशील (**स्वभावः**) आत्म स्वभाव (**स्फुरतु**) प्रकाशमान हो।

स० टीका—(**इति हेतो.**) इसलिए (**अय-प्रसिद्धः**) यह प्रसिद्ध (**स्वभाव.-आत्मस्वरूपम्**) आत्मा का स्वरूप (**स्फुरतु-प्रकाश यातु**) स्फुरायमान हो अर्थात् प्रकाश को प्राप्त हो (**परं-केवलम्**) केवल-सिर्फ (**कीदृशः स॰**) वह आत्म स्वभाव कैसा (**नित्योदय -नित्यं सदा उदयो यस्य स**) जिसका उदत-प्रकाश निरतर विद्यमान रहता है (**इति किम्**) ऐसा कैसा (**मयि-शुद्धभावे-आत्मनि**) शुद्ध स्वभाव स्वरूप आत्मा के (**उदिते-उदयं प्राप्ते**) उदय को प्राप्त (**सति**) होने पर (**अन्यभावैः-शुभाशुभोपयोगैः**) शुभ तथा अशुभरूप उपयोगो से (**किम्**) क्या (**न किमपि**) कुछ भी नही (**स्यात्**) हो सकता है ? (**कीदृशैस्तैः**) कैसे शुभाशुभ उपयोगो से— (**बन्धेत्यादि.-कर्मणा बन्धश्च मोक्षश्च बन्धमोक्षौ तयोः पन्था., मार्ग, तत्रपातिभि.-पतनशीलै., अय बन्धहेतुः, अय मोक्षहेतुः इत्यादीना भावाना प्रयोजनाभावात्**) क्योंकि कर्मों का बन्ध तथा उनका मोक्ष इन दोनो का जो मार्ग उसमे ले जाना ही जिनका स्वभाव है अर्थात् यह बध का कारण है तथा यह मोक्ष का कारण है इत्यादि भावो से आत्मा का कोई प्रयोजन नही है। (**कीदृक्षे तस्मिन्**) कैसे आत्मस्वभाव मे (**स्यादित्यादि.-स्याद्वादः-श्रुत-भावश्रुत तेन दीपित, लसन्महः-उल्लसत्तेजो यस्य तस्मिन**) स्याद्वाद-भावश्रुतज्ञान से प्रकाशित महान् तेज जिसमे प्रकाशमान है (**प्रकाशे-स्वपरप्रकाशात्मके**) ऐसे स्वपर के प्रकाश स्वरूप अर्थात् अपने स्वरूप को तथा अपने से भिन्न समस्त पदार्थों के स्वरूप को प्रकाशित करना ही जिसका मुख्य स्वभाव है ऐसे (**पुनः**) फिर कैसे (**शुद्धेत्यादिः-शुद्धस्वभावे महिमा-माहात्म्य यस्य तस्मिन्**) आत्मा के परिपूर्ण शुद्ध-कर्ममलरहित-स्वरूप मे ही जिसकी महत्ता विद्यमान रहती है ऐसे।

भावार्थ—भावना प्रधान मुमुक्षु यह भावना व्यक्त कर रहा है कि स्याद्वाद के यथार्थ ज्ञान से मुझे मेरी सच्ची आत्मा के स्वरूप का ज्ञान हो जिससे मैं स्वय ही अनतज्ञान, अनतदर्शन, अनतसुख तथा अनत वीर्यरूप अनत चतुष्टय का धारी बनू। यही मेरा खास स्वरूप है अतएव इसीसे मेरा मुख्य प्रयोजन है इससे भिन्न बध के मार्ग तथा मोक्ष के मार्गभूत शुभाशुभ भावो से मेरा कोई खास प्रयोजन नही है ।।७६।।

(**अथ चिन्महो रोचते**) अब मुझे तो चैतन्यमय तेज ही रुचिकर है यह प्रकट करते हैं—

चित्रात्मशक्तिसमुदायमयोऽयमात्मा—
सद्यः प्रणश्यति नयेक्षणखण्ड्यमानः ।
तस्मादखण्डमनिराकृत खण्डमेक—
मेकान्तशान्तमचलं चिदहं महोऽस्मि ।।७७।।

अन्वयार्थ—(**चित्रात्मशक्तिसमुदायमयः**) नाना शक्तियो के समूहरूप (**अयम्**) यह (**आत्मा**) आत्मा

(**नयेक्षणखण्डचमानः**) नयो की दृष्टियों से खण्डित किया गया (**सद्यः**) शीघ्र (**प्रणश्यति**) नाश को प्राप्त होता है। (**तस्मात्**) इसलिए मैं ऐसा अनुभव करता हूँ कि (**अखण्डम्**) अखण्ड (**अनिराकृत खण्डम्**) खडो के निषेध से शून्य अर्थात् विवक्षा के वश से खण्ड सहित भी (**एकम्**) एक है (**एकान्त शान्तम्**) एक रूप से अत्यन्त ही शान्त अर्थात् कर्मजनित अशान्ति से भी शून्य होने से अत्यधिक शान्त (**अचलम्**) चञ्चलता रहित (**चित्**) चैतन्यमात्र (**महः**) तेज (**अहम्**) मैं (**अस्मि**) हूँ।

सं० टीका—(**अयमात्मा-चिद्रूपः**) यह चैतन्य स्वरूप आत्मा (**नयेत्यादिः-नयाना द्रव्यपर्यायाणा ईक्षणं अवलोकनं तेन खण्डचमानः भिद्यमान.**) द्रव्यार्थिक एव पर्यायार्थिक नयो के दर्शन से खण्ड-भेद को प्राप्त हुआ (**प्रणश्यति-द्रव्यक्षेत्रकालभावेन खण्डचते, इत्यर्थः**) अर्थात् द्रव्य, क्षेत्र, काल तथा भाव से खण्ड को प्राप्त होता है। (**कीदृक्षः**) कैसा (**चित्रेत्यादिः-चित्रा नाना प्रकाराः नाश्च ताः आत्मक्तयश्च जीवशक्ति चितिशक्तिदृशिशक्तिज्ञानशक्तिसुखशक्तिवीर्यशक्ति प्रभुत्वशक्ति विभुत्वशक्ति सर्वदर्शित्वशक्ति सर्वज्ञत्वशक्ति सत्त्वशक्ति प्रकाशशक्ति सकुचितविकासत्वशक्ति कार्यकारणशक्ति परिणाम्यपरिणामिकत्वशक्ति त्यागोपादानशून्यत्वागुरुलघुत्वोत्पादव्ययध्रुवत्वपरिणाममूर्तत्वाकर्तृत्वाभोक्तृत्व निष्क्रियत्व नियतप्रदेशत्वस्वधर्मव्यापकत्व साधारणासाधारणधर्मत्वानन्तधर्मत्वविरुद्धधर्मत्व तत्त्वातत्त्वैकत्वानेकत्वभावाभावाभावाभावाभावभावाभावाभावाभावक्रिया कर्म कर्तृकरणसम्प्रदानापादानाधिकरणत्व सम्बन्धादयः शक्तयः तासां समुदायेननिर्वृत्तः**) जीवशक्ति, चितिशक्ति, दृशिशक्ति, ज्ञानशक्ति, सुखशक्ति, वीर्यशक्ति, प्रभुत्वशक्ति, विभुत्व शक्ति, सर्वदर्शित्वशक्ति, सर्वज्ञत्वशक्ति, सत्त्वशक्ति, प्रकाशशक्ति, सकुचितशक्ति, विकासत्वशक्ति, कार्य कारण शक्ति, परिणाम्यपरिणामिकत्व शक्ति, त्यागोपादान शक्ति, शून्यत्वशक्ति, अगुरुलघुत्वशक्ति, उत्पादत्वशक्ति, व्ययत्वशक्ति, ध्रुवत्वशक्ति, परिणामत्वशक्ति, मूर्तत्वशक्ति, अकर्तृत्वभक्ति, अभोक्तृत्वशक्ति, निष्क्रियत्वशक्ति, नियतप्रदेशत्वशक्ति, स्वधर्म व्यापकत्व शक्ति, साधारणासाधारणधर्मत्वशक्ति, अनन्तधर्मत्वशक्ति, विरुद्धधर्मत्वशक्ति, तत्त्वशक्ति, अतत्त्वशक्ति, एकत्वशक्ति, अनेकत्वशक्ति, भावत्वशक्ति, अभावत्वशक्ति, भावाभावत्व शक्ति, भावभावत्व शक्ति, अभावभावत्वशक्ति, अभावाभावत्व शक्ति, क्रियात्वशक्ति, कर्मत्वशक्ति, कर्तृत्वशक्ति, करणत्वशक्ति, सम्प्रदानत्व शक्ति, अपादानत्व शक्ति, अधिकरणत्व शक्ति तथा सम्बन्धत्व आदि नाना शक्तियो के समुदाय से निर्मित-सम्पन्न (**अस्मात्-कारणात्**) इस कारण से (**अहम्**) मैं (**चित्-चेतना**) चैतन्य रूप (**महः-धाम**) तेज (**अस्मि-भवामि**) हूँ (**कीदृक्षम्-मह.**) कैसा तेज (**अखण्डम्-न खण्डचते केनापीत्यखण्डम्**) अखण्ड–जिसका किसी के द्वारा भी खण्डन न हो सके अर्थात् अछेद्य (**अनिरित्यादि.-अनिराकृता-न दूरीकृता व्यवहार नयापेक्षया खण्डाः पर्याया यस्य तत्**) व्यवहारनय की अपेक्षा जिसके खण्ड दूर नही किये गये हैं अर्थात् व्यवहारनय की दृष्टि से जिसके खण्ड यथायोग्य रीति से सम्भव है (**एकम्-अद्वितीयम्**) अद्वितीय (**कर्मव्यतिरिक्तत्वात्**) कर्मो से सर्वथा भिन्न स्वरूप होने के कारण (**एकान्तशान्तम्-एकान्तेन अद्वितीयेन स्वभावेन शान्तं समारूढम्**) अद्वितीय स्वभाव से शान्त भावमय (**पुन.**) फिर कैसा (**अचलम्-स्वस्वभावत्वादविनश्वरत्वान्निश्चलम्**)

स्वकीय स्वभाव से अविनाशी होने के कारण निश्चल ।

भावार्थ—आत्मा अनन्त शक्तियो का एक अखण्ड पिण्ड है तथापि उन भिन्न-भिन्न शक्तियो को ग्रहण करने वाले नयो की दृष्टि से आत्मा खण्ड-खण्ड सा प्रतीत होता है जिससे एकान्ती खण्ड-खण्डरूप ही आत्मा को मान बैठते हैं। अत स्याद्वादी उन विभिन्न नयो की दृष्टि को गौणकर-अनन्त शक्तिस्वरूप सामान्य विशेषात्मक सर्वगुण पर्यायमय एक अखण्ड द्रव्यरूप से ही आत्मा का अनुभव करता है जो यथार्थ है निर्विरोध है और है वस्तुस्थिति मूलक ।

(अथ ज्ञानम मात्रत्व मन्व्यते आत्मनः) अब आत्मा ज्ञानमात्र है यह विचार प्रस्तुत करते हैं—

योऽयं भावो ज्ञानमात्रोऽहमस्मि ज्ञेयो ज्ञेयज्ञानमात्रः स नैव ।
ज्ञेयो ज्ञेयज्ञानकल्लोलवल्गन् ज्ञानज्ञेयज्ञातृमद्वस्तुमात्रः ॥७८॥

अन्वयार्थ—(**य**) जो (**अयम्**) यह (**ज्ञानमात्रः**) ज्ञान स्वरूप (**भाव**·) पदार्थ (**अहम्**) मैं (**अस्मि**) हूँ (**सः**) वह मैं (**ज्ञेयज्ञानमात्र**) ज्ञेय के ज्ञानमात्र (**ज्ञेय.**) जानने योग्य (**नैव**) नही (**अस्मि**) हूँ किन्तु (**ज्ञेयज्ञानकल्लोलवल्गन्**) ज्ञेयो-पदार्थों के आकार जो ज्ञान के कल्लोल-परिणमन उनको बलात् प्राप्त करता हुआ (**अहम्**) मैं (**ज्ञानज्ञेयज्ञातृमद्वस्तुमात्रः**) स्वय ही ज्ञान ज्ञेय और ज्ञातास्वरूप एकमात्र वस्तु हूँ। (**ज्ञेयः**) ऐसा जानना चाहिए ।

सं० टीका—(**योऽयं प्रसिद्ध**) जो यह प्रसिद्ध (**ज्ञानमात्र.-ज्ञानस्यमात्रं-कात्स्न्यँ यत्र स**) ज्ञानमात्र-परिपूर्ण ज्ञानशाली (**भाव.-पदार्थ**) पदार्थ है (**स एवाहम्**) वही मैं (**अस्मि-भवामि**) हूँ (**यः**) जो (**ज्ञेयज्ञान-मात्र -ज्ञेयाना-पदार्थाना ज्ञानमात्रः-तदुत्पत्त्यादिना पदार्थाकारमात्रः**) पदार्थों की उत्पत्ति आदि शब्द से व्यय एव ध्रौव्य आदि पदार्थाकार मात्रज्ञान (**अस्ति**) है (**सोऽहं नैव ज्ञेयः ज्ञातव्य**) तन्मात्र ही मुझे नही मानना चाहिए (**तर्हि कीदृक्षोऽहम्**) तो मैं कैसा हूँ ? (**ज्ञेयेत्यादि -ज्ञेयश्च ज्ञानञ्च तत्परिच्छेदकम्-ज्ञेयज्ञाने तयो. कल्लोला -वीचय -अर्थाद्विवर्तास्तत्रवल्गत्-वल्गनं कुर्वत्-तद्ग्रहणं कुर्वदित्यर्थः तच्च तज्ज्ञानं च तदेवज्ञेय परिच्छेद्यं तस्य यो ज्ञातृमत् ज्ञायक-परिच्छेदकं तच्च तद्वस्तु च तदेव मात्रं प्रमाण यस्य सः**) ज्ञेय-पदार्थ तथा ज्ञान-पदार्थ का परिच्छेदक-ज्ञायक इन दोनो के कल्लोल अर्थात् पर्यायो को ग्रहण करने वाला ज्ञान स्वय ही ज्ञान ज्ञेय तथा ज्ञातारूप वस्तु है (**एवम्**) ऐसा (**ज्ञेय**·-**ज्ञातव्य.**) जानना चाहिए ।

भावार्थ—ज्ञानी विचार करता है कि मैं ज्ञान मात्र एक पदार्थ हूँ सो मुझे केवल ज्ञेय के जाननेमात्र नही समझना चाहिए किन्तु मैं तो स्वय ही ज्ञान हूँ ज्ञेय हूँ और ज्ञाता हूँ यह त्रिविधरूपता मेरे मे स्वभावत विद्यमान है। क्योकि ज्ञान मे जो ज्ञेय परपदार्थों के प्रतिबिम्ब पडते है वे मेरे ही ज्ञान के परिणमन हैं। मैं उन्हे स्वय ही अनुभवन करता हूँ। यह भेद दृष्टि है। अभेद दृष्टि मे तो मैं ज्ञानमात्र सामान्य विशेषात्मक एक तत्त्व हूँ ऐसा जानना चाहिए वस्तुस्वरूप भी ऐसा ही है ॥७८॥

(अथात्मनः प्रतिभासभेदं सपूरयति) अब आत्मा के प्रतिभासात्मक भेद का निरूपण करते हैं—

क्वचिल्लसतिमेचकं क्वचिन्मेचाकामेचकम्–
क्वचित्पुनरमेचकं सहजमेव तत्त्वं मम ।
तथापि न विमोहयत्यमलमेधसां तन्मनः–
परस्पर सुसंहतप्रकट शक्तिचक्रं स्फुरत् ॥७६॥

अन्वयार्थ—(**मम**) मेरा (**तत्त्वम्**) स्वरूप (**क्वचित्**) किसी समय (**मेचकम्**) अनेकाकार, अशुद्ध (**लसति**) प्रतिभासित होता है । (**क्वचित्**) किसी काल मे (**सहजम्**) स्वभाव से (**एव**) ही (**अमेचकम्**) एकाकार-शुद्ध (**लसति**) प्रतीत होता है (**पुनः**) और (**क्वचित्**) किसी समय (**मेचकामेचकम्**) अनेकाकार तथा एकाकार (**लसति**) मालूम पडता है (**तथापि**) तो भी (**परस्पर सुसंहत प्रकटशक्ति चक्रम्**) आपस मे सम्यक् प्रकार से सम्मिलित स्पष्ट शक्तियो का समूहरूप (**स्फुरत्**) देदीप्यमान (**तत्**) वह आत्मस्वरूप (**अमलमेधसाम्**) निर्मल बुद्धि वालो अर्थात् सम्यग्ज्ञानियो के (**मन**) मन को (**न**) नही (**विमोहयति**) विमोहित करता है अर्थात् सशित एव विपर्यस्त नही होने देता है ।

स० टीका—(**ममात्मनः**) मेरी आत्मा का (**तत्त्व-ज्ञानस्वरूपम्**) ज्ञानस्वभाव (**क्वचित्-कस्मिन् क्षणे**) किसी समय (**बहि. पदार्थ ग्रहणसमये**) अर्थात् बाह्य पदार्थों के ग्रहण-जानने के समय मे (**मेचकं-चित्रस्वरूपम्**) चित्र-विचित्र स्वरूप वाला (**पक्षान्तरे-रागद्वेष कलुषीकृत वा**) पक्षान्तर मे राग-द्वेष से कलुषित किया गया (**लसति-विलास करोति**) प्रतिभासित होता है (**पञ्चवर्णं भवेद्रत्नं मेचकाख्यमिति वचनात्**) पाच वर्णों वाला रत्न मेचक कहलाता है इस वचन से (**तद्वत्**) वैसे ही (**ज्ञानमपि चित्राकारं मेचक भण्यते**) चित्र–नाना आकार वाला ज्ञान भी मेचक कहलाता है (**पुनः-भूयः**) फिर (**क्वचित्-सहज-शुद्धटङ्कोत्कीर्णस्वरस स्वभावालम्बन समये**) सहज-शुद्ध स्वभाव से कर्ममल शून्य टाकी से खोदे हुए के समान आत्मिक आनन्दरूप रसरूप स्वभाव के आलम्बन के समय (**अमेचकम्-बहिश्चित्राकार रहितम्**) बाह्य मे नाना आकारो से रहित (**रागद्वेषमोहमलमुक्तं वा**) अथवा अन्तरग मे राग-द्वेष तथा मोहरूप मल से शून्य (**विलसति**) विराजमान रहता है । (**कीदृक्षम्**) फिर भी कैसा ? (**सहजम्-यदमेचक स्वरूपंतत्स्वरसजम्**) जो नाना आकारो से शून्यता है वह आत्मिक रस से उत्पन्न हुई है अतएव स्वाभाविक है (**एव-निश्चयेन**) निश्चय से (**परेषामन्योपाधिसापेक्षत्वात्**) क्योकि रागादि परभाव आत्मा से भिन्न पर-पदार्थों के निमित्त की अपेक्षा रखते हैं (**पुनः**) फिर (**कीदृक्षम्**) कैसा (**क्वचित्-स्वपरग्रहणोन्मुखसमयेः**) स्व-आत्मा तथा पर पुद्गलादि द्रव्यो के ग्रहण करने की उन्मुखता के काल मे (**मेचकामेचकम्-परस्वरूप-ग्रहणेन मेचकम्-स्वरूपग्रहणेनामेचकम्**) पर पदार्थ के स्वरूप के ग्रहण-जानने के समय मे मेचक-नाना आकाररूप तथा स्व-अपने स्वरूप के ग्रहण-जानने के समय मे अमेचक-एकाकाररूप (**प्रतिभासते**) प्रतीत होता है (**तथापि-मेचकामेचकस्वरूपप्रतिभासेऽपि**) तो भी अर्थात् मेचक नाना आकार तथा अमेचक-एकाकाररूप स्वरूप के प्रतिभासित होने पर भी (**तत्-आत्मतत्त्वम् कर्तृ**) वह आत्मतत्त्वरूप कर्ता (**अमलमे-**

धसां-निर्मलज्ञानिनाम्) निर्मल ज्ञानियो सम्यग्ज्ञानियो के (मन -चिन्तम्) चित्त को (कर्मतापन्नम्) जो कर्मत्व अवस्था को प्राप्त है (न विमोहयति-मोहम्-न प्रापयति) मोह को नही प्राप्त कराता है अर्थात् विपरीत ज्ञानी नही होने देता है (सहेतुविशेषण माह) इसी अर्थ को समर्थित करने के हेतु-सहेतुक हेतु के साथ विशेषण कहते है—वह कैसा है (परस्परेत्यादि:-परस्परमन्योऽन्यं सुसंहता-सम्यगमिलिता सा चासौ प्रकटशक्तिश्च स्फुटसामर्थ्यं तेषां चक्र समूहोयत्र तत्) जिसमे आपस मे भले प्रकार से स्पष्ट शक्तियो का समुदाय मिलजुल रहा है (पुनः) फिर (कीदृक्षम्) कैसा (स्फुरत्-देदीप्यमानम्) सर्वत प्रकाशमान है।

भावार्थ—यह आत्मतत्त्व जो अनन्त शक्तियो का स्वाभाविक पुञ्ज है। कभी तो अनेकाकार रूप से अनुभव मे आता है और कभी एकाकार रूप से। तथा कभी एकाकार एव अनेकाकार रूप से ज्ञान का विषय होता है। इसका कारण कभी तो परपदार्थों के जानने की उन्मुखता होती है और कभी परनिरपेक्ष स्व को जानने की उन्मुखता होती है और कभी दोनो को जानने की तत्परता होती है। इतना सब कुछ होते हुए भी यह पूर्वोक्त आत्मतत्त्व की विविधरूपता आत्मज्ञानी महापुरुषो को कदापि विमुग्ध नही करती है। क्योकि वे ज्ञानी जन स्याद्वाद की कसौटी पर कस कर ही तत्त्व की मीमासा करते हैं। अतएव सशयालु नही होते प्रत्युत परम निश्चल निष्कर्ष पर पहुचकर तत्त्व जिज्ञासा की परिपूर्ति मे पूर्णतया सफल सिद्ध होते है ॥७६॥

(अथैकत्वानेकत्वादि प्रतिभासन बाभायते) अब एकत्व तथा अनेकत्व आदि के प्रतिभास को प्रकट करते हैं—

इतो गतमनेकतां दधदितः सदाप्येकता-
मितः क्षणविभङ्गुरं ध्रुवमितः सदैवोदयात् ।
इतः परमविस्तृतं धृतमितः प्रदेशैर्निजै-
रहो सहजमात्मनस्तदिदमद्भुतं वैभवम् ॥८०॥

अन्वयार्थ—(इत) इधर-एक तरफ पर्याय दृष्टि से (अनेकताम्) अनेकता को (गतम्) प्राप्त (अपि) और (इत.) एक ओर द्रव्य दृष्टि से (सदा) निरन्तर (एकताम्) एकता को (दधत्) धारण करता (इतः) इधर-एक तरफ (क्षणभङ्गुरम्) क्रमवर्ती पर्याय की अपेक्षा से क्षणनश्वर (इतः) इधर-एक ओर (सदा) सर्वदा-हमेशा (एव) ही (उदयात्) उदय होने से (-ध्रुवम्) अर्थात् सहभावी गुण की अपेक्षा से ध्रुव-नित्य (इतः) इधर एक तरफ (परमविस्तृतम्) अतिशय विस्तार स्वरूप अर्थात् ज्ञान की अपेक्षा से सर्व व्यपक (इतः) इधर-एक ओर (निजैः) अपने (प्रदेशैः) प्रदेशो से जो सख्यातीत है (धृतम्) धारण किया हुआ (अहो) आश्चर्य है कि—(तत्) वह (आत्मन·) आत्मा का (इदम्) यह (सहजम्) स्वाभाविक (अद्भुतम्) अद्भुत आश्चर्य कारक (वैभवम्) वैभव-ऐश्वर्य (अस्ति) है।

सं० टीका—(अहो-आश्चर्ये) अहो-यह अव्यय आश्चर्य अर्थ मे प्रयुक्त है अर्थात् आश्चर्य है

(तदिदम्) वह यह **(आत्मनः-चिद्रूपस्य)** चैतन्यमय आत्मा का **(सहजं-स्वाभाविकम्)** नैसर्गिक **(वैभवं माहात्म्यम्)** महत्त्व **(अद्भुतम्-आश्चर्यकारि)** आश्चर्य को करने वाला है **(तत् किम्)** वह क्या **(यदिदम्)** जो यह **(इत-अस्मात् शुद्धपर्यायार्पणात्)** शुद्ध पर्याय की विवक्षा से **(अनेकता-ज्ञानदर्शन स्ववीर्याद्यनेकस्व-रूपम्)** ज्ञान, दर्शन, आत्मशक्ति आदि अनेक स्वरूपता को **(गतं-प्राप्तम्)** प्राप्त हुआ **(अपि-पुनः)** और **(यत्)** जो **(इतः-अस्मात् संग्रहनयात्)** सग्रहनय से **(सदापि-सर्वदापि)** निरन्तर ही **(एकतां-आत्मद्रव्येणै-कत्वम्)** आत्मद्रव्य की दृष्टि से एकता को **(गतं-प्राप्तम्)** प्राप्त हुआ **(ननु यदनेकं तदेकं कथम् स्यात्)** जो एक अनेक है वह एक कैसे हो सकता है **(अन्यथा)** यदि अनेक एक हो सकता हो तो **(घटपटादीनाम-नेकत्वेऽप्येकत्वं स्यादिति चेत्)** घट-पट आदि की अनेकता मे भी एकता होगी यदि ऐसी तुम्हारी आशङ्का हो नो वह ठीक **(न)** नही है **(नयार्पणादेकत्वानेकत्व घटनात्)** क्योकि नय की विवक्षा से एकता तथा अनेकता की व्यवस्था होती है **(सदात्मना घटादीनामनेकत्वेऽपि, एकत्व घटनाच्च)** कारण कि जो घट आदि अनेक कहे जाते है वे ही सत् की अपेक्षा से एक कहे जाते है **(अन्यथाऽभाव प्रसङ्गात्)** यदि ऐसा न माना जायगा तो उनके अभाव का प्रसङ्ग उपस्थित होगा। **(यत्)** जो **(इत -ऋजुसूत्रनयात्)** ऋजु सूत्र नय की अपेक्षा से जो मात्र वर्तमान पर्याय को ही विषय करता है—जानता है **(क्षणविभङ्गुरम्-प्रतिक्षणं विनश्वरम्)** प्रति समय विनशनशील **(पुन॰)** और **(यत्)** जो **(इतः द्रव्यार्थिकनयात्)** द्रव्यार्थिक-सामान्या-र्थिक-नय की अपेक्षा से **(सदैव-नित्यमेव)** सर्वदा ही-हमेशा ही **(ध्रुवम्-नित्यम्)** नित्य-अविनाशी **(सदैवो-दयात् उत्पादाद्यभावे सदाप्रकाशमानत्वात्)** उत्पाद व्ययके अविवक्षित होनेसे ही निरन्तर प्रकाशमान **(ननु यत्क्षणिकं तत्कथं ध्रुवं शीतोष्णवत्तयोरन्योऽन्यं विरोधात्)** कोई आशङ्का करता है कि जो क्षणनश्वर है वह ध्रुव-निन्य कैसे हो सकता है क्योकि उक्त दोनो मे शीत तथा उष्ण की तरह परस्पर मे सर्वथा विरोध लक्षित होता है **(इतिचेन्न)** ऐसी तुम्हारी आशङ्का ठीक नही है क्योकि **(नयविवक्षासद्भावात्)** नय की विवक्षा के वश से उक्त प्रकार का कथन सुसङ्गत ही है **(मृद्द्रव्यवत्)** मृत्तिकारूप द्रव्य के समान **(यथा मृद्द्रव्य-मृत्पिण्डाकारेणविनष्टं तद्घटाकारेणोत्पद्यते मृद्द्रव्यस्य ध्रुवत्वञ्च)** जैसे मृत्तिकारूप द्रव्य मृत्तिका के पिण्डाकार रूप से विनष्ट होता हुआ भी घट के आकार से उत्पन्न होता है और मृत्तिका के रूप से ध्रुव नित्य बना रहता है **(तथात्मद्रव्यस्यापि)** वैसे ही आत्मद्रव्य के विषय मे भी ध्रुवता कायम रहती है अर्थात् पूर्व पर्याय का विनाश तथा उत्तर पर्याय के उत्पाद मे भी आत्मद्रव्य बराबर बना ही रहता है उसका विनाश कथमपि और कदापि सम्भव नही है। **(यत्)** जो **(पुन)** फिर **(इत-द्रव्यार्पणात्)** द्रव्या-र्थिक नय की विवक्षा से **(पर-केवलम्)** सिर्फ **(अविस्तृतम्-विस्ताराभावविशिष्टम्)** विस्तार से रहित है **(इत -पर्यायविवक्षात.)** पर्याय की विवक्षा से **(निजै -आत्मीयैः)** अपने **(प्रदेशैः-असंख्यसख्यावच्छिन्नैः)** असख्यातरूप संख्या से युक्त अर्थात् सख्यातीत प्रदेशो से **(धृतम्-भृतम्)** भरपूर **(विस्तारिद्रव्यमित्यर्थ.)** अर्थात् विस्तारवान् द्रव्य है।

भावार्थ—आत्मा का वह नैसर्गिक आश्चर्यकारक ऐश्वर्य है जो आत्मा एक ओर अनेकरूप धारण

करता है तो एक तरफ एक ही रूप वाला मालूम पडता है। एक तरफ क्षण विनाशी है तो एक ओर नित्य अविनाशी है एक तरफ व्यापक है तो एक ओर अपने ही असख्यात प्रदेशो के बराबर है। यह सब विविध अपेक्षाओ से सुसङ्गत ही है क्योंकि आत्मा मे अनेकता का विधान पर्यायदृष्टि है एकता का निरूपण द्रव्य दृष्टि है। क्षणनश्वरता क्रमवर्ती पर्याय के आश्रित है अविनश्वरता सहवर्ती गुणो की दृष्टि से है सर्व व्यापकता ज्ञान गुण की अपेक्षा पर आधारित है क्योकि ज्ञान का ज्ञेयमात्र के साथ ज्ञायकता का सम्बन्ध स्वाभाविक है। सकुचितता अपने ही असख्यात प्रदेशो की ओर देखने से सिद्ध होती है, यह सब सापेक्षवाद पर निर्भर है।

(अथात्मनः स्वभावो विजयते) अब आत्मा का स्वभाव विजयशील है यह प्रकट करते हैं—

कषायकलिरेकतः स्खलतिशान्तिरस्त्येकतो–
भवोपहतिरेकतः स्पृशति मुक्तिरप्येकतः।
जगत्त्रितयमेकतः स्फुरति चिच्चकास्त्येकतः
स्वभावमहिमात्मनो विजयतेऽद्भुतादद्भुतः ॥८१॥

अन्वयार्थ—(एकत) एक तरफ अर्थात् अशुद्ध नय की अपेक्षा से (कषायकलि.) कषायो का कलह अर्थात् राग-द्वेष आदि का क्लेश (स्खलति) खलबली मचाता है कष्ट देता है तो (एकत) एक ओर अर्थात् शुद्ध नय की विवक्षा से (शान्ति·) क्रोधादि का उपशम (अस्ति) है (एकत) एक तरफ—व्यवहार नय की अपेक्षा से (भवोपहतिः) पञ्चपरावर्तनरूप ससार का कष्ट (स्पृशति) आश्रय करता है तो (एकत) एक ओर— (मुक्ति) कर्मबन्धन से छुटकारा (अपि) भी (स्पृशति) आत्मा को स्पर्श करता है (एकत) एक तरफ अर्थात् केवल ज्ञान की दृष्टि से (जगत्त्रितयम्) तीनो जगत् (स्फुरति) स्फुरायमान हैं—प्रकाशमान हैं (एकत -) एक ओर (चित्) चैतन्य (चकास्ति) सुशोभित है (एवम्) इस प्रकार से (आत्मन.) आत्मा की (स्वभावमहिमा) स्वभाव महिमा (अद्भुतात्) आश्चर्य से (अद्भुत·) आश्चर्यकारक (विजयते) विजयशील है अर्थात् सर्वोपरिरूप से विराजमान है किसी से भी कदापि कथमपि बाधित नही है।

स० टीका—(विजयते-सर्वोत्कर्षेण वर्तते) सर्वोत्कृष्टरूप से वर्तमान है (क) कौन (स्वभावमहिमा-ज्ञानस्वरूपमाहात्म्यम्) ज्ञान स्वभाव का महत्त्व (कस्य) किसका (आत्मन -चिद्रूपस्य) चैतन्य स्वरूप आत्मा का (अद्भुत -आश्चर्योद्रेककारी) अद्भुत—आश्चर्य के उद्रेक को करने वाला (कुत.) किससे (अद्भुतात्-आश्चर्यकारि जगत्पदार्थात्) विस्मयकारक जगत के पदार्थों से (तत्कथमित्याह) वह कैसे ? यह बताते हैं (एकतः-एकस्मिन्नंशे) एक अश मे (कषायकलि.-रागदोषमोहकलहः) राग-द्वेष मोहरूप कषाय का कलह (स्खलति) सञ्चार को प्राप्त करता है (एकत -शुद्धनिश्चय नयावलम्बनाशे) शुद्ध निश्चय नय के आलम्बन के समय मे (शान्तिः-परम साम्यम्) सर्वोपरि शान्ति (अस्ति-विद्यते) रहती है (एकतः-व्यवहार नयावलम्बनाशे) व्यवहार नय के अवलम्बन के काल मे (भावोपहतिः-भवस्य-द्रव्यादिपञ्चधा-

संसारस्य उपहृति.-प्राप्तिरस्ति) द्रव्य क्षेत्र काल भव तथा भावरूप पाच प्रकार के संसार की उपलब्धि है। **(एकत.-शुद्धनयांशे)** शुद्ध नय के आश्रय के समय मे **(मुक्तिरपि-कर्ममलमोचनमपि)** कर्ममल का मोक्ष भी **(स्पृशति-आश्रयति-आत्मानम्)** आत्मा को स्पर्श करता है—सेवन करता है **(एकत.-एकस्मिन्नशे)** एक अशमे **(जगत्त्रयं-गच्छन्तीति जगन्ति-गम्लृगगतौ, इत्यस्यधातोः "द्युति गमोर्वेचेति" क्विप् प्रत्ययेनोति-सिद्धं जगता त्रयं-अधोमध्योर्ध्वभेदेन त्रिकम्)** अधोमध्य तथा ऊर्ध्व के भेद से तीन जगत् **(स्फुरति-चकास्ति)** शोभमान रहता है **(एकतः-एकाशे)** एक अश मे **(चित्-ज्ञानम्)** ज्ञान **(चकास्ति-द्योतते)** शोभित होता है।

भावार्थ—आत्मा की पूर्वोक्त प्रकार की स्वाभाविक महिमा को—जो अपने आप मे लोकोत्तर वैचित्र्य को स्थापित किये हुए है—सुनकर सर्वथा एकान्तवादियो को तो विरोधात्मक आश्चर्य को उत्पन्न करती है पर वही महिमा अनेकान्ती स्याद्वादी को स्वभाव गत होने से थोडा-सा भी विस्मय नही पैदा करती। क्योकि वह वस्तु स्वरूप का पारखी है किसी का कथन किसी अपेक्षाविशेष से सम्बन्धित होता ही है वह उसी अपेक्षा की ओर दृष्टि कर उसका भले प्रकार से समन्वय कर लेता है। अतएव वह मिथ्या आश्चर्य मे नही पडता है उसे सभी निर्विरोध ही प्रतीत होते हैं। इसलिए विस्मय को उसके हृदय मे स्थान ही नही मिलता है यही इसका फलितार्थ है।

यहाँ बताया है कि जब हम अपने आपको पर्यायदृष्टि से देखते है तब राग-द्वेषरूप परिणमन करते हुए, शरीर से युक्त, कर्मों से बंधे हुए दु खी पाते हैं। परन्तु उसी समय जब अपने को द्रव्यदृष्टि से देखते है तब एक अकेला अभेद अखण्ड ज्ञान का कदरूप, आनन्दरूप अनुभव मे आता है। द्रव्यदृष्टि का विषय-भूत वस्तु त्रिकाल है उसके अभाव मे तो वस्तु का ही अभाव हो जायेगा। ऐसा नही है कि शुद्ध होने पर शुद्ध का अनुभव होगा। आत्मा तो द्रव्यदृष्टि से त्रिकाल पर से भिन्न शुद्ध है उसी का अपनेरूप अनुभव करने पर शरीरादि के प्रति ममतबुद्धि का अभाव होकर पर्याय मे शुद्ध सिद्ध होगा। यह आप ही अनुभव करने वाला अपने को पर्यायरूप-सयोग मे एकत्वरूप तो अनुभव कर रहा है परन्तु अपने निज स्वभावरूप जैसा त्रिकाल है वैसा अनुभव नही करता यह अचभा है। यह तो इसी का चुनाव है अपने को पर्यायरूप अनुभव करता है, अपने को द्रव्य स्वभावरूप भी अनुभव कर सकता है। अनतानत तीर्थंकरो ने-केवलियो ने यह कहा है कि तू घर मे रहते हुए अपने को अपने द्रव्य स्वभावरूप अनुभव कर सकता है ज्ञानियो ने अनुभव किया है। इस अनुभव का निषेध करने से मोक्षमार्ग का, सम्यक्दर्शन का ही निषेध हो जायेगा। एक व्यक्ति स्त्री का पार्ट करते हुए स्त्रीरूप तो अपने को अनुभव कर ले और अपने को पुरुष रूप अनुभव न करे जैसा वह है यह आश्चर्य की बात है। परन्तु उसके स्त्री के पार्ट मे अपनापना अथवा स्त्रीपना तभी छूटेगा जब अपने को पुरुषरूप अनुभव करेगा। स्त्री का पार्ट करते हुए भी वह पुरुष है पुरुष ही रहेगा वह स्त्री नही हो सकता। ऐसे ही यह आत्मा ८४ लाख योनियो मे पार्ट करते हुए भी चैतन्य है चैतन्य ही रहेगा अन्यरूप नही हो सकता। अगर तू अनुभव कर लेगा तो तू ८४ लाख योनियो से रहित हो जावेगा। तू अनुभव कर सकता है। पर्यायरूप अवस्था होती तो है निमित्त-नैमेत्तिक सम्बन्ध से

उसको तू अपने रूप माना—उसका कर्त्ता बनता है जिससे अहकार पैदा होता है। अपने स्वभाव का ज्ञान कर ले तो पर्याय तो होगी परन्तु उसमे अपनापना नही रहेगा, अत मिथ्यात्व तो नही रहा। परन्तु अभी तक उस परिणमन मे, कार्यों मे—विकल्प उठता है यह चारित्रमोह है। परन्तु जब उन परिणमनो का मात्र ज्ञाता दृष्टा ही रहे, मात्र जानने-देखने वाला ही रहे जैसा तेरा स्वभाव है अथवा स्वभाव मे लीन हो जावे तब राग-द्वेष से रहित होता है। पर वस्तु का परिणमन तो उनके निमित्त-नैमेत्तिक सम्बन्धरूप से होता है तेरे करने से नही होता। तेरे हेर-फर करने के विकल्प से हेर-फेर नही होता है जैसे होने का है वैसा होता है। तू अज्ञानता से कर्त्ता बनता है अहम् को प्राप्त होता है और उनमे विकल्प उठाकर आकुलता को प्राप्त होता है जिससे कर्मबध होता है। आचार्य कहते है कि ज्ञाता दृष्टा रूप अपने स्वभाव का निर्णय कर और ज्ञाता दृष्टा ही रह जा वही तेरा कार्य है जिससे अचिर काल मे राग-द्वेष का अभाव हो परमात्मा हो जायेगा। जो ऐसे निज स्वभाव की श्रद्धा करे और उस रूप रहे उसी के सम्यक्‌दर्शन-ज्ञानचारित्र की एकता है। पर को निज मानने से राग-द्वेप हुए हैं जिसका अभाव अपने को अपनेरूप अनुभव करने से ही होगा। राग-द्वेष का अभाव ही परमात्मा होना है ॥८१॥

(**अथैकत्व तस्य जेगीयते**) अब उस आत्मा के एकत्व का अतिशयरूप से यशोगान करते है—

जयति सहज तेजः पुञ्जमज्जत्त्रिलोकी
स्खलदखिलविकल्पोऽप्येक एव स्वरूपः।
स्वरस विसरपूर्णाच्छिन्न तत्त्वोपलम्भः
प्रसभनियमितार्चिश्चिच्चमत्कार एषः ॥८२॥

अन्वयार्थ—(**सहज तेजः पुञ्ज मज्जत् त्रिलोकी स्खलदखिलविकल्प**) स्वभावरूप ज्ञानात्मक प्रकाश के समूह मे प्रतिविम्बित तीन लोक के स्फुरायमान समस्त विकल्पो वाला (**अपि**) भी (**एक.**) एक (**एव**) ही (**स्वरूपः**) स्वरूप वाला (**स्वरसविसरपूर्णाच्छिन्न तत्त्वोपलम्भः**) आत्मरस के समूह से परिपूर्ण अखण्ड आत्मस्वरूप की समुपलब्धि वाला (**प्रसभनियमितार्चिः**) आत्मिक बल की प्रबलता से निश्चित ज्ञान ज्योति वाला (**एष**) यह (**चिच्चमत्कार**) चैतन्य का चमत्काररूप आत्मा (**जयति**) सर्वोपरि विराजमान है।

स० टीका—(**एष-प्रत्यक्ष**) यह प्रत्यक्ष (**चिच्चमत्कार-चैतन्याश्चर्योद्रेक**) आत्मा का आश्चर्यकारक अतिशय (**जयति-सर्वोत्कर्षेणवर्तते**) सबसे श्रेष्ठ है जयवान् है (**कीदृक्ष**) कैसा अतिशय (**सहजेत्यादिः-सहजं स्वभाविक-तच्च तत्तेजश्च ज्ञानज्योतिः तस्य पुञ्जः द्विकवारानन्तशक्तिसमह तत्र मज्जन्ती मज्जनं कुर्वन्ती प्रतिभासमानेत्यर्थ सा चासौ त्रिलोकी च-त्रयाणा लोकाना समाहारस्त्रिलोकी तया स्खलन्त चलन्त. अखिलविकल्पा. स्तद्विषयरुपेण समस्तविकल्पाः यत्र सः**) स्वाभाविक ज्ञान ज्योति के अनन्तानन्त समूह मे

प्रतिविम्बित जगत्त्रय के प्रवर्तमान समस्त विकल्पो को जानने वाला (**ईदृक्षोऽपि**) ऐसा होता हुआ भी (**एक एव-अद्वितोय एव**) अद्वितीय ही (**स्वरूप. स्वस्य-आत्मन· रूप स्वरूपं यत्र सः**) जिसमे अपना निज का रूप विद्यमान है (**पुन.**) फिर कैसा (**स्वेत्यादि.-स्वरस. स्वभावः तस्य विसरः समूहः तेन पूर्ण सम्पूर्ण तच्च तदच्छिन्नतत्त्वं चाखण्डात्मतत्त्व तस्योपलम्भ. प्राप्तिर्यत्र स**) स्वकीय स्वभाव के समूह से परिपूर्ण अखण्ड आत्मतत्त्वसे समुपलक्षित (**पुन**) फिर कैसा (**प्रसभेत्यादि.-प्रसभेन बलात्कारेण नियमितं लोकालोक प्रकाशकत्वेन निश्चयीकृत—अपर प्रकाश्यस्याभावादर्चिस्तेजोयस्य सः**) जिसका तेज स्वभाव से लोक तथा अलोक का प्रकाश करने वाला होने से सुनिश्चित है क्योकि लोक और अलोक के अतिरिक्त प्रकाशनीय पदार्थ हैं ही नही जिन्हे कि वह प्रकाश मे ला सके।

भावार्थ—त्रिलोकवर्ती पदार्थो मे एक मात्र आत्म पदार्थ ही सर्वोपरि है। क्योकि आत्मा ही अपने को तथा अपने से जुदे सभी चेतन तथा अचेतन पदार्थों को अपने ही स्वभावभूत अनन्त ज्ञानात्मक अखण्ड एव प्रचण्ड तेज से निरन्तर प्रकाशित करता रहता है इसी आत्मा मे अनन्त ज्ञान की भाति अनन्तदर्शन, अनन्त सुख एव अनन्त शक्ति भी अविनाभाव रूप से विराजमान रहती है। ऐसा अनन्त चतुष्टय परि-मण्डित आत्मा सर्वदा जयशील हो ऐसी अन्तिम मङ्गलकामना ग्रन्थकार ने परिव्यक्त की है जो भावभीनी है और है भावनीय।

(**अथ कर्तृतार्गाभितमात्म ज्योतिर्जाज्वल्पते**) अब कर्ता के कर्तृत्व से सयुक्त आत्मज्योति का उद्योत अतिशय रूप से उद्योतित करते है—

अविचलित चिदात्मन्यात्मनात्मानमात्म-
न्यनवरत निमग्नं धारयद्ध्वस्तमोहम् ।
उदितममृतचन्द्र ज्योतिरेतत्समन्ता-
ज्ज्वलतु विमलपूर्णं निस्सपत्नस्वभावम् ॥८३॥

अन्वयार्थ—(**अविचलितचिदात्मनि**) निश्चल चैतन्य स्वरूप (**आत्मनि**) आत्मा मे (**अनवरतनिमग्नम्**) निरन्तर ओतप्रोत (**आत्मानम्**) आत्मा को (**आत्मना**) अपने द्वारा (**धारयत्**) धारण कराता हुआ (**ध्वस्तमोहम्**) मोह रहित (**विमल पूर्णम्**) कर्ममल से रहित होने के कारण परिपूर्ण (**निस्सपत्नस्वभावम्**) कर्मरूप वैरियो से शून्य स्वभाव वाला (**उदितम्**) उदय को प्राप्त (**एतत्**) यह (**अमृतचन्द्र ज्योतिः**) मोक्ष रूप चन्द्रमा का प्रकाश (**समन्तात्**) सब ओर (**ज्वलतु**) देदीप्यमान-प्रकाशमान रहे। "अमृतचन्द्र आचार्य के पक्ष में" (**अविचलित चिदात्मनि**) अविनश्वर चेतनात्मक स्वरूप (**आत्मनि**) आत्मतत्त्व मे (**अनवरत-निमग्नम्**) निरन्तर सदा स्थिर रहने वाले (**आत्मानम्**) अपने आत्मतत्त्व को (**आत्मना**) अपने ही आत्म-तत्त्व द्वारा (**आत्मनि**) अपने ही आत्मा मे (**धारयन्**) धारण कराता हुआ-स्थिर कराता हुआ (**ध्वस्त-मोहम्**) जिससे मोह नाश को प्राप्त होता है ऐसा (**विमलपूर्णम्**) अज्ञान अथवा असत्य आदि मल से रहित

अतएव ज्ञान एवं सत्यादि से भरपूर अथवा निर्दोष वाच्यार्थ से भरपूर (**नि.सपत्नस्वभावम्**) एकान्तवाद रूप वैरियो से रहित स्वभाव वाला (**उदितम्**) उदय मे-प्रकाश मे आया हुआ अर्थात् तत्त्व जिज्ञासुओ को यथार्थ बोध कराने मे सक्षम (**एतत्**) यह (**अमृतचन्द्रज्योति.**) अमृतचन्द्र आचार्य का वचनरूप महान् तेज-अनेकान्त सिद्धान्तरूप अविचल प्रकाश (**समन्तात्**) सब तरफ (**ज्वलतु**) प्रकाशमान रहे।

स० टीका—(**समन्तात्-सामस्त्येन**) समस्त रूप से (**ज्वलतु-द्योतताम्**) जाज्वल्यमान-उद्योतमान रहे (**किम्**) क्या (**एतत्-प्रसिद्धम्**) यह प्रसिद्ध (**अमृतेत्यादिः-न म्रियते यत्र-इत्यमृतं-मोक्ष तदेवचन्द्र -चन्दयति-आह्लादयति-इति चन्द्र तस्य ज्योति.-ज्ञानतेज इत्यर्थः अथवा अमृतचन्द्रसूरेर्वाग्ज्योति**) जिसमे मरण नही होता है वह अमृत है अर्थात् मोक्ष, जो आत्मा को आनन्दित करता है वह चन्द्र है अर्थात् मोक्षरूप चन्द्रमा की ज्योति अर्थात् ज्ञानरूप तेज-प्रकाश अथवा अमृतचन्द्र सूरि के वचनो का तेज-प्रकाश (**कीदृक्ष-मोक्षज्ञानम्**) कैसा मोक्षज्ञान (**आत्मना ज्ञानेन कृत्वा**) ज्ञानसे (**आत्मनि-स्वस्वरूपे**) निजरूप मे (**आत्मानम्-स्वस्वरूपम्**) अपनी आत्मा के निजरूप को (**धारयत्-दधत्**) धारण करता हुआ (**कीदृक्षे**) कैसे आत्मस्वरूप मे (**अविचलितेत्यादिः-अविचलित'-शाश्वतः स चासौ चित् चेतना च स एवात्मा-स्वरूप यस्य तस्मिन् तद्वाग्ज्योतिरपि स्वस्वरूपे स्वरूपं धारयितु क्षमम्**) जिसका स्वरूप नित्य चेतना है और वह वचनात्मक तेज भी आत्मा के स्वरूप मे आत्मा को प्राप्त कराने मे पूर्णतया सक्षम है (**कीदृक्ष पुनः**) और वह कैसा (**आत्मनि**) आत्मा मे (**अनवरत निमग्नम्-निरन्तरं-तदन्त पातितम्**) निरन्तर आत्मस्वरूप मे निरत (**पुनः**) फिर कैसा (**ध्वस्तमोहम्-ध्वस्त'-विनष्टोमोहो यत्र**) जिसमे मोह का समूलोच्छेद है (**यस्मात्प्राणिना वा-तत्**) अथवा जिस अमृतचन्द्रसूरि के वचनो के उद्योत से प्राणियो के मोह का सर्वनाश होता है वह (**उदितं-उदय प्राप्तम्**) वह उदय को प्राप्त हुआ (**वाग्ज्योतिरपि भव्यप्रतिबोधनायोदय गतम्**) अनेकान्त-स्वरूप वचनो का तेज भी भव्य प्राणियो के प्रति बोध के हेतु उदय को प्राप्त हुआ (**पुन.**) फिर कैसा (**विमलपूर्णम्-विगतोमलोऽज्ञानादिरसात्यादिर्वा यस्मात्तत् पूर्णं ज्ञानादिगुणसम्पूर्णं विविधार्थ सम्पूर्णं च विमल च तत् पूर्णं च तत्**) जिससे अज्ञान अथवा असत्य आदि विनष्ट हो चुके हैं ऐसा ज्ञानादि गुणो से परिपूर्ण और नाना प्रकार के अर्थों से भरपूर (**निरित्यादि -निर्गता -सपत्ना'-कर्मवैरिण -एकान्तमतवादवैरिणश्च यस्मात्तत् तदेव स्वभावो यस्य तत्**) जिससे कर्मरूप वैरी निकल चुके हैं ऐसा ज्ञानप्रकाश जिसका है वह अथवा एकान्तमतवादी रूप शत्रु जिससे निकल चुके हैं ऐसा वचनो का प्रकाश जिसमे विद्यमान है वह।

भावार्थ—यहा अमृतचन्द्र ज्योति से आत्मज्ञान तथा अमृतचन्द्र आचार्य का वचनरूप प्रकाश मे दो अर्थ ग्रहण किये गये हैं। आत्मज्ञानरूप चन्द्रमा का प्रकाश मोहरूप अन्धकार का नाश करने वाला है। कर्मरूप मल से रहित है एव कर्मरूप वैरी से शून्य स्वभाव वाला है और निरन्तर निश्चल चिद्रूप आत्म-स्वभाव मे अपने ही द्वारा अपने को अत्यन्तरूप निमग्न करता हुआ उदय को प्राप्त हुआ ऐसा अमृतचन्द्र ज्योति सदा सर्वत्र देदीप्यमान रहे। अमृतचन्द्र आचार्य के वचनो का प्रकाश भी मिथ्यात्वरूप अन्धकार का विनाश करता है और सम्यग्ज्ञान के प्रसार को उत्पन्न करता है। पूर्वापर विरोध को दूर करता हुआ

समीचीन वस्तु स्वभाव को प्रकट करने के कारण विमल है तथा एकान्तमतवादियो की कल्पित अतएव निस्सार युक्तियो से सर्वथा अबाधित है एव यथार्थ आत्मस्वरूप मे आत्मा को निमग्न करता है ऐसा अनेकान्त का उद्योत करने वाला स्याद्वादात्मक वचनरूप उज्ज्वल प्रकाश सर्वत्र एव सर्वदा प्रकाशमान रहे ।।८३।।

(अथात्मकर्मणोर्द्वैतेऽपि ज्ञानोद्योतं नरीनृत्यते) अब आत्मा और कर्म के द्वैत मे भी ज्ञान का उद्योत ही अतिशयरूप मे प्रकाशमान रहता है यह प्रकट करते है—

यस्माद् द्वैतमभूत्पुरा स्वपरयोर्भूतं यतोऽत्रान्तरम्–
रागद्वेषपरिग्रहे सति यतो जातं क्रिया कारकैः ।
भुञ्जाना च यतोऽनुभूतिरखिलं खिन्नाक्रियायाःफलम्–
तद्विज्ञानघनौघमग्नमधुना किञ्चिन्न किञ्चित्किल ।।८४।।

अन्वयार्थ—**(यस्मात्)** जिस अज्ञान के कारण **(पुरा)** पूर्व मे **(द्वैतम्)** आत्मा और कर्म मे द्वैत **(अभूत)** हुआ **(यत)** और जिस से **(अत्र)** इस लोक मे **(स्वपरयोः)** आत्मा और कर्म मे **(अन्तरम्)** भेद **(भूतम्)** हुआ **(यतः)** और जिस से **(रागद्वेषपरिग्रहे)** राग और द्वेष के स्वीकार करने **(सति)** पर **(क्रियाकारकैः)** क्रिया और कारक **(जातम्)** उत्पन्न हुए **(यतः)** और जिससे **(क्रियायाः)** क्रिया के **(अखिलम्)** समस्त **(फलम्)** फल को **(भुञ्जाना)** भोगने वाली **(अनुभूति)** अनुभूति **(खिन्ना)** खेद को प्राप्त हुई **(तत्)** वह अज्ञान **(विज्ञानघनौघमग्नम्)** विज्ञान के नित्य समूह मे निमग्न हुआ **(अधुना)** इस समय ज्ञानानुभूति के अवसर मे **(किल)** निश्चय से **(किञ्चित्)** कोई भी कर्म **(किञ्चित्)** कुछ भी **(न)** नही **(अस्ति)** है ।

स० टीका—**(तत्-कर्म)** वह कर्म **(विज्ञानघनौघमग्नम्-ज्ञाननिरन्तरसमूहान्तः पतितम्)** ज्ञान के नित्य समुदाय के मध्य मे अन्तर्हित **(सत्)** होता हुआ **(अधुना-इदानीम्-ग्रन्थोक्त स्वार्थानुभावे जाते सति)** इस समय अर्थात् इसी ग्रन्थ मे कहे हुये आत्मा के असली अनुभव के होने पर **(किञ्चित्-किमपि कर्म)** कोई भी कर्म **(किलेति-निश्चितम्)** किल—यह अव्यय निश्चित अर्थ मे प्रयुक्त है अर्थात् निश्चय से **(न किञ्चित् न किमप्यर्थ क्रियाकारि)** किसी भी अर्थ क्रिया को करने वाला नही है **(अकिञ्चित्करत्वात्)** क्योकि वह कर्म कुछ भी कार्य करने वाला नही है **(तत्-किम्)** वह कर्म कैसा **(यस्मात्-कर्मण.)** जिस कर्म से **(पुरा-पूर्वम्)** पहले-पुराने समय मे **(द्वैतं-आत्मकर्मेतिद्वैविध्यं जातम्)** आत्मा और कर्म ये दुविधता हुई थी **(पुन.)** फिर **(अत्र-जगति)** इस जगत् मे **(यत.-यस्मात्कर्मण·)** जिस कर्म से **(स्वपरयो. आत्मकर्मणो.)** आत्मा और कर्म को **(सिद्धस्वात्मनोर्वा)** अथवा सिद्ध और स्वात्मा का **(अन्तरं-भेदः)** अन्तर-भेद **(भूतः-समुत्पन्नः)** उत्पन्न हुआ **(क्व सति)** किसके होने पर **(रागेत्यादिः-रागद्वेषयोः परिग्रहे-अङ्गीकारे जातेसति)** राग और द्वेष के स्वीकार किये जाने पर **(पुन)** फिर **(यतः-कर्मणः सकाशात्)** जिस कर्म के सम्बन्ध से

(क्रियाकारकैः-आत्मन -क्रियाः कर्म फलानुभवन रूपगमनागमनरूपाश्च कारकाणि-आत्मनः कर्तृत्व कर्मत्व करणत्वादीनि तैः) आत्मा की कैर्मफलो के अनुभवन-भोगनेरूप क्रिया तथा गमन और आगमनरूप क्रियाओ तथा आत्मा के कर्तृत्व, कर्मत्व, कारणत्व आदि कारको का (जातम्-उत्पन्नम्) उद्भूत होना है (कर्मान्तरेणात्मनः कर्तृकर्मक्रियारूपेणाभवनात्) क्योकि कर्मो के विना आत्मा का कर्ता कर्म एव क्रियारूप होना सम्भव नही है। (च-पुन·) और (यत यस्मात्कर्मणः) जिस कर्म से (अनुभूति·-कर्मफलानुभवनम्) कर्मों के फलो सुखदु खादिको का अनुभवन-वेदनरूप अनुभूति (खिन्ना-खेदं गता) खेद को प्राप्त हुई (कीदृक्षा-सा) वह अनुभूति कैसी (क्रियायाः-गमनागमनरूपाया., जुहोति-पचतीत्यादि रूपायाश्च) गमन-आगमनरूप तथा जुहोति पचति इत्यादि रूप क्रिया के (अखिल-समस्तम्) समस्त (फलम्) फल को (भुञ्जाना—मयागतम्-मयाऽऽगतम्-मयाहुतम्-मयापक्वम्-ममेद कृतमित्यादिरूपफलं भुञ्जाना) मैं गया, मैं आया, मैंने हवन किया, मैंने पकाया, मैंने यह किया इत्यादि रूप फल को भोगने वाली है ॥८४॥

भावार्थ—आत्मा का वास्तविक स्वरूप रूप ज्ञान, दर्शन मोहनीय के सम्बन्ध से विपरीत परिणमन को प्राप्त कर अज्ञान मिथ्या ज्ञान हो जाता है। इस मिथ्याज्ञान के निमित्त से ही आत्मा अनात्मा मे आत्मत्त्व बुद्धि कर वैठता है जिससे अनन्त ससार परिभ्रमण का भागी हो अनन्त काल तक सतत स्वरूप से वहिर्भूत पदार्थों मे ही राग-द्वेष रूप इष्ट-अनिष्ट कल्पना कर सुख-दु ख का अनुभोक्ता वना रहता है। किन्तु जब इसे स्वय ही अपने पुरुपार्थ से अथवा गुरु आदि के सदुपदेश से मिथ्यात्व का विरोधी सम्यक्त्व प्राप्त हो जाता है तव वही अज्ञान भाव स्वाभाविक ज्ञान भाव वन जाता है इस ज्ञान भाव के उदित होते ही कर्म कर्तृत्व एव तत्फल भोक्तृत्व का सर्वथा अभाव हो जाता है। ऐसी स्थिति मे कर्म अकिञ्चित्कर हो आत्मस्वरूप पर अपना जरा-सा भी प्रभाव नही डाल सकता है। यही तो ज्ञान का अचिन्त्य माहात्म्य है। ज्ञानी मात्र ज्ञाता द्रष्टा होता है कर्ता एव भोक्ता नही। कर्ता भोक्ता तो अज्ञानी ही होता है ॥८४॥

(अथात्मगुप्तस्य स्वतत्त्वसंसूचकस्य समयसारकृतिकृतत्वमस्य कृतविशुद्धबुद्धचित्स्वरूपभूरेरमृतचन्द्रसूरेः कृतकृत्यत्व कीर्त्यते) अव आत्मा मे एकता को प्राप्त हुए एव आत्मस्वरूप के प्रतिपादक समयसाररूप पद्य रचना के कर्ता अतिशय निर्मल ज्ञान स्वरूप चैतन्यमय आत्मस्वरूप की अधिकता को प्राप्त श्री अमृतचन्द्र आचार्य की कृतकृत्यता का कीर्तन करते हैं—

स्वशक्ति संसूचित वस्तुतत्त्वैर्व्याख्याकृतेयं समयस्य शब्दैः।
स्वरूपगुप्तस्य न किञ्चिदस्तिकर्तव्यमेवामृतचन्द्र सूरेः ॥८५॥

अन्वयार्थ—स्वशक्तिससूचितवस्तुतत्त्वै) अपनी वाचकता रूप शक्ति से सम्यक् प्रकार वस्तु के यथार्थ स्वरूप को प्रकाशित करने वाले (शब्दै·) शब्दो–वाच्यार्थ प्रतिपादक पदो से (समयस्य) गुणपर्यायस्वरूप पदार्थ की (इयम्) यह (व्याख्या) व्याख्या (कृता) की किन्तु (अत्र) इस व्याख्या मे (एव) निश्चय से (स्वरूपगुप्तस्य) आत्मस्वरूप मे निमग्न (मम) मुझ (अमृतचन्द्रसूरे·) अमृतचन्द्र सूरि का (किञ्चित्) कुछ (कर्तव्यम्) कर्तव्य (न) नही (अस्ति) है।

सं० टीका—(येन-अमृतचन्द्रसूरिणा, इत्यध्याहार्यम्) यहा जिस अमृतचन्द्रसूरि ने "ऐसा अध्याहार करना चाहिए" **(इयम्)** यह **(व्याख्या-व्याख्यानम्)** व्याख्यान **(कृता-निर्मापिता)** किया-रचा है **(कस्य)** किसका **(समयस्य-सम्-सम्यग् अयति-गच्छति-प्राप्नोति स्वगुणपर्यायनिति समयः पदार्थः तस्य)** भले प्रकार से अपने गुणपर्यायो को प्राप्त करने वाले समय अर्थात् पदार्थ को **(कैः)** किनसे **(शब्दैः-अर्थप्रकाशक-शब्दैः)** वाच्यार्थ को प्रकाशित करने वाले शब्दो से **(कीदृशैस्तैः)** कैसे शब्दो से **(स्वेत्यादिः-स्वस्यशक्तिः-अर्थप्रकाशनसामर्थ्यं तयासं-सम्यक्-सूचितं-प्रकाशितं वस्तूना पदार्थाना तत्त्व स्वरूपं यैस्तैः)** स्वकीय अर्थ प्रकाशनरूप सामर्थ्य से पदार्थों के असली स्वरूप को प्रकाशित करने वाले **(तस्य-अमृतचन्द्रसूरेः-अमृत-चन्द्राख्याचार्यस्य)** उन अमृतचन्द्र नामक आचार्य का **(किञ्चित्-किमपि)** कुछ भी-या कोई भी **(कर्तव्यं-करणीयम्)** कर्तव्य **(एव-निश्चयेन)** निश्चय से **(नास्ति)** नही है **(समस्तवस्तु कृत्येन पूर्णस्य)** समस्त वस्तुओ के कार्य से भरपूर **(कीदृक्षस्य तस्य)** कैसे अमृतचन्द्राचार्यके **(स्वरूपेत्यादिः-स्वस्य-शुद्धचिद्रूपस्य रूपं स्वरूपं तत्र गुप्तस्य-एकतां प्राप्तस्य)** अपने शुद्ध चैतन्य के स्वरूप मे एकता-निमग्नता को प्राप्त हुए।

भावार्थ—यहाँ श्री अमृतचन्द्र सूरि निश्चय दृष्टि का आलम्बन करके कहते हैं कि यह समयसार प्राभृत की जो सस्कृत पद्यमय रचना हुई है वह पुद्गल रूप भाषा वर्गणाओ से ही हुई है। उसमे मेरा कुछ कर्तृत्व नही है क्योकि मेरा स्वरूप उन समस्त भाषा वर्गणाओ से सर्वथा विपरीत है वे जड हैं तो मै चेतन हूँ वे अपने आप मे बनते और बिगडते रहते है और मैं स्वय स्वकीय चैतन्य स्वरूप मे तन्मय रहने वाला हूँ। इस तरह से उनमे और मुझमे महान वैषम्य परिलक्षित है जो कर्तृत्व के अहङ्कार का सहारक है अत यह व्याख्या शब्दकृत है चेतनकृत नही यह तो रही सही निश्चय चर्चा जो यथार्थ है वास्तविक है और है परमार्थभूत। हा जब हम व्यवहार दृष्टि से इस ओर देखते है तब यह कहना भी असङ्गत नही है कि व्याख्या जो भाषा वर्गणा के परमाणुओ के शब्दात्मक परिणमन द्वारा की गई है वह मात्र तज्जन्य नही है किन्तु उनके शब्दरूप परिणमन मे मेरा योग और उपयोग भी निमित्त है क्योकि उपादान के कार्यात्मक परिणमन मे वाह्य द्रव्य की निमित्तता आर्ष परम्परा मे स्वीकृत है अत व्यवहार से श्री अमृतचन्द आचार्य इसके व्याख्याता हैं यह कहना युक्ति एव आगम से समर्थित है ॥८५॥

(इति श्रीमन्नाटक समयसारस्यपद्यस्याध्यात्मतरङ्गिण्य परनामधेयस्य व्याख्याया उपायउपेयऽङ्कः समाप्तः)

इस प्रकार से श्रीमान् नाटक समयसार के पद्यो—जिसका दूसरा नाम परमअध्यात्मतरङ्गिणी है—की ढूढारी भाषा मे प० जयचन्दजीकृत टीका मे यह उपायउपेय अङ्क पूर्ण हुआ।

ओ शान्ति शान्ति शान्ति !

अथ कार्तिक शुक्ल दशम्यां बुधवासरे वीर निर्वाण संवत् २४८६ नवाशीत्यधिक चतुर्विशति शततमे शुभतरलग्ने परम मङ्गलमय वेलायां प्रातदर्शवादन काले समाप्तिन्नीतोऽय पं० जयचन्दकृता ढूंढारी भाषाटीकायां ग्रन्थो हिन्दीभाषानुवादेन प्रमुदितमनसा मयाकमलकुमारेण शुभम्भूयात् सर्वदा।

卐 श्री वीतरागाय नम 卐

श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्यविरचिता

बारस अणुबेक्खा

[द्वादशानुप्रेक्षा]

—·०—

णमिऊण सव्वसिद्धे झाणुत्तमखविददीहसंसारे।
दस दस दो दो य जिणे दस दो अणुपेहणं वोच्छे ॥१॥

नत्वा सर्वसिद्धान् ध्यानोत्तमक्षपितदीर्घससारान्।
दश दश द्वौ द्वौ च जिनान् दश द्वौ अनुप्रेक्षणानि वक्ष्ये ॥१॥

अर्थ—अपने परमशुक्ल ध्यान से अनादि अनत ससार को क्षय करने वाले सम्पूर्ण सिद्धो को तथा चौवीस तीर्थङ्करो को नमस्कार करके मै वारह भावनाओ का स्वरूप कहता हूँ।

अद्ध्रुवमसरणमेगत्तमण्णसंसार लोगमसुचित्तं।
आसवसंवरणिज्जरधम्मं बोहिं च चिंतेज्जो ॥२॥

अद्ध्रुवमशरणमेकत्वमन्यससारौ लोकमशुचित्व।
आस्रवसवरनिर्ज्जरधर्म्मं वोधिं च चिन्तनीयम् ॥२॥

अर्थ—अनित्य, अशरण, एकत्व, अन्यत्व, ससार, लोक, अशुचित्व, आस्रव, सवर, निर्जरा, धर्म और वोधिदुर्लभ इन वारह भावनाओ का चिन्तवन करना चाहिए।

अथ अनित्यभावना

वरभवणजाणवाहणसयणासण देवमणुवरायाणं।
मादुपिदुसजणभिच्चसंबंधिणो य पिदिवियाणिच्चा ॥३॥

वरभवनयानवाहनशयनाऽऽसनं देवमनुजराज्ञाम्।
मातृपितृस्वजनभृत्यसम्बधिनश्च पितृव्योऽनित्या· ॥३॥

अर्थ—देवताओ के मनुष्यो के और राजाओ के सुन्दर महल, यान, वाहन, सेज, आसन, माता, पिता, कुटुम्वीजन, सेवक, सम्वन्धी (रिश्तेदार) और काका आदि सव अनित्य हैं अर्थात् ये कोई सदा रहने वाले नही है। अवधि वीतने पर सव अलग हो जावेंगे।

सामग्गिदियरूवं आरोग्गं जोवणं बलं तेजं।
सोहग्गं लावण्णं सुरधणुमिव सस्सयं ण हवे ॥४॥

समग्रेन्द्रियरूपं आरोग्यं यौवनं बलं तेज.।
सौभाग्यं लावण्यं सुरधनुरिव शाश्वतं न भवेत् ॥४॥

अर्थ—जिस तरह से आकाश मे प्रगट होने वाला इन्द्रधनुष थोडी ही देर दिखलाई देकर फिर नही रहता है, उसी प्रकार से पाचो इन्द्रियो का स्वरूप, आरोग्य (निरोगता) जोबन, बल, तेज, सौभाग्य और सौन्दर्य (सुन्दरता) सदा शाश्वत नही रहता है। अर्थात् ये सब बाते निरन्तर एक-सी नही रहती हैं—क्षणभगुर हैं।

जलबुब्बुदसक्कधणूखणरुचिघणसोहमिव थिरं ण हवे ।
अहमिदट्ठाणाइं बलदेवप्पहुदिपज्जाया ॥५॥

जलबुद्बुदशक्रधनुः क्षणरुचिघनशोभेव स्थिरं न भवेत् ।
अहमिन्द्रस्थानानि बलदेवप्रभृतिपर्यायाः ॥५॥

अर्थ—अहमिन्द्रो की पदविया और बलदेव नारायण चक्रवर्ती आदि की पर्याये पानी के बुलबुले के समान, इन्द्रधनुष की शोभा के समान, बिजली की चमक के समान और बादलो की रगविरगो शोभा के समान स्थिर नही है। अर्थात् थोडे ही समय मे नष्ट हो जाने वाली है।

जीवणिबद्धं देहं खीरोदयमिव विणस्सदे सिग्घं ।
भोगोपभोगकारणदव्वं णिच्चं कहं होदि ॥६॥

जीवनिबद्ध देह क्षीरोदकमिव विनश्यति शीघ्रम् ।
भोगोपभोगकारणद्रव्य नित्यं कथं भवति ॥६॥

अर्थ—जब जीव से अत्यन्त सबध रखने वाला शरीर ही दूध मे मिले हुए पानी की तरह शीघ्र नष्ट हो जाता है, तब भोग और उपभोग के कारण दूसरे पदार्थ किस तरह नित्य हो सकते हैं। अभिप्राय यह है कि, पानी मे दूध की तरह जीव और शरीर इस तरह मिलकर एकमेक हो रहे है कि, जुदे नही मालूम पडते हैं। परन्तु इतनी सघनता से मिले हुए भी ये दोनो पदार्थ जब मृत्यु होने पर अलग-अलग हो जाते हैं, तब ससार के भोग और उपभोग के पदार्थ जो शरीर से प्रत्यक्ष ही जुदे तथा दूर है सदाकाल कैसे रह सकते है?

परमट्ठेण दु आदा देवासुरमणुवरायविविहेहिं ।
वदिरित्तो सो अप्पा सस्सदमिदि चितये णिच्चं ॥७॥

परमार्थेन तु आत्मा देवासुरमनुनराजविविधै.।
व्यतिरिक्तः स आत्मा शाश्वत इति चिन्तयेत् नित्य ॥७॥

अर्थ—शुद्ध निश्चयनयसे (यथार्थ मे) आत्माका स्वरूप सदैव इस तरह चिन्तवन करना चाहिए कि, यह देव, असुर, मनुष्य और राजा आदि के विकल्पो से रहित है। अर्थात् इसमे देवादिक भेद नही हैं—ज्ञानस्वरूप मात्र है और सदा स्थिर रहने वाला है।

अथ अशरणभावना

मणिमंतोसहरक्खा हयगयरहश्रो य सयलविज्जाश्रो ।

जीवाणं ण हि सरणं तिसु लोए मरणसमयम्हि ॥८॥

मणिमन्त्रौषधरक्षाः हयगजरथाश्च सकलविद्याः ।

जीवाना नहि शरण तिषु लोकेषु मरणसमये ॥८॥

अर्थ—मरते समय प्राणियो को तीनो लोको मे मणि, मत्र, औपधि, रक्षक, घोडा, हाथी, रथ और जितनी विद्याएँ हैं, वे कोई भी शरण नही हैं। अर्थात् ये सव उन्हे मरने से नही वचा सकते हैं।

सग्गो हवे हि दुग्गं भिच्चा देवा य पहरणं वज्जं ।

श्रइरावणो गइंदो इंदस्स ण विज्जदे सरणं ॥६॥

स्वर्गो भवेत् हि दुर्गं भृत्या देवाश्च प्रहरण वज्रं ।

ऐरावणो गजेन्द्रः इन्द्रस्य न विद्यते शरणं ॥६॥

अर्थ—जिस इन्द्र के स्वर्ग तो किला है, देव नौकर-चाकर हैं, वज्र हथियार है और ऐरावत हाथी है, उनको भी कोई शरण नही है। अर्थात् रक्षा करने की ऐसी श्रेष्ठ सामग्रियो के होते हुए भी उसे कोई नही वचा सकता है। फिर हे दीन पुरुषो ! तुम्हे कौन वचावेगा ?

णवणिहि चउदहरयणं हयमत्तगइंदचाउरंगबलं ।

चक्केसस्स ण सरणं पेच्छंतो कद्दिये काले ॥१०॥

नवनिधि. चतुर्दशरत्नं हयमत्तगजेन्द्रचतुरङ्गबलम् ।

चक्रेशस्य न शरणं पश्यत कर्दिते कालेन ॥१०॥

अर्थ—हे भव्यजनो ! देखो, इसी तरह काल के आ दवाने पर नौ निधियाँ, चौदह रत्न, घोडा, मत-वाले हाथी और चतुरगिनी सेना आदि रक्षा करने वाली सामग्री चक्रवर्ती को भी शरण नही होती है। अर्थात् जब मौत आती है, तव चक्रवर्ती को भी जाना पडता है। उसका अपार वैभव उसे नही वचा सकता है।

जाइजरमरणरोगभयदो रक्खेदि श्रप्पणो श्रप्पा ।

तम्हा श्रादा सरणं बंधोदयसत्तकम्मवदिरित्तो ॥११॥

जातिजरामरणरोगभयत· रक्षति आत्मन. आत्मा ।

तस्मादात्मा शरण वन्धोदयसत्त्वकर्मव्यतिरिक्तः ॥११॥

आर्थ—जन्म, जरा, मरण, रोग और भय आदि से आत्मा ही अपनी रक्षा करता है, इसलिए वास्तव मे (निश्चयनय से) जो कर्मो की बध, उदय और सत्ता अवस्था से जुदा है, वह आत्मा ही इस ससार मे शरण है। अर्थात् इस ससार मे अपने आत्मा के सिवाय अपना और कोई रक्षा करने वाला नही है। यह स्वय ही कर्मों को खिपाकर जन्म-जरा मरणादि के कष्टो से वच सकता है।

अरुहा सिद्धा आइरिया उवझाया साहु पंचपरमेट्ठी ।
ते वि हु चेट्ठदि जम्हा तम्हा आदा हु मे सरणं ॥१२॥

अर्हन्तः सिद्धाः आचार्या उपाध्यायाः साधवः पञ्चपरमेष्ठिनः ।
ते पि हि चेष्टन्ते यस्मात् तस्मात् आत्मा हि मे शरणम् ॥१२॥

अर्थ—अरहत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु ये पाचो परमेष्ठी इस आत्मा के ही परिणाम हैं। अर्थात् अरहतादि अवस्थाएँ आत्मा ही की है। आत्मा ही तपश्चरण आदि करके इन पदो को पाता है। इसलिए आत्मा ही मुझको शरण है।

सम्मत्तं सण्णाणं सच्चारित्तं च सत्तवो चेव ।
चउरो चेट्ठदि आदे तम्हा आदा हु मे सरणम् ॥१३॥

सम्यक्त्व सद्ज्ञानं सच्चारित्रं च सत्तपश्चैव ।
चत्वारि चेष्टन्ते आत्मनि तस्माद् आत्मा हि मे शरणम् ॥१३॥

अर्थ—इसी तरह से आत्मा मे सम्नग्दर्शन, सम्यज्ञान, सम्यक्चारित्र और उत्तम तप ये चार अवस्थाएँ भी होती हैं। अर्थात् सम्यग्दर्शनादि आत्मा ही के परिणाम है, इसलिए मुझे आत्मा ही शरण है।

अथ एकत्वभावना

एक्कोकरेदि कम्मं एक्को हिंडदि य दीहसंसारे ।
एक्को जायदि मरदि य तस्स फलं भुंजदे एक्को ॥१४॥

एकः करोति कर्म एकः हिण्डति च दीर्घससारे ।
एक जायते म्रियते च तस्य फलं भुङ्क्ते एकः ॥१४॥

अर्थ—यह आत्मा अकेला ही शुभाशुभ कर्म बाधता है, अकेला ही अनादि ससार मे भ्रमण करता है, अकेला ही उत्पन्न होता है, अकेला ही मरता है और अकेला ही अपने कर्मों का फल भोगता है। इसका कोई दूसरा साथी नही है।

एक्को करेदि पावं विसयणिमित्तेण तिव्वलोहेण ।
णिरयतिरियेसु जीवो तस्स फलं भुंजदे एक्को ॥१५॥

एकः करोति पापं विषयनिमित्तेन तीव्रलोभेन ।
निरयतिर्यक्षु जीवो तस्य फलं भुङ्क्ते एक. ॥१५॥

अर्थ—यह जीव पाचइन्द्रिय के विषयो के वश तीव्रलोभ से अकेला ही पाप करता है और नरक तथा तिर्यंच गति मे अकेला ही उनका फल भोगता है। अर्थात् उसके दु खो का बटवारा कोई भी नही करता है।

एक्को करेदि पुण्णं धम्मणिमित्तेण पत्तदाणेण ।
मणुवदेवेसु जीवो तस्स फलं भुंजदे एक्को ॥१६॥

एकः करोति पुण्य धर्मनिमित्तेन पात्रदानेन ।
मानवदेवेषु जीवो तस्य फलं भुङ्क्ते एकः ॥१६॥

अर्थ—और यह जीव धर्म के कारणरूप पात्रदान से अकेला ही पुण्य करता है और मनुष्य तथा देवगति मे अकेला ही उसका फल भोगता है ।

[1]उत्तमपत्तं भणियं सम्मत्तगुणेण संजुदो साहू ।
सम्मादिट्ठी सावय मज्झिमपत्तो हु विण्णेयो ॥१७॥

उत्तमपात्र भणितं सम्यक्त्वगुणेन सयुतः साधु. ।
सम्यग्दृष्टिः श्रावको मध्यमपात्रो हि विज्ञेयः ॥१७॥

अर्थ—जो सम्यक्त्वगुणसहित मुनि हैं, उन्हे उत्तम पात्र कहा है और जो सम्यग्दृष्टी श्रावक है, उन्हे मध्यम पात्र समझना चाहिए ।

णिद्दिट्ठो जिणसमये अविरदसम्मो जहण्णपत्तोत्ति ।
सम्मत्तरयणरहियो अपत्तमिदि संपरिक्खेज्जो ॥१८॥

निर्दिष्टः जिनसमये अविरतसम्यक्त्वः जघन्यपात्र इति ।
सम्यक्त्वरत्नरहित. अपात्रमिति सपरीक्ष्य. ॥१८॥

अर्थ—जिनभगवान के मत मे व्रतरहित सम्यग्दृष्टी को जघन्यपात्र कहा है और सम्यक्त्वरूपी रत्न से रहित जीव को अपात्र माना है । इस तरह पात्र अपात्रो की परीक्षा करनी चाहिए ।

दंसणभट्ठा भट्ठा दंसणभट्ठस्स णत्थि णिव्वाणं ।
सिज्झंति चरियभट्ठा दंसणभट्ठा ण सिज्झंति ॥१९॥

दर्शनभ्रष्टा भ्रष्टा दर्शनभ्रष्टस्य नास्ति निर्वाणम् ।
सिद्ध्यन्ति चरितभ्रष्टा दर्शनभ्रष्टा न सिद्ध्यन्ति ॥१९॥

अर्थ—जो सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट हैं, वे ही यथार्थ मे भ्रष्ट है । क्योकि दर्शनभ्रष्ट पुरुषो को मोक्ष नही होता है । जो चारित्र से भ्रष्ट हैं, वे तो सीझ जाते हैं, परन्तु जो दर्शन से भ्रष्ट है, वे कभी नही सीझते हैं। अभिप्राय यह है कि जो सम्यग्दृष्टी पुरुष चारित्र से रहित है, वे तो अपने सम्यक्त्व के प्रभाव से कभी न कभी उत्तम चारित्र धारण करके मुक्त हो जावेंगे । परन्तु जो सम्यक्त्व से रहित हैं अर्थात् जिन्हे न कभी सम्यक्त्व हुआ और न होगा वे चाहे कैसा ही चारित्र पाले, परन्तु कभी सिद्ध नही होगे—ससार मे रुलते ही रहेंगे ।

१, १७–१८ और १९वीं गाथाएँ क्षेपक मालूम पडती हैं । इनमे से पहली दो तो मालूम नही किस ग्रन्थ की हैं, परन्तु तीसरी "दसणभट्ठा" आदि गाथा दर्शनपाहुड'की है, जो कि इन्ही ग्रथकर्त्ता का वनाया हुआ है ।

अनुष्टुप् श्लोक

एक्कोहं णिम्ममो सुद्धो णाणदंसणलक्खणो ।
सुद्धेयत्तमुपादेयमेवं चिंतेइ सव्वदा ॥२०॥

एकोऽहं निर्ममः शुद्धः ज्ञानदर्शनलक्षणः ।
शुद्धैकत्वमुपादेयं एवं चिन्तयेत् सर्वदा ॥२०॥

अर्थ—मैं अकेला हूँ, ममता रहित हूँ, शुद्ध हूँ और ज्ञानदर्शनस्वरूप हूँ, इसलिए शुद्ध एकपना ही उपादेय (ग्रहण करने योग्य) है, ऐसा निरन्तर चिन्तवन करना चाहिए।

अथ अन्यत्वभावना

मादापिदरसहोदरपुत्तकलत्तादिबंधुसंदोहो ।
जीवस्स ण संबंधो णियकज्जवसेण वट्टंति ॥२१॥

मातृपितृसहोदरपुत्रकलत्रादिबन्धुसन्दोहः ।
जीवस्य न सम्बन्धो निजकार्यवशेन वर्तन्ते ॥२१॥

अर्थ—माता, पिता, भाई, पुत्र, स्त्री आदि बन्धुजनों का समूह अपने कार्य के वश (मतलब से) सम्बन्ध रखता है, परन्तु यथार्थ में जीव का इनसे कोई संबंध नहीं है। अर्थात् ये सब जीव से जुदे हैं।

अण्णो अण्णं सोयदि मदोत्ति ममणाहगोत्ति मण्णंतो ।
अप्पाणं ण हु सोयदि संसारमहण्णवे बुड्ढं ॥२२॥

अन्यः अन्यं शोचति मदीयोऽस्ति ममनायकः इति मन्यमानः ।
आत्मानं न हि शोचति संसारमहार्णवे पतितम् ॥२२॥

अर्थ- ये जीव इस संसाररूपी महासमुद्र में पड़े हुए अपने आत्मा की चिन्ता तो नहीं करते हैं, किन्तु यह मेरा है और यह मेरे स्वामी का है, इस प्रकार मानते हुए एक दूसरे की चिन्ता करते हैं।

अण्णं इमं सरीरादिगंपि जं होइ बाहिरं दव्वं ।
णाणं दंसणमादा एवं चिंतेहि अण्णत्तं ॥२३॥

अन्यदिदं शरीरादिकं अपि यत् भवति बाह्यं द्रव्यम् ।
ज्ञानं दर्शनमात्मा एवं चिन्तय अन्यत्वम् ॥२३॥

अर्थ—शरीरादिक जो ये बाहिरी द्रव्य हैं, सो भी सब अपने से जुदे हैं और मेरा आत्मा ज्ञानदर्शन-स्वरूप है, इस प्रकार अन्यत्व भावना का तुमको चिन्तवन करना चाहिए।

अथ संसारभावना

पंचविहे संसारे जाइजरामरणरोगभयपउरे ।
जिणमग्गमपेच्छंतो जीवो परिभमदि चिरकालं ॥२४॥

पंचविधे संसारे जातिजरामरणरोगभयप्रचुरे ।
जिनमार्गमपश्यन् जीवः परिभ्रमति चिरकालम् ॥२४॥

अर्थ—यह जीव जिनमार्ग की ओर ध्यान नही देता है, इसलिए जन्म, बुढापा, मरण, रोग और भय से भरे हुए पाच प्रकार के ससार मे अनादिकाल से भटक रहा है ।

[1]सव्वेपि पोग्गला खलु एगे भुत्तुज्झिया हु जीवेण ।
असयं अणंतखुत्तो पुग्गलपरियट्ट संसारे ॥२५॥

सर्वेऽपि पुद्गला खलु एकेन भुक्त्वा उज्झिताः हि जीवेन ।
असकृदनंतकृत्वः पुद्गलपरिवर्तसंसारे ॥२५॥

अर्थ—इस पुद्गलपरिवर्तनरूप ससार मे एक ही जीव सम्पूर्ण पुद्गलवर्गणाओ को अनेक बार—अनन्त बार भोगता है, और छोड देता है । भावार्थ—कोई जीव जव अनतानंत पुद्गलोको अनतवार ग्रहण करके छोडता है, तव उसका एक द्रव्यपरावर्तन होता है । इस जीवने ऐसे-ऐसे अनेक द्रव्यपरावर्तन किये हैं ।

सव्वम्हि लोयखेत्ते कमसो तण्णत्थि जण्ण उप्पण्णं ।
उग्गाहणेण बहुसो परिभमिदो खेत्तसंसारे ॥२६॥

सर्वस्मिन् लोकक्षेत्रे क्रमश. तन्नास्ति यत्र न उत्पन्नम् ।
अवगाहनेन बहुश. परिभ्रमित· क्षेत्रसंसारे ॥२६॥

अर्थ—क्षेत्रपरावर्तनरूप ससार मे अनेक वार भ्रमण करता हुआ जीव तीनो लोको के सम्पूर्ण क्षेत्र मे ऐसा कोई भी स्थान नही है, जहा पर क्रम से अपनी अवगाहना वा परिमाण को लेकर उत्पन्न न हुआ हो । **भावार्थ**—लोककाश के जितने प्रदेश हैं, उन सव प्रदेशो मे क्रम से उत्पन्न होने को तथा छोटे-से-छोटे शरीर के प्रदेशो से लेकर वडे-से-वडे शरीर तक के प्रदेशो को क्रम से पूरा करने को "क्षेत्रपरावर्तन" कहते हैं ।

अवसप्पिणिउस्सप्पिणिसमयावलियासु णिरवसेसासु ।
जादो मुदो य बहुसो परिभमिदो कालसंसारे ॥२७॥

अवसर्पिण्युत्सर्पिणीसमयावलिकासु निरवशेषासु ।
जातः मृतः च बहुशः परिभ्रमन् कालससारे ॥२७॥

अर्थ—कालपरिवर्तनरूप ससार मे भ्रमण करता हुआ जीव उत्सर्पिणी अवसर्पिणी काल के सम्पूर्ण समयो और आवलियो मे अनेक बार जन्म धारण करता है और मरता है । **भावार्थ**—उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल के जितने समय होते हैं, उन सारे समयो मे क्रम से जन्म लेने और मरने को कालपरावर्तन कहते हैं ।

---

१ सव्वेपि इत्यादि ५ गाथाएँ पूज्यपादस्वामी ने अपने सर्वार्थसिद्धि ग्रथ मे उद्धृत की हैं और इन्ही की आनुपूर्वी छाया गोम्मटसार सस्कृतटीका की भव्यमार्गणा मे केशववर्णी ने उद्धृत की है ।

णिरयाउजहण्णाविसु जाव दु उवरिल्लवा (गा) दु गेवेज्जा ।
मिच्छत्तसंसिदेण दु बहुसो वि भवट्ठिदीब्भमिदा ॥२८॥

निरयायुर्जघन्यादिषु यावत् तु उपरितना तु ग्रैवेयिकाः ।
मिथ्यात्वसंश्रितेन तु बहुशः अपि भवस्थितिः भ्रमिता ॥२८॥

अर्थ—इस मिथ्यात्वसयुक्त जीव ने नरक की छोटी-से-छोटी आयु से लेकर ऊपर के ग्रैवेयिक विमान तक की आयु क्रम से अनेक बार पाकर भ्रमण किया है। **भावार्थ**—नरक की कम-से-कम आयु से लेकर ग्रैवेयिक विमान की अधिक से अधिक आयु तक के जितने भेद है, उन सबका क्रम से भोगना भव-परावर्तन कहलाता है।

सव्वे पयडिट्ठिदिओ अणुभागप्पदेसबंधठणाणि ।
जीवो मिच्छत्तवसा भमिदो भावसंसारे ॥२९॥

सर्वाणि प्रकृतिस्थिती अनुभागप्रदेशबन्धस्थानानि ।
जीवः मिथ्यात्ववशात् भ्रमितः पुनः भाव संसारे ॥२९॥

अर्थ—इस जीव ने मिथ्यात्व के वश मे पडकर प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशबंध के कारण-भूत जितने प्रकार के परिणाम वा भाव है, उन सबको अनुभव करते हुए भावपरावर्तनरूप ससार मे अनेक वार भ्रमण किया है। **भावार्थ**—कर्मबधो के करने वाले जितने प्रकार के भाव होते है, उन सबको क्रम से अनुभव करने को भावपरावर्तन कहते है।

पुत्तकलत्तणिमित्तं अत्थं अज्जयदि पावबुद्धीए ।
परिहरदि दयादाणं सो जीवो भमदि संसारे ॥३०॥

पुत्रकलत्रनिमित्तं अर्थं अर्जयति पापबुद्ध्या ।
परिहरति दया दानं सः जीवः भ्रमति संसारे ॥३०॥

अर्थ—जो जीव स्त्री-पुत्रो के लिए नाना प्रकार की पापबुद्धियो से धन कमाता है, और दया करना वा दान देना छोड देता है, वह ससार मे भटकता है।

मम पुत्तं मम भज्जा मम धणधण्णोत्ति तिव्वकंखाए ।
चइऊण धम्मबुद्धि पच्छा परिपडदि दीहसंसारे ॥३१॥

मम पुत्रो मम भार्या मम धनधान्यमिति तीव्रकांक्षया ।
त्यक्त्वा धर्मबुद्धि पश्चात् परिपतति दीर्घसंसारे ॥३१॥

अर्थ—"यह मेरा पुत्र है, यह मेरी स्त्री है, और यह मेरा धन-धान्य है।" इस प्रकार की गाढी लालसा से जीव धर्मबुद्धि को छोड देता है और इसी कारण फिर सब ओर से अनादि ससार मे पड़ता है।

मिच्छोदयेण जीवो णिंदंतो जेण्णभासियं धम्मं ।

कुधम्मकुलिंगकुतित्थं मण्णंतो भमदि संसारे ॥३२॥

मिथ्यात्वोदयेन जीवः निंदन् जैनभाषित धर्मम् ।

कुधर्मकुलिङ्गकुतीर्थं मन्यमान भ्रमति ससारे ॥३२॥

अर्थ—मिथ्यात्व कर्म के उदय से जीव जिनभगवान के कहे हुए धर्म की निन्दा करता है और बुरे धर्मों, पाखण्डी गुरुओ और मिथ्याशास्त्रो को पूज्य मानता हुआ ससार मे भटकता फिरता है।

हंतूण जीवरासिं महुमंसं सेविऊण सुरपाणं ।

परदव्वपरकलत्तं गहिऊण य भमदि संसारे ॥३३॥

हत्वा जीवराशिं मधुमास सेवित्वा सुरापानम् ।

परद्रव्यपरकलत्रं गृहीत्वा च भ्रमति संसारे ॥३३॥

अर्थ—यह प्राणी जीवो के समूह को मार करके, शहद (मधु) और मास का सेवन करके, शराव पीके, पराया धन और पराई स्त्री को छीन करके ससार मे भटकता है।

जत्तेण कुणइ पावं विसयणिमित्तं च अहणिसं जीवो ।

मोहंधयारसहिओ तेण दु परिपडदि संसारे ॥३४॥

यत्नेन करोति पाप विषयनिमित्तं च अहर्निशं जीव ।

मोहान्धकारसहितः तेन तु परिपतति ससारे ॥३४॥

अर्थ – यह जीव मोहरूपी अधकार से अधा होकर रात-दिन विषयो के निमित्त से जो पाप होते हैं, उन्हे यत्नपूर्वक करता रहता है और इसी से ससार मे पतन करता है।

[1]णिच्चिदरधादुसत्त य तरुदस वियलिंदियेसु छच्चेव ।

सुरणिरयतिरियचउरो चोद्दस मणुवे सदसहस्सा ॥३५॥

नित्येतरधातुसप्त च तरुदश विकलेन्द्रियेषु षट् चैव ।

सुरनिरयतिर्यक्चत्वार चतुर्दश मनुजे शतसहस्राः ॥३५॥

अर्थ—नित्यनिगोद, इतरनिगोद और धातु अर्थात् पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय और वायुकाय की सात-सात लाख (४२ लाख), वनस्पतिकाय की दश लाख, विकलेन्द्रिय की (द्वीन्द्रिय, तेइन्द्री, चौइन्द्री की) छह लाख, देव, नारकी और तिर्यंचो की चार-चार लाख, और मनुष्यो की चौदह लाख, इस तरह सब मिलाकर चौरासी लाख योनिया होती हैं।

संजोगविप्पजोगं लाहालाहं सुहं च दुक्खं च ।

[2]संसारे भूदाणं होदि हु माणं तहावमाणं च ॥३६॥

---

१ गोम्मटसार के जीवकाड की ८९ नम्बर की गाथा भी यही है। यहा क्षेपक मालूम पडती है।

२ "संसारे अभूदमाण च" ऐसा शकित पाठ हमको मिला था, उसें हमने इस तरह लिखना ठीक समझा है।

सयोगविप्रयोगं लाभालाभं सुखं च दुःखं च ।
संसारे भूतानां भवति हि मान तथावमान च ॥३६॥

अर्थ—ससार मे जितने प्राणी हैं, उन सबको मिलना, बिछुरना, नफा, टोटा, सुख, दु ख और मान तथा अपमान (तिरस्कार) निरन्तर हुआ ही करते है ।

कम्मणिमित्तं जीवो हिंडदि संसारघोरकांतारे ।
जीवस्सण संसारो णिच्चयणयकम्मणिम्मुक्को ॥३७॥

कर्मनिमित्त जीवः हिंडति संसारघोरकातरे ।
जीवस्य न ससारः निश्चयनयकर्मनिर्मुक्तः ॥३७॥

अर्थ—यद्यपि यह जीव कर्म के निमित्त से ससाररूपी बड़े भारी वन मे भटकता रहता है परन्तु निश्चयनय से (यथार्थ मे) यह कर्म से रहित है, और इसीलिए इसका भ्रमणरूप ससार से कोई सम्बन्ध नही है।

संसारमदिक्कंतो जीवोवादेयमिदि विचिंतिज्जो ।
संसारदुहक्कंतो जीवो सो हेयमिदि विचिंतिज्जो ॥३८॥

ससारमतिक्रान्तः जीव उपादेयमिति विचिन्तनीयम् ।
ससारदुःखाक्रान्तः जीवः स हेयमिति विचिन्तनीयम् ॥३८॥

अर्थ—जो जीव ससार से पार हो गया है, वह तो उपादेय अर्थात् ध्यान करने योग्य है, ऐसा विचार करना चाहिए और जो ससाररूपी दु.खो से घिरा हुआ है, वह हेय अर्थात् ध्यान योग्य नही है, ऐसा चिन्तवन करना चाहिए। भावार्थ—परमात्मा ही ध्यान करने के योग्य है, बहिरात्मा नही है ।

अथ लोकभावना

जीवादिपयट्ठाणं समवाओ सो णिरुच्चये लोगो ।
तिविहो हवेइ लोगो अहमज्झिमउड्ढभेयेण ॥३९॥

जीवादिपदार्थानां समवायः स निरुच्यते लोकः ।
त्रिविधः भवेत् लोक. अधोमध्यमोर्ध्वभेदेन ॥३९॥

अर्थ—जीवादि छह पदार्थों का जो समूह है, उसे लोक कहते हैं और वह अधोलोक, मध्यलोक, और ऊर्ध्वलोक के भेदो से तीन प्रकार का है ।

णिरया हवंति हेट्ठा मज्झे दीवंबुरासयोसंखा ।
सग्गो तिसट्ठि भेओ एत्तो उड्ढं हवे मोक्खो ॥४०॥

निरया भवंति अधस्तनाः मध्ये द्वीपाम्बुराशयः असंख्याः ।
स्वर्गः त्रिषष्ठिभेदः एतस्मात् ऊर्ध्वं भवेत् मोक्षः ॥४०॥

अर्थ—नरक अधोलोक मे हैं, असख्यात द्वीप तथा समुद्र मध्यलोक मे हैं, और त्रेसठ प्रकार के स्वर्ग तथा मोक्ष ऊर्ध्वलोक मे है।

[1]इगितीस सत्त चत्तारि दोण्णि एक्केक्क छक्क चदुकप्पे।
ति त्तिय एक्केक्कें दियरणामा उडुग्रादितेसट्ठी ॥४॥

एकत्रिशत् सप्त चत्वारि द्वौ एकैकं षट्क चतुःकल्पे।
त्रित्रिकमेकैकेन्द्रकनामानि ऋत्वादित्रिषष्टि ॥४१॥

अर्थ– स्वर्गलोक मे ऋतु, चद्र, विमल, वल्गु, वीर आदि ६३ विमान इन्द्रक सज्ञा के धारण करने वाले है। उनका क्रम इस प्रकार है—सौधर्म ईशान स्वर्ग के ३१, सनत्कुमार महेन्द्र के ७, ब्रह्म ब्रह्मोत्तर ४, लातव कापिष्ट के २, शुक्र महाशुक्र का १, शतार सहस्रार का १, आनत, प्राणत, आरण और अच्युत इन चारकल्पो के ६ अधोमध्य और ऊर्ध्व गैवेयिक के तीन-तीन के हिसाव से ६, अनुदिश का १, और अनुत्तर का १ सव मिलाकर ६३।

ग्रसुहेण णिरयतिरियं सुहउवजोगेण दिविजणरसोक्खं।
सुद्धेण लहइ सिद्धि एवं लोयं विचिंतिज्जो ॥४२॥

अशुभेन निरयतिर्यञ्चं शुभोपयोगेन दिविज-नरसौख्यम्।
शुद्धेन लभते सिद्धि एवं लोक. विचिन्तनीयः ॥४२॥

अर्थ—यह जीव अशुभ विचारो से नरक तथा तिर्यंचगति पाता है, शुभ विचारो से देवो तथा मनुष्यो के सुख भोगता है और शुद्ध विचारो से मोक्ष प्राप्त करता है, इस प्रकार लोक भावना का चिन्तवन करना चाहिए।

अथ अशुचिभावना

ग्रट्ठीहिं पडिबद्धं मंसविलित्तं तएण ग्रोच्छण्णं।
किमिसंकुलेहिं भरिदम, चोक्खं देहं सयाकालं ॥४३॥

अस्थिभिः प्रतिबद्धं मासविलिप्तं त्वचया अवच्छन्नम्।
क्रिमिसकुलैः भरित अप्रशस्त देह सदाकालम् ॥४३॥

अर्थ—हड्डियो से जकडी हुई है, मास से लिपी हुई है, चमडे से ढकी हुई है, और छोटे-छोटे कीडो के समूह से भरी हुई है, इस तरह से यह देह सदा ही मलीन है।

दुग्गंधं बीभत्थं कलिमल(?) भरिदं ग्रचेयणो मुत्तं।
सडणपडणं सहावं देहं इदि चिंतये णिच्चं ॥४४॥

---

१ त्रैलोक्यसारकी ४६३वी गाथा भी यही है। इससे यहा क्षेपक जान पड़ती है।

दुर्गंधं बीभत्सं कलिमलभृतं अचेतनो मूर्त्तम् ।
स्खलनपतनं स्वभावं देहं इति चिन्तयेत् नित्यम् ।।४४

अर्थ—यह देह दुर्गंधमय है डरावनी है, मलमूत्र से भरी हुई है, जड है, मूर्तीक (रूप रस गध स्पर्श वाली) है और क्षीण होने वाली तथा विनाशीक स्वभाव वाली है, इस तरह निरन्तर इसका विचार करते रहना चाहिए ।

[1]रसरुहिरमंसमेदट्ठीमज्जसंकुलं मुत्तपूयकिमिबहुलं ।
दुग्गंधमसुचि चम्ममयमणिच्चमचेयणं पडणम् ।।४५।।

रसरुधिरमांसमेदास्थिमज्जासंकुलं मूत्रपूयक्रिमिबहुलम् ।
दुर्गंध अशुचि चर्ममय अनित्य अचेतनं पतनम् ।।४५।।

अर्थ—वह देह रस, रक्त, मास, मेदा और मज्जा (चर्बी) से भरी हुई है, मूत्र, पीव और कीडो की इसमे अधिकता है, दुर्गन्धमय है, अपवित्र है, चमडे से ढकी हुई है, स्थिर नही है, अचेतन है और अन्त मे नष्ट हो जाने वाली है ।

देहादो वदिरित्तो कम्मविरहिओ अणंतसुहणिलयो ।
चोक्खो हवेइ अप्पा इदि णिच्चं भावणं कुज्जा ।।४६।।

देहात् व्यतिरिक्तः कर्मविरहितः अनन्तसुखनिलयः ।
प्रशस्तः भवेत् आत्मा इति नित्य भावना कुर्यात् ।।४६।।

अर्थ—वास्तव मे आत्मा देह से जुदा है, कर्मो से रहित है, अनन्त सुखो का घर है, और इसलिए शुद्ध है, इस प्रकार निरन्तर ही भावना करते रहना चाहिए ।

अथ आस्रवभावना

मिच्छत्तं अविरमणं कसायजोगा य आसवा होंति ।
पणपणचउतियभेदा सम्मं परिकित्तिदा समए ।।४७।।

मिथ्यात्वं अविरतण कषाययोगाश्च आस्रवा भवन्ति ।
पञ्चपञ्चचतुः त्रिकभेदा. सम्यक् प्रकीर्तिताः समये ।।४७।।

अर्थ—मिथ्यात्व, अविरति (हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह), कषाय और योग (मन वचन काय की प्रवृत्ति) रूप परिणाम आस्रव अर्थात् कर्मो के आने के द्वार है, और उनके क्रम से पाच, पाच, चार और तीन भेद जिनशासन मे भले प्रकार कहे हैं । **भावार्थ**—आत्मा के मिथ्यात्वादिरूप परिणामो का नाम आस्रव है ।

---

१ यह गाथा हमको क्षेपक मालूम पडती है । क्योकि इसमे कही हुई सब बातें ऊपर की दो गाथाओ मे आ चुकी हैं । इसके सिवाय इसमे विशेष्य का निर्देश भी कही नही किया है । ऊपर की गाथाओ से मिलते जुलते आशय वाली देखकर इसे किसी लेखक वा पाठक ने प्रक्षिप्त कर दी होगी, ऐसा अनुमान होता है ।

एयंतविणयविवरियसंसयमण्णाणमिदि हवे पंच ।
अविरमणं हिंसादी पंचविहो सो हवइ णियमेण ॥४८॥

एकान्तविनयविपरीतसशयं अज्ञानं इति भवेत् पञ्च ।
अविरमण हिंसादि पञ्चविध तत् भवति नियमेन ॥४८॥

अर्थ—मिथ्यात्व के एकान्त, विनय, विपरीत, सशय और अज्ञान ये पाच भेद हैं, तथा अविरति के हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह ये पाच भेद होते हैं । इनसे कम-बढ नही होते हैं ।

कोहो माणो माया लोहोवि य चउविहं कसायंखु ।
मणवचिकायेण पुणो जोगो तिवियप्पमिदि जाणे ॥४९॥

क्रोधः मानः माया लोभः अपि च चतुर्विधं कषाय खलु ।
मनोवचःकायेन पुनः योग. त्रिविकल्प इति जानीहिः ॥४९॥

अर्थ—ऐसा जानना चाहिए कि, क्रोध, मान, माया और लोभ, ये चार कषाय के भेद हैं और मन, वचन तथा काय ये तीन योग के भेद हैं ।

असुहेदरभेदेण दु एक्केक्कं वण्णिदं हवे दुविहं ।
आहारादी सण्णा असुहमणं इदि विजाणेहि ॥५०॥

अशुभेतरभेदेन तु एकैकं वर्णित भवेत् द्विविधम् ।
आहारादिसज्ञा अशुभमनः इति विजानीहि ॥५०॥

अर्थ—मन वचन और काय ये अशुभ और शुभ के भेद से दो दो प्रकार हैं । इनमे से आहार, भय, मैथुन और परिग्रह इन चार प्रकार की सज्ञाओ (वाछाओ) को **अशुभमन** जानना चाहिए । **भावार्थ**—जिस मन मे आहार आदि की अत्यन्त लोलुपता हो, उसे अशुभमन कहते हैं ।

किण्हादितिण्णि लेस्सा करणजसोक्खेसु गिद्धिपरिणामो ।
ईसाविसादभावो असुहमणंत्ति य जिणा वेंति ॥५१॥

कृष्णादितिस्रः लेश्या. करणजसौख्येषु गृद्धिपरिणामः ।
ईर्षाविषादभावः अशुभमन इति च जिना ब्रुवन्ति ॥५१॥

अर्थ—जिसमे कृष्ण, नील कापोत ये तीन लेश्या हो, इन्द्रिय सम्बन्धी सुखो मे जिसके लोलुपतारूप परिणाम हो, और ईर्षा (डाह) तथा विषाद (खेद) रूप जिसके भाव रहते हो, उसे भी श्री जिनेन्द्रदेव **अशुभ मन** कहते हैं ।

रागो दोसो मोहो हास्सादी-णोकसायपरिणामो ।
थूलो वा सुहुमो वा असुहमणोत्ति य जिणा वेंति ॥५२॥

रागः दोषः मोहः हास्यादि-नोकषायपरिणामः ।

स्थूलः वा सूक्ष्मः वा अशुभमन इति च जिनाः ब्रुवन्ति ।।५२।।

अर्थ—राग, द्वेष, मोह, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुसकवेद-रूप परिणाम भी चाहे वे तीव्र हो, चाहे मन्द हो, अशुभमन है, ऐसा जिनदेव कहते है ।

भत्तिच्छिरायचोरकहाश्रो वयरणं वियारण श्रसुहमिदि ।

बंधरणछेदरणमाररणकिरिया सा श्रसुहकायेत्ति ।।५३।।

भक्तस्त्रीराजचौरकथाः वचनं विजानीहि अशुभमिति ।

बन्धनछेदनमारणक्रिया सा अशुभकाय इति ।।५३।।

अर्थ—भोजनकथा, स्त्रीकथा, राजकथा और चोरकथा करने को **अशुभवचन** जानना चाहिए । और बाँधने, छेदने और मारने की क्रियाओ को **अशुभकाय** कहते है ।

मोत्तूरण श्रशुहभावं पुव्वुत्तं रिगरवसेसदो दव्वं ।

वदसमिदिसीलसंजमपरिरणामं सुहमरणं जारगे ।।५४।।

मुक्त्वा अशुभभावं पूर्वोक्त निरवशेषतः द्रव्यम् ।

व्रतसमितिशीलसंयमपरिणामं शुभमनः जानीहि ।।५४।।

अर्थ—पहले कहे हुए रागद्वेषादि परिणामो को और सम्पूर्ण धनधान्यादि परिग्रहो को छोडकर जो व्रत, समिति, शील और सयमरूप परिणाम होते हैं, उन्हे **शुभमन** जानना चाहिए ।

संसारछेदकाररगवयरणं सुहवयरगमिदि जिणुद्दिट्ठं ।

जिरगदेवादिसु पूजा सुहकायंत्ति य हवे चेट्ठा ।।५५।।

संसारछेदकारणवचन शुभवचनमिति निजोद्दिष्टम् ।

जिनदेवादिषु पूजा शुभकायमिति च भवेत् चेष्टा ।।५५।।

अर्थ—जन्ममरणरूप ससार के नष्ट करने वाले वचनो को जिनभगवान ने **शुभवचन** कहा है और जिनदेव, जिनगुरु तथा जिनशास्त्रो की पूजारूप काय की चेष्टा को **शुभकाय** कहते हैं ।

जम्मसमुद्दे बहुदो (स-वीचिये) दुक्खजलचराकिण्णे ।

जीवस्स परिब्भमरणं कम्मासवकारणं होदि ।।५६।।

जन्मसमुद्रे बहुदोषवीचिके दु खजलचराकीर्णे ।

जीवस्य परिभ्रमणं कर्माश्रवकारण भवति ।।५६।।

अर्थ—जिसमे क्षुधा तृषादि दोषरूपी तरगे उठती हैं, और जो दु खरूपी अनेक मच्छकच्छादि जल-चरो से भरा हुआ है, ऐसे ससारसमुद्र मे कर्मों के आस्रव के कारण ही जीव गोते खाता है। ससार मे भटकता फिरता है।

कम्मासवेण जीवो वूडदि संसारसागरे घोरे ।
जण्णाणवसं किरिया मोक्खणिमित्तं परंपरया ॥५७॥

कर्मास्रवेण जीव. व्रुडति संसारसागरे घोरे।
या ज्ञानवशा क्रिया मोक्षनिमित्तं परस्परया ॥५७॥

अर्थ—जीव इस ससाररूपी महासमुद्र मे अज्ञान के वश कर्मों का आस्रव करके डूबता है। क्योकि जो क्रिया ज्ञानपूर्वक होती है, वही परम्परा से मोक्ष का कारण होती है। (अज्ञानवश की हुई क्रिया नही)।

आसवहेदू जीवो जम्मसमुद्दे णिमज्जदे खिप्पं ।
आसवकिरिया तम्हा मोक्खणिमित्तं ण चिंतेज्जो ॥५८॥

आस्रवहेतोः जीवः जन्मसमुद्रे निमज्जति क्षिप्रम् ।
आस्रवक्रिया तस्मात् मोक्षनिमित्तं न चिन्तनीया ॥५८॥

अर्थ—जीव आस्रव के कारण ससारसमुद्र मे शीघ्र ही गोते खाता है। इसलिए जिन क्रियाओ से कर्मों का आगमन होता है, वे मोक्ष को ले जाने वाली नही हैं। ऐसा चिन्तवन करना चाहिए।

पारंपज्जाएण दु आसवकिरियाए णत्थि णिव्वाणं ।
संसारगमणकारणमिदि णिंदं आसनो जाण ॥५९॥

पारम्पर्येण तु आस्रवक्रियया नास्ति निर्वाणम् ।
संसारगमनकारणमिति निन्द्यं आस्रवो जानीहि ॥५९॥

अर्थ—कर्मों का आस्रव करने वाली क्रिया से परम्परा से भी निर्वाण नही हो सकता है। इसलिए ससार मे भटकाने वाले आस्रव को बुरा समझना चाहिए।

पुव्वुत्तासवभेयो णिच्छयणयएण णत्थि जीवस्स ।
उहयासवणिम्मुक्कं अप्पाणं चिंतए णिच्चं ॥६०॥

पूर्वोक्तास्रवभेद्रः निश्चयदयेन नास्ति जीवस्य ।
उभयास्रवनिर्मुक्तं आत्मानं चिन्तयेत् नित्यम् ॥६०॥

अर्थ—पहले जो मिथ्यात्व अव्रत आदि आस्रव के भेद कह आये है, वे निश्चयनय से जीव के नही होते हैं। इसलिए निरन्तर ही आत्मा को [1]द्रव्य और भावरूप दोनो प्रकार के आस्रवो से रहित चितवन करना चहिए।

अथ संवरभावना

चलमलिणमगाढं च वज्जिय सम्मत्तदिढकवाडेण ।
मिच्छत्तासवदारणिरोहो होदिति जिणेहिं णिद्दिट्ठं ॥६१॥

---

१ आत्मा की रागादि भावरूप प्रवृत्ति को भावास्रव कहते हैं। और उस प्रवृत्ति से कार्माण वर्गणारूप पुद्गल-स्कन्धो के आगमन को द्रव्यास्रव कहते हैं।

चलमलिनमगाढं च वर्जयित्वा सम्यक्त्वदृढकपाटेन ।

मिथ्यात्वास्रवद्वारनिरोधः भवति इति जिनैः निर्दिष्टम् ॥६१॥

अर्थ—जो [1]चल, [2]मलिन और [3]अगाढ इन तीन दोषो से रहित है ऐसे सम्यक्त्वरूपी सघन किवाडो से मिथ्यात्वरूप आस्रव का द्वार बन्द होता है, ऐसा जिनभगवान ने कहा है। **भावार्थ**—आत्मा के सम्यक्त्वरूप परिणामो से मिथ्यात्व का आस्रव रुककर मिथ्यात्व—सवर होता है।

पंचमहव्वयमणसा अविरमणणिरोहणं हवे णियमा ।

कोहादिग्रासवाणं दाराणि कसायरहियपल्लगेहिं(?) ॥६२॥

पंचमहाव्रतमनसा अविरमणनिरोधनं भवेत् नियमात् ।

क्रोधादि आस्रवाणं द्वाराणि कसायरहितपरिणामैः ॥६२॥

अर्थ—अहिंसादि पाच महाव्रतरूप परिणामो से नियमपूर्वक हिंसादि पाचो अव्रतो का आगमन रुक जाता है और क्रोधादि कषायरहित परिणामो से क्रोधादि आस्रवो के द्वार बन्द हो जाते हैं। **भावार्थ**—पाच महाव्रतो से पाच पापो का सवर होता है और कषायो के रोकने से कषाय-सवर होता है।

सुहजोगेसु पवित्ती संवरणं कुणदि असुहजोगस्स ।

सुहजोगस्स णिरोहो सुद्धुवजोगेण संभवदि ॥६३॥

शुभयोगेषु प्रवृत्तिः संवरणं करोति अशुभयोगस्य ।

शुभयोगस्य निरोधः शुद्धोपयोगेन सम्भवति ॥६३॥

अर्थ—मन वचन काय की शुभ प्रवृत्तियो से अशुभयोग का सवर होता है और केवल आत्मा के ध्यानरूप शुद्धोपयोग से शुभयोग का सवर होता है।

सुद्धुवजोगेण पुणो धम्मं सुक्कं च होदि जीवस्स ।

तम्हा संवरहेदू झाणोत्ति विचिंतये णिच्चं ॥६४॥

शुद्धोपयोगेन पुनः धर्मं शुक्लं च भवति जीवस्य ।

तस्मात् सवरहेतु. ध्यानमिति विचिन्तयेत् नित्यम् ॥६४॥

अर्थ—इसके पश्चात् शुद्धोपयोग से जीव के धर्मध्यान और शुक्लध्यान होते है। इसलिए सवर का कारण ध्यान है, ऐसा निरन्तर विचारते रहना चाहिए। **भावार्थ**—उत्तम क्षमादिरूप दश धर्मों के चिन्तवन करने को धर्मध्यान कहते है और बाह्य परद्रव्यो के मिलाप से रहित केवल शुद्धात्मा के ध्यान को

---

१ देव गुरु शास्त्रो मे अपनी बुद्धि रखने को चल दोष कहते हैं, जैसे यह देव मेरा है, वह मन्दिर मेरा है, यह दूसरे का देव है, यह दूसरे का मन्दिर है। इस प्रकार के परिणामो से सम्यग्दर्शन मे चल दोष आता है। २ सम्यक्त्वरूप परिणामो मे सम्यक्त्वरूप मोह की प्रकृति के उदय से जो मलीनता होती है, उसे मल दोष कहते हैं। यह सोने मे कुछ एक मैलेपन के समान होता है। ३ श्रद्धान मे शिथिलता होने को अगाढ कहते हैं। जैसे सब तीर्थंकरो के अनत शक्ति के धारक होने पर भी शान्तिनाथ को शान्ति के करने वाले और पार्श्वनाथ को रक्षा के करने वाले मानना।

शुक्लध्यान कहते है। इन दोनो ध्यानो से ही सवर होता है।

जीवस्स ण संवरणं परमट्ठणएण सुद्धभावादो।
संवरभावविमुक्कं अप्पाणं चितये णिच्चं ॥६५॥

जीवस्य न संवरण परमार्थनयेन शुद्धभावात्।
संवरभावविमुक्तं आत्मान चिन्तयेत् नित्यम् ॥६५॥

अर्थ—परन्तु शुद्ध निश्चयनय से (वास्तव मे) जीव के सवर ही नही है। इसलिए सवर के विकल्प से रहित आत्मा का निरन्तर शुद्धभाव से चिन्तवन करना चाहिए। भावार्थ आस्रव सवर आदि अवस्थाएँ कर्म के सम्बन्ध से होती हैं, परन्तु वास्तव मे आत्मा कर्मजजाल मे रहित शुद्धस्वरूप है।

अथ निर्जराभावना

बंधपदेसग्गलणं णिज्जरणं इदि हि जि(णवरोप)त्तम्।
जेण हवे संवरणं तेण दु णिज्जरणमिदि जाणे ॥६६॥

वन्धप्रदेशगलन निर्ज्जरणं इति हि जिनवरोपात्तम्।
येन भवेत्सवरण तेन तु निर्ज्जरणमिति जानीहि ॥६६॥

अर्थ—कर्मवन्ध के पुद्गलवर्गणारूप प्रदेशो का जिनका कि आत्मा के साथ सम्बन्ध हो जाता है, झड जाना ही निर्जरा है ऐसा जिनदेव ने कहा है। और जिन परिणामो से सवर होता है, उनसे निर्जरा भी होती है। भावार्थ—ऊपर कहे हुए जिन सम्यक्त्व महाव्रतादि परिणामो मे सवर होता है, उनसे निर्जरा भी होती है। 'भी' कहने का अभिप्राय यह है कि, निर्जरा का मुख्य कारण तप है।

[1]सा पुण दुविहा णेया सकालपक्का तवेण कयमाणा।
चादुगदीणं पढमा वयजुत्ताणं हवे विदिया ॥६७॥

सा पुन द्विविधा ज्ञेया स्वकालपक्का तपसा क्रियमाणा।
चातुर्गतीना प्रथमा व्रतयुक्ताना भवेत् द्वितीया ॥६७॥

अर्थ—ऊपर कही हुई निर्जरा दो प्रकार की है, एक वह जो अपना काल पूर्ण करके पकती है अर्थात् जिसमे कार्माणवर्गणा अपनी स्थिति को पूरी करके झड जाती है, और दूसरी वह जो तप करने से होती हैं अर्थात् जिसमे कार्माणवर्गणा अपनी वध की स्थिति तप के द्वारा वीच मे ही पूरी करके–पक करके खिर जाती हैं। इनमे से पहली स्वकालपक्व वा सविपाक निर्जरा चारो गति वाले जीवो के होती है और दूसरी तपकृता वा अविपाक निर्जरा केवल व्रतधारी श्रावक तथा मुनियो के होती है।

अथ धर्मभावना

एयारसदसभेयं धम्मं सम्मत्तपुव्वयं भणियं।

---

१ स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा मे भी यह गाथा आई है। वहा या तो यह क्षेपक होगी या कार्तिकेय स्वामी ने उसे इसी पर से उद्धृत करके सग्रह कर ली होगी।

सागारणगाराणं उत्तमसुहसंपजुत्तेहिं ॥६८॥

एकादशदशभेदं धर्मं सम्यक्त्वपूर्वकं भणितम् ।
सागारानगाराणां उत्तमसुखसम्प्रयुक्तैः ॥६८॥

अर्थ—उत्तम सुख अर्थात् आत्मीक सुख मे लीन हुए जिनदेव ने कहा है कि, श्रावको और मुनियो का धर्म जो कि सम्यक्त्व सहित होता है, क्रम से ग्यारह प्रकार का और दश प्रकार का है। अर्थात् श्रावको का धर्म ग्यारह प्रकार का है और मुनियो का दश प्रकार का है।

[1]दंसणवय सामाइयपोसहसच्चित्तरायभत्ते य ।
बम्हारंभपरिग्गहअणुमणमुद्दिट्ठ देसविरदेदे ॥६९॥

दर्शनव्रतसामायिकप्रोषधसचित्तरात्रिभक्ते च ।
ब्रह्मारंभपरिग्रहअनुमतमुद्दिष्टं देशविरतैते ॥६९॥

अर्थ—दर्शन, व्रत, सामायिक, प्रोषधोपवास, सचित्तत्याग, रात्रिभक्तत्याग, ब्रह्मचर्य, आरभत्याग, परिग्रहत्याग, अनुमतित्याग और उद्दिष्टत्याग ये ग्यारह भेद देशव्रत अथवा श्रावकधर्म के हैं। ये भेद श्रावको की ग्यारह प्रतिमा के नाम से प्रसिद्ध है।

उत्तमखममद्दवज्जवसच्चसउच्चं च संजमं चेव ।
तवतागमकिंचण्हं बम्हा इदि दसविहं होदि ॥७०॥

उत्तमक्षमामार्दवार्जवसत्यशौच च सयमः चैव ।
तपस्त्यागं आकिञ्चन्यं ब्रह्म इति दशविधं भवति ॥७०॥

अर्थ—उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, सयम, तप, त्याग, आकिञ्चन्य और ब्रह्मचर्य ये दश भेद मुनिधर्म के हैं।

कोहुप्पत्तिस्स पुणो बहिरंगं जदि हवेदि सक्खादं ।
ण कुणवि किंचिवि कोहं तस्स खमा होदि धम्मोत्ति ॥७१॥

क्रोधोत्पत्तेः पुनः बहिरङ्गं यदि भवेत् साक्षात् ।
न करोति किञ्चिदपि क्रोधं तस्य क्षमा भवति धर्मः इति ॥७१॥

अर्थ—क्रोध के उत्पन्न होने के साक्षात् वाहिरी कारण मिलने पर भी जो थोडा भी क्रोध नही करता है, उसके **उत्तमक्षमा** धर्म होता है।

कुलरूवजादिबुद्धिसु तवसुदसीलेसु गारवं किञ्चि ।
जो णवि कुव्वदि समणो मद्दवधम्मं हवे तस्स ॥७२॥

---

[1] गोमटसार के जीवकाड की ४७७ नम्बर की गाथा और वसुनदि श्रावकाचार की चौथी गाथा भी यही है। यहा पर क्षेपक मालूम पड़ती है।

कुलरूपजातिबुद्धिषु तपश्रुतशीलेषु गर्वं किंचित् ।
यः नैव करोति समनाः मार्दवधर्मं भवेत् तस्य ॥७२॥

अर्थ—जो मनस्वी पुरुष [1]कुल, रूप, जाति, वुद्धि, तप, शास्त्र और शीलादि के विषय मे थोडा-सा भी घमण्ड नही करता है, उसी के मार्दव धर्म होता है ।

मोत्तूण कुडिलभावं णिम्मलहिदयेण चरदि जो समणो ।
अज्जवधम्मं तइयो तस्स दु संभवदि णियमेण ॥७३॥

मुक्त्वा कुटिलभावं निर्मलहृदयेन चरति यः समनाः ।
आर्जवधर्मः तृतीयः तस्य तु संभवति नियमेन ॥७३॥

अर्थ—जो मनस्वी (शुभविचार वाला) प्राणी कुटिलभाव वा मायाचारी परिणामो को छोडकर शुद्ध हृदय से चारित्र का पालन करता है, उसके नियम से तीसरा आर्जव नाम का धर्म होता है। भावार्थ—छल-कपट को छोडकर मन वचन काय की सरल प्रवृत्ति को आर्जव धर्म कहते हैं ।

परसंतावयकारणवयणं मोत्तूण सपरहिदवयणं ।
जो वददि भिक्खु तुइयो तस्स दु धम्मो हवे सच्चं ॥७४॥

परसंतापककारणवचनं मुक्त्वा स्वपरहितवचनम् ।
यः वदति भिक्षुः तुरीयः तस्य तु धर्म. भवेत् सत्यम् ॥७४॥

अर्थ—जो मुनि दूसरे को क्लेश पहुचाने वाले वचनो को छोडकर अपने और दूसरे के हित करने वाले वचन कहता है, उसके चौथा सत्यधर्म होता है। जिस वचन के कहने से अपना और पराया हित होता है, तथा दूसरे को कष्ट नही पहुचता है, उसे सत्यधर्म कहते है ।

कंखाभावणिवित्ति किच्चा वेरग्गभावणाजुत्तो ।
जो वट्टदि परममुणी तस्स दु धम्मो हवे शौचं ॥७५॥

काक्षाभावनिवृत्तिं कृत्वा वैराग्यभावनायुक्तः ।
यः वर्तते परममुनिः तस्य तु धर्मः भवेत् शौचम् ॥७५॥

अर्थ—जो परममुनि इच्छाओ को रोककर और वैराग्यरूप विचारो से युक्त होकर आचरण करता है, उसके शौचधर्म होता है। भावार्थ—लोभकषाय का त्याग करके उदासीनरूप परिणाम रखने को शौच-धर्म कहते हैं ।

[2]वदसमिदिपालणाए दंडच्चाएण इंदियजएण ।

---

१ कुल और जाति मे इतना अन्तर है कि, कुल पिता के सम्बन्ध से होता है, और जाति माता के सम्बन्ध से होती है। किसी सूर्यवशी राजा का एक पुत्र शूद्र नारी के गर्भ से उत्पन्न हुआ हो, तो उसका कुल सूर्यवशी कहलायगा और जाति शूद्र कहलायगी । २ इसी आशय की गाथा गोम्मटसार के जीवकाड में भी कही है —

कदसमिदिकसायाणं दडाण तहिंदियाण पचण्ह । धारण पालण णिग्गह चाग जओ सजमो भणिओ ॥४६५॥

परिणममाणस्स पुणो संजमधम्मो हवे णियमा ॥७६॥

व्रतसमितिपालनेन दण्डत्यागेन इन्द्रियजयेन ।
परिणममानस्य पुनः सयमधर्मःभवेत् नियमात् ॥७६॥

अर्थ—व्रतो और समितियो के पालनरूप, दडत्याग अर्थात् मन वचन काय की प्रवृत्ति के रोकनेरूप, पाचो इन्द्रियो के जीतनेरूप परिणाम जिस जीव के होते हैं, उसके सयमधर्म नियम से होता है। सामान्यरूप से पाचो इन्द्रियो और मन के रोकने से सयमधर्म होता है। व्रत समिति गुप्ति इसी के भेद है।

विसयकसायविणिग्गहभावं काऊण भाणसिज्झीए ।
जो भावइ अप्पाणं तस्स तवं होवि णियमेण ॥७७॥

विषयकषायविनिग्रहभावं कृत्वा ध्यानसिद्ध्यै ।
यः भावयति आत्मानं तस्य तपः भवति नियमेन ॥७७॥

अर्थ–पाचो इन्द्रियो के विषयो को तथा चारो कषायो को रोककर शुभध्यान की प्राप्ति के लिए जो अपनी आत्मा का विचार करता है, उसके नियम से तप होता है।

णिव्वेगतियं भावइ मोहं चइऊण सव्वदव्वेसु ।
जो तस्स हवेच्चागो इदि भणिदं जिणवरिंदेहिं ॥७८॥

निर्वेगत्रिक भावयेत् मोहं त्यक्त्वा सर्वद्रव्येषु ।
यः तस्य भवेत् त्यागः इति भणितं जिनवरेन्द्रैः ॥७८॥

अर्थ—जिनेन्द्र भगवान ने कहा है कि, जो जीव सारे परद्रव्यो से मोह छोडकर ससार, देह और भोगो से उदासीनरूप परिणाम रखता है, उसके त्यागधर्म होता है।

होऊण य णिस्संगो णियभावं णिग्गहित्तु सुहदुहदं ।
णिद्दंदेण दु वट्टदि अणयारो तस्सकिंचण्हं ॥७९॥

भूत्वा च निस्सङ्ग' निजभावं निग्रहीत्वा सुखदुःखदम् ।
निर्द्वन्द्वेन तु वर्तते अनगारः तस्याकिञ्चन्यम् ॥७९॥

अर्थ—जो मुनि सब प्रकार के परिग्रहो से रहित होकर और सुख-दु ख के देने वाले कर्मजनित निज भावों को रोकर निर्द्वन्द्वता से अर्थात् निश्चिन्तता से आचरण करता है, उसके आकिंचन्य धर्म होता है। **भावार्थ**—अन्तरग और बहिरग परिग्रह को छोडने को आकिंचन्य कहते हैं।

सव्वंगं पेच्छंतो इत्थीणं तासु मुयदि दुब्भावम् ।
सो बम्हचेरभावं सुक्कदि खलु दुद्धरं धरदि ॥८०॥

सर्वाङ्गं पश्यन् स्त्रीणा तासु मुञ्चति दुर्भावम् ।
स ब्रह्मचर्य्यभावं सुकृती. खलु दुर्द्धर धरति ॥८०॥

अर्थ—जो पुण्यात्मा स्त्रियों के सारे सुन्दर अगो को देखकर उनमे रागरूप बुरे परिणाम करना छोड देता है, वही दुर्द्धर ब्रह्मचर्यधर्म को धारण करता है।

[१]सावयधम्मं चत्ता जदिधम्मे जो हु वट्टए जीवो।
सो ण य वज्जदि मोक्खं धम्मं इदि चिंतये णिच्चं ॥८१॥

श्रावकधर्मं त्यक्त्वा यतिधर्मे य हि वर्त्तते जीव ।
स न च वर्ज्जति मोक्ष धर्म्ममिति चिन्तयेत् नित्यम् ॥८१॥

अर्थ—जो जीव श्रावकधर्म को छोडकर मुनियो के धर्मों का आचरण करता है, वह मोक्ष को नही छोडता है। अर्थात् मोक्ष को पा लेता है, इस प्रकार धर्मभावना का सदा ही चिन्तवन करते रहना चाहिए। **भावार्थ**—यद्यपि परपरा से श्रावकधर्म भी मोक्ष का कारण है, परन्तु वास्तव मे मुनिधर्म से ही साक्षात् मोक्ष होता है, इसलिए इसे ही धारण करने का उपदेश दिया है।

णिच्छयणएण जीवो सागारणगारधम्मदो भिण्णो।
मज्झत्थभावणाए सुद्धप्पं चिंतये णिच्चं ॥८२॥

निश्चयनयेन जीवः सागारानागारधर्मत. भिन्नः।
मध्यस्थभावनया शुद्धात्मान चिन्तयेत् नित्यम् ॥८२॥

अर्थ—जीव निश्चयनय से श्रावक और मुनिधर्म से बिलकुल जुदा है, इसलिए रागद्वेष रहित परिणामो से शुद्धस्वरूप आत्मा का ही सदा ध्यान करना चाहिए।

अथ बोधिदुर्लभभावना

उप्पज्जदि सण्णाणं जेण उवाएण तस्सुवायस्स।
चिंता हवेइ बोही अच्चंतं दुल्लहं होवि ॥८३॥

उत्पद्यते सद्ज्ञान येन उपायेन तस्योपायस्य।
चिन्ताभवेत् बोधि अत्यन्तं दुर्ल्लभं भवति ॥८३॥

अर्थ—जिस उपाय से सम्यग्ज्ञान की उत्पत्ति हो, उस उपाय की चिन्ता करने को अत्यन्त **दुर्लभ बोधिभावना** कहते हैं। क्योकि बोधि अर्थात् सम्यग्ज्ञान का पाना बहुत ही कठिन है।

कम्मुदयजपज्जाया हेयं खाओवसमियणाणं खु।
सगदव्वमुवादेयं णिच्छयदो होदि सण्णाणं ॥८४॥

---

१ पहले कही हुई ६८ नम्बर की गाथा का और इसका सम्बन्ध मिलाने से ऐसा मालूम होता है, कि ६८वीं गाथा के पश्चात् की गाथा यही है, बीच मे जो गाथायें हैं, वे प्रतिमा और दश धर्मों के प्रकरण को देखकर किसी ने क्षेपक के तौर पर शामिल कर दी हैं। और प्रतिमाओ के तो केवल नाममात्र गिना दिये हैं, परन्तु धर्मों का स्वरूप पूरा कह दिया गया है; इससे भी ये गाथायें क्षेपक मालूम होती हैं। ग्रन्थकर्ता तो दश धर्मों के समान ग्यारह प्रतिमाओ का स्वरूप भी जुदा-जुदा कहते।

कर्मोदयजपर्याय हेयं क्षायोपशमिकज्ञानं खलु ।
स्वकद्रव्यमुपादेयं निश्चयतः भवति सद्ज्ञानम् ॥८४॥

अर्थ—अशुद्ध निश्चयनय से क्षायोपशमिकज्ञान कर्मो के उदय से जो कि परद्रव्य हैं उत्पन्न होता है, इसलिए हेय अर्थात् त्यागने योग्य है और सम्यग्ज्ञान (बोधि) स्वकद्रव्य है अर्थात् आत्मा का निजस्वभाव है, इसलिए उपादेय (ग्रहण करने योग्य) है।

मूलुत्तरपयडीओ मिच्छत्तादी असंखलोगपरिमाणा ।
परदव्वं सगदव्वं अप्पा इदि णिच्चयणएण ॥८५॥

मूलोत्तरप्रकृतयः मिथ्यात्वादयः असंख्यलोकपरिमाणाः ।
परद्रव्यं स्वकद्रव्यं आत्मा इति निश्चयनयेन ॥८५॥

अर्थ—अशुद्ध निश्चयनय से कर्मो की जो मिथ्यात्व आदि मूलप्रकृतिया वा उत्तर प्रकृतियां गिनती मे असख्यात लोक के बराबर हैं, वे परद्रव्य हैं अर्थात् आत्मा से जुदी हैं और आत्मा निजद्रव्य है।

एवं जायदि णाणं हेयमुवादेय णिच्छये णत्थि ।
चिंतेज्जइ मुणि बोहिं संसारविरमणट्ठे य ॥८६॥

एवं जायते ज्ञानं हेयोपादेयं निश्चयेन नास्ति ।
चिन्तयेत् मुनि. बोधिं संसारविरमणार्थं च ॥८६॥

अर्थ—इस प्रकार अशुद्ध निश्चयनय से ज्ञान हेय उपादेयरूप होता है, परन्तु पीछे उसमे (ज्ञान मे) शुद्ध निश्चयनय से हेय और उपादेयरूप विकल्प भी नही रहता है। मुनि को ससार से विरक्त होने के लिए सम्यक्ज्ञान का (बोधि भावना का) इसी रूप मे चिन्तवन करना चाहिए।

बारसअणुवेक्खाओ पच्चक्खाणं तहेव पडिक्कमणं ।
आलोयणं समाही तम्हा भावेज्ज अणुवेक्खं ॥८७॥

द्वादशानुप्रेक्षाः प्रत्याख्यान तथैव प्रतिक्रमणम् ।
आलोचन समाधि. तस्मात् भावयेत् अनुप्रेक्षाम् ॥८७॥

अर्थ—ये बारह भावना ही प्रत्याख्यान, प्रतिक्रमण, आलोचना और समाधि (ध्यान) स्वरूप हैं, इसलिए निरन्तर इन्ही का चिंतवन करना चाहिए।

रत्तिदिवं पडिकमणं पच्चक्खाणं समाहिं सामइयं ।
आलोयणं पकुव्वदि जदि विज्जदि अप्पणो सत्ती ॥८८॥

रात्रिदिवं प्रतिक्रमणं प्रत्याख्यानं समाधिं सामायिकम् ।
आलोचना प्रकुर्यात् यदि विद्यते आत्मनः शक्तिः ॥८८॥

अर्थ—यदि अपनी शक्ति हो, तो प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, समाधि, सामायिक और आलोचना रात-दिन, करते रहो।

मोक्खगया जे पुरिसा अणाइकालेण बारअणुवेक्खं।
परिभाविऊण सम्मं पणमामि पुणो पुणो तेसिं ॥८९॥

मोक्षगता ये पुरुषा अनादिकालेन द्वादशानुप्रेक्षाम्।
परिभाव्य सम्यक् प्रणमामि पुनः पुन: तेभ्यः ॥८९॥

अर्थ—जो पुरुष इन बारह भावनाओ का चिंतवन करके अनादिकाल से आज तक मोक्ष को गये हैं, उनको मैं मन वचन कायपूर्वक बारबार नमस्कार करता हूँ।

किं पलवियेण बहुणा जे सिद्धा णरवरा गये काले।
सेझंति य जे (भ)विया तज्जाणह तस्स माहप्पं ॥९०॥

किं प्रलपितेन बहुना ये सिद्धा नरवरा गते काले।
सेत्स्यन्ति च ये भविकाः तद् जानीहि तस्याः माहात्म्यम् ॥९०॥

अर्थ—इस विषय मे अधिक कहने की जरूरत नही है। इनना ही बहुत है कि भूतकाल मे जितने श्रेष्ठ पुरुष सिद्ध हुए हैं और जो आगे होगे वे सब इन्ही भावनाओ का चिंतवन करके ही हुए हैं। इसे भावनाओ का ही माहात्म्य समझना चाहिए।

इदि णिच्चयववहारं जं भणियं "कुंदकुंदमुणिणाहें"।
जो भावइ सुद्धमणो सो पावइ परमणिव्वाणं ॥९१॥

इति निश्चयव्यवहारं यत् भणित कुन्दकुन्दमुनिनाथैः।
यः भावयति शुद्धमनाः स प्राप्नोति परम निर्वाणम् ॥९१॥

अर्थ—इस प्रकार निश्चय और व्यवहार नय से यह बारह भावनाओ का स्वरूप जो मुनियो के स्वामी **श्रीकुन्दकुन्दाचार्य** ने कहा है, उसे जो पुरुष शुद्धचित्त से चिंतवन करेगा, वह मोक्ष को प्राप्त करेगा।

जिसे पण्डित मनोहरलाल गुप्त और नाथूराम प्रेमी ने संस्कृतछाया और भाषाटीका से विभूषित की।